प्रथम संस्करण, १९५४

मूल ग्रंथ भी पुस्तक हिन्द किताब्स लि० बम्बई से प्रकाशित हुए है।

मूल्य दस रुपया।

"भारतीय एकता

के

अभिलाषियों

को

समर्पित।"

(S R Sharma)

"इस्लाम की तलवार विश्वमाली की कतरनी थी जिससे उसने आर्यावर्त में स्वयं लगाये हुए ज्ञान वृक्ष की सड़ी हुई शाखाओं और निष्फल अङ्गों को छाँट दिया।"

ई० बी० हैवेल

प्राक्कथन

मध्यकालीन भारत का यह संक्षिप्त इतिहास भारतीय विद्यालयों की बी० ए० की कक्षाओं की आवश्यकता की पूर्ति के लिये लिखा गया है। पिछले कुछ वर्षों से विश्वविद्यालयों में इस विषय की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है, यह पुस्तक उसकी भूमिका मात्र है। विषय जितना विस्तृत है उतना ही आकर्षक भी। पग-पग पर इसके विभिन्न पहलुओं की सविस्तार समीक्षा करने का प्रलोभन होता है, किन्तु कथानक को स्पष्ट और सरल बनाये रखने के उद्देश्य से लेखक ने उसका संवरण किया है, चाहे विद्वद्‌जन गम्भीरता के अभाव का आरोप ही क्यों न लगाएँ। इसीलिये पादटिप्पणियाँ भी बहुत कम दी गई हैं। किन्तु जानकारी के साधनों को दिखाने के लिये मैंने पाठ के भीतर पर्याप्त हवाला दे दिया है। पुस्तक का दूसरा भाग मेरे ग्रंथ 'मुगल एम्पायर इन इण्डिया' का संक्षिप्त रूप है, और पहला भाग प्रथम बार लिखा गया है। प्रस्तुत पुस्तक में भारत में इस्लाम का इतिहास प्रारम्भ से लेकर मुगल साम्राज्य के अन्त तक (१८ वीं शताब्दी में) वर्णित है। हिन्दू भारत की भी जो इस इतिहास की पृष्ठ भूमिका था, उपेक्षा नहीं की गई है। मुख्य कथावस्तु इस्लाम का राजनैतिक इतिहास है, फिर भी मैंने उसके सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं का यथोचित ध्यान रक्खा है। पाठकों को कदाचित यत्र-तत्र ऐसी व्याख्याएँ मिलेंगी, जिनसे वे विद्वद्‌जन जिनका अध्ययन मुझसे अधिक गम्भीर है, सहमत न हो सकें। किन्तु मैंने इसको इस विश्वास से लिखा है कि 'इतिहास प्रत्येक युग में नये ढँग से लिखा जाना चाहिये, इसलिये नहीं कि नये तथ्यों का अनुसन्धान हो जाता है, बल्कि इसलिये कि अतीत के नये पहलू दृष्टिगोचर होने लगते हैं, और इसलिये कि नये युग की प्रगति में भाग लेने वाले अपने को ऐसे स्थानों पर पाते हैं जहाँ से अतीत को नये दृष्टिकोण से देखा तथा आँका जा सकता है।'

इसमें मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय करना पाठकों का काम है, मेरा नहीं। यदि इस पुस्तक का अवलोकन पाठकों की ज्ञान-पिपासा तीव्र करने में समर्थ हुआ तो मुझे सन्तोष हो जायगा।

पुस्तक के अन्त में विशेष अध्ययन के लिये जिन ग्रन्थों की सूची संलग्न है, उनके लेखकों का मैं बहुत आभारी हूँ और यहाँ पर मैं उनके ऋण को स्वीकार करता हूँ। साथ ही साथ मैं अपने सहयोगी, प्रो० बी० एन० धावले, एम० ए० और प्रो० बी० एन० जोशी, एम० ए० को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने अनुक्रमणिका तैयार करने में मुझे बहुमूल्य सहायता दी है।

विश्राम बाग,

सितम्बर, १९३७।

एस० आर० शर्मा

विषय-सूची

चित्र-सूची

मानचित्र-सूची

१

: भूमिका :

हिन्दू भारत का पराभव

इतिहास को प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक युगों में विभक्त किया जाता है; यह उसका सरल तथा सुपरिचित काल-विभाजन है। यदि हम किसी जाति के जीवन की एकता तथा अविच्छिन्नता को न भूलें तो पूर्वोक्त विभाजन उचित ही है और उसमें किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। बहुधा भारतवर्ष को बहुजातीय देश माना जाता है और उसके निवासियों का 'भारत की जातियाँ' कह कर उल्लेख किया जाता है, किन्तु यह एक ठोस सत्य है कि इस देश के निवासियों के जीवन में एक मौलिक एकता है और वे इस महाद्वीप की अन्य जातियों तथा शेष संसार से भिन्न हैं। यद्यपि भारतवासी विभिन्न नस्लों के सम्मिश्रण से बने हैं, फिर भी तथाकथित प्राचीन युग के अन्त तक उन्होंने अपने चरित्र की एकता तथा व्यक्तित्व को अक्षुण्ण रक्खा। उसके उपरान्त अर्थात् मध्य युग में हम अपने चरित्र की इस विशेषता को खो बैठे, इसका परिणाम अच्छा अथवा बुरा कुछ भी हुआ हो, किन्तु उन परिस्थितियों में ऐसा होना अनिवार्य ही था। उस समय से हमारे जीवन के रूपान्तर की एक नई प्रक्रिया आरम्भ हुई जो अब तक पूर्ण नहीं हुई है। इस प्रक्रिया के प्रारम्भ होने की निश्चित तिथि निर्धारित करना उतना सरल नहीं है, जितना कि उन तत्वों को समझ सकना जो इस रूपान्तर के लिये उत्तरदायी थे। फिर भी यदि हम ऐसी तिथि को ढूँढ़ना ही चाहें तो हर्ष की मृत्यु (६४७ ई०) को युगपरिवर्तनकारिणी घटना कहा जा सकता है; वहीं से इतिहास का नया काल आरम्भ हुआ। उस तिथि तक अथवा उस (७ वीं) शताब्दी के अन्त तक भारतवर्ष पूर्ण रूप से हिन्दू बना रहा—यदि हिन्दू शब्द का हम व्यापक अर्थ में प्रयोग करें। उस समय तक जो भी परिवर्तन हुए, वे हिन्दू भारत के अन्तर्गत ही हुए; देश—आर्य, द्रविड़, शक, मंगोल आदि विभिन्न नस्लों और ब्राह्मण, वेदान्त, जैन, बौद्ध आदि धर्मों को अपने विशाल वक्षस्थल में एक साथ लपेटे हुए मूलतः हिन्दू ही बना रहा। युवान-च्वांग के समय

के भारत की यही विशेषता थी अर्थात् यह एकता के सूत्र में गुँथे हुए विभिन्न तत्वों के संगठन से बना हुआ था, किन्तु आज के भारत से यह नितान्त भिन्न था। इस रूपान्तर की प्रकृति तथा कारणों का अध्ययन करना ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है।

इस रूपान्तर का मुख्य कारण इस्लाम था। हिन्दुत्व को इस्लाम एक ऐसा साथी मिला जिसका चरित्र उससे कहीं अधिक शक्तिशाली था। मुसलमानों के आगमन से पहले हिन्दू समाज की अपने से भिन्न संस्कृतियों के लोगों को आत्मसात करने की शक्ति अपरिमित प्रतीत होती थी। किन्तु इस्लाम के सम्पर्क में आने से उसकी आन्तरिक दुर्बलताएँ प्रथम बार प्रकट हुईं। वास्तव में लगभग एक हजार वर्ष तक तो ऐसा लगा कि हिन्दू समाज अभिभूत हो जायगा। अरबों की सिन्ध विजय (७१२ ई०) से लेकर मुगल-साम्राज्य के पतन अर्थात् औरंगजेब की मृत्यु तक (१७०७ ई०) इस्लाम का उत्कर्ष रहा। जब तक आलमगीर की अन्तिम रूप से पराजय नहीं हो गई तब तक निश्चयपूर्वक यह कोई नहीं कह सकता था कि भारत दार उल इस्लाम होकर नहीं रहेगा। किन्तु मध्य युग के अवसान के साथ-साथ यह भी निश्चित हो गया कि यह प्राचीन देश हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही जातियों तथा धर्मों के लोगों का समान रूप से है। ये दोनों एक दूसरे के साथ किन शर्तों के आधार पर रहेंगे यह अभी तक नहीं तय हो पाया है।

हिन्दू तथा इस्लाम दोनों संस्कृतियों के घात प्रतिघात ने आधुनिक भारत तथा उसकी समस्याओं को जन्म दिया है। योरोप की आक्रमणकारी जातियाँ अरब इस्लामी देशों पर कभी पूर्ण विजय नहीं प्राप्त कर सकीं। इसी प्रकार जब तक भारत केवल हिन्दू बना रहा पूर्ण रूप से उसे कोई अभिभूत न कर सका। इसलिये यह कहना निराधार न होगा कि एकता का नाश ही भारत की दासता का मुख्य कारण था। हमारे नये परिवर्तित राष्ट्रीय जीवन का प्रधान अंग वह जातीय तथा धार्मिक तत्व है जो इस्लाम के साथ यहाँ में आया और जो यहाँ के जीवन में घुल मिल नहीं सका है। यही कारण है कि इन दोनों संस्कृतियों के घात प्रतिघात का इतिहास केवल शास्त्रीय महत्व का विषय नहीं है। यह कथन सामान्यतया सत्य ही है कि आज का भारत एक ऐसी समस्या है जिसे उसके इतिहास के अध्ययन के बिना नहीं समझा जा सकता; जिस युग का अध्ययन इस ग्रन्थ में हम करने जा रहे हैं उसके सम्बन्ध में तो यह कथन और भी अधिक सत्य है। भारतीय जीवन का निर्माण कैसे हुआ है, इस बीच के निरपेक्ष आलोचनात्मक किन्तु प्रेमपूर्ण अध्ययन द्वारा ही हम यह समझने के योग्य हो सकते हैं कि आज का भारत वास्तव में क्या है? उसके विकास की प्रक्रिया के पीछे क्या रहस्य अन्तर्निहित है और उसकी सुषुप्त शक्तियाँ क्या हैं?

भारत के बाहर अन्य सभी देशों में जहाँ मुसलमान अपना प्रभुत्व पूर्ण रूप से स्थापित करने में सफल हुए, वहाँ उन्होंने समाज और संस्कृति में इतना गम्भीर

रिवर्तन कर दिया कि उसका रूप ही दूसरा हो गया। मुसलमान उन देशों में थे, उन्हें उन्होंने देखा और विजय कर लिया। हिन्दू-भारत भी दुर्बल, विभक्त तथा पतनशील था, तथापि शताब्दियों के निरन्तर संघर्ष के बाद भी इस्लाम उसे अन्य देशों की भाँति अभिभूत न कर सका। इसीलिये हम कह सकते हैं कि मुस्लिम आक्रमणों के समय भारत दुर्बल भी था और अजेय भी, यद्यपि इस कथन में विरोधाभास प्रतीत होता है। राजनैतिक दृष्टि से वह दुर्बल तथा भेद्य था किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्णतया अजेय।

अ—राजनैतिक इतिहास

तुर्की तथा ब्रिटिश साम्राज्यों के निर्माण से पहिले हिमालय से लेकर कन्या-कुमारी तक समस्त भारत केवल एकबार एक सम्राट के अधीन रहा था। वह सम्राट था अशोक महान् (२७३–२३२ ई० पू०)। प्राचीन भारत के अन्य साम्राज्य इतने विस्तृत न हो सके कि वे देश की भौगोलिक सीमाओं को पूर्ण रूप से आलिंगन कर सकते, यद्यपि अपने समसामयिक राज्यों में वे प्रमुख माने जाते थे। फिर भी गुप्त, हर्ष आदि साम्राज्यों के समय में भी देश बाह्य आक्रमणों के विरुद्ध कभी अरक्षित नहीं रहा। देश के भीतर राज्यों और साम्राज्यों का वैसे ही उत्थान और पतन हुआ जैसे समुद्र में लहरों का, किन्तु विदेशी आक्रमणकारी स्थायी रूप से देश की राजनैतिक पूर्णता को कभी छिन्न-भिन्न न कर सके। उनमें से जिन्होंने कुछ समय के लिये उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित भी कर लिया वे भी शीघ्र ही यहीं के जीवन में घुल-मिल गये। देश की इस राज-नैतिक जीवन-शक्ति के लिये बाह्य परिस्थितियाँ तथा आन्तरिक बल दोनों ही उत्तरदायी थे। यूनानी, शक तथा हूण समुद्र की लहरों के सदृश थे जो भारत के तट से टकरा कर टूट गईं; वे ज्वारों के समान नहीं थे जिनमें आन्तरिक गति होती, जो देश के मर्मस्थलों तक पहुँच सकते और उसके सम्पूर्ण जीवन को आप्लावित कर देते। इस प्रकार का ज्वार तो प्राचीन भारत में केवल एक ही बार आया और वह था आर्यों का आगमन। उस समय अवश्य सम्पूर्ण देश की विजय तथा उसका रूपान्तर हो गया था। ऐसी ही एक अन्य मानवीय बाढ़ हर्ष की मृत्यु के समय (६४७ ई०) उठी और इस्लाम के रूप में आई। अगले अध्याय में हम इस बाढ़ की विशालता का निरीक्षण करेंगे। यहाँ हम केवल उस क्षेत्र की पड़ताल करेंगे जो मानो आप्लावित होने के लिये तृषित की भाँति प्रतीक्षा कर रहा था।

देश चार मुख्य राजनैतिक क्षेत्रों में विभक्त था। (१) हिमालय प्रदेश, (२) सिन्ध-गंगा का मैदान (हिन्दुस्तान), (३) दक्खिन तथा (४) दक्षिणी प्रायद्वीप। इनमें से प्रत्येक प्रदेश में राज्यों का उत्थान और पतन हुआ। कभी-कभी वे एक दूसरे के प्रभाव-क्षेत्र पर भी आक्रमण करते थे, किन्तु उनमें से कभी

कोई स्थायी रूप से इतने विस्तृत क्षेत्र पर प्रभुत्व न स्थापित कर सका कि समस्त देश की राजनीति को प्रभावित कर सकता। वास्तविक परिस्थिति का साक्षात्कार करने के लिये यह आवश्यक है कि हम इस युग के निरन्तर परिवर्तनशील राजनैतिक जीवन को ध्यान से अध्ययन करें।

१—हिमालय प्रदेश के राज्य

इस क्षेत्र के राज्य समूह में काश्मीर, नैपाल तथा आसाम अधिक महत्वपूर्ण थे।

(क) काश्मीर—एक हिन्दू राज्य के रूप में काश्मीर का इतिहास कम से कम अशोक के समय तक पहुँचता है। उसका पौराणिक तथा ऐतिहासिक वृत्तान्त हम कल्हण (कल्हण) रचित राजतरङ्गिणी में पा सकते हैं जो एक काश्मीर के इतिहास ग्रन्थ है और जिसकी रचना १२ वीं शताब्दी में हुई थी। १३३९ ई० में मुसलमानों ने काश्मीर को विजय किया, उसके पहले एक के बाद एक अनेक हिन्दू राजवंशों ने इस पर शासन किया। उनका केवल स्थानीय महत्व था, इसलिये काश्मीर के राजनैतिक जीवन की विशेषताओं को समझने के लिए यहाँ हम उनमें से केवल एक दो का उल्लेख करेंगे। काश्मीर का अधिकांश इतिहास स्त्रियों के प्रभुत्व दरबारी कुचक्रों तथा क्रान्तियों के वृत्तान्त से भरा पड़ा है। उनके एक महान् शासक मुक्तापीड (ललितादित्य) ने जो कर्कोट वंश का था ७४० ई० में कन्नौज के राजा यशोवर्मन को पराजित किया। उसने मार्तण्ड के प्रसिद्ध सूर्यमन्दिर का भी निर्माण कराया जिसके भग्नावशेष आज भी विद्यमान हैं। ९वीं शताब्दी के मध्य में उत्पल-वंश ने कर्कोट वंश को अपदस्थ करके अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस वंश के राजा अवन्तिवर्मन (८५५-८३ ई०) ने अपनी महान् रचनात्मक सफलताओं के लिये विशेष ख्याति प्राप्त की। अपने योग्य मन्त्री सूर तथा महान् इञ्जीनियर सुय्य की सहायता से उसने नये नगरों का निर्माण कराया, सिंचाई के साधन जुटाये दलदलों को सुखाया और घाटी को बाढ़ों के निरन्तर संकट से मुक्त किया। आधुनिक सोपुर (सुय्यपुर) ९वीं शताब्दी के महान् काश्मीरी निर्माता की स्मृति जीवित रखे हुए है। अवन्तिवर्मन के बाद एक गृह-युद्ध में विजयी होकर शंकरवर्मन (८८५-९०२ ई०) सिंहासन पर बैठा। वह लोभी था, उसने जनता से धन खसोटा, कर लगाये, मन्दिरों को लूटा और इस प्रकार अपयश कमाया। उसके उपरान्त अनेक क्रान्तियाँ हुई, जिनमें तन्त्रिन तथा एकांग (सैनिक तथा सैनिक पुलिस) लोगों ने महत्वपूर्ण भाग लिया। अन्त में रानी दिद्दा सिंहासनारूढ़ हुई। उसने तथा उसके प्रियजनों ने जिनमें तुङ्ग प्रमुख था लगभग ५० वर्ष तक (९५०-१००३ ई०) राज्य पर अपना आधिपत्य कायम रखा। तुङ्ग इसीलिये स्मरणीय है कि उसने महमूद गजनवी पर आक्रमण किया; किन्तु विफल रहा। काश्मीर के इतिहास में मुसलमानों का यही प्रथम

उल्लेख है। उत्पलों के बाद लोहर-वंश काश्मीर के सिंहासन पर आया। उसमें एक ऐसा राजा हुआ जो काश्मीर के इतिहास में सम्भवतः सबसे बुरा शासक था, यद्यपि उसका नाम हर्ष था (१०८९-११०१ ई०)। हर्ष का मूल्याङ्कन करते हुए कल्हण लिखता है कि उसके रंगीन जीवन में "निर्दयता तथा दयालुता, लोभ तथा उदारता, हठ तथा उदासीनता, कपट तथा विचारहीनता तथा अन्य प्रत्यक्षरूप से विरोधी और असंगत गुणों का समावेश था।" उसे काश्मीर का नीरो कहा गया है और यह उचित ही है। राज्य में मुसलमानों का प्रवेश आरम्भ हो गया था। मुसलमानों की सैनिक टुकड़ियों ने गृह-युद्ध में भाग लिया। ११७२ ई० में लोहर-वंश के अन्तिम राजा वन्तिदेव की मृत्यु के साथ-साथ उस वंश का भी अवसान हो गया। सुहदेव नामक राजा के शासन-काल (१३०१-२० ई०) में मुसलमानों का आक्रमण हुआ जिसके कारण पहले से चली आई अराजकतापूर्ण स्थिति और भी अधिक जटिल हो गई। मुसलमान आक्रमणकारी सभी हृष्ट पुष्ट शरीरवाले पुरुषों को दास बना कर ले गये और अपने पीछे तबाही तथा बर्बादी छोड़ गये। कुछ समय के लिये काश्मीर तिब्बत के शासन में रहा, उसके उपरान्त १३३९ ई० में शाहमीर नामक पहला मुस्लिम शासक शम्सुद्दीन के नाम से सिंहासन पर बैठा। शाहमीर योग्य मुसलमान था और सुहदेव के यहाँ नौकर रह चुका था।

(ख) नेपाल—नेपाल राज्य की स्थिति विचित्र है और भौगोलिक दृष्टि से वह भारत से पृथक है; इसलिये इस देश के इतिहास में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहा है। यद्यपि समय समय पर भारतीय नरेशों ने—चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ जैसे दूरस्थ शासकों ने भी—उसे जीत कर अपने राज्य में मिलाने का प्रयत्न किया, फिर भी यह पर्वतीय राज्य अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने में सफल हुआ। मुसलमानों से नेपाल का प्रथम बार चौदहवीं शताब्दी (१३२०-२५ ई०) में तुगलक सुलतानों के समय में सम्पर्क हुआ। तिरहुत के छोटे से राज्य को मुसलमानों ने नष्ट कर दिया और उसकी राजधानी सिमराँव को घेर लिया।

(ग) आसाम—दूरस्थ होने के कारण आसाम का भी हमसे अधिक प्रयोजन नहीं रहा है। उसके शासक रत्नपाल ने अनेक विजयें प्राप्त करने का दावा किया जिनमें चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६-११२६ ई०) तथा चोल राजेन्द्र प्रथम (१०२३ ई० के लगभग) पर प्राप्त विजयें भी सम्मिलित थीं। रत्नपाल ने जिन लोगों को परास्त किया उनमें अनेक लुटेरे कुरर्डों का भी उल्लेख है, सम्भवतः वे भाहिक तथा ताहिक मुसलमान थे। किन्तु आसाम का निश्चित रूप से मुसलमानों से सम्पर्क १२ वीं शताब्दी में हुआ। १२०५ ई० में इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार ने आसाम में होकर तिब्बत पर आक्रमण किया, जिसमें उसे भयंकर विनाश का सामना करना पड़ा। १०,००० आक्रमण-

कारियों में से कदाचित् सौ जीवित बच सके। १६६८ में आसाम पर भी प्रत्यक्ष आक्रमण किया गया, किन्तु उसका भी अधिक अच्छा परिणाम नहीं हुआ। वास्तव में १७वीं शताब्दी में औरंगजेब के समय तक आसाम मुसलमानों के लिये मृत्यु की घाटी बना रहा। मीरजुमला के शब्दों में 'आसाम एक संकटों से पूर्ण जंगली तथा भयंकर देश है — यह बहुत विस्तृत है और मायाजाल के ऊपर नगर की भाँति जीवन के लिये घातक है। संक्षेप में, प्रत्येक सेना को जिसने भी इस देश की सीमाओं के भीतर प्रवेश किया, उस अपने जीवन से हाथ धोने पड़े जिस काफिला ने भी इस भूमि पर अपने पैर रक्खे उसे मृत्यु की सराय में अपना सामान जमा करना पड़ा।'

२—हिन्दुस्तान के राज्य

उत्तर में हिमालय की पर्वत मालाओं तथा दक्षिण में विन्ध्या की शृंखलाओं से आवद्ध प्रदेश को ही हिन्दुस्तान कहते हैं। मुस्लिम आक्रमणों के समय इस प्रदेश में अनेक हिन्दू राज्यों का जमघट था। यह मैदान अविच्छिन्न रूप से समतल है और इसमें नदियों का जाल बिछा हुआ है, इसीलिये इसे विजय करना सरल था। यही कारण था कि दीर्घकाल तक इस देश का इतिहास अगणित राज्यों के निर्माण विनाश तथा पुनर्निर्माण का इतिहास रहा। उनके निजी इतिहास समस्त देश की इतिहासरूपी भाषा की वर्णमाला मात्र हैं उनका अर्थ उनके पार्थक्य में नहीं बल्कि परस्पर गुथे हुए होने में अन्तर्निहित है। गान्धार, सिन्ध कन्नौज गुजरात, मालवा साँभर, महोबा चेदि मगध बंगाल, काम्बोज और कलिंग इस वर्णमाला के अक्षर थे। भिन्न ढंग से पढ़ने पर उनका यह उच्चारण होता था—ब्राह्मणशाही, राइ, परमार गुर्जर प्रतिहार, चौहान, चन्देल चालुक्य (सोलंकी) कलचुरि, पाल, सेन इत्यादि। उन सबमें एक ही विचार—अपना विस्तार—अन्तर्निहित था और सबका एक ही परिणाम—नाश था। अब हमें यह देखना है कि उन्होंने यह सब किया कैसे। मुस्लिम आक्रमणों को ध्यान में रखते हुए यदि हम उनका अध्ययन करें तो अधिक सुविधाजनक रहेगा।

(घ) सिन्ध के राइ—भारत पर पहला मुस्लिम आक्रमण सिन्ध के द्वारा हुआ। इसके सम्बन्ध में हम अगले अध्याय में विस्तार से लिखेंगे। यदि हम अरब लेखकों के कथन को विश्वसनीय मानें तो उस समय सिन्ध पर एक ब्राह्मण राज वंश शासन करता था जिसकी स्थापना चच ने की थी। किन्तु युवान-च्वांग के कथनानुसार जिसने चच के समय में सिन्ध का पर्यटन किया था, वह शूद्र तथा बौद्ध-धर्मावलम्बी था। उससे पूर्व राइ-वंश के पाँच राजा हो चुके थे, जिन्होंने १३७ वर्ष राज्य किया था।

(क) गान्धार का ब्राह्मणशाही वंश—काबुल की घाटी में युवान च्वांग के समय में भी एक क्षत्रिय राजा राज्य करता था। उस वंश के अन्तिम

राजा लगतूमनि ने ९ वीं शताब्दी के अन्त में शासन किया। उसके ब्राह्मण मंत्री कल्लार ने उसे अपदस्थ करके नये वंश की स्थापना की। प्रसिद्ध जयपाल, आनन्दपाल तथा त्रिलोचनपाल, जिनके सम्बन्ध में तीसरे अध्याय में हम विस्तार से लिखेंगे, इसी वंश के थे। उनके विषय में राजतरङ्गिणी में उल्लेख मिलते हैं, जिनकी पुष्टि अरब इतिहासकारों के लेखों तथा उपलब्ध सिक्कों से होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमानों के दबाव के कारण जयपाल को काबुल की घाटी को छोड़कर आधुनिक पटियाला में स्थित भटिंडा को अपनी नई राजधानी बनाना पड़ा; पजाब की रक्षा करने के लिये भटिंडा अच्छा केन्द्र था। अरबों ने जयपाल को 'हिन्दुस्तान का राजा' कहा है।

(च) मालवा के परमार—परमार लोग मूलतः आबू पर्वत के निवासी थे। उपेन्द्र (अथवा कृष्णाराज) के नेतृत्व में उन्होंने ९ वीं शताब्दी में मालवा को विजय कर लिया। उसके उत्तराधिकारियों में हर्षसिंह नामक एक शासक हुआ; उसने हूणों के विरुद्ध युद्ध किया, तथा ९७२ ई० में राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेत को लूटा। कहा जाता है कि उसके पुत्र मुञ्ज (वाक्पति द्वितीय) ने कर्नाटकों, लाटों, केरलों तथा चोलों पर विजय प्राप्त की और चेदि (आधुनिक मध्यप्रदेश) के कालचुरि नरेश युवराज को पगस्त किया। इस दावे में कितनी ही अतिशयोक्ति हो, किन्तु इतना सत्य है कि मुञ्ज ने चालुक्यों के राज्य पर कम से कम छः सफल आक्रमण किये। ९९५ ई० में जब उसने गोदावरी को एक बार पुनः पार करने का प्रयत्न किया तो वह पकड़ा गया और तैलप द्वितीय ने उसका वध कर दिया। इस वश का महानतम शासक भोज हुआ जिसने १०१० ई० के लगभग से १०६५ तक शासन किया। किन्तु उस युग की प्रेरणा अर्थात् विजय की बलवती अभिलाषा ने उसको भी अनुप्राणित किया। उसने चेदि, लाट, कर्नाट आदि सभी निकटवर्ती राज्यों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष किया और अपने सभी पड़ौसियों से शत्रुता मोल लेली। जब गुजरात के चालुक्य (सोलंकी) राजा भीम प्रथम ने सिन्ध पर आक्रमण किया, उसी समय भोज अपनी सेना लेकर गुजरात पर चढ़ गया; इसी प्रकार दक्षिण के सोमेश्वर द्वितीय चालुक्य ने स्वय भोज पर आक्रमण किया और उसे मार भगाया। उस युग के पारस्परिक सघर्षों का यह एक आदर्श उदाहरण है। भोज अपने दीर्घकालीन शासन के अन्त तक युद्धों में उलझा रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने जीवन-काल में उसने तुर्की, आक्रमण-कारियों के प्रहारों का सफलतापूर्वक सामना किया किन्तु १२ वीं शताब्दी में उसके उत्तराधिकारी इतने दुर्बल हुए कि वे मुसलमानों के धावों को न झेल सके।

(छ) गुजरात के सोलंकी—गुजरात के हिन्दू-युग का प्रामाणिक इतिहास ७६५ ई० से प्रारम्भ होता है, जबकि यादव-वंश के बनराज ने अन्हिलवाड़ को हस्तगत कर लिया। इस वंश के अन्तिम शासक का उसके दामाद मूलराज ने ९६१ ई० में बध कर दिया और अन्हिलवाड़ के चालुक्य अथवा सोलकी नामक

नये राजवंश की नींव डाली। जैन इतिहासकारों ने इस शासक की महानता की अत्यधिक प्रशंसा की है, किन्तु उसकी महानता के प्रत्यक्ष चिह्न कच्छ, काठियावाड़ तथा अजमेर के विरुद्ध आक्रमणकारी तथा रक्षात्मक युद्ध थे। मूलराज के उत्तराधिकारियों ने उसकी सैनिक परम्पराओं को कायम रक्खा। भीम प्रथम के विरुद्ध पर आक्रमण का हम पहले उल्लेख कर आये हैं। उसी समय भोज के नायक कुलचन्द्र ने भीम की राजधानी का सत्यानाश कर दिया तभी से 'अन्हिलवाड़ की लूट' एक कहावत बन गई। किन्तु १०२५ ई० में महमूद गजनवी ने सोमनाथ के मन्दिर को नष्ट भ्रष्ट कर दिया; भीम के शासन काल की यह घटना अन्हिलवाड़ की लूट से भी अधिक प्रसिद्ध थी। सोलंकी भीम अपने नामराशी महाभारत के भीम के सदृश नहीं निकला। अपने हिन्दू पड़ौसियों के लिये तो वह वीर था, किन्तु मुस्लिम आक्रमणकारियों के सामने यह दुम दबा कर भाग गया। गुजरात तथा सोलंकियों के सम्बन्ध में अगले अध्याय में हम अधिक लिखेंगे।

(ज) उज्जैन के गुर्जर प्रतिहार—गुर्जरों का सबसे पहला स्पष्ट उल्लेख हमें बाण के हर्षचरित तथा पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोल अभिलेख में मिलता है। दोनों में लाटों, मालवों और गुर्जरों की पराजय का जिक्र किया गया है। प्रतिहार, गुर्जरों की एक शाखा थे। हर्ष की मृत्यु के उपरान्त गुर्जर लोगों ने तीन केन्द्रों में अपनी शक्ति की स्थापना की—जोधपुर, अवन्ति तथा भड़ौच। ७२५-३२ ई० के लगभग जुनैद के नेतृत्व में अरबों ने गुर्जरों के राज्य को रौंद डाला, किन्तु ७३८ ई० के नौसारी के दानपत्र में अरबों की अन्तिम पराजय का उल्लेख है, जिसकी पुष्टि अरब इतिहासकार बलाधुरी ने भी की है। अन्य सूत्रों से भी हमें उज्जैन के गुर्जर प्रतिहारों की इस स्थिति का साक्ष्य मिलता है, उन्होंने ८ वीं शताब्दी में पश्चिम से आने वाले म्लेच्छों के ज्वार का सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया। इनका नेता नागभट्ट (७२५-४० ई०) था।

अवन्ति शाखा के चौथे राजा वत्सराज (७७२-८०० ई०) के समय में उत्तरी भारत के आधिपत्य के लिये गुर्जरों, बंगाल के पालों तथा दक्षिण के राष्ट्रकूटों में त्रिमुखीय संघर्ष आरम्भ हुआ। वत्सराज के पुत्र नागभट्ट द्वितीय (८००-२२ ई०) ने कलिंग तथा सिन्ध आदि पश्चिमी तथा पूर्वी शक्तियों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये और बंगाल के धर्मपाल पर विजय प्राप्त की। एक ओर पालों की एक विशाल सेना को इसने मुंगेर के निकट परास्त किया और दूसरी ओर धर्मपाल के आश्रित कन्नौज के चक्रायुध को धूल चटा दी। किन्तु कुछ समय तक गुर्जर लोग अपने दक्षिणी प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रकूटों के विरुद्ध विशेष सफलता न प्राप्त कर सके। गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूट ने नागभट्ट तथा धर्मपाल दोनों को पराजित किया और हिमालय के चरणों तक अपनी विजय पताका फहराई। किन्तु प्रतिहारों के वैभव के दिन अभी आने को थे। अपने महानतम शासक मिहिर भोज के राज्य-काल में जिसने लगभग ५० वर्ष तक शासन किया, उन्होंने एक बार पुनः तीनों लोकों को विजय

करने का संकल्प किया। भोज शीघ्र ही सिन्ध तथा काश्मीर को छोड़ कर समस्त उत्तरी भारत का सम्राट बन बैठा, और कन्नौज को उसने अपनी राजधानी बनाया। यद्यपि वह अरबों का कट्टर शत्रु था, फिर भी अरब लेखकों ने उसकी अश्ववाहिनी के प्रताप की प्रशंसा की है और लिखा है कि उसका विस्तृत साम्राज्य अपराधों से सर्वथा मुक्त था। किन्तु दसवीं शताब्दी में भोज के उत्तराधिकारियों के समय में प्रतिहारों की भाग्य-लक्ष्मी क्षीण होने लगी। राष्ट्रकूटों ने पुनः उत्तरी भारत में अपनी विजयिनी तलवार की धाक बैठाई और इन्द्र तृतीय ने कुछ काल के लिये कन्नौज पर भी अधिकार कर लिया। चन्देल, चालुक्य, चेदि आदि छोटी शक्तियों तथा राज्यों ने विशाल प्रतिहार साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। किन्तु साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो जाने पर भी गुर्जर-प्रतिहारों ने दसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक मुसलमानों को उत्तरी भारत में प्रवेश करने से रोका। ९९१ ई० में कन्नौज के राजा राज्यपाल ने वीरतापूर्वक जयपाल शाही का साथ दिया, किन्तु कुर्रम घाटी के युद्ध में हिन्दुओं की जो पराजय हुई, उसमें उसे भी भागीदार बनना पड़ा। १००८ ई० में पेशावर के युद्ध में पुनः गुर्जरों ने आनन्द-पाल शाही का पक्ष लेकर युद्ध किया। किन्तु हिन्दुओं का तुर्कों के विरुद्ध यह संघर्ष दिन-प्रतिदिन निष्फल होता गया। महमूद ग़जनवी ने पहले मथुरा और फिर कन्नौज पर अधिकार कर लिया। राज्यपाल को मुस्लिम आक्रमणकारियों तथा चन्देलों के नेतृत्व में संगठित अपने आन्तरिक शत्रुओं के संघ के विरुद्ध साथ-साथ युद्ध करना पड़ा, इसलिये अन्त में उसकी पराजय हुई। उसके पुत्र त्रिलोचन-पाल ने संघर्ष जारी रक्खा और कुछ काल के लिये इलाहाबाद में शरण ली। कन्नौज गाहड़वालों के आधिपत्य में एक शताब्दी तक और हिन्दुओं के ही अधिकार में बना रहा। तदुपरान्त उसको मुसलमानों ने हस्तगत किया।

(झ) अजमेर के चौहान—जिस वंश में प्रसिद्ध पृथ्वीराज हुआ, वह राजस्थान में स्थित साँभर पर दीर्घकाल से शासन करता आया था और चाहुमानु कहलाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि आठवीं शताब्दी में चौहानों ने सिन्ध के अरबों को आगे बढ़ने से रोका। इसी वंश के अजयदेव ने ११ वीं शताब्दी में अजमेर की स्थापना की। पृथ्वीराज के चाचा विग्रहराज ने चौहान राज्य की सीमाओं का और भी अधिक विस्तार किया। पृथ्वीराज को मुसलमान इतिहासकारों ने राइ पिथौरा लिखा है; उसके वीरतापूर्ण कार्यों का राजस्थान के लोकप्रिय महा-काव्य 'चाँद राइसा' में देदीप्यमान वर्णन है। कन्नौज के राजा जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता को नाटकीय ढंग से भगाने की उसकी कहानी का हिन्दुस्तान की सबसे अधिक लोकप्रिय गाथाओं में स्थान है। उसकी वीरतापूर्ण राजनैतिक सफलताओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध दो है—उसने चन्देल राजा परमर्दी के राज्य पर आक्रमण किया और उसे हराया, तदुपरान्त उसने मुहम्मद ग़ोरी का वीरतापूर्वक प्रतिरोध किया और ११९१ ई० में तराओरी के प्रथम युद्ध में उसे परास्त किया। किन्तु अन्तिम युद्ध में उसी रणक्षेत्र में पृथ्वीराज परास्त हुआ और बन्दी बना लिया गया;

मुसलमानों ने उसका वध कर दिया। उसके स्थानीय शत्रु जयचन्द्र ने उसके विरुद्ध मुसलमानों से षडयन्त्र भले ही न किया हो किन्तु इस युद्ध में वह तटस्थ रहा और पृथ्वीराज के पराभव पर उसने प्रसन्नता प्रकट की।

(ख) कन्नौज के गहड़वार—उपरोक्त घटना का धूर्त पात्र जयचन्द्र भी अपने दामाद के पतन के उपरान्त दूसरे ही वर्ष (११९३ ई०) मुहम्मद गोरी के योग्य सेनापति एबक द्वारा पराजित हुआ। जयचन्द्र गहरवार अथवा गाहडवाल वंश का था जिसने प्रतिहारों को अपदस्थ किया था। गोविन्दचन्द्र (१११२-५५ ई०) इस वंश का महानतम शासक हुआ, उसने मुसलमानों के आक्रमणों से बनारस की रक्षा की तथा पालों से पटना को छीन कर अपने राज्य की सीमाएँ कन्नौज से बिहार तक पहुँचा दीं। किन्तु उसके पौत्र जयचन्द्र के समय में मुसलमानों ने बनारस पर अधिकार कर लिया तथा वहाँ के मन्दिरों को तोड़ कर उनके स्थान पर मसजिदों का निर्माण कराया।

(ग) महोबा (जैजाकभुक्ति) के चन्देले—इस वंश के राजा परमर्दी (परमाल) को पृथ्वीराज चौहान के हाथों पराजय भुगतनी पड़ी, इसका हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं। यह घटना ११८२ ई० की थी। बुन्देलखण्ड के चन्देले गोंड महल के निर्भीक तथा शक्तिशाली जाति के थे; मध्ययुगीन भारत के इतिहास में उन्होंने महत्वपूर्ण भाग लिया। उन्होंने गौड़, कोसल मालव चेदि कालचुरि तथा गुर्जर आदि अपने सभी पड़ौसियों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष किया। उनकी राजधानी महोबा थी इस वंश के यशोवर्मन (९३०-५० ई) ने कालिंजर के दुर्ग को हस्तगत करके अपनी शक्ति को और भी अधिक सुदृढ़ कर लिया। उसने खजुराहो के महान् मन्दिर का निर्माण कराया और कन्नौज के राजा से बलपूर्वक विष्णु की एक प्रतिमा छीन कर उसमें प्रतिष्ठित की। यशोवर्मन का पुत्र धंग और भी अधिक प्रसिद्ध हुआ। उसने ५० वर्ष (९५०-९९ ई०) तक राज्य किया। जयपाल ने सुबुक्तगीन के विरुद्ध जो संयुक्त मोर्चा खड़ा किया, उसमें सम्मिलित होनेवाले हिन्दू राजाओं में धंग का प्रमुख स्थान था। उसका पुत्र गंड हुआ। कन्नौज के राज्यपाल ने महमूद ग़ज़नवी के सम्मुख शस्त्र डाल दिये थे, इस कारण उस पर क्रुद्ध होकर गंड ने उसके विरुद्ध एक विशाल सेना भेजी और १०१९ ई० में उसे मार डाला। इस वंश का अन्तिम महत्वशाली राजा परमर्दी (परमाल) हुआ जिसका पहले हम अनेक बार उल्लेख कर चुके हैं। उसे १२०३ ई० में कुतुबुद्दीन एबक ने हराया; कालिंजर का प्रसिद्ध किला जो मध्ययुगीन इतिहास में बहुत प्रसिद्ध था मुसलमानों ने हस्तगत कर लिया; उसके मन्दिरों को मसजिदों में परिवर्तित कर दिया; उसके विशाल कोष को लूटा और हजारों हिन्दुओं को दास बना कर ले गये।

(घ) चेदि (मध्य प्रदेश) के कालचुरि—इनके सम्बन्ध में विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं है। इनके वंश के लोग प्राचीन काल से मध्य

भारत पर शासन करते आये थे। उनके राजनैतिक इतिहास की कुछ सुप्रसिद्ध घटनाओं का ही यहाँ हम उल्लेख कर सकते हैं; उन्होंने कन्नौज के मिहिर भोज, मालवा के भोज, कृष्ण द्वितीय राष्ट्रकूट, सोमेश्वर प्रथम चालुक्य तथा पालों और कलिंगों के विरुद्ध युद्ध किये। १२ वीं शताब्दी के अन्त तक उनका महत्त्व पूर्णतया घट गया; बघेलों ने उनका स्थान ले लिया और अन्त में मुसलमानों ने उन्हें समाप्त कर दिया।

(द) बंगाल के पाल तथा सेन—७६५–७० ई० में गोपाल ने पाल राज्य की स्थापना की, उससे पहले के बंगाल के इतिहास का वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। गोपाल के बाद धर्मपाल राजा हुआ। उसके शासन-काल में पाल राज्य अत्यधिक शक्तिशाली हो गया और आक्रमणकारी नीति का अनुसरण करने लगा। पालों, राष्ट्रकूटों तथा गुर्जरों में उत्तरी भारत के प्रभुत्व के लिये जो त्रिदलीय संघर्ष हुआ, उसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। धर्मपाल ने कन्नौज तक आक्रमण किया और अपनी अधीनता में चक्रायुद्ध को वहाँ का शासक नियुक्त किया। किन्तु वत्सराज तथा नागभट्ट द्वितीय गुर्जर से अपनी प्रतिद्वन्दता के कारण धर्मपाल ने राष्ट्रकूटों का साथ दिया और उनके हाथ की कठपुलती बन गया। मिहिर भोज ने बंगाल पर आक्रमण किया और ९ वीं शताब्दी के अन्त में मगध को प्रतिहार साम्राज्य में मिला लिया। यद्यपि गुर्जरों के पराभव के काल में बंगाल ने अपनी खोई हुई भूमि के अधिकांश को पुन. जीत लिया, किन्तु कृष्ण द्वितीय तथा इन्द्र तृतीय के समय में राष्ट्रकूटों ने और राजेन्द्र प्रथम के शासन-काल में (१०२३ ई०) दूरस्थ चोलों ने भी उत्तर-पूर्वी भारत के धनी प्रदेशों में धावे मारे। १०२० ई० के लगभग महिपाल प्रथम के समय में बंगाल की स्थिति पुनः आंशिकरूप से सुधर गई। उसके उपरान्त १०४४–६२ ई० के लगभग विक्रमादित्य चालुक्य ने गौड तथा कामरूप (बंगाल तथा आसाम) पर आक्रमण किया। दक्षिण के इन आक्रमणों के अतिरिक्त पालों को अपने पड़ौसी शत्रुओं का भी सामना करना पड़ा जिनमें पूर्व में काम्भोज तथा पश्चिम में गाहड़वाल मुख्य थे। इन आक्रमणों के बीच पालवंश प्रत्येक पीढ़ी में पहले से अधिक दुर्बल होता गया और अन्त में ११९९ ई० में मुसलमानों के सामने उसने घुटने टेक दिये।

सेन लोग मूलतः कर्नाटक के निवासी थे और चालुक्य विक्रमादित्य ने जब बंगाल पर आक्रमण किया, उसी समय वे उस राज्य में बस गये होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि विजयसेन सेन-वंश की शक्ति का वास्तविक संस्थापक था। उसने ११०० से ११६५ ई० तक शासन किया। "अपने देवपाड़ा के अभिलेख में उसने दावा किया है कि मैंने नान्य तथा वीर को परास्त किया, गौड़ के स्वामी पर आक्रमण किया, कामरूप के राजा का दर्प चूर्ण किया, कलिंग नरेश को रक्षा की, अनेक छोटे-मोटे शासकों को बन्दी बनाया और अपना जहाजी बेड़ा गंगा में ऊपर की ओर चलाया।" विजयसेन के पौत्र लक्ष्मणसेन ने अपने राज्य

की सीमाओं का पश्चिम में बनारस तथा प्रयाग तक, पूर्व में कामरूप और दक्षिण में पुरी तक विस्तार किया। इस समय तक पश्चिमी बंगाल के पालों का लोप हो चुका था। मुहम्मदगोरी ने ११९३ में दिल्ली तथा ११९४ में कन्नौज पर अधिकार कर लिया था। उसी समय मुसलमानों ने पूर्व में आगे बढ़ कर धावे मारना आरम्भ कर दिया था। बनारस के विध्वंस का हम ऊपर उल्लेख कर ही आये हैं। कुतुबुद्दीन ऐबक का सहायक सेनापति इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार बिहार में तेजी से बढ़ता गया और नदिया (लखनौती) पर अधिकार करके उसने लक्ष्मणसेन को मार भगाया (१२०२ ई० से पूर्व)। इस आक्रमण की ब्यौरे की बातें बहुत विवादास्पद हैं किन्तु जिस विद्युत् गति से मुसलमानों ने पश्चिमी बंगाल को विजय किया उसमें सन्देह नहीं रह जाता। पूर्वी बंगाल में मुस्लिम प्रगति की रफ्तार धीमी रही। फिर भी तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक बंगाल में हिन्दू शासन का कोई चिन्ह शेष न रह गया।

३—दक्खिन के राज्य

दक्खिन भारत के इतिहास की गुत्थियों को सुलझाना उतना सरल नहीं है, जितना कि उत्तर के भारतीय राज्यों के इतिहास का अध्ययन। वर्णन को सरल और सुबोध बनाने की दृष्टि से यहाँ भी हम कुछ ही राज्यों का उल्लेख करेंगे। दक्षिण की राजनैतिक दशा का विश्लेषण हमें इस उद्देश्य से करना है कि मुसलमानों की दक्षिण विजय पर उसका क्या प्रभाव पड़ा। अलाउद्दीन खलजी पहला मुसलमान था जिसने मुहम्मद ग़ोरी की उत्तर भारत की विजय के ठीक १०० वर्ष उपरान्त १२९४ ई० में विन्ध्या को पार करके दक्षिण पर आक्रमण किया। १३१२ ई० तक मलिक काफूर के नेतृत्व में मुसलमान प्रायद्वीप की नोक तक पहुँच गये और पाण्डवों की प्राचीन राजधानी मदुरा में उन्होंने एक मस्जिद का निर्माण किया। इस स्थिति का शीघ्रता से अवलोकन करेंगे और देखेंगे कि इस अधोगति तक वह इतनी तेजी से कैसे पहुँच गई। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये दक्षिण के इतिहास को दक्षिणी राज्यों के इतिहास से पृथक करना अधिक सुविधाजनक होगा। पहले समूह में देवगिरि के यादव, मान्यखेत (मालखेद) के राष्ट्रकूट वातापी (बादामी) कल्याणी और वेंगी के चालुक्य तथा बनवासी के कदम्ब वारंगल के काकतीय, मैसूर के गंग और द्वार समुद्र के होयसल सम्मिलित थे। कांची (कांजीवरम्) के पल्लव, तंजोर के चोल, मदुरा के पाण्डय तथा मालाबार के चेर दूसरे समूह में थे।

(अ) चालुक्य—प्रारम्भिक चालुक्यों में पुलकेशिन द्वितीय महानतम शासक हुआ। वह कन्नौज के हर्षवर्धन का समकालीन था। इन दोनों महान् शासकों ने उत्तर तथा दक्षिणी भारत का आधिपत्य लगभग आपस में बाँट लिया था। पुलकेशिन ६४२ ई० में अपने दक्षिण के प्रतिद्वन्द्वियों, पल्लवों से युद्ध करता हुआ मारा गया। इस अवसर पर पल्लवों ने चालुक्यों की राजधानी

वातापी अथवा बादामी (बीजपुर जिले में स्थित) को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। वेंगी का राज-वंश वातापी के चालुक्यों की ही एक शाखा था क्योंकि उसकी स्थापना पुलकेशिन के भाई विष्णुवर्धन ने की थी। वातापी के कीर्तिवर्मन द्वितीय के उपरान्त जो ७४६ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ, दो सौ वर्ष तक मान्यखेत (निजाम राज्य में स्थित मालखेद) के राष्ट्रकूट चालुक्यों की शक्ति को आच्छादित किये रहे। तदुपरान्त दसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण (९७३–९७ ई०) में तैल द्वितीय ने चालुक्य-राज्य का पुनरुत्थान किया। उसके एक प्रसिद्ध उत्तराधिकारी सोमेश्वर प्रथम ने कल्याणी (निजाम राज्य में स्थित) को अपनी राजधानी बनाया (१०५३ ई०), इसीलिये ये परवर्ती चालुक्य कल्याणी के चालुक्यों के नाम से विख्यात हुए। जिस प्रकार प्रारम्भिक चालुक्यों को राष्ट्रकूटों तथा पल्लवों से निरन्तर संघर्ष करना पड़ा उसी भाँति उनके वंशज उत्तर में परमारों तथा कालचुरियों और दक्षिण में चोलों के विरुद्ध अविराम युद्ध करते रहे। इस वंश के विक्रमादित्य षष्ठ की उत्तरी भारत की रणयात्राओं का हम पहले उल्लेख कर आये हैं; कहा जाता है कि इसी प्रकार उसने दक्षिण में चोलों तथा चेरों के विरुद्ध संघर्ष किया। अपनी इन विजयों के उपलक्ष में विक्रमादित्य ने १०७६ ई० में चालुक्य विक्रम-काल नामक एक नया सम्वत चलाया; उसके दरबारी कवि बिल्हण ने प्रसिद्ध 'विक्रमाङ्कचरित्र' लिख कर अपने प्रतापी आश्रयदाता को अमर कर दिया है। किन्तु यह वंश भाग्य के उतार-चढ़ाव का सामना करते हुए एक शताब्दी से कुछ ही अधिक और चल सका और ११९० ई० में समाप्त हो गया।

(न) राष्ट्रकूट तथा यादव—दक्षिण के इन दो वंशों ने क्रमानुसार मालखेद तथा देवगिरि से शासन किया। वे चालुक्यों के परम्परागत प्रतिद्वन्दी थे; इसलिये हम यहाँ उनका एक साथ वर्णन कर सकते हैं। दन्तिदुर्ग खडगावलोक (७५३ ई० के लगभग) ने चालुक्यों पर राष्ट्रकूटों का प्रभुत्व स्थापित किया। उसका उत्तराधिकारी उसका चाचा कृष्ण प्रथम हुआ जिसने एलौरा का प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर बनवाया था। उसके एक उत्कीर्ण लेख में कहा गया है कि 'उसने चालुक्य-वंश से भाग्य-लक्ष्मी को बलपूर्वक छीन लिया और वाराह (चालुक्यों का चिन्ह) को एक डरपोक हरिण की भाँति मार भगाया।' उसके नाती गोविन्द तृतीय (७९३–८१५ ई०) के वीरतापूर्ण कार्यों का हम अनेक बार पहले उल्लेख कर कर आये हैं। उसने गुर्जरों, पल्लवों तथा वेंगी के पूर्वी चालुक्यों के विरुद्ध संघर्ष किया। उसके एक अन्य उत्तराधिकारी इन्द्र तृतीय ने भी उत्तरी भारत पर आक्रमण किये और हिन्दुस्तान के प्रभुत्व के लिये पालों तथा गुर्जरों से युद्ध किया। किन्तु (९७३ ई०) में कल्याणी के चालुक्य-वंश के संस्थापक तैल द्वितीय ने इस वंश का अन्त कर दिया।

यादव लोग प्रारम्भ में पश्चिमी चालुक्यों के करद सामन्त थे। ११८७ ई० के लगभग भिल्लम तृतीय के समय में इस वंश ने प्रभुत्व-शक्ति प्राप्त करली।

भिल्लम ने ही यादवों की नई राजधानी देवगिरि की नींव डाली। यादवों ने वारंगल के काकतीय तथा द्वारसमुद्र के होयसलों के विरुद्ध जो दक्खिन में अपनी शक्ति का प्रसार करने का प्रयत्न कर रहे थे, युद्ध किया। यद्यपि अपने इन प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध उन्हें सफलता प्राप्त हुई, तथापि रामचन्द्र (१२७१ १३१० ई०) तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में उन्हें अलाउद्दीन खलजी तथा मलिक काफूर के सम्मुख घुटने टेकने पड़े और उसके उपरान्त वे फिर कभी न उठ सके।

(प) कदम्ब, गंग तथा होयसल—कर्नाटक के इन तीन राज्यों का उत्थान और पतन भी इसी युग में हुआ। इनमें से प्रथम दो का प्रादुर्भाव बहुत पहले हो चुका था और होयसलों की महान् शक्ति के उदय तक वे फलते-फूलते रहे। कदम्ब लोग कनारा तथा उत्तरी कर्नाटक के ज़िलों और गंग लोग मैसूर पर शासन करते थे। १२ वीं शताब्दी के प्रारम्भ (१११०) में विष्णुवर्धन होयसल ने कदम्बों के राज्य पर आक्रमण किया और उनके प्रमुख नगरों—बनवासी तथा हंगल—को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अन्य वंशों की तुलना में होयसल-वंश नया ही था। यद्यपि वे अत्यधिक प्राचीन होने का दावा करते थे तथापि इतिहास के रंगमंच पर वे ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही प्रकट हुए। इसके बाद उन्होंने दक्षिण में चोलों तथा पाण्ड्यों और उत्तर में कदम्बों तथा चालुक्यों का दमन करके अपनी शक्ति का निर्माण किया। किन्तु जब तक दक्खिन के आधिपत्य के लिये इन शक्तियों में वास्तविक संघर्ष प्रारम्भ हुआ तब तक विदेशी उनके फाटकों पर आ धमके। देवगिरि के पतन के बाद मलिक काफूर ने होयसलों की राजधानी द्वारसमुद्र (मैसूर राज्य में स्थित हलीबीद) को घेर लिया और उनके राजा वीर बल्लाल तृतीय को बन्दी बना कर दिल्ली ले गया (१३१ ई)। उसी समय इस अफ़सर ने सेनापति ने गोआ को जहाँ पर कदम्ब लोग अब भी शासन कर रहे थे नष्ट कर दिया। कोंकण के कदम्बों पर अन्तिम प्रहार मुहम्मद तुग़लक ने १३२७ ई० में किया। इब्नबतूता लिखता है कि कदम्ब राजा के एक विद्रोही पुत्र ने मुसलमानों को दक्षिण में आमंत्रित किया था।

(फ) वारंगल के काकतीय—दक्खिन का अन्तिम राजवंश जिसका हमें यहाँ उल्लेख करना है वारंगल के काकतीयों का था। मूलतः वे तैलंगाना अथवा तैलुगु प्रदेश के निवासी थे। वारंगल नगर का निर्माण इस वंश के राजा प्रोलराज ने ११२ ई० में किया था। कहा जाता है कि उसके पुत्र प्रतापरुद्रदेव प्रथम (११६२ ई के लगभग) ने यादवों तथा उड़ीसा के राजा पर विजय प्राप्त की। इस वंश के अन्य शासक गणपति ने ११९९ ई में चोलों को परास्त किया। काकतीय वंश के अन्तिम राजा से ठीक पहले रुद्रम्मा नामक एक रानी ने शासन (१२६१ ई०) किया। मार्कोपोलो लिखता है कि वह चतुर तथा न्यायप्रिय शासक थी। उसका उत्तराधिकारी प्रतापरुद्रदेव द्वितीय (१२९१ १३१० ई) काकतीय वंश का अन्तिम राजा था। १३१ ई० में उसकी मृत्यु हुई किन्तु उससे पहले ही सर्वव्यापी काफूर वारंगल में प्रवेश कर चुका था। प्रतापरुद्रदेव ने आक्रमणकारी को

बहुत सा सोना तथा जवाहरात भेंट करके अपनी रक्षा करने का प्रयत्न किया। किन्तु होनहार होकर ही रही। प्रतापरुद्रदेव बन्दा बनाकर दिल्ली भेज दिया गया और अपनी मृत्यु से कुछ समय पहले दिल्ली सुलतान के करद सामन्त के रूप में ही अपने राज्य को लौट सका।

४—दक्षिणी भारत के राज्य

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, इस समूह में कांची के पल्लव, तंजोर के चोल, मदुरा के पाण्डय तथा मालाबार के चेर सम्मिलित थे। प्रायद्वीप के छोर पर स्थित होने पर भी ये राज्य दिल्ली के दूरगामी आक्रमणों से मुक्त न रह सके।

(व) पल्लव—पल्लवों की उत्पत्ति का प्रश्न अभी अन्धकार में ही है। ऐसा माना जाता है कि उनका सम्बन्ध दक्षिणी भारत की किसी जाति से नहीं था, वरन् वे विदेशी शासकों के वंशज थे। हमारे उद्देश्य के लिए इतना स्मरण रखना ही पर्याप्त है कि हर्ष के समय में उनका राज्य पुलकेसिन द्वितीय का शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी था। इस वंश के नरसिंहवर्मन महान् ने ही चालुक्यों की राजधानी वातापी को नष्ट किया और पुलकेशिन को मार डाला (६४२ ई०)। कहा जाता है कि उसने चोलों, पाण्डयों और चेरों को भी बारम्बार पराजित किया। उसने लंका पर भी कई सफल आक्रमण किए। यहाँ हमें पल्लव राजाओं के शासन में जो निरन्तर युद्ध हुए, उनका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। ये युद्ध उत्तर में चालुक्यों तथा राष्ट्रकूटों, पश्चिम में गंगों तथा दक्षिण में चोलों तथा पाण्डयों के विरुद्ध लडे गये थे। पल्लव वंश का अन्तिम शासक अपराजित हुआ। चोल-वंश के आदित्य प्रथम द्वारा पराजित होकर उसने अपने नाम (अपराजित) को झूठा सिद्ध किया। उसके साथ साथ ९ वीं शताब्दी के अन्त में पल्लवों की शक्ति का भी अवसान हो गया।

(भ) चोल—यद्यपि चोलों का इतिहास अत्यन्त पुरातन है किन्तु हमारे अध्ययन की दृष्टि से आदित्य प्रथम की विजय के पश्चात् चोल-शक्ति के पुनरुत्थान का ही अधिक महत्व है। उसके पुत्र परान्तक (९०७-९४७ ई०) के वीरत्वपूर्ण कार्यों का अनुमान हम उसके विरुद 'मदुरइयम इल्मुम कोंडन' (मदुरा तथा लंका का विजेता) से ही लगा सकते हैं। उसका ज्येष्ठ पुत्र राजादित्य कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट के विरुद्ध युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। राजराज महान् (९८५-१०१६ ई०) तथा राजेन्द्र गंगईकोंड (१०१६-४२ ई०) महानतम चोल शासक हुए। उनके नेतृत्व में चोलों ने समस्त दक्षिणी भारत का स्वामित्व ही नहीं प्राप्त कर लिया, वरन गंगा के तटों पर तथा समुद्र पार बृहत्तर भारत पर भी आक्रमण किए और उन प्रदेशों में अपनी कीर्ति पताका फहराई। उन्होंने पाण्डयों, चेरों, सिंहलों, गंगों, पूर्वी तथा पश्चिमी चालुक्यों, कदम्बों, राष्ट्रकूटों और कलिंगों के राज्यों को विजय किया। कलिंग को आधार

बनाकर समुद्रगुप्त की नीति का अनुसरण करते हुये चोलों ने बिहार तथा बंगाल की दिग्विजय की, और वहाँ से मुड़ कर महा बंगाल की खाड़ी के द्वीपों तथा मार सीय द्वीप समूह (जावा, सुमात्रा आदि) को जीता। इस चक्करदार विजय अभियान के उपलक्ष में चोलों की नई राजधानी गंगईकोंड चोलपुरम की स्थापना की गई। किन्तु इन महान् विजयों के बावजूद चोल-शक्ति अधिक दिनों तक म हिक सकी। राजेन्द्र चोल की १ ४२ ई० में मृत्यु होगई। वह एक साम्राज्य विरा सत के रूप में छोड़ गया, किन्तु उसके कम योग्य उत्तराधिकारियों को प्रतिरक्षा त्मक युद्ध ही उत्तराधिकार में मिले। ११२७ ई० तक कुलोत्तुङ्ग के समय में समुद्र पार के उपनिवेशों पर से चोलों का स्वामित्व उठ गया। राजाधिराज द्वितीय तथा राजेन्द्र तृतीय के समय में गृह युद्ध छिड़ गये और करद सामन्तों ने भी विद्रोह करने आरम्भ कर दिये। इन परिस्थितियों में द्वारसमुद्र के होयसलों (सोमेश्वर, १२२ ३२ ई० के नेतृत्व में) मदुरा के पाण्ड्यों (सुन्दर पाण्ड्य नामक तीन राजाओं १२१६-७१ ई के समय में) वारंगल के काकतीयों (विशेषकर रानी रुद्रम्मा १२६ १०११ ई की आधीनता में) आदि सीमास्थ शक्तियों ने चोलों की भूमि को लूट-खसोटकर शीघ्रता से अपने राज्यों को सुसंगठित तथा विस्तृत कर लिया।

(ब) पाण्ड्य—पाण्ड्य लोग मूलतः चोलों के (६६२ १२१६) अधीन थे। बाद में भिन्न परिस्थितियों में उन्होंने अपनी स्वाधीनता की पुनः स्थापना की उसका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। मारवर्मन सुन्दर पाण्ड्य प्रथम (१२१६ ३८ ई) ने चोलों के राज्य को लूटा, आग लगाई और नरसंहार किया। उसके पौत्र जाटवर्मन सुन्दर पाण्ड्य (१२५१ ६८ ई०) के समय में मदुरा शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया। ऐसा प्रतीत होता है कि चोलों को अभिभूत करने के अतिरिक्त जाटवमन ने होयसलों को कन्नूर (श्रीरंगम के उत्तर में) से मार भगाया, कांची पर अधिकार कर लिया और काकतीय राजा गणपति को हराया। उसने नेल्लौर तक अपनी शक्ति का विस्तार किया। बौद्ध ग्रन्थ 'महावंश' (१२८४ ई) में कहा गया है कि उसके उत्तराधिकारी कुलशेखर (१२६८-१३११ ई)ने विरोधों तथा लंका को विजय किया। किन्तु कुलशेखर के जीवन काल में ही उसके पुत्रों—सुन्दर तथा वीर पाण्ड्य—में गृह-युद्ध छिड़ गया। कहा जाता है कि सुन्दर ने अपने पिता का वध कर दिया और दक्षिण में मुस्लिम-सत्ता के प्रथम संस्थापक मलिक काफूर को अपनी सहायतार्थ आमंत्रित किया (१३१० ११ ई)। इस प्रकार पाण्ड्यों के वैभव का अस्त होगया।

(प) चेर—अब हमें यहाँ दक्षिणी भारत के प्राचीन प्रसिद्ध राज्यों में से केवल एक का और उल्लेख करना है। चेरों के उत्कर्ष का युग दक्षिणी भारत में मुसलमानों के प्रवेश करने से बहुत पहले समाप्त हो चुका था। इस वंश का महानतम शासक सेनगुटुवन चेर (दूसरी शताब्दी ई पू) अर्द्ध-ऐतिहासिक

तथा अर्द्ध-पौराणिक व्यक्ति था। यह गलत विश्वास है कि पैरुमाल (बाद के मालाबार के शासक इसी नाम से पुकारे जाने लगे थे) शासकों में से एक ने इस्लाम अङ्गीकार कर लिया था और मक्का की तीर्थयात्रा के दौरान में ही उसकी मृत्यु हो गई थी। नवीं शताब्दी में इस राजवंश का अन्त हो गया और तत्पश्चात कुलशेखर पेरुमालों का उत्कर्ष हुआ। वे आधुनिक त्रावनकोर के शासकों के पूर्वज थे। यह स्मरणीय बात है कि मालाबार मलिक काफूर से पहले ही मुसलमानों के प्रभाव में आ चुका था। 'तुहफुत-उल-मुजहद्दीन' का रचियता शेख जैनुद्दीन जो स्वयं एक मालाबारी मुसलमान था और जो बीजापुर के सुल्तान आदिलशाह के दरबार में रहता था, अपने ग्रन्थ में लिखता है कि पैगम्बर मुहम्मद के समय में ही मुसलमान लोग मालाबर में बसने लग गये थे। किन्तु अधिक प्रामाणिक इतिहास के आधार पर ८ वीं शताब्दी से मालाबार में मुसलमानों का आगमन माना जाता है।

ब—समाज तथा संस्कृति

ऊपर दी हुई राजनैतिक इतिहास की रूप रेखा के अवलोकन से पाठकों को हर्ष की मृत्यु (६४७ ई०) तथा सुदूर दक्षिण में मुसलमानों के पहुँचने (१३१२ ई०) के बीच की शताब्दियों में भारत की दुर्बलता का आभास हो जायगा। राजनैतिक दृष्टि से भारत इतना भेद्य कभी नहीं रहा था जितना कि इन सात शताब्दियों में। उत्तर अथवा दक्षिण में ऐसी कोई सर्वोच्च सत्ता नहीं थी जो अकेले ही आक्रमणकारी का सामना कर सकती। न एकता की ऐसी भावना ही थी जिससे कम से कम सार्वदेशिक सक्ट के समय अगणित राज्य एकत्र हो सकते। उत्तर में प्रतिहारों तथा दक्षिण में चोलों के नेतृत्व में कुछ समय के लिये ऐसी एकता अवश्य स्थापित हो गई थी और यदि वह कुछ अधिक कायम रहती तो सम्भवतः देश की रक्षा हो जाती। किन्तु इन दो शक्तियों की सफलता भी आकस्मिक थी और सदैव झिलमिल रही। उन्हें मिहिर भोज, नागभट्ट, राजराज, राजेन्द्र आदि महापुरुषों से प्रेरणा तथा बल मिलता था, न कि सामान्य जनता से जो शक्ति का अधिक स्थायी स्रोत होती है। इस युग के सार्वदेशिक संघर्ष जिनका हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं, प्रादेशिक-भक्ति की भावनाओं से अनुप्राणित जनता के बीच अथवा विरोधी धर्मों के अनुयायियों के बीच युद्ध नहीं थे, वे तो सदैव महत्वाकांक्षी राजाओं के निजी स्वामिभक्ति अथवा भाड़े के टट्टू अनुयायियों के बीच ही हुआ करते थे। इसलिए इस युग के वास्तविक जीवन को समझने के लिए हमें शासकों को छोड़ कर जनता, समाज तथा संस्कृति की ओर ध्यान देना चाहिए।

देश के जीवन को ढालने वाले दो तत्व—सामूहिक रूप से जनता उचित नेतृत्व के बिना कभी सक्रिय नहीं होती। प्रभावोत्पादक नेतृत्व के होने पर

यह कुछ भी प्राप्त कर सकती है। यह सिद्धान्त लोकतान्त्रिक राज्यों के लोगों के सम्बन्ध में भी उतना ही सत्य है, जितना कि राजतन्त्रीय देशों की जनता के विषय में; आधुनिक युग के सम्बन्ध में भी उतना ही सही है जितना कि प्राचीन अथवा मध्य युगों के बारे में। मानव-चरित्र की यही सार्वभौमिक विशेषता इस बात के लिए उत्तरदायी है कि एक जनता की सफलताओं का धरातल तथा विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न होती है। इस अमर सत्य के उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं। यही कारण है कि पैगम्बरों तथा राजाओं को सदैव असंख्य अनुयायी मिलते रहे हैं जिनकी सहायता से उन्होंने धर्मों तथा साम्राज्यों की स्थापना की है। यदि धर्म तथा साम्राज्य चिरस्थायी नहीं हुए हैं तो इसका कारण दोषपूर्ण नेतृत्व ही रहा है। भारत में धर्म तथा शासक यही दो तत्व रहे हैं जिन्होंने जनता के जीवन तथा भाग्य का निर्माण किया है। इसलिए हमें मध्ययुगीन भारत के धर्मों तथा शासकों की गहराई से समीक्षा करनी चाहिए। जनता के लिए राजा लोग वास्तव में पृथ्वी पर देवता थे (राजा प्रत्यक्ष देवता) और जैसा चरित्र राजाओं का होता था वैसा ही प्रजा का (यथा राजा तथा प्रजा)। यह सिद्धान्त अन्य देशों की अपेक्षा भारत के सम्बन्ध में तथा आधुनिक युग की अपेक्षा मध्य युग के सम्बन्ध में अधिक सत्य है।

धर्म—अंग्रेज़ी भाषा का रिलीजन (Religion) शब्द हिन्दुओं के धर्म शब्द का अनुपयुक्त रूपान्तर है और भ्रम में डालने वाला है। धर्म जीवन के प्रति दृष्टिकोण निर्धारित करता तथा जीवन भर भारत के प्रत्येक पुरुष स्त्री तथा बालक के आचरण का नियमन करता था। इसी रहस्यमय प्रेरणा के कारण राजा लोग युद्ध करते मन्दिर बनवाते तथा ब्राह्मणों को आश्रय देते थे धर्म की इस प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिये ही स्त्रियाँ शान्ति काल में सती होतीं तथा युद्ध के समय जौहर किया करती थीं। इस गम्भीर तथा व्यापक तत्व को समझे बिना हम मध्ययुगीन जीवन के, जिसका दृष्टिकोण हमारे से भिन्न था, अभिप्राय को हृदयंगम नहीं कर सकते। जिस प्रकार देश के विभिन्न भागों में, अथवा एक ही प्रान्त में बसने वाली जनता के विभिन्न वर्गों में विभिन्न धर्म, मतवाद तथा कर्मकाण्ड प्रचलित थे उसी प्रकार देश में अच्छे तथा बुरे राजा भी थे। किन्तु एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से, एक प्रान्त दूसरे प्रान्त से कितना ही भिन्न रहा हो, फिर भी हर्ष से लेकर सुन्दर पाण्ड्य तक और युवान च्वांग से लेकर मार्कोपोलो के समय तक समस्त हिन्दू भारत का जीवन-दर्शन एक ही था। सातवीं शताब्दी के मध्य में युवान-च्वांग ने लिखा था, "जीवित प्राणियों को मन वचन तथा कर्म से अपना कर्तव्य करना चाहिये इस ने पुण्य का यही सर्व श्रेष्ठ मार्ग घोषित किया है।' युवान च्वांग ने कन्नौज-नरेश का जो चित्र खींचा था वही आगामी सात शताब्दियों तक आदर्श रहा। लम्बा होने पर भी उस यहाँ उद्धृत करना अनुचित न होगा।

'प्रभाकरवर्धन का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन हुआ। किन्तु जब पूर्वी भारत में स्थित कर्णसुवर्ण के दुष्ट राजा शशांक ने, जो बौद्धों का पीडक था, राज्यवर्धन का वध कर दिया, तब वाणी (अथवा वाणी) की सलाह से कन्नौज के राजनीतिज्ञों ने मृत राजा के छोटे भाई हर्ष को राजमुकुट धारण करने के लिये आमन्त्रित किया। तब राजकुमार हर्ष ने, जो इस भार को स्वीकार करने का इच्छुक नहीं था, बोधिसत्व अवलोकितेश्वर की सलाह लेने का सकल्प किया। इस बोधिसत्व की एक प्रतिमा उस प्रदेश में गंगातट पर एक कुंज में विराजमान थी। राजकुमार वहाँ पहुँचा और व्रत तथा प्रार्थना के उपरान्त बोधिसत्व के सम्मुख अपनी समस्या रक्खी। प्रतिमा ने दयापूर्वक उत्तर दिया और कहा कि राजा होना तुम्हारे लिये एक शुभ कर्म है और इसीलिये राजसत्ता, जो तुम्हें भेंट की जा रही है, स्वीकार कर लो। तत्पश्चात् बौद्ध धर्म का नाश के उस गर्त से निवारण करो जिसमें कर्णसुवर्ण के राजा ने उसे पटक दिया है और फिर अपने लिये एक महान् साम्राज्य का निर्माण करो। बोधिसत्व ने उसे गुप्त सहायता देने का वचन दिया, किन्तु उसे यह भी चेतावनी दी कि सिंहासन पर कभी मत बैठना और न महाराज का विरुद धारण करना। तदुपरान्त हर्ष कन्नौज का राजा हो गया और उसने 'राजपुत्र' तथा 'शीलादित्य' के विरुद धारण किये।'

इस उद्देश्य को लेकर हर्ष चला, जिस प्रकार उसने अपने आदर्श को पूरा किया वह भी मध्ययुगीन हिन्दू राजत्व की एक विशेषता थी। 'जैसे ही शीलादित्य राजा हुआ, वैसे ही उसने एक विशाल सेना एकत्र की और अपने भाई के वध का प्रतिशोध लेने तथा पड़ोसी राज्यों को जीतने के उद्देश्य से प्रस्थान कर दिया। पूर्व की ओर बढ़ कर उसने उन राज्यों पर आक्रमण किया जिन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था, छः वर्ष तक उसने निरन्तर संघर्ष किया और पाँच भारतों को विजय कर लिया। तब राज्य का विस्तार करने के उपरान्त उसने अपनी सेना में वृद्धि की, उसकी गज-सेना की संख्या ६०,००० तथा अश्व-सेना की १००,००० थी। इसके बाद बिना शस्त्र उठाये उसने तीस वर्ष तक शान्तिपूर्वक राज्य किया। वह न्यायप्रिय शासक तथा अपने कर्तव्यों के पालन में अत्यधिक सावधान था। सुकर्मों में वह इतना संलग्न रहता कि नींद और भोजन का भी उसे स्मरण नहीं रहता था। उसने पाँचों भारतों मे मांसाहार निषिद्ध कर दिया और जीवहत्या करनेवालों के लिये कठोर दण्ड निर्धारित किये। उसने गंगा के किनारे सहस्रों स्तूपों का निर्माण कराया, राज्य भर में यात्रियों के लिये विश्राम-गृह बनवाये और बौद्ध तीर्थस्थानों में मठों की स्थापना की। वह प्रति पाँच वर्ष उपरान्त नियमपूर्वक एक सम्मेलन बुलाया करता और उस अवसर पर युद्ध-सामग्री को छोड़ कर सर्वस्व दान कर दिया करता था। वर्ष में एक बार वह सभी बौद्ध-भिक्षुओं को आमंत्रित करता और आवश्यकता की सभी वस्तुएँ उन्हें भेंट करता। वह चैत्यों को सामग्री दान देता तथा मठों के सार्वजनिक आगारों को उदारतापूर्वक विभूषित करता था। वह परीक्षा तथा वाद-विवाद के हेतु संघ के सदस्यों को एकत्र करता और उनकी योग्यता अथवा अयोग्यता के अनुसार पुरस्कार अथवा दण्ड देता। जो सदस्य संघ के नियमों का कठोरता

से पालन करते और सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों में पूज्य उतरते थे उन्हें वह सिंहासन (सर्वोच्च स्थान) पर बिठलाता और उनसे धार्मिक उपदेश ग्रहण करता; जो आचरण सम्बन्धी नियमों के पालन में पूज्य होते किन्तु विद्वान न होते, उनके प्रति वह केवल रस्मपूर्वक सम्मान प्रकट करता और जो नियमों की अवहेलना करते और दुराचरण के लिये बदनाम होते उन्हें वह अपने सामने से तथा देश से निर्वासित कर देता। उन पड़ोसी राजकुमारों तथा राजनीतिज्ञों को जिनमें धार्मिक कार्यों के लिये उत्साह होता और जो श्रेष्ठता की खोज में अथक रूप से प्रयत्नशील रहते, उन्हें वह अपने सिंहासन पर बिठलाता और उन्हें 'सन्मित्र' कह कर पुकारता; और इससे भिन्न चरित्रवालों से वह बात करना भी पसन्द नहीं करता था। प्रजा की दशा का निरीक्षण करने के लिये राजा अपने समस्त राज्य का दौरा किया करता था, एक स्थान पर वह अधिक नहीं टिकता था, इसके यात्रा के प्रत्येक स्थान पर रहने के लिये अस्थायी शिविर बनवा लिया करता था। राज-शिविरों में प्रति दिन १   बौद्ध भिक्षुओं तथा ५०० ब्राह्मणों को भोजन बाँटा जाता था। राजा ने दिन को तीन भागों में विभक्त कर रक्खा था, जिनमें से एक को वह राजकीय कार्यों और दो को धार्मिक कृत्यों में व्यय किया करता था। वह कभी थकता न था और दिन उसके लिये बहुत छोटा था।'

यह चित्र एक मध्ययुगीन शासक के सर्वोत्कृष्ट रूप का है इससे अच्छा शासक होना कदाचित ही सम्भव हो सके। यह चित्र प्रामाणिक है इसलिये इससे हम निश्चयपूर्वक यह जान सकते हैं कि मध्यकालीन भारत के अच्छे राजाओं के क्या आदर्श थे और वे क्या करते थे। बौद्ध तथा जैन धर्मों का पराभव हो रहा था। कुछ राजा हिन्दू धर्म के नये उदीयमान सम्प्रदायों में से किन्हीं के अनुयायी हो सकते थे, किन्तु सामान्य प्रवृत्ति वही थी जो हर्ष की। अपने से भिन्न धर्मों के अनुयायियों पर धर्म के नाम पर अत्याचार करना एक अनहोनी सी बात थी। यही कारण था कि जैन, शैव वैष्णव, पाशुपत, जंगम तान्त्रिक, सूर्योपासक, अद्वैतवादी विशिष्टाद्वैतवादी और यहाँ तक नास्तिक और अनीश्वरवादी भी एक ही देश में निवास करते थे और फिर भी कभी साम्प्रदायिक झगड़े नहीं सुने गये। बहुधा आध्यात्मिक विषयों पर अत्यन्त उग्र और आवेशपूर्ण शास्त्रार्थ हो जाते थे और धार्मिक आचार्य तथा नेता एक दूसरे को चिनौती दिया करते थे। किन्तु इनका रूप शास्त्रीय होता था और अस्थायी तथा स्थानीय हलचल के अतिरिक्त इनका कोई महत्व नहीं रहता था। कभी-कभी कोई राजा अपना धर्म त्याग कर किसी अन्य सम्प्रदाय का अनुयायी हो जाता, किन्तु वह अपनी प्रजा को अपने मार्ग पर चलने के लिये बाध्य नहीं करता था। मध्ययुगीन हिन्दू राजा सभी धर्मों को आश्रय तथा संरक्षण प्रदान करते थे, उन्होंने अपने धर्म को प्रजा पर लादने का कभी प्रयत्न नहीं किया।

प्राक्-मुस्लिम भारत में प्रचलित धार्मिक सहिष्णुता के इतिहास का अध्ययन रुचिकर तथा शिक्षाप्रद है। किन्तु यहाँ इस विषय पर अधिक लिखना अप्रासंगिक

होगा। हर्ष की भाँति मध्ययुगीन भारत के सभी महान् शासक राजकीय तत्वाविधान में धर्म-सम्मेलनों का आयोजन किया करते थे। उनके निजी विचार कुछ भी रहते, किन्तु वे निष्पक्ष निर्णायकों के रूप में कार्य करते, और सभी को समान रूप से संरक्षण प्रदान करते थे। अल्पसंख्यक सम्प्रदायों के साथ तो लगभग पुत्रवत व्यवहार किया जाता था। विजयनगर के बुक्कराय प्रथम का १३६८ ई० (लगभग) का एक उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुआ है, उसमें जैनों तथा वैष्णवों में होने वाले विवाद का राजा ने कैसे निर्णय किया, उसका रोचक वर्णन है—

'राजा ने जैनों का हाथ लिया और उसे अठारह नाडुओं के वैष्णवों, जिनमें उन स्थानों के आचार्य भी सम्मिलित थे, हाथों पर रक्खा और घोषणा की कि वैष्णव-दर्शन और जैन-दर्शन में कोई भेद नहीं है। यदि भक्तों के कारण जैन-दर्शन को किसी प्रकार की हानि अथवा लाभ हो तो वैष्णव लोग देखेंगे कि इससे उनके दर्शन को भी हानि अथवा लाभ पहुँचेगा। श्री वैष्णवों को चाहिए कि वे कृपा करके राज्य की समस्त बस्तियों में इस सम्बन्ध में शासन स्थापित करदें कि जब तक सूर्य तथा चन्द्रमा विद्यमान हैं तब तक वैष्णव जैन-दर्शन की रक्षा करेंगे। वैष्णव तथा जैन एक ही शरीर हैं, उन्हें भिन्न नहीं समझना चाहिए।'[1]

स्थानाभाव के कारण यहाँ हम इस युग के धार्मिक इतिहास का अधिक विस्तार से वर्णन नहीं कर सकते। किन्तु उसकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करना आवश्यक है, जिससे उसकी मुख्य विशेषताओं का परिचय मिल सके। यद्यपि बौद्ध धर्म का पराभव युवान-च्वांग के समय से प्रारम्भ हो गया था, फिर भी पाल तथा सेन राजाओं के समय तक बंगाल और बिहार में उसके अनुयायी बने रहे। विक्रमशिला के महान् बौद्ध-विहार का निर्माण, जिसमें १०७ मंदिर तथा ६ विद्यालय थे, धर्मपाल (७७०-८१५ ई०) ने करवाया था। बारहवीं शताब्दी के अन्त में (११९७-९९ ई०) जब मुसलमानों ने बंगाल और बिहार पर आक्रमण किया, उसी समय इस लुप्तप्राय धर्म के बचे-खुचे अनुयायी भी समाप्त होगये और उनके मठों का पूर्ण रूप से विध्वंस कर दिया गया। जैन-धर्म अधिक काल तक जीवित रहा और विशेषकर दक्षिणी भारत में। दक्षिण के सभी प्रमुख राजवंशों में उसे संरक्षक प्राप्त होते रहे। इसीलिए वह राष्ट्रकूटों, चालुक्यों, गंगों तथा हौयसलों के राज्यों में फलता फूलता रहा; विष्णुवर्धन हौयसल (११००-४१ ई०) तथा विज्जल कालचुरि (११५६-६७ ई०) के समय से जबकि वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों का क्रमानुसार अभ्युदय हुआ, उसका पराभव होने लगा। फिर भी उसका पूर्णरूप से लोप नहीं हुआ और आज तक प्रायद्वीप के सभी भागों में उसके अनुयायी पाये जाते हैं। पश्चिमी भारत में गुजरात का कुमारपाल (११४३-७३ ई०) उसका महान् संरक्षक था।

मुसलमानों की भारत-विजय से ठीक पहले के युग में हिन्दू समाज के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को सुधारने का जिन धार्मिक आचार्यों को श्रेय था, उनमें

कुमारिल भट्ट (७०० ई० लगभग) शंकराचार्य (८०० ई० लगभग) रामानुजाचार्य (११०० ई० लगभग), बसवेश्वर (११५० ई० लगभग) तथा माधवाचार्य (१२०० ई० लगभग) प्रमुख थे। जो इतिहासकार उस जनता की मनःस्थिति को परखना चाहता है जिसकी शीघ्र ही एक नई क्रान्तिकारी शक्ति (इस्लाम) द्वारा परीक्षा होनेवाली थी, वह इन आचार्यों के उपदेशों के प्रभाव की उपेक्षा नहीं कर सकता। तीन आचार्यों ने तथा कुमारिल और बसव ने निस्सन्देह हिन्दुत्व को एक शक्तिशाली धर्म के रूप में पुनर्जीवित किया। उनके दर्शन पर उन धर्मों की गहरी छाप थी जिन्हें नष्ट कर देने का उन्होंने किया था।

मध्य युग के इस पुनर्जीवित हिन्दू धर्म की दो उल्लेखनीय विशेषताएँ थीं—शंकर का मायावाद तथा अन्य आचार्यों का भक्ति मार्ग। पहले ने निराशावाद की उस भावना को जिसे जैन तथा बौद्ध धर्मों ने जन्म दिया था और भी अधिक गम्भीर बनाया। दूसरे ने सम्प्रदायवाद में अनन्य विश्वास उत्पन्न किया, जिससे जनता की एकता छिन्न भिन्न हो गई और मूर्ति-पूजा का वह रूप उत्पन्न हुआ जिसने मूर्ति-भंजक आक्रमणकारियों की लोभपूर्ण दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट किया।

स्थापत्य—धर्म ने राम-पूजा, नम्रता, आत्मोत्सर्ग, सन्यास तथा अन्य ऐसे गुणों का पोषण किया जिनकी शान्ति तथा समृद्धि के काल में सराहना की जाती है। दूसरे उसने कलात्मक अभिव्यञ्जना के सभी रूपों को प्रोत्साहन दिया। मध्य युगीन हिन्दुत्व ने अपने को अन्य रूपों की अपेक्षा मन्दिर-स्थापत्य के द्वारा अधिक व्यक्त किया। काश्मीर के मार्तण्ड सूर्य मन्दिर, मध्य भारत स्थित खजुराहो के विष्णु मन्दिर, आबू पर्वत के गौरवपूर्ण जैन मन्दिरों तथा दक्षिण भारत के प्रसिद्ध शैव तथा वैष्णव मन्दिरों का, विशेषकर उनका जिनका निर्माण तंजोर के चोलों, मदुरा के पाण्ड्यों तथा द्वारसमुद्र के होयसलों ने कराया था, उदाहरण के रूप में उल्लेख किया जा सकता है। महमूद गज़नवी भी जिसने सोमनाथ के गौरवमय मन्दिर का विध्वंस किया था मथुरा तथा कन्नौज के मन्दिरों के सौन्दर्य को देख कर स्तब्ध रह गया था, किन्तु इस्लाम के लिये उसका उत्साह इतना प्रबल था कि सराहना करने पर भी वह उन्हें छोड़ न सका। एलौरा का कैलाश मन्दिर जिसे कृष्ण प्रथम राष्ट्रकूट ने खुदवाया था आज भी संसार की प्रशंसा का पात्र बना हुआ है। राजाओं तथा किसानों ने अनेक पीढ़ियों तक इन कला कृतियों को अपने उपहार भेंट किये थे अन्त में उनके इन घातक चमत्कारों ने ही लालची मूर्ति भञ्जकों के भारी हथौड़ों को आकृष्ट किया। एक हज़ार वर्ष पूर्व के धार्मिक तथा सन्तोषी भारत को क्या पता था कि अधिक यथार्थवादी विदेशियों की तलवार के सामने हमारे राजा तथा देवता दोनों ही पराजित सिद्ध होंगे। अब हम उन अति शयोक्तिपूर्ण शब्दों को मात्र पढ़ते हैं जिनके द्वारा दरबारी कवि मध्ययुगीन राजाओं

की प्रशंसा किया करते थे और जब हम उन राजा-महाराजाओं के अपव्ययतापूर्ण जीवन के विषय में सुनते हैं तो बाइबिल के सामगायक की भाँति हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि "यह सभी मिथ्याभिमान है, अनित्य है, क्षणभगुर है।" निम्नांकित उदाहरण विष्णुवर्धन होयसल (११००-४१ ई०) के जो चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ का केवल सामन्त था, अभिलेखों से लिया गया है, उस युग के अन्य अतिशयोक्तिपूर्ण उद्गारों की तुलना में इसे हम उसकी नम्रता का उदाहरण कह सकते हैं।

'महान् क्षत्रिय काचीगोंड विक्रमगंग वीर विष्णुवर्धन देव जो पाँच मृदगों का अधिकारी था, जो महामण्डलेश्वर तथा अन्य अनेक उपाधियों से विभूषित था, जो चोल जाति के लिये महाप्रलय का भैरव, चेर हस्ति के लिये राजसिंह, पाण्ड्य समुद्र के लिये वडवानल, पल्लव कीर्तिलता-किशलयों के लिये दावाग्नि तथा नरसिंहवर्म-सिंह के लिये शरभ था, जिसकी अचल कीर्ति-ज्योति में कालपाल तथा अन्य राजा पतगों की भाँति गिरते थे, जिसके धनुष की टंकार से वग, अग, कलिंग तथा सिंहल के राजा हिरणों की भाँति भाग जाते थे, जिसकी घोर दुन्दुभिनाद सदृश आशाओं से काचीपुर गुंजित था,........ जिसके प्रासादों में शत्रु राजाओं की स्त्रियाँ दासियों की भाँति टहल करती थीं, जिसने दक्षिण मधुरापुर को अपने हाथों से कुचल दिया था और जिसके सेनापति ने जननाथपुर को नष्ट कर दिया था, जिस समय गंगवाडी के ९६०००,नोनम्बवाडी के ३२००० तथा वनवासी के १२००० निवासियों की अपने एकमात्र छत्र के अन्तर्गत रक्षा करता हुआ शान्तिपूर्वक तथा बुद्धिमत्ता से शासन कर रहा था।'

किन्तु इस काव्यात्मक उच्छृङ्खलता का एक दूसरा पक्ष भी है जिसे हमें नहीं भूलना चाहिये। यह एक साहित्यक शैली है। अत्युक्ति पूर्वीय साहित्य की एक सामान्य विशेषता है। हमारे गद्य तथा पद्य-काव्य में उच्छृङ्खल कल्पना का जो बाहुल्य है उसका कारण कुछ अशों में यहाँ का उष्णकटिबन्धीय प्राकृतिक वैभव है। भारतीय साम्राज्य के छोटे-छोटे प्रान्तीय राज्यों में विभक्त हो जाने से सराहना का क्षेत्र भी संकीर्ण हो गया। जिस अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा का प्रयोग सम्राटों और साम्राज्यों के लिये होता था, वह अब लघु सम्राटों तथा सूक्ष्माकार साम्राज्यों के लिये प्रयुक्त होने लगी। किन्तु साथ ही साथ साम्राज्यों के सिकुड़ने से अनेक राज्यों का जो उदय हुआ उससे संरक्षकों की संख्या भी कई गुनी हो गई और सृजनशील कलाकारों के साथ उनका सम्पर्क भी अधिक घनिष्ट हो गया। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारे मध्ययुगीन हिन्दू राजाओं के लिये यह एक श्रेय की बात थी, कि उनमें से अनेक ऐसे थे जो केवल तलवार के धनी ही नहीं थे, बल्कि सृजनशील लेखनी का प्रयोग भी भली भाँति जानते थे। इस क्षेत्र में भी हर्ष एक आदर्श था। पाँच भारतों का विजेता हर्षचरित तथा कादम्बरी के रचयिता बाण जैसे साहित्यिकों का संरक्षक होने के अतिरिक्त रत्नावली, प्रियदर्शिका तथा नागानन्द का रचयिता भी था। सम्पूर्ण मध्ययुग में हमें इस प्रकार के सैनिक

पौरुष तथा साहित्यिक अभिरुचि के समन्वय के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उनमें से कुछ ये हैं मालवा का भोज परमार, मैसूर का दुर्विनीत गंग, मालखेद का अमोघवर्ष राष्ट्रकूट काँची का महेन्द्रवर्मन पल्लव प्रथम—ये सब शासक कवि भी थे; जिन लोगों ने महान् लेखकों को संरक्षण तथा आश्रय दिया उनकी संख्या अगणित थी। राज्यों की राजधानियों तथा समस्त देश में बिखरे हुए मन्दिरों के अतिरिक्त नालन्दा विक्रमशिला बनारस, उज्जैन और काँची विद्या के सबसे अधिक विख्यात केन्द्र थे। यदि हम राजशेखर भवभूति माघ श्रीहर्ष आदि की शुद्ध साहित्यिक रचनाओं तथा शंकराचार्य कपदय आदि के दार्शनिक तथा धार्मिक ग्रन्थों की गणना न भी करें तो भी हमें इस युग में रचे हुए अनेक ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनका ऐतिहासिक तथा सामाजिक महत्त्व है जैसे पद्मगुप्त का नवसाहसांक चरित, बिल्हण का विक्रमाङ्कदेवचरित, कल्हण की राजतरङ्गिणी, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस तथा विज्ञानेश्वर का मिताक्षरा। वैज्ञानिक ग्रन्थों में भास्कराचार्य के ज्योतिष तथा गणित-सम्बन्धी ग्रन्थ जैसे सिद्धान्त शिरोमणि, लीलावती, बीजगणित तथा भोज का राजमार्तण्ड, आयुर्वेदिक तथा रासायनिक रचनाओं में रसार्णव रसहृदय तथा रसेन्द्र चूड़ामणि आदि अधिक उल्लेखनीय हैं। यदि हम इस विस्तृत तथा बहु मुखी संस्कृति-साहित्य में चाँद रासा तथा हिन्दी के अन्य अनेक ग्रन्थों और बंगला, मराठी, कन्नड तामिल आदि की रचनाओं को भी सम्मिलित करना चाहें, तो हमें इस ग्रन्थ की सीमाओं के बाहर जाना पड़ेगा।

राज्य के अन्तर्गत राज्य—हम आरम्भ में ही लिख आये हैं कि मुस्लिम आक्रमणों के समय हिन्दू भारत राजनैतिक दृष्टि से भेद्य तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अभेद्य था। राजनैतिक इतिहास की रूपरेखा तथा राज्यों के बीच निरन्तर होने वाले युद्धों का जो ऊपर हम उल्लेख कर आये हैं उससे इस कथन की सत्यता पूर्णतया स्पष्ट हो गई होगी कि आन्तरिक दृष्टि से भारत इतना विभक्त था और पारस्परिक कलह के कारण इतना छिन्न भिन्न हो चुका था कि उसके लिये संयुक्त होकर विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करना असम्भव था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें ऐसा करने की इच्छा भी नहीं शेष रह गई थी। परस्पर संघर्ष करने वाले अगणित राज्यों का समूह होने के नाते भारत केवल एक भौगोलिक नाम था इसलिये राजनैतिक दृष्टि से उसके लिये व्यक्तिवाचक सवनाम पद का प्रयोग करना भी उचित नहीं है। क्या सांस्कृतिक दृष्टि से भारत अभेद्य था? निस्सन्देह राजनैतिक रूप से छिन्न भिन्न होने पर भी भारत में सांस्कृतिक एकता थी। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक सभ्यता की एकता थी और उस पर हिन्दुत्व की छाप लगी हुई थी साथ ही साथ वैयक्तिक तथा प्रान्तीय भिन्नताओं के लिये भी पर्याप्त क्षेत्र था। यदि हम यहाँ उस सभ्यता का पूर्ण चित्र उपस्थित करना चाहें तो उसके लिए इस सम्पूर्ण ग्रन्थ से भी अधिक स्थान की आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु ऊपर हम धर्म, शासकों, स्थापत्य तथा साहित्य के सम्बन्ध में कु

लिख आये हैं उससे इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि पतन के युग में भी वास्तव में भारत क्या था। उपर्युक्त विशेषताएँ सार्वदेशिक थीं और बाहरी राजनैतिक ढाँचे के भूमिसात होने पर भी वे छिन्न-भिन्न नहीं हुईं। भारत का यह एक रहस्यवादी दार्शनिक विचार है कि विश्व के अगणित रूपों के क्षणिक अस्तित्व के पीछे एक अमरतत्व अन्तर्निहित है; इस दार्शनिक कारण के अनुरूप ही राज्यों तथा साम्राज्यों के बारम्बार छिन्न-भिन्न होने पर भी उसके राष्ट्रीय-चरित्र का सार अक्षुण्ण रहा। इस आश्चर्यजनक अन्तर्विरोधी तथ्य का क्या कारण था?

राज्य के अन्तर्गत एक दूसरा राज्य था और जब आक्रमणकारी सेनाएँ देश में चारों ओर छा गईं और राजाओं तथा राज्यों को उन्होंने नाच नचाया उस समय इसी दूसरे राज्य ने जनता तथा उसकी संस्कृति की देख-भाल की। श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित जटिल जाति-व्यवस्था के कारण युद्ध कुछ पेशेवर लोगों की खिलवाड़ था और क्षत्रियों के अतिरिक्त सभी लोग उससे दूर रहना अपना धामिक कर्तव्य समझते थे। इस्लाम के आगमन के समय तक देश के सभी भागों में क्षात्र-धर्म का पालन किया जाता था जिसके अनुसार युद्ध में भाग न लेने वालों की पवित्रता का सर्वत्र सम्मान होता था। किन्तु इस नियम के उल्लंघन के भी एक-दो उदाहरण मिलते हैं जैसे दक्षिणी भारत में होत्तुर में प्राप्त सत्याश्रय के एक उत्कीर्ण लेख में अभियोग लगाया गया कि चोल सेना ने (१००७-८ ई०) 'देश को लूटा, स्त्रियों, बच्चों तथा ब्राह्मणों का संहार किया, कन्याओं से बलपूर्वक विवाह कर लिया और उनकी जाति को भ्रष्ट कर दिया।' यह एक निश्चित तथ्य है कि मेगेस्थनीज के समय से मुसलमानों के आक्रमण तक युद्धों में गाँवों की जनता की कभी लूट और संहार नहीं किया गया। गाँव वालों को डाकुओं तथा पशु चुराने वालों से ही भय रहता था। अराजकता ग्रस्त प्रदेशों को छोड़ कर शेष सभी जगह स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ समाज की रक्षा करती थीं, इन संस्थाओं की जड़ें इतनी गहरी थीं कि मध्ययुगीन राज्यों की असाध्य अस्थिरता भी उन्हें नहीं हिला सकती थी। इसलिये हिन्दू सभ्यता के जीवित रहने का रहस्य उसका सुदृढ़ सामाजिक ढाँचा है।

बहुधा यह कहा जाता है कि जाति-व्यवस्था की जटिलता हमारे पराभव का कारण सिद्ध हुई है। यद्यपि आधुनिक परिस्थितियों में इस व्यवस्था को किसी भी प्रकार उचित नहीं ठहराया जा सकता, फिर भी हमारे सांस्कृतिक अस्तित्व के शेष रहने का बहुत कुछ श्रेय उसी को है। दुर्ग हस्तगत कर लिये गये, राजधानियों का हस्तान्तरण हुआ, राज्यों का उदय तथा पतन हुआ, किन्तु हिन्दू समाज पर इसका लगभग कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसका मुख्य तत्व अपरिवर्तनशील रहा, इसका श्रेय दो संस्थाओं को है—जाति-व्यवस्था तथा ग्राम-समुदाय।

भारत मानों अगणित वृत्तों से आच्छादित था, उनमें से कुछ एककेन्द्रीय थे और कुछ एक दूसरे को काटते थे। ग्राम-समुदाय का वृत्त राज्य के बृहत्तर वृत्त के

भीतर स्थित था और विभिन्न जातियों के अनेक पुत्रों को अपने में घेरे हुए था।
गाँव के भीतर जातियाँ एक दूसरे से पृथक थीं; किन्तु गाँव तथा राज्य दोनों की
परिधियों को पार करके बाहर से अपनी जातियों के सदस्यों से शृंखलाबद्ध
थीं। जातियों तथा गाँवों के जाल ने समाज का सन्तुलन क़ायम रक्खा और जब
राज्य का बड़ा पुल टूट कर नष्ट-भ्रष्ट हो गया तब भी वह अपूर्ण रहा। हिन्दू
सामाजिक राजनैतिक समीकरण में राज्य चल राशियाँ थीं और जातियाँ तथा
गाँव-समुदाय अचल राशि। जातियाँ एक दूसरे से पृथक केवल विवाह-सम्बन्ध
और खान-पान के विषय में ही थीं। अन्य सभी क्षेत्रों में वे एक-दूसरे से सहयोग
करतीं तथा पारस्परिक निर्भरता का जीवन बिताती थीं। नीचे से नीच व्यक्ति
का भी समाज में सुनिश्चित स्थान था और हर एक अपने पूर्व निर्धारित मण्डल
में अपना जीवन यापन करता था। राजाओं तथा राज्यों को भाग्य के विभिन्न
उतार चढ़ाव देखने पड़ते थे किन्तु गाँव के एकरस जीवन में शायद ही कभी
विघ्न पड़ता था।

गाँव-समुदाय ही हिन्दू सभ्यता के रक्षा भण्डार तथा पोषक-गृह थे इसलिये
यह आवश्यक है कि हम इस युग में उनकी जीवन तथा कार्यप्रणाली की भी
झाँकी प्राप्त करलें। संक्षेप में वे स्वायत्ततापूर्ण समुदाय थे और केन्द्रीय शासन
पर उनका जीवन कम से कम निर्भर था। यदि केन्द्रीय सरकार उदार तथा
शक्तिशाली होती तो उसके संरक्षण से गाँव-समुदाय को लाभ ही लाभ होता
था। किन्तु राजसत्ता के दुर्बल अथवा उदासीन होने पर भी गाँवों को किसी
प्रकार का डर अथवा हानि नहीं होती थी। हाँ, यदि राजा शक्तिशाली भी होता
और प्रजापीड़क भी तब अवश्य संकट उपस्थित हो जाया करता था। काश्मीर
के शंकरवर्मन तथा हर्ष ऐसे ही दुष्ट राजा थे। किन्तु ये अपवाद थे और उन्होंने
अपना ही सत्यानाश कर लिया।

जहाँ तक बाह्य आक्रमणों से रक्षा की आवश्यकता होती थी राजा ही इस
कार्य को किया करता था। आन्तरिक शान्ति तथा व्यवस्था क़ायम रखना स्वयं
गाँव वालों का ही काम था। कुछ पदाधिकारी होते थे जिनकी नियुक्ति गाँव
पंचायत ही करती थी और स्थानीय राजस्व में से उन्हें वेतन दिया जाता था
सुरक्षा शिक्षा सफाई, सड़कों कुओं तालाबों मन्दिरों के निर्माण तथा अन्य
उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कर लगाये जाते थे। सामान्य अवस्था में राजा और
भी उन्हें उदारतापूर्वक धर्मस्व दिया करते थे। उत्कीर्ण लेखों के साक्ष्य से
प्रमाणित होता है कि देश के सभी भागों में गाँव निवासी कर्तव्य-पालन की उच्च
भावना से अनुप्राणित होकर अपने सार्वजनिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करते थे
गाँव की सुरक्षा के लिये युद्ध करते हुए प्राण निछावर करना एक अत्यधिक
सम्मान की बात समझी जाती थी। समस्त देश में हमें ऐसी पत्थर की शिलाएँ
बिखरी मिलती हैं जो गाँवों के वीरों की स्मृति में स्थापित की गई थीं, उनसे

पूर्वोक्त कथन की सत्यता सिद्ध होती है। मन्दिरों का निर्माण कराना अथवा उन्हें धर्मस्व प्रदान करना अथवा सार्वजनिक उपयोगिता की अन्य चीजों का बनवाना अथवा उन्हे कायम रखने के लिये धन देना पुण्य कर्म समझा जाता था।

वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च।
पतितान्युद्धरेद्यस्तु स पूर्तफलमश्नुते॥

इस प्रकार के ग्राम-समुदाय समस्त भारत में विद्यमान थे, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में वे सबसे अधिक सुसंगठित थे। यह स्मरण रखने की बात है कि गाँव के शासन-सम्बन्धी विभिन्न काम अनेक समितियों में बाँट दिये जाते थे और वे निर्वाचित गाँव-सभा की देख-रेख में कार्य करती थीं, यही नहीं, गाँव के पदाधिकारियों की योग्यतायें तथा उनके आचरण के लिये नियम सावधानी से निर्धारित किये जाते थे। उदाहरण के लिये ब्राह्मणों के गाँव में प्रत्येक अग्रहार (भागीदार) को गाँव-सभा में स्थान प्राप्त होता था। किन्तु यह भी आवश्यक था कि वह धर्म-शास्त्रों में पारंगत हो, गाँव के जीवन में उसका स्थायी हित हो और उसका मस्तिष्क तथा शरीर दोनों स्वस्थ हों। सदस्यता के लिये न्यूनतम योग्यता, चुनाव-विधि, तथा सभा के अन्तर्गत समितियों के निर्माण की प्रणाली के सम्बन्ध में भी सुनिश्चित नियम हुआ करते थे। प्रबुद्ध शासक शिक्षा संस्थाओं को उदार धर्मस्व प्रदान करते थे, इससे इन गाँव-गणराज्यों के लिये सुचारु रूप से कार्य करना सम्भव हो सकता था। प्रोफेसर ए० एस० अल्तेकर ने अन्य उदाहरणों के साथ कृष्ण तृतीय (राष्ट्रकूट) के ९४५ ई० के एक उत्कीर्ण लेख से निम्नांकित उद्धरण दिया है।

"विद्यालय (सलगोटी का) कृष्ण तृतीय के मन्त्री नारायण द्वारा निर्मित एक शानदार इमारत में स्थित था। दूरस्थ देशों से विद्यार्थी यहाँ आते थे और उनके निवास के लिये २७ छात्रावासों की आवश्यकता पड़ती थी। निवास तथा भोजन निःशुल्क मिलता था, इस व्यय के लिये राजा ने ५०० एकड़ भूमि धर्मस्व के रूप में दे रक्खी थी। इस विद्यालय के प्रकाश के व्यय के लिये १२ एकड़ का अन्य दान मिला हुआ था; और प्रधान आचार्य को वेतन के रूप में ५० एकड़ भूमि मिली हुई थी। गाँव के निवासी भी इस संस्था के महत्त्व को समझने में पीछे नहीं थे। वे प्रत्येक विवाह के अवसर पर पाँच, उपनयन पर ढाई और मुण्डन के समय सवा मुद्रा इस संस्था को दान देते थे। इसके अतिरिक्त गाँव में जब कोई भोज होता, तो भोज देने वाला अपनी सामर्थ्य भर अधिक से अधिक अध्यापकों तथा विद्यार्थियों को भोजन कराता था।"

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सम्वत्	
५७०	पैगम्बर मुहम्मद का जन्म।
६२२	हिज्र (मुहम्मद का मक्का से मदीना को भाग कर जाना) अर्थात् मुस्लिम सम्वत् का आरम्भ।

६३०	मुहम्मद का मक्का को वापस लौटना; युवान च्वांग का भारत के लिये प्रस्थान।
६३२	मुहम्मद की मृत्यु; अबू बक्र का प्रथम ख़लीफ़ा होना।
६३४	द्वितीय ख़लीफ़ा उमर।
६३६	मुसलमानों की सीरिया विजय।
६३७	कादेसिया का युद्ध, ईरानी साम्राज्य का पतन।
६४२	चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु।
६४४	तीसरा ख़लीफ़ा उथमन।
६४५	युवानच्वांग का भारत से लौटना।
६४७	कन्नौज के राजा हर्ष की मृत्यु।
६५६	मदीना में ख़लीफ़ा उथमन का वध; चौथा ख़लीफ़ा अली।
६६१	अली का वध; मुआविया प्रथम उमय्यद ख़लीफ़ा हुआ।
७११	मुसलमानों का स्पेन पर आक्रमण।
७१२	अरबों का सिन्ध पर आक्रमण।
७३२	चार्ल्स मार्टल मुसलमानों को फ्रान्स से खदेड़ देता है।
७४९–५०	दमिश्क में उमय्यद वंश का पतन, अबुल अब्बास प्रथम अब्बासी ख़लीफ़ा हुआ (शिया)।
७८६–८०९	हारून अल रशीद बगदाद का महान् ख़लीफ़ा।

२

इस्लामी पताका क्षितिज पर

इस्लाम का उदय

पिछले पृष्ठों में हम भारत की राजनैतिक दुर्बलता का चित्र खींच चुके हैं, उसके विपरीत इस अध्याय में हम पश्चिम में एक महान् शक्ति के उदय का वर्णन करेंगे। यह शक्ति थी इस्लाम। इस सैनिक धर्म का प्रवर्तन सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में पैगम्बर मुहम्मद (५७०–६३२ ई०) ने अरब देश में किया था, किन्तु सौ वर्ष बीतने के पहले ही वह पश्चिम में एशिया माइनर, उत्तरी अफ्रीका, तथा आइबेरी प्रायद्वीप और पूर्व में अरब, ईरान, अफगानिस्तान और तुर्किस्तान में फैलने को था। भूमध्यसागर के पश्चिमी, दक्षिणी तथा पूर्वी तटों पर फैले हुए इस धर्म में इतनी गतिशील शक्ति विद्यमान थी कि पड़ौसी देशों पर उसका फैल जाना कुछ ही दिनों की बात रह गई थी। इसके बढ़ते हुए ज्वार को यूरोप में दो स्थानों पर रोक दिया गया; (१) ७३२ ई० में दक्षिणी फ्रान्स में टूअर्स के युद्ध में और (२) ७१७ ई० में बॉस्फोरस के तट पर कुस्तुन्तुनियाँ में। तथापि इसने अपने विजय अभियान से विजयन्तुन तथा सासानी—दो साम्राज्यों के भग्नावशेषों को घेर लिया और सामी, हामो, नीग्रो, आइबेरी, कॉकेसी, ईरानी और तूरानी जातियों पर अपना हरा आवरण फैला दिया। महान् इतिहासकार गिबन के शब्दों में "हिज्री सम्वत् की प्रथम शताब्दी (६२२–७२२ ई०) के अन्त में संसार में ख़लीफ़ा (मुहम्मद के उत्तराधिकारी) सबसे अधिक शक्तिशाली और निरंकुश शासक थे।" यद्यपि उनका दैवी-साम्राज्य शीघ्र ही तीन दरबारों (दजला के तट पर बग़दाद, नील के किनारे काहिरा और ग्वाडलक्विवीर पर कर्दोवा) के बीच विभक्त हो गया तथापि मक्का उसका आध्यात्मिक केन्द्र और सतत् प्रेरणा का स्रोत बना रहा। अरब (सामी) तथा तुर्क (तूरानी) इन दो जातियों ने इस विशाल आन्दोलन का रूप निर्धारित किया। पहली ने इसकी संस्कृति का निर्माण किया और दूसरी ने इसे शक्ति और

घोड़े, उतने ही इराकी ऊँट और सामान ढोने के लिये १००० बाख्त्री पशु सम्मिलित थे। इमादुद्दीन की अवस्था उस समय केवल सत्रह वर्ष की थी, किन्तु उसकी सफलताओं ने सिद्ध कर दिया कि वह एक प्रतिभाशाली सेना नायक था।

ब्राह्मणवाद का पतन

स्मरण रखने की बात है कि इस समय सिन्ध में छच वंश का ब्राह्मण राजा राज्य करता था; इस वंश ने केवल एक पीढ़ी पहले राइ साहसी को अपदस्थ करके शक्ति प्राप्त की थी। जैसा कि हम अभी देखेंगे, इमादुद्दीन ने सिन्ध को बड़ी द्रुतगति से विजय कर लिया, देश की आन्तरिक दुर्बलताओं को देखते हुए यह स्वाभाविक ही था। जैसा कि छचनामा से विदित होता है उस समय सिन्ध में राजा तथा प्रजा के बीच प्रेम भाव का सर्वथा अभाव था। ब्राह्मण लोग केवल अपहरणकर्ता ही नहीं थे, बल्कि शासन भी अपहरणकर्ताओं की भाँति ही करते थे। प्रान्त की बहुसंख्यक जनता जाट नस्ल की थी और बौद्ध धर्म को मानती थी। इसलिये नस्ल तथा धर्म दोनों की दृष्टि से छच वंश विदेशी था; परिस्थिति को और भी अधिक खराब करने वाली बात यह थी कि उसकी भावना भी विदेशी थी।

इस वंश का संस्थापक छच साहसी का केवल एक मंत्री था। साहसी की मृत्यु के उपरान्त उसने सिंहासन पर अधिकार करके विधवा रानी से विवाह कर लिया; प्रजा ने स्पष्ट रूप से इस बात को नापसन्द किया। किन्तु ब्राह्मण शासकों ने अत्यन्त कठोरता से उस पर शासन किया। जाटों को अस्त्र-शस्त्र धारण करने जीन कसे हुए घोड़ों पर चढ़ने तथा रेशमी वस्त्र पहिनने की आज्ञा नहीं थी इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य अपमान भी सहने पड़ते थे। उन्हें सदैव नंगे सिर तथा नंगे पैर चलना पड़ता था और अपनी उपस्थिति प्रकट करने के लिये साथ कुत्ते रखने पड़ते थे। छच ने शीघ्र ही अपने को निकटवर्ती प्रदेश का स्वामी बना लिया। छोटे छोटे राजा तथा सामन्तों का दमन कर दिया गया। उसने काश्मीर के एक राजकुमार के साथ अपनी पुत्री का विवाह करके स्थापित राजवंशों के साथ सम्बन्ध जोड़ने का भी प्रयत्न किया।

छच का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई चन्द्र हुआ और चन्द्र के बाद छच का पुत्र दाहिर सिंहासन पर बैठा। अरब आक्रमण के समय यही सिन्ध पर शासन कर रहा था। छच वंश की आन्तरिक गृह-कलह के कारण प्रजा का असन्तोष और भी अधिक बढ़ गया। जिस समय दाहिर ने अरबों की उचित शिकायत के सम्बन्ध में नीति-चातुर्य से काम न लेकर संकट मोल ले लिया, उस समय अभागे सिन्ध की यह दुर्दशा थी। इसके अतिरिक्त आक्रमणकारियों को अरबों के एक सैनिक दल से भी सहायता मिली जो पहले से ही दाहिर के

यहाँ नौकर था किन्तु जिसने इस अवसर पर अपने सहधर्मियों के विरुद्ध लड़ने से इन्कार कर दिया था। इसके विपरीत दाहिर के देशवासी, असन्तुष्ट जाट, अपने अत्याचारी राजा को उखाड़ फेंकने के लिये शत्रु से जा मिले।

विजय सम्बन्धी ब्यौरे के विषय में हम अधिक समय नहीं नष्ट करेंगे। सर्व-प्रथम देबल के बन्दरगाह पर आक्रमण हुआ। इमादुद्दीन मुहम्मद को मकरान के सूबेदार मुहम्मद हारून से कुमुक प्राप्त हो गई, हारून अपने साथ पाँच पत्थर फेंकने की मशीनें लेकर आया, जो उस युग में तोपों का काम देती थीं। देबल के मन्दिर-दुर्ग का शीघ्र ही पतन हो गया और उसका झंडा गिरा दिया गया। इमादुद्दीन को लूट के सामान में "७०० सुन्दर स्त्रियाँ भी मिलीं जो बुद्ध के संरक्षण में रह रहीं थीं।" सत्रह वर्ष से अधिक की पुरुष जनता को जिसने खतना करवाना स्वीकार नही किया, तलवार के घाट उतार दिया गया; शेष सभी लोग दास बना लिये गये। ध्वस्त मन्दिर के स्थान पर एक मस्जिद खड़ी हो गई।

छछनामा से विदित होता है कि इमादुद्दीन ने अपने चाचा को जो पहला पत्र भेजा उसमें उसने लिखा, "राजा दाहिर का भतीजा, उसके योद्धा तथा प्रमुख पदाधिकारी दोजख भेज दिये गये हैं और काफिरों को या तो मुसलमान बना लिया गया है या नष्ट कर दिया गया है। मूर्ति-मन्दिरों के स्थानों पर मस्जिदें तथा अन्य पूजा-गृह खड़े कर दिये गये हैं। खुतबा पढ़ा जाता है, अजाँ लगाई जाती है जिससे निश्चित समयों पर पूजा-पाठ होता है। प्रतिदिन प्रातःकाल तथा सन्ध्या को सर्वशक्तिमान ईश्वर का गुणगान किया जाता है।"

इस पत्र के उत्तर में हज्जाज ने लिखा' "ईश्वर की आज्ञा है कि काफिरों को शरण मत दो, बल्कि उनके शीश काट लो। इसलिये तुम जानो कि यह ईश्वर की आज्ञा है। लोगों को सुरक्षा प्रदान करने में अधिक तत्परता मत दिखलाओ, नहीं तो तुम्हारा काम बहुत लम्बा हो जायगा। अब उच्च पदों के लोगों को छोड़ कर अन्य किसी शत्रु को शरण मत दो।"

इसके उपरान्त निरून तथा सेहवान के बौद्ध श्रमणों को अरबों का प्रहार झेलना पड़ा, किन्तु उन्होंने कातरतापूर्वक आत्म-समर्पण कर दिया, इसलिये नष्ट होने से बच गये। अपने अन्त:करण का सहारा लेकर श्रमणों ने इन दुर्गरक्षित नगरों को शत्रु के सुपुर्द करवा दिया। सम्भवतः उनका तर्क था कि "हम भिक्षुगण हैं, हमारा धर्म शान्ति है। हमारे धर्म के अनुसार युद्ध तथा नर-संहार वर्जित है।" इसीलिये उन्होंने आत्म-समर्पण करने की सलाह दी।

इस प्रकार आक्रमणकारियों का काम सरल हो गया, अब वे रावार तथा ब्राह्मणवाद की ओर मुड़े, वहाँ पर उनका विकट प्रतिरोध किया गया। किन्तु रावार में एक विपत्ति टूट पड़ी जैसा कि भारतीय युद्धों में बहुधा हुआ करता था। दाहिर हाथी पर सवार था, हाथी ने उसको उसकी इच्छा के विरुद्ध सिन्ध नदी में ले जाकर डाल दिया। यद्यपि राजा ने अपने को बचा लिया और घोड़े पर सवार

होकर युद्ध करता रहा किन्तु सेना ने समझा कि हमारा नेता मारा जा चुका है; इसलिये वह भयभीत हो गई। ब्राह्मणाबाद में दाहिर के पुत्र जयसिंह ने वीरता पूर्वक दुर्ग की रक्षा की, किन्तु एक सिन्धी सेनानायक के विश्वासघात के कारण युद्ध शीघ्र ही समाप्त होगया। इसके उपरान्त अरोर, मुल्तान तथा अन्य स्थानों को विजय कर लिया गया (७११ ई०)।

इस दुःखद कथानक का एक उज्ज्वल पक्ष भी था। रानीबाई के नेतृत्व में स्त्रियों ने डट कर शत्रु से लोहा लिया, किन्तु उनके प्रयत्न निष्फल रहे। अपने पतियों के वीरगति को प्राप्त होने पर उन्होंने वीरतापूर्वक प्रतिरोध किया और अन्त में राजपूत परिपाटी के अनुसार सहस्रों की संख्या में उन्होंने जौहर कर लिया। कहा जाता है कि इमादुद्दीन ने हज्जाज के द्वारा खलीफा के पास जो पहले सर्वोत्तम उपहार भेजे उनमें राजा दाहिर की दो सुन्दर पुत्रियाँ भी सम्मिलित थीं। उन्हें देखकर हज्जाज (अथवा खलीफा) आनन्द विभोर हो गया किन्तु उन्होंने उससे कहा कि इमाद ने हमें पहले ही भ्रष्ट कर दिया है; इस पर कुपित होकर उसने इमाद को मृत्यु-दण्ड दे दिया। इस प्रकार दाहिर की पुत्रियों ने इमाद से प्रतिशोध लिया। इस सरल अरब सेनापति के कृतघ्नतापूर्ण वध के कुछ भी कारण रहे हों, यह सत्य है कि उसका अन्त बहुत दुःखद हुआ। हमारे लिये इससे भी अधिक दिलचस्प यह जानना है कि भारत में इस्लाम की इस प्रथम विजय से सिन्ध की क्या दशा हुई और भावी इतिहास पर इसका क्या प्रभाव पड़ा।

अरब आक्रमण के राजनैतिक पहलू

दिल्ली साम्राज्य में सम्मिलित किये जाने तक सिन्ध सदैव मुसलमानों के ही आधिपत्य में रहा फिर भी बारम्बार इतिहासकारों ने यही मत प्रकट किया है कि अरब विजय का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। राजस्थान के इतिहास के विख्यात रचयिता टॉड ने अरब विजय के प्रभाव का अतिशयोक्तिपूर्ण बयान किया था, किन्तु 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया' मे लेनपूल का अनुगमन करते हुए उनके मत का निम्नांकित शब्दों में जोरदार खण्डन किया है :—

"अरबों की सिन्ध विजय के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ कहने को नहीं है। भारत के इतिहास में यह एक गौण तथा महत्वहीन घटना थी और इस विशाल देश के एक कोने पर ही उसका प्रभाव पड़ा। इसने एक सीमान्त प्रदेश में उस वंश का सूत्रपात किया जिसने आगे चल कर लगभग पाँच शताब्दियों तक भारत के अधिकांश पर अपना प्रभुत्व स्थापित रक्खा किन्तु इसके वे दूरगामी प्रभाव नहीं पड़े जिनका टॉड ने 'एनल्स ऑव राजस्थान' में उल्लेख किया है। मुहम्मद बिन कासिम राजपूताना के हृदय में स्थित चित्तौड़ तक कभी नहीं पहुँच सका; खलीफा वालिद प्रथम गंगा के इस ओर वाले उस समस्त भूभाग को अपना करद नहीं बना सका; आक्रमणकारी

कन्नौज के राजा हरिश्चन्द्र से युद्ध करने के लिये कभी तत्पर भी नहीं हुआ, उसके वास्तव में युद्ध करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। और न टॉड महोदय का यह कहना ही सत्य है कि अरब आक्रमण से समस्त उत्तरी भारत दहल गया था। जैसा कि हम पहले कह आये हैं एक अरब आक्रमणकारी कच्छ में स्थित अघोई तक पहुँच गया था, किन्तु वहाँ कोई उपनिवेश नहीं बसाया गया; आक्रमण केवल धावामात्र था; और यह हो सकता है कि इस विस्फोट का प्रथम समाचार सुन कर राजस्थान के राजाओं ने युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ करदी हों, किन्तु उनकी बेचैनी अधिक नहीं टिकी होगी। इस्लामी ज्वार सिन्ध तथा निचले पंजाब को आप्लावित करके पीछे लौट गया और पीछे केवल कुछ चिन्ह छोड़ गया। रेगिस्तान के दूसरी पार स्थित राज्यों के शासकों को आतङ्कित होने का कोई कारण नहीं था। उन पर तो संकट बाद में आया और उनके शत्रु अरब नहीं बल्कि तुर्क थे, और अपने साथ वे अरब पैगम्बर के धर्म को उससे अधिक भयावह रूप में लाये जिसमें उसे स्वयं अरबों ने प्रस्तुत किया था।"

यहाँ पर हम सर वोल्ज़ले हेग द्वारा प्रतिपादित मत के मूल तत्व का विरोध नहीं करते और न टॉड के दृष्टिकोण का ही समर्थन करते हैं, हमारे लिये तो यह आवश्यक है कि हम अरब विजय के व्यापक तथा भावात्मक पक्ष का मूल्याङ्कन करें। यहाँ पर हमें केवल उसी पर विचार करना है जो इमादुद्दीन तथा उसके उत्तराधिकारियों ने वास्तव में किया, न कि उस पर जो दुधर्ष इमाद ने किया होता, यदि उसका दु:खद अन्त न होता।

इमाद के सहसा कार्य-क्षेत्र से हट जाने से एक ऐसे जीवन का अन्त हो गया जिसने भारत में इस्लाम के लिये होनहार कार्य आरम्भ किया था। खलीफा वालिद प्रथम की भी जिसके समय में यह घटना घटी, ७१५ ई० में मृत्यु हो गई। उसके पुत्र उमर द्वितीय के समय में (७१७ ई०) दाहिर के पुत्र जयसिंह ने जिसने पाँच वर्ष पूर्व अरबों के विरुद्ध वीरता से युद्ध किया था, इस्लाम अंगीकार कर लिया। किन्तु धर्म-परिवर्तन भी उसकी रक्षा न कर सका। खलीफा हिशाम (७२४-४३ ई०) के समय में सिन्ध के सूबेदार जुनैद ने उसके राज्य पर आक्रमण करके उसे मार डाला। इसी के बाद दमिश्क में अब्बासी क्रान्ति हुई (७५० ई०) और बगदाद में नई खिलाफत का निर्माण हुआ। सिन्ध भी इस क्रान्ति के प्रभावों से न बच सका। परवर्ती उमय्यदों के शासन काल में खलीफाओं का नियन्त्रण पहले से ही ढीला पड़ गया था। सिन्ध के सूबेदार तथा सामन्त दिन प्रति दिन विद्रोही होते गये। ८७१ ई० तक सिन्ध में खलीफाओं की सत्ता लगभग समाप्त हो गई और अन्त में अरब सामन्तों ने दो स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर ली; एक मंसूरा अथवा ऊपरी सिन्ध में अरोर तक, और दूसरा उस प्रदेश में जिसमें आधुनिक मुलतान सम्मिलित है। दसवीं शताब्दी में जब महमूद गजनवी ने आक्रमण किये, उस समय इन अरब सामन्तों के उत्तराधिकारियों ने उससे कहा कि हम खलीफ़ा के अधीन हैं; किन्तु यह उनकी एक कूटनीतिक चाल मात्र थी।

अरबों की प्रशासन-व्यवस्था

सिन्ध में स्थाय प्रशासन व्यवस्था जैसी किसी चीज के स्थापित करने के लिये तीन वर्ष का समय (७११ १३ ई०) बहुत कम था। वे वर्ष निरन्तर युद्ध का काल थे। फिर भी नष्ट हुई पुरानी प्रशासन प्रणाली के स्थान पर इमादुद्दीन ने एक मही भौंडी व्यवस्था खड़ी कर दी; विजय का फल भोगने के लिये वह एक आवश्यक साधन भी थी। यह स्मरण रखना चाहिये कि वह अपने साथ १५००० आदमी लाया था और २० ० के लगभग उसे कुमुक के रूप में मिल गये होंगे। तीन वर्ष के अन्त में युद्ध तथा बीमारी से मरे हुए लोगों को छोड़ कर सैनिकों तथा पिछलग्गों को मिलाकर भी कदाचित आधे से अधिक आदमी शेष नहीं रहे होंगे। इसके अतिरिक्त वे अपने साथ स्त्रियाँ नहीं लाये थे और लाये भी होंगे तो पर्याप्त संख्या में नहीं। इसलिए इमादुद्दीन ने जो भी व्यवस्था स्थापित की उसका रूप एक समझौते जैसा होना अनिवार्य था।

देवल में प्रथम विजय के उत्साह में उसने वैसा ही आचरण किया जैसा कि एक मुस्लिम विजेता को काफिरों के देश में करना विहित है। इस सम्बन्ध में इस्लाम का विधान स्पष्ट था। सच्चे धर्म (इस्लाम) के अनुयायियों को छोड़ कर अन्य सबको दो वर्गों में विभक्त किया गया था। पहले वे जो ईश्वरीय ज्ञान से साझीदार समझे जाते थे, जैसे यहूदी और ईसाई, और दूसरे वे जो असद्य काफिर और मूर्तिपूजक थे। पहली कोटि के लोगों को जिज़्या देने पर अपने धर्म का पालन करने की आज्ञा मिल सकती थी। किन्तु दूसरों के लिये एक ही मार्ग था—मृत्यु अथवा इस्लाम। हज्जाज-जिसकी आज्ञाओं के अधीन इमादुद्दीन कार्य कर रहा था बहुत ही कठोर और धर्मान्ध था और किसी प्रकार का समझौता करने के लिये उद्यत नहीं था। ऐसी परिस्थिति में समझौते की कोई गुञ्जाइश न होना स्वाभाविक ही था। इसलिये पूर्व-परिपाटी के अनुसार देवल में भी विजित लोगों से इस्लाम अंगीकार करने को कहा गया और जैसा कि फरिश्ता लिखता है, उनके इनकार करने पर सत्रह वर्ष से अधिक अवस्था के सभी पुरुषों को तलवार के घाट उतार दिया गया; और जो बच रहे उन्हें दास बना लिया गया। स्त्रियाँ तथा कोष जो विजेताओं के हाथ लगे, वे हड़प लिये गये। इस्लामी परिपाटी के अनुसार यह आवश्यक था कि उन्हें मुसलमानों में बाँट दिया जाता। पाँचवाँ भाग हज्जाज के द्वारा खलीफा के पास भेज दिया गया और शेष को सैनिकों में बाँट दिया गया। सेनापति के पास जो सीमित सेना थी उसमें से उसे ४००० सैनिक देवल पर अधिकार रखने के लिये छोड़ने पड़े और शेष को लेकर उसने शत्रु के देश में युद्ध जारी रक्खा। वहाँ पर ऐसे देशवासी भी थे जो आक्रमणकारी को सहायता देने के लिये उद्यत थे किन्तु यह आशा नहीं की जा सकती थी कि बलपूर्वक मुसलमान बनाये जाने पर भी वे उसकी सेवा करेंगे। इन विचित्र परिस्थितियों में इमादुद्दीन की व्यवहार-बुद्धि की विजय हुई। अन्त

में काफिरों के साथ भी आंशिक रूप से सहिष्णुता का व्यवहार करना पड़ा। जो अधिकार जिम्मियों (यहूदियों तथा ईसाइयों) को मिले हुए थे वे सिन्ध के हिन्दुओं तथा बौद्धों को भी दे दिये गये। अन्यत्र भी जरथुस्त्र के अनुयायियों तथा मागी लोगों को इसी प्रकार की रियायतें दी गई थी, और सिन्ध की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इस नीति का अपनाया जाना उचित ही था। इसलिये सर विलियम म्योर का मत है कि सिन्ध-विजय ने इस्लामी नीति में एक नये युग का आरम्भ किया।

कुछ समय तक युद्ध-बन्दियों को दास बनाने तथा ध्वस्त मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदें खड़ी करने की नीति बरती गई। तदुपरान्त विजेता ने अनुभव किया कि सिन्ध पर स्थायी अधिकार रखने की दृष्टि से समझौता तथा प्रसन्न करने की नीति अधिक लाभदायक है। काफिरों के लिये सैनिक तथा असैनिक दोनों प्रकार की नौकरियों के द्वार खोल दिये गये, उनकी स्त्रियों से विवाह कर लिया गया, कुछ देशी सामन्तों को मुसलमान होने की शर्त के बिना ही उनकी भूमि लौटा दी गई, मूर्तिपूजा की ओर भी ध्यान नहीं दिया गया, यहाँ तक कि कुछ चतुर्भुजी मूर्तियों को जो विजेताओं के अधिकार में आगईं थीं तोड़ा नहीं गया, बल्कि विचित्र वस्तुओं के रूप में उन्हें भी भेंट की अन्य सामग्री के साथ हज्जाज के पास भेज दिया गया। राजस्व-व्यवस्था के संगठन के सम्बन्ध में इमादुद्दीन ने विशेष रूप से यह अनुभव किया कि हिन्दुओं की सेवाओं के बिना काम चलना असम्भव है। नई नीति की इन शब्दों में घोषणा की गई: "जिज़या तथा अन्य करों के अदा करने पर हिन्दुओं के मन्दिर भी उसी प्रकार अनुलंघनीय होंगे जिस प्रकार ईसाइयों के गिर्जाघर, यहूदियों के सिनद और मागियों की वेदियाँ।"

सर वोल्ज़ले हेग हज्जाज के विषय में लिखते हैं कि वह 'कट्टर अत्याचारी' था और इस्लामी नियमों की उस ढीली व्याख्या से परिचित नहीं था जिसके अनुसार जिज़या अदा कर देने पर मूर्ति-पूजा सहन की जा सकती। किन्तु यदि छछनामा का विश्वास किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसे भी इस विषय में कुछ झुकना पड़ा था। ब्राह्मणाबाद के निवासियों ने सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार के लिये जो प्रार्थना की उसके सम्बन्ध में इमादुद्दीन ने हज्जाज को लिखा। हज्जाज ने उसके उत्तर में कहा "चूँकि उन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया है और खलीफा को कर देना स्वीकार कर लिया है इसलिये अब उनसे इससे अधिक कुछ माँगना उचित नहीं है। वे हमारे संरक्षण में आ गये हैं, इसलिये हम किसी प्रकार से उनके जीवन अथवा सम्पत्ति पर हाथ नहीं डाल सकते। उन्हें अपने देवताओं की पूजा करने की आज्ञा दी जाती है। किसी को अपने धर्म का पालन करने से रोका अथवा मना न किया जाय। वे अपने घरों में जिस प्रकार चाहे रहे।" इस उत्तर ने इमादुद्दीन के लिये यह घोषणा करने का मार्ग खोल दिया, "सुल्तान तथा जनता के बीच ईमानदारी का व्यवहार करो और यदि वितरण का प्रश्न उठे तो

उसे न्यायपूर्वक करो और अदा करने की योग्यता को ध्यान में रखते हुए राजस्व निर्धारित करो। परस्पर मेल से रहो और एक दूसरे का विरोध मत करो, जिससे देश को दुःखी न होना पड़े।"

लूट का धन जो विजेता के हाथ लगा वह किसी दृष्टि से कम नहीं था। इस देश में धन गाड़ कर रखने, बहुमूल्य आभूषण पहिनने तथा मन्दिरों को खुले हाथों सोना तथा चाँदी दान देने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आई थी, यही कारण था कि सिन्ध में वृहद धन कोष प्राप्त हुआ। चचनामा में उल्लेख आता है कि एक मन्दिर में १३०० मन सोना मिला था। इसमें से कुछ खलीफा के पास भेज दिया गया था और कुछ बाँट दिया गया था। एक बार लूट की सम्पत्ति क मुआवजे के रूप में जनता के प्रत्येक सदस्य को १२ चाँदी के दिरहाम बाँट दिये गये थे। फिर भी कर काफी भारी था, और विशेषकर काफिरों के ऊपर। कहा जाता है कि सिन्ध तथा मुल्तान दोनों स मिलाकर ११२ ´, दिरहाम (२०० ००पौं०) की आय होती थी।

पहला कर जिज़या था जिसकी तीन दरें थीं—(१) ४८ दिरहाम, (२) २४ दिरहाम और (३) १२ दिरहाम। स्पष्ट है कि यह भेद लोगों की सामाजिक स्थिति तथा द सकने की य ग्यता क आधार पर रक्खा गया। स्त्रियाँ, बच्चे तथा काम न कर सकने योग्य व्यक्ति जिज़या स मुक्त थे। दूसरा कर ख़िराज (भूमिकर) था, यह भी उपज के आधार पर लगाया जाता था (१) सार्वजनिक नहरों द्वारा सींची गई भूमि के गेहूँ तथा जौ का २/५ तथा (२) अन्य खेतों से १/४। अंगूर खजूर आदि बाग़ों की उपज का १/३ तथा मछली, शराब और मोतियों का १/५ राज्य कर के रूप में वसूल किया जाता था। सैनिकों को माफ़ी की भूमि मिली हुई थी किन्तु उन्हें सैनिक सेवा करनी तथा धार्मिक दान (सादगह) देने पड़ते थे। कठिन परिस्थितियों में इन सभी करों में वृद्धि हो सकती थी। जैसा कि ईलियट ने लिखा है विलासिता की वृद्धि के साथ-साथ सरदार तथा उसके नौकरों की आवश्यकताएँ भी बढ़ती गईं और उनका उत्साह क्षीण होता गया परिणामस्वरूप अधिक व्यक्तियों को नौकर रखना तथा उन्हें और भी अधिक ऊँचे वेतन देना आवश्यक हो गया। फल यह हुआ कि धीरे धीरे करों में इतनी वृद्धि हो गई कि सम्पत्ति के स्वामी तथा कमकर लोग उन्हें अदा करने में असमर्थ हो गये और इस कारण सरकार में बारम्बार परिवर्तन होने लगे।'

अरब विजेताओं ने देशवासियों के साथ कुछ वैसा ही व्यवहार किया जैसा कि स्पार्टा वालों ने मसीनी लोगों के साथ किया था। उन्होंने अपने को लगभग पूर्णतया युद्ध-कला में ही लिप्त रक्खा, और दास लोग उनके लिये खेतों में काम किया करते थे। बल्कि इससे भी बुरी स्थिति थी आगे चल कर जब अरब लोग व्यापार में अधिक ध्यान देने लगे और पहले से भी अधिक विलासी हो गये, उस समय भी वे अपमान की बातों को कुछ राजाओं के हाथों भुगतने पड़ते थे पूर्ववतः

जारी रहे, जैसे घोड़े पर चढ़ने, रेशम, शिरोवस्त्र तथा जूते पहनने का निषेध, अपने साथ कुत्ते ले चलने के लिये बाध्य होना, इत्यादि। इस प्रकार जहाँ तक साधारण जनता का सम्बन्ध था अरब विजय का यह परिणाम हुआ कि एक प्रकार के दमन का स्थान दूसरे प्रकार के दमन ने ले लिया। जिन लोगों ने धर्म-परिवर्तन कर लिया था उनके लिये कदाचित् इस परिवर्त्तन के परिणाम अच्छे हुए, किन्तु शेष लोगों के लिये बुरे।

अरबों की विफलता के कारण

अन्तिम रूप से विश्लेपण करने पर हमें कहना पड़ेगा कि भारत में अरबों का आक्रमण विफल रहा। इस दृष्टि से नहीं कि उन्हे कुछ सफलता नहीं मिली, बल्कि इसलिये कि उसका परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। स्पष्टतया हमारा तात्पर्य राजनैतिक परिणामों से है। लेनपूल के निर्णय को हमें इसी ओर केवल इसी अर्थ में समझना चाहिए। वास्तव में अरब विजय "भारत तथा इस्लाम के इतिहास में एक गौण तथा महत्वहीन घटना थी, एक ऐसी विजय जिसका कोई फल नही हुआ।" कहने का तात्पर्य यह है कि इस्लाम की स्थायी विजय के लिये नये सिरे से प्रयत्न करने पड़े, ये प्रयत्न अन्य दिशा के ओर अन्य जाति ने किये—अरबों ने नहीं, तुर्कों ने। जिन अरबों ने सिन्ध की विजय से पूर्व सीरिया, मैसोपोटामियाँ, मिश्र, कार्थेज, स्पेन, पुर्तगाल, तुर्किस्तान, ईरान तथा अफगानिस्तान को जीत लिया था, उन्हीं को भारत की देहली पर आकर अपने कदम रोक देने पड़े। क्यों? इसके कारण वास्तव में समीक्षा के योग्य हैं। भारत की दृष्टि में भी यह घटना महत्वहीन तथा निष्फल थी, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्ध के अनुभव के बावजूद भारत सतर्क नहीं हुआ। तीन शताब्दियों बाद जब मूर्ति-भंजक (महमूद गजनवी) ने उसके देवताओं को गदा प्रहारों से चूर्ण किया, उस समय भी वह उतना ही असावधान और अपने में व्यस्त था जितना कि उस समय सिन्ध था जब वहाँ हिन्दू तथा बौद्ध मन्दिरों के भग्नावशेषों पर प्रथम बार मुस्लिम मस्जिदें खड़ी की गई थीं।

किन्तु सिन्ध में अरबों का कार्य उतना अलग तथा अकेला नहीं था जितना कि उसे सामान्यतया समझ लिया गया है। अरब इतिहासकारों ने क्विननौज तथा ओदीपुर आदि स्थानों का उल्लेख किया है, उनकी पहिचान के सम्बन्ध में विद्वानों में विवाद हो सकता है। फिर भी नीचे के उल्लेख उपेक्षणीय नहीं हैं:—जैसा कि सर वोल्जले हेग भी मानते हैं आठवीं शताब्दी में अरबों ने कच्छ पर आक्रमण किया था, यद्यपि उनका उद्देश्य उसे अपने राज्य में मिलाना अथवा वहाँ उपनिवेश बसाना नही था। 'दी कैम्ब्रिज शॉर्टर हिस्ट्री ऑव इंडिया' में कहा गया है कि "अधिकतर सिन्ध के अरब सूबेदारों ने गुजरात में स्थित वलभी के मैत्रकों तथा उनके उत्तराधिकारी चावडों और चालुक्यों के साथ मित्रतापूर्ण

सम्बन्ध स्थापित रक्खे।' (पृ० २५)। उसी ग्रन्थ में अन्यत्र (पृ० १२१) लिखा है कि "लाट चालुक्य पुलकेशिन के अभिलेख में कहा गया है कि उसने एक अरब सेना को जो उसके राज्य में पहुँच गई थी, परास्त किया था, और गुर्जर शक्ति के संस्थापक नागभट्ट ने भी एक मलेच्छ आक्रमणकारी को पीछे ढकेल देने का उल्लेख किया है। कदाचित यह आक्रमणकारी जुनैद था जिसकी हम पहले चर्चा कर चुके हैं। गुर्जर लोगों ने वास्तव में अरबों की प्रगति को रोकने के लिये एक बाँध का काम किया और यही कारण था कि अरबों ने गुर्जरों के प्रतिद्वन्द्वी मान्यखेत के राष्ट्रकूट वंश से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया।" अरबों के इन विस्तृत सम्पर्कों का साक्ष्य हमें उत्कीर्ण लेखों तथा नवीं और दसवीं शताब्दी के अरब पर्यटकों के लेखों से मिलता है। अलमसूदी (९१२ १६ ई) के लेख से मिहिर भोज तथा उसके उत्तराधिकारी महिपाल (८९०–९४० ई०) के शासन-काल में गुर्जर प्रतिहारों की शक्ति तथा प्रतिष्ठा का प्रमाण मिलता है, वह चौल में स्थित १० ०० मुसलमानों के एक उपनिवेश का भी उल्लेख करता है। सुलैमान ने (८५१ ई०) अमोघवर्ष (८१२–७८ ई०) को जिसे वह बल्हार कहता है संसार के चार महानतम शासकों में गिनती की है अन्य तीन शासक बग़दाद का ख़लीफ़ा, चीन तथा रूम (कुस्तुन्तुनियाँ) के सम्राट थे। वह आगे लिखता है कि राजाओं में ऐसा कोई नहीं है जो अरबों से इतना प्रेम करता हो जितना कि बल्हार और उसकी प्रजा उसका अनुकरण करती है। गुर्जर वंश के नागभट्ट द्वितीय (८००–२५ ई लगभग) की विजयों में तुरुष्कों (अरबों) के विरुद्ध एक विजय का भी उल्लेख है; और ७३८ ई० के नौसारी दानपत्रों में गुजरात के लाट चालुक्य पुलकेशिन की विजय का जिसके विषय में हम पहले लिख आये हैं जिक्र है; यद्यपि अरब इतिहासकार बलाधुरी का दावा है कि आक्रमणकारियों ने जुर्ज (गुजरात) और बरुस (भड़ौच) को जीत लिया था किन्तु उजैन (उज्जैन) और मालिया (मालवा) में उन्हें सफलता नहीं मिली थी। वोल्ज़ले हेग के मतानुसार "पूर्व की ओर अरबों की बाढ़ को रोकने वाली शक्ति थी राजपूताना और मालवा का अवन्ति राजवंश जिसके वंशजों ने आगे चलकर उत्तरी भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण भाग लिया।' इनके साथ हम मुस्लिम परम्परा के उस साक्ष्य को भी जोड़ दें जिसके अनुसार मालाबार तट पर मुस्लिम उपनिवेशों का होना बताया जाता है और जिनका हम पिछले अध्याय में उल्लेख कर आये हैं। ज़ैनुद्दीन का कथन है कि पैग़म्बर के जीवनकाल में ही चेरमान के पैरूमाल ने इस्लाम अंगीकार कर लिया था, इस कथन की पुष्टि नहीं हुई है। इसे छोड़ कर यहाँ हम दक्षिण भारत के नवाइत माप्ला और लब्बाई लोगों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अधिक विश्वसनीय परम्परा का ज़िक्र करेंगे थुर्स्टन ने 'कॉस्ट्स एण्ड ट्राइब्स ऑव सदर्न इंडिया' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि दक्षिणी भारत के इन मुसलमानों के पूर्वज वे ईराकी शरणार्थी थे जिन्हें हज्जाज ने आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में निर्वासित कर दिया

था। किन्तु शायद इससे भी अधिक विश्वसनीय साक्ष्य अलीइब्न उद्थोर्मान नामक व्यक्ति की कब्र है जिस पर हिज्री सम्वत १६६ (७८८ ई०) का स्मृति-लेख खुदा हुआ है, श्री इन्स ने 'मालाबार गज़ेटियर' में इसका उल्लेख किया है। नेलसन के मतानुसार मुसलमान लोग सबसे पहले (१०५० ई०) मदुरा में आकर बसे थे। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि १० वीं और ११ वीं शताब्दियों में जब तुर्कों के आक्रमण हुए, उससे पहले ही देश के विभिन्न भागों में भारतीय अनेक भाँति से अरबों के सम्पर्क में आ चुके थे। इसलिये यह नहीं हो सकता कि इमादुद्दीन मुहम्मद बिन कासिम तथा महमूद गजनवी के बीच के युग में सिन्ध में जो घटनाएँ घटीं उनसे वे अनभिज्ञ रहे होंगे। इतना होने पर भी यदि भारतीय नरेशों ने अरबों को प्रोत्साहन दिया, तो इसका या तो राजनैतिक कारण था, जैसा कि राष्ट्रकूटों के सम्बन्ध में, अथवा उन्होंने व्यापारिक लाभों के लिये ऐसा किया। उदाहरण के लिये वस्साफ के कथनानुसार केवल फारस से भारत में प्रतिवर्ष १०,००० अरबी घोड़े आते थे। उनका मूल्य २,२००,००० दीनार होता था। जैसा कि श्री टाइटस 'इण्डियन इस्लाम' नामक अपनी पुस्तक में लिखते हैं, "अरब व्यापारियों को हिन्दू राजाओं का संरक्षण प्राप्त था, क्योंकि उनके राज्यों को इस प्रकार स्थापित व्यापारिक सम्बन्धों से बहुत लाभ होता था, इसी का परिणाम था कि अरबों के भारतीयों को मुसलमान बनाने के मार्ग में बाधाएँ नहीं डाली जाती थीं। वास्तव में भारतीय मुसलमानों के साथ भी वैसा ही सम्मानपूर्ण व्यवहार किया जाता था जैसा कि विदेशियों के साथ चाहे वे समाज के निम्नतम वर्गों में से ही क्यों न आये हों।" हिन्दू राजा मुसलमानों के साथ जैसा व्यवहार करते थे उसकी पुष्टि के लिये दो उदाहरण यहाँ दिये जा सकते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में इद्रीसी ने लिखा था कि जो अरब व्यापारी बड़ी संख्या में अन्हिलवाड़ जाते हैं "उनका राजा तथा उसके मन्त्री सम्मानपूर्वक स्वागत करते हैं और उन्हें समाज में संरक्षण मिलता है।" मुहम्मद ऊफी लिखता है कि जब खम्बात के मुसलमानों पर हिन्दुओं ने आक्रमण किया, तो सिद्धराज (१०९४-११४३) ने अपने ही अपराधी प्रजाजनों को दण्ड दिया और मुआवजे के रूप में मुसलमानों को एक मस्जिद बनाने के लिये आर्थिक सहायता दी। इसीलिये तो यह और भी अधिक आश्चर्य की बात है कि इन अनुकूल परिस्थितियों के होने पर भी अरबों को सफलता नहीं मिली।

अरब-शासन के अस्थाई होने के एलफिंस्टन ने तीन कारण बतलाये हैं; (१) अरबों का सुमेर राजपूतों द्वारा निकाल बाहर किया जाना, (२) भारत में एक ऐसे पुरोहित वर्ग का अस्तित्व जिसका शासन से घनिष्ठ सम्बन्ध था और जिसके लिये देशवासियों में गहरी श्रद्धा थी, और एक ऐसा धर्म जो जनता के कानूनों तथा आचरण से गुथा हुआ था और जिसका उनके विचारों पर अडिग प्रभाव था; (३) हिन्दुओं की फूट भी उनके पक्ष में थी, एक राजा के पराभव से उसके बाद आने वाले शासक का केवल एक प्रतिद्वन्दी हट जाता था और

आक्रमणकारी सेना की संख्या घटती जाती थी और अपने साधनों से वह बहुत दूर हो जाती थी; किन्तु वह एक ऐसा प्रहार नहीं कर सकती थी कि उसका कार्य पूरा हो जाता। लेनपूल के शब्दों में "अरबों की विफलता का इससे भी अधिक स्पष्ट कारण यह था कि (४) पूर्व तथा उत्तर में राजपूत राजाओं की शक्ति अभी टूटी नहीं थी और (५) खलीफ़ाओं ने भारत विजय जैसे महान् कार्य के लिये पर्याप्त सेनाएँ नहीं भेजी थीं, (६) सिन्ध के प्रान्त को पूर्णरूप से विजय नहीं किया गया था, (७) यही नहीं, वह अत्यधिक निर्धन प्रदेश था और उससे इतनी कम आय होती थी कि उस पर अधिकार रखना निरर्थक था, इसलिये खलीफ़ाओं ने उसे त्याग दिया था केवल नाम के लिये उनका प्रभुत्व शेष रह गया था।' इन प्रत्यक्ष कारणों के अतिरिक्त हमें उन वास्तविक कारणों पर भी ध्यान देना चाहिए जो अरबी इस्लाम की जड़ों पर ही प्रहार करके उसकी जीवन-शक्ति को नष्ट कर रहे थे। सर्वप्रथम ख़िलाफ़त के लिये ही संघर्ष हुआ जिसके परिणामस्वरूप अब्बासियों ने उमय्यदों का नाश कर दिया। उमय्यदों के शासनकाल में भारत विजय का जो कार्य आरम्भ हुआ था उसे उसी पीढ़ी में इस क्रान्ति के कारण एक भारी धक्का पहुँचा। भारत में इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि पुराने शासन से सम्बन्धित सभी पदाधिकारी एक दम हटा दिये गये और उनका स्थान नये शासन के भक्तों ने ले लिया। (९) इसके उपरान्त हारून अल-रशीद के समय में ख़लीफ़ा का विनाशकारी ठाट बाट आरम्भ हुआ, खलीफ़ाओं के साम्राज्य का इस्लाम के मौलिक तथा जीवनप्रद सभी तत्वों से सम्बन्ध विच्छेद हो गया और 'कुरान की धार्मिक कट्टरता तथा अरबी सादगी का स्थान ' चिन्तनयुक्त दर्शन तथा उच्चकोटि के रहन सहन ने ले लिया। 'इस्लाम की कठोरता तथा सादगी ही केवल ऐसे बन्धन थे जो साम्राज्य की एकता बनाये रख सकते थे किन्तु खलीफ़ा तथा उसके परामर्शदाताओं ने उन्हें पूर्णरूप से त्याग दिया था।" (सर मार्क साइकैस की पुस्तक 'दी कैलिफ़्स लास्ट हैरीटेज' से एच० जी० वैल्स द्वारा उद्धृत)। इसके उपरान्त जब राष्ट्रवाद की लहर संसार को तेज़ी से अभिभूत कर रही थी उस समय जातीय, धार्मिक तथा राजनैतिक गुटबन्दी के कारण इस्लामी मिल्लत छिन्न-भिन्न हो गई। शीघ्र ही अरबी ख़िलाफ़त को तुर्कों ने भूमिसात कर दिया और करमाथी आदि विद्रोही सम्प्रदायों के लोग मुसलमानों शरण्य स्थान सिन्ध में आकर एकत्र होने लगे।

विजेताओं की पराजय

आज *भारत संसार का सबसे बड़ा इस्लामी देश है। अकेले बंगाल के प्रान्त में इतने मुसलमान हैं जितने कि अरब, टर्की और ईरान में मिला कर भी नहीं हैं। फिर भी देश में मुसलमान अल्प संख्या में हैं; एक मुसलमान है, तो चार हिन्दू हैं। यह भी सच है जब कि मुसलमानों ने इस देश पर एक हजार वर्ष (७१२-१७१२ ई०) तक शासन किया और उससे भी अधिक काल तक निरन्तर धर्म

* 'भारत' से यहाँ विभाजन से पहले का भारत समझना चाहिये।

परिवर्त्तन का कार्य जारी रक्खा। विश्व इतिहास में यह एक अनोखी घटना है और कारण ढूँढ निकालने के लिये हमारे विचारों को चिनौती देती है। इसे सामने रखते हुए हम अरबों को, सिन्ध में उन्हें जो असफलता हुई, उसके लिये दोषी नहीं ठहरा सकते, एक तो उन्होंने पूरे हृदय से अपना कार्य सम्पादित करने का प्रयत्न नहीं किया था, दूसरे १६० वर्ष (७११-८७१ ई०) के बाद सिन्ध पर से उनका नाममात्र का नियन्त्रण भी जाता रहा था।

८७१ ई० में सिन्ध खलीफाओं के हाथों से निकल गया, किन्तु उस समय तक भी वह पूर्ण रूप से अरब प्रान्त नहीं बन पाया था। हम पहले देख चुके हैं कि किस सीमा तक परिस्थितियों की माँग ने विजेताओं के प्रारम्भिक उत्साह को ठण्डा कर दिया था। स्थायी उपनिवेश बसाने के लिये अरबों की शायद ही कोई कुमुक आई हो। जो यहाँ बच रहे, वे समुद्र में द्वीपों के समान थे। असली अरब जिन्हें देश में बिखरे हुए क़िलों की रक्षा के लिये नियुक्त किया गया था, शीघ्र ही काफिरों में घिर गये और अपनी राष्ट्रीय विशेषतायें खो बैठे। वे सिन्ध में एक नई सभ्यता के लिये मार्ग प्रशस्त करने वालों के रूप में नहीं आये थे, वे तो एक सैनिक धर्म की असिधारी भुजा के सदृश थे। उनमें संस्कृति का लगभग सर्वथा अभाव था। इसलिये वे कोरे विध्वंसकारी थे, निर्माण करने की शक्ति उनमें नहीं थी। उनकी बुद्धि तथा भावुकता तीव्र थी, किन्तु कविता को छोड़ कर वे अन्य किसी कला से परिचित नहीं थे, यहाँ तक कि वे एक स्थायी राज्य बनाने की कला से भी अनभिज्ञ थे। जैसा कि सर जॉन मार्शल ने लिखा है "अरबों में निर्माणात्मक प्रतिभा बिलकुल नहीं थी। यदि वे अपने पूजागृहों को उतना ही आकर्षक बनाना चाहते थे जितने कि उनके प्रतिद्वन्दी धर्मों के अनुयायियों के थे, तो उनके लिये विजित देशों के शिल्पियों और कलाकारों से काम लेना अनिवार्य था।" तथाकथित सारसैनी स्थापत्य के विकास की यही प्रक्रिया थी। इसलिये अरब लोग भारत से लूट के धन से भी अधिक मूल्यवान् वस्तु ले गये। हैवेल लिखते हैं, "जिस समय इस्लाम सीखने योग्य यौवन की अवस्था में था उस समय उसे यूनान ने नहीं, भारत ने दीक्षा दी, उसके दर्शन तथा आध्यात्मिक धार्मिक आदर्शों का निर्माण किया और उसके साहित्य, कला तथा स्थापत्य की विशिष्ट शैलियों को अनुप्राणित किया।" अरब आक्रमणकारियों को लूट में सबसे मूल्यवान् वस्तु भारत की वह सांस्कृतिक निधियाँ मिली जिनका हम पहले अध्याय में संक्षिप्त उल्लेख कर चुके हैं। इन्हें उन्होंने भारत के सब भागों में, जब तक उन्हें अवसर मिला, खुल कर लूटा। सिन्ध के पतनशील प्रान्त में भी विजेताओं को जीतने के लिये पर्याप्त सामग्री थी। गोल्डजिहर का मत है कि 'सिन्ध के बौद्ध भिक्षुकों का इस्लाम पर केवल सैद्धान्तिक रूप से ही प्रभाव नहीं पड़ा।' अब्बासी खिलाफत के समय में ही वे इस्लाम के अनुयायियों के लिये व्यावहारिक महत्त्व का विषय बन चुके थे, जिस प्रकार कि उससे पहले सीरिया के ईसाई परिव्राजकों ने अरबों का

ध्यान आकृष्ट किया था। दूसरे, बौद्ध तथा अन्य भारतीय ग्रन्थों का या तो सीधा संस्कृत से अथवा फ़ारसी अनुवादों से अरबी में रूपान्तर किया गया। उदाहरण के लिये, ख़लीफ़ा अल-मंसूर के समय में (७५४–७५ ई०) फ़ज़ारी ने भारतीय विद्वानों की सहायता से ब्रह्मगुप्त के 'ब्रह्मसिद्धान्त' तथा 'खण्डखाद्यक' नामक ग्रन्थों का संस्कृत से अरबी में अनुवाद किया। तबरी लिखता है कि ख़लीफ़ा हारून अल-रशीद को एक भारतीय वैद्य ने असाध्य रोग से अच्छा किया था। अन्त में क़ानूनी इस्लाम के विरोध में सूफ़ी (सन्यास अथवा तपस्या का मार्ग) का प्रादुर्भाव हुआ; इसके प्रवर्तक अबुल अताहिया (७४८–८२५ ई०) जैसे आचार्य थे। लोग उसका एक अत्यधिक सम्मानित व्यक्ति के रूप में आदर करते और समझते थे कि वह भिखारी के वेश में राजा है — यह वह व्यक्ति है जिसके लिये लोगों में अत्यधिक श्रद्धा है।' गोल्डज़िहर पूछता है, "क्या यह बुद्ध नहीं है?"

सिन्ध हिन्द का लघु रूप था। उस प्रान्त में अरबों का इतिहास भारत में इस्लाम के भाग्य का सारांश था। क्षितिज पर उदय हुआ इस्लामी अर्धचन्द्र वास्तव में भारतीय राज्याकाश के मध्य बिन्दु तक पहुँचने को था, किन्तु फिर भी वह अर्धचन्द्र ही रहा, पूर्णचन्द्र होना उसके भाग्य में नहीं था।

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्

६३७ अरबों का ईरान में पहुँचना।

६४ इस्लाम मकरान तक पहुँचता है।

६६४ अरब काबुल में १२०० हिन्दुओं को मुसलमान बनाते हैं।

७१२ अरबों की विजयें अरब सागर तथा जैक्सार्टीस तक फैल जाती हैं।

७२५—६ अरबों का गुजरात तथा मालवा में पहुँचना।

७५० दमिश्क में अब्बासी उमय्यद ख़िलाफ़त का नाश कर देते हैं।

७८८ मालाबार में प्राप्त सबसे पुरानी तिथि (१६६ हिज्री) की मुस्लिम क़ब्र।

८५१ अरब पर्यटक सुलैमान अमोघवर्ष राष्ट्रकूट की संसार के महानतम चार शासकों में गिनती करता है। राष्ट्रकूटों का अरबों के प्रति मित्रतापूर्ण व्यवहार।

८७१ सिन्ध का ख़लीफ़ाओं के हाथों से निकल जाना।

८९ —९१० गुर्जर-प्रतिहार (मिहिरभोज तथा महिपाल) अरब आक्रमणों को रोक देते हैं।

९६ काश्मीर की रानी दिद्दा का दादा भीम (ब्राह्मणशाही) काबुल पर शासन करता है। ग़ज़नी के विरुद्ध युद्ध करने वाला जयपाल भीम का उत्तराधिकारी था।

९९०—९१	महोवा का चन्देल नरेश धंग जयपाल के संघ में सम्मिलित होता है।
९९८-१००३	दिद्दा तथा उसके प्रियजन काश्मीर में शासन करते हैं।
९६१	अन्हिलवाड़ (गुजरात) के सिंहासन का सोलंकियों द्वारा अपहरण।
९६२	अलप्तगीन ग़जनी में अपनी शक्ति की स्थापना करता है।
९७२	मालवा का हर्षसिंह राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेत को लूटता है।
९७५	काबुल के हिन्दुओं तथा ग़ज़नी के मुसलमानों में प्रथम संघर्ष।
९७७	सुबुक्तगीन का ग़ज़नी की गद्दी पर बैठना।
९८५-१०१६	राजराज चोल दक्षिणी भारत पर शासन करता है।
९९१	सुबुक्तगीन कुर्रम की घाटी में जयपाल के संघ को परास्त कर देता है।
९९५	मालवा का मुन्ज चालुक्य राज्य पर छठवें आक्रमण में मारा जाता है।
९९७	महमूद गज़नी में सुबुक्तगीन का उत्तराधिकारी बनता है।
१००१	महमूद का भारत पर प्रथम आक्रमण।
१००८	आनन्दपाल की पेशावर में पराजय।
१०१०-६५	मालवा का महान् नरेश भोज : चेदि, लाट, कर्नाटक आदि के विरुद्ध युद्ध।
१०२३	राजेन्द्र चोल प्रथम का बंगाल आदि पर आक्रमण।
१०२५	महमूद ग़ज़नवी द्वारा सोमनाथ मन्दिर की लूट।
१०४४-६२	चालुक्य विक्रमादित्य का बंगाल आदि पर आक्रमण।

३

भारत में मूर्तिभंजक (बुतशिकन)

अरब सत्ता का अन्त

सिन्ध तथा मुलतान के बाद पंजाब की मुस्लिम प्राप्त करने की बारी आई। इस बार धर्म देने के उद्देश्य से चढ़ाई नहीं की गई थी जैसा कि अरबों ने किया था; बल्कि यह एक तुर्क साहसिक द्वारा लूट के लिये आक्रमण था। यद्यपि सिन्ध तथा मुलतान उत्तर पश्चिम में होने वाले दूसरे आक्रमण के समय तक मुसलमानों के प्रभुत्व में बने रहे, किन्तु इमादुद्दीन के बाद फिर नई विजयें नहीं की गई। यह भी स्मरण रखने की बात है कि इमादुद्दीन सैनिक साहसिकों के गिरोह का नेता नहीं था जो अपने उच्छृङ्खल मनोवेग के अनुसार कार्य कर सकता, बल्कि वह इस्लामी जगत के सर्वोच्च प्रमुख खलीफा की स्थापित सत्ता का प्रतिनिधित्व कर रहा था। महमूद ग़ज़नवी (९९७–१ ३ ई) ने जिसके वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन हम इस अध्याय में करेंगे अपनी ओर से भारत पर लगातार सत्रह आक्रमण किये एक राजवंश की स्थापना की जिसने पंजाब पर १५० वर्ष (१०२०–११८६ ई०) से अधिक शासन किया और अन्त में अपने तात्कालिक उत्तराधिकारियों को विजय के लिये प्रेरित किया जिन्होंने भारत में इस्लामी प्रभुत्व की परम्परा को स्थापित रक्खा। आगे आने वाले बाबर अथवा उससे भी अधिक नादिरशाह के सदृश महमूद के कार्य भारत के बाहर भी फैले हुए थे और वे उसने जो कुछ भारत में किया, उससे कम दिलचस्प नहीं थे। आठवीं शताब्दी में अरबों ने तो केवल प्रारम्भिक कठिनाइयों पर विजय पाकर मार्ग दिखलाया था जब कि महमूद ग़ज़नवी ने ट्रांसऑक्सियाना की ओर से आनेवाली उस बाढ़ के लिये भारत के फाटक खोल दिये जो बगदाद की पतनशील खिलाफ़त के तट पर पहले से ही लहरें मार रही थी। ग़ज़नवी के आक्रमणों के महत्व को भलीभाँति समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम हिन्दूकुश के उस पार की परिस्थितियों की पड़ताल कर लें।

अरब लोग पैगम्बर की मृत्यु के वर्ष (६३२ ई०) में ही ईरान में पहुँच चुके थे। उन्होंने ६३७ ई० में कादेसिया के युद्ध में सासानी सम्राट रुस्तम को हराया

और मार डाला, और शताब्दी के मध्य तक (६५० ई०) ऑक्सस तक इस्लामी सत्ता फैला दी। लगभग पन्द्रह वर्ष उपरान्त (६६४ ई०) उन्होंने काबुल पर आक्रमण किया और १२००० लोगों को मुसलमान बनाया, किन्तु काफिर राजाओं की सुदृढ़ स्थिति के कारण वे उस देश को विजय न कर सके। ये राजा कौन थे, यह हम अभी बतलायेंगे। अन्त में लगभग सिन्ध विजय के समय ही अरबों ने ऑक्सस को पार किया, समरकन्द और बुखारा को हस्तगत कर लिया, अराल झील पर स्थित ख्वारिज़्म को जीत लिया, फरग़ाना के राज्य को पदाक्रान्त कर दिया और अरबों के आधिपत्य को इमौस पर्वत तथा जक्सार्टस तक फैला दिया (७१३ ई०)। इसके बाद एक शताब्दी से भी कुछ अधिक काल तक खलीफाओं ने अपने इन दूरस्थ प्रदेशों की विलास वस्तुओं, शक्ति तथा प्रतिष्ठा का उपभोग किया। तत्पश्चात् अवश्यम्भावी पराभव आया, जिसके सम्बन्ध में हम पिछले अध्याय में लिख आये हैं। एल्फिन्स्टन ने पतन की सीढ़ियों का सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। खलीफाओं की प्रवृति में धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ। कट्टर धर्म प्रचारकों से वे नीतिकुशल शासक बन गये और धर्म प्रचार की अपेक्षा वे अपने परिवारों की शक्ति तथा प्रतिष्ठा की वृद्धि का ओर अधिक ध्यान देने लगे और उसी प्रकार वे उजड्ड सैनिकों से वैभवयुक्त तथा विलासी सम्राटों में परिवर्तित हो गये, अब उनके पास युद्ध के अतिरिक्त अन्य कार्य भी थे और विजय से अधिक आकर्षक उन्हें अन्य आनन्द लगते थे। उमर ने जब जैरूसलम में स्थित अपनी सेना के लिये प्रस्थान किया था तो जिस ऊँट पर वह स्वयं सवार था उसी पर अपने अस्त्र-शस्त्र तथा भोजन सामग्री रख कर ले गया था, उथमन जब अपना दिन का कार्य समाप्त कर लेता तो अपना दीपक बुझा देता था, जिससे जनता का तेल उसके अमोद-प्रमोद पर न व्यय हो; उथमन के बाद एक शताब्दी के भीतर ही अलमहदी के लिये ५०० ऊँटों पर बर्फ लादी जाती थी, और अब्बासी खलीफा एक दिन में जितना धन उडाते उससे प्रथम चार खलीफाओं का पूरा खर्च चल जाता। जब इस प्रकार विलासिता तथा गृह-कलह के कारण खिलाफत की जड़ें खोखली हो रही थीं, उसी समय साम्राज्य के भीतर एक नई शक्ति का उदय हो रहा था जो शीघ्र ही उसके अस्तित्व को ही मेटने वाली थी। वह शक्ति तुर्कों की थी। उनके उदय के साथ-साथ अरब शासन का अन्त हो गया।

तुर्कों का अभ्युदय

तुर्क लोग अरबों तथा ईरानियों दोनों से पूर्णतया भिन्न थे। पहले, रेगिस्तानी प्रायद्वीप के निवासी अरबों की आदिम सरलता तथा स्फूर्ति ने उनसे अधिक सुसंस्कृत ईरानियों की वैभवपूर्ण निरंकुशता तथा सुखमय जीवन के सामने घुटने टेक दिये। फिर तुर्कों ने मुसलमानों के धर्म तथा भाग्य दोनों को एक पूर्णतया नई दिशा में मोड़ दिया। अरब इस्लाम को कर्डोवा तक ले गये; ईरानियों ने उसे बगदाद पहुँचाया और तुर्क उसे दिल्ली ले आये। ट्रांसआक्सियाना के

लोगों के मुसलमान बन जाने के फलस्वरूप स्वयं इस्लाम का ही रूपान्तर हो गया। उसके मूल प्रचारक अरबों का सच्चा उत्साह दो सौ वर्ष से कम ही में ठंडा पड़ गया था, जब कि इन नये मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता जितने दिनों तक टिकी उसका इस्लाम और इमामुद्दीन स्वप्न भी नहीं देख सकते थे। भारत के भाग्य का निर्णय हिन्दूकुश के उस पार उस समय हुआ जब ९ वीं १० वीं शताब्दियों में तुर्कों ने बगदाद और बुखारा में अपने स्वामियों का ही तख्ता उलट दिया और अपने लिये स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की। खलीफाओं के ईरानी तथा अफगान प्रदेशों में इन राज्यों की नींव डालने वाले तुर्की गुलाम थे, किन्तु नियति ने उनका साथ दिया और आगे चलकर उन्होंने इस्लाम की शक्ति तथा प्रतिष्ठा को पुनर्जीवित तथा विस्तृत किया और भारत की असंख्य जनता को दासता की चक्कियों में जकड़ा। लगातार अनेक ऐसी घटनाएँ हुई जिन्होंने इन बर्बर, धन लोलुप तथा धर्मान्ध तुर्कों को सिन्ध की घाटी की ओर मोड़ दिया और वहाँ से फिर वे भारत के धन धान्यपूर्ण मैदानों की ओर आकृष्ट हुए। इन घटनाओं में से पहली काबुल के राज्य में घटी।

ब्राह्मणशाहियों का पीछे लौटना

हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं कि काबुल की घाटी में अपने प्रारम्भिक धावों के बीच एक बार अरबों ने ६६४ ई० में १२००० लोगों को मुसलमान बनाया था। हम यह भी बतला आये हैं कि इस दिशा में मुसलमानों की कम सफलता का कारण काबुल के शासकों की शक्ति थी। इन शासकों की नस्ल के सम्बन्ध में विभिन्न अनुमान लगाये गये हैं कुछ लोग उन्हें ईरानी बतलाते हैं और कुछ तुर्क, किन्तु हमारे पास उन्हें हिन्दू मानने के लिये युक्तिसंगत प्रमाण मौजूद हैं।

इस प्रदेश में अशोक तथा कनिष्क के समय से ही बड़ी संख्या में बौद्ध लोग रहते आये थे। जब युवान-च्वांग ने उस देश का भ्रमण किया उस समय वहाँ एक क्षत्रिय राजा राज्य करता था। अल-बरूनी लिखता है कि यह राजवंश शाही के नाम से विख्यात था इसमें साठ राजा हुए थे और उनमें से अन्तिम लगतूर्मान को ९ वीं शताब्दी के अन्त में उसके ब्राह्मण मंत्री ने अपदस्थ कर दिया था। अल-बरूनी के कथन की पुष्टि उसके बताये हुए ब्राह्मण राजाओं के सिक्कों तथा राजतरङ्गिणी में कल्हण के स्वतन्त्र बयान से होती है। इन सब साधनों से विदित होता है कि ९२० ई० के लगभग काश्मीर की रानी दिद्दा का दादा भीम काबुल पर शासन करता था। उसका उत्तराधिकारी जयपाल हुआ। उसका नाम स्मरणीय है, क्योंकि वह पहला हिन्दू राजा था जिसने हिन्दुस्तान की ओर उमड़ती हुई तुर्की बाढ़ से वीरतापूर्वक टक्कर ली। काबुल के इन ब्राह्मण राजाओं को अपने सम्बन्धी काश्मीर के शासकों से सहायता भी मिली फिर भी वे काबुल की घाटी में गजनवियों के विरुद्ध अधिक दिनों तक न टिक सके और अपनी सुरक्षा के लिये अधिक अच्छा संगठन करने को भटिंडा में शरण लेने के लिये बाध्य हुए।

ग़ज़नी का राज्य

लेनपूल ने लिखा है कि १० वीं तथा ११ वीं शताब्दियों में तुर्कों का दक्षिण की ओर बढ़ना 'मुस्लिम साम्राज्य के अन्तर्गत एक अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना थी'। पहिले विलासी खलीफाओं ने इन तुर्कों से अंग-रक्षकों का काम लिया, 'किन्तु अन्त में वे मुस्लिम ट्रॉय के लिये काठ का घोड़ा सिद्ध हुए।' शीघ्र ही वे खलीफाओं के स्वामी बन बैठे, प्रान्तों पर उन्होंने अधिकार कर लिया और मिश्र से लेकर समरकन्द तक साम्राज्य पर शासन करने लगे। अलप्तग़ीन (अथवा अलप्तैगिन) ने कुछ हजार अनुयायियों की सहायता से अफ़ग़ान पहाड़ों के मध्य में स्थित गजनी के किले पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली (९६२ ई०)। यह आश्चर्यजनक बात है कि एक अथवा दो पीढ़ियों के भीतर ही यह छोटा-सा गढ़ एक शक्तिशाली साम्राज्य की राजधानी बन गया, जो लाहौर से बगदाद की सीमाओं तक तथा सिन्ध से समरकन्द तक फैला हुआ था। इस कार्य को सम्पादित करने का श्रेय दो उद्‌भट योद्धाओं को था—अलप्तग़ीन का गुलाम सुबुक्तगीन और उसका पुत्र महमूद। सुबुक्तग़ीन ९१६ ई० में अपने स्वामी का उत्तराधिकारी बना और २० वर्ष तक शासन किया, महमूद ने ३३ वर्ष तक राज्य किया (९९७–१०३० ई०)। "सुबुक्तगीन पहला मुसलमान था जिसने उत्तर-पश्चिम की ओर से भारत पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया।" उसका अधिक विख्यात पुत्र महमूद सरलता से अपने युग में इस्लामी जगत का सर्वोच्च शासक बन बैठा। हमारे लिये इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि उसने भारत के भविष्य का निर्णय किया। उसने अपने जीवन-काल में इस देश के लूट के धन से अपनी शक्ति तथा प्रतिष्ठा को बढ़ाया, उसका अन्तिम उत्तराधिकारी जब ११५० ई० में ग़ोर की नई शक्ति द्वारा अपने देश से खदेड़ दिया गया, तो उसने आकर इस भूमि मे शरण ली, जिसे उसके महान् पूर्वजों ने लूटा था।

प्रारम्भिक झपटें

कहावत है कि नया उस्तरा अधिक अच्छा मूँड़ता है। सुबुक्तगीन ने भी यही किया। एक ओर तो उसे ग़ज़नी में नई शक्ति प्राप्त हुई थी, दूसरे, उसकी नस्ल हाल ही से मुसलमान बनी थी, इसलिये उसमें तीव्र धार्मिक उन्माद था। यही कारण थे कि इस गुलाम-सुल्तान ने दाएँ बाएँ डट कर प्रहार किये। काबुल का, ग़ज़नी से अत्यधिक निकट होने के कारण, उसके प्रकोप से बच सकना असम्भव था। कुछ लड़ाइयाँ हुईं जिनमें शत्रु की तुलना में दुर्बल होने के कारण हिन्दुओं को मुँह की खानी पड़ी और जैसा कि हम देख चुके हैं, जयपाल पंजाब की ओर हट आया। सर वोल्ज़ले हेग का मत है कि आक्रमणकारी हिन्दू ही थे। उनका कहना है कि अलप्तगीन के बाद पीराई (९७२–७७ ई०)

के शासन-काल में हिन्दुओं तथा मुसलमानों में पहला संघर्ष हुआ जिसमें "हिन्दू आक्रमणकारी थे। पंजाब का राजा जिसका राज्य हिन्दूकुश तक फैला हुआ था और जिसमें काबुल सम्मिलित था, उस विशाल पर्वतमाला के दक्षिण में मुस्लिम राज्य की स्थापना को देख कर भयभीत हो उठा और गजनी के राज्य पर आक्रमण कर दिया, किन्तु पराजित हुआ।' कुछ भी हुआ हो हम यह नहीं भूल सकते कि तीन सौ वर्ष पहले (६६४ ई०) अरब इस राज्य पर चढ़ आये थे और उन्होंने १२,००० नागरिकों को मुसलमान बना लिया था। तब से लेकर शताब्दियों भर संघर्ष चलता रहा था और तथाकथित हिन्दू आक्रमण उस युद्ध परम्परा में अन्तिम था। हमें स्मरण रखना चाहिये कि काबुल के हिन्दू राजाओं के लिये यह भय की बात थी कि उन्होंने तीन शताब्दियों तक (६६४-९७७ ई०) वीरतापूर्वक उस शक्ति से टक्कर ली जिसने ईरान तथा तुर्किस्तान को अभिभूत कर दिया था। ९८६ ई० में सुबुक्तगीन ने काबुल पर आक्रमण किया और बहुत-सा लूट का धन तथा अनेक लोगों को दास बना कर ले गया। दो वर्ष उपरान्त उसने अपने कार्यों को फिर दुहराया और लमगान से काबुल तथा बहुत-सा अन्य प्रदेश छीन लिया। किन्तु सुबुक्तगीन ने कभी सिन्ध को पार नहीं किया। यह कार्य उसने अपने अधिक साहसी पुत्र के लिये छोड़ रक्खा था।

महमूद गजनवी

अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त (९९७ ई) महमूद ने एक अल्पकालीन गृह-युद्ध में अपने भाई इस्माइल को पराजित किया और उसे आजीवन बन्दी बना कर, स्वयं गजनी के सिंहासन पर बैठा। उस व्यक्ति के लिये जो हिन्दुस्तान का पहला मुस्लिम सुल्तान होने जा रहा था, यह एक अपशकुन था। किन्तु इस्लामी इतिहास में ऐसी घटनायें बहुत सामान्य थीं, इसलिये इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया। महमूद का जन्म १ नवम्बर ९७१ ई को हुआ था और सिंहासन पर बैठने के समय (९९८ ई०) उसकी अवस्था २७ वर्ष की थी। इससे पहले वह चार वर्ष तक खुरासान का जिसे ९९४ ई० में विजय किया गया था, सूबेदार रह चुका था। गद्दी पर बैठने के एक वर्ष के भीतर ही महमूद ने सीमान्त पर अधिकार कर लिया, बगदाद के खलीफा अल-कादिरबिल्लाह ने उसे सम्मान-सूचक वस्त्र तथा मान्यतापत्र प्रदान किये और यमीन-उद्-दौला तथा अमीन-उल मिल्ला की उपाधियाँ देने के अतिरिक्त उसे अफ़ग़ानिस्तान, सीमान्त तथा खुरासान का शासक स्वीकार कर लिया। इस पवित्र अवसर पर महमूद ने काफिरों के विरुद्ध जिहाद करने तथा मूर्तिपूजा का नाश करने के उद्देश्य से प्रति वर्ष भारत पर आक्रमण करने का प्रण किया। किन्तु खुरासान के विद्रोह के कारण वह दो वर्ष बीतने से पहले भारत पर अपने धावे प्रारम्भ न कर सका।

मूर्तिभंजन के उद्देश्य से किये गये आक्रमण

भारत में इस्लाम के इतिहास को समझने के लिये महमूद के आक्रमणों का रूप अधिक महत्त्व रखता है, न कि उनकी संख्या। उनकी संख्या तथा अविरलता से तो आक्रमणकारियों की अथक शक्ति का पता लगता है, उन्हे बिना प्रयास जो सफलता मिली उससे हिन्दू भारत की आन्तरिक दशा प्रकट होती है। पहले आक्रमणों (१००१ ई०) के उद्देश्य तथा परिस्थितियों को समझने के लिये महमूद के दरबारी इतिहासकार उतबी का वर्णन अधिक सहायक होगा।

अपने ग्रन्थ 'तारीखे यमीनी' में उतबी लिखता है कि 'सुलतान महमूद ने अपने हृदय में पहले सिजिस्तान जाने का सकल्प किया, किन्तु बाद में उसने पहले हिन्द के विरुद्ध जिहाद लडना अधिक अच्छा समझा।' फिर उसने अस्त्र-शस्त्र बाँट दिये और एक सभा बुलाई 'जिससे उसे अपनी उस योजना को पूरा करने के लिये आशीर्वाद मिल सके जिसका उद्देश्य इस्लामी झडे का उत्कर्ष करना, पुण्य के क्षेत्र को विस्तीर्ण करना, सत्य के वचन को देदीप्यमान करना और न्याय की शक्ति को दृढ़ करना था।' इसके बाद उसने 'ईश्वरीय सहायता में पूर्ण विश्वास रखते हुए भारत की ओर कूच किया और ईश्वर ने अपने प्रकाश तथा शक्ति से उसका पथ-प्रदर्शन किया और उसे प्रतिष्ठा तथा सब आक्रमणों में विजय प्रदान की।'

पेशावर पहुँचकर महमूद को सूचना मिली कि 'ईश्वर का शत्रु, हिन्द का राजा जयपाल विरोध करने के लिये दृढ सकल्प है और युद्ध क्षेत्र में अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिये तेजी से आगे बढ रहा है।'

इस अवसर पर महमूद ने जो सावधानी बरती उससे उसका उच्चकोटि का सेनानायकत्व प्रकट होता है और उसके कारण उसे जयपाल की वीर किन्तु अव्यवस्थित सेना के विरुद्ध विजय प्राप्त होना अवश्यम्भावी था। 'उसने उन लोगों से जिनके पास ही सेना-सम्बन्धी अभिलेख (लेखा-जोखा) रहते थे, अपने सब घोडों, योद्धाओं और सामन्तों का लेखा देखा और अपनी सेना में से १५,००० अश्वारोही तथा पदाधिकारी छाँटे, वे सब वीर और रेगिस्तान के विकराल सर्पों तथा वन के सिंहों के तुल्य थे। उसने यह भी आज्ञा निकाली कि जो लोग निकाल दिये गये हैं अथवा जो युद्ध के योग्य अथवा उसके लिये इच्छुक नहीं हैं, वे चुने हुए योद्धाओं में कदापि सम्मिलित न हों।'

इनके विरुद्ध जयपाल की सेना में १२,००० घुडसवार, ३०,००० पैदल और ३०० हाथी थे। जब यह विशाल सेना कुमुक की प्रतीक्षा कर रही थी, उसी समय महमूद ने उस पर धावा बोल दिया और उसे युद्ध करने के लिये बाध्य किया। उतबी लिखता है कि महमूद का विश्वास था कि 'ईश्वर की आज्ञा से बहुधा छोटी सेना बडी को परास्त कर देती है।' परिणाम यह हुआ कि 'काले मेघों के बीच बिजली के सदृश तलवारें लपकने लगीं और डूबते तारों के पतन के समान रक्त के झरने बहने लगे। ईश्वर के मित्रों ने अपने दुर्दम्य शत्रुओं को परास्त किया और पूरी तरह खदेड़ दिया। म

होने से पहले ही मुसलमानों ने ईश्वर के शत्रु काफिरों से बदला ले लिया उनमें से १५,००० मौत के घाट उतार दिये और कालीन की भाँति उन्हें पृथ्वी पर बिछा दिया जिससे हिंसक पशु पक्षी उन्हें अपना भोजन बना सकें।

जयपाल उसके मुख्य पदाधिकारी तथा सम्बन्धी बन्दी बना लिये गये और उन्हें मजबूत रस्सियों में बाँध कर सुल्तान के सम्मुख उपस्थित किया गया मानों वे पापी थे जिनके मुख पर कुफ्र के चिन्ह स्पष्ट थे और जो शीघ्र ही दोजख भेज जाने वाले थे। कुछ के हाथ बलपूर्वक पीठ पीछे बाँध दिये गये थे, कुछ को गाल पकड़ कर घसीटा गया था और कुछ की गर्दन में घूँसे लगाकर आगे हाँका गया था।

ईश्वर के मित्रों ने सोने की भी उपेक्षा नहीं की। इसलिये जयपाल के कंठ से हार उतार लिया गया जो सोने में जड़े हुए बड़े बड़े मोतियों, चमकते हुए रत्नों तथा लालों का बना हुआ था और जिसका मूल्य २ ० दीनार था और इसके दूने मूल्य के हार जयपाल के बन्दी बनाये गये अथवा मारे गये सम्बन्धियों के गलों से प्राप्त हुए। ईश्वर ने अपने मित्रों को लूट में अपरिमित तथा असंख्य धन प्रदान किया उनमें ५० सुन्दर स्त्रियाँ और पुरुष भी सम्मिलित थे जिन्हें दास बना लिया गया था।

महमूद को यह विख्यात तथा शानदार विजय, मंगलवार ८ मुहर्रम हिज्री सन् ३९२ (२७ नवम्बर, १००१ ई०) के दिन प्राप्त हुई। इसके उपरान्त वह अपने देश को लौट गया; सर्वशक्तिमान ईश्वर की कृपा से उस हिन्द के एक ऐसे प्रान्त पर विजय मिली थी जो खुरासान से अधिक लम्बा, चौड़ा तथा उपजाऊ था। दोनों दलों पर इसकी जो मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया हुई उसे भी हमें नहीं भूलना चाहिये।

बहुमूल्य बन्धकों के अतिरिक्त जयपाल को अपने छुटकारे के लिये २५,० दीनार और देने पड़े। किन्तु वह इस अपमान के आघात को सहन न कर सका। युद्ध में पराजय तो एक अवसर की बात थी; उसने पहले भी वीरतापूर्वक युद्ध किये थे और जय तथा पराजय भोगी थी। किन्तु म्लेच्छों द्वारा वह बन्दी बनाया गया और महमूद ने उसके साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया बस, उसका उसके देश के विधान में एक ही प्रायश्चित था और उसे उसने सहर्ष स्वीकार किया। अपने हाथों से सजाई हुई चिता में बैठ कर वह भस्म हो गया।

जैसी कि आशा की जा सकती थी, महमूद तथा उसके सहधर्मियों पर उसका आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। सरल विजय ने उनके आत्म-विश्वास को द्विगुणित कर दिया और लूट के धन से उनकी धन लिप्सा और भी अधिक तीव्र हो गई। धर्म ने युद्ध को जिहाद कह कर इस लोभ पर औचित्य की मोहर लगा दी।

धर्म-द्रोहियों के विरुद्ध युद्ध

महमूद के आक्रमणों का एक अन्य पहलू भी था। सिन्ध तथा मुल्तान पहले से ही मुस्लिम प्रान्त थे, किन्तु जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, वे हर प्रकार के धर्म-द्रोहियों के लिये शरण-स्थान बन गये थे। इनमें करमाथी सबसे अधिक घृणित समझे जाते थे। उनके सम्प्रदाय की स्थापना हमदान करमत ने की थी और सनातनी इस्लाम को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। यहाँ तक कि उन्होंने मक्का पर आक्रमण कर दिया था और काबा के काले पत्थर तथा अन्य धार्मिक अवशेषों को उठा ले गये थे। मुल्तान का शासक अब्दुल फतेह दाऊद इसी सम्प्रदाय का अनुयायी था; इसलिये महमूद की दृष्टि में वह मूर्तिपूजक काफिरों की ही भाँति दण्ड का अधिकारी था। यही कारण था कि १००४-५ ई० में झेलम के बायें तट पर स्थित भीरा पर आक्रमण करते समय महमूद ने मुल्तान को विजय करने का भी संकल्प किया। किन्तु जयपाल के पुत्र आनन्दपाल ने उसे रोकने का प्रयत्न किया। आनन्दपाल की सेना तितर-बितर हो गई और मुल्तान से २०,००० दिरहाम जुरमाने के रूप में वसूल किया गया 'जिससे कि वहाँ के शासक अपने पापों का प्रायश्चित कर सकें।' इसके बाद वह अपने विजित प्रदेशों को नौशा शाह (सेवकपाल) नामक एक हिन्दू के, जिसने इस्लाम अंगीकार कर लिया था, हाथों में छोड़ कर काबुल को लौट गया।

एक राष्ट्रीय चिनौती

किन्तु महमूद का यह प्रयोग सफल नहीं हुआ, नौशा शाह स्वामिभक्त सिद्ध नहीं हुआ और महमूद को १००८ ई० में फिर आना पड़ा। नौशा को इस्लाम त्यागने के अपराध में दण्डस्वरूप ४००,००० दिरहाम देने पड़े। उस समय तक मुल्तान के दाऊद तथा आनन्दपाल ने सयुक्त मोर्चा बना लिया, जैसा कि आगे चल कर पाँच शताब्दियों बाद राणा साँगा तथा हसनखाँ मेवाती ने बाबर के विरुद्ध किया। उज्जैन, ग्वालियर, कलिंग, कन्नौज, दिल्ली तथा अजमेर के राजाओं के सम्मिलित हो जाने से यह संघ अत्यधिक शक्तिशाली बन गया।

फरिश्ता लिखता है कि 'इन लोगों ने अब मुसलमानों को भारत से निकाल भगाना अपना पवित्र कर्तव्य समझा। आनन्दपाल ने स्वय सेना का नेतृत्व किया और आक्रमणकारी का सामना करने के लिये आगे बढ़ा...... "काफिरों की सेना में दिन प्रति दिन वृद्धि होती गई और हर दिशा से उन्हें सहायता मिलने लगी। इस अवसर पर हिन्दू स्त्रियों ने अपने आभूषण बेच दिये और जो धन मिला उसे अपने पतियों के पास भेज दिया जिससे उन्हें युद्ध की आवश्यकता की सब वस्तुएँ मिल सकें और वे सच्चे मन से लड़ाई में भाग ले सकें। जो गरीब थीं उन्होंने सूत कात कर तथा अन्य परिश्रम करके

भगा दिया। सुल्तान ने अनुभव किया कि इस अवसर पर काफिरों का आचरण अत्यधिक लगन का है इसलिये पहला आक्रमण करने में पर्याप्त सावधानी बरतने की आवश्यकता है।'

परिस्थिति का सामना करने लिये महमूद ने अपनी रणनीति बदल दी। इस बार उसने पहले आक्रमण नहीं किया, जैसा कि आठ वर्ष पूर्व उसने जयपाल के विरुद्ध किया था; बल्कि पशावर के मैदान में खाइयाँ खोद कर मोर्चा लगा लिया।

फरिश्ता लिखता है 'सुल्तान की सावधानियों के बावजूद भी जब युद्ध ने तेजी पकड़ी तो ३०,००० काफिर खोक्खर नंगे सिर तथा नंगे पैर भाले तथा अन्य हथियार लेकर महमूद की दो पाँतों को तोड़ कर घुस गये और घुड़सवार दल के मध्य में पहुँच कर अपनी तलवारों, भालों और बर्छियों से सैनिकों तथा घोड़ों को ऐसा काटा कि कुछ ही मिनट में तीन चार हजार मुसलमानों का संहार हो गया। इन खोक्खर पैदलों का प्रहार इतना सफल हुआ कि उनके मनोवेग्माद को देख कर सुल्तान स्वयं लड़ाई के घमासान से चौंक उठा और उस दिन का युद्ध बन्द करने की सोचने लगा। कुछ लेखकों के वर्णन से पता लगता है कि उसने पीछे लौटने तक का विचार कर लिया था। किन्तु जैसा कि उस युग की भारतीय सेनाओं में बहुधा हुआ करता था, इस अवसर पर भी वही दुर्घटना हो गई जो अरबों के विरुद्ध युद्ध में दाहिर के साथ हुई थी। जिस हाथी पर आनन्दपाल सवार था 'वह ज्वलनशील गोलों तथा बाणों की मार के कारण काबू के बाहर हो गया और पीछे मुड़कर भाग खड़ा हुआ। हिन्दुओं ने समझा कि हमारा सेनापति भाग गया है इसलिये वे सब भी भाग खड़े हुए। परिणाम यह हुआ कि इस पीछे लौटने में आठ हजार हिन्दू मारे गये। पीछा करनेवालों के हाथ तीस हाथी तथा अपार धन लगा जिसे उन्होंने सुल्तान के सुपुर्द कर दिया।

इस प्रकार मध्य युगीन भारत का विदेशियों के विरुद्ध किया गया यह सबसे अधिक संगठित आश्चर्यजनक तथा संकल्पयुक्त प्रयत्न असफल रहा। इस अत्यधिक सौभाग्यपूर्ण सफलता से प्रोत्साहित होकर महमूद हिन्दुस्तान में आगे की ओर बढ़ता आया।

स्वर्ण राशि की लूट

अब तक महमूद ने जो कुछ किया था वह प्रयोग के रूप में था; अथवा उसे भाग्य का खेल कहिये। तुर्कों के लिये भारतीय आक्रमण शीतकालीन खेल के सदृश था। जब अपने राज्य के प्रान्तों की परिस्थितियाँ अनुकूल होतीं तभी वे हिन्दुस्तान के मैदानों पर धावा बोल देते। शीतकाल में यहाँ जाड़ा भी उतना कड़ा नहीं पड़ता था। शरद तथा शीत ऋतु में इन काफिरों के देश से धन लूट कर बसन्त तथा गर्मी की ऋतुएँ घर बिताना उनके लिये अधिक आनन्ददायक हो जाता था। इस्लाम के आन्तरिक जोश का उन्मूलन तथा मूर्तिपूजा का नाश

करना भी 'ईश्वर के मित्रों' के ' आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद' होता था। किन्तु १००८ ई० में पेशावर के युद्ध में भारतीय राष्ट्रीय मोर्चे की पराजय ने महमूद की ओडेसी (महाकाव्य) का एक नया अध्याय प्रारम्भ कर दिया। उसके बाद वह निश्चितरूप से स्वर्णचर्म की तलाश में जुट गया।

नगरकोट (१००६ ई०), थानेश्वर (१०१४ ई०), मथुरा (१०१८ ई०), कन्नौज (१०१६ ई०) और सोमनाथ (१०२५ ई०) सोने के अक्षर थे जो महमूद के लोलुप हृदय की पट्टी पर लिखे हुए थे। इन स्थानों के धन-कोषों को वह लोभ-पूर्ण दृष्टि से देखा करता था। १००८ ई० में नगरकोट (काँगड़ा) के प्राचीन मन्दिर की लूट से मानों इस चीते (महमूद) को रक्त का स्वाद मिल गया। उसकी लोलुपता तब तक शान्त नहीं हुई जब तक कि १०२५ ई० में उसने सोम-नाथ को नही लूट लिया। तब नियति ने उसे गजनी लौटने को बाध्य किया।

महमूद अनुभवी सैनिक था। भय के लिये उसके हृदय में स्थान नही था। फिर भी पञ्जाब के ब्राह्मण राजा जयपाल के बाद जिसने सच्चे क्षत्रिय की भावना से युद्ध किया था, उसे इस देश के राजाओं में उस धातु का बना हुआ कोई शत्रु नहीं मिला। उसकी सेना हिन्दुस्तान के राज्यों के बीच में होकर उसी भाँति दौड़ गई जैसे कि 'केश-समूह में होकर कंघा'। जिधर से भी महान् सुलतान निकल गया किलों तथा नगरों ने उसके सामने आत्म-समर्पण कर दिया। निकम्मे राजाओं ने अपने अनुयायी उसकी सेवा के लिये भेज दिये। आवश्यकता पड़ने पर उसने युद्ध भी किया, किन्तु बहुधा केवल अपनी प्रतिष्ठा के कारण ही उसे विजय प्राप्त हो जाती थी। ऐसा लगता है कि पेशावर के बाद सारे देश को लकवा मार गया था। राजाओं से उसे जमकर लड़ाई नहीं लड़नी पड़ी, किन्तु उसके वीर सैनिकों की लिप्सा को प्रज्वलित करने के लिये यहाँ के मन्दिरों में अपार धन था। मूर्ति-मन्दिरों को नाश करने के पवित्र कार्य से वे एक ही साथ ईश्वर तथा लक्ष्मी (धन देवी) दोनों को प्रसन्न कर सकते थे।

एक के बाद एक, हर मन्दिर में वही कहानी दुहराई गई। "हिन्दुओं ने शत्रु को टिड्डी-दल की भाँति, आते हुए देखा; भय के मारे उन्होंने फाटक खोल दिये और उसी तरह भूमि पर गिर गये जैसे बाज के सामने चिड़ियाँ अथवा बिजली के सामने वर्षा का जल।" उतबी के अनुमान से नगरकोट की लूट में उन्हे इतनी धन-राशि मिली कि जितने भी ऊँट उन्हे मिल सके, उनकी पीठ पर उन्होंने उसे लाद दिया और जो बच रहा उसे पदाधिकारियों ने आपस में बाँट लिया। ७०,००० शाही दिर-हाम के मूल्य के मुद्रांकित सिक्कों तथा ७००,४०० मन सोने तथा चाँदी की शिलाओं के अतिरिक्त उन्हे ऐसे सुन्दर, कोमल तथा जड़ाऊ पहनने के वस्त्र तथा सूम के थान प्राप्त हुए जैसे कि बूढे लोगों ने भी अपनी स्मृति में कभी नहीं देखे थे। लूट के धन में श्वेत चाँदी का एक घर भी मिला जो धनी लोगों के घरों के सदृश्य था और जिसकी लम्बाई ३० तथा चौड़ाई १५ गज थी। उसके भागों को अलग-अलग करके

फिर पृथक् जोड़ा जा सकता था। रूमी कपड़े का बना हुआ एक शामियाना भी था जिसकी लम्बाई ४० और चौड़ाई २० गज थी और जो जड़े हुए दो चाँदी तथा दो सोने के खम्भों पर तना हुआ था।

महमूद ने मथुरा और वृन्दावन में जान-बूझ कर कलाकृतियों के प्रति जितनी घृणा दिखलाई उसकी जोड़ कहीं नहीं। किसी वस्तु की प्रशंसा तथा सराहना करना और फिर उसका नाश करना तो इतना भी बुरा है कि कभी उसकी सराहना की ही न जाय। एलारिक गोथ अथवा एटिला हूण अथवा नॉर्मन सूरमा रॉबर्ट गिस्कार्ड ने भी जिसने १०८४ ई० में मुसलमानों से मिल कर रोम को घेर डाला था, मानवता तथा सभ्यता के विरुद्ध इतना घोर पाप नहीं किया जितना कि महमूद ने। खलीफ़ा उमर ने भी सिकन्दरिया के पुराने पुस्तकालय का नाश इसलिए किया था कि वह उस निधि के महत्व से पूर्णतया अनभिज्ञ था। इसलिए महमूद ने मथुरा में जो कुत्सित आचरण किया उसका संसार के इतिहास में अन्य उदाहरण नहीं है। उतबी के वर्णन के सामने उसके कुकृत्य की निन्दा करना व्यर्थ है।

उसी का दरबारी इतिहासकार लिखता है कि जब महमूद मथुरा पहुँचा तो 'उसने एक ऐसा नगर देखा जो योजना तथा निर्माण दोनों की दृष्टि से इतना आश्चर्यजनक था कि उसे देख कर यह कहना पड़ता कि यह स्वर्गीय भवन है। किन्तु उसका सौन्दर्य नारकीय लोगों (हिन्दुओं) की कृति थी इसलिये यदि किसी बुद्धिमान मनुष्य के सम्मुख उसका वर्णन किया जाता तो उसे उसमें शायद ही विश्वास होता। उसके चारों ओर उन्होंने पत्थर के एक हजार किले बना रक्खे थे जिनसे वे मन्दिरों का काम लेते थे। और नगर के बीच में उन्होंने एक ऐसा मन्दिर बनाया था जो अन्य सब मन्दिरों से ऊँचा था। उसके सौन्दर्य तथा सजावट का वर्णन करने में सब लेखकों की लेखनियाँ और सब चित्रकारों की तूलिकाएँ भी समर्थ नहीं। उनमें इतनी शक्ति नहीं होगी कि उस पर अपना ध्यान केन्द्रित करके उसके विषय में विचार कर सकें। सुल्तान ने अपनी यात्रा के जो संस्मरण लिखे उसमें उसने कहा कि यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार का भवन बनाना चाहे तो उसे एक-एक हजार दीनार की १०,००० थैलियाँ खर्च करनी पड़ेंगी और फिर भी वह अधिक से अधिक कुशल शिल्पियों की सहायता से भी उसे २०० वर्ष में भी पूरा नहीं कर पायगा। इसके बाद उतबी शुद्ध सोने की बनी हुई पाँच मूर्तियों का वर्णन करता है, जिनमें से प्रत्येक पाँच हाथ ऊँची थी और उनमें से एक में एक लाल रत्न जड़ा हुआ था जिसे यदि बाजार में रक्खा जाता और ५०,००० दीनार उसका मूल्य बतलाया जाता तो सुल्तान उस मूल्य को कम मानता और बड़ी उत्सुकता से उसे खरीद लेता। एक दूसरी मूर्ति पर 'एक ठोस नीलम जड़ा हुआ था जिसकी कान्ति नीलाम्बर की सी थी और जिसका मूल्य ४०० मिस्काल था।' एक तीसरी मूर्ति के केवल दो चरणों से ४००,०० मिस्काल सोना प्राप्त हुआ। चाँदी की मूर्तियाँ 'सौगुनी थीं इसलिये जिन लोगों ने उनके वजन का

अनुमान लगाया उन्हें उनके तौलने में बहुत समय लगा।' उन्होंने सम्पूर्ण नगर को ध्वस्त कर दिया और कन्नौज की ओर कूच कर गये।

मध्यकालीन हिन्दू भारत में कन्नौज का वही स्थान था जो प्राचीन भारत में पाटलिपुत्र का और मुस्लिम युग में दिल्ली का। जब से हर्ष ने थानेश्वर छोड़ा था तब से वह (कन्नौज) हिन्दुस्तान की राजधानी बना हुआ था। महान् गुर्जर-प्रतिहार राजाओं ने इसी केन्द्र से शासन किया। इसलिये महमूद द्वारा इस नगर के लूटे जाने का वास्तविक अर्थ होता भारत में गजनी साम्राज्य की स्थापना। किन्तु उसका उससे अधिक महत्त्व नहीं हुआ जितना कि बाद के युग में तिमूर और नादिरशाह द्वारा दिल्ली के लूटे जाने का। बुतशिकन महमूद को भारत में इस्लामी सत्ता स्थापित करने से उतना प्रयोजन नहीं था जितना कि लूटमार से।

राज्य स्थापित करने का काम उसने अपने अफगान उत्तराधिकारी मुहम्मद गोरी (११६३–१२०६ ई०) के लिये छोड़ रखा था। कन्नौज में भी नगरकोट, थानेश्वर और मथुरा के कार्य दुहराये गये। प्रतिहार राजा राज्यपाल ने आत्म-समर्पण कर दिया। नगर के सात किले एक दिन में हस्तगत कर लिये गये। '१०,००० मन्दिरों' को लूटा और नष्ट किया गया। इसके बाद महमूद गजनी को लौट गया। अपने साथ वह ३०००,००० दिरहाम की लूट की सम्पत्ति तथा ५५,००० गुलाम और ३५० हाथी ले गया।

महमूद के इन कार्यों का इस्लामी जगत पर अत्यधिक गहरा प्रभाव पड़ा। जितना गहरा और महान् प्रभाव इस समय पड़ा उतना उस समय भी न पड़ा जब कि आगे चल कर बाबर ने भारत के लूट के धन को अपने सहधर्मियों में अपव्ययतापूर्ण ढंग से लुटाया। महमूद द्वारा सोमनाथ की लूट का वर्णन करने के उपरान्त हम अन्तिम रूप से इसका मूल्यांकन करेंगे। उससे पहले हम इस संकटपूर्ण परिस्थिति में हिन्दू भारत की क्या दशा थी, उसकी एक झाँकी प्राप्त कर लें।

हिन्दू भारत की एक झाँकी

इस समय तक महमूद भारत पर कई आक्रमण कर चुका था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सिनिक लोगों की भाँति हिन्दू सोचते थे कि 'इतिहास से हमें एक ही सबक मिलता है, वह यह कि इतिहास से हमें कुछ नहीं सीखना है।' यदि तत्का-लीन लेखक अल-बरुनी का जिसके विषय में अधिक विस्तार से हम आगे लिखेंगे, विश्वास किया जाय, तो हमें पता लगता है कि आनन्दपाल ने अपनी पराजय के बाद महमूद को इस आशय का पत्र लिखा, "मुझे ज्ञात हुआ है कि तुर्कों ने आपके विरुद्ध विद्रोह कर दिया है। यदि आपकी इच्छा हो तो मैं आपकी सहायता के लिये आऊँ अथवा अपने पुत्र को ५०० घोड़ों, १००० सैनिकों और १०० हाथियों के साथ

आपकी सेवा में भेज दूँ। आपने मुझे जीत लिया है इसलिये मैं नहीं चाहता कि आप पर कोई अन्य व्यक्ति विजय प्राप्त कर सके।' फिर भी ऐसा ज्ञात होता है कि आनन्दपाल के पुत्र त्रिलोचनपाल ने काश्मीर के सेनापति तुग की सहायता से महमूद के विरुद्ध युद्ध जारी रक्खा; जिसके अध्याय में हम इसके विषय में लिख आये हैं। किन्तु उन दोनों की पराजय हुई। त्रिलोचनपाल के पुत्र भीम को भी हार खानी पड़ी। वह भाग कर काश्मीर पहुँचा और इस प्रकार उसने इस युद्ध में भी मुसलमानों को आमन्त्रित किया। कहा जाता है कि इस अवसर (१ १२ ई०) पर महमूद ने काश्मीर को लूटा और बहुत से लोगों को इस्लाम स्वीकार करने पर बाध्य किया। १०१८ ई० में वह गजनी से फिर लौटा और मार्ग में यमुना को पार किया। बरन (बुलन्द शहर) के राजा हरदत्त ने आत्म समर्पण कर दिया और अपने १० ००० अनुयायियों के साथ मुसलमान बन गया। महावन के कुलचन्द्र नामक एक अन्य सरदार ने वीरतापूर्वक आक्रमणकारी का सामना किया किन्तु अपने २० ००० साथियों सहित वीरगति को प्राप्त हुआ। कहा जाता है कि उनके रक्त से यमुना लाल हो गई।

कन्नौज के घेरे (१०१९ ई०) के बाद एक बार फिर महमूद ने अपनी सेना लेकर देश को पद्दाक्रान्त कर डाला और मु ज, असनी शरवा, ग्वालियर और कालिंजर के किले जीत लिये। हिन्दू राजाओं ने मिलकर काम करने की अपेक्षा आपस में ही झगड़ा कर लिया। पहले कन्नौज के राज्यपाल को अकेले ही आक्रमणकारी का सामना करना पड़ा और इसलिये वह समर्पण करने पर बाध्य हुआ। किन्तु बाद में अपनी इस दुर्बलता के लिये उसे दण्ड भोगना पड़ा। जैसे ही महमूद ने पीठ फेरी, कालिंजर के चन्देल राजा गण्ड ने ग्वालियर के राजा को साथ लेकर राज्यपाल पर आक्रमण कर दिया और उसे मार डाला। इस कारण फिर एक बार महमूद को हिन्दुस्तान के मैदानों में उतरना पड़ा और यहाँ के झगड़ालू राजाओं को उसने अन्तिम रूप से कुचल दिया। पहले तो उन्होंने विशाल सेना (फरिश्ता के अनुसार ३६, ०० घोड़े, ४५, पैदल और ६४० हाथी) लेकर प्रदर्शन किया किन्तु बाद में दुम दबा कर भाग गये। सदैव की भाँति इस बार भी महमूद की विजय हुई और राजाओं ने उसके सम्मुख समर्पण कर दिया। लूट में उसे अपार धन और हाथी मिले। १ २२ ई० में महमूद गजनी को लौट गया।

बुत-शिकन का अन्तिम कृत्य

इस नाटक का अन्तिम अङ्क १०२५ ई० में खेला गया। १० अक्टूबर, १ २४ ई० को महमूद ने अपनी राजधानी से प्रस्थान किया। २५ वर्ष पूर्व अपने प्रथम बार सीथ युद्ध में जितनी सेना लेकर वह लड़ा था, इस बार वह अपने साथ उससे दूनी सेना लाया। अपने चुने हुये योद्धाओं के आगे आगे उसने स्वयं कूच किया। इसके अतिरिक्त तुर्किस्तान तथा अन्य देशों से लूट के लोभ से ३०,० ० स्वयं सेवक उसके साथ हो लिये। २० नवम्बर, १ २४ ई० को वे मुलतान पहुँचे। इस

वार उनका उद्देश्य था काठियावाड के तट पर स्थित सोमनाथ के मन्दिर को लूटना। धन तथा महत्त्व की दृष्टि से यह मन्दिर उन सब स्थानों से अधिक बढ़ा-चढ़ा था जिन्हें इससे पहले महमूद लूट चुका था। चूँकि मार्ग साँभर (अजमेर) तथा अन्हिलवाड (पाटन) होता हुआ दुर्गम रेगिस्तान के बीच से जाता था, इसलिये इस बार महमूद ने बड़ी सावधानी से तैयारियाँ कीं। "हर सैनिक को अपने साथ कई दिन के लिए चारा, पानी तथा भोजन ले चलने की आज्ञा दी गई और इसके अतिरिक्त रेगिस्तानी मार्ग तय करने के लिये महमूद ने स्वयम् अपने ३०,००० ऊँटों पर पानी तथा रसद लदवाई।" जनवरी १०२५ ई० में जब महमूद अन्हिलवाड़ पहुँचा तो उसने देखा कि राजा भीमदेव तथा अधिकतर नगर निवासी भाग गये हैं। जो बच रहे वे पराजित हुये और उन्हें लूट लिया गया। मार्ग में देवलवाड़ा में लोग इस विश्वास में अपने-अपने स्थानों पर डटे रहे कि महान् सोमनाथ की कृपा से उनके भक्तों का कोई बाल भी बाँका न कर सकेगा। इस दुखान्त नाटक के अन्तिम दृश्य को इब्न-अल-अथिर के शब्दों में वर्णन करना अधिक उपयुक्त होगा।

जुलकदा के मध्य में बृहस्पतिवार के दिन ईश्वर के मित्र सोमनाथ पहुँचे और समुद्र तट पर बना हुआ 'एक विशाल दुर्ग देखा, जिसके चरणों को समुद्र की लहरें प्रक्षालित करती थीं। दुर्ग के निवासी दीवालों के ऊपर बैठे हुये मुसलमानों को देख कर परिहास कर रहे थे और उनसे कह रहे थे कि हमारा देवता तुम्हारे एक-एक आदमी को काट डालेगा और सबका नाश कर देगा। दूसरे दिन शुक्रवार को आक्रमणकारियों ने आगे बढ कर धावा बोल दिया और जब हिन्दुओं ने मुसलमानों को लड़ते हुए देखा तो वे दीवालों से अपने-अपने स्थानों को छोड कर भाग गये। मुसलमानों ने दीवालों के सहारे अपनी सीढ़ियाँ लगादीं और शिखर पर पहुँच गये, तब उन्होंने धार्मिक युद्ध घोष द्वारा अपनी विजय की घोषणा की और इस्लाम की शक्ति का प्रदर्शन किया। तदुपरान्त भीषण नरसंहार प्रारम्भ हुआ और स्थिति ने विकराल रूप धारण कर लिया।

'हिन्दुओं का एक दल दौडकर सोमनाथ के पास पहुँचा, देवता के सम्मुख अपने को फैंक दिया और उससे विजय की भीख माँगी। रात्रि होते ही युद्ध स्थगित हो गया। दूसरे दिन तडके ही मुसलमानों ने फिर युद्ध आरम्भ कर दिया, हिन्दुओं का भयकर विध्वंस किया और अन्त में उन सबको नगर से भगा कर सोमनाथ के मन्दिर में शरण लेने पर बाध्य किया। मन्दिर के फाटक पर भीषण नर-संहार हुआ। रक्षकों के दल के दल अपने गलों को हाथों से पकड़े हुये मन्दिर में पहुँचे, बिलख-बिलख कर रोये और सोमनाथ से प्रार्थना की, इसके बाद वे फिर युद्ध के लिये निकल कर आये और अन्त में मारे गये। बहुत थोड़े बच सके। वे भी भाग निकलने के उद्देश्य से नावों में बैठकर समुद्र में कूद पड़े, किन्तु मुसलमानों ने उन्हें पकड लिया। कुछ मारे गये और कुछ डूब गये।'

मुख्य मूर्ति को तोड़ कर टुकड़े कर दिये गये और उन्हें गजनी, मक्का तथा बगदाद भेज दिया गया जिससे सच्चे मुसलमान उन्हें अपने पैरों के नीचे रौंद

सकें। 'मन्दिर का कोष पास ही में था और उसमें सोने तथा चाँदी की अनेक मूर्तियाँ थीं। उसके ऊपर रत्नजटित पर्दे लटक रहे थे; उनमें से प्रत्येक का मूल्य अत्यधिक था। मन्दिर में जो कुछ प्राप्त हुआ उसका मूल्य २,०००,००० दीनार था; उस सब पर अधिकार कर लिया गया। मरे हुओं की संख्या ५० ०० से अधिक थी।

इस प्रकार मध्ययुगीन हिन्दू भारत का पवित्रतम स्थान भ्रष्ट किया गया और लूटा तथा ध्वस्त किया गया। मूर्ति के स्नान के लिये प्रतिदिन गंगाजल लाया जाता था और हर ज्वार के साथ समुद्र मन्दिर की सीढ़ियों को स्नान कराता था। मन्दिर के व्यय के लिये १०,००० गाँव लगे हुए थे और फिर भी देश के सभी भागों से बहुमूल्य भेंटें आती रहती थीं। मन्दिर के घण्टे सोने की जंजीरों में लटके हुए थे जिनकी तौल २०० मन थी। 'देवता की पूजा तथा अतिथियों के सत्कार के लिये १,००० ब्राह्मण मन्दिर में कार्य करते थे और द्वार पर ५०० नर्तकियाँ गाया तथा नाचा करती थीं।' जकरिया अल कजवीनी लिखता है कि सोमनाथ की मूर्ति उस स्थान की सबसे अधिक आश्चर्यजनक वस्तु थी।

'यह मन्दिर के बीच में स्थित थी और नीचे अथवा ऊपर से किसी ओर से सधी नहीं थी। हिन्दू उसका आत्यधिक सम्मान करते थे और मुसलमान अथवा काफिर जो भी उसे आकाश में लटकते हुए देखता विस्मय से चकित रह जाता था। जब कभी चन्द्र ग्रहण पड़ता हिन्दू उसके दर्शन के लिये आया करते और एक लाख से भी अधिक की संख्या में वहाँ एकत्रित होते।

'सुल्तान महमूद ने अपने साथियों से पूछा यह मूर्ति बिना किसी सहारे के आकाश में सधी हुई है इस आश्चर्य के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या विचार है? तब उनमें से बहुत लोगों ने कहा कि कोई छिपी हुई चीज इसे साधे हुए है। सुल्तान ने एक आदमी को भेजा कि भाले से इसके चारों ओर तथा ऊपर और नीचे देखो; उसने वैसा ही किया किन्तु कोई चीज न मिली। तब एक सेवक ने कहा कि यह मण्डप चुम्बक पत्थर का बना हुआ है और मूर्ति लोहे की है। कुशल शिल्पियों ने ऐसी चतुराई से काम लिया है कि चुम्बक का किसी एक ओर भी दूसरी ओर से अधिक प्रभाव न पड़े। इसीलिये मूर्ति बीच में सधी हुई है। कुछ लोग इस मत से सहमत हुए और कुछ ने विरोध किया। विवाद शान्त करने के लिये सुल्तान से मण्डप के ऊपर के कुछ पत्थरों को हटाने की आज्ञा माँगी गई। दो पत्थरों के हटाये जाने पर मूर्ति का सिरा एक ओर को झुक गया जब और अधिक पत्थर हटाये गये तो मूर्ति और अधिक झुक गई और अन्त में पृथ्वी पर गिर पड़ी।

सोमनाथ के लूट के माल से लदा हुआ महमूद पश्चिम के मार्ग से सिन्ध में होता हुआ गजनी को लौट गया; मार्ग में उसे दो-एक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। यद्यपि अब उसकी अवस्था ? वर्ष से अधिक हो चुकी थी और

घर के निकट उपद्रव उसे घेरे हुए थे, फिर भी १०२७ ई० में उसने सिन्ध के जाटों को जिन्होंने पिछले वर्ष उसे कष्ट पहुँचाया था, दण्ड देने के उद्देश्य से अन्तिम आक्रमण किया। इसके साथ-साथ भारत में उसके कार्यों का अन्त हो गया। उसने केवल एक भारतीय प्रान्त—पंजाब—को अपने राज्य में मिलाया। उसके शासन-सम्बन्धी इतिहास के विषय में हम आगे लिखेंगे। यहाँ हम उस महान् बुतशिकन (मूर्ति-भंजक) के कार्यों का मूल्यांकन करेंगे।

महमूद का मूल्याङ्कन

हिन्दुस्तान के परवर्ती मुसलमान शासकों की भाँति महमूद के चरित्र के भी दो पक्ष थे। भारत में निर्दयतापूर्वक मन्दिरों की लूट करनेवाला सुलतान अपने राज्य की प्रजा के लिये एक आदर्श सुसंस्कृत शासक था। कहा जाता है कि तिमूर की भाँति महमूद की मुखाकृति भी चेचक के दागों के कारण बहुत कुरूप हो गई थी और वह राजाओं जैसे हाव-भाव द्वारा अपने इस दोष को ढकने का प्रयत्न किया करता था। यह कहना सत्य होगा कि उसने भारत में जो आचरण किया उसमें उसके चरित्र की पहली विशेषता प्रतिबिम्बित हुई और उसके चरित्र का दूसरा पक्ष अपने राज्य में अपनी प्रजा के प्रति किये गये उसके व्यवहार में प्रकट हुआ। यद्यपि इस्लामी जगत में उसकी जो ख्याति थी, उससे हमारे ऊपर उतना सीधा प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि उसके इस देश में किये गये कार्यों से, फिर भी हमारे लिये उसके चरित्र के दूसरे पक्ष की उपेक्षा करना उचित नहीं होगा और इसके कारण भी स्पष्ट हैं।

जब १०२६ ई० में अपने अन्तिम तथा अत्यधिक दुःसाध्य आक्रमण के उपरान्त महमूद लौटकर गजनी पहुँचा और वहाँ के निवासियों की लोलुप दृष्टि के सामने अपनी लूट का अतुल धन फैलाकर प्रदर्शित किया, उस समय समस्त इस्लामी जगत उसकी प्रशंसा तथा जय-जयकार से गूँजने लगा। खलीफा ने उसे तथा उसके पुत्रों को नये सम्मानों तथा उपाधियों से विभूषित किया। यद्यपि महमूद का जीवन-चरित्र लिखनेवाले आधुनिक प्रबुद्ध भारतीय लेखक प्रोफेसर हबीब का विचार है कि "इस्लाम के अनुसार न तो आक्रमणकारी का कला-कृतियों के प्रति बर्बर आचरण ही उचित था और न उसके लूट के उद्देश्य ही।" किन्तु महमूद बुत-शिकन के समसामयिक लोग उसे निःसन्देह एक महान गाजी और अपने युग का महानतम मुस्लिम शासक समझते थे। यह प्रशंसा तथा सराहना किसी प्रकार से अतिशयोक्तिपूर्ण भी नहीं कही जा सकती। महमूद का साम्राज्य बगदाद खलीफा के साम्राज्य से भी अधिक विस्तृत था। खलीफा नाममात्र के लिये इस्लामी जगत का प्रमुख था और उसमें भी काहिरा तथा करडोवा के खलीफा उसके प्रभुत्व में साझीदार थे। घर के अधिक निकट खलीफा के राज्य में तुर्की तथा अन्य सरदार साझीदार बन गये थे, जिनमें उस समय महमूद सबसे अधिक शक्तिशाली था। गजनी के शासक की शक्ति इतनी बढ़ गई

थी कि उसने अपने जाति के लोगों को ही आतंकित नहीं किया बल्कि खलीफा भी अपनी स्थिति को संकटपूर्ण समझने लगा। ई० बी० हैविल लिखते हैं 'बग़दाद को भी वह उसी भाँति बिना किसी सोच विचार के लूट लेता जैसे उसने सोमनाथ को लूटा था, यदि उसके लिये यह काम उतना ही लाभदायक और सरल होता; क्योंकि जब खलीफा ने समरकन्द उसके हवाले करने से इन्कार किया तो उसने उसे मृत्यु की धमकी दी।" ऐसा शक्तिशाली शासक यदि प्रतिष्ठा का भूखा होता और यदि उसकी वृद्धि के साधन भी उसके पास होते तो वह केवल विजयों से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता। महमूद बर्बर नहीं था यद्यपि भारतीय आक्रमणों के समय बर्बरतापूर्ण कृत्य करने का अपराध उसके सिर पर था।

जैसा कि सात शताब्दियों बाद फ्रांस के लुई चौदहवें ने किया, महमूद ने भी अपनी राजधानी तथा दरबार को एक सौर मण्डल का रूप दिया जिसका अधिष्ठाता सूर्य वह स्वयं था। ग़ज़नी को सुशोभित करने के लिये महान् शिल्पी विद्वान्, कवि तथा कलाकार विस्तृत साम्राज्य के विभिन्न भागों से आमंत्रित किये गये। लेनपूल लिखते हैं, "नैपोलियन अपनी राजधानी पेरिस को सजाने के लिये विजित देशों से सर्वोत्तम कलाकृतियाँ लाया; महमूद ने इससे भी अच्छा काम किया, वह अपने दरबार को प्रकाशमान बनाने के लिये स्वयं कलाकारों और कवियों को ही ले आया। उसने ऑक्सस के नगरों से, कैस्पियन के तट से, ईरान और खुरासान से, पूर्वीय साहित्यिक नक्षत्रों को अपनी सेवा में आमंत्रित किया और उन्हें अपने प्रतापकारी सूर्य के चतुर्दिक उसी प्रकार भ्रमण करने के लिए बाध्य किया—उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं—जैसे सूर्य के तेज मण्डल में अन्य नक्षत्र।" यहाँ पर हम इन नक्षत्रों में से कुछ ही का जो सबसे अधिक प्रकाशमान थे उल्लेख कर सकेंगे। यदि हम उन्हें भारतीय दूरबीन से देखें तो अलबरूनी उन सबको—शाहनामा के विख्यात रचयिता फिरदौसी को भी ढक लेता है। उसके बाद महमूद के सचिव इतिहासकार उतबी का स्थान था जिसके निजी कामधारी पर आधारित वर्णनों के लिये हम इतने ऋणी हैं। इनके अतिरिक्त बैहाकी का नाम भी उल्लेखनीय है जिसे लेनपूल ने 'पूर्वीय मि० पैपीज़' कहा है। उसके गपशपयुक्त संस्मरण उतबी द्वारा प्रस्तुत किये गये नीरस चित्रों को अधिक रंगीन बना देते हैं।

इनके तथा अन्य लोगों और विशेषकर फिरदौसी के सम्बन्ध में मध्यकालीन भारतीय इतिहास के लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है। प्रसंग से बाहर न जाते हुए, यहाँ हम केवल अलबरूनी के विषय में ही कुछ शब्द लिखेंगे। वह खीवा का निवासी था और ९७३ ई० में उसका जन्म हुआ था; इस प्रकार वह सुल्तान महमूद से दो वर्ष छोटा था। किन्तु महमूद की अपेक्षा वह अठारह वर्ष अधिक जीवित रहा और १०४८ ई० में उसकी मृत्यु हुई। वह विद्वान था और 'ज्योतिष, गणित, तिथिविज्ञान, गणित-सम्बन्धी भूगोल, भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र

तथा धातुविज्ञान में पारगत था। हमारे लिये उसके 'भारतवर्णन' नामक ग्रन्थ का अधिक महत्त्व है; ग्रन्थ के विद्वान अनुवादक ने लिखा है कि "उस युग की खनखनाती हुई तलवारों, जलते हुए नगरों और लूटे गये मन्दिरों की दुनियाँ के बीच यह पूर्णरूप से निष्पक्ष अनुसन्धान का एक चमत्कारपूर्ण द्वीप है।" इसमें हिन्दुओं के इतिहास, चरित्र, जीवनप्रणाली तथा रीतिरिवाज के सम्बन्ध में अलबरूनी ने जो कुछ देखा उसका अत्यन्त सावधानी और निष्पक्ष भाव से वर्णन किया है। अलबरूनी लिखता है कि, 'दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दू लोग चीजों के ऐतिहासिक क्रम की ओर अधिक ध्यान नहीं देते और अपने राजाओं का तिथि के अनुसार क्रम बताने में बहुत असावधान हैं; और यदि जानकारी के लिये उन पर दबाव डाला जाय, तो उनकी समझ में यह नहीं आता कि क्या कहें और निरपवाद रूप से किस्से कहानी गढ़ने लगते हैं।' इस अप्रिय आलोचना के लेखक ने हमारे पुराणों का अध्ययन किया था और हमारे दर्शन, विशेषकर भगवद्-गीता की प्रशंसा की थी। उसमें उन्हें संस्कृत में पढ़ सकने की योग्यता थी। अपने स्वामी की भी अलबरूनी ने कम आलोचना नहीं की क्योंकि उसे नाश का वह ताण्डव पसन्द नहीं था जो महमूद ने भारत में रचा था। वह लिखता है कि हिन्दुओं की बिखरी हुई हड्डियाँ, 'मुसलमानों के प्रति अत्यन्त गहरी घृणा को जीवित रखे हुये हैं। यही कारण है कि हिन्दुओं के विज्ञान देश के उन भागों से जिन्हें हमने जीत लिया है भाग कर काश्मीर, बनारस आदि अन्य स्थानों में चले गये हैं जहाँ हम नहीं पहुँच सकते।'

महमूद के सम्बन्ध में अब इससे अधिक और कुछ कहना शायद ही उपयुक्त हो। उसकी न्याय-प्रियता के सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। सल्जूक वज़ीर निज़ामुलमुल्क (निजाम राज्य का प्रसिद्ध संस्थापक नहीं) जिसे लेनपूल ने मध्य-युगीन एशिया का सबसे अधिक बुद्धिमान तथा उच्चाशय राजनीतिज्ञ कहा है, लिखता है, "महमूद न्यायप्रिय शासक, विद्या का प्रेमी और उदार स्वभाव तथा शुद्ध धार्मिक विचारों का व्यक्ति था।" महमूद के इस मूल्याङ्कन के सम्बन्ध में हमें विवाद नहीं करना है, किन्तु निराश प्रेमी के इस विलाप को दुहराये बिना हम नहीं रह सकते, "वह सुन्दर हो तो इससे मुझे क्या, यदि मेरे प्रति उसका व्यवहार सुन्दर नहीं है।" भारत के लिये तो महमूद लुटेरों के गिरोह का प्रतिभाशाली सरदार मात्र था।

महमूद के चरित्र का एक अन्य पहलू भी है, जिस पर उसके उत्तराधिकारियों के विषय में लिखने से पहले, विचार करना आवश्यक है। अपने राज्य को स्थायी बनाने के लिये महमूद ने क्या किया? कुछ भी नहीं, बल्कि उससे भी बुरा, क्योंकि उसने अपने साम्राज्य को अपने पुत्रों में बाँटने का भी विचार किया था। लेनपूल लिखते हैं, "महमूद महान् सैनिक था और उसमें अपार साहस तथा अथक शारीरिक तथा मानसिक शक्ति थी, किन्तु वह रचनात्मक तथा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ नहीं था। हमें ऐसे किन्हीं नियमों, संस्थाओं अथवा शासन-प्रणालियों

का पता नहीं है जिनकी उसने नींव डाली हो। अपने विशाल साम्राज्य में उसने केवल ऊपरी सुरक्षा तथा व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया; संगठन तथा एकता कायम करना उसकी योजना में सम्मिलित नहीं था। उसके साम्राज्य के विभिन्न भागों का पारस्परिक सम्बन्ध इतना दुर्बल था कि जैसे ही वह स्वयं अपने सतफलतापूर्ण प्रयत्नों द्वारा उनकी रक्षा करने के लिये जीवित न रहा, वैसे ही वे फिर बिखर गये। यद्यपि एल्फिंस्टन ने महमूद के अन्य गुणों की प्रशंसा की है, तथापि उनका भी मत है कि "उसके भारतीय कार्य भी जिनके लिये उसने अपनी अन्य योजनाएँ त्याग दी थीं, किसी प्रकार के संगठन अथवा व्यवस्था की भावना का परिचय नहीं देते, वे इतने असम्बद्ध तथा अनिर्णायक थे कि हमें कहना पड़ता है कि उसमें प्राज्ञ बुद्धि का सर्वथा अभाव था अथवा हम यह मान लें कि उसके हृदय की कुत्सित भावनाओं ने उसकी बुद्धि को संकुचित कर दिया था।"

भारत तथा गजनवी वंश

इन परिस्थितियों में यह एक आश्चर्य की बात है कि महमूद की मृत्यु (१०३० ई०) के बाद ग़ज़नवी वंश १५० वर्ष से भी अधिक काल तक चलता रहा। फिर भी उसके उत्तराधिकारियों का वृत्तान्त बहुत संक्षिप्त है क्योंकि उनमें कोई महत्वशाली व्यक्ति नहीं हुआ, मसूद के बाद तो कोई हुआ ही नहीं। इसके अतिरिक्त हमें उनके आन्तरिक युद्धों तथा कलहों से प्रयोजन नहीं है। १०२ से ११८६ ई० तक के युग की विशेषताओं का सार 'क्रुद्ध नैतिक पतन तथा पराभव' इन तीन शब्दों में अन्तर्निहित है। महमूद के बाद इस वंश में अपहरणकर्त्ता तुगरिल (१ ५२ ई) समेत पन्द्रह शासक हुए। उनमें से केवल एक इब्राहीम ने चालीस वर्ष (१०२ -९९ ई) राज्य किया, बहरामशाह ने पैंतीस वर्ष (१११८-५२ ई) शासन किया; किन्तु उसके हाथों में बहुत कम शक्ति थी। इस वंश का अन्तिम सदस्य खुसरू मलिक नाममात्र के लिये छब्बीस वर्ष तक (११६०-८६ ई) सुलतान रहा। इससे बहुत पहले सल्जूक तुर्कों ने साम्राज्य को अभिभूत करना आरम्भ कर दिया था। ईरान महमूद की मृत्यु के बाद दस वर्ष के भीतर ही सदैव के लिये साम्राज्य से अलग हो गया। उस विशाल साम्राज्य में से केवल गजनी और पंजाब के प्रान्त शेष रह गये। अन्त में, महमूद के भारतीय राज्य का भी बहुत-सा भाग हाथ से निकल गया, हिन्दू राजाओं ने उसमें से जितना बन पड़ा हड़प लिया। किन्तु एक बात याद रखने की है, मसूद से लेकर खुसरू मलिक तक गजनवी वंश के सभी सुलतानों के लिये उनके कष्टों तथा विपत्तियों के समय, भारत ही शरणस्थान सिद्ध हुआ।

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, महमूद ने अपने साम्राज्य को अपने पुत्र मसूद तथा मुहम्मद के बीच बाँटने का विचार किया था। मुहम्मद को अन्धा करके कारागार में डाल दिया गया और मसूद खलीफा के आशीर्वाद से जिसे उसने अपार धन भेंट किया था, सिंहासन पर बैठा। ऐसा प्रतीत होता है गजनी का नया

सुल्तान पराक्रम में भीम के सदृश था। किन्तु रुस्तम के समान यशस्वी होने पर भी १०४० ई० में उसे सल्जूक तुर्कों के सामने झुकना पड़ा; तुग़रिलबेग़ ने मर्व के निकट दन्दनकान के युद्ध में उसे परास्त करके ईरान पर अधिकार कर लिया। मसूद ने साम्राज्य की इस हानि को दरबार के वैभव में वृद्धि करके पूरा किया।

ग़ज़नी का ऐश्वर्य

बुतशिकन महमूद के राज्य काल में ग़ज़नी का ऐसा रूपान्तर हो गया था कि "उसकी गणना खिलाफत के सबसे अधिक वैभवपूर्ण नगरों में होने लगी थी।" इस अलीबाबा ने अपने चालीस से अधिक गुलामों की सहायता से ग़ज़नी में कठोर पत्थर तथा संगमरमर की एक मस्जिद बनवाई थी और उसका नाम 'स्वर्ग-वधू' रक्खा था। बहुमूल्य कालीनों, दीवटों तथा सोने और चाँदी के अन्य आभूषणों से उसे सुसज्जित किया गया था; फरिश्ता लिखता है कि वह इतनी सुन्दर थी कि उसे देख कर हर दर्शक विस्मय से चकित रह जाता था। सुल्तान की इस सुरुचि को देख कर अमीर लोग नगर को सुसज्जित करने के लिये अपने निजी महलों तथा सार्वजनिक भवनों के निर्माण में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करने लगे। "इस प्रकार थोड़े ही समय में राजधानी सुसज्जित मस्जिदों, ड्योढ़ियों, फुव्वारों, जलकुण्डों, नहरों तथा हौजों से सुशोभित होने लगी।" सभी लेखकों के वृत्तान्तों से पता लगता है कि महमूद का दरबार शान-शौकत तथा गम्भीरता दोनों की दृष्टि से खलीफाओं के दरबार से होड़ करता था। ग़ज़नी में उसने एक विश्वविद्यालय की स्थापना की जिसमें सभी भाषाओं की दुष्प्राप्य तथा श्रेष्ठ पुस्तकें संग्रहीत की गईं। उसने प्रकृति की विचित्र वस्तुओं का एक संग्रहालय भी संगठित किया। इन विशाल संस्थाओं के व्यय के लिये महमूद ने बहुत-सा धन धर्मस्व के रूप में दे रक्खा था जिसमें से अध्यापकों तथा विद्यार्थियों को भत्ते दिये जाते थे। संक्षेप में, उसने विद्वानों तथा श्रेष्ठ व्यक्तियों के प्रति इतनी दानशीलता प्रदर्शित की कि "जितनी साहित्यिक प्रतिभा उसकी राजधानी में संग्रहीत हो गई उतनी एशिया का कोई भी शासक कभी एकत्र नहीं कर पाया था।" मसूद को आमोद-प्रमोदमय उत्सव मनाने के लिये ऐसी विरासत मिली थी। यह सब कुछ स्वर्णभूमि भारत के कारण था जिससे इतनी विलासिता और ऐश्वर्य सम्भव हो सका। भारतीय कलाकारों ने विचार प्रदान किये जिन्हें उन भारतीय शिल्पियों ने अपने मुसलमान स्वामियों के लिये कार्यान्वित किया जिन्हें बन्दी बना कर ग़ज़नी ले जाया गया था, हजारों की संख्या में दास बना कर ले जाये गये भारतीयों की सेवा के कारण ग़ज़नी के चपल तथा क्रियाशील तुर्कों, अफगानों, अरबों और ईरानियों में निर्जीव कर देने वाली आदतें उत्पन्न हो गईं, अन्त में, उन भारतीय स्त्रियों ने जिन्हें सहस्रों की संख्या में दास बनाकर ले जाया गया था, अपने दुराचारियों की शक्ति क्षीण कर दी और उनके पतन का एक कारण बनीं। महमूद

के उत्तराधिकारियों की यह दशा थी, जिस समय एक अन्य अफगान नगर ग़ोर अथवा गुर में शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी उठ खड़े हुए। इन दोनों नगरों के बीच के संघर्ष ११५५ ई० तक पराकाष्ठा को पहुँच गये, जब कि ग़ोर के अलाउद्दीन हुसैन ने अग्नि और तलवार से ग़ज़नी का सत्यानाश करके जहाँसोज़ की पदवी प्राप्त की। घृणा की यह लहर इतने भयंकर प्रकोप से आई कि महमूद की सुन्दर राजधानी उसमें डूब गई और सुलतान ने जितने अत्याचार जीवन भर में किये होंगे वे सब मात हो गये। सहस्रों की संख्या में पुरुषों का संहार कर दिया गया और स्त्रियों तथा बच्चों को दास बना लिया गया। "उन भव्य भवनों का जिनसे सुल्तानों ने अपनी वैभवपूर्ण राजधानी को सुसज्जित किया, कदाचित् एक पत्थर भी शेष न रहा जो उसके खोये हुए ऐश्वर्य की कहानी सुना सकता। यहाँ तक कि घृणा के आवेग में उस वंश की कब्रें भी खोद डाली गईं और शाही हड्डियों को कुत्तों के सामने फेंक दिया गया—किन्तु अफगानों के प्रतिशोध की ज्वाला ने भी महमूद की कब्र को जो मुसलमान सैनिकों के लिये पूजा की वस्तु थी छोड़ दिया। आधुनिक ग़ज़नी नगर से दूर पर केवल यह कब्र और दो ऊँची-ऊँची मीनारें ही ग़ज़नी के अतीत गौरव की ओर इंगित करती हैं। उन मीनारों में से एक पर सुलतान की गूँजनेवाली उपाधियाँ अंकित हैं और संगमरमर की कब्र पर यह प्रार्थना उत्कीर्ण है: महान् अमीर महमूद पर ईश्वर कृपा करे।"

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्

९६९	काहिरा में प्रथम फ़ातीमी ख़िलाफ़त की स्थापना।
९७३–१०४८	अलबरूनी, भारत का वर्णन करता है।
९९३–४	दिल्ली नगर की स्थापना।
१०१६	कैनूट का इंगलैण्ड डेनमार्क तथा नार्वे का राजा होना।
१०२२–३	चोलों तथा चालुक्यों के बीच भीषण व महान युद्ध।
१०६६	विजयी विलियम का इंगलैण्ड में आगमन।
१०७१	सल्जूक तुर्कों की अधीनता में इस्लाम का पुनरुत्थान।
१०७६–११२६	चालुक्य विक्रमादित्य की विजय यात्राएँ; विक्रम-काल का आरम्भ (१०७६ ई०)।
१०८४	रोबर्ट गिस्कार्ड द्वारा रोम की लूट।
१०८९–११०१	'काश्मीर के नीरो' हर्ष के अत्याचार।
१०९५	पोप अर्बन द्वितीय प्रथम धर्मयुद्ध का श्रीगणेश करता है।
१०९४–११४३	गुजरात का सिद्धराज मुसलमानों को संरक्षण देता और अन्याय के झगड़े में भाग लेने वाले हिन्दुओं को दण्ड देता है।
१११२–५५	महानूतम गहरवार राजा गोविन्दचन्द्र मुसलमानों के आक्रमण से

	बनारस की रचा करता है। उसका राज्य कन्नौज से पटना तक फैला हुआ है।
११३०	विष्णुवर्धन हौयसल कदम्बों की राजधानी बनवासी को लूटता है।
११३०-४६	वारंगल के काकतीय, चोलों तथा यादवों के विरुद्ध संघर्ष करते हैं।
११४७	द्वितीय धर्म युद्ध।
११५५	अलाउद्दीन गोरी (जहाँसोज़) ग़ज़नी का नाश करता है।
११६०-७	बिज्जल कालचुरि चालुक्यों के सिंहासन का अपहरण करता है। लिंगायत सम्प्रदाय की स्थापना।
११६६	सलादीन मिश्र का सुलतान।
११८२	पृथ्वीराज चन्देलों की राजधानी महोबा को लूटता है।
११८६	ग़ज़नी वंश का अन्त।
११८७	सलादीन जैरूसलम को हस्तगत कर लेता है। दक्षिण में यादव स्वतन्त्र हो जाते हैं।
११८६	तीसरा धर्म-युद्ध।
१२०२	चौथा धर्म-युद्ध।
१२०६	एबक द्वारा दिल्ली सल्तनत की स्थापना।
१२१४	चिनगिजखाँ का पेकिंग पर अधिकार।
१२१५	मैग्ना कार्टा (अधिकार पत्र) पर राजा जॉन के हस्ताक्षर।
१२१६-७५	पाण्ड्य लोग चोलों, काकतियों तथा हौयसलों की शक्ति को आच्छादित कर लेते हैं।
१२१८	चिनगिजखाँ का ख़्वारिज़्म में प्रवेश।
१२२०-३५	हौयसल, चोलों की शक्ति को क्षीण कर देते हैं।
१२२१-२२	चिनगिजखाँ का भारत पर आक्रमण। पचवाँ धर्म युद्ध।
१२२७	चिनिगिजखाँ की मृत्यु।

४

गुलामों का राज्यारोहण

मुस्लिम भारत के निर्माता

मुस्लिम सत्ता का वास्तविक संस्थापक दूसरा आक्रमणकारी मुहम्मद गोरी (११७३-१२०६ ई०) था। अरबों तथा तुर्कों ने केवल मार्ग ढूँढ़ निकाला था। उन्होंने सिन्ध, मुल्तान तथा पंजाब को जीत कर मुस्लिम साम्राज्यरूपी भवन के लिये पहले पत्थर काट कर तैयार कर दिये थे। उसकी स्थायी नींव अभी नहीं पड़ी थी। इमादुद्दीन अथवा महमूद गज़नवी ने नींव डालने का प्रयत्न भी नहीं किया था। महमूद तथा उसके उत्तराधिकारियों ने पंजाब में जो सत्ता कायम की उसने जैसा कि अभी हम देखेंगे गोरियों के भारत में प्रवेश करने के लिये देहरी के पत्थर का काम किया। इस कार्य के पूरे होते ही गज़नी के विध्वंसक मुस्लिम भारत के निर्माता बन गये।

कुतुबुद्दीन ऐबक पहला गुलाम नहीं था जो सिंहासन पर बैठा। उससे पहले महमूद गज़नवी का पिता सुबुक्तगीन तथा अन्य अनेक गुलाम ऐसा कर चुके थे। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारत में इस प्रतिष्ठा का उपभोग करने वाला मुहम्मद गोरी का गुलाम कुतुबुद्दीन पहला व्यक्ति था। जैसा कि हम अगले पृष्ठों में देखेंगे उसने केवल सिंहासन की पूर्ति ही नहीं की, बल्कि दिल्ली की मुस्लिम सल्तनत का निर्माण किया जो समय आने पर खूब फली फूली। उसके बाद दो महान गुलाम इल्तुतमिश तथा बलबन, सिंहासनासीन हुए। उन्होंने दिल्ली के प्रथम मुस्लिम राजवंश को अपमानजनक नाम (गुलाम) ही नहीं प्रदान किया, वरन् सदैव के लिये यह सिद्ध कर दिया कि व्यक्ति का पद तो केवल गिन्नी पर मुद्रा छाप के सदृश है, असली सोना तो व्यक्ति स्वयं है। तथाकथित गुलाम सुल्तानों ने शिहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी की मृत्यु (१२०६ ई०) से लेकर जलालुद्दीन फ़ीरोज़ खलजी के सिंहासनारोहण तक (१२९० ई०) अस्सी वर्ष हिन्दुस्तान में प्रभुत्व-शक्ति का उपभोग किया। यह युग भारत में

मुस्लिम साम्राज्य के बीजारोपण का काल था। इसके बाद के सौ वर्षों में, गुलामों के उत्तराधिकारियों के समय में,—खलजी (१२९०-१३२० ई०), और तुग़लक (१३२१-८८ ई०)—इस्लाम की पताका भारत के अधिकांश पर फहरायी।

ग़ज़नवियों की विरासत

महमूद ग़ज़नवी ने पंजाब को निश्चित रूप से अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था। किन्तु सूबेदार अरियारुक जिसे उसने लाहौर में नियुक्त किया था, विद्रोही निकला, इसलिये मसूद ने उसे हटाकर दूसरे को नियुक्त कर दिया। अहमद नियाल्तगीन जो स्वर्गीय सुलतान का बड़ा विश्वासपात्र था, इस पद के लिये चुना गया। सावधानी के विचार से अहमद को भारतीय प्रान्त का केवल सैनिक-भार सौंपा गया, असैनिक प्रशासन काज़ी शिराज़ के ही हाथों में रहने दिया गया। एक गुप्तचर विभाग की भी स्थापना की गई जिसके प्रमुख के पास सुल्तान तथा मन्त्रियों की सब आज्ञायें भेजी जातीं और जो प्रत्येक घटना की सूचना अपने स्वामी के पास भेजा करता था। दोहरी सावधानी के लिये सूबेदार के पुत्र को ग़ज़नी में बन्धक के रूप में रख लिया गया और वजीर ख्वाजा मैमन्दी ने नियाल्तगीन के पास निम्नांकित विचित्र सन्देश भेजा :—

'तुम दोनों को चाहिये कि दरबार को कष्ट न दो। तुम जो कुछ भी मुझे लिखो वह विस्तार से लिखो जिससे निश्चित उत्तर दिया जा सके। सुल्तान ने कुछ दाइलामी सरदारों को तुम्हारे पास भेजना उचित समझा है जिससे वे दरबार से दूर रह सकें, क्योंकि वे विदेशी हैं, इनके अतिरिक्त कुछ सन्देहास्पद व्यक्तियों तथा उद्दण्ड गुलामों को भी भेजा जाता है। जब कभी तुम युद्ध के लिये जाओ, इन्हें अपने साथ ले जाओ, किन्तु इस बात का ध्यान रक्खो कि वे लाहौर की सेना मे न मिलने पायें और न उन्हें कभी शराब पीने और न पोलो खेलने देना। उन पर नजर रखने के लिये गुप्तचर तथा सम्वाददाताओं की नियुक्ति करो, इस कर्त्तव्य के पालन में कभी असावधानी नहीं होनी चाहिये। ये सुल्तान की गुप्त आज्ञाएँ हैं, इन्हें प्रकाशित न किया जाय।'

इस प्रकार की व्यवस्था हमें विचित्र भले ही मालूम पड़े, किन्तु नियाल्तगीन के व्यवहार को देखते हुए वह सर्वथा उचित थी। उसकी महत्वाकांक्षी योजनाओं का समाचार शीघ्र ही ग़ज़नी पहुँचा। वह महमूद के वीरतापूर्ण कार्यों का अनुकरण करने के लिये उत्सुक था, इसलिये एक सेना लेकर उसने बनारस पर आक्रमण कर दिया और हिन्दुओं के उस पवित्र नगर को लूटा तथा लूट का अपार धन लेकर लाहौर को लौट गया। यदि नियाल्तगीन की विद्रोही भावनाओं के अन्य चिन्ह न प्रकट हुए होते, तो ग़ज़नी के अधिकारी उसके इस साहसिक कार्य पर आपत्ति न करते। उसने मसूद के पास अपनी सफलताओं के अतिरञ्जित समाचार भेजे, किन्तु लूट का कोई भाग ग़ज़नी नहीं पहुँचाया। उसी समय समाचार मिला कि इस धन की सहायता से उसने लाहौर के गुण्डों को बड़ा

संपथा में अपनी सेना में भर्ती कर लिया है और धोखा देने के लिये अपने को महमूद का पुत्र घोषित कर दिया है। इसलिये इससे पहले कि वह मसूद की आधीनता का जुआ उतार फेंकता, उसके विरुद्ध कामवाही करना आवश्यक होगया। यह काम तिलक नामक एक हिन्दू सेनानायक को सौंपा गया।

हिन्दू मूर्तियों को तोड़ने वाले महमूद को हिन्दू सैनिकों को अपनी सेना में भर्ती करने में कोई आपत्ति नहीं थी। ग़ज़नवियों के शासन-काल में हमें सदैव ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे पता लगता है कि हिन्दू लोग खुलकर अपने विजेताओं के युद्धों में भाग लेते थे। उनमें से बहुत कम को जिनका हम पहले ज़िक्र कर आये हैं, मुसलमान बनाया गया था। फरिश्ता लिखता है कि महमूद ने सिवन्दराय जैसे अनेक सरदारों को जिन्होंने इस्लाम अङ्गीकार नहीं किया था उनकी अश्वारोही सैनिक टुकड़ियों सहित अपनी सेना में नौकर रख लिया था। नीच जाति के हिन्दुओं के लिये जिन्हें अपने जातिमूलक समाज में उन्नति नहीं मिल सकती थे, विशेषकर नये स्वामियों की अधीनता में उन्नति के अगणित मार्ग खुले हुए थे। तिलक ऐसे ही हिन्दुओं में से एक था। वह नाई की सन्तान था। फिर भी उसकी आकृति सुन्दर थी, और बातचीत में वह प्रत्युत्पन्नमति था। इसके अतिरिक्त वह हिन्दी तथा फ़ारसी दोनों में सुलेख लिख सकता था। मसूद उसे एक गुणग्राहक स्वामी मिल गया जिसने उसे अपना निजी सचिव नियुक्त किया; हिन्दुओं से व्यवहार करते समय सुल्तान उससे सरकारी दुभाषिये अथवा व्याख्याकार का काम लिया करता था। 'शाही अनुग्रह के चिन्ह स्वरूप उसे सोने से कढ़ा हुआ एक वस्त्र एक रत्नजटित सोने का हार एक शामियाना और एक छत्र प्रदान किया गया था; उसके उच्च सरकारी पद पर प्रतिष्ठित होने की घोषणा करने के लिये हिन्दू परिपाटी के अनुसार उसके निवास स्थान पर नगाड़े बजाये गये और सुनहरी शिखरों वाले ध्वज फहराये गये थे।'

तिलक के इस उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने का मुख्य कारण मसूद की स्वार्थपरता तथा निजी योग्यता था, न कि उसकी विचारपूर्ण तथा उदार नीति। फिर भी यह स्मरण रखने की बात है कि यह पहला उदाहरण था जब गाज़ी महमूद—जिसने मूर्तिपूजक हिन्दुओं के विरुद्ध जिहाद का व्रत लिया था—के पुत्र ने एक ऐसे काफिर के साथ जिसने इस्लाम अङ्गीकार नहीं किया था, इस प्रकार का व्यवहार किया। अब उसे एक विद्रोही ईश्वर-मित्र के विरुद्ध युद्ध में प्रयोग किया जा रहा था।

१०३३ ई० के मध्य में—जिस वर्ष एक भयंकर अकाल पड़ा और भयंकर ताऊन फैला, जिसका प्रकोप फ़रिश्ता के अनुसार मैसोपोटामियाँ से भारत तक था और जिसके कारण अनेक ज़िले उजड़ हो गये थे—तिलक ने सेना लेकर हिन्दुस्तान के लिये कूच किया, जहाँ पहले से ही क़ाज़ी शिराज़ और नियाल्तगीन नामक शासनी के दो पदाधिकारियों के समर्थकों के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया था। हिन्दू

सेनापति ने पहली ही झपट में नियाल्तगीन को परास्त किया; विद्रोही सूबेदार युद्ध-क्षेत्र से भाग खड़ा हुआ। तिलक ने उसके सिर के लिये ५००,००० दिरहाम का पुरस्कार घोषित किया, जाट शीघ्र ही उसे काट कर ले आये। इस सफलता से प्रोत्साहित होकर मसूद ने स्वयं अपना एक बहुत पहले किया हुआ प्रण पूरा करने के लिये हाँसी पर (हिसार से ११ मील) आक्रमण कर दिया। इस चढ़ाई के दौरान में ही वह रोगग्रस्त हो गया। अपने असंयत जीवन पर उसे पश्चाताप हुआ और जैसा कि पाँच शताब्दियों बाद एक अधिक प्रसिद्ध अवसर पर बाबर ने किया, उसने सबके सामने मदिरापान त्याग दिया और मदिरापात्र झेलम में फिकवा दिये, तथा अपने पदाधिकारियों को भी इसी प्रकार का व्रत धारण करने पर बाध्य किया। अन्त में दुर्ग जिसे हिन्दू अभेद्य समझते थे और जिसकी उन्होंने वीरतापूर्वक रक्षा की, हस्तगत कर लिया गया और उसके बाद सदैव की भाँति वही नर-संहार, लूट और दासता का ताण्डव रचा गया। लूट का धन सैनिकों में वितरित कर दिया गया। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी इस आक्रमण का परिणाम नाशकारी हुआ। मसूद की अनुपस्थिति से लाभ उठाकर सल्जूक तुर्कों ने ग़ज़नी राज्य पर आक्रमण कर दिया; मसूद को १०४० ई० में हिन्दुस्तान की ओर भागना पड़ा। मार्ग में स्वय उसी के आदमियों ने विद्रोह कर दिया, उसको बन्दी बना लिया और अन्त में १०४१ ई० में उसकी हत्या कर दी।

मसूद के उत्तराधिकारियों के इतिहास का कुछ अंशों में हम पहले ही वर्णन कर आये हैं। यहाँ पर हम केवल भारत से सम्बन्धित कुछ घटनाओं का उल्लेख करेंगे। तिलक द्वारा नियाल्तगीन की पराजय के बाद मसूद के दूसरे पुत्र मजदूद को पजाब का शासन-भार सौंप दिया गया था (१०३६ ई०)। जब १०४१ ई० में मसूद की उसके भाई मुहम्मद द्वारा जिसके पक्ष में विद्रोह हुआ था, हत्या कर दी गई तो मजदूद को हटाकर उसके चचेरे भाई नामी को पजाब का शासक नियुक्त किया गया। किन्तु जिस समय मसूद का ज्येष्ठ पुत्र मादूद अपने चाचा के विरुद्ध घातक संघर्ष में संलग्न था, उस समय मजदूद (मादूद का छोटा भाई) ने पंजाब में थानेश्वर के महत्त्वपूर्ण नगर पर अधिकार कर लिया था और दिल्ली पर आक्रमण करने वाला था। इसी बीच में ग़ज़नी के सिंहासन के लिये चल रहा युद्ध मादूद के पक्ष में समाप्त हो गया और उसने पजाब की ओर ध्यान दिया। उसे अपने पराजित चाचा के पुत्र नामी से छुटकारा पाकर ही सन्तोष नहीं हुआ, बल्कि वह अपने अधिक क्रियाशील भाई को भी सन्देह की दृष्टि से देखने लगा। किन्तु मजदूद की सहसा मृत्यु हो गई और पजाब पर मादूद का निष्कण्टक अधिकार स्थापित होगया, यद्यपि उस प्रान्त पर उसकी सत्ता ढिलमिल ही थी।

दो वर्ष उपरान्त दिल्ली के राजा महिपाल ने हाँसी, थानेश्वर और काँगड़ा को पुनः हस्तगत कर लिया और लाहौर तक धावा बोल दिया (१०४३-४४ ई०) किन्तु नगर-रक्षकों की तत्परता के कारण संकट टल गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मादूद ने पजाब का शासन-भार अपने दो पुत्रों—महमूद और मंसूर को

को सौंपा; इसके अतिरिक्त उसने ग़ज़नी के शक्तिशाली अमीर वास नूशतीहसन को हिन्दुओं के विरुद्ध भेजा। इसने अपना कार्य आरम्भ करने वाला ही था कि दरबारी कुचक्रों के कारण उसे वापस बुला लिया गया और उसका वध कर दिया गया। इसके उपरान्त १०४६ ई० में मासूद का देहान्त हो गया। उसके मरते ही उत्तराधिकार के लिये युद्धों का ताँता लग गया जिससे ग़ज़नी के शासक इब्राहीम के राज्यारोहण के समय तक (१०५६ ई०) भारत की ओर ध्यान न दे सके। इस बीच की १ मात्र महत्वपूर्ण घटना यह थी कि नूरितगीन नामक एक योग्य पदाधिकारी को पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया गया (१०४३ ई०)। उसने काँगड़ा के दुर्ग को पुन हस्तगत कर लिया और पंजाब में सुव्यवस्था पुन: स्थापित करने को ही था कि दुर्गारक्ष के अपहरण (१०२२ ई०) के कारण उस शीघ्र ही ग़ज़नी को लौटना पड़ा।

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं ग़ज़नवी वंश में इब्राहीम का शासन काल (१०५९ ९९ ई०) सबसे अधिक अच्छा था। इस युग में उसके राज्य में पहले की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्था रही, इसलिये वह भारत की ओर ध्यान दे सका। १०७९ ई० में उसने पंजाब की दक्षिणी सीमा को पार किया और अजुधन (पाकपटन) तथा रूपाल के नगरों पर अधिकार कर लिया। एक उल्लेख आता है कि इस आक्रमण के दौरान में वह पश्चिमी तट पर स्थित एक पारसी उपनिवेश (नवसारी?) तक जा पहुँचा था इस दृष्टि से उसका यह अभियान और भी अधिक स्मरणीय है। इब्राहीम की मृत्यु के उपरान्त उसका तेईसवाँ पुत्र मसूद तृतीय सिंहासन पर बैठा और उसने सत्रह वर्ष तक (१०९९ १११५ ई०) शासन किया। कहा जाता है कि उसके शासन-काल में लाहौर के तुग़ातीगीन ने गंगा के उस पार तक धावा मारा, किन्तु इस आक्रमण के ब्यौरे का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। उसके बाद फिर एक बार पारिवारिक संघर्षों की बाढ़ आई जिसके दौरान में एक सुल्तान अर्सलाँशाह को कुछ समय के लिये भारत में शरण लेनी पड़ी, किन्तु कुछ ही समय बाद वह घर को लौट गया और मार डाला गया। उसका उत्तराधिकारी बहरामशाह हुआ जिसके शासन-काल में ग़ज़नी का सर्वनाश हुआ (११५५ ई०) इसका हम पहले उल्लेख कर आये हैं। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में पंजाब में बाहलीम के विद्रोह का अधिक महत्व है। इस पदाधिकारी को अर्सलाँशाह ने प्रान्त के सूबेदार के पद पर नियुक्त किया था, उसने बहरामशाह का प्रभुत्व स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। १११६ ई० में वह पराजित हुआ और पुनः अपने पद पर नियुक्त कर दिया गया; उसने पंजाब की सीमाओं पर अनेक उद्दण्ड हिन्दू सरदारों का दमन किया। नागौर में उसने अपनी शक्ति जमा ली और फिर विद्रोही हो गया। बहराम ने उसका पीछा किया, किन्तु निकल भागने का प्रयत्न करते समय वह मुल्तान के निकट अपने दो पुत्रों समेत दलदल में धँस कर मर गया। सर वोल्जले हेग लिखते हैं कि, 'बाहलीम स्मरण रखने योग्य है क्योंकि इसने उन प्रान्तों पर मुस्लिम सत्ता स्थापित की जिन्होंने पहले कभी महानतम ग़ज़नवी सुल्तानों

की भी अधीनता नहीं स्वीकार की थी। नागौड लाहौर के दक्षिण में ३०० मील की दूरी पर स्थित है, और कहा जाता है कि जब बाहलीम ने बहराम के विरुद्ध प्रस्थान किया उस समय उसके साथ उसके दस पुत्र थे जिनमें से प्रत्येक एक एक जिले अथवा प्रान्त पर शासन करता था।"

अलाउद्दीन ग़ोरी द्वारा ग़ज़नी का विध्वंस होने के उपरान्त बहराम अपनी मृत्यु से पहले केवल एक बार अपनी राजधानी को लौट सका; ११५२ ई० में भारत की सीमाओं पर एक शरणार्थी के रूप में उसका देहान्त हो गया। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र खुसरूशाह हुआ किन्तु खुरासान के तुर्कमानों ने उसे ग़ज़नी से मार भगाया; भागकर उसने लाहौर में शरण ली और वहीं ११६० ई० में मर गया। बुतशिकन महमूद का अन्तिम वंशज खुसरू मलिक लाहौर में सिंहासन पर बैठा, क्योंकि उसके पूर्वजों की राजधानी सदा के लिये उसके परिवार के हाथों से निकल चुकी थी। "वह कोमल तथा अतिशय विलासी प्रवृत्ति का सुल्तान था और राजसत्ता उसे खलती थी। उसके छोटे से राज्य के जिलों के अधिकारी स्वतंत्र शासकों जैसा आचरण करते थे, किन्तु उसे इसकी कोई चिन्ता न थी, जब तक आनन्द उड़ाने के साधन उसे उपलब्ध थे।" एक के बाद एक जिले उसके अधिकार से निकलते गये और अन्त में ११८६ ई० में मुहम्मद गोरी ने लाहौर को भी हस्तगत कर लिया। खुसरू मलिक तथा उसका पुत्र बहराम फीरोज़कोह (ग़ोर) को भेज दिये गये जहाँ पाँच वर्ष के कारावास के उपरान्त उनका बध कर दिया गया। इस प्रकार सुबुक्तगीन तथा महमूद के वंश का जिसने दो शताब्दियों (९७७-११८६ ई०) तक शासन किया था, अन्तिम सदस्य इस संसार से चल बसा। पंजाब पर गज़नवियों का १००१ से ११८६ ई० तक आधिपत्य रहा।

तीसरा मुस्लिम आक्रमणकारी

मुहम्मद ग़ोरी भारत पर आक्रमण करने वाला तीसरा मुसलमान था। वह विजय करने तथा विजित प्रदेशों को अपने राज्य में सम्मिलित करने के उद्देश्य से आया, जबकि उसके पूर्वाधिकारी इमादुद्दीन तथा महमूद मुख्यतया दण्ड देने तथा लूटने के उद्देश्य से आये थे। वह ग़ज़नी का विध्वस करने वाले अलाउद्दीन ग़ोरी का भतीजा था। वह स्वयं ग़ज़नी पर (११७३-४ से) तथा उसका भाई गियासुद्दीन गोर पर (११६३ से) शासन करते आये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि भूतपूर्व ग़ज़नवी वंश के विपरीत गोर वंश अफगान था, यद्यपि कुछ लोगों का विश्वास है कि वे तुर्क अथवा ईरानी रहे होंगे। जेठे भाई गियासुद्दीन ने अपने पूर्वजों से प्राप्त पश्चिमी प्रदेशों से ही सन्तोष कर लिया था, किन्तु छोटे भाई मुईज़ुद्दीन मुहम्मद ने ग़ज़नी को आधार बनाकर हिन्दुस्तान की ओर जिसे पहले दो बार जीता जा चुका था, अपनी महत्वाकांक्षापूर्ण दृष्टि फेरी।

सबसे पहले सिन्ध, मुल्तान तथा पंजाब के तीन मुस्लिम प्रान्तों को विजय किया गया। मुल्तान ११७५ ई० में समुद्र तक सिन्ध का प्रान्त ११८२ ई० में; और

लाहौर ११८२ में हस्तगत कर लिया गया। अपने जीवन के शेष बीस वर्षों में (११८६–१२०६ ई॰) मुहम्मद ने अपने लिये एक साम्राज्य का निर्माण कर लिया जो पश्चिम में ग़ज़नी के पूर्व में गौड़ तक फैला हुआ था, किन्तु उसने कोई औरस उत्तराधिकारी नहीं छोड़ा जो उसके बाद उसके साम्राज्य पर शासन कर सकता। यह भाग्य उसके गुलामों को प्राप्त हुआ।

युद्ध के तीस वर्ष

मुहम्मद गोरी के प्रारम्भिक कार्य भविष्य के लिये उतने आशापूर्ण नहीं थे जितने कि दो सौ वर्ष पूर्व सुलतान महमूद के। उसकी भारत में अन्तिम विजय का जितना श्रेय स्वयं उसके साहस और तत्परता को था उतना ही उसके गुलामों को भी। यद्यपि उसे ११७५ ई॰ में मुलतान के इस्लाम-द्रोही शासक के विरुद्ध आक्रमण में सफलता मिली, किन्तु यह उसकी नीचतापूर्ण चाल का परिणाम था न कि खुले युद्ध में पराक्रम दिखलाने का। उदाहरण के लिये उच में उसने भट्टी राजा की स्त्री से मिलकर कुचक्र रचे और उसे अपनी पटरानी बनाने का वचन देकर उसके अप्रिय पति का वध करवा दिया। किन्तु अन्त में उसने उस पतिद्रोही स्त्री को संकटापन्न अवस्था में ही त्याग दिया। ११७८ ई॰ में मुहम्मद ने गुजरात में स्थित बघेलों की राजधानी अन्हिलवाड़ को हस्तगत करने का प्रयत्न किया किन्तु भारी क्षति उठा कर उसे पीछे लौटना पड़ा। दूसरे वर्ष उसने गुज़नवी मलिक खुसरू के सूबेदार के दुर्बल हाथों से पेशावर छीन लिया और ११८१ ई॰ में लाहौर के पास आ धमका और अन्त में ११८६ ई॰ में उस पर अधिकार कर लिया। यहाँ पर भी मुहम्मद ने ऐसे नीच तरीकों से काम लिया जिनकी हम श्रेष्ठ राजपूती शूरत्व के देश में सदैव निन्दा होनी चाहिये। खुसरू मलिक को अपने पुत्र को बन्धक के रूप में समर्पण करने के लिये बाध्य किया गया। इसके बाद मुहम्मद सियालकोट पहुँचा और वहाँ एक दुर्ग का निर्माण कराया। जैसे ही उसने पीठ फेरी खुसरू मलिक ने उस किले को अधिकृत करने का प्रयत्न किया। इसलिये ११८६ में मुहम्मद फिर लाहौर आया। जब खुसरू ने सन्धि की बातचीत चलाई तो मुहम्मद ने उसके पुत्र को जिसे उसने पहले बन्धक बना लिया था, मुक्त करने का बहाना किया। अपनी सुरक्षा का आश्वासन मिलने पर सहज विश्वासी खुसरू अपने पुत्र के स्वागत के लिये बाहर निकला। उसी समय मुहम्मद ने विश्वासघात किया और उसे तथा उसके पुत्र को बन्दी बना कर
-फ़ीरोज़कोह भिजवा दिया। इसका हम पहले उल्लेख कर आये हैं।

इस समय एक ऐसी घटना हुई जिसकी ओर इतिहासकार सम्भवतः ध्यान न दें; किन्तु उससे उस समय के पंजाब की अन्धकारपूर्ण स्थिति का पता लगता है। जम्मू के राजा पंजाब के ग़ज़नवी शासकों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करते आये थे। किन्तु अब मलिक खुसरू ने वीर खोक्खरों को जिन्होंने एक बार महमूद ग़ज़नवी से लोहा लिया था, जम्मू के राजा चक्रदेव के पक्ष से तोड़ कर, अपनी ओर मिला

लिया। चक्रदेव ने मुहम्मद गोरी को आमन्त्रित किया जिस प्रकार कि आगे के युग में लोदी सरदार ने बाबर को अपनी सहायता के लिये बुलाया। मुहम्मद ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को दासता के समान बन्धन में जकड़ दिया। किन्तु इस देश के लोगों की सहायता प्राप्त करने पर भी गोरी भटिंडा अथवा सरहिन्द जैसे एक दो किलों को हस्तगत करने के अतिरिक्त और प्रगति न कर सका; भटिंडा को उसने ११९०-९१ ई० में विजय किया। किन्तु इस विजय से उसकी अपने सबसे भयंकर शत्रु पृथ्वीराज चौहान से जो दिल्ली तथा अजमेर का शासक था, टक्कर हो गई। तरारोई (थानेश्वर से १४ मील पर स्थित तराइन) नामक स्थान पर ११९१ ई० में युद्ध हुआ जिसमें मुहम्मद घायल हुआ और दूसरी बार एक काफिर राजा द्वारा खदेड़ दिया गया। राय पिथौरा—मुसलमान इतिहासकार उसे इसी नाम से पुकारते हैं—ने ४० मील तक गोरी की सेना का पीछा किया और फिर मुड़ कर सरहिन्द के दुर्ग पर टूट पड़ा, तेरह महीने के दीर्घकालीन घेरे के बाद किले के रक्षकों ने समर्पण कर दिया।

कहा जाता है कि तराइन के प्रथम युद्ध की पराजय से मुहम्मद की प्रतिष्ठा को जो धक्का लगा उससे उसे इतनी वेदना हुई कि 'न तो वह कभी आराम से सोया और न कभी शोक तथा चिन्ता से मुक्त होकर जागा।' अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा की पुन: स्थापना करने के लिये उसने भरपूर तैयारियाँ की और दूसरे ही वर्ष (११९२ ई०) फिर युद्ध में कूद पड़ा। हिन्दुओं को पहले से ही इसका डर था, इसलिये शत्रु से लोहा लेने में उन्होंने किसी प्रकार का विलम्ब नहीं किया। तराइन (मिनहाज-उस-सिराज ने भूल से उसे नराइन लिखा है) के पवित्र रणक्षेत्र में हिन्दुस्तान के १५० राजाओं के नेतृत्व में ३००,००० घुड़सवार, ३००० हाथी तथा एक विशाल सेना एकत्र हो गई. केवल कन्नौज का जयचन्द जो पृथ्वीराज का ससुर तथा उसका सबसे भयंकर शत्रु था, इस मोर्चे में सम्मिलित नहीं हुआ। मुस्लिम-इतिहासकार लिखता है—

'दूसरे वर्ष सुल्तान ने एक विशाल सेना एकत्र की और अपनी पराजय का बदला लेने के लिये हिन्दुस्तान की ओर बढ़ा। मुईनुद्दीन नामक एक विश्वसनीय व्यक्ति ने जो तोलक पहाड़ियों का एक प्रमुख निवासी था, मुझसे कहा कि मैं उस सेना में उपस्थित था और उसमें १२०,००० कवचधारी घुड़सवार सम्मिलित थे। सुल्तान के पहुँचने से पहले ही सरहिन्द के किले का पतन हो चुका था और शत्रु नराइन (तराइन) के निकट डेरे डाले हुआ था। सुल्तान ने युद्ध के लिये अपनी सेना को व्यवस्थित किया और अपना मुख्य दल जिसमें कई वाहिनियाँ सम्मिलित थीं, पताकाओं, शामियानों तथा हाथियों सहित पीछे छोड़ दिया। अपनी आक्रमण की योजना सुनिश्चित करके वह धीरे-धीरे आगे बढ़ा। अपने द्रुतगामी घुड़सवारों को जो कवच नहीं धारण किये हुए थे उसने १०,००० की चार वाहिनियों में विभक्त किया और उन्हें आगे बढ़ कर दायें-बायें, तथा आगे-पीछे चारों ओर से बाणों द्वारा शत्रु को तंग करने का आदेश दिया। उनसे

कहा गया कि जब शत्रु आक्रमण के लिये अपनी सेना एकत्र कर ले तो तुम एक दूसरे की सहायता दो और पूरी रफ्तार से धावा बोलो। इस सामरिक चाल के कारण काफिरों की पराजय हुई; सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने हमें विजय प्रदान की और वे भाग खड़े हुए।'

'पृथ्वीराज हाथी से उतर कर घोड़े पर सवार हुआ और भागा किन्तु सरस्वती नामक स्थान के निकट पकड़ा गया और दोज़ख को भेज दिया गया। दिल्ली का गोविन्दराय भी युद्ध में मारा गया; सुल्तान ने उसे उसके दो टूटे हुए दाँतों से जिन्हें उसने पहले युद्ध में तोड़ दिया था, पहिचान लिया। ५८८ हिजी (११ २ ई०) में प्राप्त हुई इस विजय का परिणाम यह हुआ कि राजधानी अजमेर, सब शिवालिक पहाड़ियों, हाँसी, सरस्वती तथा अन्य ज़िलों पर सुल्तान का अधिकार हो गया।'

स्मिथ ने ठीक ही कहा है कि, "११९२ के तराइन के दूसरे युद्ध को निर्णायक कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें हिन्दुस्तान में मुस्लिम आक्रमण की अन्तिम विजय सुनिश्चित हो गई। इसके बाद मुसलमानों को जो अनेक विजयें प्राप्त हुईं वे तो हिन्दुओं के संगठित मोर्चे की इस महान पराजय का परिणाम मात्र थीं जो उन्हें दिल्ली के उत्तर में स्थित ऐतिहासिक रण-क्षेत्र में भुगतनी पड़ी।'

कुतुबुद्दीन ने मेरठ तथा कोइल को जीता और दिल्ली को अपनी सरकार की राजधानी बनाया। विजेता की निर्दयता का पता इसी से लगता है कि उसने जीते हुए नगरों की लूट तथा विध्वंस करने के अतिरिक्त उनकी जनता का बिना किसी भेदभाव के संहार किया। उदाहरण के लिये अजमेर में मन्दिरों की नींवों तक को उखाड़ फेंका गया उनके स्थानों पर मस्जिदें तथा मदरसे खड़े किये गये और इस्लामी सिद्धान्तों तथा शरा के रीति रिवाजों की स्थापना की गई।' इसके बाद 'उसने अजमेर का प्रदेश पृथ्वीराज के पुत्र गोला को इस शर्त पर दे दिया कि वह नियमपूर्वक भारी कर अदा किया करेगा।'

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं कन्नौज के जयचन्द ने युद्ध में भाग नहीं लिया था, बल्कि अपने दामाद के नाश से उसे प्रसन्नता हुई थी क्योंकि वह उसकी पुत्री को—उसी की (पुत्री की) सम्मति से—भगा ले गया था। किन्तु शीघ्र ही जयचन्द को भी उसी भाग्य का शिकार होना पड़ा जिसका पृथ्वीराज हो चुका था। एक पूर्व प्रसंग में हम कन्नौज के राजनैतिक महत्व का उल्लेख कर आये हैं। मुस्लिम विजेता भी उसके महत्व से अनभिज्ञ नहीं थे। महमूद ग़ज़नवी ने भी उसकी उपेक्षा नहीं की थी। इब्न-उल असिर लिखता है कि "इस देश में महमूद बिन सुबुक्तगीन के समय से मुसलमान रहते चले आये थे, वे इस्लामी नियमों के भक्त बने रहे और पूजा पाठ तथा पुण्य-कार्य करते रहे।" उसी लेखक ने जयचन्द को बनारस का राजा कहा है और लिखा है कि वह भारत का महानतम शासक था और उसका राज्य सबसे बड़ा था। यदि हिन्दुस्तान को विजय करना था तो ऐसे शासक के अस्तित्व को सहन नहीं किया जा सकता

था। इसलिये ११६४ में मुहम्मद ने उस पर भी चढ़ाई करदी और उस राठौर का भी चौहान पृथ्वीराज की भाँति अन्त हो गया। 'दोनों सेनाओं की मुठभेड़ होने पर भीषण नरसंहार हुआ; काफिर अपनी संख्या तथा मुसलमान अपने साहस के कारण डटे रहे, किन्तु अन्त में काफिर भाग खड़े हुए और मुसलमानों की विजय हुई। हिन्दुओं का भीषण संहार हुआ, स्त्रियों तथा बच्चों के अतिरिक्त और किसी को नहीं छोड़ा गया और पुरुषों का कत्ल तब तक होता रहा जब तक कि स्वयं पृथ्वी न थक गई।' जयचन्द का भी अन्त वैसे ही हुआ जैसे हेस्टिंग्ज़ के युद्ध में (१०६६ ई०) हैरोल्ड का हुआ था, उसकी आँख में एक घातक बाण लगा। परिणाम भी वही हुआ। इङ्गलैण्ड में विजयी विलियम की भाँति मुहम्मद हिन्दुस्तान का राजा होगया। किन्तु उसकी नारमंडी अफगानिस्तान में थी और वह उसे नये विजित प्रदेशों से अधिक प्रिय थी; इसलिये हिन्दुस्तान को उसने अधिकतर अपने सामन्तों—तुर्की गुलामों—के ही हाथों में छोड़ दिया। 'हिन्दुओं के पलायन के उपरान्त शिहाबुद्दीन ने बनारस में प्रवेश किया और खज़ानों को १४०० ऊंटों पर लादकर ले गया। इसके बाद वह गज़नी को लौट गया।' इब्न-अल-अथिर विस्मयपूर्वक आगे लिखता है कि 'जो हाथी पकड़े गये उनमें एक सफेद हाथी भी था। एक व्यक्ति ने जिसने अपनी आँखों से इस दृश्य को देखा था, मुझे बतलाया कि जब हाथियों को पकड़कर शिहाबुद्दीन के सामने लाया गया और उन्हें अभिवादन करने की आज्ञा दी गई तो उस सफेद हाथी को छोड़कर सबने अभिवादन किया।'

चन्दवार के युद्ध में जयचन्द के पतन से मुहम्मद हिन्दुस्तान की राजनैतिक तथा धार्मिक दोनों राजधानियों—कन्नौज तथा बनारस—का स्वामी होगया। अब कोई ऐसा काम करने को नहीं रह गया था जिससे मुहम्मद की प्रतिष्ठा में वृद्धि होती, इसलिये उसने बयाना तथा 'हिन्द की दुर्गमाला के उस मोती' ग्वालियर पर (११९६ ई०) अधिकार करके अपनी राजधानी के उत्तर तथा पूर्व की ओर ध्यान दिया। अगले पाँच वर्षों में गोरी भाइयों (मुहम्मद तथा गयासुद्दीन) को अपने राज्य की ईरानी सीमाओं पर इतनी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं कि मुहम्मद को भारत में आने का अवसर ही न मिला, इसलिये "उत्तरी प्रान्तों को अपेक्षाकृत कुछ शान्ति का समय मिल गया, नौ वर्ष के युद्ध के उपरान्त सैनिकों के लिये भी यह काल सुखद था और देश को भी इससे लाभ हुआ।" केवल अजमेर में अन्हिलवाड़ के राजा के भड़काने से एक विद्रोह हुआ जिसे एबक ने शीघ्र ही दबा दिया। पृथ्वीराज के पुत्र के ऊपर जिसके अधिकार में अजमेर का प्रान्त छोड़ दिया गया था (११९२ ई०), एक मुस्लिम सूबेदार नियुक्त कर दिया गया। पराजित विद्रोही हेमराज (पृथ्वीराज का एक भाई) ने जयपाल की भाँति चिता में जलकर अपने प्राण त्याग दिये (११९४ ई०)। एबक ने अन्हिलवाड़ के राजा भीम पर दो आक्रमण किये; एक ११९५ ई० में और दूसरा ११९७ ई० में। पहले आक्रमण में उसने सेनापति कुमारपाल को मार डाला और अन्हिलवाड़ को लूटा और इस

प्रकार मुहम्मद को ११८२ ई० की पराजय का बदला लिया। दूसरी बार उसने राजा भीम को भयंकर पराजय दी जिसमें १५,००० आदमी मारे गये और २०,००० बन्दी बना लिये गये। इसके अतिरिक्त अनेक हाथी तथा बहुत सा लूट का धन आक्रमणकारी के हाथों लगा। अन्हिलवाड़ का पुनः विध्वंस कर दिया गया।

अपने स्वामी की अनुपस्थिति में एबक का अन्य गौरवपूर्ण कार्य मध्यभारत के चन्देलों का दमन करना था। उसने उनकी राजधानी महोबा को जीत लिया और घेरा डालने के उपरान्त कालिंजर के प्रसिद्ध क़िले को भी हस्तगत कर लिया। भारी ख़ज़ानों के अतिरिक्त वह ५० ००० स्त्री पुरुषों को दास बनाकर लेगया। मन्दिरों को मस्जिदों में परिवर्तित कर दिया गया।

इस्लामी पताका का पूर्व की ओर बढ़ना

जिस समय एबक हिन्दुस्तान के केन्द्रीय प्रदेशों में व्यस्त था उसी समय एक अन्य भाग्यशाली सैनिक जो एबक की भाँति तुर्की गुलामी ही था, बिहार तथा बंगाल के पूर्वी प्रान्तों पर मुहम्मद ग़ोरी की सत्ता स्थापित करने में लगा हुआ था। यह व्यक्ति बख़्तियार ख़लजी का पुत्र इख़्तियारुद्दीन मुहम्मद था। मानव योनि का वह एक विचित्र नमूना था; सीधा खड़े होने पर उसकी बाहें घुटनों तक पहुँचती थीं। अपनी इन भुजाओं से वह उत्तरी भारत के पूर्वी छोर तक पहुँच गया। ११९७ के लगभग उसने बिहार को जीत लिया और इस प्रान्त से बौद्ध धर्म के बचे-खुचे चिन्हों को भी मिटा दिया जैसा कि आठवीं शताब्दी में अरबों ने सिन्ध में किया था। इसके उपरान्त उसने बंगाल में प्रवेश किया और ११९९ में उस पर अधिकार कर लिया। मिनहाज सिराज ने तबकाते नासिरी में जो कहानी लिखी है उसे यहाँ उद्धृत करना अधिक उपयुक्त होगा:—

जब मुहम्मद इब्न बख़्तियार 'सुल्तान (?) कुतुबुद्दीन से मिलकर लौटा और बिहार को विजय कर लिया तो उसकी ख्याति राय लखमनिया (बंगाल का लखमणसेन) के कानों में पहुँची और राय के सम्पूर्ण राज्य में फैल गई— । दूसरे वर्ष मुहम्मद इब्न बख़्तियार ने एक सेना तैयार की और बिहार से कूच कर दिया। वह केवल अठारह घुड़सवारों के साथ नदिया (लखनौती, गौरम्नपुरी) के निकट जा धमका, उसकी शेष सेना पीछे आती रह गई। लोगों ने सोचा कि यह कोई व्यापारी है और घोड़े बेचने आया है। इस प्रकार वह राय लखमण के महल के फाटक तक पहुँच गया और तलवार खींच कर हमला बोल दिया उस समय राय भोजन करने बैठा था और हिन्दू की रीति के अनुसार सोने और चाँदी के थालों में भोजन उसके सामने परोसा गया था। सहसा उसके महल के फाटक पर और नगर में चीत्कार हो उठा। इससे पहले कि वह यह पता लगा पाता कि क्या हो गया है मुहम्मद इब्न बख़्तियार महल में घुस गया और अनेक आदमियों को तलवार के घाट उतार दिया। राय नंगे पैर ही महल के पीछे के द्वार से भाग गया और उसका सम्पूर्ण कोष सब रानियाँ दासियाँ तथा नौकर चाकर आक्रमणकारी के अधिकार में आगये। बहुत से हाथी पकड़ लिये गये और जो धन मुसलमानों के

हाथ लगा उसकी गणना करना भी असम्भव था। सेना के आ पहुँचने पर पूरे नगर पर अधिकार हो गया और उसी को मुहम्मद इब्न बख्तियार ने अपनी राजधानी निश्चित किया।'

शिहाबुद्दीन की मृत्यु

जिस समय मुहम्मद ग़ोरी की विजयों का संगठन तथा विस्तार उसके गुलाम कर रहे थे, उस समय वह स्वयं जैसा कि हम पहले कह आये हैं, अपने भाई के राज्य में तुर्कों से युद्ध करने में संलग्न था। ग़ज़नवियों के इतिहास ने अपने को दुहराया। १२०५ ई० में अन्धकुली के युद्ध में तुर्कों ने मुहम्मद को धूल चटा दी, "इस पराजय ने भारत में उसकी सैनिक प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुँचाया।" इस देश में यहाँ तक अफवाहें फैल गईं कि सुलतान मारा गया है। इस समाचार का प्रभाव सबसे पहले सीमास्थ प्रदेशों के निवासी खोक्खरों पर पड़ा। राय साल के नेतृत्व में उन्होंने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया, सुलतान के सूबेदार को परास्त किया, लाहौर को लूटा और पंजाब तथा गज़नी के बीच के सामरिक मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। मुहम्मद की मृत्यु के समाचार लगातार आ रहे थे, इसलिये एबक ने स्थिति को सँभालने के लिये जो प्रयत्न किये, वे विफल रहे। इसलिये सुलतान का स्वयं आना आवश्यक हो गया। १२०५ ई० के अन्त में मुहम्मद तथा एबक की सम्मिलित सेनाओं ने झेलम तथा चिनाव के बीच खोक्खरों को हराया और कुचल दिया। शत्रुओं का भारी संख्या में संहार हुआ, फिर भी उनमें से इतने जीवित पकड़ लिये गये कि खेमों में एक-एक दीनार में पाँच-पाँच खोक्खर गुलाम बेचे गये। २५ फरवरी १२०६ ई० को सुलतान लाहौर पहुँचा और तुर्कों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखने के लिये ग़ज़नी लौटने की तैयारियाँ करने लगा। किन्तु दुर्भाग्यवश लौटते समय मार्ग में सिन्ध के किनारे किसी ने उसकी हत्या करदी। कुछ लोगों का मत है कि राय पिथौरा अभी तक जीवित था और उसी ने सुलतान का वध किया, किन्तु यह मत स्पष्टतया मूर्खतापूर्ण है; कुछ लेखक इस्माइली विद्रोहियों का यह कार्य बतलाते हैं, लेकिन यह अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है कि क्रोधान्ध खोक्खर मुहम्मद की हत्या के लिये जिम्मेदार थे। सुलतान के शव को लोग उसकी राजधानी ग़ज़नी को ले गये और वहीं उसे दफना दिया। उसी वर्ष (१२०६ ई०) उसके भारतीय साम्राज्य के पूर्वी छोर पर एक अन्य मुहम्मद की भी मृत्यु हो गई। इख्तियारुद्दीन को बिहार तथा बंगाल की विजयों से सन्तोष नहीं हुआ और कुछ सीमास्थ जातियों के लुभाने से उसने एक असम्भव कार्य सम्पादित करने का प्रयत्न किया। पहले अध्याय में आसाम के इतिहास का वर्णन करते समय हम उल्लेख कर आये हैं कि मुसलमानों ने कामरूप की सीमाओं में होकर तिब्बत में प्रवेश करने का प्रयत्न किया और उस साहसिक कार्य में उनका सर्वनाश हो गया। सर वोल्ज़ले हेग का मत है कि "मुसलमानों की भारत में यह सबसे नाशकारी सैनिक पराजय थी। इससे पहले सेनाओं की हार हुई थी, किन्तु इख्तियारुद्दीन के दल का तो लगभग पूर्णरूप से

सफाया हो गया।" इख्तियारुद्दीन की स्वयं भी हिमालय पर न पहुँच सकी, आक्रमणकारी दल में स केवल वही बच सका और लखनौती में अत्यन्त अपमानजनक स्थिति में उसका देहान्त हो गया। कुछ लेखकों का कहना कि उसी की बिरादरी के अलीमर्दान नामक एक व्यक्ति ने उसकी हत्या कर दी।

मुहम्मद की मृत्यु के बाद थोड़े ही समय में ग़ोरी वंश के एक के बाद एक, दो सुल्तान ग़ज़नी के सिंहासन पर बैठे। किन्तु उसके साम्राज्य के वास्तविक शासक चार तुर्की गुलाम थे जिन्हें उसने अपने जीवन काल में ही प्रान्तों का शासन भार सौंप दिया था। यदि एल्दुज़ ने अत्यन्त योग्यता के साथ स्थिति पर अधिकार न रक्खा होता, तो किरिमान ग़ज़नी में कुबैचा मुल्तान में, ऐबक दिल्ली में और इख्तियारुद्दीन लखनौती में एक दूसरे से स्वतन्त्र रहकर शासन करते रहते। ग़ज़नी में गियासुद्दीन के उत्तराधिकारी महमूद ने ऐबक के पास 'एक सिंहासन, एक शामियाना, पताकाएँ, नगाड़े तथा सुल्तान की पदवी आदि सभी शाही अधिकार चिह्न भेज दिये। कारण यह था कि वह अपने हितों की रक्षा करने का इच्छुक था और यदि ऐबक उसका आधिपत्य न मानता तो उसमें उसका विरोध करने की सामर्थ्य नहीं थी।'

कुबैचा ऐबक का दामाद था और उसने हिन्दुस्तान के नये सुल्तान को कोई कष्ट नहीं दिया। इख्तियारुद्दीन ने सदैव ऐबक की अधीनता स्वीकार की थी और उसी स्थिति में उसकी मृत्यु हो गई। इख्तियार का तथाकथित हत्यारा अली मर्दान लख-बख स पूर्वी प्रान्तों का सूबेदार बन बैठा। केवल यिल्दिज़ ने ऐबक के प्रभुत्व को चिनौती दी। १२०८ ई० में वह ग़ज़नी से चला और सुल्तान को हस्तगत कर लिया। ऐबक ने उसे मार भगाया और स्वयं ग़ज़नी पर अधिकार करके बदला चुकाया। इस सफलता से प्रफुल्लित होकर ऐबक अपनी मर्यादा का ही उल्लंघन कर बैठा। उसके सैनिकों ने शाही राजधानी के नागरिकों के साथ भी अन्य विजित नगरों के निवासियों का-सा ही व्यवहार किया और स्वयं ऐबक ने सुरापान के आनन्द में अपने को भुला दिया। उसके इस आमोद प्रमोद से ग़ज़नी की जनता को घृणा हो गई और उसने यिल्दिज़ को पुनः आमन्त्रित किया। दिल्ली का प्रथम सुल्तान शीघ्र अपने राज्य को लौट आया जिस पर उसका क़ानूनी अधिकार था। १२१० ई० के नवम्बर के आरम्भ में चौगान खेलते समय ऐबक घोड़े से गिर पड़ा और 'स्वर्ग सिधारा"।

गुलाम-वंश

लेनपूल लिखते हैं कि महमूद की तुलना में मुहम्मद का नाम कम विख्यात हुआ है। "तथापि भारत में उसकी विजयें महमूद की विजयों से कहीं अधिक विस्तृत तथा स्थायी थीं' यद्यपि इन विजयों में स बहुत-सी अपूर्ण ही थीं और अब भी विद्रोहों को दबाने तथा सामन्तों को अधीन करने का काम शेष था, फिर भी मुहम्मद ग़ोरी के समय से 'भारतीय ग़दर' की भयंकर विपत्ति तक दिल्ली के

सिंहासन पर मुसलमान राजा ही बैठा'। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, इस सफलता का श्रेय जितना मुहम्मद ग़ोरी को था उतना ही उसके ग़ुलामों को। इनमें से एबक की गणना एक राजवंश के संस्थापक की दृष्टि से बाबर से की जानी चाहिये। उसके कुछ उत्तराधिकारियों ने पूरे साम्राज्य के ऐश्वर्य में कुछ वृद्धि भले ही की हो, किन्तु बीज डालना तथा उदाहरण प्रस्तुत करना उसी का काम था। तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों के मत में एबक का आचरण सदैव न्याय-पूर्ण था और 'जनता सुखी थी'। सड़कें डाकुओं से मुक्त थीं और 'ऊँच तथा नीच सभी हिन्दुओं के साथ दयालुता का व्यवहार किया जाता था'। किन्तु इसने एबक को हिन्दुओं को दास बनाने, मुसलमान बनाने, उनके मन्दिरों को लूटने, ध्वस्त करने तथा उनके स्थानों पर मस्जिदें खड़ी करने आदि नित्य कर्म में भारत के अन्य मुस्लिम विजेताओं का अनुकरण करने से नहीं रोका। यह सब कुछ इस्लाम के सैनिक-धर्म का अंग बन चुका था। युद्ध में ये सब चीज़ें नियमपूर्वक हुआ करती थीं। किन्तु जब एक बार जिहाद में बन्दी बनाये गये काफिरों के गले में 'दासता का पट्टा' पहना दिया जाता था तो फिर बचे हुओं के जीवन में, यदि वे जज़िया देते रहते, हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। अपनी दानशीलता के कारण एबक ने 'लाखबख्श' की उपाधि प्राप्त कर ली थी। दिल्ली में उसने विशाल जामी मस्जिद का निर्माण कराया और सम्भवतः कुतुबमीनार का बनवाना भी प्रारम्भ किया, जिसे आगे चलकर उसके उत्तराधिकारी इल्तुतमिश ने पूरा किया। संक्षेप में वह 'ख़ुदा की राह में लड़नेवाला' था, उसने राज्य को 'मित्रों' से भर दिया और 'शत्रुओं' से खाली कर दिया। 'उसके दान का प्रवाह अविच्छिन्न था, उसी प्रकार उसके संहार का क्रम भी।'

एबक के बाद

दिल्ली के प्रथम ग़ुलाम सुल्तान एबक (१२०६–१० ई०) के बाद इस वंश ने हिन्दुस्तान पर अस्सी वर्ष तक (१२१०–९० ई०) शासन किया। इस युग में केवल दो महत्त्वशाली व्यक्ति हुए जिन्होंने भारत में इस्लामी सत्ता को सुदृढ़ करने में विशेष योग दिया। वे थे शम्सुद्दीन इल्तुतमिश (१२१०–३५ ई०) तथा गियासुद्दीन बलबन (१२६६–८७ ई०)। इनके अतिरिक्त इस 'वंश' में सात सदस्य और हुए जो दिल्ली के सिंहासन पर बैठे, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने राज्य पर शासन किया। उनमें से एक ने तो बीस वर्ष तक राज्य किया, (महमूद नासिरुद्दीन, १२४६–६६ ई०), किन्तु उसके समय में भी राज्य की वास्तविक बागडोर बलबन के हाथों में रही। शेष छः में से सुल्ताना रज़ियातुद्दीन (१२३६–४० ई०)—जो अपने स्वत्व से दिल्ली पर राज्य करनेवाली एकमात्र मुस्लिम रानी थी—को छोड़कर अन्य सभी नाममात्र के शासक थे। इस युग की विशेषताओं का वर्णन जितना अच्छा ज़ियाउद्दीन बरनी के स्पष्ट शब्दों में किया जा सकता है, उतना और किसी प्रकार से नहीं; बरनी लिखता है '—

'शम्सुद्दीन की मृत्यु के बाद तीस वर्ष के युग में (१२३६—६६ ई०) सुल्तानों की अयोग्यता तथा शम्सी गुलामों की दर्पपूर्ण शक्ति के कारण लोगों में अस्थिरता, अवज्ञा तथा अहंकार की ऐसी भावना उत्पन्न होगई कि वे प्रत्येक अवसर की प्रतीक्षा करते और उससे लाभ उठाते थे। राजशक्ति का भय, जो अच्छे शासन का आधार तथा राज्य के ऐश्वर्य का स्रोत है, सब लोगों के हृदय से जाता रहा था और देश दुर्दशा का शिकार बन गया था।

यह दुर्दशा केवल उन सुल्तानों की राजनैतिक अयोग्यता का परिणाम नहीं थी जो राजधानी में महत्वाकांक्षी साहसिकों के हाथों की कठपुतलियाँ बन गये थे; बल्कि इसके लिए हिन्दुओं के तथा उन मुसलमान सूबेदारों के जो अपने स्वतन्त्र राजवंशों की स्थापना करना चाहते थे, विद्रोह भी जिम्मेदार थे। उस युग में, जबकि शक्ति उसी के हाथों में रहती थी, जिसमें उसे धारण करने की क्षमता होती थी, इससे भिन्न और कुछ हो भी नहीं सकता था। गुलामों ने किसी वंशानुगत अथवा वैध अधिकार के बल पर नहीं बल्कि प्राकृतिक निर्वाचन के मूल सिद्धान्त के आधार पर शासन किया। लेनपूल ने ठीक ही कहा है, "एक प्रतिभाशाली शासक के पुत्र के विफल होने की सम्भावना रहती है किन्तु एक वास्तविक नेता के गुलाम बहुधा अपने स्वामी के ही तुल्य सिद्ध हुए हैं। पुत्र तो केवल एक कल्पना की वस्तु होता है; उसमें अपने पिता की प्रतिभा हो अथवा न हो। यदि हुई भी तो भी पिता की सफलता और शक्ति के कारण विलासिता का ऐसा वातावरण बन जाता है कि पुत्र को स्वयं प्रयत्न करने की प्रेरणा नहीं मिलती। ... इसके विपरीत गुलाम योग्यतम होने के कारण आगे बढ़ पाता है; वह अपनी मानसिक तथा शारीरिक योग्यताओं के लिए चुना जाता है और सावधानीपूर्वक प्रयत्न तथा कठिन सेवा करके ही अपने स्वामी की दृष्टि में अपनी स्थिति को बनाये रख सकता है। यदि उसमें दोष हुए तो उसके भाग्य का फूटना निश्चित है। इल्तुतमिश तथा बलबन दोनों पुरानी ढंग के अत्याचारी थे। उन्होंने तत्परता के साथ अवसर से लाभ उठाया और अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।"

अराजकता का अन्त तथा व्यवस्था की स्थापना

ऐबक की मृत्यु के बाद वंशानुगत राजतन्त्र स्थापित करने के विफल प्रयत्न किये गये; किन्तु ऐबक का पुत्र आराम पूर्णतया असफल सिद्ध हुआ। 'उपद्रवों का दमन करने, सामान्य जनता को शान्ति प्रदान करने और सैनिकों के हृदयों को सन्तोष देने के लिये' उससे अधिक योग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी। इल्तुतमिश एक ऐसा व्यक्ति मिल गया, वह कुतुबुद्दीन का गुलाम तथा दामाद और बदायूँ का सूबेदार था।

१२११ ई० में इल्तुतमिश को जिस कार्य का सामना करना पड़ा वह किसी भी प्रकार से सरल नहीं था। ऐबक हिन्दुस्तान में अपनी सत्ता की स्थापना कर भी न

पाया था कि सहसा एक दुर्घटना से उसकी मृत्यु हो गई। यिल्दिज़ ने ग़ज़नी में अपने प्रभुत्व की पुनः स्थापना कर ली थी, कुबैचा जिसने ऐबक़ का आधिपत्य मान लिया था, एक अन्य गुलाम के सम्मुख समर्पण करनेवाला नहीं था। बंगाल को एबक़ ने अपनी व्यक्तिगत सत्ता स्वीकार करने पर बाध्य किया था, किन्तु उस प्रान्त का खिलजी सूबेदार अलीमर्दान उसके उत्तराधिकारी की अधीनता में रहने के लिए तैयार नहीं था। इसलिए पूर्व तथा पश्चिम, दोनों दिशाओं में दिल्ली के सुलतान को अपनी शक्ति तथा प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना करनी थी। इस कार्य को सम्पादित करने की योग्यता का इल्तुतमिश में किसी भी प्रकार से अभाव नहीं था। अपनी मृत्यु (१२३६ ई०) से पहले वह उत्तराधिकार में प्राप्त अपने राज्य का स्वामी बने रहने में ही सफल नहीं हुआ, बल्कि नई विजयों द्वारा उसने दिल्ली सल्तनत को अधिक पूर्ण कर लिया। यिल्दिज़ १२१५ ई० में तराइन के ऐतिहासिक रण-क्षेत्र में परास्त हुआ तथा बन्दी बना लिया गया और अन्त में उसकी हत्या करदी गई, कुबैचा ने १२१७ ई० में नाममात्र के लिए दिल्ली की अधीनता मान ली, किन्तु १२२७ ई० तक वह अपने प्रान्त (सिन्ध, मुलतान तथा पश्चिमी पंजाब) पर शासन करता रहा, अन्त में सिन्ध में डूबकर उसने अपना जीवन समाप्त किया। जब तक जीवित रहा तब तक वह इल्तुतमिश की बगल का काँटा बना रहा।

उद्दण्ड खलजियों ने बिहार तथा बंगाल के पूर्वी प्रान्तों में भयंकर उपद्रव खड़ा किया। एबक की मृत्यु का समाचार सुनकर अस्थिर-बुद्धि अलीमर्दान ने अपने को स्वतन्त्र घोषित करके अलाउद्दीन की उपाधि धारण की। "अपनी प्रजा के लिए वह एक निर्मम तथा रक्त-पिपासु अत्याचारी था और सीमास्थ प्रदेशों के हिन्दू-शासक उससे इतने भयभीत थे कि उसे प्रसन्न करने के लिए उन्होंने जो कर दिया उससे उसका कोप भर गया।" अपने इस आचरण के कारण वह दो वर्ष के भीतर ही एक अत्याचारी की मौत मर गया। अलीमर्दान के उत्तराधिकारी इवाज़ ने उसी के चरण-चिह्नों पर चलने का प्रयत्न किया। किन्तु १२२२ ई० में जब इल्तुतमिश का पुत्र नासिरुद्दीन महमूद अवध का सूबेदार नियुक्त हुआ और बिहार एक अन्य सूबेदार को सौंप दिया गया, तब इवाज़ ने सुलतान का अधिपत्य स्वीकार कर लिया। इतना होने पर भी १२२७ ई० में इवाज़ ने एक बार फिर विद्रोह किया, किन्तु महमूद ने उसे हराया तथा मार डाला और लखनौती पर अधिकार करके कामरूप के राजा बृतू पर भी विजय प्राप्त की। जब १२२९ ई० में महमूद की मृत्यु हो गई तो इवाज के पुत्र बल्का ने अपने को सुल्तान घोषित कर दिया और इख्तियारुद्दीन दौलत बल्का की उच्च उपाधि धारण की। इल्तुतमिश ने १२३०-३१ ई० में उस पर आक्रमण किया और उसे मारकर अलाउद्दीन जानी को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया।

बंगाल से लौटते समय १२३२ ई० में इल्तुतमिश ने ग्वालियर के विद्रोही राजा मंगल भवदेव का जिसने आरामशाह के शासनकाल में अपनी स्वतन्त्रता की पुनः

स्थापना कर ली थी, दमन किया। इसके बाद उसने मालवा पर आक्रमण किया, भिलसा तथा माँडू के क़िलों को हस्तगत कर लिया और विक्रमादित्य की उज्जयिनी में स्थित महाकाल के प्राचीन सूर्य-मन्दिर की लूट तथा विध्वंस करके अपनी उपाधि शम्सुद्दीन (धर्मादित्य) को सार्थक किया (१२३४ ई०)। इस आक्रमण के बाद इल्तुतमिश अधिक समय तक जीवित नहीं रहा। दिल्ली में मुलाहिदों के धर्मान्ध सम्प्रदाय ने उसकी हत्या के लिए षड्यन्त्र किया; किन्तु १२३६ ई० में रोग से इल्तुतमिश का देहावसान हो गया।

मंगोलाई भँवर

अनेक वर्षों से भारत में जितने संकट आये थे उनमें मंगोलों का संकट सबसे भयंकर था। मंगोल लोग मध्य एशिया में रहनेवाले घुमक्कड़ों के गुच्छ थे; किन्तु कुछ समय पूर्व उन्हें एक ऐसे साम्राज्य के रूप में बाँध दिया गया था जो विश्व इतिहास का केवल एक विजेता द्वारा स्थापित किया हुआ सबसे बड़ा साम्राज्य था। विख्यात चिनगिज़ख़ाँ (११५५-१२२७ ई०) के नेतृत्व में उन्होंने तातारी, चीन तथा कैस्पियनसागर पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। भारत किसी प्रकार इस भँवर से बच गया, यद्यपि बर्बरों की बाढ़ हमारी सीमाओं पर टकराई और पश्चिमी पंजाब में अपने चिह्न छोड़ गई। ख्वारिज़्म का शाह जलालुद्दीन ट्रांसऑक्सियाना से खदेड़ दिया गया था; अफ़ग़ानिस्तान तथा पंजाब में आकर उसने शरण ली और इल्तुतमिश से सहायता की प्रार्थना की। किन्तु दिल्ली के विचारशील सुल्तान को दुष्परिणामों का भय था इसलिए उसने जलालुद्दीन की यह प्रार्थना स्वीकार नहीं की। जब निराश शाह को भागने पर बाध्य होना पड़ा तो उसने कुमैथा के राज्य में प्रलय मचा दी। चिनगिज़ख़ाँ तथा उसके उग्र बर्बरों ने तेज़ी से उसका पीछा किया, किन्तु भारत का जलवायु इतना गर्म था कि वह उन्हें आकृष्ट न कर सका। फिर भी मंगोल लोग एक-दो पीढ़ी तक, जब तक कि वे अपना धर्म छोड़कर मुस्लिम-समाज में खप नहीं गये, पंजाब को पीड़ित करते रहे। अपने असंस्कृत रूप में वे कोरे बर्बर थे, उनकी आवाज़ 'पर्वतों में मेघध्वनि' की भाँति कड़कती थी और उनके हाथ रीछ के पंजों की भाँति इतने बलिष्ठ थे कि वे आदमी के वैसे ही सरलता से दो टुकड़े कर सकते थे जैसे कि एक साग के'। उनमें से प्रत्येक दिन भर में एक भेड़ खाता और भारी मात्रा में घोड़ी का खट्टा किया हुआ दूध (कुमिस) पीता; शीतकाल में भारी कोयलों की भट्टियों के सामने लेट जाता और 'शरीर पर पड़नेवाले कोयलों और चिनगारियों की चिन्ता न करता' तथा उन्हें मक्खियों का काटना समझता। मंगोल लोग मुसलमानों के साथ वैसा ही व्यवहार करते थे जैसा कि मुसलमान हिन्दुओं के साथ। उनका मस्जिदों तथा पवित्र वस्तुओं को जलाते, नष्ट करते और लूटते थे। वे स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों का बिना किसी भेदभाव के संहार करते और कभी कभी यह देखने के लिए उनकी आँते निकाल लेते कि कहीं इन्होंने रत्न तो नहीं

निगल लिये हैं। कवि अमीर ख़ुसरू एक बार एक मंगोल द्वारा बन्दी बना लिया गया था, उनके हाथों उसे भी कष्ट भोगने पड़े। उनका इन मर्मस्पर्शी शब्दों में उसने वर्णन किया है—

'मुस्लिम शहीदों के रक्त से रेगिस्तान रँग गया और मुसलमान वन्दियों की गर्दनें एक-दूसरे से ऐसे बाँध दी गई जैसे माला मे फूल गूँथ दिये जाते हैं। मुझे भी वन्दी बना लिया गया था और इस डर से कि ये मेरा रक्त बहायेंगे, मेरी धमनियों में रक्त की एक बूँद भी न रही। मैं पानी की भाँति इधर-उधर दौडता फिरा और मेरे पैरों में वैसे ही अगणित छाले पड गये जैसे कि नदी की सतह पर बुलबुले। अत्याधिक प्यास के कारण मेरी जीभ सूख गई और भोजन के अभाव से पेट सिकुड़ गया। उन्होंने मुझे वैसा ही नगा छोड दिया था जैसा शीतकाल में पत्तियों के झड जाने से वृक्ष अथवा काँटों से अत्यधिक क्षत-विक्षत फूल। मुझे पकडनेवाला मगोल घोड़े पर सवार था और ऐसा लगता था मानों पहाडी चट्टान पर कोई सिंह बैठा है; उसके मुख से घिनौनी दुर्गन्ध निकल रही थी और उसकी ठोडी पर एक पौदे के समान बालों का गुच्छा खडा हुआ था। यदि दुर्बलता के कारण मैं कुछ पीछे रह जाता, तो वह मुझे कभी तो कढ़ाई में भून डालने की धमकी देता और कभी भाले से काट डालने की। मैं आह भरता और सोचता कि इससे मुक्ति पाना असम्भव है। किन्तु ईश्वर की कृपा से मुझे मुक्ति मिल गई और न तो मेरी छाती ही बाण से छेदी गई और न शरीर के ही तलवार से दो टूक किये गये।'

'ख़लीफ़ा का सहायक'

इल्तुतमिश ने लगभग एक चौथाई शताब्दी (१२११-३६ ई०) तक राज्य किया। उसके महान् पूर्वाधिकारी एबक को उसके प्रभु गज़नी के शासक ने १२०६ ई० में सुल्तान की पदवी प्रदान की थी। सुल्तान के रूप में एबक के चार वर्ष के शासनकाल में दिल्ली-सल्तनत अपरिपक्व अवस्था में ही रही। एबक की सहसा मृत्यु से, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, उसके लिए छिन्न-भिन्न होने का संकट उपस्थित हो गया, इल्तुतमिश ने उसे इस संकट से मुक्त किया।

उसने दिल्ली-सल्तनत में नया जीवन फूँक दिया और उसे एक सुसम्बद्ध साम्राज्य के रूप में अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ गया। अपने समकालीन लोगों पर उसने जो प्रभाव डाला उसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि बग़दाद के ख़लीफ़ा ने उसे 'ख़लीफ़ा का सहायक' की उपाधि से विभूषित किया। इसी कारण इल्तुतमिश को दिल्ली-सल्तनत का वास्तविक संस्थापक माना गया है, किन्तु उसे "महानतम ग़ुलाम सुल्तान कहना" अतिशयोक्तिपूर्ण होगा, जैसा कि सर वोल्जले हेग ने किया है। यह पदवी तो गियासुद्दीन बलबन को मिलनी चाहिये। किन्तु यह कहने का अर्थ इल्तुतमिश के महत्व को कम करना नहीं है। संगठन का अत्यावश्यक कार्य उसीने सम्पादित किया। इसके अतिरिक्त उसने इस्लामी जगत में नैतिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली, जो ख़लीफ़ा की मान्यता के

कारण निस्सन्देह उसे मिल गई थी। उसने कुतुबमीनार का निर्माण कराया अथवा उसे पूरा किया। [कहा जाता है कि मीनार का यह नाम उस के ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी के नाम पर पड़ा था जिसका इल्तुतमिश अत्यधिक सम्मान करता था और जिसकी दिल्ली में ७ दिसम्बर ११३५ को मृत्यु हुई थी। यह विश्वास कि इसका निर्माण कुतुबुद्दीन ने कराया होगा इसके नाम तथा इस पर एक उत्कीर्ण लेख के कारण चला आया है। इसकी पाँचवी तथा अन्तिम मंजिल फ़ीरोज़ तुग़लक की बनवाई हुई बतलाई जाती है।] इसका निर्माण १२३१ ई० में हुआ था और संसार की सबसे ऊँची मीनार (२२१ फ़ीट के लगभग) मानी जाती है। 'उसके आगे निकले हुए छज्जे एक के बाद एक तुर्कीली तथा गोल बड़ेरियाँ तथा अरबी के सुन्दर उत्कीर्ण लेख सफेद तथा लाल पत्थर का जिसकी यह बनी हुई है, स्वाभाविक वैषम्य प्रस्तुत करते हैं।' मुद्रा में सुधार करनेवाला पहला मुस्लिम सुल्तान भी इल्तुतमिश ही था। उससे पहले मिश्रित धातुओं के देशी सिक्के चलते थे जिनके एक ओर बैल और दूसरी ओर घुड़सवार अंकित रहता और नागरी तथा अरबी दोनों लिपियों में लेख उत्कीर्ण होते थे। इल्तुतमिश ने चौड़ा चाँदी का टंका (आधुनिक रुपये का पूर्वज, १७५ ग्रेन का) चलाया जिस पर केवल अरबी लेख खुदा रहता था।

पराभव का एक दशक

इल्तुतमिश की मृत्यु से लेकर नासिरुद्दीन के सिंहासनारोहण-तक का एक दशक (१२३६-४६ ई०) दिल्ली के लिए पतन का युग था। यह दशक अराजकता के उन युगों में से दूसरा था जो अगली पाँच शताब्दियों से भी अधिक के काल में समय-समय पर निर्मम रूप से इसलिए आते रहे कि मुसलमानों में शान्तिमय उत्तराधिकार का कोई सर्वमान्य नियम नहीं था। लखनौती के सूबेदार शाहज़ादा महमूद की मृत्यु के बाद इल्तुतमिश ने जिसे अपने पुत्रों से कोई आशा नहीं थी, अपनी पुत्री रज़िया को युवराज्ञी नियुक्त किया, किन्तु उसकी असाधारण योग्यताओं के बावजूद भी यह स्पष्ट था कि उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुए बिना नहीं रहेगा।

तत्कालीन इतिहासकार मिनहाज-उस-सिराज लिखता है कि किस प्रकार रज़िया योग्य तथा अयोग्य दोनों थी— उसमें राजोचित सभी गुण विद्यमान थे किन्तु वह पुरुष योनि में उत्पन्न नहीं हुई थी, इसलिए सब पुरुषों की दृष्टि में उसके ये गुण निरर्थक थे (ईश्वर उस पर दया करे।) अपने पिता के समय में उसने बड़ी प्रतिष्ठा के साथ राजसत्ता का उपभोग किया। उसकी माता सुल्तान की पटरानी थी और वह कुश्के फ़ीरोज़ी में प्रमुख राजप्रासाद में निवास करती थी। सुल्तान ने उसके मुखमण्डल पर शक्ति तथा वीरता के चिह्न देखे और यद्यपि वह लड़की ही थी और एकान्त में रहती थी, फिर भी ग्वालियर की विजय (१२३२ ई०) से लौटकर सुल्तान ने अपने सचिव को जो सरकार का संचालक था, उसका नाम रज़िया की युवराज्ञी तथा सिंहासन की उत्त

राधिकारिणी के रूप में लेखबद्ध करने की आज्ञा दी ।' कहा जाना है कि सनातनी परम्पराओं के समर्थकों ने इस सम्बन्ध में जो आपत्ति उठाई, उसका सुल्तान ने इस प्रकार उत्तर दिया, "मेरे पुत्र यौवन के भोग-विलास में लिप्त हैं और उनमें से कोई भी सुल्तान होने के योग्य नहीं है। उनमें राज्य पर शासन करने की क्षमता नहीं है और मेरी मृत्यु के उपरान्त आप देखेंगे कि राज्य का सचालन करने के लिए मेरी पुत्री से अधिक योग्य कोई व्यक्ति नहीं है।" मिनहाजुद्दीन विश्वासपूर्वक लिखता है कि 'बाद में सर्वसम्मति से यह स्वीकार कर लिया गया कि सुल्तान का निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण था।'

किन्तु 'रक्तपात तथा तलवार' के उस युग में युद्ध ही न्याय का एकमात्र साधन था। अमीर लोग स्वर्गीय सुल्तान के इस मूर्खतापूर्ण नाम-निर्देशन को मानने के लिए उद्यत नहीं थे। इसलिए उन्होंने रज़िया के एक भाई रुक्नुद्दीन को सिंहासन पर बिठला दिया। इसके उपरान्त क्रान्ति तथा प्रतिक्रान्ति हुई, जिनके ब्यौरे का यहाँ वर्णन करना सर्वथा निरर्थक होगा। अवध, बदायूँ, हाँसी, मुल्तान तथा लाहौर के सूबेदारों ने खुले रूप से विद्रोह कर दिया। राज्य के वज़ीर जुनैदी ने भी युवराज्ञी को उत्तराधिकारिणी नहीं स्वीकार किया। किन्तु रज़िया ने शीघ्र ही तलवार के बल से अपने पिता के निर्णय का औचित्य सिद्ध कर दिया। वह पुरुषों के वस्त्र पहनती, 'हियावथा की भाँति युद्ध-राग लगाती' और घोड़े पर सवार होकर उसी भाँति युद्ध-क्षेत्र को जाती जैसे आगे के युग में चाँदबीबी। कुछ समय के लिए उसे सफलता मिलती दिखाई दी और लखनौती से देवल तक सभी मलिक और अमीर उसकी आज्ञा मानते और आधिपत्य स्वीकार करते थे। वह खुले दरबार में बैठती और स्त्री होने की चिन्ता न करते हुए राज्य का काम-काज चलाती। जैसा कि इतिहासकार लिखता है उसने सिद्ध कर दिया कि वह 'एक महान् शासक' थी। 'वह बुद्धिमान, न्यायप्रिय, उदार, राज्य का हित चाहनेवाली, न्याय करनेवाली, प्रजापालक तथा अपनी सेनाओं की सचालक थी।' किन्तु तेरहवीं शताब्दी ई० में एक स्त्री के लिए यह सब कुछ आवश्यकता से अधिक था। उसके प्रतिद्वन्दी शीघ्र ही उसके पीछे पड़ गये, विशेषकर 'चालीस' जो दरबार में तुर्की गुलामों के शक्तिशाली मडल थे। उनके भड़काने पर भटिंडा के सूबेदार इख्तियारुद्दीन अल्तूनिया ने विद्रोह कर दिया। अमीरों के क्रोध का मुख्य कारण सुल्ताना रज़िया का हबशी प्रेमी याकूत था, जिसका इस रानी के प्रति वैसा ही व्यवहार था, जैसा एसैक्स के अर्ल का रानी एलिजबैथ के साथ। जब रज़िया ने अपने प्रेमी के साथ भटिंडा के लिए कूँच किया, तो याकूत का वध कर दिया गया और सुल्ताना बन्दी बना ली गई। किन्तु चतुर रज़िया ने अपने पकड़नेवाले अल्तूनिया को प्रेमपाश में बाँध लिया और अपनी स्वतन्त्रता के मूल्यस्वरूप उससे विवाह कर लिया। इसके बाद उन दोनों ने खोई हुई सत्ता पुनः प्राप्त करने के लिए दिल्ली को प्रस्थान किया। इसी बीच में 'चालीस' ने रज़िया के सौतेले भाई बहराम को सिंहासन पर बिठला दिया था। हेग लिखते हैं कि "इसमें सन्देह नहीं कि साधारणतया सिंहासन

भी 'चालीस' में से ही किसी एक को मिल जाता, यदि उनकी पारस्परिक ईर्ष्या ने उन्हें अपने में से एक को चुनने से न रोका होता।" सुल्ताना तथा उसके पति की फिर हार हुई और दूसरे दिन (१४ अक्टूबर १२४० ई०) हिन्दुओं ने जिन्हें उन्होंने अपनी सहायता के लिये बुलाया था, उन दोनों का वध कर दिया।

बहराम से बलबन तक

अगले छः वर्षों (१२४०-४६ ई०) में निरन्तर उपद्रव होते रहे। स्वयं बहराम का, जो 'निर्भीक साहसी तथा रक्त पिपासु' था, राजनिर्माताओं ने दो वर्ष के भीतर ही वध कर दिया और इल्तुतमिश के एक नाती अलाउद्दीन मसूद को कठपुतली के रूप में सिंहासन पर बिठला दिया। अत्याचारी तथा व्यभिचारी होने के कारण उसे भी शीघ्र ही कारागार तथा मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा (१२४२-४६)। समस्त देश में अव्यवस्था फैल गई। पूर्व में बिहार तथा बंगाल और पश्चिम में सिन्ध तथा मुल्तान दिल्ली से लगभग पृथक हो गये। ऊपरी पंजाब को मंगोलों ने नष्ट भ्रष्ट कर दिया और खोक्खरों ने उस पर अधिकार कर लिया। उन्हीं उपद्रवों के बीच व्यभिचारी मसूद सिंहासन से हटा दिया गया और उसके संयमी तथा पुण्यात्मा चचा नासिरुद्दीन महमूद को गद्दी सौंप दी गई। इस सुल्तान ने बीस वर्ष (१२४६ ६६ ई०) राज्य किया। किन्तु जैसा कि हम पहले कह आये हैं, इस युग में वास्तविक शासक सिंहासन के पीछे शक्ति बलबन था। यह तुर्की गुलाम था जिसे इल्तुतमिश ने ग्वालियर की रण-यात्रा के बाद १२३३ ई में दिल्ली में ख़रीदा था। सुल्ताना रज़िया के समय में उसने मृगयाध्यक्ष (अमीरे शिकार) के पद पर कार्य किया। बहराम तथा मसूद के शासन-काल में वह शाही परिवार का मुख्य प्रबन्धक बना दिया गया और रेवाड़ी तथा हाँसी की जागीरें उसे दे दी गईं। बाद में उसने उलुगख़ाँ की उपाधि प्राप्त कर ली और अपनी पुत्री का विवाह सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद के साथ कर दिया। महमूद के बीस वर्ष के राज्य काल में मुख्य-मन्त्री के रूप में उसने इतनी शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली कि सुल्तान ने उसे अपना उत्तराधिकारी नामनिर्देशित कर दिया और इस निर्णय के अनुसार १२६६ ई० में वह सिंहासन पर बैठा।

नासिरुद्दीन का निजी इतिहास संक्षेप में कहा जा सकता है। उसके इतने लम्बे समय तक राज्य करते रहने का एक कारण था। अपने पूजा पाठ में वह इतना व्यस्त रहता था कि उलुगख़ाँ के शासन में हस्तक्षेप करने का उसे अवसर ही न मिलता था। 'शासन की बागडोर' बलबन के हाथों में थी। धार्मिक तथा सुशील नासिरुद्दीन के सम्बन्ध में अनेक किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। 'सत्य यह प्रतीत होता है कि युवक सुल्तान में संयम, मितव्ययिता तथा व्यावहारिक धार्मिकता के वे गुण विद्यमान थे जिनका उस जैसे व्यक्तियों में मिलना दुर्लभ होता है। उसे सुलेखन कला में रुचि थी, जिससे अपना अवकाश का समय वह कुरान की प्रतिलिपियाँ तैयार करने में बिताया करता था। इन्हीं गुणों के कारण उसकी इतनी

अतिरञ्जित प्रशंसा की गई है।" बीच में एक थोड़े समय को छोड़ कर सुल्तान के शेष राज्य-काल में बलबन ने राज्य के सभी विषयों में अधिनायक की भाँति कार्य किया।

बलबन का अधिनायकत्व

'इस प्रकार शक्ति तथा प्रभुत्वरूपी बाज़ जब बलबन की पवित्र कलाई पर रख दिया गया' तो उसने चालीस वर्ष तक (१२४६-८६ ई०) हिन्दुस्तान पर शासन किया। इसमें से आधे समय उसने मुख्य मन्त्री और शेष में सुल्तान के रूप में कार्य किया। पहले से ही १२४५ ई० में उसने उच के स्थान पर मंगोलों को हरा कर देश से मार भगाया था और इस प्रकार सैनिक यश प्राप्त कर लिया था। उसके सामने तीन मुख्य काम थे : (१) मंगोलों को दूर रखना, (२) विद्रोही तथा कुचक्री मुस्लिम प्रतिद्वन्दियों का दमन करना और (३) हिन्दुओं के विद्रोहों को कुचलना। इन सब में उसे उच्च कोटि की सफलता प्राप्त हुई।

सबसे पहले उद्दण्ड हिन्दू-राजाओं को बलबन का प्रहार झेलना पड़ा। १२४६ ई० में लम्बी लड़ाई के बाद कन्नौज राज्य में स्थित तलसन्दा का दुर्ग हस्तगत कर लिया गया। इसके उपरान्त कड़ा तथा कालिञ्जर के प्रदेशों को वश में किया गया, और अन्त में उसने मेवात तथा रणथम्भौर का विध्वंस किया (१२४८ ई०)। मेवात के हिन्दुओं का दमन करना सबसे अधिक कठिन था और उन्होंने दीर्घकाल तक मुसलमानों के विरुद्ध लूटमार जारी रक्खी। सुल्तान होने से पहले उलुगखाँ ने (१२५६ ई०) उन पर अन्तिम चढ़ाई की और उस अवसर पर उसने अपनी वह सब क्रूरता प्रदर्शित कर दी जिसके लिए उसका राज्य काल इतना बदनाम है। लगभग १२,००० काफिरों का बिना किसी भेद-भाव के संहार कर दिया गया और उनके २५० नेता बन्दी बना लिये गये। लगभग २१,००,००० टंका मूल्य का धन दिल्ली लाया गया। ग्वालियर, चँदेरी, मालवा और नरवर का भी इसी प्रकार १२५१-५२ ई० में दमन कर दिया गया था।

उलुगखाँ के मुस्लिम प्रतिद्वन्दियों ने इस सर्वशक्तिमान मुख्य मन्त्री को अपदस्थ करने के लिए षड्यन्त्र रचा। १२५२ ई० में वे सहज विश्वासी सुल्तान को अपने पक्ष में कर लेने में सफल हो गये। कुछ समय के लिये बलबन को उसकी रेवाड़ी तथा हाँसी की जागीर में निर्वासित कर दिया गया और उसके स्थान पर षड्यन्त्रकारियों का मुखिया रैहन, जो हिन्दू से मुसलमान हो गया था, मुख्यमन्त्री नियुक्त हुआ। किन्तु बलबन का यह पराभव एक वर्ष से अधिक नहीं चला। रैहन के अनुयायियों की पारस्परिक ईर्ष्या तथा तुर्की अमीरों के विरोध के कारण अपहरणकर्ता के विरुद्ध एक शक्तिशाली संगठन बन गया। देश के सभी भागों के अमीरों और मलिकों ने एक विशाल सेना एकत्रित कर ली और १२५३ ई० में बलबन के नेतृत्व में रैहन के विरुद्ध कूच कर दिया। सुल्तान को बाध्य होकर उलुगखाँ को

उसके पूर्व पद पर नियुक्त करना पड़ा। रैहन को उसकी बदायूँ की जागीर में भेज दिया गया।

१२५५ ई० में अवध तथा सिन्ध के मुसलमान सूबेदारों ने बलबन के अधिनायकत्व को चिनौती देने का अन्तिम प्रयत्न किया। राजधानी के कुछ अमीरों और मलिकों तथा कुछ असन्तुष्ट हिन्दुओं से मिलकर उन्होंने एक संयुक्त मोर्चा खड़ा करना चाहा। किन्तु उनके दल शीघ्र ही छिन्न भिन्न हो गये। इसी प्रकार १२५७ ई० में तुगिमसरी के नेतृत्व में मंगोल आक्रमण भी विफल रहा। दो वर्ष उपरान्त (१२५९ ई०) चिनगिज़ख़ाँ के नाती हलाकू ने दिल्ली दरबार में अपना एक राजदूत भेजा। एक दरबार में, जिसका धार्मिक सुल्तान ने स्वयं सभापतित्व किया, उसका बड़ी धूम धाम से स्वागत किया गया। इसके बाद बलबन के राज्यारोहण तक (१२६६ ई०) हमें तत्कालीन इतिहासकारों से अधिक कुछ सुनने को नहीं मिलता।

गुलामों में सर्वश्रेष्ठ बलबन

बीस वर्ष से अधिक की महत्वपूर्ण सेवाओं के कारण बलबन राज्य का प्रमुख राजनीतिज्ञ तथा सैनिक बन गया था। रैहन की घटना से नासिरुद्दीन का विश्वास हो गया था कि बलबन के बिना राज्य का कार्य नहीं चल सकता। इसलिए अपनी मृत्यु से पहले (१२६६ ई० में) सुल्तान ने उलुगख़ाँ को सिंहासन के लिए अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। नासिरुद्दीन के कोई औरस पुत्र नहीं था। इसके अतिरिक्त राज्य में अन्य कोई इतना योग्य व्यक्ति नहीं था जो उस समय की कठोर परिस्थिति का सामना कर सकता। इसलिए नासिरुद्दीन ने अपने मुख्य मंत्री को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करके उसके तथा अपनी प्रजा दोनों के प्रति न्याय किया। बलबन ने अगले २० वर्षों में (१२६६ से ८६ ई०) सुल्तान के रूप में अत्यधिक योग्यता के साथ शासन करके नासिरुद्दीन के इस निर्णय को पूर्णतया उचित सिद्ध कर दिया।

'तारीख़े-फ़ीरोज़शाही' का रचयिता ज़ियाउद्दीन बरनी लिखता है कि—'जब वह सिंहासन पर बैठा तो उसने उसे एक नया तेज प्रदान कर दिया, उसने शासन में व्यवस्था कायम की और उन संस्थाओं की क्षमता को पूर्ववत् स्थापित किया जिनकी शक्ति नष्ट अथवा शिथिल हो चुकी थी। सरकार की प्रतिष्ठा तथा सत्ता की पुनः स्थापना हुई और उसके कठोर नियमों तथा दृढ़ संकल्प के कारण राज्य भर के सभी ऊँचे तथा नीचे व्यक्तियों ने उसकी सत्ता के सामने समर्पण कर दिया। सभी लोगों के हृदयों में उसका भय तथा आतंक बैठ गया, किन्तु उसके न्याय तथा लोक-हित कामना के कारण प्रजा उसके पक्ष में हो गई और उसके सिंहासन की कट्टर समर्थक बन गई।'

'रक्त तथा तलवार' का शासन

लेनपूल लिखते हैं कि "गुलाम, भिश्ती, शिकारी, सेनानायक, राजनीतिज्ञ तथा सुल्तान आदि विभिन्न रूपों में कार्य करनेवाला बलवन दिल्ली-शासकों की दीर्घ परम्परा में सबसे अधिक आकर्षक व्यक्तियों में से एक है।" यह धारणा सुल्तान गियासुद्दीन बलबन ने अपने बीस वर्ष के 'रक्त तथा तलवार' के शासन से लोगों की स्मृतियों में बिठला दी थी। उसमें कोमल भावनाओं का अभाव नहीं था, क्योंकि तत्कालीन इतिहासकारों ने अनेक ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है जिनसे सुल्तान के आँसू निकल पड़े थे। किन्तु यथार्थवादी होने के नाते वह युग की आवश्यकताओं को भली-भाँति समझता था, इसलिए उसने यत्नपूर्वक उन गुणों को विकसित किया, जो उसकी महत्वाकांक्षापूर्ण योजनाओं को सफल बनाने में योग दे सकते थे। उसने अपने आदर्शों को सामने रखकर कार्य किया और इस विषय में उसने न अपने साथ रियायत की और न दूसरों के। अपने राज्यारोहण के समय तक उसने जीवन के आमोद-प्रमोद से अपने को वंचित नहीं रखा था, किन्तु जैसे ही वह सिंहासन पर बैठा उसने कठोर गम्भीरता धारण कर ली जिससे वे लोग जो पहले उसके समकक्ष थे, आश्चर्यान्वित तथा भयग्रस्त हो गये। बरनी के वर्णन से उसके चरित्र का सही चित्र उपलब्ध होता है :—

प्रताप—'सुल्तान गियासुद्दीन बलबन को शासन-सम्बन्धी विषयों का अनुभव था। वह मलिक से खान और खान से सुल्तान बना था।...... ......पहले तथा दूसरे वर्ष में उसने बहुत ठाट-बाट बनाया और वैभव तथा ऐश्वर्य का प्रदर्शन किया। उसके साज-सामान तथा तड़क-भड़क को देखने के लिए हिन्दू तथा मुसलमान सौ-सौ और दो दो सौ कोस से आया करते तथा विस्मय से चकित हो जाते थे। दिल्ली मे इससे पहले किसी भी सुल्तान ने इतने ठाट-बाट और वैभव का प्रदर्शन नहीं किया था। अपने शासन के बीस वर्षों में सिंहासन के प्रताप, सम्मान तथा गौरव की जितनी रक्षा उसने की उससे अधिक और किसी के लिए सम्भव नहीं थी। उसके कुछ चाकरों ने जो एकान्त में उसके साथ रहते थे, मुझे विश्वास दिलाया कि हमने सुल्तान को पूरी पोशाक से कम में कभी नहीं देखा। चालीस वर्ष के काल में जब वह खान तथा सुल्तान था, उसने कभी नीच कुल तथा पेशे के लोगों से बातचीत नहीं की और न कभी मित्रों अथवा अपरिचितों से इतनी घनिष्टता बरती जिससे सुल्तान की प्रतिष्ठा में किसी प्रकार की न्यूनता आती। उसने कभी किसी के साथ परिहास नहीं किया और न अपनी उपस्थिति में किसी को मजाक करने दिया, वह न स्वयं कभी जोर से हँसता और न किसी को दरबार में हँसने की आज्ञा देता। जब तक वह जीवित रहा, किसी पदाधिकारी अथवा परिचित का किसी नीच कुल अथवा स्थिति के व्यक्ति की नौकरी के लिए सिफारिश करने का साहस नहीं हुआ। न्याय के शासन में वह कठोर था और अपने जाति बिरादरीवालों, पुत्रों, मित्रों अथवा नौकरों, किसी के साथ भी पक्षपात नहीं करता था। यदि उनमें से कभी कोई अन्यायपूर्ण कार्य करता तो वह पीड़ित व्यक्ति के कष्ट को दूर करने तथा उसे सान्त्वना देने

से कभी न चूकता। कोई भी व्यक्ति अपने गुलामों, दासियों, घुड़सवारों अथवा पैदलों के साथ कठोरता का व्यवहार करने का साहस नहीं कर सकता था।

न्याय—कुछ प्रासंगिक घटनाओं की समीक्षा करने से स्पष्ट हो जायगा कि बरनी का कथन अतिरंजित नहीं है। बदायूँ का मलिक बकबक एक प्रभावशाली अमीर था और ४,००० घुड़सवार रखता था। किन्तु जब उसने अपने एक नौकर को कोड़ों से पिटवाकर मरवा डाला तो बलबन ने उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार करवाया। इसके अतिरिक्त उसने उस समाचारवाहक को जिसने इस अपराध की सूचना सुल्तान को नहीं दी थी, नगर के फाटक पर लटकवा दिया। इसी प्रकार सुल्तान ने अवध के जागीरदार हैबतखाँ के जिसने शराब के नशे में अपने एक नौकर को मार डाला था, पाँच सौ कोड़े लगवाये और फिर उसे मृत पुरुष की विधवा को सौंप दिया और सिफारिश की कि, 'यह हत्यारा मेरा गुलाम था, अब तुम्हारा है। जैसे इसने तुम्हारे पति को छुरा भोंक कर मार डाला, वैसे ही तुम इस को मार डालो।" अभागे अमीर ने २०,००० टंका देकर उस स्त्री से अपना जीवन तथा मुक्ति खरीद ली और शेष जीवन भर लज्जा से अपना सिर नीचे किये रहा।

लूट-मार का दमन—सुल्तान ने शान्ति व्यवस्था तथा सुरक्षा की स्थापना में भी ऐसी ही कठोरता और निर्ममता का परिचय दिया। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उसने अपने राज्य-काल के पहले ही वर्ष में 'अपनी परिपक्व निर्णय-बुद्धि तथा अनुभव को सबसे पहले सेना के पुनः संगठन में लगाया क्योंकि सेना सुशासन का स्रोत तथा साधन है। पुरानी तथा नई घुड़सवार और पैदल फौजें अनुभवी मलिकों तथा उन सरदारों के नायकत्व में रख दी गईं जो अपने काम में प्रथम श्रेणी के माने जाते थे और जो वीर, प्रतापी तथा राजभक्त थे।' दोआब के मेव लोगों ने विशेषकर खतरनाक कार्य आरम्भ कर दिये थे। वे उसी प्रकार गिरोह बनाकर घूमा करते थे जैसे छः शताब्दियों बाद ठग, और सब दिशाओं में फैल गये थे। दिल्ली तक को उन्होंने इतना त्रस्त किया कि तीसरे पहर की नमाज़ के बाद नगर के फाटक बन्द करने पड़ते थे। वे उन कहारों तथा स्त्रियों तक के कपड़े उतरवा लेते जो नगर की दीवाल के भीतर स्थित जलाशयों से पानी भरने जाती थीं। दिल्ली से लेकर बंगाल तक समस्त देश में सड़कें तथा जंगल डाकुओं से भरे हुए थे। इसलिए अपने राज्यारोहण के दूसरे वर्ष ही बलबन जी जान से उनका नाश करने में जुट गया। जंगलों को साफ़ करवाया गया, उनमें छिपे हुए मेवों को मार डाला गया, किले बनवाये गये और सब दिशाओं में पुलिस की चौकियाँ स्थापित की गईं। इसके अतिरिक्त सावधानी के विचार से उपद्रवग्रस्त प्रदेशों के गाँवों और नगरों को शक्तिशाली अमीरों को जागीरों के रूप में दे दिया गया। "बलबन स्वयं कई महीने तक पटियाली, कम्पिल भोजपुर और जलाली के किलों में रहा, सब डाकुओं को नष्ट कर दिया, उन स्थानों पर किले बनवाये उनकी रक्षा के लिए अफ़ग़ान सैनिक नियुक्त किये जिन्हें निकटवर्ती गाँवों में निर्वाह

के लिए भूमि दी गई,'और इस प्रकार एक शताब्दी के लिए बंगाल तथा दिल्ली के बीच के मार्गों पर शान्ति स्थापित की।"

हिन्दुओं का दमन—जब १२६० ई० में कटेहर के हिन्दुओं ने विद्रोह किया तो उनका इतनी क्रूरता से दमन किया गया कि 'हौज रानी के मैदानों तथा दिल्ली के फाटकों की स्मृति में ऐसा दण्ड कभी नहीं दिया गया था; और न किसी ने ऐसे भीषण काण्ड के विषय में सुना ही था। सुल्तान की आज्ञा से अनेक विद्रोहियों को हाथियों के पैरों के नीचे फेंक दिया गया और क्रूर तुर्कों ने हिन्दुओं के शरीरों के दो-दो टुकड़े कर दिये। लगभग सौ व्यक्तियों की सिर से पैर तक जीवित खाल खिंचवाली गई, उनकी खालों में भूसा भर दिया गया और उनमें से कुछ नगर के फाटकों पर लटकवा दी गईं। उपद्रवकारियों के रक्त की नदियाँ बहने लगीं, प्रत्येक गाँव तथा जंगल के पास मरे हुओं के ढेर देखने को मिलते थे, और शवों की दुर्गन्ध गंगा तक फैल गई।' आठ वर्ष की अवस्था से ऊपर के सभी पुरुषों का वध कर दिया गया और स्त्रियों को ग़ुलाम बना लिया गया। इस नरमेध तथा हत्याकाण्ड के परिणामस्वरूप बदायूँ, अमरोहा, साँभल तथा गन्नौर के ज़िलों में तीस वर्ष तक श्मशान की शान्ति का राज्य रहा। १२६८-६९ ई० में फिर बलबन ने नमक की पहाड़ियों के प्रदेश पर आक्रमण किया, हिन्दुओं को हराया तथा लूटा और इतने घोड़े पकड़ लिये कि शिविर में एक-एक घोड़ा तीस-तीस और चालीस-चालीस टका में बिका। बलबन को हिन्दुओं पर विश्वास नहीं था और उसने उन्हें कभी किसी पद पर नियुक्त करने का विचार नहीं किया।

मंगोल—यद्यपि मंगोल अनेक बार हारे और भारत से खदेड़ दिये गये, तथापि उनके आक्रमण कभी पूर्णतया बन्द नहीं हुए। पूर्व सुल्तान के राज्य-काल में उनके नेता हुलाकू के राजदूत का जो स्वागत किया गया था, उसके परिणामस्वरूप तब्रिज तथा दिल्ली के दरबारों के बीच कूटनीतिक आदान-प्रदान अवश्य हुआ, किन्तु यह केवल एक विराम-सन्धि थी। पश्चिमोत्तर सीमा पर मंगोलों का संकट सदैव उपस्थित रहता था, इसलिए बलबन को अपने सम्पूर्ण राज्यकाल में उस प्रदेश में विशाल सेनाएँ रखना पड़ीं। पहले उसने अपने चचेरे भाई शेरख़ाँ शंकर को पंजाब का भार सौंपा। किन्तु नमक की पहाड़ियों की चढ़ाई के समय, जिसका हम पहले वर्णन कर आये हैं, बलबन ने देखा कि सीमा-प्रान्तों की सामन्ती व्यवस्था में अनेक दोष हैं, इसलिए उसने शेरख़ाँ को हटाकर अपने पुत्रों—मुहम्मद तथा बुगराख़ाँ—को नियुक्त किया (१२७० ई०)। शेरख़ाँ ने विद्रोही प्रकृति का परिचय दिया, इसलिए उसे दरबार में बुला लिया गया जहाँ सन्देहजनक परिस्थितियों में उसकी मृत्यु हो गई; कहा जाता है कि बलबन की इच्छा से उसे विष देकर मार डाला गया था।

बलबन का सबसे बड़ा पुत्र तथा युवराज राजकुमार मुहम्मद योग्य तथा विचारशील सूबेदार था। कवि अमीर ख़ुसरो तथा अमीर हसन उसके दरबार की

सुशोभित करते थे। "कठोर तथा बूढ़े सुल्तान की सम्पूर्ण आशाएँ उसीमें केन्द्रित थीं उसी के लिए 'चालीस' का नाश किया गया तथा निकट सम्बन्धियों का रक्त बहाया गया था।" "जाने से पहले उसे नियमपूर्वक युवराज नाम 'वलीअहद' तथा राजत्व के कुछ चिह्नों से विभूषित कर दिया गया था।' किन्तु यह सब निरर्थक सिद्ध हुआ, क्योंकि यद्यपि १२७१ ई० में मंगोल पिट गये थे, किन्तु १२८५ में वे फिर आ धमके। इस बार राजकुमार को विजय का भारी मूल्य चुकाना पड़ा। युद्ध में वह स्वयं मारा गया। पिता को अत्यधिक शोक हुआ। इसके बाद उसने सदैव शहीद कह कर उसका उल्लेख किया।

तुग़रिल का विद्रोह—बंगाल साम्राज्य का सबसे अधिक दुर्दमनीय भाग था। उसकी राजधानी लखनौती दिल्ली में बलगाकपुर (विद्रोह का नगर) के नाम से विख्यात थी। उसका सूबेदार तुग़रिल बलबन का विश्वसनीय गुलाम था। किन्तु १२७१ ई० में सुल्तान की रुग्णावस्था तथा मंगोल आक्रमण से अवसर पाकर उसने अपने मस्तिष्क में विद्रोह की योजना बनाई'। उसने राजचिह्न धारण किये और अपने नाम से खुतबा पढ़वाया। बलबन ने दो सेनापतियों—पहले अमीनखाँ और फिर मलिक तार्गी—को भेजा; किन्तु उन दोनों को हार खानी पड़ी। उनकी सेनाओं को हराने का जितना श्रेय शत्रु के कार्यों को था, उसके खोने को उससे कम न था। क्रोधोन्मत्त सुल्तान ने बुढ़ापे के आवेश में आकर उन दोनों सेनापतियों को अयोध्या के फाटकों पर लटकवा दिया और स्वयं शत्रु से लोहा लेने की तैयारियाँ करने लगा। यद्यपि वर्षा आरम्भ हो गई थी, फिर भी बलबन ने अपने छोटे पुत्र बुगराख़ाँ को साथ लेकर एक विशाल नावों के बेड़े के साथ यमुना तथा गंगा में होकर यात्रा की। जब तक वह अवध पहुँचा उसकी सेना की संख्या २,०० ००० तक पहुँच गई। यह समाचार पाकर तुग़रिल भाग खड़ा हुआ। वह अपनी सेना तथा लखनौती के अधिकतर निवासियों के साथ जाजनगर (आधुनिक उड़ीसा) को भाग गया। सुल्तान की सेना ने उधर भी उसका पीछा किया और मलिक मुक़द्दिर के नेतृत्व में जाँच पड़ताल करनेवाले एक दल ने बागी से उसे मार गिराया; इस साहसिक कार्य के कारण मुक़द्दिर को तुग़रिल कुश (तुग़रिल का वध करनेवाला) की उपाधि मिल गई। इसके बाद प्रतिशोध का कार्य आरम्भ हुआ जिसे देखकर उन लोगों का भी दिल दहल गया जो सुल्तान के 'रक्त तथा तलवार' के शासन से अभ्यस्त हो चुके थे। लखनौती के दो मील लम्बे बाज़ार के दोनों किनारों पर खूँटे गाड़ दिये गये और अभागे विद्रोहियों तथा उनके परिवारों के सदस्यों को उन पर ठोंक दिया गया। इसी प्रकार के और भी अत्याचार किये गये। जब बलबन की प्रतिशोध की प्यास तृप्त हो गई तब उसने बुगराख़ाँ को इस वधशाला को देखने के लिए बुलाया और उससे ये स्मरणीय शब्द कहे : "जो मैं कहूँ उसे समझो और यह मत भूलो कि यदि हिन्द सिन्ध, मालवा, गुजरात, लखनौती अथवा सुनारगाँव के सूबेदारों ने दिल्ली के सिंहासन के विरुद्ध तलवार उठाई और विद्रोह किया तो जो दण्ड तुग़रिल तथा

उसके आश्रितों को मिला है वही उन्हे उनकी स्त्रिया, बच्चों तथा साथियों को भुगतना पड़ेगा।" १२८२ ई० में राजधानी को लौटने पर दिल्ली-सेना के भगोड़ों तथा सन्देहास्पद व्यक्तियों को भी यही दुर्भाग्य देखना पड़ा होता, किन्तु नगर के कोतवाल की सिफ़ारिश के कारण वे बच गये। बुग़राख़ाँ को बंगाल का भार सौंप दिया गया जहाँ वह तथा उसके वंशज १३३९ ई० तक राज्य करते रहे।

ग़ुलाम-वंश का अन्त

जब कि बंगाल के प्रान्त में जो अत्यधिक उपद्रवी सिद्ध हो चुका था, बलबन के उत्तराधिकारी आधी शताब्दी तक और शासन करते रहे, दिल्ली में ग़ुलाम-वश के उस महानतम सुल्तान की मृत्यु के बाद पाँच वर्ष भी न बीतने पाये थे कि उसके उत्तराधिकारियों की सत्ता उलट दी गई। बलबन स्वयं शाहज़ादा मुहम्मद की दुःखद मृत्यु के एक वर्ष के भीतर ही १२८६ ई० में मर गया। सुल्तान की आयु उस समय ८० वर्ष से अधिक हो चुकी थी और यद्यपि वह इस बज्राघात के उपरान्त भी अपने शोक को छिपाये हुए, सार्वजनिक रूप से राज-काज चलाता रहा, किन्तु कहा जाता है कि उसके हृदय को इतनी गहरी चोट लगी थी कि जब वह अकेला होता तो शोक के कारण अपने वस्त्र फाडता और सिर पर धूल डालता। अपनी मृत्यु से पहले उसने बुगराख़ाँ को अपना उत्तराधिकारी नाम-निर्देशित किया। किन्तु उस प्रमादी तथा विषयासक्त राजकुमार ने इस उत्तर-दायित्व को सँभालने से इन्कार किया और अन्त में निराश पिता ने 'शहीद राजकुमार' मुहम्मद के पुत्र कै.ख़ुसरौ के लिए सिंहासन छोड़ दिया। फिर भी दिल्ली की समस्याओं का इतनी सरलता से हल नहीं हो सकता था। जैसे ही बूढे सुल्तान ने आँखें मूँदीं, तुर्की अमीरों ने एक दूसरे अनुभवहीन युवक कैक़ुबाद (बुग़र ख़ाँ का पुत्र) को सिंहासन पर बिठला दिया। कैक़ुबाद का पालन-पोषण अपने दादा के कठोर नियन्त्रण में हुआ था, इसलिए उसने अपने इस पद का उपयोग स्वयं अपने को तथा अमीरों को पतित करने के लिये किया। सब प्रकार के इन्द्रिय भोगों से सम्बन्ध-रखनेवाले उत्सव दरबार के दैनिक कर्म बन गये, और दिल्ली के प्रभावशाली कोतवाल के भतीजे मलिक निज़ामुद्दीन ने राज्य की सम्पूर्ण वास्तविक शक्ति का अपहरण कर लिया। कैख़ुसरौ की जिसे बलबन ने उत्तराधिकारी नाम निर्देशित किया था, निर्दयतापूर्वक हत्या कर दी गई और इसी प्रकार पूर्व सुल्तान के समय के अनेक अमीरों को विभिन्न अपराधों में फाँसी दे दी गई। सुल्तान का वज़ीर ख़्वाजा ख़तीर भी अपमान से न बच सका, गधे पर बिठला कर उसे राजधानी की सडकों पर घुमाया गया।

इस प्रकार का अविवेकपूर्ण अत्याचार अधिक दिनों तक नहीं चल सकता था। मगोलों के आक्रमण के रूप में प्रतिशोध की देवी ने उसे आ दबाया। अपने नेता ग़ज़नी के तमरख़ाँ के नेतृत्व में उन्होंने पंजाब को रौंद डाला और लाहौर को लूटा। किन्तु बलबन के समय की सुयोग्य सेना ने दिल्ली को बचा लिया। बदले

के रूप में नये मुसलमानों की (वे मंगोल जिन्होंने इस्लाम अंगीकार कर लिया था इसी नाम से पुकारे जाते थे) जो दिल्ली के निकट बस गये थे, हत्या कर दी गई। इसी स्थिति में प्रभावी तुर्कों ने भी एक विशाल सेना लेकर दिल्ली की ओर कूच किया। ऊपर से तो वह सुल्तान को अभिवादन करने आया था, किन्तु वास्तव में उसका उद्देश्य था अपने पुत्र को निज़ामुद्दीन के अत्याचारों से बचाना। जब निराश होकर उसे राजधानी छोड़नी पड़ी तो उसने भावुकतापूर्वक कैकुबाद से बिदा माँगी और चलते समय आह भर कर कहा 'शोक' अपने पुत्र से यह मेरी अन्तिम भेंट है और दिल्ली के भी यह अन्तिम दर्शन हैं।" शीघ्र ही घटनाओं ने तुर्कों के इस कथन को सत्य सिद्ध कर दिया। तुर्की तथा खलजी दलों में संघर्ष आरम्भ हो गया। निज़ामुद्दीन को अपने पद से हटा दिया गया और कुछ समय बाद विष देकर मार डाला गया; अभागे कैकुबाद को लकवा मार गया और जब वह अपने महल में असहाय पड़ा हुआ था उसी समय एक सैनिक ने पैर की ठोकर से उसका प्राणान्त कर दिया। इस प्रकार दिल्ली के अन्तिम गुलाम सुल्तान को एक गुलाम की मौत मरना पड़ा। उसके शव को बिना किसी शिष्टाचार के उसी के बिस्तर में लपेट कर यमुना में फेंक दिया गया। सल्तनत के 'आरिज़ मुमालिक' जलालुद्दीन फीरोज़ खलजी ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। १३ जून १२९० ई० को किलूघरी में उसका राज्याभिषेक हुआ और उसने जलालुद्दीन फीरोज़ खलजी की उपाधि धारण की। इस प्रकार दिल्ली में एक नये राजवंश की स्थापना हुई जिसने अगले ३० वर्ष में मुसलमानों की विजय पताका को एक मंज़िल आगे सुदूर दक्षिण में फहराया।

कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्	
७१२	सिन्ध पर अरबों का आक्रमण।
१००१	महमूद ग़ज़नवी का भारत पर प्रथम आक्रमण।
११८६	मुहम्मद गोरी ने लाहौर के अन्तिम ग़ज़नवी शासक की सत्ता को उखाड़ दिया।
१२०६–१०	कुतुबुद्दीन ऐबक, दिल्ली का प्रथम गुलाम सुल्तान।
१२२१–२२	चिनगिज़ख़ाँ का भारत पर आक्रमण।
१२४०	मंगोल लोग समस्त रूस से कर वसूल करते हैं।
१२५८	हलाकू द्वारा बग़दाद का विध्वंस।
१२६०–९४	हलाकू का भाई कुबलाख़ाँ हंगेरी से लेकर चीन तक शासन करता है।
१२७१–९५	मार्को पोलो की यात्राएँ।
१२८६	महानतम गुलाम सुल्तान बलबन की मृत्यु।
१२९०	जलालुद्दीन फ़ीरोज़ खलजी का राज्यारोहण।

१२९६–१३०७	पंजाब पर मंगोलों के बार-बार धावे ।
१३०३	अलाउद्दीन खलजी द्वारा चित्तौर की लूट ।
१३१०–११	मलिक काफूर ने मुस्लिम पताका मदुरा तथा रामेश्वरम् तक फहराई (?) ।
१३१८	देवगिरि के यादव राज्य का अन्त : हरपालदेव की जीवित खाल खिचवाई गई । मार्सेई में चार फ्रांसिस्की धर्म-द्रोह के अपराध में जीवित जला दिये गये ।

५

प्रथम मुस्लिम साम्राज्य खलजी

दयालु सुल्तान फीरोज़

सत्तर वर्ष का जो सरदार १३ जून १२९० को किलूखरी में सिंहासन पर बैठा वह इतना दयालु तथा साधु स्वभाव का था कि उसके लिये अधिक दिनों तक मुकुट धारण करना सम्भव न हो सका। जिस कबीले में उसका जन्म हुआ था उसके लोग दीर्घकाल से अफ़ग़ानिस्तान तथा भारत में निवास करते आये थे इसीलिये हाल में आये अन्य तुर्क उनसे घृणा करते थे। जब फीरोज़ ने लाल किले में प्रवेश किया तो उसके नेत्रों से आँसुओं की धार बह निकली और उसने राजत्व की सारहीनता तथा अपनी अयोग्यता पर एक व्याख्यान दे डाला; उसके निकट खड़े उत्साही योद्धा ऐसे रुदनशील सुल्तान के इस व्यवहार को न समझ सके। किन्तु उसके इस आचरण से लोगों को जो निराशा हुई उस उसने अपने दरबारियों तथा सम्बन्धियों में खुले दिल से उपाधियाँ तथा सम्मान बाँट कर और किलूखरी में एक नया नगर (शहरे नौ) बनवाकर, कुछ अंशों में दूर किया। उसने तुर्कों को भी जिन्होंने उसके राज्यारोहण का विरोध किया था, प्रसन्न करने का प्रयत्न किया। उन्हें भी उसने उपाधियाँ तथा पद प्रदान किये। उदाहरण के लिये, बलबन के भतीजे मलिक छज्जू को कड़ा-मानिकपुर की जागीर का भार सौंपा गया। किन्तु कुछ ही महीने बीतने पाये थे, कि दिन पर दिन यह स्पष्ट होने लगा कि जलालुद्दीन फीरोज़ को बुढ़ापे की दुर्बलता ने आ घेरा है। वास्तव में अत्यन्त दयालु होने के कारण वह उस 'रक्त तथा तलवार' के युग में सुल्तान होने के योग्य न था। शीघ्र ही वह संकटों के ऐसे भँवर में जा फँसा जिससे उसके सिर से मुकुट ही नहीं बल्कि धड़ से सिर भी उड़ गया।

सुल्तान की दुर्बलता से लाभ उठाने वाला पहला व्यक्ति पुराने राजवंश का वह सदस्य था जिसे फीरोज़ ने प्रचलित परिपाटी के अनुसार फाँसी पर न लटका कर जागीर प्रदान की थी। १२९१ ई० में मलिक छज्जू ने कड़ा में अपने को सुल्तान घोषित कर दिया, अपने नाम से खुतबा पढ़वाया और मुग़ीसुद्दीन की

का प्रयत्न किया कि मैं मुसलमान सैनिकों के जीवन को काफिरों के किलों से कहीं अधिक मूल्यवान समझता हूँ। फाइन में 'उसने मूर्ति मन्दिरों को ध्वस्त किया तथा मूर्तियों को तोड़ा और जलाया।' किन्तु राजपूतों के दृढ़ प्रतिरोध के कारण रणथम्भौर के अधिक विख्यात किले से उसे पीछे लौटना पड़ा। दो वर्ष उपरान्त (१२९२ ई०) उसने हलाकू के नाती अब्दुल्ला के नेतृत्व में भारत पर आक्रमण करने वाले मंगोलों से टक्कर की। उन्हें पराजित करके उसने दिल्ली के निकट बस जाने की आज्ञा दे दी; उनके रहने के लिये उसने मकान बनवा दिये और अपनी पुत्री का विवाह उनके नेता चिंगीज़ खाँ के एक प्रसिद्ध नाती के साथ कर दिया।

फीरोज़ का पतन

संक्षेप में, सुल्तान जलालुद्दीन फीरोज़ का अपने छः वर्ष के शासनकाल में इस प्रकार का आचरण रहा। १२९६ ई० में वह अपने महत्वाकांक्षी भतीजे तथा दामाद अलाउद्दीन का जिसे उसने मलिक छज्जू के विद्रोह के बाद कड़ा का जागीरदार नियुक्त किया था शिकार बन गया। १२९२ ई० में अलाउद्दीन ने मालवा पर आक्रमण किया और भिलसा से बहुत सा धन लूट कर लाया जिसे उसने सुल्तान को धोखे में डालने के उद्देश्य से दिल्ली ले जाकर उसके चरणों पर रख दिया। इसके पुरस्कारस्वरूप अवध का प्रदेश भी उसकी कड़ा की जागीर में सम्मिलित कर दिया गया। इससे प्रोत्साहित होकर अलाउद्दीन ने एक और आक्रमण किया जो उतना ही साहस तथा वीरतापूर्ण था जितना कि इतिहास का अन्य कोई आक्रमण। १२९४ ई० में केवल ८०० घुड़सवार लेकर उसने देवगिरि पर चढ़ाई की। वहाँ उसने यादव राजा रामचन्द्र को उसी प्रकार घेर लिया जैसे १२०२ ई० में इख्तियारुद्दीन खलजी ने लखनौती में लक्ष्मण सेन को घेरा था। यादव युवराज शंकरदेव ने वीरता से आक्रमणकारी का प्रतिरोध किया किन्तु देवगिरि (दौलताबाद) पर अलाउद्दीन का आक्रमण सफल रहा और राजा को बाध्य होकर एलिचपुर का किला उसके सुपुर्द करना पड़ा। यादवों से विजेता ने इतना धन लूटा कि उसके ऊँट तथा खच्चर बोझ के मारे कराहते हुए कड़ा को लौटे। केवल युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में १७२५० पौण्ड सोना २ पौण्ड मोती, ५८ पौण्ड अन्य रत्न २८,२५० पौण्ड चाँदी तथा १००० रेशम के थान राजा से वसूल किये गये।

जब फीरोज़ ने अपने भतीजे के इस अचिन्तनीय काम का समाचार सुना तो उसे बधाई देने के लिये शीघ्र ही कड़ा की ओर चल पड़ा। उसके विवेकशील गृह प्रबन्धक अहमद चाप ने ऐसा करने के विरुद्ध राय दी, किन्तु सुल्तान ने उसकी एक न सुनी। वहाँ १२९६ ई० में अलाउद्दीन ने ऐसी हत्या की जिसकी गणना संसार की सबसे अधिक नीचतापूर्ण हत्याओं में है और अपने को सुल्तान घोषित कर दिया। जब अलाउद्दीन सुल्तान को अभिवादन करने का बहाना

करते हुये नीचे को झुका, तो दयालु तथा निःशंक सुल्तान अपने भतीजे को उठाने के लिये झुका, उसी समय किराये के टट्टुओं ने उसका बध कर दिया।

आतंक तथा दानशीलता का राज्य 15170

विश्वासघात, आतंक तथा दानशीलता, ये तीन शब्द अलाउद्दीन खलजी के बीस वर्ष (१२९६–१३१६ ई०) के शासन काल की विशेषताओं का सारांश व्यक्त करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं। विश्वासघात में उसका आरम्भ हुआ, दानशीलता में वह फला फूला और आतंक में उसका अन्त हुआ।

अपने पिता की हत्या के समय अरकालीखाँ मुल्तान में था, इसलिए उसके छोटे भाई इब्राहीम को रुक्नुद्दीन के नाम से दिल्ली में सुल्तान घोषित किया गया। किन्तु अलाउद्दीन शीघ्र ही ६०,००० घुड़सवारों और ६०,००० पैदलों की विशाल सेना लेकर राजधानी पर चढ़ गया और इब्राहीम के समर्थकों को मार भगाया। वे जाकर मुल्तान में इकट्ठे हुए, किन्तु अलाउद्दीन के पदाधिकारियों ने वहाँ भी तेजी से उनका पीछा किया और पकड़ कर उनमें से कुछ को अन्धा कर दिया, कुछ को कारागार में डाल दिया और शेष को तलवार के घाट उतार दिया। अलाउद्दीन ने "जिस विश्वासघात और कृतघ्नता के द्वारा सिंहासन प्राप्त किया, उसका दूसरा उदाहरण पूर्वीय देशों के इतिहास में भी मिलना दुर्लभ है, इसीलिए उसने दक्षिण की लूट में उपलब्ध सोने को अपव्ययतापूर्ण ढंग से बखेरकर जनता को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया।" अपनी राजधानी में प्रवेश करते समय उसने लालची जनता में सचमुच सोने तथा चाँदी के सिक्कों की वर्षा की। बरनी लिखता है, 'अब सिंहासन पर अलाउद्दीन का सुदृढ़ अधिकार हो गया था और नगर के दण्डपालक तथा प्रमुख लोग उससे मिलने आये और इस प्रकार एक नई व्यवस्था स्थापित हो गई। उसकी सम्पत्ति अतुल तथा शक्ति महान् थी। इसलिए व्यक्तियों ने उसके प्रति राजभक्ति दिखलाई या नहीं, इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं था, उसके नाम से खुतबा पढ़ा गया और नये सिक्के चलाये गये।'

किन्तु दार्शनिक प्रवृत्ति का इतिहासकार (बरनी) यह लिखने से भी नहीं चूकता कि 'यद्यपि अलाउद्दीन ने कुछ समय तक शान्तिपूर्वक शासन किया और प्रत्येक कार्य उसकी इच्छानुसार होता गया और यद्यपि उसके पास स्त्रियाँ, बच्चे, परिवार तथा अनुयायी, धन तथा वैभव था, फिर भी उसने अपने संरक्षक का जो रक्त बहाया था, उसके दण्ड से वह न बच सका। उसने जितना निरपराध लोगों का रक्त बहाया उतना किसी फरोआ ने भी नहीं बहाया था। अन्त में नियति ने उसके मार्ग में एक विश्वासघाती ला खड़ा किया जिसने उसके परिवार का सर्वनाश कर दिया और इस प्रकार उसे जो दण्ड मिला उसका दूसरा उदाहरण किसी काफ़िरों के देश में भी नहीं मिल सकता।'

मंगोलों के पुनः आक्रमण

यद्यपि सोने की ईंटों से अपहरणकर्ता के अपराध पर पर्दा डाल दिया किन्तु मंगोलों के निरन्तर आक्रमणों की बाढ़ अभी तक नहीं रुकी थी। अलाउद्दीन के राज्यारोहण के दूसरे वर्ष 'शैतान के ये उत्साही पुत्र' १०००० की संख्या में अपने नेता ट्रांस ऑक्सियाना के शासक अमीर दाऊद की अध्यक्षता में भारत पर चढ़ आये। किन्तु मुल्तान का दामाद उलुगखाँ जिसे पश्चिमी प्रान्तों का भार सौंपा गया था परिस्थिति का मुकाबिला करने में सफल हुआ। उसने मंगोलों को भारी क्षति पहुँचाई और उन्हें देश के बाहर खदेड़ दिया। किन्तु फिर भी उन्होंने अपना संकल्प नहीं छोड़ा। साल्दी के नेतृत्व में उन्होंने दूसरा आक्रमण किया किन्तु इस बार भी वे पराजित हुए साल्दी को उसके २००० अनुयायियों सहित बन्दी बना लिया गया और जंजीरों में बाँध कर दिल्ली भेज दिया गया। इस बार हिन्दुस्तान के सिंहासन पर बूढ़े तथा अशक्त जलालुद्दीन के स्थान पर कठोर तथा दृढ़ संकल्प अलाउद्दीन विराजमान था। किन्तु मंगोलों को इस अन्तर को समझने में कुछ और समय लगा। १२९९ ई॰ में वे टिड्डी दल की भाँति अपार संख्या में आये और ऐसा लगा कि दिल्ली के फाटकों तक समस्त पंजाब उनकी बाढ़ में डूब जायगा। अलाउद्दीन के सामने एक भयंकर संकट उपस्थित हो गया, इसलिए उसने स्वयं १२,००० पाले हुए सैनिकों तथा उलुगखाँ और ज़फर खाँ नामक दो अनुभवी पदाधिकारियों को साथ लेकर मैदान में शत्रु से लोहा लिया। इन दोनों सेनानायकों ने मंगोलों के इससे पहले आक्रमणों का वार झेला था और ज़फर खाँ तो विशेषकर अपने युग के रुस्तम के नाम से विख्यात था। इस अवसर पर वे बर्बर अत्यधिक भारी संख्या में मारे गये और पीछे धकेल दिये गये; और यद्यपि ज़फर खाँ खेत रहा किन्तु मंगोल लोग कई पीढ़ियों तक भय और आतंक के साथ उसके शौर्य का स्मरण करते रहे। तत्कालीन ग्रन्थों में उल्लेख आता है कि जब कभी मंगोलों के घोड़े नदी में पानी न पीते तो वे उनसे कहते कि क्या तुमने ज़फर खाँ देखा है?

फिर भी अपने असाध्य धुमक्कड़पन के कारण वे बार-बार सिन्ध तक आये। १३०४ ई॰ में तो उन्होंने शिवालिक को पार करके अमरोहा तक पर आक्रमण करने का साहस किया। अपनी सफलता से प्रोत्साहित होकर १३०५ ई॰ में उन्होंने पंजाब पर भयंकर धावा किया। किन्तु ग़ाज़ी तुग़लक ने उन्हें भारी क्षति पहुँचाई और पीछे खदेड़ दिया, उनके नेताओं को पकड़ कर उसने हाथियों के पैरों के नीचे कुचलवा दिया। इसके बाद अलाउद्दीन ने बलबन की नीति का अनुसरण किया और स्थायी सुरक्षा की दृष्टि से सुदृढ़ सैनिक चौकियाँ स्थापित कीं और मंगोलों के मार्ग पर स्थित दिपालपुर समाना आदि स्थानों की किलेबन्दी करवाई। बहुत से आक्रमणकारी समय-समय पर राजधानी के निकट बस गये थे और जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, नये मुसलमान कहलाते थे। उनका आचरण विद्रोह

पूर्ण सिद्ध हुआ, इसलिए एक दिन में उनके २०,०००–३०,००० व्यक्तियों का संहार कर दिया गया। बरनी लिखता है कि नये सुल्तान की 'धूर्ततापूर्ण क्रूरता' के कारण उनके बच्चे तथा स्त्रियाँ भी न बच सके। 'इस समय तक पुरुषों के कुकर्मों के कारण उनकी स्त्रियों तथा बच्चों पर कभी हाथ नहीं उठाया गया था।'

दूसरा सिकन्दर

अलाउद्दीन जितना धूर्त और क्रूर था उतना ही महत्त्वाकांक्षी भी था। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये वह कुछ भी करने में नहीं झिझकता था और उसकी महत्त्वाकांक्षाएं असीम थीं। यदि कभी कोई ऐसा राजा हुआ है जिसने अपने अन्तःकरण की पुकार को पूर्णतया कुचल दिया हो, तो वह अलाउद्दीन खलजी था। वह दूसरा सिकन्दर बनना चाहता था किन्तु उसमें उस महान् विजेता के चरित्र की उच्चता नहीं थी। अपनी इसी इच्छा की पूर्ति के लिये उसने जलालुद्दीन का जो उसका संरक्षक, चाचा तथा ससुर था, वध किया, इसीलिये उसने देवगिरि को लूटा, और इसीलिये मंगोलों का नाश किया। और इसीलिये उसने जलालुद्दीन के उत्तराधिकारियों का ही नहीं बल्कि उन जलाली अमीरों का भी मूलोच्छेदन किया, जो सोने के लोभ से उसके भक्त बन गये थे। उसका विचार था कि जो एक बार विश्वासघात कर चुके हैं, वे फिर ऐसा कर सकते हैं। इसके बाद वह जी-जान से विजय के कार्य में जुट गया। हम अभी बतायेंगे कि किस प्रकार अन्हिलवाड़, चित्तौड़, उज्जैन, वारंगल, द्वारसमुद्र और मदुरा को विजय किया गया। इन विजित स्थानों के शासकों के साथ जो व्यवहार किया गया वह पोरस के प्रति किये गये सिकन्दर के व्यवहार से सर्वथा भिन्न था।

गुजरात—उलुगखाँ तथा नसरतखाँ को गुजरात भेजा गया। यद्यपि अन्हिलवाड़ को ऐबक ने दो बार लूटा था, किन्तु गुजरात को कभी विजय नहीं किया जा सका था। दो सौ सत्तर वर्ष बाद सोमनाथ को पुनः लूटा गया (१२९७ ई०)। १०२५ के विध्वंस के उपरान्त जो मूर्ति फिर प्रतिष्ठित कर दी गई थी उसे उखाड़ कर विजयोपहार के रूप में दिल्ली भेज दिया गया। उसके अतिरिक्त अन्य मूर्तियाँ भी थीं जिनका महत्त्व अलाउद्दीन ने अधिक भली-भाँति समझा। राजा कर्ण की रानी कमलदेवी जो अपनी सुन्दर पुत्री देवलदेवी को लेकर देवगिरि को भाग गई थी, विजेताओं के अपवित्र हाथों में पड़ गई। उसे भी अलाउद्दीन की अतृप्त काम-पिपासा को शान्त करने के लिये दिल्ली भेज दिया गया। किन्तु सबसे बड़ा जयलाभ 'हज़ार दीनारी' गुलाम मलिक काफ़ूर था जो हिजड़ा था। स्वेच्छाचारी सुल्तान ने उसे उसके सौन्दर्य के कारण पसन्द किया और अपना प्रिय बनाकर रक्खा। बाद में सुल्तान को पता लगा कि काफ़ूर में महान् विजेता के गुण हैं। मलिक काफ़ूर ने अलाउद्दीन के लिये वही कार्य किया जो ऐबक और इख्तियारुद्दीन ने मुहम्मद गोरी के लिये किया था, उसने मुस्लिम विजयों का विस्तार दक्षिण भारत के अन्तिम छोर

तक पहुँचा दिया। किन्तु बाद में उसकी शक्ति सुल्तान से भी अधिक बढ़ गई और उसी ने ख़लजी वंश का नाश किया। उधर उलुग़ख़ाँ और नसरतख़ाँ खम्भात पहुँचे और वहाँ के धनी व्यापारियों से बहुत सा कर वसूल किया और भारी कोष लूट कर ले गये। लूट की सम्पत्ति के बटवारे के प्रश्न पर विजेताओं में आपस में झगड़ा हो गया जिसमें नये मुसलमानों ने विशेष भाग लिया। झगड़ा करनेवालों को जो दण्ड दिया गया उसका अन्य उदाहरण संसार के इतिहास में शायद ही मिले। नसरतख़ाँ के भाई की हत्या कर दी गई थी; बरनी लिखता है कि 'इसका बदला लेने के लिये उसने (नसरतख़ाँ ने) हत्यारों की स्त्रियों को अपमानित करने तथा उनके साथ अत्यन्त निर्लज्जतापूर्ण व्यवहार करने की आज्ञा दी, फिर उसने उन्हें नीच लोगों को सौंप दिया जिससे वे वेश्याओं के रूप में उनका उपयोग कर सकें। बच्चों को उसने माताओं के सिर पर रख कर टुकड़े टुकड़े करवा दिया।' अत्यधिक ग्लानि के साथ बरनी लिखता है कि इस प्रकार के अत्याचार किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय में नहीं किये जाते। उसके इन तथा अन्य कार्यों से दिल्ली के लोग चकित तथा भयभीत हो गये और प्रत्येक व्यक्ति का हृदय दहल गया।'

राजपूताना—गुजरात की विजय के दो वर्ष उपरान्त (१३०१ ई०) में अलाउद्दीन ने राजपूताना की ओर ध्यान दिया। बीच का कुछ समय उसने पंजाब में मंगोलों से निपटने और कुछ अन्य कार्यों में बिताया। उधर उसकी बढ़ती हुई सफलताओं के साथ साथ उसकी महत्वाकांक्षाएँ भी दिन प्रति दिन विस्तृत होती गईं। बरनी के शब्दों में—

'अपने शासन-काल के तीसरे वर्ष में अलाउद्दीन के पास आनन्द मनाने, दावतें देने तथा उत्सव मनाने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं था। एक के बाद एक विजय उसे मिलती गई प्रत्येक दिशा से विजय की सूचना आई प्रति वर्ष उसके दो-तीन पुत्र उत्पन्न हुए राज्य का काम काज सन्तोषप्रद ढंग से चलता रहा, उसके ख़जाने में धन चमक रहा था, रत्नों तथा मोतियों के सन्दूकों और पिटारियों का प्रतिदिन उसके नेत्रों के सामने प्रदर्शन किया जाता था, उसके अस्तबल में अनेक हाथी तथा नगर में और उसके आसपास ७,०० घोड़े थे। इस समृद्धि ने उसे मदोन्मत्त कर दिया। अहंकार, अज्ञान तथा मूर्खता के कारण वह अपना सन्तुलन पूर्णरूप से खो बैठा, और नितान्त असम्भव योजनाएं बनाने तथा बे सिर पैर की अभिलाषाओं का पोषण करने लगा।'

जब अलाउद्दीन शराब के नशे में होता, तो मकदूनिया के महान् विजेता का अनुकरण करने की उसकी इच्छा होती। यही नहीं उसे पैग़म्बर बनने की भी धुन सवार हुई। वह सोचता कि जिस प्रकार मुहम्मद के चार सहायक—अबू बक्र, उस्मान उमर और अली थे, वैसे ही उलुगख़ाँ, नसरतख़ाँ ज़फ़रख़ाँ और अलपख़ाँ मेरे चार सहायक हैं। किन्तु उसके स्पष्टवादी सलाहकार दिल्ली के कोतवाल अलाउलमुल्क ने उसकी भ्रान्ति को दूर कर दिया। उसने कहा 'धर्म तथा क़ानून

ईश्वरीय कृपा से उद्भासित होते हैं। मनुष्यों की योजनाओं तथा संकल्पों से उनकी स्थापना कभी नहीं होती।······पैग़म्बरों का पद कभी राजाओं ने नहीं धारण किया है और न जब तक संसार विद्यमान है, ऐसा होगा; यद्यपि कुछ पैग़म्बरों ने राजाओं के कार्य अवश्य किये हैं।" फिर अलाउलमुल्क ने बताया कि किस प्रकार चिनगिजखाँ—यद्यपि उसने मुस्लिम नगरों में रक्त की नदियाँ बहाईं, मुसलमानों पर मंगोल धर्म अथवा संस्थाओं को न थोप सका। "अनेक मंगोल मुसलमान हो गये हैं, किन्तु एक भी मुसलमान कभी मंगोल नहीं बना है।" इस प्रकार उसने अलाउद्दीन को समझाया, "ये दिन सिकन्दर के नहीं हैं; और फिर अरस्तू जैसा वज़ीर कहाँ मिलेगा?" इसलिये उसने सुलतान को सलाह दी कि हिन्दुस्तान की विजय के अपूर्ण कार्य को पूरा कीजिये और असम्भव तथा बे सिर पैर की कल्पनाओं में अपना समय नष्ट न कीजिये। अन्त में उसने निर्भीकता पूर्वक कहा, "मैंने जो कुछ निवेदन किया है वह तब तक पूरा नहीं किया जा सकता, जब तक कि श्रीमान् अतिशय मद्यपान नहीं त्याग देते और उत्सवों तथा दावतों से दूर नहीं रहते।"

नशे में न होने पर अलाउद्दीन में इतना विवेक रहता कि वह इस उचित सलाह का अनुसरण कर सकता था। राजपूताना का युद्ध यथार्थवादी नीति का पहला फल था। उसका आरम्भ रणथम्भौर के घेरे से हुआ (१२९९–१३०१)। इस प्रसिद्ध दुर्ग को अनेक बार हस्तगत किया गया था—जलालुद्दीन उसे जीतने वाला अन्तिम व्यक्ति था—किन्तु प्रत्येक बार किला विजेताओं के हाथों से निकल गया था। अब अलाउद्दीन ने उलुगखाँ तथा नसरत खाँ को जो गुजरात के युद्धों में वीरता प्रदर्शित कर चुके थे, रणथम्भौर की विजय के लिए भेजा। किन्तु मार्ग में झाइन पर अधिकार करने के बाद नसरत खाँ रणथम्भौर के घेरे में मारा गया। राणा हम्मीर तथा उसके पराक्रमी राजपूतों ने वीरतापूर्वक दुर्ग की रक्षा की, आक्रमणकारियों को कुमुक की आवश्यकता अनुभव हुई, इसलिए अलाउद्दीन ने स्वयं अपने भाई की सहायता के लिए कूच किया। यद्यपि शिविर में, राजधानी में तथा अन्यत्र होने वाले विद्रोहों के कारण सुलतान का ध्यान बँटा रहा, किन्तु वह अपने संकल्प पर दृढ़ रहा और अन्त में उसे विजय प्राप्त हुई। जुलाई १३०१ ई० में किले का पतन हो गया, राणा तथा उसके परिवार के सदस्यों को तलवार के घाट उतार दिया गया (कुछ लेखों के अनुसार उन्होंने स्वयं अपना अन्त कर लिया था) और महल तथा अन्य भवन धूल में मिला दिये गये। अन्त में, दिल्ली में प्रारम्भ की हुई अपनी नीति का अनुसरण करते हुए अलाउद्दीन ने हम्मीर के विश्वासघाती मन्त्री रानमल तथा उन अन्य लोगों का जिन्होंने अपने स्वामी को धोखा दिया था, वध करवा दिया। सर वोल्ज़ले हेग लिखते हैं, "अलाउद्दीन की नीति की यह विशेषता थी कि वह पहले विश्वासघातकों की सेवाओं से लाभ उठा लेता था और फिर उसी विश्वासघात के अपराध में जिससे वह अपना काम बनाता, उन्हें मृत्यु दण्ड दे देता था।"

इसके बाद मेवाड़ की बारी आई (१३०२-३ ई०)। चित्तौड़ की ओर अलाउद्दीन को आकृष्ट करने वाली दो चीजें थीं—विजय की लालसा तथा दूर दूर तक विख्यात पद्मिनी को प्राप्त करने की अभिलाषा। इस युद्ध का ब्यौरा तथा रानी की गौरवपूर्ण सामरिक चाल जिसके कारण अलाउद्दीन अपने अभीष्ट को सिद्ध न कर सका, राजस्थान के सुपरिचित महाकाव्य का अंग है। विश्वासघात के परिणामस्वरूप राणा बन्दी बना लिया गया और सुल्तान ने उसे इस शर्त पर मुक्त कर देने का वचन दिया कि वह अपनी सुन्दर रानी को उसके सुपुर्द कर दे। राजपूतों के सम्मान को इससे बड़ी और चुनौती नहीं हो सकती थी। रानी अथवा उसकी पुत्री की साधन-सम्पन्नता ने उनका इस संकट से उद्धार किया। स्त्रियों को शत्रु की शिविर तक पहुँचाने के लिये एक सशस्त्र राजपूतों के ७०० दल की माँग की गई। उन्होंने वह कार्य कर दिखाया जिसकी सुल्तान को तनिक भी शंका न थी और अपने राणा को छुड़ा कर राजधानी में वापस ले गये। तदुपरान्त भयंकर नरमेध हुआ जिसमें राजपूत सैन्य स्वाहा हो गया जिससे कि म्लेच्छ लोग शुद्ध क्षत्रिय रक्त की एक बूँद भी अपवित्र न कर सकें।

"एक विशाल भूमिगत कक्ष में जहाँ दिन का प्रकाश भी नहीं पहुँच सकता था, एक चिता बनाई गई और चित्तौड़ के रक्षकों ने सहस्रों रानियों—अपनी स्त्रियों और पुत्रियों का जुलूस देखा — इस गुफा में उन्हें पहुँचा कर द्वार बन्द कर दिया गया जिससे अग्नि की लपटों द्वारा उनके सम्मान की रक्षा हो सके।'

चित्तौड़ पर अधिकार करके अलाउद्दीन ने उसे अपने पुत्र खिज्रखाँ के सुपुर्द कर दिया। और क़िले का नाम बदल कर खिज्राबाद रख दिया गया (सोमवार २६ अगस्त १३०३ ई०)। ३०,००० हिन्दू तलवार के घाट उतार दिये गये। किन्तु इन्द्रिय-विषयों में लिप्त रहने वाला राजकुमार खिज्र खाँ १३११ ई० के बाद चित्तौड़ पर अधिकार न रख सका, इसलिए बाध्य होकर अलाउद्दीन ने उसके स्थान पर सोनिग्र वंशी राजपूत सरदार मालदेव को नियुक्त किया। किन्तु यह व्यवस्था भी विफल सिद्ध हुई और सात वर्ष उपरान्त राणा हम्मीर ने अपने पूर्वजों के गढ़ पर पुनः अधिकार कर लिया।

मालवा—राजपूताना की विजय के बाद अलाउद्दीन ने मालवा को अधिकृत किया (१३०५)। शीघ्र ही माँडू, उज्जैन, धार चन्देरी आदि को दिल्ली सुल्तान का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा। डॉड का मत है कि अलाउद्दीन ने अन्हिलवाड़ से लेकर देवगिरि तक के सभी अग्निकुलीय राजपूतों—सोलंकी परमार, परिहार आदि—की सत्ता को उखाड़ फेंका।

दक्षिण भारत में इस्लामी पताका

देवगिरि—१३०६-७ ई० में देवगिरि पर पुनः आक्रमण किया गया। राजा रामचन्द्र ने पिछले तीन वर्षों से एलिचपुर का राजस्व नहीं चुकाया था; उसे वसूल करना ही आक्रमण का प्रत्यक्ष बहाना था। किन्तु वास्तविक उद्देश्य था शाही

रनिवास के लिए दूसरी हूर—अन्हिलवाड के राजा कर्ण की पुत्री देवल देवी—को प्राप्त करना। १२९७ ई० में जब उलुग खाँ ने गुजरात पर आक्रमण किया था, उस समय देवल देवी ने भाग कर यादवों के गढ में शरण ली थी। गुजरात के सूबेदार अलप खाँ और राज्य के नाइब मलिक काफूर को इस आक्रमण—जिसका उद्देश्य हूर का शिकार करना था—का भार सौंपा गया। संक्षेप में, अलप खाँ देवल देवी को प्राप्त करने में सफल हुआ; उसे दिल्ली भेज दिया गया जहाँ निकम्मे खिज्र खाँ के साथ उसका विवाह हो गया। मलिक नाइब ने देवगिरि पर चढ़ाई की, राजा रामचन्द्र देव को पकड़ कर सुल्तान के पास भेज दिया और एलिचपुर के लिये एक मुसलमान सूबेदार नियुक्त कर दिया जिससे भविष्य में फिर उपद्रव न खड़े हो सकें। बन्दी राजा के पूर्व व्यवहार के बावजूद सुल्तान ने उसके प्रति उदारता दिखलाई और राइ-राइन की उपाधि प्रदान करके उसे अपनी राजधानी को लौट जाने दिया।

तेलिंगाना—१३०९ ई० में विजयी मलिक काफूर को तेलिंगाना की विजय के लिए भेजा गया। इससे पहले भी एक बार उस राज्य पर आक्रमण करने की योजना बनाई गई थी और अलाउद्दीन के भाई उलुग खाँ को उसका भार सौंपा गया था किन्तु उसकी सहसा मृत्यु हो जाने से वह प्रयत्न निष्फल रहा। इस रण-यात्रा का मुख्य उद्देश्य लूट करना अथवा कर उगाहना था, राज्य का विस्तार करना नहीं। गुजरात, राजपूताना, मालवा, एलिचपुर आदि अन्य सभी विजित प्रान्तों में मुसलमान सूबेदार नियुक्त कर दिये गये थे। किन्तु इस बार अलाउद्दीन ने विशेष आज्ञा जारी की। 'यदि राइ अपना कोष तथा रत्न, हाथी और घोड़े अर्पित करने तथा आगामी वर्ष भी धन तथा हाथी भेजने को तैयार हो, तो मलिक काफूर को चाहिये कि ये शर्तें स्वीकार कर ले और राइ पर अधिक दबाव न डाले। ...यदि ऐसा करने में उसे सफलता न मिले तो अपने नाम तथा यश की रक्षा के लिए राइ को पकड़ कर दिल्ली ले आये।' मार्ग में मलिक काफूर को देवगिरि के करद हिन्दू राजा ने सहायता दी, देवगिरि से वारंगल की यात्रा में 'हजार दीनारी' ने मार्ग के प्रदेश को तलवार तथा अग्नि द्वारा उजाड़ दिया और उसके निवासियों को खदेड़ कर ले गया। वारंगल का राजा प्रतापरुद्रदेव द्वितीय काकतीय (मुसलमान इतिहासकारों ने उसे लद्दरदेव लिखा है) आक्रमण की इस क्रोधाग्नि को न सह सका और उसने ३०० हाथी, ७००० घोड़े, बहुत से सिक्के तथा रत्न भेंट किये और वार्षिक कर देने का वचन दिया। लूट की इस अतुल धन-राशि के बोझ को लेकर सुल्तान दिल्ली को लौट गये।

द्वार-समुद्र—प्रत्येक आक्रमण में जो अपार धन राशि मिली उसी के अनुपात में महमूद गजनवी की भाँति, इस विजेता की धन लिप्सा भी बढ़ती गई। तेलिंगाना की सरल सफलता से मलिक काफूर दक्षिण में और आगे बढ़ने के लिए लालायित हो उठा। उसका अन्तिम आक्रमण होयसलों की राजधानी

द्वार-समुद्र अथवा द्वारवतीपुर (मैसूर में स्थित हलीबीद) पर हुआ। सम्भवतः होयसलों और पाण्ड्यों के बढ़ते हुए पारस्परिक विद्वेष के कारण विजित यादव राजा ने आक्रमणकारी को दक्षिण के उस नगर को नष्ट करने के लिए उकसाया था। १३१० ई० में मलिक काफूर सेना लेकर द्वार समुद्र के सामने आ धमका। उसके शासक वीर बल्लाल तृतीय ने दुबल प्रतिरोध किया। उसे बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया गया। उसके महलों को लूटा गया तथा भूमिसात कर दिया गया; कोष पर विजेताओं ने अधिकार कर लिया।

मदुरा—पाण्ड्य राज्य में दो प्रतिद्वन्द्वी राजकुमारों में झगड़ा चल रहा था, इसलिए विजेता को उसके मामले में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। कुलशेखर के औरस किन्तु कनिष्ठ पुत्र सुन्दर पाण्ड्य ने अपने पिता का वध कर दिया। इस पर उसके बड़े भाई ने जो कुलशेखर का अवैध पुत्र था उसे चुनौती दी और मार भगाया। तब सुन्दर पाण्ड्य ने मुसलमानों को हस्तक्षेप करने के लिए आमन्त्रित किया। मलिक काफूर ऐसे अवसर से लाभ उठाने को तैयार बैठा था, उसने मदुरा को लूटा और प्रायद्वीप के अन्तिम छोर पर एक मस्जिद का निर्माण करके अपनी रण-यात्रा समाप्त की। लूट में आक्रमणकारी को इतना कोष मिला कि उसे देख कर महमूद गज़नवी के भी मुँह में पानी भर आता और वह अपनी कब्र में करवटें बदलने लगता। सर वोल्जले हेग के मतानुसार उसमें ६१२ हाथी २०,००० घोड़े २४२० पौंड सोना जिसका मूल्य १०००००० टंका था तथा रत्नों की पिटारियाँ सम्मिलित थीं। इस सब को लेकर मलिक काफूर ने २४ अप्रैल १३११ को मदुरा से प्रस्थान किया और १८ अक्टूबर को दिल्ली पहुँच गया। "इससे पहले दिल्ली में लूट का इतना धन कभी नहीं लाया गया था; देवगिरि में प्राप्त धन भी द्वारसमुद्र तथा मदुरा की लूट की तुलना में कुछ नहीं था; सुल्तान ने सीरी के हजार-खम्भा महल में आक्रमण के नेताओं का स्वागत किया और खुले हाथों उन्हें तथा दिल्ली के विद्वानों को भेंटें तथा पुरस्कार प्रदान किये।"

माबर अथवा मालाबार ?—दक्षिण भारत में मलिक काफूर की विजयों की निश्चित सीमाएँ निर्धारित करना कठिन है। मुस्लिम लेखकों ने कुलम से नीलावर तक (क्विलों से नीलौर) फैले हुए पूर्वी तट के लिए माबर शब्द का प्रयोग किया है। कुलम के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं हो सकता किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कोरोमण्डल तट पर स्थित नीलौर ही मुस्लिम लेखकों का नीलावर था। लेनपूल* की निम्न टिप्पणी इस सम्बन्ध में सबसे अधिक विचारणीय है—

'काफूर ने समुद्र तट पर एक मस्जिद बनवाई। यदि सुल्तान अलाउद्दीन के पदाधिकारियों द्वारा सेतु बन्ध रामेश्वर' में बनवाई हुई मस्जिद वही थी जिसका फरिश्ता

---

* Medieval India पृष्ठ ११४

के अनुसार, १३७८ ई० में बहमनी सुल्तान मुजाहिद ने जीर्णोद्धार कराया था, तो वह मालाबार तट (भारत के पश्चिमी तट) पर स्थित रही होगी। रामेश्वर जो लंका के सामने कोरोमण्डल तट पर स्थित है, 'रामेसर' नहीं हो सकता। जैसा कि ब्रिग्स ने सुझाया है गोआ के दक्षिण में स्थित रामस अन्तरीप को 'रामेसर' मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। मावर को जो वसाफ के अनुसार कुलम (क्विलोन) से नीलावर (नीलेश्वर) तक विस्तृत था, सदैव कोरोमण्डल अथवा पूर्वी तट ही माना गया है। किन्तु यह ईरानी पर्यटक (वसाफ) जिसने १३०० ई० के लगभग लिखा था, मावर की उपर्युक्त परिभाषा ही नहीं देता बल्कि गुजरात के बाद तुरन्त ही उसका वर्णन करता है और लिखता है कि ईरानी घोड़ों का 'मावर, कम्बायत (कैम्बे) तथा अन्य निकटवर्ती बन्दरगाहों को निर्यात होता था।' यह तथ्य कि काफूर ने द्वारसमुद्र से मावर को प्रस्थान किया था, वसाफ की परिभाषा से मेल खाता है।"

दक्षिणी कनारा जिले में दो स्थान हैं जिनमें से एक का नाम नीलावर और दूसरे का नीलेश्वर है। मलिक काफूर बदूर से होकर गुजरा और उसे कुछ मोपलों का सामना करना पड़ा, इससे यह सम्भव प्रतीत होता है कि वसाफ का तात्पर्य पश्चिमी तट पर स्थित स्थान से था न कि पूर्वी तट पर स्थित नीलौर से। सर वोल्जले हेग लिखते हैं, "द्वारसमुद्र राज्य पर आक्रमण के सम्बन्ध में एक रोचक घटना का उल्लेख मिलता है कि कदूर पर मलिक नायब की सेना को कुछ मोपलों का सामना करना पड़ा। उनके विषय में कहा गया है कि वे आधे हिन्दू थे और धार्मिक नियमों के पालन में ढीले थे किन्तु वे कलीमा पढ़ सकते थे इसलिये उन्हें प्राण-दान दे दिया।" [*]

दक्षिण पर अन्तिम आक्रमण

खलजी सेनापति ने देवगिरि के शंकरदेव पर जो संदिग्ध मित्र होने के कारण खुले शत्रु से भी बुरा था, अन्तिम प्रहार करके अपनी साम्राज्यवादी यात्रा को पूरा किया। वार्षिक कर न देने के कारण काफूर ने १३१२ ई० में यादवों के राज्य पर आक्रमण किया। यवनों की भाषा में राजभक्त रामचन्द्र 'नरक को चला गया था।' शंकरदेव का व्यवहार सदैव विद्रोहपूर्ण रहा था। इस बार वह पराजित हुआ और उसका सिर काट लिया गया। गुलबर्गा, रायचूर तथा मुद्गल के किले हस्तगत कर लिये गये और कृष्णा तथा तुंगभद्रा के बीच का समस्त प्रदेश जीत लिया गया। छः वर्ष उपरान्त (१३१८ ई०) शंकरदेव के उत्तराधिकारी हरपालदेव ने मुबारक के विरुद्ध जो उस समय दिल्ली में सुल्तान था, विद्रोह किया। अन्तिम खलजी सुल्तान ने अन्तिम यादव राजा के प्रति जैसा बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया वैसा अलाउद्दीन ने अपने किसी काफिर सामन्त के प्रति कभी नहीं किया था। हरपाल की जीवित खाल खिंचवा ली गई। तैलिंगाना का राय भी एक ऐसी ही

[*] The Cambridge History of India, अध्याय ३ पृ० ११६।

विपत्ति से बच गया क्योंकि उसने समय पर खुसरू के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। खुसरू मुबारक का दुष्ट सलाहकार था और 'हजार दीनारी' मलिक काफूर की भाँति वह भी गुजरात का निम्नकुलोत्पन्न हिन्दू था और बाद में मुसलमान हो गया था। काकतीय राजा ने अपने राज्य के पाँच जिले दिल्ली सुल्तान को समर्पण के प्रतीकस्वरूप दे दिये और 'सौ से अधिक पर्वताकार हाथी १२००० घोड़े सोना तथा अमूल्य रत्न' वार्षिक कर के रूप में देने का वचन दिया।

क्रान्तिकारी शासन

सब पहलुओं से विचार करते हुए हमें मानना पड़ता है कि अलाउद्दीन खलजी का बीस वर्ष का शासन काल (१२९६-१३१६ ई०) क्रान्तिकारी था। क्रान्ति द्वारा ही उसने १२९६ ई० में राजशक्ति पर अधिकार करके उस आरम्भ किया और उसी प्रकार १३१६ ई० में मलिक काफूर ने उसका अन्त कर दिया। वास्तव में जलालुद्दीन फीरोज (१२९० ई०) से लेकर अपहरणकर्ता खुसरू शाह के समय तक (१३२० ई०) समस्त खलजी युग की यही विशेषता रही। डा० आर० पी० त्रिपाठी लिखते हैं "खलजी क्रान्ति का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि उससे राजभक्ति की उस भावना को जो दिल्ली सिंहासन के प्रति विकसित हो रही थी और जिससे भविष्य में अच्छे परिणामों की ही आशा थी, भारी धक्का लगा। यदि खलजियों ने राजभक्ति तथा राजप्रतिष्ठा की परम्पराओं को उत्पन्न होते ही न कुचल दिया होता और उन्हें बढ़कर अपनी पूर्णता तक पहुँचने दिया होता तो सैनिकवादी तत्व बहुत न्यून हो जाता और अधिकारी तथा कर्त्तव्यों और आज्ञा देने तथा पालन करने की नई परम्पराएँ स्थापित हो जातीं, जैसा कि संसार के अन्य देशों में हुआ था। दुर्भाग्यवश खिलजी क्रान्ति ने सरकार के असैनिक पहलू का महत्व घटाकर और सैनिक पक्ष को शक्तिशाली बनाकर एक ऐसा घातक उदाहरण उपस्थित किया जो दिल्ली सल्तनत की जीवन शक्ति को क्षीण करता रहा।' (Some Aspects of Muslim Administration, पृष्ठ ४१)।

अलाउद्दीन खलजी ने जिस क्रान्तिकारी शासन-व्यवस्था की स्थापना की उसे समझने के लिये उसके राज्यकाल की कुछ घटनाओं की समीक्षा करना आवश्यक है। जैसा कि मोरलैंड ने लिखा है, "उसके राज्यकाल के प्रारम्भिक महीनों में विद्रोहों का एक ताँता लग गया जिससे उसे दृढ़ तथा शक्तिपूर्ण शासन व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव हुई और इसलिये आगे चलकर आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा का प्रश्न उसकी नीति का प्रमुख तत्व बन गया।"

अराजकता के लक्षण

जलालुद्दीन के सिंहासन के वैध दावेदारों को मार्ग से हटाकर भी अला-उद्दीन की स्थिति सुरक्षित नहीं हुई। वे जलाली अमीर जिनका समर्थन उसने स्वर्णराशि लुटा कर प्राप्त कर लिया था, वास्तव में आस्तीन के साँप थे जिन्हें

उसने दूध पिलाया था, इस जीवन में वे विश्वास के योग्य नहीं हो सकते थे। इसलिये उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति उगलवा ली गई, उनकी भूमि ज़ब्त कर ली गई और उनके बच्चे आवारा बना दिये गये। उनमें से जो अधिक खतरनाक थे, उन्हे अन्धा करके कारागार में डलवा दिया गया अथवा मार डाला गया। इस प्रकार राजकोष में जो धन जमा हुआ उसका मूल्य एक करोड से कम न था; किन्तु सुल्तान की इस नीति से उसके शत्रुओं को केवल कुछ क्षति पहुँची थी, इससे अधिक कुछ न हुआ था। इन अत्याचारों के बाद भी जो बच रहे वे शान्ति से बैठने वाले न थे। जैसे ही अत्याचारी ने अपनी प्रथम सैनिक कार्यवाही के लिये दिल्ली से प्रस्थान किया, वैसे ही उनकी अवरुद्ध क्रोधाग्नि विद्रोह की लपटों के रूप में फूट पड़ी। हम उल्लेख कर आये हैं कि १२९९-१३०१ ई० में जब अलाउद्दीन रणथम्भौर के घेरे में व्यस्त था, उसी समय अनेक विद्रोह उठ खड़े हुए थे। कदाचित् उनमें से सबसे अधिक संकटपूर्ण दिल्ली में हाजी मौला का विद्रोह था। विद्रोहियों ने नगर के फाटकों पर अधिकार करके राजकोष लूट लिया और एक साधारण स्थिति के युवक को जो इल्तुतमिश का पुत्र समझा जाता था सिंहासन पर बिठला कर शहशाह घोषित कर दिया। कुछ ही दिनों बाद जब प्रतिशोध लेने का अवसर आया, तो उपद्रवकारी मौत के घाट उतार दिये गये। दिल्ली के महान् कोतवाल के पुत्रों को भी षडयंत्र में सम्मिलित होने के अपराध में मृत्यु दण्ड दिया गया।

उसी अल्पकाल में तीन विद्रोह और हुए। अलाउद्दीन के भानजे अमीर उमर तथा मिंगू खाँ ने क्रमश. बदायूँ और अवध में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। किन्तु वे शीघ्र ही पकड़ लिये गये और अलाउद्दीन के सामने उपस्थित किये गये, उनके मामा ने अपने सामने ही उनकी आँखे निकलवा ली। तीसरा विद्रोह सुल्तान के शिविर में ही उसके एक अन्य भतीजे ने किया। रणथम्भौर में एक बार सुल्तान आखेट को जाते समय अपनी मुख्य सेना से कुछ दूर आगे निकल गया। इस प्रकार उसे अकेला देखकर उसके भतीजे आकत खाँ को अपने चाचा का अनुकरण करने का सहसा लोभ हो आया और सिंहासन प्राप्ति के लिये उसने प्रयत्न किया। अलाउद्दीन पर आक्रमण कर दिया गया और उसके बध करने में थोडी-सी ही कसर रह गई थी। आकत खाँ ने "सुल्तान को मरा हुआ समझकर छोड दिया और स्वयं जाकर गद्दी पर बैठ गया। अमीरों ने भी उसका अभिवादन किया और वह अपने चाचा के रनिवास में भी प्रवेश करने को था कि मलिक काफूर ने उसे द्वार पर रोक दिया और कहा कि जब तक आप अलाउद्दीन का सिर नहीं दिखा देते, मैं आपको भीतर नहीं घुसने दूँगा। सुल्तान ने शीघ्र ही अपने को सेना के सामने एक निकटवर्ती पहाडी पर प्रकट किया और इस प्रकार उसका सिर तो उपस्थित हुआ किन्तु सदैव की भाँति धड़ पर रक्खा हुआ। चाचा के स्थान पर स्वयं विद्रोही भतीजे आकतखाँ का सिर धड़ से उड़ा दिया गया;

षड्यन्त्रकारी सार के कोड़ों से पीट पीट कर मारे डाले गये और उनके बच्चों तथा स्त्रियों को बन्दी बना लिया गया।

विद्रोहों को शान्त करने के उपाय

एक के बाद एक होने वाले इन विद्रोहों से अलाउद्दीन इस परिणाम पर पहुँचा कि स्थिति को सुधारने के लिये सख्त कदम उठाना आवश्यक है। अपने विश्लेषणशील मस्तिष्क से उसने इस असाध्य रोग के चार कारण ढूँढ निकाले (१) गुप्तचर व्यवस्था—जो सुल्तान को साम्राज्य में होने वाली प्रत्येक घटना के प्रति सजग तथा सावधान रक्खे—की उपेक्षा, (२) बिना किसी रोक टोक तथा प्रतिबन्ध के मदिरापान की आदत (३) अमीरों तथा समाज के नेताओं का अधिक पारस्परिक मेल जोल जिससे षड्यन्त्रकारी भावनाओं को प्रोत्साहन मिलता था, और (४) व्यक्तिगत सम्पत्ति की अपरिमित वृद्धि जिससे लोगों को सुल्तान के विरुद्ध कुचक्र रचने के लिए पर्याप्त अवसर मिल जाता था। अलाउद्दीन कठोर यथार्थवादी था और जब उसे किसी काम प्रणाली की उपादेयता में विश्वास हो जाता, तो वह जहाँ तक परिस्थितियाँ उसका साथ देतीं निर्भीक रूप से उसका अनुसरण करता। उसने घोषणा की, विद्रोहों को रोकने के लिए, जिनमें हजारों लोग नष्ट होते हैं, मैं ऐसी आज्ञाएँ जारी करता हूँ जिन्हें मैं राज्य की अभिवृद्धि तथा जनता के हित के लिये आवश्यक समझता हूँ। लोगों का व्यवहार अविचार तथा असम्मानपूर्ण है और ये मेरी आज्ञाओं का उल्लंघन करते हैं इसलिए उनसे आज्ञापालन करवाने के लिए मुझे कठोर बर्ताव करने पर बाध्य होना पड़ता है।— मैं यह नहीं जानता कि यह नियमानुमोदित है अथवा नियम विरुद्ध, मैं जो कुछ राज्य के लिए हितकर और अवसर विशेष के लिए उपयुक्त समझता हूँ उसी को करने का आदेश देता हूँ, और क़यामत (अन्तिम न्याय) के दिन मेरा क्या होगा इसे मैं नहीं जानता।

राज्य का धर्मनिरपेक्षीकरण

राज्य की नीति के सम्बन्ध में अलाउद्दीन के उपयुक्त सिद्धान्तों में तथा क़ाज़ी मुग़ीसुद्दीन के साथ उसके सम्भाषणों में, जिनको बरनी ने लेखबद्ध किया है जिस धर्मनिरपेक्षता का प्रतिबिम्ब मिलता है उसका तेरहवीं शताब्दी के मुस्लिम शासक में पाया जाना एक आश्चर्य की बात थी। यद्यपि अलाउद्दीन यथार्थवादी नीति का भक्त था फिर भी उसने इस्लामी समाज के धर्मसापेक्ष बन्धनों को पूर्णरूप से नहीं तोड़ डाला था। यद्यपि अलाउद्दीन शक्तिशाली शासक था और एशिया के किसी भी शासक से उसकी तुलना की जा सकती थी फिर भी जैसा कि डा॰ त्रिपाठी लिखते हैं, उसने 'सिकन्दर से ऊँचा कोई विरुद नहीं धारण किया और अपने लिए यमीन उल ख़िलाफ़त—नासिरी अमीर-उल मुमिनीन उपाधि का प्रयोग करता रहा।" इतनी शक्ति तथा प्रतिष्ठा का उपयोग करने

वाले सुल्तान ने अपने को अपमानित तथा निर्बल खिलाफत का अधीनस्थ माना, यह एक अत्यधिक "महत्वपूर्ण तथ्य है।" उसी लेखक ने आगे लिखा है कि जिस कार्य को अलाउद्दीन भी करने में असफल रहा था उसे उसके पुत्र मुबारक ने कर दिखाया था। 'वह पहला शासक था जिसने खिलाफत के ढोंग को उठा कर ताक में रख दिया और दिल्ली सल्तनत को खिलाफत से स्वतन्त्र तथा प्रभुत्वसम्पन्न घोषित कर दिया, अपने साम्राज्य के बाहर उसने किसी शक्ति के कानूनी प्रभुत्व को स्वीकार करने से इन्कार किया। वह इससे भी एक कदम और आगे बढ़ गया और अपने को महान्-इमाम अथवा ईश्वर का प्रतिनिधि (अल-इमाम उल आज़म खलीफाई रब्बुल आलिमान अथवा खलीफात-उल्लाह अथवा अमीर-उल-मुमिनीन) घोषित किया।" यदि इससे राज्यीय विषयों का पूर्ण धर्मनिरपेक्षीकरण सिद्ध नहीं होता, तो शासन को उलेमा के प्रभुत्व से मुक्त करने की प्रवृत्ति अवश्य प्रकट होती है। कदाचित, जैसा कि हम आगे देखेंगे, इससे यह स्पष्ट हो गया कि इस देश में सुल्तान का आधिपत्य दृढ़ता से स्थापित हो चुका था और दिल्ली में स्वेच्छाचारिता पूर्णत्व को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रही थी। यह तो आधुनिक अधिनायकों ने भी दिखला दिया है कि पूर्णतया धर्मनिरपेक्षीकृत स्वेच्छाचारी सरकारें भी धार्मिक अत्याचारों के रोग से मुक्त नहीं होती। नये शासन का मूलमन्त्र था, "मैं जो कुछ राज्य के लिये हितकर और अवसर विशेष के लिए उपयुक्त समझता हूँ उसी को करने का आदेश देता हूँ।"

स्वेच्छाचारी शासन का सुदृढ़ होना

अलाउद्दीन के विषय में महत्वपूर्ण बात यह थी कि वह सुव्यवस्थित ढंग से योजनायें बनाता और निर्मम रूप से उन्हें कार्यान्वित करता, यदि परिस्थितियों के कारण उसका अनुभव उसके विपरीत होता तो वह समझौता कर लेता और अपने को परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेता।

(१) साम्राज्य की गुप्तचर-व्यवस्था का सुयोग्य ढंग से संगठन किया गया, और उसने उतना ही अच्छा काम किया जितना कि मौर्यों के समय में। इतने दूर-दूर तक बिखरे हुये साम्राज्य में जिसके यातायात के साधन आदिम अवस्था में थे, सरकारी सम्वाददाताओं के बिना कार्य नहीं चल सकता था। यदि कोई सम्वाददाता अपने कार्य में ढील दिखाता अथवा अन्य किसी प्रकार से अपने कर्तव्यों की अवहेलना करता तो उसे तुरन्त ही फाँसी दे दी जाती थी, जिससे वह दूसरों के लिये उदाहरण बन सके।

(२) मद्य-निषेध का नियम कठोर किन्तु सुरक्षा की दृष्टि से हितकर था और समाज तथा राजनीति पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। सुल्तान ने केवल दूसरों को ही मद्य-पान से बचने की आज्ञा नहीं दी, जैसा कि आगे के युग में जहाँगीर ने किया बल्कि उसने स्वयं उदाहरण उपस्थित किया, 'मदिरा की

सुराहियाँ और पीपे शाही सरदारों से लाकर बदायूँ द्वार के सामने इतनी वृहद मात्रा में लुढ़का दिये गये कि वहाँ वर्षा ऋतु जैसी कीचड़ उत्पन्न हो गई।' किन्तु तब लोग चोरी से मदिरा पान करते जिससे अलाउद्दीन को विश्वास हो गया कि क़ानून की कठोरता में कुछ ढील देना आवश्यक है। इसलिये उसने केवल सार्वजनिक उत्सवों तथा दावतों में पीने तथा बेचने के लिये मदिरा बनाने का निषेध किया। अमीर परिवारों के पारस्परिक सामाजिक मेल जोल तथा विवाह सम्बन्ध पर भी कठोर नियंत्रण लगा दिया गया।

(१) अलाउद्दीन के समग्र तथा स्वेच्छाचारितापूर्ण शासन के अन्तर्गत, विशेषकर हिन्दुओं की दशा पूर्व सुल्तानों के समय से भी अधिक असह्य हो गई। उसकी समानता केवल कुछ तथा अरब शासकों के समय में सिन्ध के जाटों की दशा से की जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि बयाना के क़ाज़ी का बहुउद्धृत कथन हिन्दुओं के प्रति अविचल धार्मिक कट्टरता की नीति का द्योतक था किन्तु यह विश्वास करने के लिये भी कारण हैं कि अलाउद्दीन ने इस सम्बन्ध में धर्माधीशों के निर्णय का उतना अधिक सम्मान नहीं किया जितना कि उसने युद्ध में प्राप्त लूट के धन को स्वयं अपने के सम्बन्ध में दिल्ली के क़ाज़ी की सलाह का किया था।

बयाना के क़ाज़ी ने कहा 'वे ख़िराज-गुज़र कहलाते हैं और जब राजस्व पदाधिकारी उनसे चाँदी-माँगे तो उन्हें चाहिये कि बिना पूछे तथा पूर्ण विनम्रता और सम्मान के साथ सोना दे दें। यदि मुहस्सिल किसी हिन्दू के मुँह में थूकना चाहे तो उस हिन्दू को बिना हिचकिचाहट के अपना मुँह खोल देना चाहिये। किन्तु क़ाज़ी का भी तात्पर्य यह नहीं था कि इस सिद्धान्त का अक्षरशः पालन किया जाय क्योंकि उसने कहा 'इसका अर्थ यह है कि इस प्रकार का आचरण करके हिन्दू विनम्रता समर्पण, आज्ञा पालन तथा सम्मान की भावना का प्रदर्शन करता है। इस्लाम के यश की वृद्धि करना कर्तव्य है और धर्म के प्रति घृणा प्रकट करना मूर्खतापूर्ण है। स्वयं ईश्वर ने हिन्दुओं के दमन की आज्ञा दी है क्योंकि वे पैगम्बर के सबसे घातक शत्रु हैं। पैगम्बर का कथन है कि या तो वे इस्लाम स्वीकार करें, नहीं तो उनका वध कर दिया जाय अथवा दास बना लिया जाय; और उनकी सम्पत्ति राज्य को ज़ब्त कर लेनी चाहिए। इमाम अबू हनीफ़ा को छोड़कर और कोई हिन्दुओं पर जिज़या लगाने की आज्ञा नहीं देता। अन्य विद्वानों के अनुसार तो उनके लिये इस्लाम अथवा मृत्यु के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है।

अलाउद्दीन के समय में हिन्दुओं के लिये एक ही मार्ग खुला हुआ था— साम्राज्य के बहारों और लकड़हारों—दासों—के रूप में काम करना। उनके पास केवल जीवन-निर्वाह करने मात्र के लिये बच पाता था; वे न घोड़े पर चढ़ सकते, न अच्छे वस्त्र पहिन सकते, न अस्त्र शस्त्र धारण कर सकते और न पान ही चबा सकते थे। दरिद्रता के कारण उनकी स्त्रियों को मुसलमान घरों में टहलनियों का काम करना पड़ता था। अलाउद्दीन शेखी बघारा करता था, "मेरी आज्ञा से वे चूहों की भाँति बिलों में घुसने के लिये तैयार हैं।"

सामान्य लोगों की सम्पत्ति का अपहरण

व्यक्तिगत समृद्धि को रोकने के लिये सुलतान ने लोगों की सम्पत्ति को अपहरण करने की नीति अपनाई और उनके पास राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से जितना उचित था उससे अधिक नहीं छोड़ा, किन्तु यह नीति सामान्य थी, केवल हिन्दुओं तक ही नहीं सीमित थी। निस्सन्देह यह कहा जाता है कि सुलतान ने घोषणा की, 'हिन्दू लोग तब तक विनम्र तथा आज्ञाकारी नहीं होंगे जब तक उन्हें पूर्णतया दरिद्र नहीं बना दिया जाता, किन्तु उसकी सम्पूर्ण राजस्व नीति इस सिद्धान्त पर अवलम्बित थी कि उसकी अधिकाश प्रजा को—हिन्दू हो अथवा मुसलमान—'धन इकट्ठा नहीं करने दिया जायगा।' बलबन ने पंजाब में सामान्य रूप से जागीरों को हड़पने का प्रयत्न किया था किन्तु सबको मुआवज़ा देने की योजना के बावजूद उसे इस नीति में सफलता नहीं मिली थी। किन्तु अलाउद्दीन ने समस्त साम्राज्य में जोड़े हुए धन को जब्त करने की नीति बरती, फिर भी उसे सफलता मिली। कदाचित जलाली अमीरों के साथ किये गये अपने प्रयोग से उसे इस दिशा में अधिक प्रोत्साहन मिला था। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति अपहरण की इस नीति के सम्बन्ध में कोई ऐसा भेदभाव नहीं किया गया था जिससे लोगों में एक दूसरे के प्रति ईर्षा अथवा विद्वेष फैलता, इसलिये इस सम्बन्ध में किसी को विशेष शिकायत नहीं हो सकती थी।

बरनी लिखता है, 'सुलतान ने आज्ञा जारी कि जहाँ कहीं किसी गाँव में लोगों के पास मिल्क (स्वामित्व अधिकार) इनाम वक्फ (धर्मस्व) आदि के रूप में भूमि हो उसे एक कलम से राज्य के अधिकार में कर लिया जाय। लोगों पर दबाव डाला गया, जुर्माना किया गया तथा हर बहाने से उनसे धन एँठा गया। अनेक लोग पूर्णतया धन-हीन हो गये और अन्त में यहाँ तक हुआ कि अमीरों, मलिकों, अधिकारियों, मुलतानियों (बड़े मुलतानी व्यापारी) और साहूकारों को छोड़ कर और किसी के पास तनिक भी नकद धन न रह गया। जब्त करने की यह नीति इस कठोरता से बरती गई कि कुछ हजार टका को छोड़ कर सब पेंशने, माफी की भूमि और धर्मस्व हड़प लिए गये। लोग जीवन-निर्वाह के साधनों को जुटाने में ही इतने व्यस्त रहते थे कि किसी को विद्रोह का नाम लेने तक का अवकाश न था।'

वस्तुओं तथा उनके मूल्य का नियन्त्रण

प्रजा को बलपूर्वक दरिद्र बनाने के परिणामस्वरूप यह आवश्यक हो गया कि वस्तुओं का मूल्य नियन्त्रित किया जाय जिससे 'उसके पास प्रतिवर्ष निर्वाह के लिए ठीक पर्याप्त अन्न, दूध तथा दही बचा रहे।' सबसे पहले मंगोलों के आक्रमणों से उत्पन्न संकट के समय में युद्धकालीन नीति के रूप में यह प्रयोग अपनाया गया। सीमाओं की रक्षा के लिए एक विशाल सेना की आवश्यकता थी और अत्यधिक धन व्यय किये बिना उसे रक्खा नहीं जा सकता था। अला-

उद्दीन चतुर तथा व्यवहार कुशल राजनीतिज्ञ था, इसलिए उसने ऐसे उपाय निकाले जिससे राजकोष पर अनुचित बोझ डाले बिना सेना में आवश्यकतानुसार वृद्धि की जा सके। उसने जीवन निर्वाह की वस्तुओं के मूल्य को माँग तथा पूर्ति के नियमों के अनुसार घटने बढ़ने नहीं दिया बल्कि उस कठोर तथा स्थायीरूप से निश्चित कर दिया। एक सैनिक का वेतन २३४ टंका निश्चित किया गया जो दो घोड़े रखता उसे ७८ टंका अतिरिक्त भत्ता भी मिलता था। इस धन से वह साल भर अपने परिवार का व्यय चलाता तथा अपने को घोड़ा तथा हथियारों से सुसज्जित रखता। इसलिए सुल्तान ने नियम बनाया कि आवश्यक वस्तुओं का मूल्य वही होगा जो सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य सूची में दिया हुआ है। गेहूँ का भाव ७॥ जीतल जौ का ४ जीतल और धान का ५ जीतल प्रति मन से अधिक न होगा। शक्कर का भाव १½ जीतल और कच्चे गुड़ का ½ जीतल प्रति सेर तथा नमक का २ जीतल प्रतिमन निश्चित किया गया। कोई वस्तु ऐसी नहीं थी जो मूल्य तालिका में सम्मिलित न की गई हो। सागों फलों, वस्त्रों टोपियों जूतों, कंघों तथा सुइयों और यहाँ तक कि गुलामों तथा बाजारू लड़कियों का भी मूल्य निश्चित कर दिया गया। एक सेविका का मूल्य ५ से १२ टंका, एक सुन्दर (रखैल) स्त्री का २० से ४० टंका; एक गुलाम-मज़दूर का १० से १२ टंका और एक सुन्दर बालक का २० से ३० टंका तक था। दिलचस्प बात यह थी कि प्रत्येक श्रेणी के घोड़ों का भाव इससे अच्छा था: प्रथम श्रेणी का घोड़ा १०० से १२० टंका में द्वितीय श्रेणी का ८० से ९० और तृतीय का ६५ से ७० टंका तक में बिकता था। टट्टू भी १० से २२ टंका के भाव में बिक जाते थे। गायें तथा बकरियाँ अपेक्षाकृत सस्ती थीं एक गाय का मूल्य ३ से ४ टंका तक और एक बकरी का १० से १४ जीतल तक होता था।

संकट काल का सामना करने के लिये अन्न सरकारी कोठियों में जमा कर लिया जाता था और उन्हें भरने के लिए दोआब के खालसा गाँवों से राजस्व उपज के रूप में वसूल किया जाता था। इसलिए अनावृष्टि के समय भी लोगों को अन्न का अभाव नहीं अनुभव होता था। दोआब से १०० कोस के भीतर के प्रदेश में किसी किसान को १० मन भी अन्न जमा करने की आज्ञा नहीं थी, बचा हुआ सभी अन्न लाइसेंस प्राप्त व्यापारियों के हाथ निर्धारित मूल्य पर बेचना पड़ता था। देश में अभाव के समय केन्द्रीय बाजार से अन्न दिया जाता था और एक व्यक्ति आधे मन से अधिक नहीं खरीद सकता था।

मोरलैंड ने इस आर्थिक व्यवस्था का सारांश इस प्रकार दिया है: (१) आवश्यकता की वस्तुओं का नियन्त्रण, (२) यातायात पर नियन्त्रण, तथा (३) आवश्यकता पड़ने पर उपभोग की वस्तुओं की खुराक-बन्दी (राशन)। सम्पूर्ण व्यवस्था दो चीजों पर निर्भर थी: (१) सुसंगठित गुप्त चर विभाग, तथा (२) नियम भंग करने वालों को कठोर दण्ड। मोरलैंड

लिखता है, "यही सारांश इंगलैण्ड में युद्धकाल में लागू किये गये नियन्त्रण का था जिसे अनुभव ने प्रभावोत्पादक सिद्ध किया था।" बरनी अलाउद्दीन के बाजार-नियन्त्रण की सफलता के ये कारण बतलाता है : (१) नियमों का कठोरतापूर्वक लागू किया जाना, (२) तत्परता के साथ राजस्व की वसूलयावी, (३) धातु के सिक्कों का अभाव, और (४) पदाधिकारियों का उत्साह जिन्हें सदैव सुलतान का डर लगा रहता था। इन नियमों को कार्यान्वित करने के लिए जिस सरकारी विभाग का निर्माण किया गया था। उस पर दृष्टिपात करने से पाठक को इस कथन की सत्यता में विश्वास हो जायगा।

इस सम्पूर्ण व्यवस्था का संचालन शहाना-इ-मंडी नामक पदाधिकारी करता था और उसकी सहायता के लिए अधीन पदाधिकारियों का एक सुयोग्य मण्डल था। लाइसेंस प्राप्त व्यापारियों का एक दफ्तर (रजिस्टर) रहता था और जिस व्यापारी का नाम रजिस्टर में नहीं लिखा होता था उसे किसी प्रकार का व्यवसाय करने की आज्ञा नहीं थी। सूचना देने वालों का एक सुसंगठित दल सुलतान को दिन प्रतिदिन बाजार की घटनाओं से अवगत करता रहता था। एक दो अवसरों पर स्वयं शहाना-इ-मंडी को भी २१ कोड़ों का दण्ड दिया गया था क्योंकि उसने अन्न के मूल्य में कुछ वृद्धि करने का सुझाव दिया था। यदि मार्ग-नियन्त्रण में असावधानी के कारण कभी कोई व्यक्ति भीड़ में कुचल कर मर जाता तो इसका दण्ड भी शहाना को ही भुगतना पड़ता था। मूल्य-नियन्त्रण सम्बन्धी नियमों के उल्लघन के लिए सजाएँ अत्यधिक कठोर थीं। उदाहरण के लिए यदि कभी कोई दुकानदार निश्चित मूल्य लेकर सौदा कम तौल कर देता, तो पकड़े जाने पर उसे शाइलॉकी सिद्धान्त के अनुसार अपने शरीर का माँस देकर बज़न पूरा करना पड़ता था।

अलाउद्दीन ने भूराजस्व में वृद्धि करके उसे उपज का ५० प्रतिशत तक कर दिया; और जो राजस्व पदाधिकारी घूस लेने के अपराध में पकड़े जाते, उन्हे लाठियों, सड़सियों और शिकजों से यातना दी जाती, कारागार में डाला जाता और जंजीरों में बांधा जाता था। इस कारण पदाधिकारी इतने सजग तथा कर्तव्य-पालन में इतने कठोर हो गये कि लोग उन्हे ताऊन (प्लेग) से भी अधिक घातक समझने लगे; "और सरकारी लिपिकार (क्लार्क) होने का अपमान मृत्यु से भी बुरा माना जाने लगा क्योंकि कोई हिन्दू ऐसे व्यक्ति के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने के लिए तैयार न होता था।"

अत्याचार का अराजकता में अन्त

२ जनवरी १३१६ ई० को अलाउद्दीन की मृत्यु हुई और उसके साथ-साथ उसके बीस वर्ष के अत्याचारपूर्ण शासन का अन्त हो गया। असंयमी जीवन तथा काम के अत्यधिक बोझ ने—जैसा कि सभी अत्याचारी शासकों पर पड़ता है—अलाउद्दीन का शरीर खोखला कर दिया था। दुर्बल स्वास्थ्य के कारण वह पहले

से भी अधिक अविश्वासी तथा चिड़चिड़ा हो गया था; और उन लोगों की भाँति जो अधिकांश मानवजाति में अविश्वास करते हैं वह भी एक धूर्त के जाल में फँस गया था।" अलाउद्दीन के धूर्त सलाहकार मलिक काफूर ने उस अत्याचारी के बीमारी के दिनों में उस पर ऐसा जादू फेरा कि उसने युवराज खिज्र खाँ और उसकी माता को षड्यन्त्र के अपराध में कारागार में डलवा दिया। खिज्र खाँ के स्थान पर शिशु शिहाबुद्दीन उमर को उत्तराधिकारी (नाम) निर्देशित किया गया जिससे कि नाइब संरक्षक के रूप में कार्य करता रहे और राज्य की समस्त शक्ति उसके हाथ में बनी रहे। इसी बीच में चारों ओर विद्रोह उठ खड़े हुये। देवगिरि में शंकरदेव के उत्तराधिकारी हरपाल ने सबसे पहले अपने को स्वतन्त्र घोषित किया और मुस्लिम दुर्ग-रक्षकों को अपने राज्य से मार भगाया; इसी प्रकार चित्तौड़ के राणा हम्मीर ने म्लेच्छों को राजस्थान की पवित्र भूमि से खदेड़ कर बाहर कर दिया; गुजरात ने भी उनका अनुकरण किया। 'इन घटनाओं के समाचारों से उत्पन्न क्रोधोन्माद के कारण सुल्तान के कष्ट और भी अधिक बढ़ गये और वह शीघ्र ही मरणासन्न हो गया। कहा जाता है कि मलिक काफूर ने विष देकर उसकी मृत्यु की ओर भी जल्दी पहुँचा दिया।' (एल्फिन्स्टन)।

यद्यपि जैसा कि बरनी लिखता है, अलाउद्दीन 'एक अक्षर भी पढ़ अथवा लिख नहीं सकता था' और उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हठी तथा कठोर था', फिर भी 'भाग्य ने उसका साथ दिया और उसकी योजनाएं सामान्यतया सफल रहीं।' लेनपूल लिखते हैं 'यद्यपि कभी-कभी उसका मस्तिष्क ग़लत मार्ग पर चलता और वह स्वयं नियमों का निरादर करता, फिर भी अलाउद्दीन समझदार व्यक्ति था और उसका संकल्प दृढ़ था, वह अपने मस्तिष्क को भली-भाँति जानता परिस्थिति की आवश्यकताओं को समझता अपने ढंग से उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करता और अपने तरीकों को धैर्यपूर्वक कार्यान्वित करता।" फरिश्ता के शब्दों में परिणाम यह हुआ कि जब तक अलाउद्दीन में क्षमता रही 'उसने न्याय इतनी कठोरता से किया कि लूट-मार तथा चोरी का जिनका पहले अड्डा और था देश में नाम भी सुनने को न मिलता था। यात्री लोग राज मार्गों पर निर्भय होकर सोते और व्यापारी बंगाल की खाड़ी से काबुल के पहाड़ों तक और तैलिंगाना से काश्मीर तक अपना सामान सुरक्षा पूर्वक ले जाते। किन्तु 'भाग्य-लक्ष्मी जैसा कि उसका स्वभाव है चंचल सिद्ध हुई; और नियति ने उसे नष्ट करने के लिये अपना खंजर नाम किया।' जैसे ही अलाउद्दीन को कब्र में दफनाया गया वैसे ही उसका राज्य अराजकता के समुद्र में डूबने लगा।

चार वर्ष में तीन शासक

मलिक काफूर ने, जो एल्फिन्स्टन के अनुसार जितना योग्य था उतना ही पतित तथा दुराचारी भी था, राज्य की समस्त शक्ति अपने हाथों में ले ली और अपने प्रतिद्वन्द्वियों का मूलोच्छेद करने के निमित्त कार्य में जुट गया। खिज्र खाँ तथा

उदाहरण ने लोगों की अनियमितता तथा असंयम को प्रोत्साहन दिया क्योंकि उसका नैतिक जीवन भी अपने पिता के जीवन से अच्छा नहीं था और अपने शासन के प्रारम्भ से ही वह एक नीच प्रिय के प्रभाव में आ गया था।" उसका यह प्रिय (खुसरू खाँ) दक्षिणी भारत में अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने की साधना में जुटा हुआ था। फिर भी सुल्तान ने जो उसके प्रति अत्यधिक आसक्त था, अपने आमोद प्रमोद के लिये उसे अपने दरबार में बुला लिया, यद्यपि उसके पास खुसरू खाँ के इरादों की सूचना पहले ही पहुँच चुकी थी। दुष्ट मुबारक ने अपने बड़े भाई का वध करवाने के बाद उसकी सुन्दर हिन्दू पत्नी देवल देवी को भी अपने रनिवास में रख लिया था। इसके बाद जो विलासितापूर्ण उत्सव मनाये उनकी तुलना फ्रांस के लुई १४वें तथा इस देश में मुग़ल सम्राट जहाँदार शाह के आमोद प्रमोद से ही की जा सकती है। उनका वर्णन करके हमें इन पृष्ठों को कलंकित करने की आवश्यकता नहीं है।

महान् स्वेच्छाचारी अलाउद्दीन—जिसने यम-सानिस सिकन्दर (स्वर्ग तथा पृथ्वी के स्वामी ईश्वर का प्रतिनिधि) की उपाधि धारण की थी—का पुत्र इसी प्रकार भोग-पाश में फँस गया और अन्त में उसी के प्रिय खुसरू खाँ ने धोखे से उसकी हत्या कर दी और नासिरुद्दीन खुसरू शाह के नाम से स्वयं सिंहासन पर बैठा।

मृत्यु का ताण्डव

दिल्ली का नया सम्राट पश्चिमी भारत का जाति बहिष्कृत पेर था। उसने नाम मात्र को इस्लाम अंगीकार कर लिया और उसके बाद हसन कहलाने लगा। उसके कामोन्मत्त स्वामी मुबारक ने उसे अपना प्रधान-मन्त्री नियुक्त किया और खुसरू खाँ की उपाधि प्रदान की, इसी नाम से हम उससे अधिक परिचित हैं। उसके दक्षिण भारत के कार्यों का हम पहले उल्लेख कर आये हैं। उसका वास्तविक पद वेश्या का रहा था। सिंहासन अपहरण करने के बाद उसका सबसे पहला कार्य था दयनीय देवलदेवी को अपने अधिकार में करना जिसको पहले ही दो बार अपमानित किया जा चुका था। मुबारक की हत्या के उपरान्त जो गड़बड़ी फैली उसी के दौरान में खुसरू के अनुयायियों ने शाही रनिवास की पवित्रता का उल्लंघन करके बच्चों को मार डाला और स्त्रियों को भ्रष्ट किया।

इसमें तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है कि अनेक पुराने पदाधिकारियों ने ऐसे दुष्ट के हाथों उपाधियाँ प्राप्त कीं। कदाचित् उनकी राजत्व सिद्धान्त इस बात का जिम्मेदार था कि वे इतनी तत्परता से सन्तुष्ट हो गये अथवा वे समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। वाहिदुद्दीन क़ुरैशी को ताज-उल-मुल्क की उपाधि प्रदान की गई और उसे मन्त्री पद पर रहने दिया गया। ऐनुल-मुल्क मुलतानी को आलम खाँ तथा अमीर-उल उमरा की उपाधियों से विभूषित किया

गया। फ़खुद्दीन मुहम्मद जूना को जो आगे चल कर मुहम्मद तुग़लक के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा, घोड़ों का अध्यक्ष नियुक्त किया गया; उसके पिता ग़ाज़ी ने अलाउद्दीन के समय में मंगोलों को मार भगाया था और सीमान्त प्रदेशों में वीरता के लिये ख्याति प्राप्त कर ली थी। जूना खाँ दिल्ली में जो कुछ हो रहा था उसका समर्थन न कर सका और भाग कर अपने पिता के पास दिपालपुर पहुँचा। इधर नये सुल्तान ने इस्लाम का ढोंग भी त्याग दिया और सच्चे धर्म (इस्लाम) के अनुयायियों पर धार्मिक अत्याचार करने आरम्भ कर दिये। "मस्जिदें भ्रष्ट तथा नष्ट की गईं और इस्लाम के धर्म-ग्रन्थों का आसनों तथा स्टूलों की भाँति प्रयोग किया गया।" इन परिस्थितियों में आइन-उल-मुल्क तथा अन्य मुसलमान अमीर जिन्होंने नये शासन को स्वीकार कर लिया था, खुसरू तथा उसके नीच समर्थकों के विरोधी हो गये। ग़ाज़ी मलिक तथा उसके पुत्र जूना खाँ ने पंजाब में एक विशाल सेना एकत्र कर ली और राजधानी की ओर कूँच कर दिया। खुसरू ने राजकीय खज़ानों को लुटा कर हर व्यक्ति का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया, फिर अन्त में एक अल्प किन्तु भयंकर संघर्ष के उपरान्त भाग कर अपने जीवन की रक्षा करनी चाही। किन्तु नियति ने उसे एक बाग में छिपा हुआ पा लिया और उसे 'दोज़ख को भेज दिया'। उसे ग़ाज़ी मलिक के सामने उपस्थित किया गया और तुरन्त ही उसका सिर काट लिया गया। विजेता को भी अब जलालुद्दीन खलजी की भाँति विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ा। 'हज़ार खम्भा' महल में प्रवेश करके जब उसने "अपने पुराने स्वामी के परिवार का सत्यानाश का दृश्य देखा, तो वह रो पड़ा।" उसने व्यर्थ ही अलाउद्दीन के परिवार के ऐसे बचे हुए व्यक्ति ढूँढने का प्रयत्न किया जिसे उसके सिंहासन पर बिठलाया जा सकता। अन्त में ८ सितम्बर १३२० ई० को सेना तथा अमीरों ने स्वयं उसे ग़ियासुद्दीन तुग़लक-शाह के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया।

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्	
१३२१–५१	मुहम्मद तुग़लक दिल्ली पर शासन करता है, उसका साम्राज्य लगभग समस्त भारत में फैला हुआ है।
१३२६–७	दौलताबाद की स्थापना।
१३२९–३२	मुहम्मद तुग़लक का मुद्रा सम्बन्धी प्रयोग।
१३३४–४२	इब्नबतूता भारत में।
१३३६	विजयनगर शहर की संस्थापना।
१३३७–८	काश्मीर के प्रथम मुस्लिम शासक शाहमीर का राज्यारोहण।
१३३८	बंगाल का स्वाधीन होना।
१३४२	भारत में दीर्घकालीन दुर्भिक्ष।

१३५६	विजयनगर के हरिहर प्रथम की मृत्यु ।
१३४७	दक्षिण में बहमनी राज्य की स्थापना; अलाउद्दीन बहमन शाह १३५८ ई० तक।
१३४८	इंगलैण्ड में 'ब्लैक डैथ' नामक महामारी से आधी जनसंख्या नष्ट हो जाती है।
१३५१–८८	फीरोज़ तुग़लक़ का शासन काल।
१३८७–९५	दक्षिण में दुर्भिक्ष।
१३९४–९७	दिल्ली में दो प्रतिद्वन्द्वी सुलतानों का एक साथ शासन करना।
१३९६	गुजरात का स्वाधीन होना।
१३९८–९९	तिमूर का भारत पर आक्रमण।
१३९९–१४१४	अराजकता।

६

द्वितीय मुस्लिम साम्राज्य : तुग़लक

अलाउद्दीन की साम्राज्यीय विरासत

अलाउद्दीन खलजी भारत का प्रथम मुस्लिम सम्राट था। उसके शासन-काल में प्रथम बार हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और समुद्र से समुद्र तक समस्त भारत पर इस्लाम का प्रभुत्व स्थापित हुआ। प्रशासन के क्षेत्र में साहस-पूर्ण प्रयोग करनेवाला भी वह प्रथम मुस्लिम शासक था। बलबन अपने राज्य को सुसंगठित करने तथा उसमें व्यवस्था बनाये रखने के अतिरिक्त और कुछ न कर पाया था। महानतम गुलाम सुल्तान के समय में राज्य में जो कुछ शासन व्यवस्था थी वह आदिम ढंग की थी। उसको अपनी सारी शक्तियाँ विद्रोहों का दमन, लूट-मार का अन्त तथा विदेशी आक्रमणकारियों से राज्य की रक्षा करना आदि प्राथमिक कार्यों में ही जुटा देनी पड़ी थीं। इसमें सन्देह नहीं कि अलाउद्दीन ने बलबन द्वारा सम्पादित इन अत्यावश्यक बुनियादी कार्यों से भरपूर लाभ उठाया किन्तु उसने नवीन प्रयोग भी किये। उसका स्वेच्छाचारी शासन कितना ही भद्दा भोंडा रहा हो और उसके वंश को अन्त में कुछ भी परिणाम भुगतने पड़े हों किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसकी शासन व्यवस्था ने नींव का काम किया जिस पर भारत के परवर्ती मुस्लिम शासकों ने निर्माण कार्य किया। डा० त्रिपाठी का जिनके ग्रन्थ से हम पहले भी अनेक उद्धरण दे चुके हैं, मत है, "राजत्व सिद्धान्त को खलजियों की दो मुख्य देनें थीं। उन्होंने दिखला दिया कि राजत्व किसी वर्ग विशेष का विशेषाधिकार नहीं है बल्कि वह उन लोगों की पहुँच के भीतर है जो उसे धारण करने की शक्ति और योग्यता रखते हैं ·····खलजियों का दूसरा सिद्धान्त यह था कि राजशक्ति बिना किसी धार्मिक समर्थन के भी टिक सकती है और राजा का दृष्टिकोण धर्माधिकारियों के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न होता है। यह सिद्धान्त अलाउद्दीन की सबसे बड़ी देन थी।"

आदर्श मुस्लिम सम्राट

सीमारक्षक गाज़ी मलिक ने, जिसने अलाउद्दीन के राज्य काल में मंगोलों के निरन्तर होनेवाले आक्रमणों से वीरतापूर्वक राज्य की रक्षा की थी और जिसने सिंहासन को नीच खुसरू के चंगुल से मुक्त किया था, अपने जीवन के शेष थोड़े ही वर्षों में (१३२० से १३२५ ई०) अपने को वास्तविक अर्थ में आदर्श मुस्लिम शासक सिद्ध कर दिया। उसका सम्बन्ध तुर्की साहसिकों की उस कम जाति से था जिसके सदस्य पंजाब में बस गए थे और जिन्होंने वहीं लोगों से सम्भवतः जाटों से विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लिया था और जो करौना तुग़लक कहलाते थे। डा० ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं, "गाज़ी मलिक भारतीय माँ से उत्पन्न हुआ था, इसलिये उसके चरित्र में दो जातियों की प्रमुख विशेषताओं का समावेश था। हिन्दुओं की विनम्रता तथा कोमलता और तुर्कों की शक्ति तथा पुरुषत्व।" उसकी शक्ति का, यद्यपि वह बूढ़ा था, इससे बड़ा प्रमाण नहीं दिया जा सकता कि उसने इतनी शीघ्रता से अपहरणकर्ता की शक्ति को क्षीण किया और राजधानी में शान्ति स्थापित कर दी; चालीस दिन के भीतर ही सबने उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया गया। लाल किले में उसने जो आँसू बहाये वे अलाउद्दीन के आँसुओं की भाँति बुढ़ापे की दुर्बलता के परिणाम नहीं थे उनसे वास्तव में काफिरों द्वारा नष्ट किये गये अपने स्वामी के परिवार के प्रति उसकी सहानुभूति प्रकट होती थी। उसकी राजभक्ति उसके आँसुओं से भी गम्भीर थी क्योंकि उसने अलाउद्दीन द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य को पूरा किया। लेनपूल लिखते हैं, 'विश्वसनीय सीमा रक्षक न्याय प्रिय उच्चाशय तथा शक्तिशाली शासक सिद्ध हुआ।'

ग़ियासुद्दीन तुग़लक अथवा तुग़लक शाह का सबसे पहला कार्य था अमीरों तथा पदाधिकारियों का विश्वास प्राप्त करना और फिर साम्राज्य में व्यवस्था की स्थापना करना। जिस प्रकार उसने यह कार्य पूरा किया उससे उसकी राजनीतिज्ञता तथा तत्परता प्रकट होती है। खुसरू के नीच समर्थकों का निर्दयतापूर्वक नाश कर दिया गया किन्तु जिन अमीरों और पदाधिकारियों ने किसी प्रकार उस अपहरण को स्वीकार कर लिया था उनके साथ अधिक दयालुतापूर्ण व्यवहार किया गया। जिन लोगों ने अपहरणकर्ता से सोना प्राप्त किया था उन्हें भी इस बात का अवसर दिया गया कि वे अपने पास एक वर्ष का वेतन रख कर शेष धन आसान किश्तों द्वारा राज्य-कोष में लौटा दें।

अलाउद्दीन की मृत्यु तथा तुग़लक शाह के राज्यारोहण के बीच के अराजकतापूर्ण अल्पकाल में साम्राज्य की जड़ हिल गई थीं। इसमें सन्देह नहीं कि मुबारक ने अपने राज्यकाल के प्रथम दो वर्षों में बड़ी तत्परता से कार्य किया था और गुजरात, दक्षिण तथा तैलिंगाना को पुनः जीत लिया था। किन्तु विलासिता तथा अनियमितता के अगले दो वर्षों में, मुबारक और खुसरू ने जो कुछ प्राप्त

किया था, उससे भी अधिक हाथ से निकल गया था । (१) पंजाब प्रान्त में ग़ाज़ी मलिक की सजगता तथा तत्परता के कारण सभी उपद्रवी तत्वों के विरुद्ध शाही शक्ति का प्रयोग होता रहा । (२) गुजरात में, जब जफर खाँ को वहाँ से वापिस बुला लिया गया और उसके अस्थिरचित्त दामाद मुबारक द्वारा उसकी हत्या करदी गई (१३१८ ई०) उसके बाद भी अन्हिलवाड़ शाही सूबेदार की राजधानी बना रहा किन्तु हिन्दू सामन्तों के कठिन प्रतिरोध के कारण मुसलमानों के "अधिकार में अपनी सेनाओं के पड़ाव योग्य भूमि के अतिरिक्त और कुछ शेष न रहा ।" (३) राजपूताना तथा मालवा में राजपूतों ने मुसलमानों को चित्तौड़ दुर्ग की दीवालों के बाहर फेंक दिया और अपनी स्वाधीनता पुनः प्राप्त करली । (४) दक्षिण में राजा हरपाल के बाद उसके स्थान पर एक मुस्लिम सूबेदार नियुक्त कर दिया गया था; इसलिये वहाँ नाममात्र के लिये दिल्ली का आधिपत्य बना रहा । (५) तैलिंगाना तथा दक्षिणी भारत में यद्यपि खुसरु ने मलिक काफूर के वीरतापूर्ण कार्यों को दुहराया था, फिर भी विजेता के दिल्ली लौटने के बाद ही प्रतापरुद्र देव द्वितीय ने अपनी स्वाधीनता की पुनः स्थापना कर ली थी । (६) बंगाल पर अब भी बलबन के वंशजों का अधिकार था और अलाउद्दीन ने उस प्रान्त को नियमपूर्वक अपने साम्राज्य में नहीं सम्मलित किया था ।

वारंगल का दमन—नये सुल्तान ने सबसे पहले तैलिंगाना के विद्रोही प्रान्त का दमन करने का प्रयत्न किया । प्रतापरुद्र देव की शक्ति बहुत बढ़ती जा रही थी और बार-बार उसने दिल्ली सुल्तान की आज्ञाओं का उलंघन किया था । इसके अतिरिक्त उस दूरस्थ हिन्दू राज्य की अन्तिम विजय से अन्य राज्यों पर भी अच्छा प्रभाव पड़ने की आशा थी और उससे ग़ाज़ी के अन्तःकरण को भी सन्तोष मिलता । यह महत्वपूर्ण कार्य युवराज जूना अथवा उलुग़ खाँ को जो आगे चलकर मुहम्मद तुग़लक के नाम से दिल्ली का सुल्तान हुआ, सौंपा गया । किन्तु वारंगल के घेरे से सिद्ध हो गया कि उसका दमन करना सरल नहीं था । कार्य की अन्तर्निहित कठिनाइयों के अतिरिक्त एक और मुसीबत खड़ी हो गई । किसी ने अफवाह उड़ा दी कि दिल्ली में तुगलक शाह की मृत्यु हो गई है और सिंहासन खाली पड़ा है । फिर भी सेना उलुग़ खाँ को ग़ियासुद्दीन का उत्तराधिकारी मानने को तैयार नहीं थी । इससे बहुत गड़बड़ी फैली और उलुग़ को शीघ्रता से भाग कर दिल्ली पहुँचना पड़ा जिससे वह अपने पिता को जो अब भी जीवित था, शान्त कर सके और सिंहासन प्राप्त करने के लिये उसने जो प्रयत्न किया था उसके कारण सुल्तान के मस्तिष्क में कोई गलत धारणा न उत्पन्न होने पाये । ऊपरी तौर से पिता और पुत्र में शीघ्र ही समझौता हो गया, उलुग़ खाँ दूसरे वर्ष ही लौट कर वारंगल पहुँचा और तैलिंगाना विजय का कठिन कार्य पूरा कर लिया (१३२२ ई०) प्रतापरुद्रदेव ने वीरतापूर्ण प्रतिरोध के पश्चात् अपने परिवार सहित समर्पण कर दिया; पिछला सब बकाया कर वसूल कर लिया गया, शासन की सुविधा

के लिये समस्त राज्य को छोटे-छोटे प्रान्तों में विभक्त कर दिया गया और वारंगल का नाम सुल्तानपुर रक्खा गया। इस प्रकार उद्दण्ड हिन्दू सामन्तों के स्थान पर मुसलमान सूबेदार नियुक्त करने की नीति आरम्भ की गई। विजयी राजकुमार मार्ग में बीदर तथा जाजनगर को जीतता हुआ दिल्ली लौटा; और इस्लाम की इस विजय के उपलक्ष में राजधानी में बड़ी धूम धाम से उत्सव मनाया गया।

बंगाल पर आक्रमण—बंगाल में बुगरा खाँ के नातियों में उत्तराधिकार के लिये युद्ध छिड़ गया जिसके कारण १३२४ ई० में दिल्ली सुल्तान को उस प्रान्त की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। इस बार गियासुद्दीन ने स्वयं राजधानी का भार युवराज को सौंप कर लखनौती के लिये प्रस्थान किया। जैसा कि आगे की घटनाओं से स्पष्ट हो गया यह व्यवस्था सुल्तान के लिये घातक सिद्ध हुई। आक्रमण में गियासुद्दीन को वास्तव में, महत्वपूर्ण सफलता मिली। बहादुर के स्थान पर नासिरुद्दीन को जो उससे अधिक लघु था बंगाल की गद्दी पर बिठला दिया गया और शाही अनुग्रह के प्रतीक स्वरूप उसे एक राजदण्ड तथा एक मण्डप प्रदान किये गये। लौटते समय मार्ग में तिरहुत के राजा ने सुल्तान का विरोध किया किन्तु वह भी पराजित हुआ और उसके स्थान पर एक मुस्लिम सूबेदार नियुक्त कर दिया गया। किन्तु इसी बीच में बूढ़े सुल्तान के लिये स्वयं उसकी राजधानी में विश्वासघात का जाल बिछ चुका था। युवराज जूना ने अत्यधिक धूम धाम से अपने पिता का स्वागत करने की व्यवस्था की और इस उद्देश्य से नगर से कुछ दूर एक विशेष प्रकार का मण्डप तैयार किया गया। उत्सव के दौरान में जब गियासुद्दीन अपने प्रिय छोटे पुत्र सहित अन्य लोगों से कुछ अलग हुआ उसी समय वह पूरा मण्डप उन दोनों के सिर पर गिर पड़ा और पिता पुत्र की मृत्यु हो गई, जिसका कोई पहले से डर नहीं था। जब मलबा साफ किया गया तो बूढ़े सुल्तान का शव अपने पुत्र के शरीर के ऊपर झुका हुआ मिला, मानो वृद्ध पिता ने उसे उस विपत्ति से बचाने का प्रयत्न किया था। इब्न बतूता के कथन से तथा अन्य अप्रत्यक्ष साक्ष्य के आधार पर यह कहा गया है कि इस समस्त दुर्घटना का उत्तरदायित्व युवराज के ऊपर था जो इससे पहले तैलिगाना में प्रभुत्व धारण करने में विफल हो चुका था। यह दुर्घटना फरवरी १३२५ ई० की है। इसके तीन दिन बाद उलुग खाँ तुगलकाबाद के किले में जिसका निर्माण उसके पिता ने करवाया था, सिंहासन पर बैठा। इस प्रकार गियासुद्दीन तुगलक के शासन का आरम्भ तथा अन्त हुआ। अलाउद्दीन की भाँति उसने भी वृद्धावस्था में एक नये राजवंश की नींव डाली किन्तु शीघ्र ही उसे भी अपने अधिक प्रसिद्ध, महत्वाकांक्षी तथा उतावले उत्तराधिकारी के लिये स्थान रिक्त करना पड़ा। प्रथम खलजी तथा प्रथम तुगलक में केवल इतनी ही समानता थी, अन्य सभी दृष्टि से वे एक दूसरे से भिन्न थे।

जलालुद्दीन का शासन अत्यन्त दुर्बल तथा मूर्खतापूर्ण था, उसके विपरीत गियासुद्दीन का शक्तिशाली, तेजपूर्ण तथा सफल सिद्ध हुआ। महत्वपूर्ण बातों में

पहले की तुलना मुग़ल सम्राट बहादुर शाह से की जा सकती है; और दूसरा हमें शेरशाह सूर का स्मरण दिलाता है। विशेषकर प्रशासन-नीति में तुग़लक शाह प्रथम को परवर्ती शेरशाह का मूलरूप समझना चाहिये। किन्तु दोनों में पूर्ण सादृश्य ढूँढ़ना व्यर्थ है। ऐतिहासिक समानताएँ संकेतात्मक होती है, यथार्थ प्रतिकृति नहीं।

गियासुद्दीन का शासन—डा० ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में, "सरकार के संविधानिक ढाँचे में कोई परिवर्तन नहीं किये गये, और न नये सगठनों का ही निर्माण किया गया, जैसा कि उसके यशस्वी पुत्र मुहम्मद तुगलक के समय में हुआ।" किन्तु "उसका शासन न्याय तथा उदारता के सिद्धान्तों पर आधारित था और अपने नियमों को कार्यान्वित करने में वह सार्वजनिक सुख की वृद्धि का ध्यान रखता था।" *

वित्तीय व्यवस्था उस समय प्रशासन की कुंजी थी। मुबारक और खुसरू दोनों ने उड़ाऊ लोगों की भाँति धन बहाया था, जिसके परिणामस्वरूप गियासुद्दीन को खाली खज़ाना मिला। उसने भली भाँति जाँच करवाई और जिन लोगों ने अनुचित ढग से धन हड़प लिया था उनसे उसे वापिस लेने लिये कठोर उपाय किये। ऐसे लोगों को जिनके अपराध क्षम्य थे, सुल्तान ने जैसा कि हम पहले कह आये हैं, आसान किस्तों में धन लौटाने की आज्ञा दे दी।" भ्रष्टाचार तथा गबन रोकने के लिये उसने पदाधिकारियों को अच्छे वेतन दिये और उच्च पदों पर उन्हीं लोगों को रखा जिन्होंने अपनी राजभक्ति का प्रमाण दिया। पारितोषिक बाँटने में उसने पद, योग्यता तथा सेवा-काल का ध्यान रखा और अनुचित भेद-भाव से बचने का प्रयत्न किया। वह सनकी तथा निरकुश शासक नहीं था बल्कि समझदार तथा विचारवान सुल्तान था और राज्य के महत्वपूर्ण विषयों में सदैव अपने सलाहकारों से मंत्रणा करता था।

गियासुद्दीन की राजनीतिज्ञता जितनी उसकी राजस्व नीति से प्रकट होती है उतनी अन्य किसी चीज़ से नहीं। उसने राजस्व की वसूलयाबी के लिये ठेका देने की प्रथा जो प्रारम्भिक मुस्लिम शासन की सामन्ती अवस्थाओं में बहुत पहले से चली आ रही थी, बन्द कर दी। लुटेरे राजस्व—ठेकेदारों को 'दीवाने-विज़ारत' तक फटकने की भी आज्ञा नहीं थी। अलाउद्दीन द्वारा निर्धारित करों में परिवर्तन नहीं किया गया किन्तु वसूल करने वाले पदाधिकारियों के अत्याचारों की रोक-थाम की गई। अमीरों तथा मलिकों को अपने शुल्क के रूप में अपने प्रान्तों के राजस्व का $\frac{1}{18}$ से $\frac{1}{20}$ तक अधिक लेने का अधिकार नहीं था; और कारकुन तथा मुतसर्रिफ लोग ५ से १० प्रति हज़ार से अधिक न ले सकते थे। जिन क्षेत्रों में राजस्व में थोड़ी-सी वृद्धि करना उचित भी होता वहाँ भी, जैसा कि बरनी लिखता है, 'खिराज धीरे-धीरे कई वर्षों में बढ़ाया जाता

* History of Qaraunah Turks, जिल्द द्वितीय, पृष्ठ ४०।

था न कि एक साथ क्योंकि ऐसा करने से देश को हानि होती है और उन्नति का मार्ग रुक जाता है।' शेरशाह सूर (दो शताब्दियों बाद) से पहले ऐसा और कोई सुलतान नहीं हुआ जिसके प्रजा के हित के सम्बन्ध में इतने उदार विचार रहे हों। "जागीरदारों और हाकिमों को लगान वसूल करने में सावधानी से काम लेने की हिदायत दी गई जिससे गरीब और मुफलिस जनता पर राज्य कर के अतिरिक्त और बोझ न डाल सकें। — अनावृष्टि के समय में लगान में भारी छूट दी जाती थी और न चुकाने वालों के साथ उदारता का व्यवहार किया जाता था। धन के लिए किसी व्यक्ति को बन्धक बनाने की आज्ञा नहीं थी और राज्य की ओर से लोगों को इस बात की सुविधा दी जाती थी कि वे बिना किसी कष्ट और झंझट के अपना कर चुका सकें।"

राज्य के अन्य विभागों की ओर भी सुलतान ने ऐसा ही सूक्ष्म ध्यान दिया। दरिद्रों की सहायता की व्यवस्था की गई और न्याय तथा पुलिस का प्रबन्ध इतना अच्छा किया गया कि मुस्लिम लेखकों के शब्दों में 'भेड़िये को मेमने को पकड़ने का साहस न होता और शेर तथा हिरन एक घाट पानी पीते।' गियासुद्दीन स्वयम् अनुभवी सैनिक था इसलिए फौज के छोटे से छोटे सैनिक के प्रति उसका व्यवहार प्रेमपूर्ण था और उसकी सुयोग्यता तथा मनोयोग पर से मे उसे बहुत सफलता मिली। जागीरदारों की ठगी को—जैसी कि बलबन को पंजाब में देखने को मिली थी—रोकने के लिये अलाउद्दीन की घोड़ों को दागने तथा उनकी हुलिया का विस्तृत विवरण रजिस्टरों में रखने की परिपाटी जारी की गई। और "एक अत्यन्त सुयोग्य डाक-विभाग" का पुनः निर्माण किया गया।

अपनी सहज सफलता तथा सहसा सम्राट के पद पर पहुँचने के बावजूद गाज़ी मलिक ने अपने जीवन की पुरानी सरलता तथा आत्म-संयम को नहीं त्यागा। यद्यपि वह बलबन तथा अलाउद्दीन की भाँति कठोर था, फिर भी उसके प्रत्येक कार्य में मनुष्यता का पुट रहता था। मूलतः वह कर्मनिष्ठ व्यक्ति था और युद्ध में उसने अनुभव प्राप्त किया था, तथापि वह अमीर खुसरू जैसे कवियों को आश्रय दिया करता था। अलाउद्दीन तथा मुबारक के भाग्य से उसे चेतावनी मिली थी, इसलिये उसने कभी अपने को इन्द्रिय भोगों में लिप्त नहीं किया, और दाढ़ी मूँछ रहित सुन्दर बालकों' से—उस युग का मुख्य दुर्व्यसन—उसे स्वभावतः घृणा थी। मृदुताप्रेमी तथा कट्टर आचरण वाला होने पर भी गियासुद्दीन ने सार्वजनिक जीवन तथा राजकीय कार्यों में बलबन और औरंगज़ेब के से अत्याचारों तथा तड़क भड़क दोनों से ही अपने को दूर रखा। अपने अल्प राज्य-काल में उसने दिल्ली साम्राज्य को लगे कलंक को धोने, अस्त-व्यस्त हुई शासन-व्यवस्था को पुनः संगठित करने तथा खुसरू के शासन-काल में लुप्त हुई राजत्व की शक्ति तथा प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसके दरबारी कवि अमीर खुसरू ने जिन शब्दों में उसकी जो प्रशंसा की है वह सर्वथा उपयुक्त है।

"उसके प्रत्येक कार्य से उसकी बुद्धिमत्ता तथा चतुराई प्रकट होती थी और ऐसा प्रतीत होता था कि उसके मुकुट के नीचे योग्यताओं का निवास है।"

रहस्यमय सुलतान महमूद

पितृघाती राजकुमार जूना फरवरी अथवा मार्च १३२५ में मुहम्मद तुगलक के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा और अगले छब्बीस वर्ष तक उसने शासन किया, तब से लेकर अब तक उसका चरित्र विद्वानों के लिये चिन्तन का विषय बना हुआ है। उसके आलोचकों ने उसका शैतान के वास्तविक अवतार के रूप में चित्रण किया है, जब कि उससे अतिशय सहानुभूति रखने वाले समालोचकों का कथन है कि "मध्य युग के सुलतानों में वह निस्सन्देह योग्यतम व्यक्ति था।" इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अपने युग के लोगों के लिये मुहम्मद एक पहेली था और वही अब तक बना हुआ है। बरनी तथा इब्नबतूता दोनों उसके समसामयिक थे और उन्होंने जो कुछ देखा तथा अनुभव किया था, उसका विशद वर्णन छोड़ गये हैं। उन्होंने उसकी अनेक स्वाभाविक प्रतिभाओं तथा शोभनीय गुणों की सराहना तथा प्रशंसा की है किन्तु साथ ही साथ वे बिना किसी संकोच के उन चीज़ों को भी लेखबद्ध करने से नहीं चूके जिनका उसके चरित्र के उज्ज्वल पक्ष से मेल नहीं खाता था। उनके निजी दुर्भाव कुछ भी रहे हों (बहुत कम व्यक्ति उनसे मुक्त होते हैं) किन्तु हम उनके उस साक्ष्य के लिये बहुत ऋणी हैं जिसे वे अपने पीछे छोड़ गये हैं और जो स्मिथ के शब्दों में "असाधारण रूप से विस्तृत तथा सही है"। इस बात का ध्यान रखते हुए भी कि उन्होंने जो कुछ लिखा है उस पर उनके निजी भावों की छाप है; उनके पृष्ठों से मुहम्मद के व्यक्तित्व तथा उसके समय का सच्चा चित्र प्राप्त करना कठिन नहीं है। इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि हम उसे अन्याय का राक्षस कह कर उसके चरित्र को दोष दें अथवा उसके स्पष्ट अवगुणों को विद्वत्तापूर्वक उचित ठहराने का प्रयत्न करें। हमें चाहिये कि सबसे पहले उसके शासन-काल के अकाट्य तथ्यों की निष्पक्ष समीक्षा करें और फिर उनके आधार पर जो निर्णय उचित हो, दें।

अनुकूल परिस्थितियों में शासन का प्रारम्भ—सबसे पहली ध्यान देने की बात यह है कि मुहम्मद ने सुलतान के रूप में अपना जीवन अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियों में आरम्भ किया। यद्यपि इससे पहले उसने राज्य प्राप्त करने के लिए निन्दनीय प्रयत्न किये थे फिर भी सिंहासनारोहण के समय स्थिति बिलकुल भी उसके प्रतिकूल नहीं थी। "अपने अत्यधिक सम्मानित पिता के बाद वह सिंहासन पर बैठा था और स्वयं उसका भी अच्छा यश था। वह एक महान् सेनानायक के रूप में प्रसिद्ध था और उसका निजी जीवन संयत ही नहीं बल्कि कठोर था। समस्त देश में शान्ति थी और दूरस्थ प्रान्त पुनः विजय कर लिये गये थे।" मुहम्मद तुग़लक जैसे प्रतिभाशाली शासक को भी इससे अधिक और कुछ की

वाद नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त "वह अपने युग के सांस्कृतिक विषयों में पारंगत था फारसी—भारतीय शैली—के काव्य में उसकी अच्छी गति थी, लेखन शैली पर उसका अधिकार था, व्याख्यान कला के उस युग में भी वह अत्यधिक प्रभावशाली वक्ता माना जाता था, वह तर्कशास्त्र भी था और यूनानी हेतु विद्या तथा आध्यात्म विज्ञान में उसे अच्छी शिक्षा मिली थी जिसके कारण बड़े बड़े विद्वान् उससे वाद विवाद करने में डरते थे वह गणितज्ञ था और विज्ञान में भी उसकी रुचि थी। उसके समसामयिक लेखकों ने उसके निरन्तर चातुर्य तथा सुलेखन कला की प्रशंसा की है। उसके लिखने से विदित होता है कि अ-क्षरों को मिलाने की कला में उसकी सुरुचि वैज्ञानिक थी, फारसी भाषा को वह पढ़ तथा समझ सकता था किन्तु भली भाँति बोल नहीं पाता था।" ऐसा व्यक्तित्व था सुलतान मुहम्मद का जिसकी छाप उसकी साहसपूर्ण योजनाओं पर पड़ी और उनकी भयंकर विफलता के कारण ही उसे 'इस्लामी जगत का सबसे अधिक विद्वान मूर्ख' की संदिग्ध उपाधि मिली।

दोआब का उत्पीड़न—अपने युग के सभी अपहरणकर्ताओं का अनुकरण करते हुए मुहम्मद ने अपने राज्याभिषेक के समय लोगों में खूब सोना लुटाया, जिससे उसका कोष जो उसके पिता की व्यावहारिक बुद्धि के फलस्वरूप भर गया था खाली हो गया। इसलिये उसे राजस्व में वृद्धि करने की आवश्यकता हुई। इसके अतिरिक्त उन महान विजय योजनाओं के लिये भी धन की आवश्यकता थी जो उसके मस्तिष्क में चक्कर काट रहीं थीं। सबसे पहले दोआब के धनी प्रान्त में राजस्व-वृद्धि का प्रयोग किया गया। भूमि कर बढ़ा दिया गया और कुछ नये अबवाब भी लगा दिये गये। बरनी के शब्दों में परिणाम यह हुआ कि रैयत की रीढ़ टूट गई अन्न महंगा हो गया, वर्षा कम हुई इसलिये चारों ओर दुर्भिक्ष फैल गया। यह कई वर्ष तक चलता रहा जिससे हजारों व्यक्तियों का जीवन नष्ट हो गया।" बरनी की जन्म भूमि बरन को भी दुर्भिक्ष के कारण बहुत कष्ट भोगने पड़े थे, इसलिये उसके वर्णन में अतिशयोक्ति का कुछ पुट हो सकता है किन्तु उसे निकाल कर भी डा० ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं, "दुर्भाग्य से यह योजना उस समय कार्यान्वित की गई जब कि दोआब में एक भयंकर अकाल पड़ रहा था और उसके प्रभावों के कारण जनता के कष्ट और भी अधिक बढ़ गये। किन्तु इससे सुलतान सर्वथा दोष-मुक्त नहीं हो जाता क्योंकि उसके पदाधिकारी बड़ी दूर दूर से अत्यन्त कठोरतापूर्वक कर वसूल करते रहे और अकाल की उन्होंने कोई परवाह न की। उपचार किया गया किन्तु बहुत देर से।"

दिल्ली से देवगिरि को—इसके बाद मुहम्मद तुगलक ने दिल्ली को छोड़ कर देवगिरि को अपनी राजधानी बनाया (१३२६-२७ ई०) और उसका नाम दौलताबाद रखा। राजधानी परिवर्तन के विचार में मूर्खता की कोई बात नहीं थी। आजकल के युग में भी यातायात की सुविधाओं को ध्यान में रख कर

1
2
3
4
5
6
7
8
9
10
11
12
13
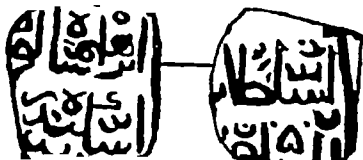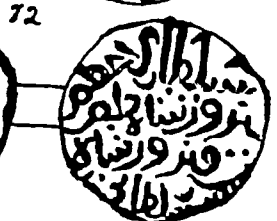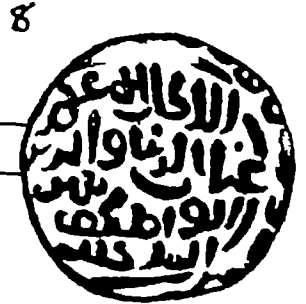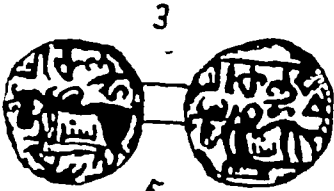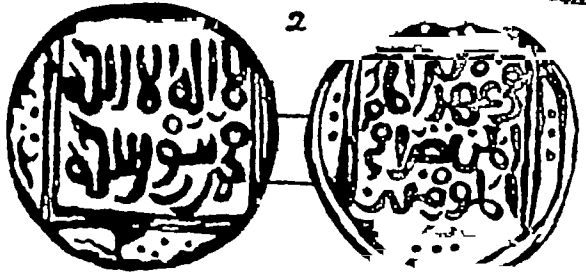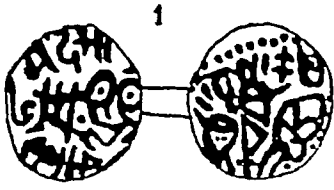
राजधानियाँ बदली जाती हैं। उस युग में दिल्ली-साम्राज्य का विस्तार इतना बढ़ गया था कि दिल्ली से उस पर सरलता से नियन्त्रण नहीं रखा जा सकता था। दौलताबाद, जैसा कि बरनी लिखता है कि 'साम्राज्य के केन्द्र में स्थित था और दिल्ली, गुजरात, लखनौती तिलंग तथा अन्य मुख्य स्थानों से लगभग बराबर दूर (७०० मील) था।' किन्तु जिस ढंग से महमूद ने इस विचार को कार्यान्वित किया, वह उपहासास्पद सिद्ध हुआ।

बरनी लिखता है 'उसने बिना किसी से मन्त्रणा किये अथवा बिना योजना के गुण-दोषों की समीक्षा किये ही दिल्ली का, जो १७० अथवा १८० वर्ष से समृद्ध होती आ रही थी और जो बगदाद तथा काहिरा से प्रतिस्पर्धा करती थी, नाश कर दिया। नगर, उसकी सराएँ, किनारे के भाग तथा गाँव, चार-पाँच कोस की परिधि में फैले हुए थे, वे सब नष्ट अथवा ऊजड़ हो गये। एक बिल्ली अथवा कुत्ता भी न बचा। लोगों को अपने परिवारों सहित नगर छोड़ने पर बाध्य किया गया, उनके हृदय टूट गये, उनमें से अनेक मार्ग में ही नष्ट हो गये और जो देवगिर पहुँच भी गये वे भी अपने निर्वासन को न सह सकने के कारण घुल-घुल कर मर गये। काफिरों की भूमि देवगिरि के चारों ओर मुसलमानों की कब्रें फैल गई। सुलतान ने मार्ग में तथा वहाँ पहुँचने पर लोगों की बहुत सहायता की, किन्तु सुकोमल होने के कारण वे निर्वासन को न सह सके। वे उस काफिरों के देश मे जाकर मर गये और उन असंख्य लोगों में से बहुत कम अपनी जन्म-भूमि को पुनः लौटने के लिये बच सके।'

सुलतान के इस कार्य का जो परिणाम हुआ उसका विशद वर्णन नहीं किया जा सकता, कल्पना से पाठक उसे अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। मुहम्मद ने अपनी भयकर भूल को अनुभव किया और बचे हुए लोगों को दिल्ली लौटने की आज्ञा दे दी। लेनपूल लिखते हैं कि दौलताबाद मुहम्मद की "शक्ति के दुरुप-योग का स्मारक" था। इस विशाल प्रयोग की स्मृति को जीवित रखने के लिये महमूद ने कुछ सिक्के चलाये जिन पर 'दार-उल-इस्लाम' शब्द उत्कीर्ण था। जब इब्नबतूता १३३३ ई० में दिल्ली आया, उस समय उस नगर को फिर से बसाया जा रहा था किन्तु वहाँ के निवासियों को इस ऐतिहासिक निष्क्रमण की क्षति को पूरा करने में बहुत समय लगा।

मंगोलों के आक्रमण—दिल्ली को छोड़ने का सबसे पहला फल यह हुआ कि मगोल नेता तमाशिरी ने १३२८—२९ ई० में पंजाब पर आक्रमण कर दिया। गियासुद्दीन ने पश्चिमी सीमाओं की इतनी सुदृढ़ किलेबन्दी कर दी थी कि जब तक वह जीवित रहा मंगोल भारत में आने का साहस न कर सके। किन्तु कुछ समय पहले देश में जो घटनायें हुई थी, उनसे मगोलों को भारत पर आक्रमण करने का फिर अवसर मिल गया। जिस क्रान्ति द्वारा मुहम्मद ने दिल्ली का सिंहासन प्राप्त किया था उसका समाचार मंगोलों के पास अवश्य पहुँच गया होगा और इसी प्रकार उन्होंने दोआब में दुर्भिक्ष तथा उत्पीड़न तथा राजधानी

को सुदूर दक्षिण में ले जाने के कारण जनता को जो कष्ट हुए थे और उससे जो असन्तोष फैला था, उसका भी समाचार सुन लिया होगा। इसलिये स्थिति आक्रमण के अनुकूल थी। 'लमगान, मुल्तान तथा उत्तरी प्रान्तों पर अधिकार करके मुग़लों (इसके बाद हम उन्हें इस नाम से पुकार सकते हैं) ने मुल्तान और लाहौर से लेकर दिल्ली के समीप तक के समस्त प्रदेश को रौंद डाला। समन, इन्दरी तथा बदायूं के ज़िलों को भी उनके हाथों लूट भोगने पड़े।" मुहम्मद ने अपनी राजधानी बदली थी उस समय उसे इस संकट की चेतावनी दे दी गई थी किन्तु उसने एक न सुनी। और अब, जबकि तूफ़ान सचमुच टूट पड़ा था, उसके पास उन हत्यारों को धन देकर लौटाने के अतिरिक्त और कोई चारा ही न था, जैसा कि इङ्गलैण्ड में 'असावधान' एथलरेड ने डेन लोगों के साथ किया था।

मुद्रा प्रयोग—अब तक की सब घटनाओं का केवल एक परिणाम हुआ था। राज्याभिषेक के समय की अपव्ययता, दोआब में कर-वृद्धि के प्रयोग की विफलता, दुर्भिक्ष, राजधानी को दो बार बदलने का व्यय, दिल्ली को फिर से बसाने का व्यय और अन्त में मुग़लों से राज्य बचाने का मूल्य—इन सब कारणों से राज-कोष खाली हो गया था। जहाँ तक विचारों का सम्बन्ध था नौसिखिया सुल्तान साधन-सम्पन्न था और उसने मुद्रा सुधार की नई योजना तैयार की—अलाउद्दीन खलजी की भाँति वस्तुओं तथा उनके मूल्य के नियन्त्रण की नहीं। मुहम्मद ने अपने पूर्वाधिकारियों की भद्दी-भोंडी मुद्रा प्रणाली में जो सुधार किये, उनके लिये उसकी बहुत प्रशंसा की गई है, उसे 'मुद्रा ढालने वालों का सरताज' कहा गया है। जहाँ तक मुहम्मद के अन्य मुद्रा सुधारों का सम्बन्ध था, यह प्रशंसा पूर्णरूप से उपयुक्त थी, हम उसका खण्डन नहीं करते। किन्तु यहाँ हमें उसके केवल एक सुधार के सम्बन्ध में लिखना है—सांकेतिक मुद्रा का चलाना। इस प्रयोग के सम्बन्ध में निर्णय देते समय हमें इसके आन्तरिक गुणों का ही ध्यान रखना चाहिये मुद्रा के क्षेत्र में मुहम्मद ने जो अन्य अनुपूरक सुधार किये उन्हें लेकर परख को जटिल बनाना उचित नहीं है। इससे पहले मुहम्मद ने सोने का 'दीनार' चलाया था जिसका भार २०१ ग्रेन था। १७५ ग्रेन भार का 'अदली' भी फिर से प्रचलित किया गया था। साधारण क्रय-विक्रय को अधिक सुविधापूर्ण बनाने के लिये सुल्तान ने 'दोकानी' अथवा 'सुल्तानी' नाम का सिक्का भी जारी किया था। इस पुस्तक में अन्यत्र जो चित्र दिये हैं उनसे स्पष्ट हो जायगा कि दिल्ली के पूर्व सुल्तानों की तुलना में मुहम्मद के सिक्के कलात्मकरूप बनावट तथा सफ़ाई की दृष्टि से कहीं अधिक सुन्दर थे।

टौमस लिखते हैं "मुद्रा ढालने वालों के सरताज के रूप में ही मुहम्मद बिन तुग़लक़ विशेषकर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। प्रकार की नवीनता तथा विभिन्नता, दोनों की दृष्टि से उसके सिक्के शिक्षाप्रद हैं। रूप तथा बनावट की

कलात्मक श्रेष्ठता को ध्यान में रखते हुए भी वे अधिक सराहनीय हैं, और उनका विशेष महत्व इसलिए है कि वे स्वयं सुल्तान के व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करते हैं.....।" प्रो० जे० सी० ब्राउन टौमस के इस मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं, टौमस का मुहम्मद तुगलक को 'मुद्रा चलानेवालों का सरताज' कहना अनुचित नहीं है। यही नहीं कि उसके सिक्के बनावट तथा सुलेख की दृष्टि से उसके पूर्वाधिकारियों के सिक्कों से श्रेष्ठ हैं वरन् अपने बहुत से सोने के सिक्कों, विभिन्न मूल्यों के अनेक सिक्के चलाने, उन पर उत्कीर्ण लेखों जिनसे उसका चरित्र तथा कार्य प्रतिबिम्बित होते हैं, मुद्रा-सम्बन्धी प्रयोग, विशेषकर अनिवार्य मुद्रा आदि के कारण वह इतिहास के महानतम मुद्रास्वामियों के समकक्ष स्थान पाने योग्य है।"*

इन सब श्रेष्ठताओं को मानते हुए हमें यह देखना है कि उसके सांकेतिक सिक्कों का क्या महत्व था।

बरनी लिखता है, 'तीसरी योजना ने भी भारी क्षति पहुँचाई तांबे के सिक्के चलाये गये और उन्हें सोने तथा चाँदी के असली सिक्कों की भांति प्रयोग करने की आज्ञा दी गई उस आज्ञा से प्रत्येक हिन्दू (?) का घर टकसाल बन गया और प्रान्तों के निवासियों ने लाखों और करोड़ों तांबे के सिक्के बना डाले और उन्हीं से वे राजस्व चुकाते और घोड़े, अस्त्र-शस्त्र तथा सब प्रकार की सुन्दर वस्तुएँ खरीदते। इन तांबे के सिक्कों के कारण राय, गाँवों के मुखिया तथा भूमिधर धनी हो गये किन्तु राज्य को आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। कुछ ही समय में यह नौबत आ गई कि दूरस्थ देशों के लोग तांबे के टका को केवल धातु के मूल्य में स्वीकार करने को तैयार होते और उन स्थानों मे जहाँ सुल्तान की इस आज्ञा के लिये लोगों में सम्मान शेष था, वहाँ एक सोने के टका का मूल्य १०० तांबे के टका तक पहुँच गया। प्रत्येक सुनार अपनी दुकान में सिक्के ढालने लगा और राजकोष उनसे भर गया। उनका मूल्य इतना गिर गया कि उन्हें कोई गुट्ठियों तथा कंकड़ियों के भाव भी नहीं पूँछता था। जब सुल्तान ने देखा कि व्यापार चौपट हो रहा है तो उसने अपनी आज्ञा रद कर दी और क्रोध में आ कर घोषणा की कि लोग तांबे के सिक्के राजकोष में जमा कर दें और उनके बदले में सोने अथवा चाँदी के सिक्के ले लें। हजारों लोग बदलने के लिये सिक्के ले आये और तुगलकाबाद में पहाड़ों के समान ढेर लग गये।'

डा० ईश्वरीप्रसाद ने सुल्तान मुहम्मद को सनक, लालच तथा दिवालियेपन के आरोपों से मुक्त करने का बहुत प्रयत्न किया है। सुल्तान की ईमानदारी तथा सद्भावनाओं में सन्देह नहीं है, शाही कोष की साख का इसी से पता लगता है कि सुल्तान ने पुरानी मुद्राप्रणाली पुन. स्थापित कर दी जिससे कोष पर इतना भारी बोझ पड़ा और फिर भी साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न नहीं हुई। किन्तु बरनी ने इस मुद्रा प्रयोग के दो कारण बतलाये हैं :

* The Coins of India, पृष्ठ ७३।

(१) ३७० ००० सेना को जो विजय-योजनाओं को पूरा करने के लिये आवश्यक थी, बनाये रखने के लिये धन की आवश्यकता, और (२) कोष में धन की कमी जिसका मुख्य कारण था उपहार आदि देने में सुल्तान की अपव्ययता। बरनी के इस कथन को चुनौती नहीं दी जा सकती। चाँदी के अभाव को भी हम ताँबे तथा पीतल के सिक्के चलाने का एक अनुपूरक कारण मान सकते हैं, यद्यपि यह समझना कठिन है कि 'दक्षिण से हिन्दुस्तान में जो सोना आया था उससे चाँदी का अभाव तथा अवमूल्यन हो गया था और उससे एक विकट समस्या उठ खड़ी हुई थी।'

डा० ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि इन परिस्थितियों से "मुद्राप्रसार करने की इच्छा के अतिरिक्त सुल्तान को नये प्रयोगों से भी प्रेम था क्योंकि उसके मस्तिष्क में मौलिकता बहुत थी और अपने युग की कलाओं या विज्ञानों से वह भली-भाँति परिचित था इसीलिये वैज्ञानिक ढंग से एक नया प्रयोग करने की उसको प्रेरणा हुई होगी। नई मुद्रा चालू करते समय सुल्तान ने लोगों को जो उपदेश दिया और बाद में उसने जो आचरण किया उससे वह उनकी होने के उस आरोप से जो आधुनिक इतिहासकारों ने उस पर लगाया है, पूर्णतया मुक्त हो जाता है।' यह निश्चित है कि सुल्तान में इच्छा-शक्ति की कमी नहीं थी और न एक बार संकल्प कर लेने पर अपनी आज्ञाओं को कार्यान्वित करने की क्षमता का ही उसमें अभाव था। उसने सार्वजनिक विरोध की सम्भावना को पहले से ही समझ लिया होगा किन्तु अन्य युग के कठोर स्वेच्छाचारियों की भाँति उसने अनुभव किया होगा कि अमीर वर्गों के दुर्भाव अथवा प्रतिरोध के बावजूद इस योजना को सफल बनाने की मुझ में पर्याप्त शक्ति है इस सम्बन्ध में मुहम्मद को प्रोत्साहन तथा चेतावनी देने के लिए चीन के कुबलाईखाँ तथा ईरान के गै खातू के प्रयोगों के अच्छे तथा बुरे परिणाम भी विद्यमान थे। फिर भी उसने अपनी योजना को इसी शीघ्रता से वापिस लेना आवश्यक नहीं समझा जिससे उस प्रारम्भ किया था (१३३०-३२ ई०)। टामस के इस कथन से प्रयोग की विफलता का कारण स्पष्ट हो जाता है, "ऐसी कोई विशेष व्यवस्था नहीं थी जिससे राजकीय टकसाल के सिक्कों तथा साधारणतया कुशल कारीगरों द्वारा बनाये हुए निजी सिक्कों का अन्तर मालूम किया जा सकता। चीन में कागज के नोटों के अनुकरण को रोकने के लिए विशेष सावधानी बरती गई थी किन्तु यहाँ मुहम्मद तुग़लक ने ताँबे के सिक्कों की असलियत की जाँच के लिये कोई उपाय नहीं किया था और न साधारण जनता द्वारा जाली सिक्कों के बनाने पर ही किसी प्रकार का प्रतिबन्ध था।" 'सुल्तान के विचारों में मौलिकता थी और वह अपने युग की कलाओं तथा विज्ञानों में पारंगत था," फिर भी उसने ऐसी अवैज्ञानिक भूल की, ऐसी दशा में यह आश्चर्य की बात नहीं है कि डा० ईश्वरीप्रसाद ने मुहम्मद तुग़लक की असावधानी के लिये १४ वीं शताब्दी की जनता को दोषी ठहराया है जब कि सामान्य बुद्धि उप

निरीक्षण शक्ति रखने वाला व्यक्ति भी समझ सकता था कि ऐसी स्थिति में क्या सावधानी बरतनी चाहिये। डा० ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं, "उस युग की सामान्य जनता के लिये पीतल पीतल थी और ताँबा ताँबा था, राज्य की आवश्यकतायें कितनी ही महत्वपूर्ण हों, इसकी उसे चिन्ता नहीं थी।" किन्तु हम बरनी के कथन को पहले ही उद्धृत कर आये हैं जिसमें स्पष्ट है कि अपने अनुदार (रूढ़िवादी) विचारों के बावजूद लोग पीतल तथा ताँबे के सिक्कों से 'घोड़े, अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य सुन्दर वस्तुयें' खरीदते और उन्हीं के द्वारा राज्य-कर चुकाते थे। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम स्वयं डा० ईश्वरीप्रसाद के ही इस कथन से सहमत हो सकते हैं; "जहाँ तक मानवीय कार्यों को समझने तथा मानव-उद्देश्यों के विश्लेषण का सम्बन्ध है एक विद्वान् के विचार भ्रमपूर्ण तथा अस्पष्ट हो सकते हैं और सबसे सरल व्याख्या बहुधा सबसे अधिक सही तथा स्वाभाविक होती है।" उनका यह कथन पूर्णतया सत्य हैं, "नई मुद्रा चालू सोना तथा चाँदी से कहीं अधिक बढ़ गई थी। इसलिये यह स्वाभाविक था कि घटिया मुद्रा के भारी परिमाण में चलने से बढ़िया मुद्रा बाज़ार से उठ गई, जैसा कि ग्रेशम के सिद्धान्त के अनुसार हुआ करता है।"

अराजकता का दौर—अब हमें मुहम्मद तुगलक के राज्य-काल के राजनैतिक इतिहास पर दृष्टिपात करना चाहिए। वह छिन्न-भिन्न होने की दुखद कहानी है। सुल्तान के शासन के प्रथम दस वर्ष शान्तिपूर्वक बीत गये और भावी विनाश के कोई लक्षण प्रकट नहीं हुए; किन्तु १३३५ तथा १३५१ के बीच एक के बाद एक अनेक प्रान्तों ने साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। तेलिंगाना और मैसूर, बंगाल और दक्षिण में लगातार और तेज़ी से विद्रोह हुए और शीघ्र ही वे प्रदेश हाथ से निकल गये। मुहम्मद के शासन के प्रारम्भ में साम्राज्य में २३ सूबे सम्मिलित थे और वह पश्चिम में सिन्ध तथा पंजाब से लेकर पूर्व में बिहार और बंगाल तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण में मैसूर और मदुरा तक फैला हुआ था, किन्तु सुल्तान की मृत्यु के समय केवल हिन्दुस्तान खास पर और नाममात्र के लिये गुजरात पर दिल्ली का आधिपत्य रह गया था। यहाँ हम इस छिन्न-भिन्न होने की प्रक्रिया का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

माबर—सबसे पहला महत्वपूर्ण विद्रोह माबर में हुआ (१३३५ ई०)। जलालुद्दीन अहसनशाह ने जिसे माबर का भार सौंपा गया था, उत्तर की उलझनों से लाभ उठाकर विद्रोह का झगड़ा खड़ा किया। यद्यपि राजधानी के निकटवर्ती प्रदेश में दुर्भिक्ष तथा अराजकता फैली हुई थी, फिर भी मुहम्मद को स्वयं विद्रोह का दमन करने के लिये जाना पड़ा। एक विशाल सेना लेकर उसने दक्षिण के लिये प्रस्थान किया किन्तु मार्ग में उसे अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। हैजे के कारण उसकी सेना नष्ट भ्रष्ट हो गई और आक्रमण विफल रहा।

बंगाल—तैलिंगाना के उपरान्त बंगाल में विद्रोह हुआ (१३३६-३७ ई०)।

फख्रुद्दीन ने जो पूर्वी बंगाल के सूबेदार का कवच-वाहक था, अपने सुलतान का वध कर दिया और राजसत्ता का अपहरण कर लिया। लखनौती के सूबेदार कद्रखाँ ने उस पर आक्रमण किया किन्तु उसे भी मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा और फख्रुद्दीन ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। असहाय तथा चिन्ता-ग्रस्त सुलतान उस प्रान्त पर पुनः अपनी सत्ता स्थापित करने के लिये अँगुली भी न उठा सका। अपने अपहरणकर्ता के शासनकाल में बंगाल खूब फला-फूला और 'सुन्दर वस्तुओं से परिपूर्ण नरक' के नाम से विख्यात हुआ।

अवध—अवध को १३४०-४१ में विद्रोह करना पड़ा। उसका सूबेदार आइन उल मुल्क मुलतानी जिसका हम खुसरूशाह के सम्बन्ध में उल्लेख कर आये हैं, स्वामिभक्त पदाधिकारी था। वह एक महान् सैनिक तथा उत्कृष्ट साहित्यकार था। पहले एक अवसर पर उसने दुर्भिक्ष की भयंकरता को कम करने में सुलतान की बहुत सहायता की थी। जिस समय सुलतान गंगा-तट पर स्थित स्वर्गद्वारी नामक नगर में जिसकी उसने स्वयं स्थापना की थी, डेरे डाले हुए था, उस समय आइन उल मुल्क ने पीड़ितों की सहायता के लिये ७०-८० लाख टंका के मूल्य का अन्न उसके पास भेजा। उसने कड़ा के निज़ाम माइ के विद्रोह का दमन किया था और विद्रोही की जीवित खाल खिंचवा कर और उसके शव को दिल्ली भेज कर अपनी राजभक्ति का परिचय दिया था। इन सेवाओं के बावजूद भी इस बूढ़े तथा अनुभवी पदाधिकारी को दक्षिण जाने की आज्ञा दी गई। ऊपरी तौर से तो उसे दक्षिण के विद्रोहों का दमन करने के लिये भेजा जा रहा था; किन्तु आइन उल-मुल्क ने समझा कि यह स्थानान्तरण अवध में मेरी बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिये एक कूटनीतिक चाल है। सुलतान हठपूर्वक अपनी आज्ञाओं पर डटा रहा, इसलिये सूबेदार को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी बाध्य होकर विद्रोह का सहारा लेना पड़ा। किन्तु विद्रोह का किसी प्रकार दमन कर दिया गया, आइन-उल मुल्क के अधीन सभी लोगों को फाँसी दे दी गई किन्तु स्वयं उसे सुलतान ने क्षमा कर दिया और दिल्ली के राजकीय उद्यानों का रक्षक नियुक्त किया।

सिन्ध—सिन्ध में लूटमार का ज़ोर बढ़ रहा था और उससे भारी संकट के उपस्थित होने की आशंका थी इसलिये १३५१ ई० में सुलतान को इसका दमन करने के लिये जाना पड़ा। उपद्रवकारियों को बन्दी बनाकर इस्लाम अंगीकार करने पर बाध्य किया गया। फिर भी मुहम्मद की कठिनाइयों का अन्त नहीं हुआ। स्वयं हिन्दुस्तान में दुर्भिक्ष, महामारी विद्रोह तथा लूटमार फैले हुए एक दशक से अधिक हो चुका था और इसके परिणामस्वरूप साम्राज्य की शक्ति बहुत क्षीण हो चुकी थी तथा पूर्वी प्रान्त हाथ से निकल गये थे। जब उत्तर में शान्ति और व्यवस्था के कुछ लक्षण दीख पड़े, उसी समय साम्राज्य के दक्षिणी भागों में विद्रोह की ज्वाला फूट पड़ी।

दक्षिणी भारत—दक्खिन तथा दक्षिणी भारत पर नियंत्रण रखना सदैव

कठिन रहा था, अराजकता के इस काल में उन भागों के शान्त रहने की आशा नहीं की जा सकती थी। १३३५ ई० में मदुरा में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हो चुकी थी। दूसरे वर्ष (१३३६ ई०) विजयनगर की स्थापना हुई, जो मध्ययुगीन भारत का सबसे अधिक शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यपूर्ण हिन्दू साम्राज्य सिद्ध हुआ। प्रतापरुद्र काकतीय के पुत्र कृष्णनायक ने १३४३ ई० में एक विद्रोह का संगठन किया। मलिक काफ़ूर के दिल्ली लौटने के बाद, वीर बल्लाल तृतीय जब तक (१३१२-४२ ई०) जीवित रहा, उसने दक्षिणी भारत के बढ़ते हुए आन्दोलन में महत्वपूर्ण भाग लिया। उसका पुत्र बल्लाल चतुर्थ कृष्ण-नायक से जा मिला, वारंगल पर हिन्दुओं का पुनः अधिकार हो गया और मुसलमान सूबेदार इमाद-उल-मुल्क ने भाग कर दौलताबाद में शरण ली। फरिश्ता के शब्दों में, 'बैलालदेव तथा कृष्ण नाइक ने अपनी सेनाएँ सम्मिलित कर लीं और माबर तथा द्वारसमुद्र को मुसलमानों के चंगुल से मुक्त कर लिया। साम्राज्य के सभी भागों में युद्ध तथा विद्रोहों की लपटें धधकने लगी और दूरस्थ प्रान्तों में से गुजरात तथा देवगिरि को छोड़ कर कुछ भी सुल्तान के अधिकार में न रहा।'

दक्खिन—गुजरात तथा देवगिरि में विपत्तियों की आग तेज़ी से सुलग रही थी। दौलताबाद के सूबेदार कुतलगखाँ का शासन बहुत पहले ही आवश्यकता से अधिक मृदु सिद्ध हो चुका था। उसके अधीनस्थ पदाधिकारियों ने राजस्व का बहुत सा अंश गबन कर लिया था। मुहम्मद ने उसके स्थान पर आइन-उल-मुल्क को नियुक्त करने का प्रयत्न किया किन्तु जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, आइन-उल-मुल्क के विद्रोह के कारण उसका यह प्रयत्न विफल हुआ। किन्तु परिस्थिति इतनी बिगड़ रही थी कि उसकी ओर शीघ्र ही ध्यान देना आवश्यक था। सुल्तान ने कुतलगखाँ को सम्मानपूर्वक वापिस बुला लिया और उसके भाई आलिम-उल-मुल्क को अस्थायी रूप से देवगिरि का भार सौंपा तथा उसकी सहायता के लिये चार प्रादेशिक पदाधिकारी नियुक्त किये। किन्तु औषधि रोग से भी अधिक बुरी सिद्ध हुई। फरिश्ता लिखता है, 'कुतलगखाँ के हटाये जाने तथा नये शासक की अयोग्यता के कारण लोगों में बहुत असन्तोष फैला और चारों ओर उन्होंने विद्रोह खड़े कर दिये जिसके परिणामस्वरूप समस्त देश नष्ट भ्रष्ट तथा ऊजड़ हो गया।'

मालवा—मुहम्मद तुग़लक ने अज़ीज़ खुम्मार नामक एक अयोग्य कलाल के पुत्र को मालवा तथा धार का सूबेदार नियुक्त किया था। उसने अपने प्रान्त के अमीरों तथा सरदारों के साथ ऐसा अन्यायपूर्ण व्यवहार किया कि बाध्य होकर उन्हें विद्रोह करना पड़ा। क्रोधोन्मत्त सूबेदार ने अस्सी विद्रोहियों को पकड़वाकर अपने महल के सामने उनके सिर कटवा लिये जिससे दूसरों के लिये वे उदाहरण बन सकें। उसके इस अत्याचार से लोगों में इतना आतंक फैला कि देवगिरि तथा गुजरात के निकटवर्ती प्रान्तों में इसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। घृणास्पद अज़ीज़ विद्रोहों की लपटों से घिर गया और अन्त में उसे कुत्ते की मौत मरना पड़ा।

गुजरात—सुल्तान अपनी सत्ता के इस प्रकार के उल्लंघन को सहन नहीं कर सकता था; क्रोधावेश में आकर उसने गुजरात को प्रस्थान किया और अग्नि तथा तलवार द्वारा उस प्रदेश को उजाड़ दिया। तब तक देवगिरि विद्रोह का केन्द्र बन गया। इसलिये मुहम्मद ने उस प्रान्त के दमन-कार्य की ओर ध्यान दिया जहाँ अफगानों, तुर्कों तथा हिन्दुओं ने मिलकर शाही प्रभुत्व के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा खड़ा कर लिया था। किन्तु जैसे ही उसने दौलताबाद को उपद्रवकारियों से मुक्त किया वैसे ही गुजरात में भयंकर विप्लव फूट पड़ा और उस उधर जाना पड़ा वहाँ तग़ी नामक एक साधारण मोची ने जो एक मुसलमान अमीर का गुलाम था, हिन्दू तथा मुसलमान दोनों जातियों के अव्यवस्था तथा विद्रोह के तत्वों को अपने झंडे के नीचे एकत्र कर लिया था और नैहरवाला, कैम्बे (खम्बात) भड़ौंच आदि स्थानों को अधिकृत करके लूट लिया था। सुल्तान के वहाँ पहुँचने पर विद्रोहियों के सरदार का खिंचाव हो गया, पीछा किया गया और अन्त में उसे प्रान्त के बाहर खदेड़ दिया गया। कुछ समय तक सुल्तान ने गुजरात में विश्राम किया और कुछ हद तक शान्ति स्थापित करदी, तदुपरान्त उसने भगोड़े तग़ी का जिसने सिन्ध में जाकर शरण ली थी पीछा किया। इसी बीच में दक्षिण के विद्रोहियों ने दौलताबाद पर अधिकार कर लिया वहाँ के सूबेदार इमादुल्मुल्क को जो सुल्तान का दामाद था, मार डाला और अपने नेता हसन गाँगू को सिंहासन पर बिठला दिया। हसन ने बहमनी के स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य की स्थापना की और अलाउद्दीन बहमनशाह की उपाधि धारण की (१३४७ ई०)। बहमनी सल्तनत ने सुदूर दक्षिण के विजयनगर साम्राज्य के विरुद्ध जिसकी स्थापना ग्यारह वर्ष पहले हो चुकी थी अवरोध का काम किया। गिरनार (जूनागढ़) का दमन करने में मुहम्मद को विशेष लाभ नहीं हुआ क्योंकि उसके राजा ने शीघ्र ही अपनी स्वतन्त्रता की पुनः स्थापना कर ली। सिन्ध को जाते समय मार्ग में गोंडाल नामक स्थान पर सुल्तान बीमार पड़ गया।

मुहम्मद की मृत्यु—कुछ अच्छा होने पर सुल्तान ने भगोड़े तग़ी का जिसने सिन्ध के सुमरू शासक के यहाँ शरण ली थी पीछा करने के लिये थट्टा को प्रस्थान किया। दिल्ली से कुमुक पहुँचने के कारण शाही सेना की शक्ति काफी बढ़ गई थी किन्तु सुल्तान की दशा प्रति दिन बिगड़ती गई और अन्त में अपने उपद्रव-ग्रस्त साम्राज्य को असहाय अवस्था में छोड़ कर २० मार्च १३५१ ई० को उसने सिन्ध के तट पर अपना शरीर त्याग दिया। मुहम्मद तुग़लक के शासन का अन्त दुःखमय था जैसा कि तीन शताब्दियों बाद औरंगजेब के सम्बन्ध में हुआ डा० ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं "अपनी लड़खड़ाती हुई शक्ति को सहारा देने के लिये उसने (मुहम्मद तुग़लक ने) अपने चारों ओर एकत्र अमीरों से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया किन्तु ये सब साधारण योग्यता के व्यक्ति थे, उनके पास कोई योजना अथवा नीति नहीं थी और न वे उसे किसी प्रकार की सहायता दे सकते थे। उसकी विफलता का मुख्य कारण था ऐसे सूबेदारों और पदाधिका

रियों का अभाव जो उसकी योजनाओं को कार्यान्वित कर सकते। स्थानीय पदाधिकारियों की अयोग्यता के कारण सुलतान के व्यक्तित्व का महत्व इतना बढ़ गया था कि उपद्रवग्रस्त प्रदेशों में व्यवस्था स्थापित करने के लिये उसकी उपस्थिति आवश्यक हो गई। स्थानीय शासन कुप्रबन्ध तथा निरन्तर विरोध के कारण इतना निर्जीव हो गया था कि उसमें दिन प्रति दिन शक्तिशाली हो रहे विद्रोहियों का सामना करने की शक्ति शेष न रह गई थी। देवगिरि अथवा गुजरात में कहीं भी स्थानीय शासन ने अव्यवस्था की शक्तियों को नियन्त्रित करने में स्फूर्ति का परिचय नहीं दिया, इसलिये विरोध का सम्पूर्ण प्रहार सुलतान को ही झेलना पड़ा। ऐसा प्रतीत होता है कि शाही फौज ने भी असाधारण सुयोग्यता का परिचय नहीं दिया। सम्भवतः सुलतान की अभूतपूर्व कठोरता के कारण उसका धैर्य तथा उत्साह क्षीण हो चुका था।" [1]

दुर्विदग्धता का दुःखद परिणाम

मुहम्मद तुगलक ने छब्बीस वर्ष (१३२५–५१ ई०) तक शासन किया। यह कहना पूर्णतया सत्य होगा कि पहले दस वर्षों में सुलतान ने अपने विरुद्ध इतना असन्तोष उत्पन्न कर लिया था कि शेष सोलह वर्षों में भी वह उसे शान्त न कर सका। ऊपर हम उन विद्रोहों के इतिहास का संक्षिप्त वर्णन कर आये हैं जो समस्त साम्राज्य में केन्द्र से लेकर परिधि तक फैल गये थे। उनके कारण जितनी अव्यवस्था फैली उसे हम स्थानाभाव के कारण विस्तार से नहीं दिखा सके हैं। उदाहरण के लिये, नये सुलतान के सिंहासन पर बैठते ही स्वयं उसके भतीजे बहाउद्दीन गश्तस्प ने १३२६–२७ ई० में दक्षिण में विद्रोह किया। विद्रोही का काम्पिल तक जहाँ उसने शरण ली थी, पीछा किया गया, वहाँ के राजा ने शरणार्थी की रक्षा के लिये वीरता तथा धर्मपूर्वक युद्ध किया और राजपूती प्रथा के अनुसार जौहर करके अपने को तथा अपने परिवार को स्वाहा कर दिया। उसके ग्यारह पुत्रों को पकड़ कर मुसलमान बना लिया गया और फिर उन्हें अमीरों तथा मंसबदारों के उच्च पदों पर नियुक्त कर दिया गया। अभागे भतीजे को उसके चाचा के सम्मुख उपस्थित किया गया, रनिवास की स्त्रियों ने उसे गालियाँ दीं; उसकी जीवित खाल खिंचवाई गई और फिर उसका माँस पका कर उसके परिवार के लोगों को परोसा गया। आश्चर्य की बात यह है डा० ईश्वरीप्रसाद जैसे सावधान विद्वानों ने भी यह कह कर सुलतान की सराहना की है और उसे आरोपों से मुक्त कर दिया है कि इस प्रकार के भीषण कृत्य उस युग में सामान्य रूप से प्रचलित थे। वे लिखते हैं (यद्यपि इस प्रसंग में नहीं), "मुहम्मद अपने समय का योग्यतम व्यक्ति था और उसका व्यवहार कुशलतापूर्ण था।" मुहम्मद का सिद्धान्त था, 'राजद्रोह के अपराधियों का इस प्रकार नाश किया जायगा,'

[1] Qaraunah Turks, पृष्ठ २४७।

और सुल्तान की परिभाषा के अनुसार उसकी अस्थिर इच्छा का उल्लंघन करना ही राजद्रोह था। उसने घोषणा की,—"विद्रोहियों के लिये मेरा उपचार तलवार है। मैं इसलिये तलवार का प्रयोग करता और दण्ड देता हूँ कि कष्ट सहन द्वारा रोग दूर हो जाय। लोग जितना ही अधिक प्रतिरोध करते हैं उतना ही मैं उन्हें दण्ड देता हूँ।' जो "अपने युग का योग्यतम व्यक्ति था' और "जिसका व्यवहार कल्पनापूर्ण था" उसको यह सिद्धान्त सचमुच शोभा नहीं देता था, विशेषकर तब जब कि उसने यह अनुभव कर लिया था—जैसा कि उसने बरनी से कहा कि 'मेरा राज्य रोगग्रस्त है और कोई भी चिकित्सा उसे उससे मुक्त नहीं कर सकती। वैद्य सिर की पीड़ा अच्छी करता है तो ज्वर आने लगता है, जब वह ज्वर दूर करने का प्रयत्न करता है तो और कोई उपद्रव उठ खड़ा होता है। इसी प्रकार मेरे राज्य में अव्यवस्था आ गई है, यदि एक स्थान में मैं उसका दमन करता हूँ तो वह दूसरे में उभड़ पड़ती है यदि मैं एक जिले में उसे शान्त करता हूँ तो दूसरा उपद्रवग्रस्त हो जाता है।"

विदेशी दर्शक इब्नबतूता ने सुल्तान के चरित्र का जो वर्णन किया है उसे चुनौती देना कठिन है क्योंकि न तो उसे कोई स्वार्थसिद्धि ही करनी थी और न किसी के क्रोध का ही उसे डर था।

मूर लिखता है, 'सब लोगों में सुल्तान एक ऐसा व्यक्ति है जिसे सबसे अधिक दान देने और सबसे अधिक रक्त बहाने में आनन्द आता है। उसका द्वार कभी ऐसे भिखारी से जिसका उसने कष्ट निवारण कर दिया है और ऐसे व्यक्ति के शव से जिसे उसने मार डाला है, खाली नहीं रहता। लोगों में जिस प्रकार उसकी दानशीलता और साहस की कहानियाँ प्रचलित हैं वैसे ही उसके रक्तपात और प्रतिशोध की भी। इतना सब कुछ होने पर भी वह सर्वाधिक नम्र व्यक्ति है और न्याय तथा सचाई की रक्षा के लिये सदैव लालायित रहता है। धार्मिक कार्यों का वह भली भाँति पालन करता है, नमाज़ के सम्बन्ध में वह बड़ा कठोर है और उसकी उपेक्षा करने वालों को दण्ड देता है। किन्तु उसका सर्वोत्कृष्ट गुण दानशीलता है। ...'जब भारत में ऐसा दुर्भिक्ष पड़ा कि एक मन अन्न का मूल्य छ दीनार (तीन गिन्नी) हो गया तो उसने राजकीय भंडारों से दिल्ली के सब निवासियों को छ महीने का भोजन बँटवा दिया। छोटे तथा बड़े, स्वतन्त्र और दास, प्रत्येक व्यक्ति को मोरक्को की नाप के अनुसार डेढ़ पौंड (२ पौं०) अन्न प्रति दिन के हिसाब से दिया गया।'

सन्तुलनहीन सुल्तान के इस सम्मुचित मूल्यांकन को मानना कठिन है। यदि हम सावधानी से और निष्पक्ष भाव से मुहम्मद के कार्यों की समीक्षा कर तो उसकी न्याय तथा उदारता की भावना के बावजूद हमें इब्नबतूता के इस कथन की सचाई स्वीकार करनी पड़ेगी: 'यह सुल्तान छोटे-छोटे दोषों के लिये भयंकर अपराधों के अनुरूप दण्ड दिया करता था।' यह सुल्तान के अहंकार का परिणाम था। बरनी लिखता है कि वह अपनी योजनाओं के सम्बन्ध

में कभी अपने सलाहकारों अथवा मित्रों से मन्त्रणा नहीं किया करता था। 'जो भी विचार उसके मन में उठता उसे वह ठीक समझता था, किन्तु अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने में उसने राज्य खो दिये, जनता में घृणा उत्पन्न कर दी और कोष खाली कर दिया। एक के बाद एक उलझनें उठ खड़ी हुईं और गड़बड़ों ने और भी अधिक घबड़ाहट उत्पन्न कर दी। जनता की दुर्भावनाओं ने उपद्रवों और विद्रोहों को जन्म दिया। सुलतान की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये बनाये गये नियम दिन प्रति दिन कष्टप्रद होते गये। अनेक दूरस्थ देशों और प्रान्तों का राजस्व हाथ से निकल गया और अनेक सैनिक तथा चाकर दूरस्थ देशों में बिखर और छूट गये राजकोष में घाटा आने लगा। सुलतान अपने मस्तिष्क का सन्तुलन खो बैठा। अपने स्वभाव की अत्यधिक दुर्बलता और उग्रता के कारण वह क्रूरता पर उतारू हो गया। जब उसकी आज्ञाओं का पालन उसकी इच्छा के अनुसार न हुआ तो जनता के प्रति उसका व्यवहार और भी अधिक कटु हो गया।'

जब देश में विद्रोह व्यापक हो गये तो मुहम्मद ने मुसलमानों की दृष्टि में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से धार्मिक मान्यता प्राप्त करने के लिये काहिरा के खलीफा की अनुनय विनय की (१३४१ ई०)। समय समय पर खलीफा से उसे फरमान प्राप्त हुए और उसने यहाँ तक किया कि खुतबा में और अपने कुछ सिक्कों में अपने नाम के स्थान पर खलीफा का नाम जुड़वा दिया। डा० ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं, "खलीफा के प्रति सुलतान की चाटुकारिता इस सीमा को पहुँच गई थी कि उसका नाम केवल सिक्कों पर ही नहीं बल्कि राज्य की सभी महत्त्वपूर्ण इमारतों पर भी उत्कीर्ण कर दिया गया।" वास्तव में यह एक दयनीय बात है कि 'मध्ययुगीन मुकुटधारियों में निःसन्देह योग्यतम व्यक्ति' भी इतनी बुरी तरह निशाना चूक गया कि डा० ईश्वरी प्रसाद को भी यह स्वीकार करना पड़ा: "जनता की सहानुभूति तथा विश्वास के अभाव में खलीफा की मान्यता प्रभावहीन वस्तु थी। सुलतान स्वेच्छाचारिता के मार्ग पर डटा रहा और उसकी प्रतिशोधपूर्ण भावनाओं के कारण अकाल पीड़ित प्रजा की भक्ति को पुनः प्राप्त करना और भी अधिक कठिन हो गया। यह आशा कि खलीफा के प्रमाणपत्र के कारण प्रजा अपने सुलतान के विरुद्ध विद्रोह करना छोड़ देगी, व्यर्थ सिद्ध हुई और ७४६ हिज्री के मध्य में सुलतान भयंकर कठिनाइयों में फँस गया और उनसे फिर कभी उसका उद्धार न हो सका।' *

ऊपर हम जो कुछ लिख आये हैं उसके पश्चात् यह विवाद करना व्यर्थ है कि मुहम्मद के मूर्खतापूर्ण अत्याचारों का कारण उसकी सनक थी अथवा वे उस शासक के प्रतिशोध क प्रतीक थे जिसकी भावनाएँ अच्छी थीं किन्तु जो उस युग में रह रहा था जिसमें अधिक न्याय करने के लिये न्याय का प्रहार भी निर्मम होता था।

* Qaraunah Turks पृष्ठ, १८३।

इतिहास का मापदण्ड

इतिहास की देवी चञ्चला स्त्री के सदृश है, इसीलिये उसने नेपोलियन तथा चिनगिज़ खाँ जैसे अपने सर्वभक्षी पुत्रों को देव-पद प्रदान किया है। ऐसे ही लोग दीर्घकाल से इतिहासकारों के मापदण्ड बने हुए हैं नेपोलियन कहा करता था, "यदि किसी राजा को लोग दयालु बतलायें, तो समझ लो कि उसका शासन विफल रहा है" इसीलिये जहाँ तक तुग़लक वंश का सम्बन्ध है, गियासुद्दीन तथा फीरोज़ की तुलना में मुहम्मद को अधिक महत्व दिया जाता है। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, प्रथम तुगलक सुल्तान ने अपनी मनुष्यता तथा राजनीतिज्ञता को अपनी सैनिक शक्ति के सामने घुटने नहीं टेकने दिये थे, फिर भी उसका साम्राज्य उसके जीवन काल भर ही कायम नहीं रहा, वरन् उसके बाद भी तब तक बना रहा जब तक उसके पुत्र की बुद्धिमत्ता ने उसकी जड़ें खोखली नहीं कर दीं। फीरोज़ तुग़लक ने भी अपनी भारग्रस्त विरासत में से कुछ खोया नहीं बल्कि उसमें से बहुत कुछ बचा लिया—जितने की उस जैसे कुरानभक्त से आशा नहीं की जा सकती थी। जो कुछ भी राज्य उसे मिला था, वह उसके सैंतीस वर्ष के शासन काल में उन उपद्रवों से मुक्त रहा जो उसके पूर्वाधिकारी ने खड़े कर दिये थे और किसान से लेकर राजा तक सभी उसमें पहले से अधिक फले फूले। उसकी इस शान्तिपूर्ण, समृद्ध और सुसम्बद्ध विरासत को उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों ने बरबाद कर दिया तो उसके लिये फीरोज़ को हम दोषी नहीं ठहरा सकते। मुहम्मद तुग़लक ने राज्य के शरीर में जो विष प्रवेश कर दिया था वह इतना घातक सिद्ध हुआ कि उसके उत्तराधिकारी की राजनीतिज्ञता भी उसके प्रभाव को हटाने में असमर्थ रही और परवर्ती तुगलकों ने उस विष को फैलने में और भी अधिक सहायता दी।

फीरोज़ न अशोक था और न अकबर, क्योंकि वे दोनों अपनी धार्मिक सहिष्णुता के लिये प्रसिद्ध हैं। वह औरंगज़ेब की भाँति धर्मान्ध था, यद्यपि उस मुगल सम्राट के विपरीत उसमें मद्यपान का दुर्व्यसन भी था। किन्तु इतना होने पर भी उसमें अपने पूर्वाधिकारी की तुलना में कहीं अधिक रचनात्मक बुद्धि थी। उसके विरुद्ध केवल दो ही आरोप लगाये गये हैं—उसमें सैनिक शक्ति का अभाव था और सामन्ती व्यवस्था को राज्य में पुनः स्थापित करके उसने बुद्धिमानी का काम नहीं किया। नीचे के पृष्ठों में हम नये शासक के इन्हीं गुण-दोषों की समीक्षा करेंगे।

फीरोज़ का सिंहासनारोहण

बदायूनी के शब्दों में 'जिस समय सुल्तान (मुहम्मद) को अपनी प्रजा से और प्रजा को अपने सुल्तान से मुक्ति मिली,' उस समय राजधानी का भार बूढ़े मन्त्री ख्वाजा जहाँ के हाथों में था और सेना नेतृत्वविहीन थी। शिविर में

गड़बड़ फैलने लगी और इस डर से कि कहीं राजधानी में भी उपद्रव न उठ खड़े हों ख्वाजा जहाँ ने मुहम्मद तुग़लक के एक माने हुए पुत्र को दिल्ली में सुल्तान घोषित कर दिया। फीरोज़ ग़ियासुद्दीन के भाई रजब का पुत्र था और राजपूत माता से उत्पन्न हुआ था। [स्वर्गीय सुल्तान के कोई पुत्र न था, इसलिये वह उसी को अपना उत्तराधिकारी नामनिर्दिष्ट कर गया था और सेना ने भी उस पर सिंहासन स्वीकार करने के लिये दबाव डाला किन्तु फीरोज़ ने मुकुट धारण करने में अनिच्छा प्रकट की। लेकिन अन्त में परिस्थिति इतनी भीषण हो गई कि कर्तव्य समझ कर उसे सबकी इच्छा के सामने झुकना पड़ा। मुहम्मद का विद्रोहियों के प्रति सदैव मृदु व्यवहार रहा था, इसलिये उसकी सेना में विद्रोही मुग़लों का एक भारी दल था। सुल्तान की मृत्यु होते ही उन लोगों ने शेष सेना पर आक्रमण कर दिया और यदि फीरोज़ ने निश्चय न किया होता, तो वे सिन्धियों तथा मुग़लों सबका काम तमाम कर देते। फीरोज़ ने मुकुट धारण किया, शत्रु को हराया और सेना को सुरक्षापूर्वक दिल्ली ले पहुँचा।

यद्यपि उसे सिंहासन पर विराजमान एक प्रतिद्वन्द्वी का सामना करना पड़ा किन्तु कठिनाइयाँ शीघ्र दूर हो गईं। ख्वाजा जहाँ ने अपनी भूल अनुभव की और वृद्ध स्वामी के सामने समर्पण कर दिया। सुल्तान ने उसे क्षमा करके अपनी समन की जागीर को जाने की आज्ञा दी। किन्तु अमीरों ने कानून को अपने हाथों में लेकर फीरोज़ की आज्ञा के विरुद्ध उसका वध कर दिया, जैसा कि आगे के युग में बैरामख़ाँ ने हेमू का किया।

इसी समय एक अन्य घटना हुई जिससे फीरोज़ के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। ख़ुदावन्दज़ादा नाम की मुहम्मद की एक बहिन थी। फीरोज़ ने उसके साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार किया, फिर भी उसने अपने पुत्र दावर मलिक को सिंहासन पर बिठलाने के उद्देश्य से सुल्तान की हत्या करने के लिये षड्यन्त्र रचा। फीरोज़ को उसकी योजना का पता चल गया किन्तु उसे केवल इतना ही दण्ड दिया कि उसकी पेंशन घटा दी गई और उसके पति को जिसने षड्यन्त्र में प्रमुख भाग लिया था निर्वासित कर दिया।

इस प्रकार ऊपरी तौर से फ़ीरोज़ का आचरण भी वैसा ही कोमल प्रतीत होता था जैसा कि जलालुद्दीन ख़लजी का। किन्तु यदि हम दिल्ली के पूर्व सुल्तानों में उसके सादृश्य ढूँढना चाहें, तो अन्य किसी की अपेक्षा नासिरुद्दीन से उसकी तुलना करना अधिक उपयुक्त होगा। नासिरुद्दीन की भाँति उसकी भी धर्म में विशेष प्रवृत्ति थी और उसे ख़ानजहाँ मक़बूल नामक बलबन जैसा ही एक सुयोग्य मन्त्री मिल गया। स्वभाव से दोनों ही सुल्तान कोमल तथा दयालु थे किन्तु फीरोज़ में शासन सम्बन्धी योग्यता कहीं अधिक थी।

सिंहासन पर बैठने के उपरान्त पर्यंस के सोकन की भाँति फीरोज़ ने पहला उदारतापूर्ण कार्य यह किया कि पुराने सब ऋण और रहने रद्द कर दीं। पिछले

दुर्भिक्ष के विपत्ति के दिनों में अनेक लोगों को राज्य से धन आदि की सहायता मिली थी, उन्हें अब सरकारी ऋण चुकाना था; फीरोज ने उन सबको माफ कर दिया और प्रार्थना की कि स्वर्गीय सुलतान के हाथों तुमको जो अन्याय और कष्ट भुगतने पड़े थे, उनके लिये उसे क्षमा कीजिये। मुहम्मद द्वारा पीड़ित जो लोग मर चुके थे उनके सम्बन्धियों से भी उचित साक्षियों के सामने लिखित क्षमा-पत्रों पर हस्ताक्षर करवाये गये और उन पत्रों को एक पिटारी में रख कर मुहम्मद की क़ब्र के निकट गाड दिया गया जिससे क़यामत के दिन वे उसके काम आयें। किन्तु फीरोज़ ने मृत सुलतान के पापों का असली प्रायश्चित अपने सैंतीस वर्ष के शासन में दीर्घकाल से दुःखी तथा पीडित जनता को समृद्धि तथा शान्ति प्रदान करके किया। मुहम्मद तुग़लक़ का सबसे अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य यह था कि उसने अपने से कम बिगड़े हुए तथा अधिक बुद्धिमान व्यक्ति को उत्तराधिकारी नामनिर्देशित किया।

फीरोज़ की सैनिक कार्यवाहियाँ

यद्यपि फीरोज़ में निःसन्देह सैनिक-शक्ति और योग्यता का अभाव था किन्तु जब कभी कर्तव्य की पुकार हुई, उसने युद्ध किये और इस प्रकार अपने निर्वाचन का औचित्य सिद्ध किया। उसमें विजय की वैसी तीव्र उत्कण्ठा नहीं थी जैसी कि अलाउद्दीन खलज़ी तथा मुहम्मद तुग़लक़ में पाई जाती थी। उसने उस बुद्धिमत्तापूर्ण नीति का अनुसरण किया जिसे युद्धप्रिय बलबन ने भी परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए लाभदायक समझा था। उसका यह विचार उचित ही था कि विस्तृत किन्तु अशासनीय साम्राज्य के लिये मुँह फैलाने से तो यह अच्छा है कि सीमित राज्य पर भली प्रकार से शासन किया जाय। उसके उग्र पूर्वाधिकारी के अनुभव इतने ताज़े थे कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

बंगाल—महत्वाकांक्षी मुहम्मद को भी बाध्य होकर बंगाल की हानि सहन करनी पड़ी थी। इसलिये फीरोज़ से उस प्रान्त की राजनीति में हस्तक्षेप करने की आशा नहीं की जा सकती थी। किन्तु सिंहासन पर बैठने के दूसरे वर्ष ही (१३५२ ई०) फीरोज़ को शम्सुद्दीन इलियास शाह की जिसने पूर्वी तथा पश्चिमी बंगाल पर स्वामित्व स्थापित करके तिरहुत को भी हड़पने के लिये आक्रमण कर दिया था, युद्धप्रियता ने शस्त्र उठाने पर बाध्य किया। युद्ध की इच्छा न होते हुए भी फीरोज ने बंगाल पर आक्रमण करना अपना कर्तव्य समझा। यद्यपि इस कार्य को उसने बहुत ही उत्तम ढंग से किया फिर भी पूर्णतया अपने स्वभाव के अनुसार एक विशाल सेना लेकर वह पीछे हटते हुए शत्रु की ओर बढ़ा और बंगाल की जनता के नाम एक घोषणा जारी की जो डा० ईश्वरीप्रसाद के शब्दों में "दिल्ली सल्तनत के इतिहास का एक अत्यन्त असाधारण प्रलेख है और जिससे फीरोज की उदार नीति पर बहुत प्रकाश पड़ता है।" अधिक लम्बी होने के कारण वह यहाँ पूरी नहीं दी जा सकती फिर भी निम्न उद्धरण देना अत्यावश्यक है :—

बंगाल की जनता से अपने शाहंशाह दिल्ली सुल्तान की भक्तिपूर्वक सहायता करने को कहा गया और वचन दिया गया कि उनके बदले में उन्हें सब प्रकार की रियायतें दी जायेंगी; फिर कहा गया, 'चूँकि हमारे शुभ कानों तक यह समाचार पहुँच चुका है कि इलियास हाजी लखनौती तथा तिरहुत की जनता पर अन्याय तथा अत्याचार कर रहा है, व्यर्थ में रक्तपात कर रहा है और स्त्रियों का रक्त बहाने से भी नहीं चूकता यद्यपि सभी धर्मों और सिद्धान्तों का यह सुसंस्थापित नियम है कि किसी स्त्री का, चाहे वह काफिर ही क्यों न हो, वध न किया जाय। और चूँकि इलियास हाजी अनुचित कर वसूल कर रहा है जिनका इस्लामी कानूनों में विधान नहीं है और इस प्रकार वह जनता को कष्ट पहुँचा रहा है; ऐसी स्थिति में न जीवन और सम्पत्ति ही सुरक्षित है और न सम्मान तथा सतीत्व। और चूँकि वह मर्यादा का उल्लंघन कर गया है और खुले रूप से हमारी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया है, इसलिये हम इस राज्य को मुक्त करने तथा यहाँ की जनता को सुखी बनाने के उद्देश्य से एक विशाल सेना लेकर यहाँ आये हैं और हमारी इच्छा है कि सब लोगों को उसके अत्याचारों से मुक्ति मिले उसके उत्पीड़न से उत्पन्न घाव हमारे न्याय और दया के मरहम से भर जाँय और उसके अत्याचार तथा उत्पीड़न की गरम तथा नाशकारी वायु से झुलसा हुआ उनका जीवन-वृक्ष हमारी दयालुता के शीतल जल से फिर फलने फूलने लगे।'

इसके पश्चात् सुल्तान ने युद्ध क्षेत्र में सैनिक विजय प्राप्त की और शत्रु को इकदला के गढ़ में शरण लेने पर बाध्य किया; किन्तु जब दयालु सुल्तान ने किले की दीवारों के भीतर करुण क्रन्दन करती हुई स्त्रियों का चीत्कार सुना तो किले को हस्तगत करने का अन्तिम कार्य उससे न हो सका। 'बाबा कहता' किले पर अधिकार करना और अधिक मुसलमानों को तलवार के घाट उतारना तथा स्त्रियों के सम्मान और सतीत्व का अपहरण करना ऐसा भयंकर पाप होगा कि कयामत के दिन वह उसका उत्तर न दे सकेगा और न उसमें तथा कुत्तों में कुछ भेद ही रह जायगा।' इसलिये वह प्रान्त को छोड़ कर १३५४ ई० में वह राजधानी को लौट गया।

किन्तु १३५९ ई० में पूर्वी बंगाल के प्रथम स्वतन्त्र मुस्लिम शासक फखरुद्दीन के दामाद जफर खाँ के प्रार्थना करने पर फिर एक बार बंगाल में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता अनुभव हुई। शाही सेना जिसमें ७ , ०० अश्वारोही ४ ० हाथी तथा भारी संख्या में पैदल सम्मिलित थे, नावों में बैठकर गंगा द्वारा पूर्व की ओर चल पड़ी। मार्ग में फीरोज़ ने अपने स्वर्गीय चचेरे भाई की स्मृति में जौनपुर (जूनापुर) नगर की स्थापना की। पहले की भाँति इस बार भी इकदला के किले को घेर लिया गया और अन्त में बहुत दबाव पड़ने के कारण शम्सुद्दीन के उत्तराधिकारी सिकन्दर ने सोनारगाँव जफरखाँ को देना स्वीकार कर लिया। निःसन्देह फीरोज़ की यह विजय थी किन्तु उसके कृपापात्र जफरखाँ ने सोनारगाँव पर शासन करने के कठिन कार्य की अपेक्षा दिल्ली में शाही दरबार के सुखमय जीवन को अधिक पसन्द किया और सोनारगाँव को त्याग दिया।

उड़ीसा—फ़ीरोज़ तुरन्त ही दिल्ली को नहीं लौटा। उसने जाजनगर (आधुनिक उड़ीसा) पर आक्रमण किया, उस प्रान्त की उपज से अपनी सेना को खूब खिलाया-पिलाया, जगन्नाथ (पुरी) के मन्दिर को जो पूर्व में सोमनाथ का प्रतिरूप था, नष्ट कर दिया और महमूद गज़नी की भाँति १३६० ई० में अपनी राजधानी को लौट गया; मार्ग में जाजनगर के राइ तथा कुछ अन्य हिन्दू सामन्तों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

नगरकोट—मुहम्मद तुगलक ने १३३७ ई० में हिमालय पर आक्रमण करते समय नगरकोट के दुर्ग को विजय कर लिया था। इसके प्रसिद्ध ज्वालामुखी मन्दिर को भी 'बुतशिकन' ने १००८-९ ई० में लूटा था। वहाँ के हिन्दू राजा ने आस-पास के प्रदेश में लूटमार आरम्भ कर दी थी, इसलिये फीरोज को उधर ध्यान देना पड़ा। सुल्तान दौलताबाद का दमन करने के लिये कूच कर चुका था, उसी समय मार्ग में उसने नगरकोट के राजा की कार्यवाहियों का समाचार सुना और १३६०-६१ ई० में उधर को मुड़ गया। छ: महीने तक किले का घेरा चलता रहा, अन्त में राजा ने समर्पण कर दिया और सुल्तान ने उसे क्षमा करके अपने पद पर रहने दिया। फीरोज़ का ध्यान मन्दिर के पुस्तकालय में विद्यमान कुछ संस्कृत ग्रन्थों की ओर गया और उसने फारसी में उनका अनुवाद करवा डाला।

सिन्ध—मुहम्मद की मृत्यु के समय शाही सेना को सिन्धियों के हाथों बहुत कष्ट भोगने थे, उनका बदला लेने का फीरोज बहुत पहले से विचार कर रहा था १३६२-६३ ई० में उसने इस उद्देश्य से थट्टा पर आक्रमण किया। आक्रमणकारी सेना में हाथियों तथा बहुसंख्यक पैदलों के अतिरिक्त ९०,००० घुड़सवार सम्मिलित थे किन्तु रसद की कमी के कारण इस विशाल सेना को कुछ समय के लिये गुजरात की ओर मुड़ना पड़ा। वहाँ वे मार्ग-दर्शकों के विश्वासघात के कारण कच्छ के रन में चले गये और दलदल में डूबने से बाल बाल बच गये। दुर्भिक्ष के कारण शाही सेना की बहुत बड़ी संख्या नष्ट हो गई और छः महीने तक उसका कोई समाचार नहीं मिला। किन्तु अन्त में वह किसी प्रकार निकलकर गुजरात के उर्वरा मैदानों में पहुँच गई। फीरोज़ ने सैनिकों तथा रसद की कमी पूरी की और गुजरात के उद्दण्ड सूबेदार को पदच्युत करके सिन्ध की ओर लौटा। भगोड़े पकड़ लिये गये और सुल्तान ने उन्हें फाँसी न देकर कठघरों में जकड़वा कर यातनाएँ दिलवाईं। जिन सैनिकों के पास साज-सज्जा की कमी थी उन्हें बहुत सा भत्ता दिया गया जिससे वे अपनी कमी पूरी कर लें। कुमुक के लिये दिल्ली आज्ञा भेजी गई और महान् वजीर खान जहाँ मकबूल के प्रयत्नों के फलस्वरूप बदायूँ, कन्नौज, जौनपुर, बिहार, तिरहुत, चन्देरी, धार आदि साम्राज्य के सभी भागों से सुल्तान के पास सैनिक दल एकत्र हो गये। शाही सेना की संख्या सिन्धियों से कहीं अधिक होगई, इसलिये आतंकित होकर उन्होंने समर्पण कर दिया। विजयी सुल्तान ने ज़ाम बाबनिया के स्थान पर उसके

भाई को सिन्ध का शासक नियुक्त किया और स्वयं उसे अपने साथ लेकर दिल्ली को लौट गया। ऐसी प्रतीत होता है कि पराजित जाम जीवन भर सुलतान फीरोज़ का भक्त बना रहा। किन्तु डा० ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि 'यह आक्रमण सुलतान की मूर्खता तथा सामरिक कौशल के अभाव का ज्वलन्त उदाहरण था।'

महान् शासक के रूप में फीरोज़

यद्यपि फीरोज़ तुग़लक ने औरंगज़ेब की भाँति हिन्दुओं तथा गैर-सुन्नी मुसलमानों के प्रति धार्मिक कट्टरता का व्यवहार करके अपनी राजनीतिज्ञता को कलंकित किया फिर भी यह एक महान् शासक था इसमें सन्देह नहीं। धार्मिक सहिष्णुता के दिन अभी बहुत दूर थे, इसलिये फीरोज़ से यद्यपि वह हिन्दू माता से उत्पन्न हुआ था, इस विषय में अपवाद होने की आशा नहीं की जा सकती थी। उस के सभी पूर्वाधिकारी सच्चे मुसलमान होने के नाते हिन्दुओं के साथ विभेद करना अपना कर्तव्य समझते थे। मुहम्मद तुग़लक ने भी जिसे अपने समय से कहीं अधिक प्रगतिशील माना गया है, सिन्धी विद्रोहियों तथा काम्पिल्य के हिन्दू राजकुमारों को इस्लाम स्वीकार करने पर बाध्य किया था। फीरोज़ ने भी हिन्दू मन्दिरों का विध्वंस किया नयों के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगाया और ब्राह्मणों पर जो उस समय तक मुक्त रहे थे, जिज़या लगाया किन्तु उसने अन्तिम प्रार्थना करने पर जिज़या को दर घटाकर १० टंका से ५० जीतल कर दी और संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद कराया। अपने युग की इस सामान्य संकीर्णता के विपरीत उसने धर्मनिरपेक्ष प्रशासन सम्बन्धी सफलताएँ भी प्राप्त कीं जिनके कारण वह मध्ययुगीन भारत के मुस्लिम शासकों में अग्रगण्य है। सार्वजनिक उपयोगिता की जिन वस्तुओं का उसने निर्माण कराया उन पर शासकवर्ग का एकाधिकार नहीं था। जैसा कि डा० ईश्वरीप्रसाद ने स्वीकार किया है, 'जनता का हित नये शासन की नीति का नारा था और उसके कार्यों से हिन्दुओं तथा मुसलमानों सभी को लाभ हुआ।'

राजस्व व्यवस्था—गियासुद्दीन तुग़लक का विचार था कि राज्यों के नाश के दो मुख्य कारण होते हैं—अत्याचारपूर्ण राजस्व-व्यवस्था तथा असफल राजकर और विध्वंसकारी सूबेदार तथा पदाधिकारी भी नाश के लिये उत्तरदायी होते हैं। किन्तु जैसाकि मोरलैंड लिखते हैं, 'गियासुद्दीन का शासन-काल इतना थोड़ा था कि नई परम्पराओं का स्थापित होना सम्भव न हो सका इसलिये उसका महत्त्व नीति निर्धारण करने में था न कि सफलताओं की प्राप्ति में।' उन्होंने आगे कहा है कि—इस प्रकार गियासुद्दीन का स्थान बचपन से प्रारम्भ होनेवाली परम्परा में था; कुछ समय उपरान्त उसके पुत्र ने दिखा दिया कि उसकी नीति से विचलित होना कितना सङ्कटमय था।' *

* Agrarian System पृष्ठ ५१।

मुहम्मद तुगलक की वित्तनीति से भी स्पष्ट हो गया था कि वह कोरा सिद्धान्तवादी था और व्यावहारिक कुशलता की उसमें कमी थी। यह कहना अनुचित होगा कि राजस्व को ठेकेदारों द्वारा वसूल करवाने तथा वेतन के बदले में राजस्व का भाग देने की घातक प्रथाएँ जिनके कारण अन्त में सम्राज्य का नाश हो गया, फीरोज तुगलक ने प्रचलित की थीं। अलाउद्दीन ने इसे हटाकर नकद वेतन देने की अधिक ठोस परिपाटी चलाई थी। उसके तत्कालीन उत्तराधिकारियों के समय में शासन पर छाई विलासिता तथा अराजकता के कारण फिर पुरानी प्रथा चल पड़ी। गियासुद्दीन तुगलक ने ठेके की प्रथा को प्रोत्साहन नहीं दिया किन्तु उसे इतना समय न मिला कि अलाउद्दीन की बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवस्था को पुन: स्थापित कर सकता। मुहम्मद भी इस अराजकीय प्रणाली के पक्ष में न था किन्तु परिस्थितियों ने जिनके लिये आंशिक रूप में वह स्वयं उत्तरदायी था, उसे बाध्य कर दिया। दोआब के उपद्रवों के कारण विशेषकर उसे वित्तीय पुन:सगठन पर विचार करना पड़ा। अपने बाद के अकबर तथा आस्ट्रेलिया के जोसफ द्वितीय की भाँति उसने भी समस्त साम्राज्य में एकरूप तथा केन्द्रीकृत व्यवस्था कायम करने का विचार किया और इस उद्देश्य से एक आयोग नियुक्त किया तथा भूमि-पड़ताल, अनुदान आदि में दो करोड़ टंका व्यय किया। उद्देश्य यह था कि 'एक बालिश्त भूमि भी बिना जुती न रहे' और 'जौ का स्थान गेहूँ, गेहूँ का गन्ना और गन्ने का अंगूर तथा खजूर ले लें।' सिद्धान्त की दृष्टि से मुहम्मद की अन्य योजनाओं की भाँति यह विचार भी पूर्ण था किन्तु कार्यरूप में परिणत न किया जा सका। उसके शासन की पूरी चौथाई शताब्दी भर दोआब की जनता पर जो बीती उसका साराश मोरलैंड ने इस प्रकार दिया है, "नाशकारी राजस्व-वृद्धि, बाजारों का हाथ से निकल जाना, कृषि पर प्रतिबन्ध, विद्रोह, भयंकर दण्ड, पुनः स्थापना का प्रयत्न जो अनावृष्टि के कारण असफल रहा और अन्त में पुनर्निर्माण की चमत्कारपूर्ण नीति जिसका पूर्ण विफलता में अन्त हुआ।"[१] इसके अतिरिक्त देश की राजनैतिक दशा ऐसी थी कि ठेके के अतिरिक्त अन्य कोई परिपाटी सफल नहीं हो सकती थी। बरनी मुहम्मद की इसलिये आलोचना करता है कि उसने नाइयों, कलारों, मालियों, जुलाहों आदि नीच जातियों के लोगों को बढ़ावा दिया था और अमीरों के समान उन्हें भी दरबार में तथा प्रान्तों में उच्च पदों पर नियुक्त कर दिया था। अज़ीज़ खुम्मार का उदाहरण इसी प्रकार का है। इसी प्रकार बीदर में एक सट्टेबाज़ को एक करोड़ टंका के बदले में राजस्व का ठेका दे दिया गया था, "वह कायर तथा अयोग्य था और अन्न का व्यापार उसका पेशा था।" एक तीसरे 'नीच, मद्यपी, तुच्छ मूर्ख' को कड़ा का ठेका दे दिया गया था, "उसके पास न पूँजी थी, न आदमी और अन्य किसी प्रकार के साधन," वह "उसका दशांश भी वसूल न कर सका जितना देने का उसने बचन दिया था और इसलिये उसने उपद्रवियों का एक गिरोह एकत्र करके विद्रोह कर दिया और सुल्तान की उपाधि

[१] Agrarian System, पृष्ठ ४८।

धारण करली।'' मोरलैंड का लिखना है कि मुहम्मद तुगलक के 'शासनकाल की दो प्रमुख भूमि सम्बन्धी असफलताएँ थीं—राजस्व को हद पर पहुँचवाना तथा राजस्व के रूप में गल्ला लेना।''

यदि हम फीरोज तुगलक की राजस्व व्यवस्था को भलीभाँति समझना चाहते हैं तो हम इन पूर्वगामी तथ्यों की उपेक्षा नहीं कर सकते। फीरोज की प्रशंसा करते हुए इतिहासकार लिखता है कि ईश्वरीय प्रेरणा से उसने अपने राज्य का सम्पूर्ण राजस्व अपनी प्रजा में बाँट दिया। जागीरों के विभिन्न जिले भी विभक्त कर दिए गए। अफीफ के शब्दों में इस व्यवस्था का सबसे अच्छा वर्णन मिलता है—

सेना के सिपाहियों को आराम से निर्वाह करने के लिये पर्याप्त भूमि जागीरों के रूप में मिलती थी और अनियमित सैनिकों को राजकोष से वेतन दिया जाता था। जिन सिपाहियों को इस प्रकार वेतन नहीं मिलता था उन्हें उनकी आवश्यकतानुसार राजस्व का भाग सौंप दिया जाता था। जब इस सम्बन्ध के पट्टे जागीरों में पहुँचते तो पट्टेदारों को कुल रकम का आधा मिल जाता था। उन दिनों यह प्रथा प्रचलित थी कि कुछ लोग इन पट्टों को खरीद लेते थे और इससे दोनों ही पक्षों को लाभ होता था। खरीदनेवाले कुल मूल्य का एक तिहाई पट्टेदार को नगर में ही चुका देते थे और जिले में जाकर स्वयं वसूल करते थे। इस प्रकार उनका अच्छा व्यवसाय चलता था और उन्हें काफी लाभ हो जाता था। उनमें से अनेक बहुत धनी हो गये और सम्पत्ति जोड़ ली।

सम्पत्ति जोड़ने के इस साधन के कारण ही फीरोज के शासन काल में बस्तियों में शान्ति कायम रही; इसका अन्तिम परिणाम कुछ भी हुआ हो। लोगों की शक्ति शान्तिमय तथा रचनात्मक व्यवसायों में लगी रही और ईश्वर की कृपा तथा ऋतुओं की अनुकूलता के कारण राजधानी में ही नहीं अपितु समस्त राज्य में जीवन की आवश्यक वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती रहीं। अन्न इतना सस्ता था कि दिल्ली नगर में गेहूँ ८ जीतल तथा चना और जौ ४ जीतल प्रतिमन के भाव से बिकता था। एक सिपाही अपने घोड़े को एक जीतल में १० सेर अन्न खिला सकता था। सभी प्रकार के कपड़े सस्ते थे और सफेद तथा रंगीन वस्त्रों का मूल्य भी कम था। सामान्य रूप से मूल्यों के घटने के अनुसार मिठाइयों के मूल्य में कमी करने की आज्ञा जारी की गई।'

राज्य संकुचित हो गया था, फिर भी राजस्व में वृद्धि हो गई, इसलिए नहीं कि उसकी दर बढ़ा दी गई थी (वास्तव में उसे कम कर दिया गया था) बल्कि इसलिये कि जागीरें और लोग खुशहाल थे। राजस्व निर्धारित करने से पहले भूमि की दशा की सावधानी से जाँच कर ली जाती थी। जागीरदारों के पट्टों की भी जाँच होती थी और जिनके सम्बन्ध में सन्देह होता उन्हें न्यायालयों के सामने अपने दावे सिद्ध करने पड़ते थे। ख्वाजा हिसामुद्दीन जुनैद ने, जिसके हाथ में राजस्व निर्धारित करने का कार्य था, राज्य भर का दौरा किया और एक रिपोर्ट प्रस्तुत की तथा सुधार के लिये उचित सुझाव दिये। भ्रष्टाचारों का दमन कर दिया

गया और राज्य की माँगें घटा दी गईं। कम से कम २३ अथवा २६ कर हटा दिये गये क्योंकि या तो वे कष्टप्रद थे अथवा कुरान में उनका विधान नहीं था। इससे पहले राज्य युद्ध में प्राप्त लूट के धन का $\frac{4}{5}$ भाग हड़प लिया करता था और सैनिकों के लिये केवल $\frac{1}{5}$ छोड़ा जाता था, फीरोज़ ने कुरान के नियमों के अनुसार $\frac{1}{5}$ भाग राज्य के लिये और $\frac{4}{5}$ सैनिकों के लिये निश्चित किया। कुरान में खिराज़, ज़कात, खम्स तथा जिज़या—इन्हीं चार करों का विधान है, फीरोज़ ने इससे अधिक वसूल नहीं किया। यहाँ तक कि सिंचाई कर लगाने से पहले उलेमा की सलाह ली गई और उन्होंने सर्व सम्मति से घोषित किया कि 'सुल्तान को शर्ब लेने का अधिकार है।'

तारीखे फीरोज़शाही का रचयिता लिखता है, 'सुल्तान फीरोज़ ने पैगम्बर के नियमों को अपना पथ प्रदर्शक बनाया, उनमें निर्धारित सिद्धान्तों का उत्साह के साथ पालन किया और उन सब चीज़ों का निषेध कर दिया जो उनसे मेल नहीं खाती थीं। नियमित राज्य कर के अतिरिक्त लोगों से और किसी चीज की माँग नहीं की जाती थी और यदि कोई पदाधिकारी कुछ ले लेता तो उसे उसका पूरा मूल्य चुकाना पड़ता था। ज़रीदार तथा रेशमी वस्त्र और अन्य सामान जिसकी शाही परिवार को आवश्यकता पड़ती थी, बाजार भाव पर खरीदा जाता और उसका पूरा मूल्य चुकाया जाता था। ऐसे नियम बनाये गये जिससे कि प्रजा मजबूर तथा सन्तुष्ट हुई। उनके घर, अन्न सम्पत्ति, घोड़े तथा फर्नीचर से भर गये, प्रत्येक के पास खूब सोना तथा चाँदी था, ऐसी कोई स्त्री न थी जिसके पास आभूषण न हों और न कोई ऐसा घर था जिसमें उत्तम पलंग और बिस्तर न हों। धन की भर-मार थी और सभी को सुख-सुविधायें प्राप्त थीं। समस्त दिल्ली सल्तनत पर ईश्वर की असीम अनुकम्पा थी।'

वही इतिहासकार लिखता है कि दिल्ली राज्य की आय छः करोड़ तथा पचासी लाख—टका—थी और दोआब की अस्सी लाख। केवल राजकीय उद्यानों से प्रतिवर्ष व्यय निकालकर एक लाख अस्सी हजार टंका की आय हो जाती थी। लेखक का कथन है, 'सुल्तान फीरोज को बाग लगाने का बहुत शौक था और उसने उन्हें सुशोभित करने के लिये बहुत प्रयत्न किये।'

लोक-हित कार्य—निर्माण कार्य फीरोज का 'मुख्य व्यसन' था। वुल्ज़ले-हेग लिखते हैं, "उसे निर्माण कार्य का इतना चाव था कि इस दृष्टि से वह रोमन सम्राट ऑगस्टस से यदि बढ़ा चढ़ा नहीं तो कम से कम उसके समान अवश्य था। फीरोजाबाद, फतेहाबाद, हिसार, फीरोजपुर (बदायूँ के निकट) तथा जौनपुर की उसने नींव डाली और कहा जाता है कि उसने चार मसजिदों, तीस महलों, दो सौ सरायों, पाँच जलाशयों, पाँच अस्पतालों, सौ कब्रों, दस स्नानागारों, दस कीर्ति स्तम्भों तथा सौ पुलों का निर्माण अथवा जीर्णोद्धार कराया।" किन्तु यह सूची पूर्ण नहीं है। इनके अतिरिक्त उसने यात्रियों की सुविधा के लिये १५० कुयें तथा सिंचाई के लिये पाँच नहरें बनवाईं। इनमें से सबसे बड़ी १५० मील लम्बी

थी और यमुना का पानी उस शुष्क स्थल तक ले जाती थी जहाँ सुल्तान ने हिसार फीरोजा नगर बसाया था। उसका मुख्य शिल्पी मलिक गाजी शहना था और अब्दुल हक्क अथवा जाहिर सुन्धर उसका नायब था। प्रत्येक भवन के निर्माण से पहले उसकी योजना तथा व्यय का आनुमानिक विवरण 'दीवाने विजारत' के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था और तब धन की स्वीकृति मिलती थी।

वी० ए० स्मिथ लिखते हैं, "यह एक नियम-सा है कि एशियायी शासक अपने पूर्वजों के भवनों में दिलचस्पी नहीं लेते और उन्हें भ्रष्ट-भ्रष्ट हो जाने देते हैं। फीरोजशाह की विशेषता थी कि उसने पूर्व सुल्तानों तथा प्राचीन अमीरों के भवनों के जीर्णोद्धार तथा पुनर्निर्माण की ओर बहुत ध्यान दिया। इन भवनों के जीर्णोद्धार को उसने अपनी नई योजनाओं के मुकाबिले में भी प्राथमिकता दी।" दिल्ली के निकट अशोक के जो दो स्तम्भ खड़े हैं उन्हें वहाँ टोपरा (अम्बाला जिले में) तथा मेरठ से लाया गया था। तात्कालीन इतिहासकार अफीफ बतलाता है कि किस प्रकार यह कठिन कार्य सम्पादित हुआ था। 'एक विशाल नगर में बड़ी बड़ी नावें एकत्र की गई, उनमें से कुछ पाँच पाँच और सात सात हजार मन अनाज ले जा सकतीं थीं और सबसे छोटी दो हजार मन। स्तम्भ को बड़ी चतुराई से इन नावों पर पहुँचा दिया गया और वहाँ से उसे फीरोजाबाद ले जाया गया और वहाँ उसे अपार परिश्रम तथा कौशल के साथ कुश्क में पहुँचाया गया।

इन सब दुस्साध्य कामों के लिये मानव शक्ति की आवश्यकता थी; फीरोज ने गुलामों के एक विशाल दल को भर्ती तथा संगठित करके उसे पूरा किया। पूर्वोक्त लेखक कहता है—

गुलामों की प्राप्ति के लिये सुल्तान बहुत परिश्रम किया करता था और इस विषय की उसे इतनी चिन्ता थी कि उसने अपने जागीरदारों तथा पदाधिकारियों को आज्ञा दी कि जब कभी लड़ाई पर जाओ गुलामों को पकड़ लो और उनमें से सबसे अच्छों को छाँट कर दरबार की सेवा के लिए भेज दो। जो अमीर बहुत से गुलाम लाते उनके ऊपर सबसे अधिक अनुग्रह किया जाता था।" 'लगभग १२, गुलाम अनेक प्रकार के शिल्पि बन गये। चालीस हजार गुलाम हर समय सुल्तान के सामान की अथवा महल की रक्षा के लिये तत्पर रहते थे। राजधानी में तथा विभिन्न जागीरों में सब मिला कर १८०००० गुलाम थे और उनके भरण पोषण तथा आराम की सुल्तान को विशेष चिन्ता रहती थी। राज्य के केन्द्र में ही इस संस्था का अलग बन गई और उसका उचित रूप से नियन्त्रण करना सुल्तान अपना परम कर्तव्य समझता था।

दासता की प्रथा किसी भी रूप में सह्य नहीं हो सकती। किन्तु मध्ययुग में जब कि गुलाम खरीदे अथवा पकड़े जाते थे उन्हें मुक्ति मिल सकती थी और योग्यतानुसार वे किसी भी पद पर पहुँच सकते थे उस समय इस प्रथा को इतना दूषित नहीं समझा जाता था, जितना कि आजकल। फीरोज के लिये दासता की

प्रथा इस्लाम के प्रचार का एक साधन भी थी क्योंकि कालान्तर में गुलाम का मुसलमान बन जाना स्वाभाविक ही था। गुलामों के प्रबन्ध तथा व्यवस्था के लिये एक 'दीवान' तथा 'जाओ-शुघूरी' की अध्यक्षता में एक अलग विभाग काम करता था। इस प्रकार दास-प्रथा को जो दीर्घकाल से चली आई थी, फीरोज ने एक स्थानीय निवास तथा नाम प्रदान किया।

यातनाओं का अन्त करना—उस युग का दण्ड-विधान बर्बरतापूर्ण था। यह हम पहले बतला आये हैं कि मुहम्मद तुगलक जैसे प्रबुद्ध तथा सुशिक्षित सुलतान के समय में भी किस बर्बरता के साथ उसका प्रशासन होता था। किन्तु उसकी क्रूरता को कम करने का कार्य उसके उत्तराधिकारी के, जिसकी उससे कम सराहना की गई है, सिर पड़ा। वी० ए० स्मिथ जिनका मत फीरोज़ के सम्बन्ध में कदापि पक्षपातपूर्ण नहीं है, लिखते हैं, "एक सुधार—अंगच्छेद तथा यातनाओं का अन्त—पूर्ण प्रशंसा के योग्य है, उसके जीवन-काल में तत्सम्बन्धी आज्ञाओं का काफ़ी हद तक पालन किया गया होगा।" इसके बाद वे फीरोज़ की आत्मकथा (फतूहात) से एक उदाहरण देते हैं : अपराधियों को अनेक प्रकार की यातनाएँ दी जाती थीं, जैसे 'हाथ-पैर तथा नाक-कान काटना, आँखें निकाल लेना, पिघला हुआ शीशा गले में डालना, हथौड़ों से हाथ-पैरों की हड्डियाँ कुचलना, शरीर को आग में जलाना, हाथों, पैरों तथा छाती में लोहे की कीलें ठोकना, नसें काटना, आरे से चीरकर शरीर के दो टूक करना इत्यादि।' किन्तु सुलतान आगे लिखता है 'महान् तथा दयालु ईश्वर ने मुझे प्रेरणा दी कि मैं मुसलमानों के अनुचित रूप से मारे जाने को रोकूँ और उन्हें तथा अन्य सभी लोगों को यातनाओं से बचाऊँ तथा इस प्रकार उसकी (ईश्वर की) कृपा को प्राप्त करने की आशा तथा प्रयत्न करूँ।'

हमें यह भी ज्ञात होता है कि "यदि कोई यात्री मार्ग में मर जाता तो सरदार तथा मुकद्दम लोग काज़ियों तथा अन्य मुसलमानों को बुलाकर उनके सामने उसके शव की परीक्षा करते और यह प्रमाणित करते हुए कि उसके शरीर पर कोई घाव नहीं था, एक रिपोर्ट तैयार करते, जिस पर काजी की मुहर लगती और तब उसे दफना देते।"

धार्मिक असहिष्णुता—यह दयनीय बात है कि ऐसे सुलतान ने भी धार्मिक असहिष्णुता के कृत्य जिन्हें वह अपनी पूर्वोक्त आत्मकथा में स्वीकार करता है, करके अपने धवल यश को कलंकित किया। हिन्दू ही नहीं बल्कि धर्म के सम्बन्ध में भिन्न मत रखनेवाले मुसलमान भी उसके अत्याचारों से न बच सके। 'मैंने उन सबको पकड़वा लिया और उनके पापों के लिये उन्हें दण्ड दिया। जो बहुत उत्साही थे उन्हें मैंने मृत्यु की सजा दी और भर्त्सना की तथा सबके सामने दण्ड देने की धमकी दी। उनकी पुस्तकों को मैंने सार्वजनिक रूप से जला दिया और ईश्वर की अनुकम्पा से इस सम्प्रदाय (शिया) का प्रभाव पूर्णतया नष्ट हो गया।

हिन्दुओं के सम्बन्ध में वह लिखता है मैंने आदेश दिया कि सामान्यतया हिन्दुओं को कठोर दण्ड न दिया जाय किन्तु मैंने उनके मूर्ति मन्दिरों को नष्ट किया और उनके स्थानों पर मस्जिदें बनवा दीं। सचमुच अभी प्रेम उदार आदिशों तथा अकबर के दिन बहुत दूर थे।

समानधर्मी मुसलमानों के प्रति फीरोज का व्यवहार कुछ अंशों में पिता जैसा था। डा० ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं, "दरिद्रों की सहायता के लिये सुल्तान ने जो प्रबन्ध किया वह प्रशंसा के योग्य है। प्रजा के हित का उसे इतना ध्यान था कि उसने कोतवालों को बेकारों की संख्या ज्ञात करने की आज्ञा दी। उन लोगों से दीवान के पास प्रार्थना पत्र भेजने को कहा गया और योग्यतानुसार उन्हें काम दिया गया। जो लोग कुछ पढ़ लिख सकते थे उन्हें राजमहलों में नौकर रख लिया गया जिनकी कुछ व्यावहारिक कार्य के लिये प्रवृत्ति हुई, उन्हें राजकीय संस्थाओं में रख दिया गया और जिन्होंने किसी अमीर का गुलाम बनना स्वीकार किया उन्हें अनुरोधपत्र देकर अनुगृहीत किया गया। दरिद्र मुसलमानों की कन्याओं के विवाह में सहायता देने के लिये सुल्तान ने 'दीवाने-खैरात' नामक एक संस्था स्थापित की जो प्रत्येक व्यक्ति के मामले पर उचित विचार करती और फिर वैवाहिक अर्थ के लिये अनुरोध करती। प्रथम द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के प्रार्थियों को क्रमशः पचास, तीस तथा पच्चीस टंका की सहायता दी जाती थी। इस प्रकार सुल्तान ने बहुत पहले से चली आई आवश्यकता को पूरा किया और दूर-दूर से लोग सुल्तान की दानशीलता से लाभ उठाने आते थे।

फीरोज की मृत्यु—यद्यपि फीरोज में राजाओं जैसी मद्यपान की दुर्बलता थी किन्तु औरंगजेब की भाँति उसका जीवन सरल था वह सोने तथा चाँदी के पात्रों की अपेक्षा मिट्टी के पात्रों में भोजन किया करता था, हर प्रकार के भड़कीले अलंकार आदि उसके सामने उपस्थित करने का निषेध था और कपड़ों आदि पर चित्र अंकित करने की आज्ञा नहीं थी। प्रशासन के क्षेत्र में फीरोज को जो सफलताएँ मिलीं उनका बहुत कुछ श्रेय उसके योग्य मन्त्री को था जिसने उसके शासन के प्रारम्भिक वर्षों में राज्य की बागडोर सँभाली थी। यह मंत्री खान जहाँ मकबूल था; यह तैलिंगाना का निवासी था और हिन्दू से मुसलमान हुआ था। मुहम्मद तुगलक के समय में ही उसने ख्याति प्राप्त कर ली थी और मुल्तान की जागीर उसे मिल गई थी। जब फीरोज दीर्घकाल तक राजधानी से अनुपस्थित रहता उस समय मकबूल असाधारण भक्ति तथा योग्यता के साथ राज्य के सैनिक तथा असैनिक विषयों का प्रबन्ध किया करता यद्यपि उसके रनिवास में उसके भोग विलास के लिये विभिन्न जातियों की दो हजार स्त्रियाँ रहती थीं। १३७० ई० में उसकी मृत्यु हो गई उसका पुत्र उसका उत्तराधिकारी हुआ और उसे भी सुल्तान ने खानजहाँ की उपाधि से विभूषित किया। इधर फीरोज को भी तेजी से बुढ़ापा घेर रहा था और धीरे धीरे वह महत्वाकांक्षी कुचक्रियों के हाथ की

कठपुतली बन गया। खानजहाँ ने भी उसके विचार को नापसन्द किया और शाहज़ादा मुहम्मद के विरुद्ध उसके कान भर दिये, जैसा कि अलाउद्दीन के अन्तिम दिनों में मलिक काफ़ूर ने किया था। किन्तु मुहम्मद ने साहस तथा चतुराई से काम लिया और अपने पिता के प्रेम को जीतकर अपने को युवराज निर्वाचित करवा लिया। मुख्य मन्त्री तथा युवराज के समर्थकों के बीच गृह कलह प्रारम्भ हो गई और बाध्य होकर सुलतान को अपने नाती तुगलक शाह को (फीरोज के पुत्र फतह खाँ का पुत्र) राज चिन्ह प्रदान करने पड़े। अपने इस अन्तिम सार्वजनिक कार्य के बाद शीघ्र ही अक्टूबर १३८८ ई० में ८० वर्ष की अवस्था में फीरोज का देहावसान हो गया और साम्राज्य पुनः अराजकता के गर्त में जा गिरा। मोरलैण्ड लिखते हैं, "फीरोज़ की मृत्यु के साथ एक युग का अवसान हो गया। कुछ ही वर्षों के भीतर साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत में कोई एक प्रभावशाली मुस्लिम शक्ति न रही।" अगले अध्याय में हम देखेंगे कि किस प्रकार अराजकता की शक्तियों ने इस को अभिभूत कर लिया।

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्	
१३८१	इङ्गलैण्ड में किसान-विद्रोह, रिचार्ड द्वितीय के सामने वाट टैलर का वध।
१३९६	गुजरात का स्वतन्त्र होना।
१३९९	जौनपुर का स्वतन्त्र होना।
१४०१	मालवा तथा खानदेश का स्वतन्त्र होना।
१४०५	तिमूर की मृत्यु।
१४११-४१	गुजरात का सुलतान अहमदशाह, अहमदाबाद नगर की स्थापना।
१४१४-५०	दिल्ली में सैयद वंश का शासन।
१४१५	योरोप में धर्म-द्रोह के अपराध में हुस का खूँटे से बांधकर जलाया जाना।
१४१७-६७	अकबर का अग्रगामी काश्मीर का जैन-उल-आबिदीन।
१४२०	इटली का पर्यटक निकोलो कोंटी विजयनगर में, यूरोपीय यात्री का प्रथम उपलब्ध अभिलेख।
१४४३	ईरानी राजदूत अब्दुर्रज्जार विजयनगर में, उस नगर को वह संसार में सबसे बड़ा बतलाता है।

———

७

अव्यवस्था का पुनरागमन

फीरोज़ तुग़लक़ की मृत्यु (१३८८ ई०) तथा पानीपत के युद्ध में इब्राहीम लोदी पर बाबर की विजय के बीच के १३८ वर्ष के युग में भारत में वैसी ही राजनैतिक अव्यवस्था छाई रही जैसी कि हर्ष की मृत्यु (६४७ ई०) तथा तराइनों के युद्ध में (११९२ ई०) मुहम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीराज चौहान की पराजय के मध्य के काल में रही थी। १३३५ ई० तथा माबर के जलालुद्दीन शाह हसनशाह के विद्रोह—जिसके साथ-साथ तुग़लक़ साम्राज्य का छिन्न भिन्न होना प्रारम्भ हुआ—के बीच के समय में दिल्ली इतने विस्तृत साम्राज्य की स्वामिनी बन गई जितना कि अशोक के बाद भारत ने कभी नहीं देखा था। साम्राज्यीय उत्कर्ष की यह पराकाष्ठा १३११ में जब मलिक काफ़ूर ने मदुरा को विजय किया, प्राप्त हुई और लगभग चौथाई शताब्दी भर (१३३५ ई० तक) क़ायम रही। मुहम्मद तुग़लक़ के शासन काल के शेष सोलह वर्षों (१३३५–५१ ई०) में साम्राज्य सिकुड़कर लगभग विन्ध्या के उत्तर में हिन्दुस्तान तक ही सीमित रह गया; बंगाल १३४० में ही दिल्ली से पृथक हो चुका था और गुजरात तथा दौलताबाद पर भी उसका अधिकार शिथिल रह गया था। १३४७ ई० में जब हसनगंगू बहमनशाह ने बहमनी राज्य की स्थापना की, उस समय दौलताबाद प्रान्त पर से भी दिल्ली का आधिपत्य लगभग उठ गया। यदि मुहम्मद तुग़लक़ कुछ समय और जीवित रहता अथवा फीरोज़ को न्याय तथा दया के मरहम द्वारा तापीकृत-कल्पित घावों के भरने में सफलता न मिलती तो तुग़लकों का जीवन-पुष्प १३८८ ई० से बहुत पहले ही मुरझा गया होता। यही नहीं कि फीरोज़ साम्राज्य के छिन्न भिन्न होने के लिये ज़िम्मेदार नहीं था बल्कि उसके कारण ही मृत्यु का ताण्डव सैंतीस वर्ष तक स्थगित रहा। तदुपरान्त अवश्यम्भावी नाश का महासागर उमड़ पड़ा। अगले पच्चीस वर्षों के भीतर (१३८८–१४१३ ई०) मुस्लिम साम्राज्य का पूर्ण आकार क्षीण होकर दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेश तक सीमित अर्धचन्द्र मात्र रह गया। तुग़लक़ साम्राज्य की अँधेरी रात्रि (तुग़लक़ वंश

भारत का राजनैतिक-आकाश हिन्दू तथा मुस्लिम राज्यों
अगणित ग्रहों तथा उपग्रहों से भर गया । इस अध्याय
तिहास का संक्षिप्त वर्णन करेंगे ।

१—उत्तरी भारत के राज्य

उत्तराधिकारी हुए—तुगलकशाह द्वितीय (१३८८),
मुहम्मद द्वितीय (१३९०–९४), सिकन्दर (१३९४),
नों मिला कर (१३९४–९८) और महमूद अकेला
समय में उत्तरी भारत छः राज्यों में विभक्त हो गया—
न्ध, (३) गुजरात, (४) मालवा, (५) जौनपुर, और
ल्ली साम्राज्य के प्रान्त थे किन्तु अब स्वतन्त्र हो चुके थे ।
का मुस्लिम राज्य तथा राजपूताना के हिन्दू राज्य भी
सीमा का उल्लेख करना अनावश्यक है क्योंकि वे इतने
क जीवन में उनका कोई महत्त्वपूर्ण भाग नहीं रहा ।
दिल्ली सल्तनत का प्रभुत्व स्थापित नहीं हो पाया था,
ण किये गये थे और उन्हें लूटा गया था । जब तीसरे
—ने देश में एकता स्थापित की उससे पहले इन राज्यों के
ल-पुथल रही, यह समझने के लिये हमें उनके इतिहास

यद्यपि फीरोज़ स्वयं जागीर-प्रथा की नींव डालनेवाला
एक नियमित व्यवस्था में परिणत कर दिया और
बाद उसका अराजकतापूर्ण परिणाम हुआ । "इन
अर्थ था—शक्तिशाली सूबेदारियाँ कायम करना; बड़े-बड़े
ये प्रमुख अमीरों को दे दिये गये थे । कड़ा और दाल-
दिये गये और 'सुलतान उस-शर्क' की उपाधि से उसे
ध, सन्दिला तथा कोइल के अलग-अलग सूबे थे, जौन-
न्य अमीर को सौंप दिये गये और इसी प्रकार गुजरात
र बीर अफगान को मिला ।" जैसा कि हम पहले देख
अन्तिम दिन खानजहाँ तथा राजकुमार मुहम्मद के
कारण दुःखमय हो गये थे । फीरोज़ का नाती तुगलक-
उसने अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था, विलासी
और वह पाँच महीने भी सिंहासन पर बैठ पाया था कि
सका वध कर दिया । उसके बाद फीरोज़ का एक अन्य
ठा किन्तु उसके चाचा मुहम्मद ने जिसे फीरोज़ ने सर्व
चुना था, शीघ्र ही उसको अपदस्थ कर दिया । मुहम्मद
–९४ ई०) राज्य किया किन्तु हिन्दू सामन्तों तथा

मद बद मुस्लिम जागीरदारों के विद्रोहों ने उसे निरन्तर तंग किया और चैन नहीं लेने दिया। उसने गुलामों की विशाल सेना पर अपना क्रोध उतारा उनमें से अनेक का वध करवा दिया और शेष को अन्य तरीकों से पीड़ित किया अथवा निर्वासित कर दिया। किन्तु उपद्रवी तत्व निरन्तर कार्य करते रहे। मुहम्मद का उत्तराधिकारी हुमायूँ यद्यपि उसने अपने को सिकन्दरशाह की उपाधि से विभूषित किया था, राज्यारोहण के छः महीने के भीतर ही चल बसा और उसका भाई महमूद सिंहासन पर बैठा। महमूद का प्रतिद्वन्द्वी उसका चचेरा भाई नसरत शाह था; दोनों ने अपने अपने स्वतन्त्र दरबार स्थापित कर लिए—पहले ने पुरानी दिल्ली में और दूसरे ने नई राजधानी फीरोज़ाबाद में। दोनों नाममात्र के लिये सुलतान थे और अपने गुटकी अमीरों के हाथों के खिलौने तथा कठपुतलियाँ बने रहे।

तिमूर का आक्रमण

जब तिमूर एक-एक हजार घुड़सवारों के नब्बे दल लेकर भारत पर चढ़ आया, उस समय दिल्ली सल्तनत की यह अराजकतापूर्ण दशा थी। इस महान् विजेता के जीवन का वर्णन हमें प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन के पृष्ठों से उपलब्ध होता है। इससे पहले कि भारत की सम्पत्ति ने उसे आकृष्ट किया तथा मध्य एशियाई आक्रमणकारियों के अनिवार्य मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित किया वह पश्चिम में ईरान तथा एशिया माइनर (एनेटोलिया) में स्थित ओटोमन साम्राज्य की सीमाओं तक मेसोपोटामियों को और पूर्व में अफगानिस्तान को पदाक्रान्त कर चुका था।" भारत के शक्ति क्षीण करनेवाले जलवायु के कारण पहले तो तिमूर के उग्र अनुयायियों को हिचकिचाहट हुई, किन्तु जब उनकी धार्मिक कट्टरता को उभाड़ा गया तो वे उत्साह से भर गये। तिमूर ने कहा "भारत पर आक्रमण करने का मेरा उद्देश्य है काफिरों के विरुद्ध युद्ध करना, पैगम्बर (ईश्वर उस पर अपनी दयावृष्टि करे) की आज्ञानुसार उन्हें सच्चा धर्म (इस्लाम) स्वीकार करने पर बाध्य करना, देश को बहुदेववाद तथा अन्धविश्वास से मुक्त करके पवित्र करना तथा मन्दिरों और मूर्तियों का उन्मूलन करना जिससे हम धर्म तथा ईश्वर के समर्थक और सैनिक बनकर गाजी तथा मुजाहिद का पद प्राप्त करेंगे।"

तिमूर के भयंकारी आक्रमण की दुःखद कहानी बहुधा करुणापूर्ण शब्दों में वर्णित की गई है; असुर (Assyrian) आक्रमणकारी की भाँति वह भी भारत पर चढ़ बैठा, जैसे भेड़िया भेड़ों के झुंड को धर दबाता है; दिल्ली तक पंजाब प्रान्त को उसने उजाड़ दिया; मार्ग में वह अटक, मुलतान, दिपालपुर, भटनेर सिरसुती आदि स्थानों में होकर गुज़रा और अपने पीछे अराजकता, दुर्भिक्ष तथा महामारी छोड़ता गया। इस बीच में उसने इतने गुलाम पकड़े कि उसकी समझ में न आता कि क्या करूँ।

ख़ाँ का अधिकार रहा। नसरतशाह मारकर भगा दिया गया और महमूद ने कन्नौज में अपना अलग दरबार स्थापित कर लिया। किन्तु १४०५ ई० के अन्त में मुल्तान के सूबेदार ख़िज्र ख़ाँ ने इक़बाल को युद्ध में मार डाला। इससे महमूद तुग़लक को फिर राजधानी को लौटने का अवसर मिल गया, जहाँ १४१२ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। इसके साथ साथ दिल्ली में छियानवे वर्ष शासन करने के उपरान्त गियासुद्दीन के वंश का अन्त होगया।

सैयद तथा लोदी राजवंश

दो वर्ष तक दिल्ली में कोई सुल्तान न रहा। जो कुछ शासन व्यवस्था थी उसका संचालन अफ़ग़ान अमीर दौलतख़ाँ लोदी ने किया किन्तु उसने राजमुकुट धारण नहीं किया। १४१४ ई० में ख़िज्र ख़ाँ ने तथाकथित सैयद वंश की जिसका सम्बन्ध पैग़म्बर से जोड़ा जाता था, नींव डाली। उसने भी अपने को एक 'तातार अमीर' से अधिक ऊँचा नहीं माना और तिमूर का नायब घोषित किया, यद्यपि जैसाकि टॉमस लिखते हैं, उसने सिक्के अपने पूर्वाधिकारियों के नाम से चलवाए। ख़िज्र ख़ाँ तथा उसके तीन उत्तराधिकारियों (मुबारक, मुहम्मद और आलम) ने सैंतीस वर्ष (१४१४-५१ ई०) राज्य किया। इस युग में दिल्ली सल्तनत कितनी संकुचित तथा शक्तिहीन हो गई थी, इसका अनुमान, जैसा कि लेनपूल ने लिखा है इसी से लगाया जा सकता है कि दिल्ली के उत्तर पूर्व में स्थित कटेहर (रुहेलखण्ड) के हिन्दू राजा दक्षिण में मेवात तथा दोआब में इटावा से राज-कर वसूल करने के लिये लगभग प्रतिवर्ष सुल्तान को आक्रमण करने पड़ते थे। सरहिन्द तथा जलन्धर में भरी के खोक्खर सामन्त जसरथ के नेतृत्व में तथा कोइल (अलीगढ़) बदायूँ इटावा रूपर (शिमला) आदि में काबुल के तिमूरी सूबेदार तथा मालवा और जौनपुर के सुल्तानों के भड़काने के कारण निरन्तर विद्रोह होते रहे। ख़िज्र ख़ाँ के वंश का अन्तिम सुल्तान आलम अथवा अलाउद्दीन दिल्ली छोड़कर बदायूँ चला गया और वहाँ कई वर्ष तक शान्तिपूर्वक जीवित रहा; राजसत्ता उसने बहलोल ख़ाँ लोदी (१४५१ से ८८ ई०) को सौंप दी जो दिल्ली का पहला वास्तविक पठान सुल्तान हुआ। लोदियों ने १५२६ ई० में बाबर की प्रसिद्ध विजय के समय तक पचहत्तर वर्ष शासन किया। इस वंश में केवल तीन सुल्तान हुये—बहलोल, सिकन्दर तथा इब्राहीम। यद्यपि इब्राहीम के अपने पूर्व व्यवहार के कारण राज्य छिन्न-भिन्न होगया फिर भी लोदियों को दिल्ली के खोये हुए प्रान्तों को नहीं तो कम से कम प्रतिष्ठा का पुनः प्राप्त करने में अपने सैयद पूर्वाधिकारियों से कहीं अधिक सफलता मिली।

जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं ख़िज्र ख़ाँ सैयद ने दौलत ख़ाँ लोदी को हराकर राजशक्ति पर अधिकार किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि ख़िज्र ख़ाँ सर्वप्रिय शासक था किन्तु उसके निकम्मे पुत्र मुबारक का उसके एक मंत्री

सरवर ने वध कर दिया। इस युग की अराजकता का तत्कालीन इतिहासकार यहिया-बिन-अहमद ने अपनी पुस्तक 'तारीखे मुबारक शाही' में भलीभाँति वर्णन किया है। सरवर ने अपने दूसरे स्वामी सुल्तान मुहम्मद की भी हत्या का प्रयत्न किया किन्तु उससे पहले ही उसके प्रतिद्वन्द्वियों ने उसे मार डाला। उसके बाद कमाल-उल-मुल्क वज़ीर हुआ। कहा जाता है कि वह "राजकीय कार्यों में खूब निपुण था"; उसने शासन व्यवस्था की पुनः स्थापना करने का प्रयत्न किया किन्तु अराजकता के तत्त्व इतने शक्तिशाली सिद्ध हुए कि उसे सफलता न मिली। ग्वालियर ने कर देना बन्द कर दिया; जौनपुर के इब्राहीम शर्की ने दिल्ली के कई परगने छीन लिये, मालवा का सुल्तान महमूद खलजी राजधानी तक बढ़ आया किन्तु स्वयं उसके राज्य पर गुजरात के अहमदशाह के आक्रमण का भय उपस्थित हो गया इसलिये उसे लौटना पड़ा। इस दशा में, जैसा कि एक इतिहासकार ने लिखा है, यह आश्चर्य की बात नहीं थी कि 'राज-काज दिन-प्रतिदिन और भी अधिक अस्त-व्यस्त होता गया और यहाँ तक नौबत आ गई कि दिल्ली से बीस कोस की दूरी पर ऐसे अमीर थे जिन्होंने सुल्तान के प्रभुत्व का जुआ उतार फेंका और प्रतिरोध की तैयारियाँ करने लगे।' ऐसी ही परिस्थितियों में लाहौर तथा सरहिन्द के महत्त्वाकांक्षी अफगान सूबेदार ने सुल्तान मुहम्मद के दुर्बल उत्तराधिकारी अलाउद्दीन आलमशाह को अपदस्थ करके राजशक्ति पर अधिकार कर लिया और आलमशाह, जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, आराम और अकर्मण्यता का जीवन बिताने के लिये बदायूँ को चला गया और वहीं १४७८ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

लोदियों की सफलतायें और विफलतायें

१४५१ ई० में जिस समय बहलोल सिंहासन पर बैठा उस समय तक पूर्व में बंगाल तथा जौनपुर और सिन्ध, गुजरात, मालवा तथा दक्खिन दिल्ली साम्राज्य से अलग हो चुके थे। लोदी सुल्तान के अधिकार में केवल उत्तर में लाहौर से दिपालपुर तक तथा दक्षिण में सरहिन्द से हाँसी, हिसार, पानीपत तथा दिल्ली तक पंजाब का भाग रह गया था। इसके उस पार राजधानी से पन्द्रह मील की दूरी तक अहमद खाँ मेवाती का राज्य था; दिल्ली के लगभग बाहरी छोर तक फैले हुए सम्भल पर दरिया खाँ लोदी शासन करता था और दोआब अनेक स्वतन्त्र हिन्दू तथा मुसलमान सामन्तों में बटा हुआ था। किन्तु बहलोल ने दृढ़ता तथा तत्परता के साथ कार्य किया और अपनी मृत्यु (१४८८ ई०) से पहले मेवात, सम्भल, दोआब के बहुत से भाग तथा जौनपुर के शर्की राज्य का दमन करने में सफल हुआ। जौनपुर राज्य ने उसे अत्यधिक कष्ट दिया। उसके उत्तरोत्तर तीन सुल्तानों—महमूदशाह, मुहम्मद तथा हुसैन खाँ—ने दिल्ली से बहलोल की सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिये निरन्तर प्रयत्न किये, महमूदशाह

शर्की स्वर्गीय दिल्ली सुल्तान अलाउद्दीन आलमशाह का दामाद था, इसलिए शर्की लोग अपने को ही दिल्ली के सिंहासन का बहलोल की अपेक्षा अधिक अच्छा हकदार समझते थे। बहलोल के सैंतीस वर्ष के (१४५१-८८ ई०) सम्पूर्ण राज्यकाल में दिल्ली तथा जौनपुर में युद्ध होते रहे। अन्त में बहलोल की विजय हुई और उसने अपने पुत्र बारबक शाह को जौनपुर का सूबेदार नियुक्त किया। १४८८ ई में जलाली में उसकी मृत्यु हो गई। बहलोल के चरित्र की प्रमुख विशेषता सादगी थी, चाहे वह वास्तविक रही हो अथवा दिखावटी। तारीखे दाऊदी' में लिखा है, 'सामाजिक उत्सवों के अवसर पर वह कभी सिंहासन पर नहीं बैठता था और न अपने अमीरों को खड़ा रहने देता था; सार्वजनिक सभाओं में भी वह गद्दी को छोड़कर कालीन पर बैठा करता था। अपने सामन्तों तथा सैनिकों के साथ उसने भाईचारे का व्यवहार किया। यदि कोई बीमार होता तो वह स्वयम् जाकर उसकी सेवा-सुश्रूषा करता।' इसके बाद उसका तीसरा पुत्र निजाम खाँ सिकन्दरशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा।

नया सुल्तान एक हिन्दू सुनार स्त्री से उत्पन्न हुआ था और यद्यपि लोदी शासकों में वह सर्वश्रेष्ठ था किन्तु फीरोज़ तुगलक (वह भी हिन्दू माता से उत्पन्न था) की भाँति इसे भी हिन्दुओं से घृणा थी। उसने अपने राज्य का विस्तार किया और पूर्व में जौनपुर तथा बिहार और दक्षिण में धौलपुर, नागौर तथा मालवा को उसमें सम्मिलित कर लिया। बहलोल की अपेक्षा उसके शासन-काल में पंजाब भी अधिक शान्त रहा और उद्दण्ड अफगान जागीरदारों पर भी, जिन्हें चतुर बहलोल ने बराबरी का व्यवहार करके प्रसन्न किया था, उसने अधिक चतुराई से शासन किया। यहाँ पर सिकन्दर के आक्रमणों का विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। जौनपुर में बारबक उद्दण्ड सामन्तों को नियन्त्रण में न रख सका इसलिये उसे हटाकर सुल्तान ने एक अपना सूबेदार नियुक्त कर दिया। बंगाल के सुल्तान अलाउद्दीन हुसैनशाह से भी कुछ दिनों तक संघर्ष चला किन्तु अन्त में सन्धि हो गई और बिहार को दिल्ली सल्तनत में मिला लिया गया। ग्वालियर को जीतने का सिकन्दर ने अनेक बार प्रयत्न किया, जैसा कि आगे के युग में औरंगजेब ने दक्षिण विजय के लिये किया किन्तु राजा मानसिंह दिल्ली सुल्तान से कहीं अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ और अगले शासन-काल से पहले उस पर विजय प्राप्त न की जा सकी।

फीरोज़ तुगलक तथा औरंगजेब की भाँति सुल्तान सिकन्दर लोदी की भी मुख्य दुर्बलता उसकी धार्मिक कट्टरता थी। सैनिक यात्राओं के दौरान में जब कभी सम्भव हो सकता हिन्दू-मन्दिरों को अपवित्र करना तथा तोड़ना (उदाहरण के लिये मथुरा, धौलपुर, नागौर) उसका नित्य कर्म बन गया था। उसने हिन्दुओं को यमुना के पवित्र घाटों पर स्नान करने से रोका और यहाँ तक कि नाइयों को उनके बाल न बनाने की आज्ञा दी। "बंगाल के एक ब्राह्मण ने खुले रूप से यह कहा कि इस्लाम तथा हिन्दुत्व दोनों ही सच्चे धर्म हैं और वे ईश्वर
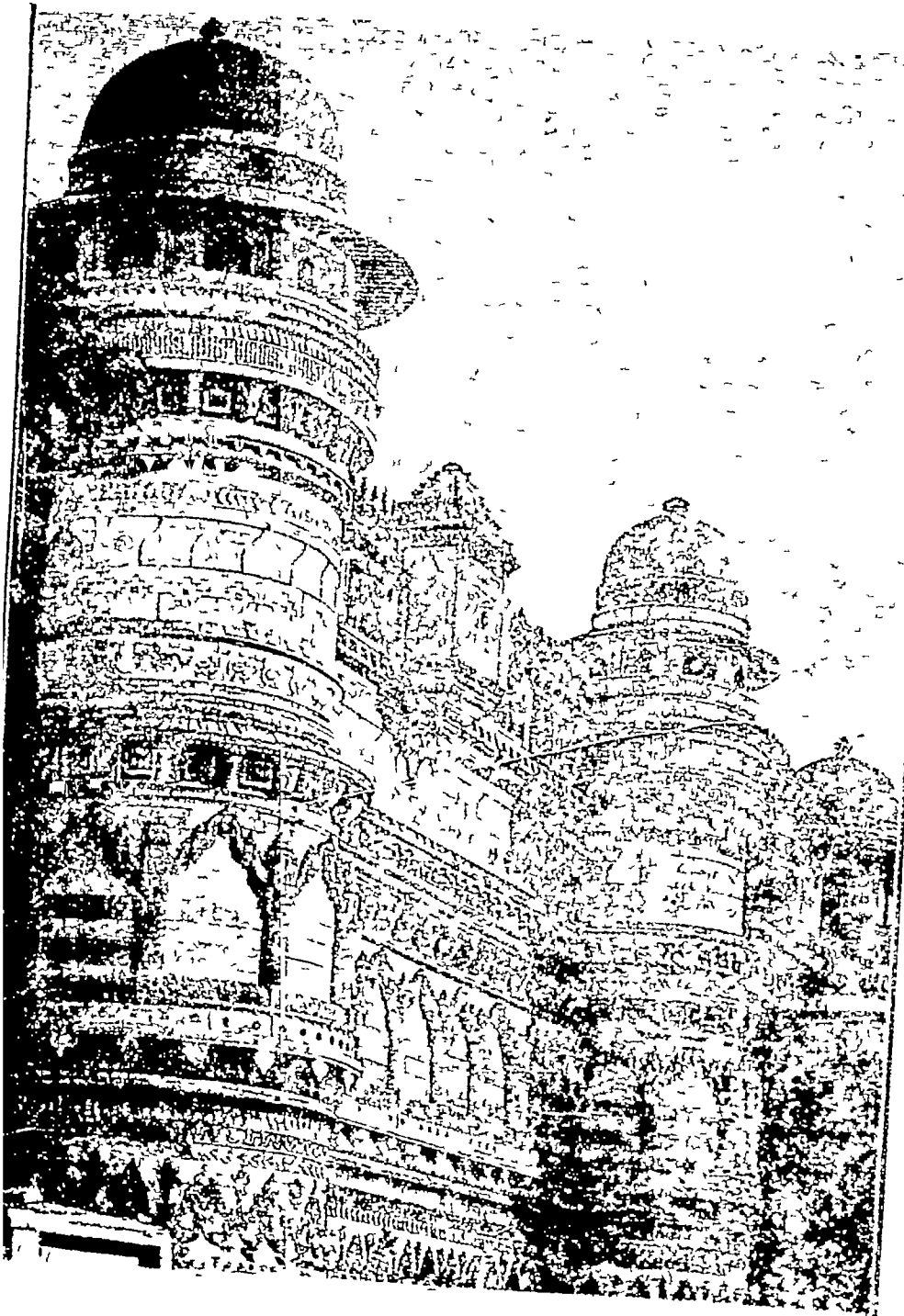
मानसिंह का दुर्ग, ग्वालियर ।

तबसे मुसलमान लोग उसे जीतने के लिये सदैव लालायित रहते थे। उस पर अनेक बार आक्रमण किये गये किन्तु अलाउद्दीन के समय में १२९७ ई० से पहले कभी उसे दिल्ली सल्तनत में न मिलाया जा सका। एक शताब्दी बीतने के उपरान्त गुजरात फिर एक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य बन गया। ज़फरखाँ ने, जो १३९१ ई० से सूबेदार के पद पर कार्य करता आया था, दिल्ली सुल्तान के प्रभुत्व से अपने को मुक्त कर लिया (१४०१) और अपने पुत्र तातारखाँ को नासिरुद्दीन मुहम्मदशाह के नाम से गुजरात का सुल्तान बना दिया। मध्ययुगीन हिन्दू-राज्यों की भाँति, जिनके इतिहास का हम पहले अध्याय में वर्णन कर आये हैं, नये मुस्लिम राज-वश के युग का गुजरात का इतिहास भी पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध संघर्ष से भरा पड़ा है। यहाँ हम कुछ विशेषताओं तथा महत्वशाली व्यक्तियों का ही उल्लेख कर सकते हैं।

नासिरुद्दीन ने अपने पिता को कारागार में डाल दिया किन्तु बाद में पिता ने पुत्र को विष देकर मरवा डाला और स्वयं सुल्तान मुज़फ्फरशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा किन्तु कुछ समय उपरान्त उसे भी उसके नाती अहमदशाह ने विष दे दिया और १४११ से १४४१ ई० तक गुजरात पर राज्य किया। १८ वर्ष उपरान्त (१४५९ ई०में) महमूद बेगढ़ा उसका उत्तराधिकारी हुआ। वह इस वंश का महानतम शासक था, उसने १५११ ई० तक शासन किया। उसके उत्तराधिकारी मुज़फ्फरशाह द्वितीय तथा बहादुरशाह हुए जिनके विषय में हम आगे लिखेंगे। यहाँ हमें गुजरात तथा दिल्ली सुल्तानों के बीच के सम्बन्ध के विषय में केवल एक ही घटना का उल्लेख करना है। थट्टा पर आक्रमण के समय १३६२–६३ ई० में फीरोज़ ने गुजरात में प्रवेश किया था। उसके बाद तिमूर के आक्रमण के समय १३९९ ई० में सुल्तान महमूद तुगलक ने भागकर अपने गुजरात के सूबेदार के यहाँ शरण लेने का विफल प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप महमूद को शरण के लिये जिसकी उसे अत्यधिक आवश्यकता थी, मालवा की ओर लौटना पड़ा।

गुजरात का मुज़फ्फरशाह अपने पुत्र को विष दिलवाकर सिंहासन पर बैठा था किन्तु उसने मालवा के हुशंगशाह पर इसलिये आक्रमण किया कि उसने १४०६ ई० में अपने पिता दिलावर खाँ ग़ोरी को विष देकर मरवा डाला था। हुशंग से उसने सिंहासन छीन लिया और उसे बन्दी बना लिया किन्तु आगे चल कर फिर धार में उसे अपने पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। हुशंग के कृतघ्नतापूर्ण आचरण से क्रुद्ध होकर गुजरात के मुज़फ्फरशाह के उत्तराधिकारी अहमदशाह ने मालवा पर आक्रमण किया और उसे भारी पराजय दी। गुजरात का नया सुल्तान महान् योद्धा था तथा योग्य शासक भी। "अपने सम्पूर्ण राज्यकाल में उसने कभी हार नहीं खाई और उसकी सेनाओं को सदैव मालवा, असीरगढ़ (खानदेश), राजपूताना तथा अन्य पड़ोसी राज्यों की सेनाओं के विरुद्ध विजय प्राप्त हुई।" अपने मित्र सुल्तान फीरोज़ बहमनी की भाँति वह भी हिन्दुओं का कट्टर शत्रु था और उनके मन्दिरों को उसने ध्वस्त किया। उसने अहमदाबाद के वैभवशाली

नगर की नींव डाली। उसके समय में एक तात्कालीन इतिहासकार लिखता है, "सभी पर्यटकों का मत है कि संसार भर में इतना सुन्दर, आकर्षक तथा ऐश्वर्यपूर्ण नगर और कोई नहीं है।"

किन्तु जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, सुल्तान महमूद बेगड़ा जो तेरह वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा और तिरपन बावन वर्ष तक (१४५९–१५११ ई०) शासन किया, इस वंश का सबसे अधिक विख्यात शासक हुआ। प्रारम्भ से ही उसने किसी संरक्षक अथवा अभिभावक की सहायता नहीं ली। इटली के पर्यटक लुडोविको दि वर्थीमा ने उसके सम्बन्ध में अनेक रोचक कहानियों का प्रचार कर दिया था। उदाहरण के लिये, वह प्रतिदिन एक मन भोजन करता था और उसके शरीर में इतना विष व्याप्त था कि मक्खियाँ उस पर बैठते ही मरकर गिर जाती थीं।

उसने चम्पानेर तथा जूनागढ़ के दो किलों पर अधिकार कर लिया और इसीलिये बेगड़ा कहलाया। कच्छ को भी उसने पदाक्रान्त किया और अहमदनगर के विरुद्ध भी विजय प्राप्त की। उसका शासन काल इसलिये भी स्मरणीय है कि उसमें प्रथमबार ईसाइयों तथा मुसलमानों में टक्कर हुई। उसने टर्की के औटोमन सुल्तान से मिलकर पुर्तगालियों को भारतीय समुद्रों से मार भगाने का प्रयत्न किया। जबसे वास्कोडिगामा ने १४९८ ई० में मालाबार तट का पता लगाया था तब से पुर्तगाली सामुद्रिक डाकू भारतीय जहाजों को सदैव क्षति पहुँचाते आये थे। गुजरात तथा टर्की के जहाजी बेड़ों ने मिलकर १५०८ ई० में काठियावाड़ के तट के निकट दमू के द्वीप के पास पुर्तगालियों से सामुद्रिक युद्ध किया। भारतीय इतिहास में यह पहला अवसर था जब कि ईसाइयों की पराजय हुई। युद्ध दो दिन तक चला और उसमें डी अल्मीडा का पुत्र मारा गया। उसका जहाज चारों ओर से घिर गया। युद्ध आरम्भ होते ही तोप के गोले से उसकी टाँग टूट गई फिर भी वह मुख्य मस्तूल के नीचे कुर्सी पर बैठकर पहले की भाँति शान्तिपूर्वक आज्ञा देता रहा। थोड़ी देर उपरान्त एक गोला उसकी छाती में लगा और कैमियन्स के शब्दों में वह वीर युवक जिसकी अवस्था उस समय २१ वर्ष की भी नहीं थी और जिसने कभी यह भी न जाना था कि समपण शब्द का क्या अर्थ है, वीरगति को प्राप्त हुआ। दूसरे वर्ष (२ फरवरी १५०९ ई०) उसके पिता ने उसकी मृत्यु का बदला ले लिया और एक वर्ष उपरान्त महमूद ने दमू का द्वीप गोआ के विजेता अलबुकर्क के सुपुर्द कर दिया। १५११ ई० में एक नई शक्ति के प्रतीकस्वरूप द्वीप में एक पुर्तगाली व्यापारी कोठी की स्थापना हुई।

फिर भी जैसा कि मुस्लिम इतिहासकार लिखता है महमूद बेगड़ा ने—

गुजरात राज्य के प्रताप तथा ऐश्वर्य में वृद्धि की वह अपने से पहले तथा बाद के सभी सुल्तानों में श्रेष्ठ था और वह न्याय तथा उदारता में धार्मिक युद्ध में सफलता

और इस्लाम तथा मुसलमानों के नियमों के प्रचार में, ठोस निर्णय बुद्धि में, बाल्यकाल, यौवन तथा वृद्धावस्था में, शक्ति, पराक्रम तथा विजय सभी बातों में श्रेष्ठता का आदर्श था।'

(४) मालवा—मालवा के इतिहास का गुजरात, मेवाड़, खानदेश तथा दक्खिन के इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अपनी स्थिति के कारण उसे इन सबसे उलझना पड़ा। मालवा पर एक के बाद एक दो मुस्लिम राजवंशों ने शासन किया—गोरी ने १४०१ से, और खलज़ी ने १४३६ ई० से १५३१ ई० तक, जब कि गुजरात ने उसे आत्मसात कर लिया। धार का प्राचीन हिन्दू नगर इस राज्य की राजधानी था; आगे चलकर पितृघाती हुशांग ने जिसका हम पहले उल्लेख कर आये हैं, माण्डू को अपनी राजधानी बनाया और वहाँ अनेक वैभवशाली नगरों का निर्माण किया। यह दुर्ग-रक्षित नगर एक ऊँची पहाड़ी पर बना हुआ था, उसकी रक्षा-दीवाल की लम्बाई लगभग २५ मील थी, अब उसके केवल भग्नावशेष पड़े हुये हैं, फिर भी वह आज तक सुन्दर जामी मस्जिद, हिंडोला महाल, जहाज महाल, हुशांग का मकबरा, 'रोमान्टिक' बाजबहादुर तथा रूपमती के महल तथा लाल पत्थर और संगमरमर के अन्य सुन्दर भवनों के लिये विख्यात है। हुशांग का निकम्मा पुत्र महमूद मालवा गोरी राजवंश का तीसरा तथा अन्तिम शासक था। १४३६ ई० में उसे विष देकर मार डाला गया और महमूद खाँ खलजी ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। महमूद ने ३३ वर्ष (१४३६–६९ ई०) राज्य किया और अपना अधिकतर समय अपने बाह्य तथा आन्तरिक शत्रुओं और प्रतिद्वन्दियों से लड़ने में बिताया। 'शायद ही कोई ऐसा वर्ष बीता हो जब कि वह युद्ध-क्षेत्र में न उतरा हो। इसलिये उसका शिविर उसका घर तथा युद्ध-भूमि उसका विश्राम-गृह बन गई।' हमें यह भी पता लगता है कि सुल्तान महमूद नम्र, वीर, न्यायप्रिय तथा विद्वान था और उसके शासनकाल में उसके हिन्दू तथा मुसलमान सभी प्रजा जन सुखी थे और एक दूसरे के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करते थे।......अपने अवकाश के समय में वह पृथ्वी के विभिन्न दरबारों तथा राजाओं के वर्णन तथा इतिहास पढ़वा कर सुनता था।

महमूद के दो वीरतापूर्ण कार्य अधिक उल्लेखनीय है: (१) १४४० ई० में अपनी महत्वाकांक्षा के वशीभूत होकर उसने अपहरणकर्ता बहलोल लोदी को हटाकर अपने को सुल्तान घोषित करने के उद्देश्य से दिल्ली की ओर प्रस्थान किया किन्तु बहलोल उससे भिड़ने के लिये आगे बढ़ा, उधर मालवा पर भी संकट के बादल मंडराने लगे, इसलिये शीघ्र ही महमूद अपनी राजधानी को लौटने पर बाध्य हुआ। (२) मेवाड के राणा कुम्भा ने गोरियों को, जिन्हें महमूद ने मालवा से मार भगाया था, सहायता दी थी; इसके अतिरिक्त राणा के मालवा की सीमाओं के भीतर रहनेवाले राजपूत सामन्तों से सम्बन्ध थे; इन्हीं कारणों से महमूद को कुम्भा से टक्कर लेनी पडी। १३५५ ई० उसने राणा

से अजमेर छीन लिया, बूँदी को हस्तगत कर लिया और राजपूतों से बहुत-सा धन युद्ध क्षति पूर्ति के रूप में वसूल किया। अपनी सफलता की स्मृति में उसने माण्डू में एक कीर्ति स्तम्भ का निर्माण कराया, जैसा कि राणा कुम्भा ने चित्तौड़ में किया था। चित्तौड़ का कीर्ति स्तम्भ अब भी विद्यमान है किन्तु माण्डू के स्तम्भ के चिन्ह अब नहीं मिलते। महमूद को अपने राज्य का विस्तार करने में पर्याप्त सफलता मिली। उसने दिल्ली, गुजरात तथा दक्खिन को भी विजय करने का प्रयत्न किया किन्तु उन्हें जीतने में वह सफल न हुआ।

उसके उत्तराधिकारों के इतिहास का सारांशमात्र देना पर्याप्त होगा। महमूद के बाद उसका विलासप्रिय पुत्र गियासुद्दीन सिंहासन पर बैठा, जिसे अपने रनिवास की १५००० स्त्रियों में लिप्त रहने में ही सन्तोष था। अन्त में उसके एक पुत्र ने उसे विष देकर मार डाला और स्वयं १५०० ई० में सुल्तान नासिरुद्दीन के नाम से सिंहासन पर बैठा। नया सुल्तान जितना सिद्धान्तहीन था उतना ही अत्याचारी भी और इसलिये उसके एक विद्रोही पुत्र ने उसके बहुसंख्यक पीड़ित प्रजाजनों की सहायता से उसे चुनौती दी। इन्हीं विप्लवों के बीच नासिरुद्दीन की १५११ ई० में मृत्यु हो गई (उसी वर्ष उसके महान् समसामयिक महमूद बेगड़ा का भी देहावसान हो गया)। उसके उत्तराधिकारी महमूद द्वितीय के समय में मालवा शीघ्रता से पतन की ओर अग्रसर हुआ। उसके प्रथम मन्त्री को जो हिन्दू था उसके मुसलमान अमीरों ने मार डाला उसका दूसरा मन्त्री मुहाफिज़ खाँ जो माण्डू का सूबेदार था, अत्याचारी अधिनायक सिद्ध हुआ। चारों ओर विद्रोह फूट पड़े और शीघ्र ही मालवा में तीन सुल्तान हो गये जिन्होंने एक दूसरे को चुनौती दी—उज्जैन में महमूद द्वितीय माण्डू में मुहम्मद द्वितीय तथा सिहोर में हुशंग द्वितीय। अन्त में महमूद द्वितीय को अपने प्रतिद्वन्द्वियों को मार भगाने में सफलता मिली किन्तु उसे इसका भारी मूल्य चुकाना पड़ा। चन्देरी के मेदनीराय के नेतृत्व में राजपूतों ने उसे सहायता दी थी इसलिये अब उसे उनके अधिनायकत्व के सामने सिर झुकाना पड़ा। इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिये उसने गुजरात के मुज़फ्फरशाह द्वितीय की सहायता से एक वीरतापूर्ण प्रयत्न किया किन्तु इसका परिणाम भी अच्छा न हुआ और मेदिनीराय के संरक्षक राणा साँगा से उसकी टक्कर हो गई। महमूद अपने महान् राजपूत प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा अधिक जीवित रहा और अन्त में १५३१ ई० में उसे गुजरात के बहादुरशाह के सामने समर्पण करना पड़ा। उसके पतन की कहानी कर्त्तव्यपूर्ण है। कहा जाता है कि जब गुजरात के सुल्तान ने उसे चुनौती दी तो उसने अपने रनिवास में शरण ली और आमोद प्रमोद में अपने दिन बिताने का संकल्प किया। बहादुरशाह ने माण्डू को हस्तगत करके मालवा को अपने राज्य में मिला लिया और महमूद तथा उसके पुत्रों को चम्पानेर भेज दिया किन्तु उस स्थान पर पहुँचने से पहले ही कुछ पहाड़ी जनजातियों ने उन पर आक्रमण कर दिया; उनके रक्षकों ने इस डर से कि कहीं आक्रमणकारी इन्हें पकड़ न ले जाँय, उनका वध कर दिया।

जौनपुर—हम पहले उल्लेख कर आये हैं कि बंगाल पर द्वितीय आक्रमण के समय (१३५६–६०) फीरोज़ ने जौनपुर नगर की नींव डाली थी। ज़फराबाद के सामने गोमती पर स्थित यह नगर शीघ्र ही उन्नति के शिखर पर पहुँचने तथा कुछ समय के लिये दिल्ली को भी आच्छादित करनेवाला था। उसकी महत्ता का श्रेय उसके दो शासकों—ख्वाजाजहाँ तथा इब्राहीमशाह को था। ख्वाजाजहाँ का असली नाम सरवर था और वह हिजड़ा था, प्रारम्भ में वह परवर्ती तुग़लकों के समय में (१३६४ ई०) दिल्ली से पूर्व के प्रान्तों का सूबेदार था। उसने अपने प्रान्त का शासन-भार बहुत ही सुयोग्यता से चलाया और इसलिये महमूद तुग़लक ने उसे 'मलिक-उस-शर्क' (पूर्व का स्वामी) की उपाधि से विभूषित किया। तिमूर के आक्रमण के बाद ख्वाजाजहाँ के दत्तक पुत्र ने जो फीरोज़ के एक गुलाम का वंशज था, १३६६ ई० में मुबारकशाह शर्की की उपाधि धारण की। उसका उत्तराधिकारी इब्राहीम शर्की-वंश का महान्तम शासक हुआ और उसने पैंतीस वर्ष (१४०२–३६ ई०) राज्य किया। उसके राज्य-काल में जौनपुर ने दिल्ली को पूर्णतया आच्छादित कर लिया और 'शीराज़े-हिन्द' के नाम से विख्यात हुआ। उसके बाद तीन महत्वहीन सुल्तान हुए—महमूद, मुहम्मद और हुसैन; उनमें से अन्तिम के समय में दिल्ली के विरुद्ध संघर्ष समाप्त हो गया और १४७६ ई० में बहलोल ने जौनपुर को अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद क्या हुआ, यह हम पहले बतला आये हैं। बहलोल ने जौनपुर का भार अपने बड़े पुत्र बारबक को सौंप दिया। सिकन्दर ने अपने भाई को अपने पद पर रहने दिया किन्तु बारबक अयोग्य निकला और प्रान्त का प्रबन्ध न कर सका। एक भाई को जौनपुर का भार सौंपने का यह प्रयोग इब्राहीम के राज्यारोहण के बाद दूसरी तथा अन्तिमबार दोहराया गया, जबकि अमीरों ने जलाल खाँ को उस पद पर नियुक्त किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जलाल ने विद्रोह किया, भाई-भाई में युद्ध छिड़ गया, इब्राहीम ने जौनपुर के स्वतन्त्र शासक का वध करवा दिया।

संस्थापक ख्वाजाजहाँ के समय में शर्की राज्य पश्चिम में कन्नौज से पूरब में विहार तक फैला हुआ था और कन्नौज, कडा, अवध, सन्दिला, दालामऊ, बहराइच विहार और तिरहुत की जागीरें उसमें सम्मिलित थीं। अपने उत्कर्ष के दिनों में जौनपुर ने दिल्ली, बंगाल, उड़ीसा तथा मालवा के विरुद्ध युद्ध किये। यद्यपि इनमें से किसी को भी वह अपने में न मिला सका किन्तु उसे दो महत्वपूर्ण सफलतायें मिलीं—जाजनगर तथा ग्वालियर के हिन्दू राजाओं को करद बना लिया गया। कालपी के लिये एक बार दिल्ली जौनपुर तथा मालवा के बीच संघर्ष हुआ किन्तु अन्त में मालवा के सुल्तान ने उसे १४३५ ई० में अपने राज्य में मिला लिया। जिस प्रकार इब्राहीम जौनपुर का महानूतम सुल्तान हुआ उसी प्रकार हुसैन सबसे अधिक निराशाजनक तथा झंझट में डालनेवाला सिद्ध हुआ। "वह विचारवान व्यक्ति था, उसे अवसर भी मिले और साधन भी उसके पास पर्याप्त

थे और सदैव वह किसी विजय योजना को कार्यान्वित करनेवाला ही होता किन्तु सदैव असावधानी, मूर्खता और शारीरिक कायरता के कारण वह अवसर को हाथ से निकाल देता।"

'पूर्व के सुल्तानों की महानतम तथा सबसे अधिक स्थायी सफलता उनका स्थापत्य थी। स्रेमपूल लिखते हैं कि इस दृष्टि से "प्राक् मुगलयुग में शर्की सुल्तान सर्वोत्कृष्ट थे।" यद्यपि बहलोल लोदी ने बहुत कुछ नष्ट कर दिया था फिर भी अटालादेवी की मसजिद तथा कुछ अन्य भवन आज तक विद्यमान हैं और जौनपुर के अतीत गौरव की स्मृति दिलाते हैं। इस महान् मसजिद का निर्माण इब्राहीम शर्की ने १४०८ ई० में करवाया था और यह उसका सबसे अधिक वैभवपूर्ण स्मारक है। स्रेमपूल ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है।

"इसकी मुख्य विशेषता इसका ऊँचा भीतरी द्वार है जो सादा किन्तु ओजपूर्ण है और मिस्री मन्दिरों के द्वारों का स्मरण कराता है वह मीनार का काम देता है और उसके कारण आँगन में से देखने पर पूजा-गृह के ऊपर विद्यमान गुम्बद के दो पहलू ढक जाते हैं। विस्तीर्ण आँगन के चारों ओर सुन्दर दुमंज़िले खम्भों की पाँतें हैं और उनके बीच बीच में छोटे छोटे गुम्बद और दरवाजे शोभायमान हैं, इसका बाहरी भाग बहुत सादा और महराबें बहुत सुन्दर हैं दरवाजों तथा खिड़कियों के चारों ओर फूल पत्तियों की सजावट है; ये सब चीजें तथा उसकी पत्थर की झिलमिलियाँ और सुन्दर छतें सारसेनी शैली की मुख्य विशेषताएँ हैं और उन पर भारतीय प्रभाव तनिक भी नहीं दिखलाई देता। भारत में भी जहाँ पत्थर के इतने सुन्दर भवन देखने को मिलते हैं, अटाला मस्जिद एक उत्कृष्ट रत्न की भाँति चमकती है।"

(६) बंगाल—१२०२ में इख्तियारुद्दीन के आक्रमण के सामने राजा लक्ष्मणसेन भाग गया, उसके बाद बंगाल पर सदैव मुसलमानों का राज्य रहा। हम पहले लिख आये हैं कि तुग़रिल के विद्रोह के बाद १२८१ ई० में बलबन के पुत्र बुग़राखाँ ने उस प्रान्त में एक नये वंश की स्थापना की जो दिल्ली से लगभग पूर्ण स्वतन्त्र होकर शासन करता रहा। १३३७ ई० के लगभग पूर्वी तथा पश्चिमी बंगाल में दो पृथक् राज्य बन गये; एक की राजधानी सोनारगाँव थी और दूसरी की लखनौती। इलियास खाँ ने जो १३४० ई० में शासक हुआ, १३५२ ई० में उन दोनों को फिर संयुक्त किया। इस वंश के सिकन्दरशाह ने अपना नई राजधानी पंडुवा (१३५८—८९ ई०) में अनेक वैभवशाली भवनों का निर्माण करावाया। बीच में कुछ समय के लिये इस वंश को अपदस्थ करके एक हिन्दू राजा गणेश तथा उसके पुत्रों ने जो मुसलमान होगये थे, बंगाल पर राज्य किया (१४१४ ई०)। उनके बाद एक हबशी वंश ने १४९३ ई० तक शासन किया, अन्त में एक प्रसिद्ध अरब सैयद हुसैनशाह ने उसे हटाकर सिंहासन पर अधिकार कर लिया।

हुसैनशाह, सर्वप्रिय शासक था। उसने १४९३ से १५१८ ई० तक

बंगाल पर राज्य किया। वी० ए० स्मिथ लिखते हैं कि "उसका नाम अब भी समस्त बंगाल में सुपरिचित है; और उसके चौबीस वर्ष के शासन-काल में कोई विद्रोह अथवा उपद्रव नहीं हुआ। उसका 'शासन शान्तिपूर्ण' तथा सुखमय रहा, प्रजा उससे प्रेम करती तथा पड़ौसी उसका सम्मान करते थे," गौड़ (लखनौती) में उसकी मृत्यु होगई। उसके उत्तराधिकारी नसरतशाह की कहानी हम अगले अध्याय में कहेंगे। इतिहासकारों के कथन से पता लगता है कि 'वह कोमल स्वभाव का सुलतान था और स्वाभाविक प्रेम-भाव का उसमें आधिक्य था; उसने न तो अपने भाइयों का वध अथवा अंगच्छेद किया और न उन्हें कारागार में ही डाला बल्कि उसके पिता ने उन्हें जो निवाह-वृत्ति दी थी उसे उसने दूना कर दिया।'

पाठकों को स्मरण होगा कि दिल्ली में लखनौती, बलगाकपुर अथवा 'विद्रोहों का नगर' और बगाल 'सुन्दर वस्तुओं से परिपूर्ण नरक' के नाम से विख्यात था। विजित होने पर भी यह प्रान्त दिल्ली साम्राज्य में कभी घुल-मिल न पाया था। बलबन के बाद अलाउद्दीन खलजी ने बंगाल के विषय में अपने को कभी कष्ट नहीं दिया। ग़ियासुद्दीन तुग़लक ने अवश्य कुछ समय के लिये उस पर पुन. दिल्ली का प्रभुत्व स्थापित कर लिया था किन्तु मुहम्मद के हाथों से वह फिर निकल गया और फीरोज़ ने उस पर दो आक्रमण किये किन्तु उसे पुनः प्राप्त न कर सका। वोल्ज़ले हेग लिखते हैं, "बंगाल न तो दिल्ली सल्तनत के प्रान्त के रूप में और न स्वतन्त्र राज्य के रूप में ही कभी सजातीय मुस्लिम राज्य रहा था। बड़े-बड़े हिन्दू जागीरदारों के अधिकार में जो भूमि थी वह वास्तव में छोटे-छोटे राज्यों के समान थी और मुस्लिम शासक के प्रति उनकी राजभक्ति उसी प्रकार शासक के चरित्रबल पर अवलम्बित थी जैसे स्वयम् बंगाल के शासक की दिल्ली सुल्तान के प्रति। सामान्यतया बंगाल के मुस्लिम शासकों ने अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति धार्मिक सहिष्णुता का व्यवहार किया किन्तु पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की संख्या के आधिक्य से स्पष्ट है कि समय-समय पर उस प्रान्त में धर्मान्तरण की लहर अवश्य आई होगी क्योंकि बंगाल के सब मुसलमान आक्रमणकारियों की सन्तान नहीं हो सकते।"

तथापि जैसा कि स्मिथ ने लिखा है, "कुछ मुसलमान सुलतान ऐसे थे जो हिन्दू साहित्य के गुणों के प्रति उदासीन नहीं रहे। नसरतशाह की आज्ञा से 'महाभारत' का एक बंगाली रूपान्तर तैयार किया गया और इस प्रकार उस सुलतान ने अकबर से काम की पूर्वावधारणा की। कहा जाता है कि इस महाकाव्य का एक बंगाली अनुवाद चौदहवीं शताब्दी में ही हो चुका था और दूसरा हुसैनशाह के समय में उसके सेनापति परागल खाँ की आज्ञा से तैयार किया गया। 'बंगाली साहित्य में ऐसे अनेक उल्लेख आते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि सम्राट हुसैनशाह के प्रति हिन्दुओं को बहुत श्रद्धा थी।' वास्तव में यह सच प्रतीत होता है कि "मुसलमान सम्राटों तथा सामन्तों के संरक्षण और पक्षपात के कारण ही बंगाली

भाषा को हिन्दू राजाओं के दरबार में स्थान प्राप्त हुआ, वैसे अपने ब्राह्मण गुरुओं के प्रभाव के कारण वे संस्कृत को प्रोत्साहन दिया करते थे।"

(७) काश्मीर—भारत के दूसरे कोने में पश्चिमी हिमालय पर सुरक्षापूर्वक स्थिति होने के कारण काश्मीर दीर्घकाल तक मुस्लिम आक्रमणों से मुक्त रहा। जैसा कि हम पहले अध्याय में उल्लेख कर आये हैं, यद्यपि हिन्दुस्तान में इस्लाम का बहुत पहले प्रवेश हो चुका था किन्तु काश्मीर १३३९ ई० तक हिन्दू शासन के अन्तर्गत बना रहा। उस वर्ष शाहमीर ने वहाँ पहले मुस्लिम राजवंश की स्थापना की और शम्सुद्दीन के नाम से सिंहासन पर बैठा। इससे पहले इस राज्य पर १०१५ ई० में महमूद गजनवी का आक्रमण हो चुका था और बाद में १३९९ ई० में तिमूर ने भी उस पर धावा मारा था किन्तु अकबर (१५८६ ई०) से पहले कभी उसे दिल्ली राज्य में सम्मिलित नहीं किया जा सकता था। शम्सुद्दीन का पाँचवाँ उत्तराधिकारी सिकन्दर (१३८९ से १४१३ ई०) इस वंश का सबसे अधिक धर्मान्ध शासक हुआ और लोग उसे काश्मीर के बुतशिकन के नाम से याद करते हैं। "उसने इस्लाम के प्रचार के लिये खुलकर तलवार का प्रयोग किया और राज्य की बहुसंख्यक जनता को बाहरी रूप से इस्लाम अंगीकार करने को बाध्य किया।" इस वंश का महानतम शासक ज़ैन-उल आबिदीन (१४१७-६७ ई०) हुआ। धार्मिक सहिष्णुता की दृष्टि से वह अकबर का पूर्व गामी था, उसने कठोरता से एक धर्मनीति का पालन किया; उस युग के मुस्लिम शासकों में यह चीज़ दुर्लभ थी। उसने सभी के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार किया, जिज़्या हटा दिया सिकन्दर द्वारा निर्वासित ब्राह्मणों को अपने घरों को लौटाने की आज्ञा दी हिन्दुओं को मन्दिर बनाने दिये और गो वध का निषेध किया। वह स्वयम् माँस नहीं खाता था। "उसने साहित्य, चित्रकला तथा संगीत को प्रोत्साहन दिया और संस्कृत, अरबी तथा अन्य भाषाओं के अनेक ग्रन्थों को अनूदित कराया।"

(२) दक्षिण भारत के राज्य

ऊपर हम संक्षेप में तुग़लक साम्राज्य के पतन तथा मुग़ल-साम्राज्य के अभ्युदय के बीच के काल के उत्तरी भारत के सात मुस्लिम राज्यों का इतिहास लिख आये हैं। केवल राजपूताना ही ऐसा महत्वपूर्ण प्रदेश था जो हमारे वर्णन से छूट गया है। उसका विजयनगर के महान् हिन्दू साम्राज्य के साथ-साथ वर्णन करना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि उससे बढ़ती हुई मुस्लिम सत्ता के विरुद्ध हिन्दू भारत के प्रतिरोध की कहानी अधिक स्पष्ट हो जायगी। यहाँ हम विन्ध्या के दक्षिण के तीन मुस्लिम राज्यों के उत्थान और पतन का उल्लेख करेंगे—(१) खानदेश (२) बहमनी तथा उसकी शाखायें और (३) मदुरा।

(१) खानदेश—खानदेश का छोटा-सा राज्य उत्तर में विन्ध्या दक्षिण में दक्षिण के पठार पश्चिम में गुजरात तथा पूर्व में बरार के बीच स्थित था।

इतिहास के विद्यार्थियों ने बहुधा इस राज्य की उपेक्षा की है। किन्तु इसकी ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता इसलिये है कि बड़े तथा निरन्तर युद्धरत राज्यों के बीच स्थित होने पर भी इसने अपने फारुकी राजाओं की अधीनता में 'शान्तिमय समृद्धि' का उपभोग किया। स्पष्ट है कि अलाउद्दीन ने इसे विजय किया था और मुसलमान शासक उस पर शासन करते रहे; फीरोज़ की मृत्यु (१३८८ ई०) के बाद वह स्वतन्त्र हो गया। उसका पहला प्रभुत्व-सम्पन्न शासक मलिक राजा फारुकी था जिसने अपने उत्तरी पड़ोसी मालवा के दिलावर खाँ की भाँति यह देखकर कि दिल्ली सुल्तान इतना अशक्त है कि यहाँ तक नहीं पहुँच सकता, अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। महत्वाकांक्षी होने पर भी वह शान्ति-प्रिय था, हिन्दुओं के प्रति उसने सहिष्णुता का व्यवहार किया और कृषि तथा उद्योगों को प्रोत्साहन देकर अपनी प्रजा को सुखी बनाने की चेष्टा की। १३९९ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसका पुत्र मलिक नासिर सिंहासन पर बैठा जो हिन्दू सामन्त आशा अहीर से असीरगढ़ का प्रसिद्ध दुर्ग छीन लेने के लिये अधिक विख्यात है। दक्खिन के सिंहद्वार, इस गढ़ को अकबर ने १६०० ई० में विजय कर लिया। नासिर का नाती मुबारक युद्ध-प्रिय शासक था, उसने गोंडवाना के एक भाग को अधिकृत कर लिया और छोटा नागपुर तक धावे मारे। खानदेश के परवर्ती शासक इतने योग्य नहीं थे कि इस संक्षिप्त वर्णन में उन्हें स्थान मिल सके। फारुकी शासकों ने गुजरात के साथ पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया था और वे सदैव उसी पर आश्रित रहते थे, अन्त में वे अपना महत्त्व पूर्णतया खो बैठे। इस प्रान्त ने असीरगढ़ के दुर्ग तथा बुरहानपुर के सोने के जाली के काम के कारण अधिक ख्याति पाई। आदिल खाँ (१४५७–१५०३ ई०) आदि सुल्तानों के समय में इस प्रान्त की भौतिक समृद्धि हुई। जैसा कि रशब्रुक विलियम्स लिखते हैं, खानदेश इस बात का एक अच्छा उदाहरण है कि राजनीति कला के प्रयोग के बिना भी किस प्रकार किसी राज्य में सुखी जीवन सम्भव हो सकता है। जिस समय बाबर ने भारत पर आक्रमण किया, मिरान मुहम्मद फारुकी खानदेश पर शासन करता था।

(२) बहमनी—दक्खिन का यह प्रसिद्ध राज्य अपनी स्थापना से लेकर छिन्न-भिन्न होने तक लगभग १८० वर्ष (१३४७–१५२१ ई०) कायम रहा। इस काल में चौदह सुल्तानों ने उत्तर में पैन गंगा से लेकर दक्षिण में कृष्णा और पश्चिम में कोनकन से पूर्व में भोंगिर (निज़ाम राज्य में) तक फैले हुए राज्य पर शासन किया। गुजरात, मालवा, तैलिंगाना और यहाँ तक कि उड़ीसा आदि सभी पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध युद्ध चलते रहे किन्तु सबसे गहरा संघर्ष दक्षिण के विजयनगर साम्राज्य के विरुद्ध चला। बहमनी सल्तनत सही शब्दों में एक मुस्लिम राज्य थी, उसका इतिहास भी आक्रमणों, अत्याचारों, उत्पीड़न तथा पारिवारिक दुर्घटनाओं से भरा पड़ा है; यत्र तत्र शासन सम्बन्धी सफलताओं और कला तथा स्थापत्य के पोषण के उदाहरण भी मिल जाते हैं और अन्त में

स्वैच्छ विलासिता के कारण कर्मठता महत्वाकांक्षाओं तथा सभी पुरुषोचित चीज़ों का नाश। यहाँ पर हम नीरस ब्यौरे की बातों का वर्णन करना निरर्थक होगा, हमें थोड़े से ऐसे तथ्यों से ही सन्तोष कर लेना चाहिए जिनसे बहमनी सुल्तानों के इतिहास की विशेषतायें स्पष्ट हो जायें।

फरिश्ता ने बहमनी नाम की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिस दन्तकथा का उल्लेख किया है उसकी समीक्षा करना अनावश्यक है। स्कूलों के विद्यार्थी भी इस कहानी से परिचित हैं कि हसन गंगू ने अपने ब्राह्मण स्वामी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये अपने वंश का नाम बहमनी (ब्राह्मणी) रक्खा। किन्तु 'बुरहाने-मआसीर' में स्पष्ट लिखा है कि 'अपने वंश के कारण सुल्तान बहमन कहलाता था' और सिक्कों तथा उत्कीर्ण लेखों से भी लोकप्रिय दन्तकथा की पुष्टि नहीं होती। जैसा कि स्मिथ ने लिखा है हसन "क्रूर तथा धर्मान्ध मुसलमान था और किसी भी दशा में वह अपने को ब्राह्मण नहीं कह सकता था।' जिन परिस्थितियों में हसन गंगू ने १३४७ ई० में बहमनी राज्य की नींव डाली उनका हम पहले ही वर्णन कर आये हैं। मुहम्मद तुग़लक के शासन के अराजकता के काल में दक्खिन के अफ़ग़ान अमीरों ने इस्माइल मख़ नामक एक व्यक्ति को दौलताबाद में सिंहासन पर बिठला दिया। मख़ ने स्वतः अपने से अधिक योग्य हसन को प्रभुत्व सौंप दिया; हसन ने अलाउद्दीन बहमनशाह की उपाधि धारण की और दस वर्ष (१३४७–५८ ई०) शासन किया; उसकी राजधानी कुलबुर्गी अथवा गुलबर्गा थी। शासन की सुविधा के लिये उसने राज्य को चार तरफ़ों अथवा प्रान्तों में विभक्त कर दिया; एकता बनाये रखने के लिये वह स्वयं उनका दौरा किया करता था। उसका उत्तराधिकारी मुहम्मदशाह प्रथम (१३५८–७३ ई०) हुआ; वह जितना इस्लाम का योद्धा था उतना योग्य शासक नहीं था। आन्तरिक शासन उसके पिता का मंत्री चलाता रहा (कहा जाता है कि वह छठे शासक के समय तक अथवा सौ वर्ष से कुछ अधिक जीवित रहा) और वह स्वयं युद्धों में व्यस्त रहा। उसके शासन-काल में तैलिंगाना तथा विजयनगर के विरुद्ध युद्धों की वह परम्परा प्रारम्भ हुई जो बहमनी राज्य के पतन के बाद भी चलती रही और उसके उत्तराधिकारी राज्यों को विरासत के रूप में मिली। विजयनगर तथा बहमनी राज्यों के बीच संघर्ष का मुख्य कारण रायचूर का समृद्धिशाली दोआब था जिसको अधिकृत करने के लिये ये दोनों शक्तियाँ वैसे ही लड़तीं रहीं जैसे राइनलैंड के लिये फ्रान्स तथा जरमनी। मुहम्मद को वारंगल के हिन्दू राजा से गोलकुण्डा छीन लेने तथा कुछ समय के लिये विजयनगर के बुक्काराय प्रथम के विरुद्ध विजय प्राप्त करने में सफलता मिली। फरिश्ता लिखता है कि अपने पन्द्रह वर्ष के शासन-काल में मुहम्मदशाह ने ५००,००० हिन्दुओं का वध किया।

उसके बाद मुजाहिदशाह सिंहासन पर बैठा किन्तु पाँच वर्ष के भीतर ही उसके चाचा ने उसका वध कर दिया (१३७८ ई०), तब मुहम्मदशाह द्वितीय जो मुहम्मदशाह प्रथम का सबसे छोटा भाई था, सुल्तान हुआ। कविता तथा दर्शन

में उसकी विशेष रुचि थी इसीलिये वह द्वितीय अरस्तू के नाम से विख्यात हुआ; १३९७ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसी वर्ष उसके दो पुत्र गियासुद्दीन तथा शम्सुद्दीन सिंहासन पर बैठे तथा उतार दिये गये; दोनों को अन्धा करके कारागार में डाल दिया गया।

इस वंश के आठवें सुलतान फीरोजशाह ने १३९७ से १४२२ ई० तक राज्य किया। फरिश्ता के मूल्यांकन के अनुसार इस शासक के समय में बहमनशाह का वंश ऐश्वर्य की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उसके शासन काल में दक्खिन में एक नाशकारी दुर्भिक्ष पड़ा जो लगभग दस वर्ष तक चलता रहा, फिर भी वारंगल तथा विजयनगर के विरुद्ध युद्ध जारी रहे जिनके परिणामस्वरूप पांगल का किला हस्तगत कर लिया गया और एक ओर बहमनी राज्य की सीमाएँ गोदावरी के मुहाने पर स्थित राजमहेन्द्री तक पहुँच गईं तथा दूसरी ओर राजकुमार बुक्का का बध कर दिया गया और उसके पिता हरिहर द्वितीय से ४००,००० पौ० युद्ध-क्षति-पूर्ति के रूप में वसूल किया गया। फीरोज़शाह बहमनी का शेष समय गुलबर्गा तथा भीमा पर स्थित फीरोजाबाद आदि नगरों में सुन्दर भवनों के निर्माण में बीता, उसके रनिवास में संसार के सभी देशों की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियाँ एकत्र थीं। विजयनगर से उसका युद्ध सुनार-पुत्री के युद्ध के नाम से विख्यात है। विजयनगर का राय बहमनी राज्य में स्थित मुदगल के एक सुनार की पुत्री पर मोहित हो गया और उसे प्राप्त करने के लिये उस स्थान पर धावा कर दिया। फीरोज ने वीरतापूर्वक बदला लिया और राय को परास्त करके स्वयं उसकी एक पुत्री का विवाह अपने पुत्र हसनखाँ के साथ कर दिया।

किन्तु हसनखाँ को सुनार का दामाद होने से ही सन्तोष करना पड़ा क्योंकि सिंहासन पर उसके चाचा अहमदखाँ ने अधिकार कर लिया और तेरह वर्ष शासन किया (१४२२-३५ ई०)। उसके समय में विजयनगर तथा वारंगल के विरुद्ध नई विजयें प्राप्त हुईं। विजयनगर के प्रदेशों को लूटा तथा उजाड़ा गया; वारंगल का हिन्दू राजा युद्ध में मारा गया और उसका राज्य बहमनी सल्तनत में मिला लिया गया (१४२५ ई०)। कोंकण, मालवा और गुजरात के विरुद्ध भी अनिर्णायक युद्ध लड़े गये। अहमद के युद्धों के सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह थी कि कूच के दौरान में जब २०,००० बन्दी एकत्र हो जाते तो उनका बध करने के लिये वह एक उत्सव-सा मनाता और स्त्रियों तथा बच्चों को भी न छोड़ता, यद्यपि मुहम्मद प्रथम का विजयनगर से यह करार हो चुका था कि युद्ध में भाग न लेने वालों पर हाथ नहीं उठाया जायगा। अहमद का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था राजधानी को गुलबर्गा से उठाकर बीदर ले जाना; बीदर उत्तर-पूर्व की ओर ६० मील की दूरी पर स्थित था और जलवायु तथा सामरिक दृष्टि से भी उसका अधिक महत्व था।

अहमद के पुत्र तथा उत्तराधिकारी अलाउद्दीन द्वितीय ने २२ वर्ष (१४३५-

८० ई०) राज्य किया। उसे गृह-कलह और विशेषकर अपनी स्त्री मलिकजहाँ तथा पुत्र मुहम्मदखाँ के विद्रोह के कारण बहुत कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। उसने विदेशियों के एक दल को बुलाकर अपनी रक्षा का प्रयत्न किया किन्तु इससे राज्य में और भी अधिक झगड़े बढ़ गये। एक अवसर पर दक्खिनी अमीरों ने अपने विदेशी प्रतिद्वन्द्वियों को दावत दी, किन्तु भोजन के स्थान पर अत्याचार की तलवार तथा नाश के शर्बत से उनका सत्कार किया; १२०० खानदानी सैयद तथा सात से सत्रह वर्ष की अवस्था के लगभग १००० विदेशी तलवार के घाट उतार दिये गये। किन्तु फरिश्ता लिखता है:—

'उसने (अलाउद्दीन) अपने राज्य के सभी भागों में सच्चे न्यायाधीश तथा जनता के नैतिक जीवन की जाँच करने के लिये पदाधिकारी (दोषमेचक) भेजे और यद्यपि वह स्वयम् मद्यपान करता था किन्तु दूसरों के लिये उसने मदिरा तथा भाँग का निषेध किया। उसने प्रमादी तथा आवारा लोगों की गर्दनों में जंजीरें डलवाई और उनसे सड़कें साफ करने के लिये मजदूरों तथा महतरों का काम लिया जिससे वे सुधरकर जीविका कमाने के योग्य हो जायें अथवा देश छोड़कर चले जायें। यदि कोई व्यक्ति—चाहे वह किसी भी स्थिति का हो—सुधार तथा चेतावनी के बावजूद मद्यपान करता हुआ पाया जाता तो पिघला हुआ शीशा उसके गले में डाल दिया जाता था।'

अलाउद्दीन का पुत्र हुमायूँ जिसने १४५७ से १४६१ ई० तक राज्य किया, दक्खिन का नीरो था। फरिश्ता के शब्दों में 'हुमायूँ शाह ने अपने को क्रूर प्रवृत्तियों में लय कर दिया; लोगों को यातनायें देने के लिये उसने चौक में खूँखार हाथियों तथा हिंसक पशुओं को रखवा दिया और उबलते हुये तेल तथा पानी के कड़ाहों का प्रबन्ध किया। उसने अपने भाई हसन को एक भयंकर चीते के सामने फिंकवा दिया जो उसे फाड़कर निगल गया और वह स्वयम् (हुमायूँ) छज्जे पर बैठा हुआ यह दृश्य देखता रहा। सुल्तान ने यातनायें देने के नये-नये ढंग निकाले और युवकों तथा वृद्धों पुरुषों तथा स्त्रियों सभी को उनसे पीड़ित किया।' 'वह अत्यन्त छोटे दोषों के लिये अपने महलों की नौकरानियों को मृत्यु दण्ड देता और यदि कभी किसी अमीर को उसके सामने उपस्थित होना पड़ता तो वह इतना भयभीत होता कि अपने परिवार से अन्तिम विदा लेकर आता।' उस जालिम की मृत्यु पर फारसी के एक कवि ने एक छन्द लिखा जिसका आशय था उसकी मृत्यु के दिन संसार बहुत प्रसन्न हुआ इसलिये संसार की प्रसन्नता से ही उसकी मृत्यु की तिथि ज्ञात होती है।'

हुमायूँ की सर्वोत्तम विरासत उसका प्रतिभाशाली मंत्री ख्वाजा महमूद गावाँ था गावाँ अगले दो सुल्तानों—निजामशाह तथा मुहम्मदशाह तृतीय के समय में भी बहमनी सल्तनत की सेवा करता रहा। निजाम की तीन वर्ष के भीतर ही (१४६१—६३ ई०) मृत्यु होगई। मुहम्मदशाह ने गावाँ का उसके ईर्षालु दरबारी शत्रुओं द्वारा राजद्रोह का आरोप लगाने पर वध करवा दिया।

जैसे ही जल्लाद की तलवार निर्दोष मन्त्री की गर्दन पर झुकी उसने भविष्यवाणी की, "मैं बूढ़ा हूँ इसलिये अपनी मृत्यु का मुझे दुख नहीं किन्तु तुम्हारे (मुहम्मद) लिये वह साम्राज्य तथा यश के नाश का कारण सिद्ध होगी।" कहा जाता है कि मरते हुए व्यक्ति की जिह्वा पर सत्य विराजता है; यह हत्या एक महान् अपराध ही नहीं बल्कि भयंकर भूल भी सिद्ध हुई; उसके उपरान्त बहमनी साम्राज्य बहुत दिनों तक न टिक सका। मुहम्मदशाह की १४८२ ई० में मृत्यु होगई, उसके बाद मूर्ख महमूद सिंहासन पर बैठा जिसकी अवस्था इस समय बारह वर्ष की थी। यद्यपि उसने १५१८ ई० तक शासन किया किन्तु वह निकम्मा सुलतान था, उसने राजकाज की उपेक्षा की और अपना समय नीच मित्रों की संगत तथा निकृष्ट प्रकार के व्यभिचार में बिताया। ऐसी स्थिति में यह आश्चर्य की बात नहीं थी कि उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में प्रान्तीय सूबेदारों ने एक के बाद एक अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करदी। बहमनशाह का साम्राज्य संकुचित होकर राजधानी बीदर तक ही सीमित रह गया। मन्त्रियों ने चार सुल्तानों को गद्दी पर बिठलाया; अन्त में १५२६ ई० में अन्तिम बहमनी सुलतान कली मुल्ला ने बाबर से सहायता प्राप्त करने का विफल प्रयत्न किया और अमीर बरीद ने बीदर में नये बरीदशाहीवंश की स्थापना की।

इस विषय को समाप्त करने से पहले दो महान् प्रशासकों के कार्यों का वर्णन करना आवश्यक है वे दोनों मन्त्री थे, सुलतान नहीं, (१) सैफुद्दीन गोरी जिसने पहले पाँच सुलतानों की अधीनता में राज्य की सेवा की और (२) महमूद गावाँ जिसने अन्तिम तीन सुलतानों के समय में राज-काज चलाया। जिस समय सुलतान लोग अपनी विजयों तथा खेल स्त्रियों में लिप्त थे, उस समय इन दो महान् व्यक्तियों ने देश का शासन-भार सँभाला और वास्तव में उसमें सुधार भी किये।

जब अलाउद्दीन बहमनशाह ने पश्चिम में गोआ, धाबोल, करहाद तथा कोल्हापुर और पूर्व में कोहीर तथा भोंगीर को जीत लिया तब वह कन्याकुमारी तक समस्त देश को जीतने के लिये उतावला हो उठा और अलाउद्दीन खलजी की भाँति उसने सचमुच द्वितीय सिकन्दर की उपाधि धारण कर ली किन्तु सैफुद्दीन ने उसे इससे अधिक व्यावहारिक तथा बुद्धिमत्तापूर्ण नीति पर चलने की सलाह दी, जैसा कि महान् खलजी तथा मुहम्मद तुग़लक के सलाहकारों ने किया था। यद्यपि सर वोल्जले हेग ने दूसरे बहमनी सुलतान मुहम्मद प्रथम को 'एक परिश्रमी तथा विधिपूर्वक करने वाला प्रशासक' होने का श्रेय दिया है किन्तु वह युद्ध, मद्यपान तथा हिन्दुओं के संहार में इतना व्यस्त रहा कि रचनात्मक राजनीतिज्ञता के लिये न तो उसमें रुचि ही रह गई थी और न समय ही। इसलिये प्रशासन सम्बन्धी संगठन का श्रेय उसके गोरी मन्त्री सैफुद्दीन को मिलना चाहिये। यही कथन मुहम्मद द्वितीय के सम्बन्ध में सही है जिसके बाद १०४ वर्ष की अवस्था में बूढ़े मन्त्री की मृत्यु हुई (१३९७ ई०)। जब राज्य में

१३८७ तथा १३९५ ई० के बीच दुर्भिक्ष पड़ा तो सरकार के यातायात विभाग के १००० बैल मालवा तथा गुजरात से अन्न ढोने में लगाये गए और उस माल को 'केवल मुसलमानों को' कम मूल्य पर बेचा गया। इसी प्रकार गुलबर्गा, बीदर, कन्धार, एलिचपुर, चाउल, दाभोल आदि नगरों में अनाथ मुस्लिम बच्चों के लिये निःशुल्क पाठशालायें स्थापित की गईं 'जिनमें बच्चों को केवल शिक्षा ही नहीं बल्कि भोजन तथा निवास स्थान भी राजकीय खर्च से दिया जाता था। कुरान पढ़ने वालों, परम्परागत कथाओं को सुनाने वालों तथा अन्धों को विशेष भत्ते दिये जाते थे।''

सर वोल्जले हेग ने शासन-व्यवस्था का इस प्रकार वर्णन किया है :—

उसकी (मुहम्मद प्रथम का) व्यवस्था उल्लेखनीय है क्योंकि पहले उसका उन पाँच राज्यों ने अनुकरण किया जो बहमनी सल्तनत के भग्नावशेषों पर बने थे और बाद में मरहठा शक्ति के संस्थापक-शिवाजी ने भी इसे अपनाया। उसने राज्य के लिये आठ मंत्री नियुक्त किये (१) वकील-उस-सल्तनत (राज्य का नायब) जो सीधा सुल्तान के अधीन था और राजधानी से उसकी अनुपस्थिति में राज्य-कार्य सम्भालता था; (२) वजीरे-कुल जो अन्य सब मंत्रियों के कार्य का निरीक्षण करता था; (३) अमीरे जुमला, वित्त मन्त्री (४) वजीरे अशराफ वैदेशिक मंत्री तथा उत्सवों का अध्यक्ष; (५) नाजीर, सहायक वित्त मंत्री; (६) पेशवा, जिसका सम्बन्ध राज्य के नायब से था और बाद में जिसका पद सदैव उसी के साथ मिला दिया जाता था; (७) कोतवाल, पुलिस का अध्यक्ष तथा राजधानी का दण्डपालक (८) सद्रे जहान, मुख्य न्यायाधीश एवं धार्मिक विषयों और धर्मस्वों का मंत्री।

सुल्तान के अंगरक्षक दल में दो सौ अमीर तथा चार हजार सैनिक सम्मिलित थे, वे पचास पचास अमीरों तथा एक-एक हजार के भागों में विभक्त थे और प्रत्येक का अध्यक्ष राजधानी का एक प्रमुख अमीर होता था। प्रत्येक भाग को चार दिन कार्य करना पड़ता था और सम्पूर्ण दल एक मंत्री की अध्यक्षता में रहता था जो एक नायब द्वारा अपने सैनिक नित्य कर्मों को सम्पादित करता था।

प्रान्तों का जिनकी संख्या चार थी, अन्तिम संगठन महमूद गावाँ ने किया था जो सर्व-सम्मति से दक्खिन का महानतम प्रशासक था। यद्यपि वह स्वयं विदेशी (ईरानी) था किन्तु उसने राज्य के किसी गुट का पक्ष नहीं लिया; राज्य में दो मुख्य गुट थे—एक में दक्खिनी तथा हब्शी और दूसरे में अरब, ईरानी तथा तुर्क सम्मिलित थे। सुल्तान लोग देशी अमीरों को नियन्त्रण में रखने के लिये बहुधा विदेशियों की ओर झुके रहते थे किन्तु कभी-कभी वे दक्खिनी अमीरों के कुचक्रों के शिकार बन जाते थे, जैसा कि इस प्रसंग में हुआ। सर वोल्जले हेग लिखते हैं, "दक्खिन के लोग उत्तरी देशान्तरों के निवासियों की अपेक्षा कम क्रियाशील और साहसी थे, वे बलिष्ठ अरबों, कुशाग्र बुद्धि वाले ईरानियों तथा शक्तिशाली तुर्कों से होड़ न कर सकने के कारण दरबार तथा सेना में

उनको स्थान देने पर बाध्य होते थे।" इन दलों के पारस्परिक झगड़े साम्प्रदायिक वैमनस्य के कारण और भी अधिक जटिल हो गये। दक्खिनी लोग सब सुन्नी थे और विदेशियों में शियाओं की संख्या अधिक थी। उनके संघर्ष शक्ति तथा पदों के लिये कुचक्रों तक ही नहीं सीमित थे बल्कि कभी-कभी भीषण युद्धों और संहार में उनकी अभिव्यक्ति होती थी। यह आन्तरिक कलह तथा सुलतानों का नैतिक पतन बहमनी सल्तनत के छिन्न भिन्न होने के मुख्य कारण था। किन्तु पतन से पहले राज्य मुहम्मद तृतीय तथा उसके महान् मन्त्री गावाँ के समय में उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया।

पश्चिमी तट पर गोआ जिसे विजयनगर के रायों ने हस्तगत कर लिया था, पुनः जीत लिया गया और मन्दिरों का महान नगर कांची जिसे मुस्लिम विजेता कभी छू भी न पाये थे, लूटा तथा नष्ट किया गया। इस प्रकार बहमनी राज्य का विस्तार इतना बढ़ गया जितना कि किसी पूर्व सुलतान के काल में नहीं हुआ था, प्रथम बार सल्तनत समुद्र से समुद्र तक फैल गई, "उसका समुद्र तट पश्चिम में बम्बई से गोआ तक और पूर्व में कोकोनाडा से कृष्णा के मुहाने तक विस्तृत था।" तैलिंगाना को शान्त करने के लिये मुहम्मद ने तीन वर्ष के लिये राजमहेन्द्री को अपना निवास-स्थान बनाया और गावाँ के सुझाव से प्रान्तों का बटवारा पुनः नये ढंग से किया। तैलिंगाना के भी दो भाग कर दिये गये, पश्चिमी भाग की राजधानी वारंगल और पूर्वी की राजमहेन्द्री बनाई गई। इसी प्रकार बरार को ग्वालिगढ़ (उत्तर) तथा माहूर (दक्षिण), दौलताबाद को दौलताबाद (पूर्व) तथा जुन्नर (पश्चिम); और गुलबर्गा को गुलबर्गा (पूर्व) तथा बेलगाँव (पश्चिम) में विभक्त कर दिया गया। साथ ही साथ प्रान्तीय सूबेदारों की शक्तियाँ भी घटा दी गईं।

ये परिवर्तन उन लोगों की दृष्टि में जिन पर इनका प्रभाव पड़ा था, क्रान्तिकारी थे, इसलिये इस पुनःसंगठन के कर्ता को नष्ट करने के लिये षड्यन्त्र रचा गया। एक प्रलेख यह सिद्ध करने के लिये तैयार किया गया कि महमूद गावाँ राजद्रोहात्मक योजनाओं से लगा हुआ है। जिस समय मुहम्मद मदिरा के नशे में था, उसके सम्मुख गावाँ का अपराध सिद्ध कर दिया गया और उसके वध के लिये आज्ञा जारी कर दी गई। इस प्रकार सुलतान द्वारा उसके महान मन्त्री का वध करवा दिया गया, स्वस्थचित्त होने पर उसने अपनी भूल अनुभव की किन्तु अब क्या हो सकता था। मुहम्मद के मस्तिष्क पर उसका इतना प्रभाव पड़ा कि पश्चाताप के कारण वह एक वर्ष के भीतर ही चल बसा। (१४८२ ई०), "अन्तिम समय वह चिल्ला पड़ा कि महमूद गावाँ मुझे मारे डाल रहा।" इसके बाद नाश का महासागर उमड़ पड़ा।

ख्वाजा महमूद गावाँ जिसे ख्वाजाजहाँ बना दिया गया था, मृत्यु-दण्ड भोगने के समय (५ अप्रैल १४८१ ई०) ७८ वर्ष का था। उसने भक्तिपूर्वक

अपने स्वामियों की पैंतीस वर्ष तक सेवा की थी और प्रसन्नतापूर्वक यह कहते हुए प्राण दे दिये, "ईश्वर की जय हो क्योंकि उसने मुझे शहीद होने का अवसर दिया है।" उसने दक्खिनियों तथा विदेशियों के बीच के घातक संघर्ष को शान्त करने का ईमानदारी से प्रयत्न किया था और अपनी सम्पूर्ण आय दान में व्यय कर दी थी। यद्यपि उसके अधिकतर समसामयिकों की भाँति हिन्दुओं के प्रति उसका भी व्यवहार धर्मान्धतापूर्ण था किन्तु उसने सच्चे मुसलमान का जीवन बिताया। वह एक सादा चटाई पर सोता, मिट्टी के बरतनों में भोजन करता और अपना समय बीदर में अपनी तीन हजार पुस्तकों के बीच बिताता। "राज्य का कोई ऐसा विभाग न था जिसकी ओर उसने ध्यान न दिया हो, उसने वित्त विभाग का पुनः संगठन किया, न्याय प्रशासन में सुधार किया, सार्वजनिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया और राजस्व-व्यवस्था को उचित तथा न्यायपूर्ण बनाने के लिये गाँवों की भूमि की पड़ताल करवाई। भ्रष्टाचार का दमन किया गया और जिन्होंने सरकारी रुपया गबन किया था, उनको यथोचित दण्ड दिया गया। सेना में भी सुधार किये गये, पहले से अच्छा अनुशासन कायम किया गया और सैनिकों को उन्नति करने का अवसर दिया गया।" मीडोज़ टेलर ने उचित ही कहा है कि गावाँ का वध नाश का प्रारम्भ था; 'उसके उठ जाने से बहमनी राज्य की एकता तथा शक्ति तिरोहित हो गई।'

पाँच राज्य

मुहम्मदशाह तृतीय के उत्तराधिकारियों के समय में बहमनी सल्तनत पाँच राज्यों में विभक्त हो गई—(१) बरार का इमादशाही, (२) बीजापुर का आदिलशाही, (३) अहमदनगर का निजामशाही (४) गोलकुण्डा का कुतुबशाही तथा (५) बीदर का बरीदशाही। जिस राज्य की पूर्वोक्त दशा थी उसका इससे भिन्न अन्त हो भी नहीं सकता था। अथनसियस निकीटीन नामक एक रूसी व्यापारी ने १४७० और १४७४ के बीच बहमनी राज्य का पर्यटन किया; उसने लिखा है कि सुल्तान 'अमीरों के प्रभाव में है' एक ईरानी अमीर जो उच्च कोटि का व्यापारी था, २०,००० सैनिकों की एक फौज रखता था; 'मलिक के पास १००,०००; खरतखाँ के पास २०,००० सेना है और अनेक ऐसे खान हैं जिनके अधिकार में दस दस हजार सैनिक हैं।' ऐसे सामन्तों के बीच में यद्यपि सुल्तान ३० ००० निजी सैनिक लेकर चलता था किन्तु उनमें 'सुनहरी कवचों से विभूषित २०० हाथी १०० नर्तक, ३०० सुनहरी आभरणों से सजे सामान्य घोड़े, १०० बन्दर तथा १०० परूरम स्त्रियाँ सम्मिलित रहती थीं, ये सब विदेशी थे।' एक अन्य इतिहासकार लिखता है "अपने राजा का अनुकरण करते हुए लोग विलासिता में लिप्त रहने के अतिरिक्त और कुछ न करते थे। सम्मानित महात्मागण मदिरालयों में अपने वस्त्र तक गिरवी रख देते और धार्मिक अध्यापक अपने विद्यालयों को छोड़ कर मदिरालयों की शरण लेते और सुरापात्रों का चुम्बन करते।'

उपर्युक्त पाँच राज्यों में से बीजापुर तथा गोलकुण्डा सबसे अधिक शक्तिशाली थे, उनका ही इतिहास शिक्षाप्रद है, अन्यत्र हम उसका वर्णन करेंगे। यहाँ हम केवल उनके स्वतन्त्र होने की तिथियाँ लिखे देते हैं। बरार ने १४८४ ई० में, बीजापुर ने १४८६ ई० में, अहमदनगर ने १४६८ ई० में, गोलकुण्डा ने १५१८ ई० में और बीदर ने १५२६ ई० में अपनी स्वाधीनता की स्थापना की।

(३) मदुरा—जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, पाण्ड्यों का यह प्राचीन हिन्दू राज्य मुसलमानों द्वारा सर्वप्रथम मलिक काफूर की अधीनता में जीता गया था (१३११ ई०)। किन्तु इसके बाद उत्तर की घटनाओं के कारण जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है, दक्षिण भारत कुछ समय के लिये मुसलमानों के आक्रमणों से बचा रहा, अलाउद्दीन तथा उसके महान् सेनापति की मृत्यु के बाद मुबारक ने मलिक खुसरू को दक्षिण भेजा (१३१६ ई०)। बीच के इस अल्प समय में (१३११–१३१६ ई०) केरल के रविवर्मन कुलशेखर ने पाण्ड्य देश पर आक्रमण किया और पूर्वी समुद्र तट पर स्थित नीलोर तक धावा मारा। काकतीय राजा प्रताप रुद्र द्वितीय ने इस आक्रमण का बदला लिया और कावेरी में स्थित श्रीरंगम के द्वीप तक के प्रदेश को आक्रांत किया। १३१६ ई० के आक्रमण में मलिक खुसरू ने मदुरा के जिले को लूटने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया, उसके बाद शीघ्र ही उसे दिल्ली बुला लिया गया। इसके बाद माबर के प्रान्त का भार एक मुस्लिम सूबेदार को सौंपा गया जिसने मुहम्मद तुगलक के शासन काल १३३५ ई० में विद्रोह किया। यही अवसर था जब कि जलालुद्दीन अहसनशाह की अधीनता में मदुरा एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। इसके बाद मदुरा और माबर पर दिल्ली का अधिकार फिर कभी स्थापित न हो सका, यद्यपि कुछ समय के लिये उस पर मुसलमान ही शासन करते रहे। जलालुद्दीन को पाँच वर्ष बाद उसी के एक पदाधिकारी ने मार डाला और सिंहासन हड़प लिया तथा अलाउद्दीन उदोजी की उपाधि धारण की किन्तु एक वर्ष उपरान्त अपहरणकर्त्ता भी विलियम रुफुस की भाँति किसी अज्ञात व्यक्ति के बाण से मारा गया। उसके उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन फीरोजशाह को गियासुद्दीन दामगानी नामक एक व्यक्ति ने सिंहासनारोहण के ४० दिन के भीतर ही मार डाला। दामगानी ने हिन्दुओं पर अत्याचार किये। इब्नबतूता लिखता है कि इस सुल्तान ने भारी संख्या में हिन्दू पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों को यातनाएँ दीं और उनका संहार किया; उसने ८० वर्ष के वीर बल्लाल तृतीय को पराजित किया, गला घोंट कर उसे मार डाला और उसकी खाल खिचवा कर तथा उसमें भूसा भरवा कर मदुरा के फाटकों पर लटकवा दिया (१३४२ ई०)। उसके भतीजे नासिरुद्दीन महमूद गाजी ने आतंक का राज्य कायम किया, अपने सभी सहानुभूति न रखने वाले पदाधिकारियों की हत्या कर दी और यहाँ तक कि स्वर्गीय सुल्तान के दामाद को मार कर उसकी विधवा से तुरन्त ही विवाह कर लिया (१३४४ ई०)। ग्लानि के कारण इब्नबतूता उसका दरबार छोड़ कर चला गया। इस सुल्तान

इनी राजा के बाद तीन और शासक हुए—आदिलशाह, फख़रुद्दीन मुबारकशाह और अलाउद्दीन सिकन्दरशाह। इनमें से अन्तिम सुलतान के समय में विजयनगर के उन्नतिशील राज्य ने मदुरा की सल्तनत का अन्त कर दिया। इस प्रकार फीरोज़ की मृत्यु से १० वर्ष पहले ही मदुरा में मुस्लिम शासन समाप्त हो गया।

हिन्दुओं का राजनैतिक पुनरुत्थान

पिछले पृष्ठों में हम फीरोज़ की मृत्यु (१३८८ ई०) के बाद भारत में मुस्लिम शासन का संक्षिप्त वर्णन कर आये हैं। अब हमें उसी युग में तीसरे मुस्लिम साम्राज्य (मुग़ल साम्राज्य) की स्थापना से पहले हिन्दू भारत की दशा पर सरसरी निगाह डालनी है। इस प्रसंग में जहाँ तक दक्षिण भारत का सम्बन्ध है हमें मुख्यतया विजयनगर के इतिहास का वर्णन करना है जिसकी स्थापना (१३३६ ई०) का पहले उल्लेख किया जा चुका है। दक्षिण के प्राचीन हिन्दू राज्यों में से जो इस्लाम के आगमन तक बच रहे थे उनमें से यादवों, काकतीयों, होयसलों तथा पाण्ड्यों ने एक के बाद एक मुसलमानों के आगे घुटने टेक दिये थे। पश्चिमी तट पर स्थित केरलों का राज्य ही केवल ऐसा था जो अन्त तक अविजित बना रहा। किन्तु काकतीय तथा होयसल राज्यों के अन्तिम उन्मूलन से पहले उनके राजाओं, प्रतापरुद्र द्वितीय तथा वीर बल्लाल तृतीय ने एक ऐसी ज्योति जगा दी थी जो विजयनगर के पतन (१५६५ ई०) से पहले कभी न बुझ सकी। इस विशाल हिन्दू साम्राज्य की स्थापना से सम्बन्धित ब्यौरे की बातों पर अन्धकार का आवरण पड़ा हुआ है किन्तु जिन परिस्थितियों में उसकी उत्पत्ति हुई, उनके विषय में कोई सन्देह नहीं है। प्रतापरुद्र तथा वीर बल्लाल केवल वीर गति को ही प्राप्त नहीं हुए थे बल्कि शहीदों की भाँति उन्होंने जीवनोत्सर्ग किया था। वास्तव में जैसा कि सैविल ने लिखा है, 'हर चीज़ का एक ही अनिवार्य परिणाम दिखाई देता था—हिन्दू भारत का सर्वनाश, उनके प्राचीन राजवंशों का मूलोच्छेदन, उनके धर्म, नगरों तथा मन्दिरों का विध्वंस। दक्षिण के निवासियों को जो प्रिय था वह सब कुछ खड़खड़ा कर गिरने वाला था। तुंगभद्रा के दक्षिणी किनारे पर आनिगुण्डी के सामने सात प्राचीरों से रक्षित जिस दुर्ग का निर्माण किया गया, उसका प्रयोजन यवन की उन शक्तियों को रोकना था जिन्हें म्लेच्छों ने सारे देश में बखेर दिया था। उसके पड़ोस में स्थित काम्पली के छोटे से राज्य का जो भाग्य हुआ था और जिसका बहाउद्दीन के विद्रोह के सम्बन्ध में (१३२७ ई०) हम वर्णन कर आये हैं उससे दक्षिण के हिन्दू नेताओं ने इतना गहरा सबक सीखा कि वे उसे कभी न भूल सके। विजयनगर की स्थापना से परम्परानुसार जिन पाँच भाइयों का नाम जोड़ा जाता है उनमें से एक मारप्प था। उसके एक लेख में कहा गया है कि जब अधर्म ने पृथ्वी को आच्छादित कर लिया तब ईश्वर ने 'धर्म का पुनरुत्थान करने के लिये संगम (उनका पिता) को एक महान् राज

वंश में उत्पन्न किया।' इसलिये संगम के पाँच पुत्र जिनमें हरिहर, बुक्का तथा कम्पन सबसे अधिक प्रसिद्ध थे, उस पीढ़ी तथा बाद के लोगों को विद्यातीर्थरूपी कृष्ण की प्रेरणा से कार्य करने वाले पाण्डवों के अवतार प्रतीत होते होंगे।* बड़े तीन भाइयों ने पश्चिम में गोआ से लेकर पूर्व में नीलोर तक फैली हुई उत्तरी सीमा की रक्षा की और छोटे दो भाई मदुरा की सल्तनत से दक्षिण की रक्षा करने में कटि-बद्ध रहे। अपने देश को घृणित मुस्लिम सत्ता से मुक्त करने का प्रथम प्रयास करने के लिये उन्हें उससे अच्छा अवसर न मिल सकता था, जो मुहम्मद तुग़लक द्वारा उत्पन्न अराजकता के काल में मिला। माबर के मुस्लिम सूबेदार ने १३३५ ई० में वास्तव में उदाहरण प्रस्तुत कर दिया था और हिन्दुओं ने उसका अनुसरण करते हुए दूसरे वर्ष ही (१३३६ ई०) विजयनगर दुर्ग का निर्माण कर डाला। कालान्तर में बढ़ कर उसने जो रूप धारण कर लिया उसका एक शताब्दी बाद (१४४३ ई०) विजयनगर का पर्यटन करने वाले अब्दुर रज्जाक ने इस प्रकार वर्णन किया है :—

'विजयनगर का शहर ऐसा है कि उस जैसा स्थान सम्पूर्ण पृथ्वी पर न आँख ने देखा है और न क़ान ने सुना है। वह इस ढग से बना है कि एक के भीतर एक, सात प्राचीरें उसे घेरे हुये हैं। उसकी बाहरी दीवाल की परिधि के बाहर एक समतल मैदान है जो ४० गज तक फैला हुआ है उसमें पुरुष की ऊँचाई के पत्थर एक दूसरे के निकट गड़े हुये हैं, उनके आधे भाग पृथ्वी में गड़े हैं और आधे ऊपर निकले हैं, इसलिये न कोई पैदल और न सवार, चाहे वह कितना ही साहसी हो, बाहरी दीवाल तक सरलता से पहुँच सकता है। दुर्ग का दक्षिणी फाटक उत्तरी से दो 'परसग' दूर है और यही दूरी पूर्वी तथा पश्चिमी फाटकों के बीच है। पहली दूसरी तथा तीसरी दीवालों के बीच खेत, उद्यान तथा मकान हैं। तीसरे से सातवें दुर्ग तक दूकानें और बाजार एक दूसरे से सटे हुये स्थित हैं। राजा के महल के पास एक दूसरे के सामने चार बाजार स्थित हैं। उत्तर की ओर जो भवन विद्यमान है वही राजमहल अथवा राय का निवास स्थान है। प्रत्येक बाजार के सिरे पर एक ऊँची महराब तथा शानदार दालान है किन्तु राजा का महल इन सबसे ऊँचा है। बाजार इतने लम्बे और चौड़े हैं कि पुष्प बेचनेवाले, यद्यपि वे दूकानों के सामने अपना सामान लगाते हैं फिर भी दोनों ओर से फूल बेच सकते हैं। उस नगर में सुगन्धित ताजे पुष्प हर समय मिल सकते हैं और यह देखते हुये कि उनके बिना नगरनिवासी नहीं रह सकते, वे जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक समझे जाते हैं। प्रत्येक श्रेणी के व्यापारियों की दूकानें एक दूसरे के निकट स्थित हैं। जौहरी लोग बाजार में लाल मोती, हीरे तथा नीलम खुले रूप से बेचते हैं।'

हरिहर तथा बुक्का दोनों ने सावधानी तथा बुद्धिमत्ता से कार्य किया। उनमें से किसी ने राजमुकुट नहीं धारण किया, यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से वे राजाओं

* जैसे पाण्डवों को कृष्ण से वैसे ही सगम के पुत्रों को विद्यातीर्थ से प्रेरणा मिली थी।

की भाँति ही कार्य करते थे। इससे उनकी नि स्वार्थपरता तथा उन्हें अनुप्राणित करनेवाले उच्च आदर्शों का परिचय मिलता है। हरिहर की १३७२ ई० तथा बुक्का की १३७७ ई० में मृत्यु हो गई। सर्वप्रथम हरिहर द्वितीय ने (१३७७-१४०४ ई०) महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। उसने 'प्राचीन धर्म का समर्थक, 'वेदविहित परिपाटियों का पुनःसंस्थापक तथा 'वेदमार्गों का प्रकाशक' होने का भी दावा किया। विजयनगर के प्रथम तथा द्वितीय राजा बहमनी वंश के पहले आठ सुल्तानों के समसामयिक थे। अलाउद्दीन बहमनशाह के राज्यारोहण (१३४७ ई०) तथा हरिहर द्वितीय की मृत्यु (१४०४ ई०) के सम्पूर्ण युग में दोनों राज्यों में युद्ध चलते रहे; केवल मुहम्मदशाह द्वितीय के अल्प शासन काल में शान्ति रही। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, इस युद्ध विराम को भंग करने का उत्तरदायित्व एक ओर साहसिक बुक्का तथा दूसरी ओर फीरोज़ बहमनी (१३९७-१४२२ ई०) पर था। फीरोज़ ने अपने हिन्दू पड़ोसियों—विजयनगर तथा तैलिंगाना पर चौबीस आक्रमण किये; इन दोनों ने मिलकर तब तक अपने शत्रु का सामना किया जब तक कि अगले बहमनी सुल्तान अहमदशाह ने (१४२२-३५ ई०) वारंगल के काकतीयों की शक्ति को नष्ट नहीं कर दिया। यह हम पहले ही लिख आये हैं कि देवराय प्रथम ने मुद्गल की सुनार कन्या को प्राप्त करने का प्रयत्न किया था जिसके परिणामस्वरूप उसे स्वयं अपनी एक पुत्री बहुपत्नीक फीरोज़ को देने का अपमान भोगना पड़ा था।

इस युग के नीरस युद्धों का वर्णन करना अनावश्यक है। यद्यपि विजय बहुधा मुसलमानों के ही हाथ लगी और बहमनी सेना ने विजयनगर राज्य को अनेक बार नष्ट भ्रष्ट किया और हिन्दू राजधानी तक लूटमार की फिर भी तैलिंगाना को छोड़कर अन्य कोई प्रदेश बहमनी सल्तनत में सम्मिलित नहीं किया गया। "देवराय द्वितीय (१४२१-४८) ने अनुभव किया कि मुसलमानों की विजय का मुख्य कारण यह है कि उनके घुड़सवार उत्तम हैं और कुशल धनुर्धारियों का एक दल सदैव उनकी सहायता के लिये तत्पर रहता है। इसलिये उसने मुसलमानों को अपनी सेना में भर्ती करने तथा बहमनी ढंग से उन्हें सुसज्जित करने की नीति अपनाई।" यद्यपि इस नीति का तात्कालिक फल नहीं हुआ किन्तु एक शताब्दी बाद कृष्णदेव राय (१२ १-२१ ई)ने कृष्णा तथा तुंगभद्रा के बीच का रायचूर दोआब विजय कर लिया। इस विजय से पूर्व की चौथाई शताब्दी के युग में हिन्दू-राज्य में एक के बाद एक दो क्रान्तियाँ हुई। १४८८-१ ई में चन्द्रगिरि के शक्तिशाली सामन्त सलुव नरसिंह ने सिंहासन हड़प लिया। जैसा कि सेवेल लिखते हैं, इस घटना के पूर्व चालीस वर्ष तक गहरी राजनैतिक उथल पुथल, असन्तोष तथा पुराने राजवंश के प्रति व्यापक असन्तोष के बीच राज्य का हस्तान्तरण होता रहा; राजवंश के अनेक लोगों को अस्वाभाविक मृत्यु का भी सामना करना पड़ा।" अपहरणकर्ता के पुत्र के साथ भी उसके तुलुव सेनापति नरस नायक ने वैसा ही व्यवहार किया (१५ ५ ई)। यह घटना द्वितीय अपहरण के नाम से विख्यात

है। पूर्वोक्त कृष्णदेव राय यदि विजयनगर के सब राजाओं में नहीं तो कम से कम तीसरे वंश का महानतम शासक अवश्य था।

विजयनगर का ऐश्वर्य

कृष्णदेव राय के समय में विजयनगर साम्राज्य वैभव की चरम सीमा पर पहुँच गया। वह कृष्णा के दक्षिण में समस्त प्रायद्वीप पर फैल गया और समुद्र तट के किनारे उसका विस्तार पश्चिम में सालसठ से पूर्व में कटक तक था। जैसा कि हम पहले कह आये हैं, साम्राज्य के प्रारम्भिक दिनों में ही मदुरा मुसलमान शासकों से छीन लिया गया था। विजेता राजकुमार कम्पन की स्त्री गंगादेवी ने अपने 'मदुराविजयकाव्यम्' में इस विजय की प्रसंशा की है। डा० कृष्णास्वामी आयंगर के शब्दों में, "कृष्ण के शासनकाल में साम्राज्य विकास की चरम सीमा पर पहुँच गया और वे उद्देश्य भी पूरे हो गये जिनके लिये वास्तव में उसकी स्थापना हुई थी।" एक तत्कालीन पुर्तगाली पर्यटक डोमिंगोज पेइज् लिखता है—

'राय से लोग अत्यधिक डरते हैं और वह इतना पूर्ण राजा है जितना कि होना सम्भव है, वह प्रफुल्लित स्वभाव का तथा हँसमुख है, वह विदेशियों को सम्मानित करता तथा दयापूर्वक उनका स्वागत करता है और उनको कुशल-क्षेम पूँछता है, चाहे वे किसी भी दशा में क्यों न हों। वह महान् शासक तथा न्यायप्रिय व्यक्ति है।'

वी० ए० स्मिथ ने राजा का जो अधोलिखित मूल्यांकन दिया है उससे अधिक उसके विषय में लिखना कठिन है। "दक्षिण के मध्ययुगीन राज्यों के—वे हिन्दू हों अथवा मुस्लिम—रक्त रंजित इतिहास के काले पृष्ठों को उज्ज्वल करनेवाले बहुत कम नाम हैं जो अपने निजी गुणों के कारण सम्मानित हैं। इनमें कृष्णराय सर्व प्रमुख हैं। वह एक शक्तिशाली योद्धा था किन्तु अपने धार्मिक उत्साह तथा सहिष्णुता के लिये कम प्रसिद्ध नहीं था। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से उसका झुकाव वैष्णव धर्म की ओर था किन्तु वह हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदायों का आदर करता था।" पराजित शत्रुओं के प्रति कृष्णदेव राय की दयालुता, विजित नगरों के निवासियों के प्रति उसकी कृपा तथा दानशीलता, उसका सैनिक प्रताप जिसके कारण वह अपने सामन्तों तथा प्रजा का प्रेम भाजन बन गया था, विदेशी राजदूतों का शाही स्वागत तथा उनके प्रति दयापूर्ण व्यवहार, उसकी प्रभावोत्पादक आकृति, उसका दयापूर्ण हाव-भाव और शुद्ध तथा संयत जीवन का द्योतक नम्र वार्तालाप, उसका साहित्य-प्रेम तथा धर्मानुराग, उसका प्रजा-हित-चिन्तन और इन सबसे बढ़कर अपार धन जो उसने धर्मस्वों के रूप में मन्दिरों तथा ब्राह्मणों को दिया—इन सब चीज़ों के कारण वह दक्षिणी भारत का महानतम सम्राट् कहलाने के योग्य है और वह इतिहास के पृष्ठों को कान्ति प्रदान करता है।"

चूंकि साम्राज्य समस्त प्रायद्वीप की जनता की सद्भावनाओं पर अवलम्बित था, इसलिये तेजी से उसकी अभिवृद्धि हुई। यद्यपि उत्तर में बहमनी राज्य ठोस चट्टान की भाँति खड़ा रहा किन्तु सुदूर दक्षिण में मुसलमानों की राजनैतिक शक्ति

शीघ्र ही समाप्त हो गई। इब्नबतूता लिखता है, 'मालाबार के निवासी सामान्य तथा होनौर (उत्तरी कनारा जिला) के राजा को कर देते हैं क्योंकि उन्हें समुद्र की ओर से उसके आक्रमण का भय बना रहता है। उसकी सेना में ६००० सिपाही हैं किन्तु वे वीर तथा युद्ध प्रिय हैं। वर्तमान सुल्तान जमालुद्दीन मुहम्मद इब्नहसन है। उसकी गणना सर्वोत्तम शासकों में है किन्तु वह स्वयम् हरिब (हरिहर प्रथम) नाम के काफिर राजा के अधीन है।' मदुरा की सल्तनत के पतन का हम पहले उल्लेख कर आये हैं किन्तु विजयनगर का उद्देश्य इस्लाम का दमन करना नहीं था। उन्होंने बड़ी संख्या में मुसलमानों को अपनी सेना में भर्ती किया यह निश्चय ही नीति-कुशलता थी। यही नहीं उन्होंने अपने साम्राज्य में मुसलमानों को अपने धर्म की पूरी पूरी सुविधा दी। बारबोसा लिखता है, "राजा ने इतनी स्वतन्त्रता दे रखी है कि प्रत्येक आदमी आ जा सकता और अपने धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत कर सकता है, कोई उसे कष्ट नहीं पहुँचाता और न उससे कोई यह पूछता है कि तुम ईसाई, यहूदी, मूर अथवा मूर्तिपूजक हो। सभी लोग न्याय तथा निष्पक्षता का व्यवहार करते हैं।" पन्द्रहवीं शताब्दी में ये हिन्दू राजा मुसलमान राजदूतों का कैसा आतिथ्य करते थे, इस सम्बन्ध में हमें अब्दुर्रज्जाक का साक्ष्य उपलब्ध है :

ईरानी राजदूत लिखता है, एक दिन राजा (देवराय द्वितीय १४४२ ई०) के संवाद वाहक मुझे बुलाने आये और संध्या के समय मैं दरबार में उपस्थित हुआ और पाँच सुन्दर घोड़े तथा दो थाल जिनमें दो दो साटन और बूटेदार कपड़े के थान थे भेंट किये। राजा चालीस-खम्भा मण्डप में उमराव के साथ बैठा हुआ था और उसके बायें तथा दायें ओर ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों की बड़ी भीड़ खड़ी हुई थी। वह साटन के वस्त्र धारण किये हुए था और कण्ठ में शुद्ध तथा सर्वोत्कृष्ट मोतियों की माला पहने था जिसका मूल्य आँकना एक जौहरी के लिये भी कठिन होता। उसका रंग गेहुँनी, शरीर छरहरा तथा कद लम्बा था। वह बहुत ही जवान था। उसकी आकृति अत्यधिक मनमोहक थी। जब मैं उसके सामने उपस्थित किया गया, तो मैंने शीश झुकाकर अभिवादन किया। उसने दयापूर्वक मेरा स्वागत किया और अपने निकट बिठला लिया और सम्राट् का महान् पत्र मेरे हाथ से लेकर दुभाषिये को देते हुए कहा "यह देखकर मेरा हृदय अत्यधिक प्रसन्न है कि महान् सम्राट् ने मेरे पास दूत भेजा है।"

अत्यधिक गर्मी तथा अधिक वस्त्र पहनने के कारण मैं पसीने से लथपथ हो गया था। सम्राट को मुझ पर दया आई और उसने अपने हाथ का खताई का पंखा मुझे देकर अनुग्रहीत किया। उसके बाद चाकर लोग एक थाल लाये और मुझे पान के दो बीड़े ५०० फनम की एक थैली तथा २० मिस्काल कपूर दिया। तत्पश्चात राजा से विदा लेकर मैं अपने निवास स्थान को लौट गया।

मेरे लिये प्रतिदिन जो भोजन सामग्री आती उसमें दो भेड़, आठ मुर्गियाँ पाँच मन चावल एक मन मक्खन एक मन शक्कर तथा दो 'वरह' सोना सम्मिलित रहता था।

सप्ताह में दो बार संध्या समय मुझे सम्राट के सम्मुख आमन्त्रित किया जाता था, उस समय वह मुझ से खाकाने-सईद के बारे में अनेक प्रश्न पूछता और प्रत्येक बार मुझे दो बीड़े पान, पत्तों की एक थैली और कुछ मिस्काल कपूर मिलता।'

अब्दुर रज्ज़ाक आगे लिखता है कि नगर 'अत्यधिक बड़ा तथा घना बसा हुआ था और राजा की 'शक्ति तथा साम्राज्य विस्तृत' था। देश का 'अधिकतर भाग उपजाऊ था और उसमें अच्छी खेती होती थी' और साम्राज्य में '३०० अच्छे बन्दरगाह' थे। सेना में एक हजार से अधिक 'पहाड़ियों के समान ऊँचे तथा राक्षसों के समान भीमकाय' हाथी थे। सेना की संख्या ११,००,००० थी। 'हिन्दुस्तान भर में उससे अधिक निरंकुश और कोई शासक नहीं है। वह जितना ब्राह्मणों का आदर करता है उतना और किसी का नहीं।' ब्राह्मणों के प्रति इस पक्षपात का कारण, जैसा कि नूनिज़ लिखता है, यह था कि वे "ईमानदार, व्यापार में लिप्त, कुशाग्र बुद्धिवाले, प्रतिभाशाली तथा लेखा-कार्य में प्रवीण" थे। पेईज़ के अनुसार वे देश में सबसे अधिक ईमानदार स्त्री और पुरुष थे। यद्यपि विजयनगर में सती की प्रथा प्रचलित थी किन्तु स्त्रियाँ पहलवानों ज्योतिषियों तथा भविष्यवक्ताओं का कार्य करती थीं और नुनीज़ के अनुसार राजा की सेवा में अनेक स्त्रियाँ थीं जो महलों के भीतर होने वाले व्यय का लेखा रखती थीं। वृतान्त लिखने का भी काम स्त्रियाँ करती थीं, "उनका कर्तव्य था राज्य के सभी मामलों को लेख-बद्ध करना और अपनी पुस्तकों की बाहर के लेखकों की पुस्तकों से तुलना करना।" इस सबके होते हुये भी नगर में वेश्यावृत्ति का इतना ज़ोर था कि उनसे राज्य को बारह हज़ार पण की आय हो जाती थी। अब्दुर रज्ज़ाक के अनुसार यह धन 'पुलिस का वेतन चुकाने में' व्यय होता था। पुलिस का काम था 'सात दीवालों के भीतर होने वाली प्रत्येक घटना से अपने को अवगत रखना और खोई हुई प्रत्येक चीज़ को ढूंढ़ना अन्यथा उन पर जुर्माना होता था।'

देश तथा धर्म की रक्षा

ऐसे धन तथा विलासिता के मध्य में जैसी कि भारत के अन्य किसी शाही नगर में शायद ही कभी रही हो, विजयनगर के राजाओं ने अपनी तथा अपनी समृद्ध प्रजा की सैनिक शक्ति को बनाये रखने के लिये द्वन्द-युद्ध की परिपाटी को नियन्त्रित ढंग से चलाया, उसमें छोटे-बड़े सभी भाग लेते थे और भोजन तथा व्यायाम के सम्बन्ध में राजा लोग स्वयं उदाहरण उपस्थित करते थे। नुनीज़ लिखता है कि विजयनगर के राजा गाय और बैल को छोड़ कर सभी जानवरों का माँस खाते थे। "वे भेड़, सुअर, हिरन, तीतर, खरगोश, बतख, बटेर तथा अन्य सब चिड़ियों का, और यहाँ तक कि गौरैया, चूहा तथा बिल्ली और छिपकली का माँस खाते हैं और ये सब पक्षी विसनग के शहर में बिकते हैं।" तत्कालीन लेखकों के वर्णन से यह भी पता लगता है कि नव-रात्रि आदि उत्सवों पर पशुओं

की बलि चढ़ाई जाती थी; 'अन्तिम दिन २२० भैंसे तथा ७,१०० भेड़ें चढ़ाई गईं, उन सबके सिर केवल एक एक ही झटके में काटे गये।'

कृष्णदेव राय को हम शासकों में आदर्श समझना चाहिये। सैविल के शब्दों में "शारीरिक दृष्टि से अपने यौवन के दिनों में वह खूब बलवान था और कठोर व्यायाम द्वारा अपनी शक्ति को उच्च सीमा पर बनाये रखता था। वह तड़के उठता और मुगदर तथा तलवार के व्यायाम द्वारा अपनी माँस-पेशियों को विकसित करता; वह अच्छा घुड़सवार था, उसकी आकृति श्रेष्ठ थी और जो उसके सम्पर्क में आते उन पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ता था। वह अपनी विशाल सेना का स्वयम् संचालन करता था, वह योग्य वीर तथा नय नागर था और इससे भी बढ़कर कोमलता तथा दयालुता उसके चरित्र के विशेष गुण थे। सभी लोग उससे प्रेम करते तथा आदर की दृष्टि से देखते थे।"

नूनीज़ के अनुसार विजयनगर की स्थायी सेना में ५०,००० पैदल, २०,०० भालों तथा ढालधारी, ३,००० हाथियों की देख रेख करने वाले व्यक्ति १,६ सईस, ६,००० घोड़ों के शिक्षक तथा ७,०० कारीगर जैसे लुहार राज, बढ़ई धोबी आदि सम्मिलित थे; पेईज़ की गणनानुसार १५२० ई० में सेना में ७ ३ ०० पैदल, ३२,६ घुड़सवार, ५५१ हाथी तथा अनेक पिछलगुआ थे। आक्रमणकारी तुर्कों से देश तथा धर्म की रक्षा के लिये इतनी विशाल सेना आवश्यक थी।

राजस्थान की सैनिक तैयारियाँ

यद्यपि राजस्थान में, जहाँ तक धन तथा वैभव का सम्बन्ध था, इस युग में विजयनगर की तुलना में कुछ भी न था किन्तु उत्तर में युद्ध-क्षेत्र में मुस्लिम आक्रमणकारियों का सामना करने के लिये उसकी तैयारियाँ कम न थीं। राणा संग्रामसिंह अथवा राणा साँगा जिसने १५२७ ई० में कानुआ के मैदान में बाबर से वीरतापूर्वक युद्ध किया विजयनगर के अधिक सफल राजा कृष्णदेव राय का ठीक समसामयिक था। चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दियों के हिन्दुओं के राजनैतिक पुनरुत्थान को भली भाँति समझने के लिये यह आवश्यक है कि राजस्थान और विजयनगर का इतिहास साथ साथ पढ़ा जाय। राजपूतों को ही भारत पर आक्रमण करने वाले मुसलमानों का पहला प्रहार झेलना पड़ा। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार मुसलमानों की प्रगति को रोकने के लिये गुर्जर प्रतिहारों और फिर जयपाल तथा पृथ्वीराज के नेतृत्व में किये गये वीरतापूर्ण प्रयत्न विफल हो चुके थे। उस समय राजपूत सेनायें बिखरी हुई थीं और उनके शूरत्व का अड्डा स्वयं चित्तौड़ भारत में प्रथम मुस्लिम साम्राज्य के निर्माता अलाउद्दीन खलजी के सामने घुटने टेक चुका था। किन्तु जब तक सीसोदिया वंश का एक भी व्यक्ति जीवित था तब तक रेगिस्तान के सिंह का तलवार द्वारा वध नहीं किया जा सकता था। उनके पूर्वज बप्पा रावल ने, जिसे सी० वी० वैद्य ने आठवीं शताब्दी में (७१० ई०) अरबों की प्रगति को रोकने के कारण भारत का 'चार्ल्स मार्टल'

कहा है, एक ऐसी परम्परा स्थापित करदी थी जो १५६८ ई० में अकबर द्वारा चित्तौड़ की विजय के बाद भी नष्ट नहीं हुई, उससे तीन वर्ष पहले ही (१५६५ ई०) दक्खिनी मुसलमानों ने विजयनगर का नाश कर दिया था। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में राणा कुम्भा द्वारा कीर्ति स्तम्भ का निर्माण, जिसका पहले उल्लेख हो चुका है, राजस्थान के पुनरुत्थान में एक महत्वपूर्ण सीमाचिन्ह समझना चाहिये। १५०९ ई० में जिस वर्ष कृष्णदेव राय विजयनगर में सिंहासनारूढ़ हुआ, राणा सांगा मेवाड़ की गद्दी पर बैठा, उसके शासन-काल में पुनरुत्थान की पूर्वोक्त प्रक्रिया चरम सीमा पर पहुँच गई। तथापि राणा को महान् राय की मृत्यु के केवल दो वर्ष पूर्व बाबर के हाथों पराजय भुगतनी पड़ी (१५२७ ई०)। दिलचस्प बात यह है कि मुगल आक्रमणकारी ने कानुआ के रणक्षेत्र में हिन्दू भारत की सेनाओं का मुकाबिला करने से पहले अपने प्रमुख हिन्दू समसामयिकों की महत्ता स्वीकार की थी। अपनी आत्मकथा में उसने लिखा है, 'राज्य तथा सेना दोनों की दृष्टि से हिन्दू शासकों में विजयनगर का राजा सबसे अधिक शक्तिशाली है। ...दूसरा राणा सांगा है जिसने हाल ही में अपने पराक्रम तथा तलवार के बल से वर्तमान महत्ता प्राप्त कर ली है।' बाबर आगे लिखता है, 'उसका मूल राज्य चित्तौड़ था; जिस समय मांडू-राज्य के शासकों में गड़बड़ फैली, उसने मांडू के अधीन अनेक प्रान्त छीन लिये—रन्तपुर, (रणथम्भोर), सारंगपुर, भिलसन तथा चन्देरी।' हिन्दुस्तान की सीमाओं पर तथा उसके भीतर अनेक राजा और राय थे, उनमें से बहुत-सों ने दूर होने तथा उनके प्रदेशों में प्रवेश करने की कठिनाइयों के कारण मुसलमान राजाओं की कभी अधीनता नहीं स्वीकार की थी किन्तु मेवाड़ के नेतृत्व में हिन्दुओं का जो पुनरुत्थान हुआ उसकी यह विशेषता थी कि पूर्वोक्त राजाओं में से अनेक अपने देश तथा धर्म की रक्षा के लिये एकत्र हो गये, जैसा कि उन्होंने दक्षिण में विजयनगर के नेतृत्व में किया था। राणा सांगा ने अन्तिम तथा अवश्यम्भावी संघर्ष के लिये अपने सब साधन जुटाने में कसर नहीं छोड़ी। "अस्सी हजार अश्वारोही, सात उच्चतम श्रेणी के राजा, नौ राव और रावल तथा रावत उपाधिधारी एक सौ चार सामन्त उसके साथ युद्ध-क्षेत्र में उतरे। मारवाड़ तथा आम्बेर के शासक उसका प्रभुत्व स्वीकार करते और ग्वालियर, अजमेर, सीकरी, रायसेन, कल्पी, चन्देरी, बून्दी, गागरोन, रामपुरा और आबू के राव उसके करद अथवा जागीरदार थे। उसका शरीर भी उसके कार्यों के ही अनुरूप था। अपनी मृत्यु के समय वह योद्धा का एक खण्ड मात्र था, उसकी एक आँख भाई से झगड़े में फूट गई थी, एक भुजा दिल्ली के लोदी सुलतान से युद्ध में टूट गई थी और एक अन्य संग्राम में तोप का गोला लगने के कारण वह लँगड़ा हो गया था; उसके शरीर पर तलवार अथवा भाले के अस्सी घाव थे।"

यदि उपर्युक्त वर्णन को हम राणा सांगा का चित्र न मान कर हिन्दू भारत का माने, तो भी वह पूर्णतया सच्चा उतरेगा—वीरतापूर्ण किन्तु टूटा फूटा।

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्

१४५०–१५२६ दिल्ली में लोदियों का शासन।

१४५३ तुर्कों द्वारा कुस्तुन्तुनियाँ की विजय।

१४५८–१५११ गुजरात का सुल्तान महमूद बेगड़ा।

१४६३–८१ बहमनी सुल्तानों का मन्त्री महमूद गावाँ; उसकी हत्या के बाद पतन का आरम्भ।

१४८४ बरार का स्वतन्त्र होना।

१४८६ सलुव नरसिंह; विजयनगर में प्रथम अपहरण। डियाज़ द्वारा आशा अन्तरीप (केप आव गुड होप) का चक्कर लगाना।

१४८९ बीजापुर का स्वतन्त्र होना।

१४९२ कोलम्बस द्वारा अमरिका की खोज।

१४९८ कालीकट में वास्को डी गामा का उतरना।

१५०५ तुलुव नरस नायक; विजयनगर में दूसरा अपहरण। हिन्दुस्तान तथा ईरान में भूकम्प।

१५०८ गुजरात तथा पुर्तगालियों के बीच प्रथम नाविक युद्ध।

१५०९ कृष्णदेव राय का विजयनगर में; राणा साँगा का मेवाड़ में; हेनरी आठवें का इंगलैंड में राज्यारोहण।

१५१० बीजापुर में इस्माइल आदिलशाह; पुर्तगालियों ने गोआ हस्तगत कर लिया।

१५१४ बाबर काबुल का राजा।

१५१८ गोलकुण्डा का स्वतन्त्र होना।

१५१९ बाबर का भारत पर प्रथम आक्रमण।

१५२०–६६ 'ऐश्वर्यशाली' सुलेमान बगदाद से हंगरी तक शासन करता है; विजयनगर साम्राज्य का चरमोत्कर्ष।

१५२२ *पुर्तगाली पर्यटक डोमिंगोज पेइज विजयनगर में।*

१५२६ पानीपत में बाबर की विजय; बीदर का स्वतन्त्र होना।

१५३५ पुर्तगाली पर्यटक नुनीज़ विजयनगर में।

८

भारत में मुस्लिम शासन का रूप

भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास दो युगों में विभक्त किया जा सकता है. (१) विजय तथा शासन सम्बन्धी प्रयोगों का युग और (२) साम्राज्यीय संगठन तथा रचनात्मकता का युग। इस इतिहास में हमें एक निश्चित विकास तथा पूर्णता देखने को मिलती है, जिस पर या तो पश्चिमी लेखकों की दृष्टि ही नही पड़ी है अथवा उन्होंने उसकी उपेक्षा की है। यद्यपि इतिहासकार लेनपूल की सहानुभूति का क्षेत्र विस्तृत था फिर भी वे वास्तविकता को न समझ सके; उन्होंने लिखा है कि मध्यकालीन भारत का इतिहास "राजाओं, राजदरबारों और विजयों का विवरण मात्र है, न कि सामूहिक अथवा राष्ट्रीय विकास का इतिहास।" संसार में ऐसे भाग्यशाली देश बहुत कम हैं जिनमें इंगलैंड की भाँति स्वतन्त्रता की परम्पराओं का उत्तरोत्तर शताब्दियों में सीढ़ी प्रति सीढ़ी विस्तार तथा उनके कारण जातीय और राष्ट्रीय विकास हुआ हो। किन्तु इस प्रकार की तुलनाएँ भ्रम में डालने वाली होती हैं और लेनपूल का यह कथन अनुचित है कि मध्यकालीन भारत में "देश की बहुसंख्यक जनता का कोई इतिहास नहीं है क्योंकि उसने कोई प्रगति नहीं की, स्पष्टतया जैसी वह कल थी वैसी ही आज है और वैसी ही सदैव। और न शासन सम्बन्धी सिद्धान्तों तथा प्रणालियों में ही कोई ऐसा उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ जैसे कि अनेक नस्लों के उत्तरोत्तर शासकों की भिन्नता के कारण आशा की जा सकती थी।" यह हो सकता है कि पूर्वीय देशों के लोग उतनी शीघ्रता, उतने वेग और उस ढंग से न बदलें जैसे कि पश्चिम की जनता किन्तु इतिहास का अधिक ध्यान से अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होगा कि ऊपरी तौर से देखने पर भी हम जैसे कल थे वैसे ही आज और वैसे ही सदैव नहीं हैं। मध्यकालीन भारत जिस प्रकार आधुनिक युग से भिन्न है, उसी प्रकार वह प्राचीन युग से भिन्न था, यही नहीं, वह उतना अधिक गतिहीन न था जितना कि उस युग का योरुप। इस अध्याय में हम देखेंगे कि देश में इस्लाम के आगमन के कारण कम से कम क्या क्या सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन हुये। लेनपूल का यह कथन अधिक सही है कि "इतिहास का प्रवाह अविच्छिन्न होता है; पूर्णतया नये सिरे से कभी प्रारम्भ नहीं होता और प्रत्येक युग में उससे पहले युग का बहुत कुछ विद्यमान रहता है।"

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक युग में उसके आगे के काल के बीज अन्तर्निहित रहते हैं: प्रारम्भिक मुस्लिम युग (१२०६-१५२६ ई०) मुग़ल युग (१५२६-१७२६ ई०) के बीजारोपण का समय था; जो कार्य पहले में प्रारम्भ किया गया वह दूसरे में समाप्त हुआ। मुग़ल साम्राज्य पूर्ववर्ती तथा तुर्क साम्राज्यों की पराकाष्ठा था। पिछले अध्यायों में जिस इतिहास का हम वर्णन कर चुके हैं उसकी विशेषताओं की समीक्षा करने से आगे वर्णित मुग़लों के कार्यों की अच्छी भूमिका उपलब्ध हो जायगी। सुविधा के लिये इस पुनरीक्षा को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं (अ) राजनैतिक सफलताओं की पुनरीक्षा तथा (ब) सांस्कृतिक समन्वय।

(अ) राजनैतिक सफलताओं की पुनरीक्षा

विजय की प्रक्रिया

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार ७१२ ई० में अरबों ने सिन्ध को अधिकृत करके भारत में मुसलमानों की विजयों का सूत्रपात किया था। मुलतान को भी उन्होंने दूसरे वर्ष ही जीत लिया था। इसके उपरान्त तीन शताब्दियों से कुछ अधिक काल तक भारत नये मुस्लिम आक्रमणों से मुक्त रहा; फिर तुर्की सुल्तान महमूद ग़ज़नवी ने लूट के उद्देश्य से अपने प्रसिद्ध धावे (१००१-२६ ई०) प्रारम्भ किये किन्तु उसने केवल पंजाब को ही अपने राज्य में सम्मिलित किया। इस प्रान्त पर अगले १६० वर्षों में (१०२६-११८६ ई०) उसके वंशजों का प्रभुत्व कायम रहा। किन्तु हिन्दुस्तान की वास्तविक तथा क्रमिक विजय कुछ वर्षों बाद प्रारम्भ हुई। मुहम्मद ग़ोरी ने पहले अफ़ग़ानिस्तान में ग़ज़नवी वंश को उखाड़ फेंका फिर लाहौर पर चढ़ आया और ११८६ ई० में ग़ज़नविद के अन्तिम वंशज को बन्दी बना लिया। छः वर्ष बाद तराइन के रण-क्षेत्र में पृथ्वीराज चौहान की ऐतिहासिक पराजय (११९२ ई०) हुई; ऐबक और बख़्तियारुद्दीन ने इस्लामी झण्डे को आगे बढ़ कर पूर्वी प्रदेशों पर फहराया और पृथ्वीराज की पराजय के दस वर्ष के भीतर ही लखनौती पहुँच गये (१२०२ ई०)। कन्नौज और बनारस का ११९३ ई० में पतन हो चुका था। मुस्लिम प्रगति की इस मंज़िल में ग्वालियर, अजमेर तथा अन्हिलवाड़ तक उसकी दक्षिण सीमायें पहुँच गई। बिहार तथा बंगाल के दक्षिण में गोंडवाना का अभेद्य जंगल था। मुहम्मद ग़ोरी अफ़ग़ान अथवा अफ़ग़ानिस्तान में दीर्घकाल से बसा हुआ तुर्क था। उसके अनुयायी भी अफ़ग़ान अथवा तुर्क थे किन्तु उसके उत्तराधिकारी जो दिल्ली के सुल्तान बन बैठे, तुर्की ग़ुलाम अथवा उनके वंशज थे।

१२०६ ई० में मुहम्मद ग़ोरी की मृत्यु तक हिन्दुस्तान में मुस्लिम विजेता एक विदेशी प्रभु का आधिपत्य स्वीकार करते रहे। सिन्ध के अरब ८७१ ई० तक बग़दाद के ख़लीफ़ा को और तुर्क लोग, ग़ज़नवियों के लाहौर में शरण लेने के

अल्पकाल को छोड़ कर, गज़नी के सुल्तान को। १२०६ ई० के बाद जब एबक ने दिल्ली में गुलाम वंश की स्थापना की, हिन्दुस्तान के मुस्लिम शासकों ने भारत के बाहर किसी का प्रभुत्व स्वीकार नहीं किया, यद्यपि कुछ सुल्तान नाम के लिये अशक्त खलीफाओं के प्रति सम्मान प्रकट करते रहे। सैयद वंश का संस्थापक खिज्रखाँ ही केवल ऐसा था जिसने अपने को तिमूर का प्रतिनिधि कहा किन्तु उसने भी तुग़लकों के नाम से सिक्के जारी किये। इसलिये यह कहना उपयुक्त ही है कि स्वतंत्र मुस्लिम शासन सिन्ध तथा मुल्तान में ८७१ ई० में, पंजाब में ११६० ई० के लगभग और शेष हिन्दुस्तान पर १२०६ ई० में आरम्भ हुआ।

इसके बाद दक्षिण की ओर इस्लाम की प्रगति इलतुतमिश के समय में हुई, उसने १२३४ ई० में मालवा पर आक्रमण किया, भिलसा तथा माण्डू के किले हस्तगत कर लिये और उज्जैन के महाकाल मन्दिर को नष्ट कर दिया। विन्ध्या को सर्व प्रथम अलाउद्दीन ख़लजी के समय में पार किया गया, जबकि १२६४ ई० में उसने देवगिरि पर प्रसिद्ध आक्रमण किया। गुजरात को तीन वर्ष उपरान्त १२६७ ई० में जीता गया और मेवाड़ (१३०३ ई०), वारंगल (१३०७ ई०), द्वारसमुद्र (१३१० ई०) तथा मदुरा (१३११ ई०) ने एक के बाद एक शीघ्रता से घुटने टेक दिये। मालावार का तट यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से हिन्दू राजाओं के आधीन था किन्तु मुसलमानों ने बहुत पहले वहाँ अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये थे। थे। उत्तर-पश्चिम में स्थित काश्मीर में भी मुसलमान प्रवेश कर चुके थे और वहाँ १३३६ ई० में ईरानी शाहमीर ने प्रथम मुस्लिम राजवंश की स्थापना की थी। दक्षिण में प्रायद्वीप के अन्तिम छोर को, पूर्व में उड़ीसा तथा छोटा नागपुर में गोंडवाना को छोड़ कर लगभग सम्पूर्ण भारत इस्लाम के प्रभुत्व में आ चुका था। तिरहुत को ग़ियासुद्दीन तुग़लक ने १३२४ ई० में और जाजनगर को १३२२ ई० तथा जूनागढ़ को १३५० ई० में मुहम्मद तुग़लक ने जीतकर मुस्लिम साम्राज्य की सीमाओं को पूर्ण कर लिया था।

साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना

उत्कर्ष की इस चरम सीमा पर पहुँचते ही साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने की प्रक्रिया आरम्भ हो गई। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, मुहम्मद तुग़लक के अन्धकारमय दिनों में मावर ने १३३५ ई० में विनाश की इस प्रक्रिया का सूत्रपात किया था। १३३७ ई० में बंगाल ने और उसके बाद अन्य प्रान्तों ने उसका अनुकरण किया। इस प्रकार दिल्ली साम्राज्य का चरम विस्तार पच्चीस वर्ष (१३११-३५ ई०) से अधिक न टिक सका। यदि हम दिल्ली सल्तनत की स्थापना को पृथ्वीराज तथा जयचन्द्र की पराजय के बाद ११९३ ई० से माने, तो वह १५२६ ई० में पानीपत में बाबर की विजय तक ३३३ वर्ष क़ायम रही। इस युग के अधिकतर भाग में दिल्ली सुल्तानों का हिन्दुस्तान पर उठते गिरते प्रभुत्व

स्थापित रहा। १३३८ ई० में बंगाल के स्वतन्त्र हो जाने से सल्तनत का गम्भीर अंगच्छेद हो गया। मदुरा और तैलिंगाना (१३३५ ई०), दौलताबाद (१३४७ ई०) गुजरात (१४०१ ई०), खानदेश (१३८८ ई०) और मालवा (१४०१ ई०) के पृथक हो जाने से साम्राज्य पंगु होगया। एक समय ऐसा आया जब कि दिल्ली राज्य ही अत्यधिक संकुचित नहीं हो गया बल्कि राजधानी में ही दो सुल्तान बन बैठे और उनमें से प्रत्येक विलुप्त साम्राज्य की अवशिष्ट छाया पर प्रभुत्व का दावा करता था। इस्लामी राजनीति में सैद्धान्तिक दृष्टि से नहीं किन्तु व्यवहार में अवश्य 'योग्यतम ही जीवित रहता है' इस सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता था; इसके अनुसार अब भारत में एक नई शक्ति के उदय का समय आ गया था। अग्रगन्ताओं (पथिकृतों) ने यथासामर्थ्य अपना कार्य—भला और बुरा—पूरा कर दिया था; उन्होंने मन्दिरों को लूटा, नष्ट-भ्रष्ट और विजय किया लोगों को दास और मुसलमान बनाया तथा उनका संहार किया, शासन किया, साम्राज्य का विस्तार और विद्रोहों का दमन किया, भवन तथा नहरों का निर्माण कराया और समृद्धि का मार्ग प्रशस्त किया, विलासपूर्ण जीवन बिताया, धर्मानुप्रिय अत्याचार किये और अन्त में प्रतिशोध की देवी को आवाहन किया। जब प्रतीक्षा का समय आया तो वह निर्मम सिद्ध हुआ। उनकी सफलताओं और असफलताओं के कारणों की समीक्षा अन्त में करना अधिक उपयुक्त होगा। यहाँ हम उनकी सम्पूर्ण शासन व्यवस्था पर दृष्टि-पात करेंगे।

राजनैतिक प्रयोगवाद

अरब तुर्क, अफगान और ईरानी सब एक ही सामाजिक व्यवस्था के अंग थे और उनकी कार्य प्रणाली भी एक सी थी। वे अपने साथ कोई सुनिर्मित और पूर्ण व्यवस्था नहीं लाये थे; उनका दृष्टि-कोण व्यावहारिक था और जैसे परिस्थितियाँ उनके सामने आईं उन्होंने सीधे प्रयोगात्मक ढंग से उनका मुकाबिला किया। इसलिये उनकी शासन प्रणाली में उन परिस्थितियों के अनुरूप दोष भी विद्यमान थे जिनमें उनका निर्माण हुआ था। उनकी व्यवस्था कितनी ही भद्दी और भोंडी रही हो, इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने उसके निर्माण के लिये दासों की भाँति काम किया था। यद्यपि अन्त में वे विफल रहे किन्तु दूसरों ने उनकी बनाई हुई नींव पर भवन निर्माण किया। प्रारम्भिक मुस्लिम शासन प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता उसकी प्रयोगवादिता थी और उसी में उसकी शक्ति तथा दुर्बलतायें अन्तर्निहित थीं।

ये अग्रगामी विजेता यद्यपि कुशल शासक नहीं थे परन्तु युद्धों में सफलता मिलने से जो उत्तरदायित्व उनके कंधों पर पड़ा उससे वे मुँह नहीं मोड़ सके। इसीलिये इल्तुतमिश को सिन्ध में ऐसी शासन-व्यवस्था ईजाद करनी पड़ी जिसे सरलता से परम्परागत ढाँचे में आत्मसात न किया जा सका। प्रारम्भ में अमीरों

के सामने इस्लाम और मृत्यु, इन दो में से एक को अंगीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा न था, किन्तु शीघ्र ही विजेता ने अनुभव किया कि इन्हें जीवन-दान देना और इनकी सेवाओं का उपयोग करना अधिक लाभदायक है; उनकी सेवाओं के बिना काम ही चलना असम्भव था, विशेषकर राजस्व विभाग का। इस प्रकार मुसलमानों को भारत-विजय के प्रथम प्रयत्न में ही विशाल हिन्दू जनता को जीवित रहने देने पर बाध्य होना पड़ा और उससे केवल जिज़या वसूल किया गया। काफिर प्रजा की इस विशाल संख्या का विजेताओं पर दूर-गामी प्रभाव पड़ा, चाहे वह बुरा ही भले रहा हो।

दूसरी स्मरणीय बात यह थी कि ८७१ ई० के बाद सिन्ध और मुल्तान के अरब शासक खलीफा से स्वतन्त्र हो गये थे। भारत का विच्छिन्न प्रान्त सब प्रकार के धर्म-द्रोहियों (जैसे कर्माथी) को शरण-स्थान बन गया और इस प्रकार राजनैतिक ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक दृष्टि से भी खलीफा के प्रभुत्व से मुक्त होगया। इसलिये सिन्ध और मुल्तान के परवर्ती शासक स्वयं अपने स्वामी थे और किसी धार्मिक अथवा धर्म-निरपेक्ष प्रभु का आधिपत्य स्वीकार नहीं करते थे; अस्थायी रूप से कभी-कभी अपने से अधिक शक्तिशाली व्यक्ति के सामने उन्हें भले ही झुकना पड़ता, जैसे जाम बावनिया को फीरोज़ के सामने घुटने टेकने पड़े थे। इस प्रान्त के सुम्र आदि राजपूत शासकों ने इस्लाम अंगीकार कर लिया, इसका भी अन्त में उस राजनीति पर, जो नाम के लिये इस्लामी कहलाई, प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। इस्लामी समाज मूलतः धर्म सापेक्ष तथा अविभाज्य था और मुहम्मद की मृत्यु के बाद केवल खलीफा ही उसका एक धार्मिक तथा ऐहिक प्रमुख था। किन्तु सिन्ध के जाम सामान्यता स्वयम् अपने प्रभु थे।

भारत का दूसरा मुस्लिम विजेता, ग़ज़नी का बुतशिकन यद्यपि नाम के लिये बग़दाद का प्रभुत्व मानता था पर वह भी राजनैतिक विषयों में धार्मिक नियमों को हठपूर्वक पालन करने के लिये उद्यत नहीं था। उसे मूर्ति पूजा का नाश करने की प्रेरणा-मिली और इसलिये उसने काफ़िरों के विरुद्ध जिहाद का प्रण किया, उसने हिन्दुओं के मन्दिरों की लूटमार तथा नाश किया और इस देश के हजारों निवासियों को तलवार के घाट उतारा, दासता की बेड़ियों में जकड़ा और इस्लाम अंगीकार करने पर बाध्य किया; किन्तु इमादुद्दीन की भाँति उसने भी अधर्मान्तरित हिन्दुओं के मूल्य को पहचाना। उन्हें सेना में भर्ती किया गया, उन्हें करद बनाकर छोड़ दिया गया जैसे कन्नौज के राज्यपाल को और कुछ से तो कूटनीतिक सेवा भी ली गई जैसे तिलक से। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, महमूद के उत्तराधिकारी मसूद को सिंहासन के लिये अपने भाई मुहम्मद से संघर्ष करना पड़ा और उसे अन्धा करके कारागार में डालकर वह गद्दी पर बैठा। शान्तिमय उत्तराधिकार के किसी स्वीकृत नियम के न होने के कारण प्रत्येक सुल्तान की मृत्यु के बाद अनिवार्य रूप से यही उदाहरण दुहराया गया। मत्स्य न्याय के सिद्धान्त ने

कहा कि 'योग्यतम ही जीवित रह सकता है', इसलिये भाई पिता अथवा चाचा किसी के भी साथ रू-रियायत नहीं की गई। महत्वाकांक्षी व्यक्ति और सिंहासन के बीच यदि कोई कोमल भावनायें आ खड़ी होतीं तो उन्हें कुचल दिया जाता। इसी प्रकार अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुग़लक ने भी सफलता प्राप्त की। और गुलाम को भी यदि वह योग्य हुआ तो स्वामी स्वीकार कर लिया जाता था जैसा ऐबक, इल्तुतमिश और बलबन के सम्बन्ध में हुआ और एक बार तो एक स्त्री (रज़िया) को भी अपने राजनैतिक प्रतिद्वन्द्वियों से निपटने का अवसर दिया गया। मुबारक खलजी के बाद दिल्ली के सिंहासन पर बैठनेवाले धर्मान्तरित खुसरू को भी सफलता मिल गई होती यदि वह इस्लाम पर प्रहार न करता। तलवार धारण करने की योग्यता के अतिरिक्त इस्लाम को मानना ही एक ऐसा माप-दण्ड था जिससे राजनैतिक उत्तराधिकार का निर्णय होता था, यद्यपि व्यवहार में कभी-कभी इस नियम की अवहेलना भी हो जाती। मसूद भगोड़ा था किन्तु ख़लीफ़ा का उसे आशीर्वाद प्राप्त था और इसके अतिरिक्त सिंहासन प्राप्त करने के लिये उसमें शक्ति भी विद्यमान थी। किन्तु जिस नियम के अनुसार उसे कुछ समय के लिये सफलता मिली उसी से उसका पतन भी हो गया। व्यावहारिक दृष्टि से पंजाब के विद्रोही मुस्लिम सूबेदार नियाल्तगीन का दमन करने के लिये हिन्दू तिलक को भी चुनना उचित समझा गया था। दिल्ली के सभी परवर्ती सुल्तानों और उनके अनुयायी प्रान्तीय शासकों ने धार्मिक विषयों में कट्टर होते हुए भी अपनी हिन्दू प्रजा से जिज़्या वसूल करके ही सन्तोष कर लिया और उसकी राजनैतिक सेवाओं से अधिकाधिक लाभ उठाया। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान इस्लाम के अधिक अच्छे सैनिक सिद्ध हुए; किन्तु शासन-कार्य में काफ़िर ही कुशल थे। फ़ीरोज़ तुग़लक का योग्य मन्त्री ख़ानजहाँ मक़बूल धर्मान्तरित ब्राह्मण था, जाति के खत्री राजा टोडरमल ने औरंगज़ेब तथा अकबर के समय में योग्यतापूर्वक साम्राज्य की सेवा की, यद्यपि उन्होंने इस्लाम नहीं अंगीकार किया था। ये दो उदाहरण भारत में इस्लामी राजनीति की मुख्य प्रवृत्ति के द्योतक थे और ग्यारहवीं शताब्दी के तिलक को सोलहवीं शताब्दी के मानसिंह का पूर्वगामी समझना चाहिए।

भारत में मुस्लिम सरकार के कर्मचारी-मण्डल के सम्बन्ध में हम ऊपर जो कुछ लिख आये हैं, उससे एक निश्चित परिणाम यह निकलता है कि व्यक्तियों को ही सब कुछ समझा जाता था न कि किसी कानूनी व्यवस्था को। इस बात की भी चिन्ता नहीं की जाती थी कि वह व्यक्ति तुर्क, अरब ईरानी, अफ़ग़ान, हिन्दुस्तानी, धर्मान्तरित हिन्दू अथवा काफ़िर था; स्त्री और पुरुष, स्वतन्त्र और गुलाम, ऊँचे और नीचे कुल का भी महत्व गौण था। जैसा कि बाबर ने आगे चलकर बंगाल के सुल्तानों के विषय में लिखा, उत्तराधिकार के सम्बन्ध में पितागत नियम-का तनिक भी स्थान नहीं है। —जो भी राजा को मारकर सिंहासन पर बैठने में सफल हो जाता है उसी को तुरन्त सुल्तान स्वीकार कर

लिया जाता है।' एर्सकाइन के शब्दों में "व्यक्ति का शासन था, न कि कानून का।"

प्रान्तों तथा सम्राज्य के दूरस्थ भागों में भी यही परिपाटी प्रचलित थी। "सल्तनत लगभग स्वतन्त्र राज्यों, जागीरों और प्रान्तों का संघ थी और प्रत्येक पर एक पितृागत सामन्त अथवा ज़मीदार अथवा सुल्तान का प्रतिनिधि शासन करता था; जनता अपने तात्कालिक शासकों को ही जिनके हाथों में प्रान्त की निरंकुश सत्ता होती और जिन पर अन्त में उसका सुख-दुःख निर्भर रहता था, सब कुछ समझती, न कि दूरस्थ सुल्तान को जिसके विषय में वह बहुत कम जानती थी।" पिछले अध्याय में हम यत्र-तत्र प्रान्तीय शासन-व्यवस्था के विषय में उल्लेख कर आये हैं। उस युग में इतना केन्द्रीयकरण नहीं हुआ था जितना कि मुग़लों के समय में देखने को मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि विजित प्रान्तों का शासन-भार सूबेदारों को सौंपा जाता था और सुल्तान स्वयं उनकी नियुक्ति किया करता था किन्तु उन्हें केवल निश्चित वार्षिक कर नियमपूर्वक देना पड़ता था; केन्द्रीय सरकार के प्रति उनका इतना ही उत्तरदायित्व था। यदि यह कर नियमपूर्वक दिल्ली न भेजा जाता तो सुल्तान स्वयं सेना लेकर उस पर चढ़ाई करता अथवा अपने किसी विश्वसनीय सेनानायक अथवा शाही परिवार के किसी राजकुमार को उनके विरुद्ध भेजता, जैसा कि मुबारक, खलजी तथा ग़ियासुद्दीन तुग़लक ने देवगिरि और वारंगल के सम्बन्ध में किया। अधिक दूरस्थ तथा दुर्गम प्रदेशों के हिन्दू राजाओं को केवल करद बनाकर छोड़ दिया जाता था, जैसा कि देवगिरि में रामचन्द्र और शंकरदेव, वारंगल में प्रतापरुद्र, द्वारसमुद्र में वीर बल्लाल और चित्तौड़ में मालदेव के साथ किया गया था। किन्तु यदि देवगिरि के हरपाल की भाँति वे अधिक उद्दण्ड सिद्ध होते, तो उन्हें भयंकर दण्ड भोगना पड़ता और उनके स्थान पर मुस्लिम सूबेदारों को नियुक्त कर दिया जाता था। मुहम्मद तुग़लक के समय में बहाउद्दीन गश्तस्प का जो दु:खान्त हुआ उससे सिद्ध हो गया कि विद्रोही सूबेदारों से बदला लेने में न धर्म का ख्याल किया जाता था और न रक्त-सम्बन्ध का। सुल्तान की अनुपस्थिति में राजधानी में कार्य-भार सँभालने वाले अधिकारी की भाँति प्रान्तीय सूबेदार भी नाइब सुल्तान कहलाता था। उसके कर्तव्य सैनिक तथा असैनिक दोनों प्रकार के थे क्योंकि मध्यकालीन भारत में इस प्रकार का कार्य-विभाजन नहीं हुआ था। सूबेदार वास्तव में सुल्तान का ही लघुरूप था, इसलिये वह राजस्व, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका आदि सरकार के सभी विभागों का अध्यक्ष होता था। यदि वह चाहता तो केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना भी विदेशी शक्तियों से युद्ध कर सकता और राज्य को बढ़ा सकता था। यदि वह हिन्दुओं का उत्पीडन तथा उनके मन्दिरों का विध्वंस करता तो यह कार्य भी उसकी अधिकार सीमा के भीतर समझा जाता, केवल शर्त यह थी कि लूट का नियमित भाग वह सुल्तान के पास भेज देता। अन्यथा सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह को छोड़कर उसके शेष सभी कार्य उचित

समझे जाते थे। प्रान्तीय शासन व्यवस्था का केन्द्र स्थानीय सूबेदार, उसके अधीन पदाधिकारियों तथा केन्द्रीय सरकार पर निर्भर रहता था। कुछ उदाहरणों से इस कथन की पुष्टि हो जायगी (१) मुल्तान तथा उच्छ के सूबेदार आइन-उल-मुल्क मुल्तानी के शासन में व्यवस्था का प्रश्न इतना सुलझा हुआ कि मुहम्मद तुगलक को पश्चिमी दोआब के दुर्भिक्ष से त्रस्त लोगों को दूर करने में उससे बहुत कुछ सहायता मिल गयी। (२) इसी युग में दौलताबाद का शासन भार कुतलुग़ख़ाँ नामक भद्र सूबेदार के हाथों में था किन्तु अधीन अधिकारियों के अत्याचार के कारण प्रजा को बहुत कष्ट भोगने पड़े (३) इसी काल में मालवा को अज़ीज़ ख़ुम्मार के अत्याचारपूर्ण शासन में पिसना पड़ा। ख़ुम्मार नीच जाति का और मुहम्मद तुगलक का प्रिय था और सुल्तान ने उसे मनमाना काम की छूट दे रखी थी। जब कि मुहम्मद के सबल किन्तु असामयिक सुधारों ने अपार अराजकता और अव्यवस्था को जन्म दिया, फ़ीरोज़ के नरम और साधारण सुधार भी अधिक सफल सिद्ध हुए। समय की दृष्टि से ये दोनों सुल्तान एक दूसरे से इतने निकट थे और उनका चरित्र इतना भिन्न था, इसलिए उनके शासन सम्बन्धी प्रयोगों के अध्ययन से शासन कला के विषय में हमें महत्वपूर्ण शिक्षा मिलती है; उससे असफल उतावले और क्रान्तिकारी सुधारों की निरर्थकता तथा बुद्धिमत्तापूर्ण और नरम रचनात्मक काम की उपादेयता सिद्ध होती है। फ़ीरोज़ ने नये प्रयोग नहीं किए और न उसने सुसुप्त तत्वों को उभाड़ा। अपनी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उसने अनुभव किया कि साम्राज्य को जागीरदारों में बाँटना ही समुत्थान का एकमात्र उपाय है और जागीरदारों में इतनी योग्यता और स्वतन्त्रता हो कि कम से कम कुछ समय के लिये वे सन्तुष्ट हो सकें। साम्राज्य का निर्माण उन आदर्शवादियों ने नहीं बल्कि व्यावहारिक यथार्थवादियों ने किया था और उसकी नींव इतनी दृढ़ नहीं थी कि किसी अस्थिरमति प्रतिभाशाली व्यक्ति के प्रयोगों की चोटें झेल सकती। फिर भी रचनात्मक तथा शान्तिमय कार्यों के लिये पर्याप्त क्षेत्र विद्यमान था।

सुल्तानों की परम्परा

ऐबक से लेकर बाबर तक दिल्ली में सब मिलाकर बत्तीस सुल्तानों ने शासन किया। उन सबका राज्य काल ३२० वर्ष (१२०६–१५२६ ई०) रहा और प्रत्येक सुल्तान ने औसत दस वर्ष राज्य किया। उन सब में फ़ीरोज़ तुगलक का शासन काल (१३५१–८८ ई०) सबसे अधिक लम्बा था यद्यपि सबसे अधिक विस्तृत साम्राज्य अलाउद्दीन खलजी तथा मुहम्मद तुगलक तक उसके उत्तराधिकारियों का था। किन्तु हमें सुल्तानों का मूल्यांकन, उनके काल अथवा राज्य विस्तार से नहीं करना चाहिये क्योंकि दोनों ही अस्थायी सिद्ध हुये हैं। उनके सम्बन्ध में निर्णय उन चीज़ों के आधार पर करना उचित होगा जिन्हें वे विरासत के रूप में छोड़ गये हैं। इस माप-दण्ड से भी फ़ीरोज़ तुगलक उन सब में श्रेष्ठ ठहरता है किन्तु

न तो उसके दो तात्कालिक पूर्वाधिकारियों (मुहम्मद और ग़ियासुद्दीन) की और न अलाउद्दीन ख़लजी की ही उपेक्षा की जा सकती है। इसी प्रकार दूसरे सुल्तानों का भी उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि उनसे हमें सम्पूर्ण चित्र को भली-भाँति समझने में सहायता मिलती है। इस प्रकार दिल्ली सुल्तानों की सम्पूर्ण परम्परा का सिंहावलोकन करने से पाठक को उनके महत्व का सार स्पष्ट हो जायगा, जिसे लेनपूल तथा उसके मत का समर्थन करनेवाले अन्य लोग नहीं समझ पाये हैं और इसीलिये उन्होंने दिल्ली सल्तनत के इतिहास को, "राजाओं, दरबारियों तथा विजयों का विवरण मात्र" कहा है।

किन्तु लेनपूल ने यह अवश्य स्वीकार किया है कि अलाउद्दीन, मुहम्मद तुग़लक़, बाबर, अकबर, औरंगज़ेब आदि विरोधी स्वभावों वाले शासकों के राज्य-काल में अनेक विचित्र तथा विशद नाटकीय दृश्य देखने को मिलते हैं और उपर्युक्त शासकों की, इन चार शताब्दियों में योरप के किन्हीं भी श्रेष्ठ राजाओं से तुलना की जा सकती है। इस युग के शासकों में कुछ महापुरुष तथा कुछ ऐसी महान् स्त्रियाँ हुईं जिनके जीवन तथा चरित्र में पूर्वोक्त लेखक को "अपरिमित विभिन्नता" देखने को मिली और "मध्ययुगीन जीवन के वे ही मुख्य केन्द्र थे।" किन्तु ध्यान से निरीक्षण करने पर ज्ञात होगा कि इस युग में 'शासन सिद्धान्तों तथा प्रणालियों' में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये। महमूद ग़ज़नवी तथा अकबर में गम्भीर अन्तर था; पहले ने लूट मार और नर-संहार से ही सन्तोष कर लिया था किन्तु दूसरे को राष्ट्रीय राज्य से कम किसी वस्तु से तृप्ति नहीं हुई। फिर भी, चूंकि इतिहास का प्रवाह अविच्छिन्न होता है इसलिये महमूद ग़ज़नवी तथा अकबर के बीच के संक्रमण काल में हमें किसी भी समय क्रान्तिकारी परिवर्तनों की प्रक्रिया देखने को नहीं मिलती और जैसा कि हम पहले लिख आये हैं महान् मुग़लों का साम्राज्य विकास की उस गति की पराकाष्ठा था जो प्रथम मुस्लिम शासकों के लूट-मार के उद्देश्य से किये गये धावों के साथ प्रारम्भ हुई थी।

यदि हम अरबों की सिन्ध विजय को अधिक महत्व न दें तो महमूद ग़ज़नवी इस देश में इस्लाम का प्रथम अगुआ तथा मार्ग-दर्शक था। उसके धावे भारतीय मुस्लिम राजनीति के निर्माण की पहली सीढ़ी थे। मुहम्मद ग़ोरी तथा उसके गुलामों ने उसके मार्ग का अनुसरण किया और स्थायी विजयों द्वारा दूसरी मंजिल पूरी की। तीसरी मंजिल में एक मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना की गई जिसकी राजधानी भारत में ही थी, न कि उसके बाहर। इल्तुतमिश तथा बलबन ने अपने राज्य का संगठन किया और उसके विस्तार को बढ़ाने में अपनी शक्ति व्यय नहीं की। उनका शासन देश पर सैनिक अधिकार मात्र था और जंगल को साफ किये बिना स्थायी प्रभुत्व की स्थापना नहीं हो सकती थी। इसीलिये उन्होंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति अपने पैर जमाने में लगा दी और उन्हें बहुत सा पुलिस कार्य करना पड़ा। जब गुलाम सुल्तानों ने इस प्रारम्भिक किन्तु आवश्यक कार्य को

पूरा कर दिया तब ख़लजियों ने यात्रा की अगली मंज़िल पूरी की। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, अलाउद्दीन ख़लजी भारत में नये प्रयोग करनेवाला पहला मुस्लिम शासक था। महत्वाकांक्षी होने के साथ साथ वह व्यावहारिक व्यक्ति था इसलिये प्रशासन के सभी विषयों में उसने अधिक अपनी निर्णयबुद्धि से कार्य किया। यद्यपि हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार धर्मान्धतापूर्ण था फिर भी उसने इस्लाम के धर्माधिकारियों की आज्ञाओं के सामने सिर नहीं झुकाया। उसने घोषणा की 'मैं यह नहीं जानता कि यह नियमानुकूल है अथवा नियम विरुद्ध, मैं जो कुछ राज्य के लिए हितकर तथा परिस्थिति विशेष के लिये उपयुक्त समझता हूँ उसी के करने के लिये आज्ञा जारी करता हूँ और आनेवाले न्याय के दिन मेरा क्या होगा यह मैं नहीं जानता।' मध्ययुगीन भारत के मुस्लिम शासक के लिये इस प्रकार की नीति साहसपूर्ण तथा क्रान्तिकारी थी। लोकतन्त्रात्मक मुस्लिम समाज में राजतन्त्र स्वयं एक नया प्रयोग था किन्तु वह स्थायी सिद्ध हुआ और प्रायश्चित्त के रूप में सुल्तानों ने ख़लीफ़ा के प्रभुत्व को स्वीकार किया यद्यपि ख़िलाफ़त अब छायामात्र रह गई थी। अलाउद्दीन ने धर्माधिकारियों के ऊपर अपना जो प्रभुत्व स्थापित किया उससे केवल यही नहीं प्रकट होता था कि इस देश में मुस्लिम राजतन्त्र की जड़ें दृढ़ता से जम चुकी थीं बल्कि यह इस बात का भी द्योतक था कि मुस्लिम सुल्तानों का राजनैतिक दृष्टिकोण दिन प्रतिदिन अधिक धर्म निरपेक्ष होता जा रहा था। अलाउद्दीन के बाद मुहम्मद तुग़लक आया जो उससे भी अधिक साहसिक था। यद्यपि ऊपरी तौर से उसका आचरण अत्यधिक धार्मिक था, किन्तु हृदय से वह बुद्धिवादी था और नये नये प्रयोगों में उसकी रुचि थी। उसने हर ऐसी चीज़ की जड़ों पर प्रहार किया जो पुरातन होने के कारण सड़-गल चुकी थी। उसने पुराने सामन्त-वर्ग का नाश करके विदेशियों को प्रोत्साहन दिया। उसने हिन्दुओं के प्रति अपने पूर्वाधिकारियों से अधिक उदारता तथा सहिष्णुता का व्यवहार किया और उनको बड़ी संख्या में अपनी सेना में भर्ती किया। जिस प्रकार रूस के पीटर महान् ने मास्को को छोड़कर पैट्रोग्राड को अपनी राजधानी बनाया उसी प्रकार मुहम्मद ने दिल्ली त्याग दी और दौलताबाद को उसका पद प्रदान किया। हर क्षेत्र में उसने सुधार आरम्भ किये और ऐसा लगता था कि उन्हें बिना पूरा किये उसे सन्तोष नहीं होगा। उसने सम्भवतः अलाउद्दीन से भी अधिक कठोरता के साथ उलेमा को चुनौती दी और उनकी शत्रुता मोल लेने से भी न डरा। डा० ईश्वरी प्रसाद का कथन है, "उस जैसे बुद्धिवादी विचारोंवाले व्यक्ति के लिये संकीर्ण साम्प्रदायिकता के प्रभावों के सामने झुकना असम्भव था उसका मस्तिष्क उसकी संस्कृति तथा विभिन्न जातियों के लोगों के सम्पर्क में आने के कारण उदार हो चुका था, इसलिये उसने उन चीज़ों को स्वीकार करने से इन्कार किया जो जन हित तथा स्वयं उसके प्रभुत्व से मेल नहीं खाती थीं। उसने उलेमा के दीर्घकाल से चले आये न्याय प्रशासन के एकाधिकार को समाप्त कर

दिया और सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय का स्वयं स्थान ग्रहण कर लिया, काजियों तथा मुफ्तियों के निर्णयों में सुलभकर संशोधन और परिवर्तन किये और आवश्यकतानुसार रद्द कर भी दिया। वक्फ सम्पत्ति के प्रबन्ध पर उसने कड़ी देख-रेख रखी और मुतवल्लियों को जिनमें अधिकतर शेख तथा मौलवी सम्मलित थे, भ्रष्टाचार के अपराधों में पदच्युत कर दिया। मुहम्मद का शासनकाल दार्शनिक बुद्धिवाद तथा धार्मिक मतवाद के बीच संघर्ष का काल था।"* यद्यपि फीरोज़ के शासनकाल में उलेमा का प्रभुत्व पुनः स्थापित हो गया, किन्तु मुस्लिम सल्तनत की नीति निश्चय रूप से एक नई दिशा में मुड़ चुकी थी और धार्मिक क्षेत्र को छोड़कर अन्य सभी विषयों में उदार हो चुकी थी। इसमें सन्देह नहीं कि मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद धार्मिक प्रतिक्रिया की जो लहर आई वह मुगलों के आक्रमण तक जारी रही किन्तु शासकों का बहुत कुछ भारतीयकरण हो चुका था, इसलिये अब देश शत्रु द्वारा घिरे हुए नगर के सदृश्य नहीं था। इसके बाद दिल्ली का इतिहास प्रान्तों में भी दुहराया गया, विशेषकर बहमनी राज्य में जिसकी स्थापना १३४७ ई० में हुई थी। हिन्दुओं पर भारी करों, उनके मन्दिरों के विध्वन्स तथा बलपूर्वक धर्मान्तरण के रूप में धार्मिक अत्याचारों की नीति अब भी जारी रही किन्तु केवल जहाँ-तहाँ। साथ ही साथ प्रबुद्ध तथा उदार हृदय मुस्लिम सुल्तानों का भी प्रादुर्भाव होने लगा था, जैसे काश्मीर में जैन-उल-आबिदीन (१४१७–६७ ई०) और बंगाल में हुसैनशाह (१४६३–१५१८ ई०)। ये लोग भावी पुनर्जागरण के अग्रदूत थे।

प्रशासन-सुधार

किसी राजनैतिक व्यवस्था की कसौटी उसकी विजय करने की शक्ति नहीं बल्कि सुप्रशासन-पद्धति होती है, किन्तु प्रशासन किसी भी समय पूर्णतया सन्तोष-जनक नहीं होता। उसका रूप बहुत कुछ उन परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है जिनमें उसे कार्यान्वित किया जाता है। देश और काल प्रत्येक सरकार के सार होते हैं किन्तु हम ऊपर यह भी दिखा आये हैं कि दिल्ली सल्तनत की प्रशासन व्यवस्था सुल्तानों तथा उनके अधीन अधिकारियों के चरित्र पर भी अवलम्बित थी। इसके अतिरिक्त उन तत्वों का भी महत्व था जिनसे अधीन प्रजा बनी थी। विजेताओं तथा विजितों में पारस्परिक सम्पर्क बढ़ने से युद्ध की अवस्था धीरे-धीरे समाप्त हो गई और उनमें मेल-जोल उत्पन्न होने लगा। इस सम्पर्क के सामाजिक तथा सांस्कृतिक पहलुओं पर आगे विचार किया जायगा। उससे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि मुस्लिम शासकों ने प्रशासन में क्या-क्या सुधार करना लाभप्रद समझा। बलबन से बाबर तक सरकार की पुनरीक्षा करने से स्पष्ट हो जायगा कि भारत में मुस्लिम शासन के विस्तार के साथ साथ प्रशासन में भी

* Quaraunah Turks. पृष्ठ २५७–५९।

सुधार होते गये। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि यह राजधानी में सुल्तानों तथा प्रान्तों में सूबेदारों के व्यक्तिगत चरित्र पर निर्भर था।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं सुल्तानों में गियासुद्दीन बलबन पहला व्यक्ति था जो सुयोग्य शासक भी निकला। उसने पहले बीस वर्ष नासिरुद्दीन मुहम्मद के अधीन मुख्य मंत्री के रूप में और फिर बीस वर्ष सुल्तान की हैसियत से शासन किया। इन चालीस वर्षों में जिस प्रकार उसने हिन्दुस्तान पर प्रभुत्व स्थापित रखा उस प्रकार पहले अन्य कोई सुल्तान नहीं रख सका था और तीन मुख्य कार्यों—देश को मंगोलों के आक्रमणों से बचाना, विद्रोही सूबेदारों का दमन करना और हिन्दुओं को कुचलना—के सम्पादन में उसे विशेष सफलता प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त उसने और भी बहुत कुछ किया। जैसा कि बरनी लिखता है, 'जिस ढंग से उसने सिंहासन की प्रतिष्ठा, सम्मान तथा प्रताप की रक्षा की उससे अधिक भलीभाँति और कोई नहीं कर सकता था।' जब उसने बदायूँ के मलिक बकबक और अवध के हैबत खाँ को, जो उच्च श्रेणी के अमीर थे कोड़े लगवा कर अपमानित किया तो न्याय प्रशासन में एक ऐसा उदाहरण स्थापित हो गया जिसका उसके बाद के मुस्लिम शासकों ने निर्दयता के साथ अनुसरण किया। मुहम्मद तुग़लक़ ने स्वयं भ्रात मसोऊद को दण्ड दिया और गुजरात के अहमदशाह ने अपने दामाद को फाँसी पर लटकवा दिया। ये तो केवल दो उदाहरण हैं इस प्रकार के अनेक उस युग के इतिहास में भरे पड़े हैं। मुस्लिम स्वेच्छाचारिता का यह पहलू वैध शासन के बहुत कुछ निकट था; विशेष व्यक्तियों के साथ कोई पक्षपात नहीं किया जाता था और मुस्लिम शासन की ऊपरी कठोरता के होते हुए भी यह एक श्लाघनीय वस्तु थी। कहा जाता है कि मुहम्मद तुग़लक़ के समय में राजकुमार मसूद की माता पर व्यभिचार का आरोप लगाया गया और इस्लामी विधि के अनुसार उसे पत्थरों से मार डाला गया। गरशस्प को राजद्रोह के अपराध में जो दण्ड भुगतना पड़ा उसका हम अनेक बार उल्लेख कर आये हैं। न्याय प्रशासन की इस कठोरता को फीरोज़ तुग़लक़ ने कम कर दिया और अनेक प्रकार की यातनाएँ हटाकर न्याय में दयालुता का पुट लगा दिया। उसका यह कार्य प्रशासन के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष में सराहनीय सुधार सिद्ध हुआ।

बलबन के बाद अलाउद्दीन ख़लजी आया जिसे हम प्रशासन के क्षेत्र में साहसी प्रयोगकर्ता कह आये हैं। इस मूल्यांकन की पुष्टि के लिये हमें सम्पूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है पाठक को वह इस पुस्तक में अन्यत्र मिल जायगा। स्वेच्छाचारी शासन का धर्म निरपेक्षीकरण, सैनिकों को जागीरें प्रदान करने की घातक प्रथा के स्थान पर नकद वेतन देने का नियम चलाना, सेना सम्बन्धी नियमित अभिलेख तथा सैनिकों की सूची रखना, पहिचान के लिये घोड़ों के दाग लगवाना, वस्तुओं तथा उनके मूल्य का नियन्त्रण और बाजार का संगठन,

मद्यपान का निषेध अथवा नियन्त्रण—उसका उद्देश्य कुछ भी रहा हो—ये सब सुधार प्रशासन की उन्नति की दृष्टि से विशेषतया प्रगतिशील सिद्ध हुए।

गियासुद्दीन तुग़लक प्रयोगकर्त्ता नहीं था, फिर भी अपने अल्प शासन-काल में उसने राज्य की समृद्धि के लिये प्रयत्न किये किन्तु वह समृद्धि उसके उत्तराधिकारी के तूफानी शासन से पहले की स्तब्धतामात्र सिद्ध हुई। पिछले वर्षों में सरकार के सभी विभागों में भ्रष्टाचार फैल गया था, गियासुद्दीन ने उसे दूर किया। यही उसका सबसे बड़ा सुधार था। वह भारत का पहला मुस्लिम सुल्तान था जिसने वास्तव में प्रजा के सुख को ध्यान में रखते हुए कार्य किया। उसने न तो स्वयं कोई ऐसा काम किया और न दूसरों को ही करने दिया जिससे प्रगति के मार्ग में बाधा पड़ती अथवा देश को कष्ट भोगने पड़ते। उसकी राजस्व नीति न्याय तथा अनतिता के सिद्धान्तों पर आधारित थी। उसने डाक-विभाग का पुनरुद्धार किया और उसने पुलिस तथा न्याय विभागों का संगठन इतना अच्छा था कि 'भेड़िया भेड़ को पकड़ने का साहस न कर सकता था।' यदि उसके बाद उसके पुत्र मुहम्मद के स्थान पर उसका भतीजा फीरोज सिंहासन पर बैठा होता तो देश एक प्रतिभासम्पन्न किन्तु अत्याचारी सुल्तान के प्रशासन-सम्बन्धी प्रयोगों से उत्पन्न कष्टों से बच जाता। किन्तु मुहम्मद ने भी, यद्यपि वह असम्भव आदर्शों के पीछे दौड़नेवाला था, प्रशासन-प्रणाली में अनेक सुधार किये। उसकी सांकेतिक मुद्रा तथा राजधानी-परिवर्तन सम्बन्धी योजनाओं की विफलता के कारण हमें उसकी उन अमर्यादग्ध सेवाओं को नहीं भूल जाना चाहिये जो उसने प्रशासन को उन्नतिशील बनाने के लिये की। मुद्रा को परिमार्जित करने के लिये उसने जो उपाय किये, उनका हम पहले उल्लेख कर आये हैं। दिल्ली से देवगिरि तक ७०० मील लम्बी सड़क बनवाना और यात्रियों के सुख और सुविधा के लिये साधन जुटाना स्वयं एक महान् सफलता थी। दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिये उसके वीरतापूर्ण प्रयत्न जैसे स्वर्गद्वारी में एक विशाल शिविर की स्थापना, खुले हाथों दान देना, भूमि-पड़ताल के लिये एक शाही कमीशन नियुक्त करना और कृषि की उन्नति के लिये आर्थिक सहायता देना आदि इस बात को सिद्ध करते हैं कि उसके विचार शुद्ध थे और महमूद गज़नवी—जो काफिरों के इस देश को धन की एक विशाल खान समझता और उसे लूटना तथा नष्ट करना अपना कर्त्तव्य मानता था—के समय से भारत के मुस्लिम शासक बहुत प्रगति कर चुके थे। मुहम्मद तुग़लक ने न तो काफिरों को लूटने का ही प्रयत्न किया और न नष्ट करने का, बल्कि उसने अपने स्वप्नों के अनुसार एक आदर्श राज्य का निर्माण करना चाहा, अन्य कोई व्यक्ति इससे अच्छा नहीं कर सकता था लेकिन उतावलापन तथा सावधानी के अभाव के कारण उसने अपने उद्देश्यों की ही जड़ें काट दीं। किन्तु, यद्यपि अपने उच्च आदर्शों की विफलता के लिये वह स्वयं जवाबदेह था, अलाउद्दीन की भाँति उसने भी उलैमा के विरुद्ध संघर्ष जारी रक्खा और प्रशासन को उदार बनाने के लिये उसे व्यापक रूप दिया। उसने सती-प्रथा को बन्द किया,

दरिद्रों की सहायता का प्रबन्ध किया, शिक्षालय तथा पाठशालाएँ खोलीं, कलाओं तथा उद्योग धन्धों को प्रश्रय दिया और इस प्रकार असंदिग्ध रूप से उसने सिद्ध कर दिया कि उसका उद्देश्य उदार प्रशासन-व्यवस्था की स्थापना करना था। यह नीति जिसको अलाउद्दीन खलजी ने आरम्भ किया था, गियासुद्दीन ने कायम रक्खा और मुहम्मद ने आगे बढ़ाया, फीरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी के समय में पराकाष्ठा पर पहुँच गई।

फीरोज तुगलक तथा सिकन्दर लोदी मुहम्मद तुगलक से इस बात में भिन्न थे कि उनका दृष्टिकोण संकीर्ण और साम्प्रदायिक था। किन्तु उनकी धार्मिक कट्टरता को छोड़कर उनके धर्मनिरपेक्ष प्रशासन के सिद्धान्त मुस्लिम राजनीति की उन प्रवृत्तियों के अनुरूप थे जिनकी हम ऊपर विवेचना कर आये हैं। फीरोज तथा सिकन्दर लोदी दोनों की प्रशासन व्यवस्थाओं का वर्णन पहले किया जा चुका है। फीरोज ने अनेक प्रकार की यातनाएँ बन्द कर दीं, बेकारी को दूर करने का प्रयत्न किया, मुसलमानों पर कर का बोझ हलका कर दिया, नहरों का एक सुन्दर व्यवस्था का निर्माण किया और सम्पूर्ण देश के सुख और सम्पन्नता में पर्याप्त वृद्धि की जिसके परिणामस्वरूप 'ईश्वर के आशीर्वाद तथा ऋतुओं की अनुकूलता के कारण राजधानी में ही नहीं अपितु सारे राज्य में आवश्यकता की वस्तुएँ प्रचुरमात्रा में उपलब्ध होने लगीं। ऐसे नियम बनाये गये जिससे रैयत धनी और सन्तुष्ट हुई उनके घर अन्न, सम्पत्ति घोड़ों तथा फर्नीचर से भरे रहते थे प्रत्येक व्यक्ति के पास पर्याप्त सोना और चाँदी थी कोई स्त्री ऐसी न थी जिसके पास आभूषण न हों और न किसी घर में सुन्दर चारपाइयों और पलंगों की कमी थी। धन खूब था और सभी लोग आराम से रहते थे। सम्पूर्ण दिल्ली सल्तनत पर सर्वशक्तिमान ईश्वर की कृपा थी।'

सिकन्दर लोदी तुर्कों से पहले महान दिल्ली सुल्तानों की परम्परा में अन्तिम था। उसने प्रशासन का केन्द्रीयकरण किया, अपने फरमान साम्राज्य के सभी भागों की जनता के सामने पढ़वाये, लेखा-परीक्षण की कठोर प्रणाली प्रचलित की, व्यापारियों तथा किसानों के हितों की रक्षा की, दरिद्रों को सहायता दी, उत्सवों के समय बन्दियों को मुक्त किया और साम्राज्य में होने वाली दैनिक घटनाओं पर कड़ी निगाह रक्खी। 'किसी को कभी अनियमित रूप से अपनी जागीर से वंचित नहीं किया गया और न कभी सुसंस्थापित रूढ़ियों की अवहेलना की गई। बाबर के आक्रमण के समय तक इसी प्रकार की भौतिक कल्याण की स्थिति कायम रही, यद्यपि सिकन्दर के उत्तराधिकारी इब्राहीम के शासन काल में भारी राजनैतिक उथल-पुथल हुई।' 'तारीखे दाऊदी' का रचयिता लिखता है :—

सुल्तान इब्राहीम के समय की सबसे अधिक असाधारण बात यह थी कि

अन्न, कपड़े तथा अन्य व्यापारिक वस्तुएँ इतनी सस्ती थीं जितनी सम्भवतः सुल्तान अलाउद्दीन के शासन को छोड़कर और कभी नहीं रहीं थीं, अलाउद्दीन के समय में इतनी सस्ती रही होंगी, इसमें भी सन्देह है।... एक बहलोली में दस मन अन्न खरीदा जा सकता था और पाँच सेर घी तथा दस गज़ कपड़े का भी इतना ही मूल्य था। अन्य वस्तुओं का भी बाहुल्य था; कारण यह था कि वर्षा ठीक उतनी ही हुआ करती जितनी की आवश्यकता होती और फसलें विशेष रूप से अच्छी होती थीं। उपज सदैव से दस गुनी बढ़ गई थी।... एक सम्मानीय व्यक्ति जिसे परिवार का पालन-पोषण करना पड़ता पाँच टंका प्रतिमास वेतन स्वीकार कर लेता। घुड़सवार को बीस से तीस टंका तक प्रतिमास वेतन मिलता था। यदि कोई यात्री दिल्ली से आगरा जाना चाहता तो एक बहलोली में उसका, उसके घोड़े तथा रक्षकों का मार्ग का खर्च बड़े आराम से चल जाता।'

उपर्युक्त उद्धरण एक अफगान प्रशंसक के ग्रन्थ से लिया गया है, जिसका उद्देश्य था पठान-शासन के स्वर्णिम अतीत का वर्णन करना, इसलिये इसमें अतिशयोक्ति की मात्रा अवश्य विद्यमान है, फिर भी इस चित्र से यह प्रकट होता है कि बलबन के समय से बाबर तक जो प्रशासन-सुधार किये गये थे, उनसे जनता की भौतिक सम्पन्नता में अवश्य पर्याप्त अभिवृद्धि हुई थी और विशेषकर खलजियों, तुगलकों तथा लोदियों के समय में।

सरकार की रचना

भारत में मुस्लिम शासन की कुछ मुख्य विशेषताओं की पड़ताल कर लेने के उपरान्त अब यहाँ सरकार की रचना के सम्बन्ध में भी दो शब्द लिखना उपयुक्त होगा। पहली बात हमें यह कहनी है कि दिल्ली सल्तनत के निर्माण से बहुत पहले पैगम्बर तथा खलीफाओं द्वारा स्थापित धर्मसापेक्ष शासन-व्यवस्था का स्थान राजतन्त्र ने ले लिया था और खिलाफत का प्रभुत्व नाममात्र के लिये स्वीकार किया जाता था। सभी सुल्तान एकशास्ता थे किन्तु उनमें से अधिकतर सनातनी मुसलमान थे, इसलिये वे कानूनों की व्याख्या के सम्बन्ध में उलैमा का निर्णय स्वीकार करते और बहुधा खलीफा के प्रति अपनी भक्ति की घोषणा किया करते थे। किन्तु शीघ्र ही भारत की विशेष परिस्थितियों के कारण उलैमा के प्रभाव से मुक्त होकर धर्मनिरपेक्ष समझदारी से काम लेना आवश्यक हो गया। भारत जैसे देश में जहाँ दुर्दमनीय काफिरों का बाहुल्य था, बयाना के मुगीसुद्दीन जैसे कट्टर काजियों के अव्यावहारिक सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन करना कठिन था। "ईश्वर ने हिन्दुओं का दमन करने की आज्ञा दी है" किन्तु हिन्दुओं का दमन न किया जा सका। "पैगम्बर ने यह भी आदेश दिया है कि उन्हें लूटा जाय और दास बनाया जाय" किन्तु लूटने तथा दास बनाने का काम भी बहुत दिनों कर लिया गया था और अब उसके लाभ का अनुपात दिन-प्रतिदिन घटने लगा

था। 'यदि कर वसूल करनेवाला किसी हिन्दू के मुँह में थूकना चाहे तो हिन्दू को अपने ओठ खोल देने चाहिये जिससे वह अपनी इच्छा पूरी कर ले" किन्तु हिन्दू बहुधा शहीद होना पसन्द करता था। इमादुद्दीन की सिन्ध विजय के समय से ही घृणित समझे जानेवाले काफिर के बिना काम चलना कठिन हो गया था। इन परिस्थितियों में उलेमा की असुत्तरदायित्वपूर्ण मंत्रणा पर सुल्तानों की व्यवहार बुद्धि की विजय हुई। यही कारण था कि अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक ने उलेमा के प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह किया। व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में अलाउद्दीन की यह घोषणा प्रशासन का नारा बन गई : "मैं नहीं जानता कि यह नियमानुमोदित है अथवा नियम विरुद्ध, मैं जो राज्य के लिए हितकर और अवसर विशेष के लिए उपयुक्त समझता हूँ, उसी के करने की आज्ञा देता हूँ।

इस प्रकार सुल्तान सर्वेसर्वा था। वही सम्पूर्ण शक्ति तथा न्याय का स्रोत था। वह राज्य का प्रमुख सत्ता प्रमुख तथा सेना का अध्यक्ष था। वह सबको वेतन देता, और उसकी इच्छा ही कानून थी। अमीर तथा अधिकारी उसके कृपाकांक्षी थे और उसके आदेशों का पालन करते थे। वह अपनी इच्छानुसार उनसे सलाह लेता अथवा उन्हें अपमानित करता। सामान्यतया तथा व्यवहार में सुल्तान से लेकर उसके अधीन पदाधिकारियों तक किसी का भी पद विरासत नहीं समझा जाता था। प्रत्येक को अपना स्थान अर्जित करना तथा अपनी योग्यता से बनाये रखना पड़ता था। योग्यतम ही जीवित रहता है इस निर्मम सिद्धान्त के अनुसार दुर्बल तथा अयोग्य नष्ट हो जाते थे। कभी कभी फीरोज़ तुग़लक जैसा मृदुल तथा उदार सुल्तान विरासत उपाधियों को भले ही स्वीकार कर लेता किन्तु यह अपवाद था, नियम नहीं।

(१) सुल्तान के नीचे नाइब था जो उसकी राजधानी से अनुपस्थिति के समय राजकाज चलाता था। मलिक काफूर, राजकुमार जूनाखाँ और खानेजहाँ मकबूल कुछ सुप्रसिद्ध व्यक्ति थे जिन्होंने इस पद पर काम किया था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रान्तीय सूबेदार भी सुल्तान के प्रतिनिधि होने के नाते, नाइब सुल्तान कहलाते थे।

(२) काज़ी उल कुज़ात अथवा प्रधान न्यायाधीश जो सद्रे जहाँ भी कहलाता था, न्याय-विभाग का अध्यक्ष था और उसके नीचे (क) काज़ी जो फैसला सुनाता, (ख) मुफ्ती जो कानून की व्याख्या करता, (ग) कोतवाल अथवा सरकारी अभियोजक (घ) मुहतसिब आदि अनेक पदाधिकारी तथा गुप्तचरों की एक सेना थी। हाकिम दण्डाधीश था। जिस क़ानून के अनुसार प्रशासन होता वह कुरान तथा हदीस का इस्लामी क़ानून था किन्तु असैनिक विषयों में हिन्दुओं को अपनी पंचायतों के रूप में न्याय सम्बन्धी स्वायत्तता मिली हुई थी। मीर अर्ज़ नामक एक अन्य अधिकारी भी था जिसके सुपुर्द आवेदन-पत्र स्वीकार करने का कार्य था।

(३) वित्त-विभाग के मुख्य पदाधिकारी (क) दीवाने अश्राफ अथवा महा-लेखाकार, (ख) मुस्तौफी अथवा महालेखा परीक्षक और बख्शी-ई-फौज थे, वे सब वज़ीर तथा दीवाने-विज़ारत अथवा राजस्व-कार्यालय के अधीन कार्य करते थे।

(४) हाजिब अथवा गृह-प्रबन्धक,

(५) वकीले-दार अथवा कुंजियाँ रखनेवाला,

(६) अमीरे-अखुर अथवा अस्तबलों का अध्यक्ष,

(७) मीर इमारत अथवा मुख्य इञ्जीनियर,

(८) अमीर कोही अथवा कृषि-विभाग का संचालक,

(९) शेख-अल इस्लाम अथवा राज्य का मुख्य धर्माधीश आदि अन्य महत्त्व-पूर्ण पदाधिकारी थे।

प्रान्तीय सरकारें भी लगभग केन्द्र के ही अनुरूप थीं और सूबेदार सुलतान का ही प्रतिरूप था। इस युग में राजस्व को ठेकेदारों द्वारा वसूल करवाने की प्रथा का ही अधिकतर चलन रहा और सम्पूर्ण साम्राज्य अगणित सैनिक जागीरों में बँटा हुआ था। राजधानी में रहनेवाली शाही-सेना की संख्या मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल में सबसे अधिक थी। युद्ध के समय प्रान्तों से भी सेनाएँ आ जाती थीं जिनका खर्च जागीरों की आय में से किया जाता था। अलाउद्दीन खलजी के समय से घोड़ों की सूची रखने की परिपाटी चल निकली थी। डाक-विभाग भी था जो पर्याप्त सफलता के साथ कार्य करता था और जिसके द्वारा राजधानी का प्रान्तों से निकट सम्पर्क कायम रहता था। इस व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिये थोडी-थोड़ी दूर पर पैदल और घुड़सवार नियत कर दिये जाते थे—कभी एक कोस के लिये तीन और कभी कभी चार मील के लिये एक। डा० ईश्वरीप्रसाद ने इस व्यवस्था का अधोलिखित शब्दों में रोचक वर्णन किया है।

"प्रत्येक चौकी पर दस तेज दौड़नेवाले हरकारे नियुक्त किये जाते थे, यात्रा के लिये वे सुसज्जित रहते और अपने साथ लाठियाँ रखते जिनके सिरों पर घुंटियाँ बँधी रहती थीं। पत्रों तथा संदेशों को एक से दूसरे स्थान को लेजाना उनका काम था। हरकारा एक हाथ में पत्र लेता और दूसरे में लाठी जिसकी लम्बाई दो गज होती थी और पूरी रफ्तार से दौड़कर दूसरे हरकारे को जो पहले से तैयार रहता, पत्र दे देता। इस प्रकार लम्बी दूरी के बावजूद पत्र एक से दूसरे स्थान पर बड़ी सरलता तथा तेजी से पहुँचा दिये जाते थे। कभी-कभी इस डाक के द्वारा सुल्तानों के लिये फल तथा खाद्य पदार्थ भी लाये जाते थे। प्रत्येक डाक-चौकी पर राज्य की ओर से यात्रियों की सुविधा के लिये मस्जिदें, पीने के पानी की बावड़ियाँ और बाजार बनवा दिये गये थे जहाँ लोग आवश्यकता की वस्तुएँ खरीद सकते थे। कभी-कभी इस डाक द्वारा घोर अपराधियों को तुरन्त दण्ड देने

के लिये केन्द्रीय सरकार की अथवा प्रान्तों की राजधानियों में पहुँचाया जाता था। दिल्ली तथा दौलताबाद के बीच प्रत्येक चौकी पर ढोल रख दिये गये थे और जब कभी उनमें से किसी नगर में कोई असाधारण घटना घटती तो उन्हें बजा दिया जाता था और इस प्रकार सुल्तान को अपनी अनुपस्थिति में होनेवाली दूसरे नगर की घटनाओं का शीघ्र ही समाचार मिल जाता था। इब्नबतूता लिखता है कि जब सुल्तान दौलताबाद में था तो इसी डाक के द्वारा उसके पीने के लिये गंगाजल पहुँचाया जाता था।"

जिन दिनों साम्राज्य का विस्तार सबसे अधिक था, उस समय उसमें तेईस प्रान्त थे।

(१) बदायूँ, (२) बिहार, (३) दिल्ली (४) देवगिरि (५) द्वार समुद्र (६) गुजरात, (७) हांसी, (८) जाजनगर (९) कश्मीर, (१०) कन्नौज, (११) कड़ा, (१२) कुहराम, (१३) लाहौर (१४) लखनौती, (१५) मालवा, (१६) माबर (१७) मुल्तान, (१८) अवध, (१९) समन, (२०) सेहवान, (२१) सिरसुती, (२२) तिलंग और (२३) उच।

काफ़िरों के साथ व्यवहार

कभी-कभी अतिशय बाहुल्य के बीच भी इस देश को दुर्भिक्ष का शिकार होना पड़ा है और उसके कारण एक बार में ही सहस्रों लोगों के प्राण गये हैं। विजेताओं ने लूट मार तथा युद्धों द्वारा देश को उजाड़ा और मन्दिरों तथा राजकोषों से अपार धन लूटा। इस धन को उन्होंने बड़ी बड़ी सेनाएँ एकत्र करने और अपनी राजधानियों में भोग-विलासमय जीवन बिताने में व्यय किया। मुसलमानों के आगमन से पहले जब कभी राजा लोग गाँवों की उपेक्षा करते तो उनके निवासी स्वयं अपनी टाँगों पर खड़े होकर अपने मामलों का प्रबन्ध कर लिया करते थे। युद्ध के समय में भी ग्रामीणों को किसी प्रकार से सताया नहीं जाता था। किन्तु मुसलमान आक्रमणकारियों ने इस नियम का पालन नहीं किया। जो व्यक्ति शक्ति तथा वैभव प्राप्त करने के लिये अपने निकटतम सम्बन्धियों की हत्या करना भी बुरा नहीं समझते थे उनसे काफिर जनता को छोड़ देने की आशा नहीं की जा सकती थी। वे अवस्था अथवा लिंग का भी कोई ध्यान न रखते और पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों का समान रूप से संहार करते, उन्हें दास बनाते और इस्लाम अंगीकार करने पर बाध्य करते। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार कभी-कभी मृतकों के ढेर सड़ने के लिये छोड़ दिये जाते जिससे मीलों तक चारों ओर का वातावरण दूषित हो जाता। यद्यपि विदेशियों ने देश में प्रलय मचा रक्खी थी, फिर भी बहुसंख्यक जनता हिन्दू ही बनी रही किन्तु अपने पूर्वजों के धर्म पर डटे रहने के लिये उन्हें भारी मूल्य चुकाना पड़ता था। जिजया के अतिरिक्त हिन्दुओं को अन्य कर भी अनुपात से अधिक देने पड़ते थे। इस्लामी परम्पराओं

के अनुसार काफिरों के साथ अनुचित भेद-भाव करना ही ठीक नहीं था बल्कि मुसलमानों का यह कर्तव्य माना जाता था कि वे हिन्दुओं से सीमित धार्मिक अधिकारों के बदले में अधिक से अधिक धन खसोटें। खलीफा उमर द्वितीय ने एक आदेश जारी किया था जिसके अनुसार ज़िम्मियों से सामान्य से दूना व्यापार-कर वसूल करने की आज्ञा दी गई थी। एक दूसरे खलीफा अल-मुतवक्किल ने नियम जारी किये जिनमें बतलाया गया कि ईसाई लोग कैसे वस्त्र पहिन सकते और कैसी काठियों का प्रयोग कर सकते थे। हम पहले लिख आये हैं कि भारत में अलाउद्दीन खलजी ने भी इसी प्रकार की नीति का अनुसरण किया था। उसका विचार था कि 'हिन्दू तब तक नम्र और आज्ञाकारी नहीं होंगे जब तक उन्हें दरिद्र नहीं बना दिया जाता।' इसलिये उन्हें जिज़या तथा भैंसों, बकरियों और दुग्ध-पशुओं पर अनेक कर देने के अतिरिक्त भूमि की उपज का आधा राजकोष में जमा करना पड़ता था। 'मेरी आज्ञा से वे चूहों की भाँति बिलों में घुसने के लिये तैयार हैं।' उनके पास इतना भी धन नहीं छोड़ा जाता था कि "वे घोड़े पर चढ़ सकते, हथियार बाँध सकते, बढ़िया वस्त्र पहिन सकते अथवा जीवन की अन्य किसी विलास वस्तु का प्रयोग कर सकते।" अधिकतर मुस्लिम शासकों के समय में हिन्दुओं की सामान्यतया यही दशा रही। मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में शायद इस कठोरता में कुछ कमी आई हो किन्तु जहाँ तक दिल्ली का सम्बन्ध था, वह एक अपवाद था। उसके बाद मुग़लों के आने तक प्रतिक्रियावादी सुल्तानों के शासन में हिन्दुओं को इस अस्थायी ढील का भी बदला चुकाना पड़ा। यदि कभी हिन्दू माता से उत्पन्न कोई सुल्तान सिंहासन पर बैठता अथवा कोई ब्राह्मण मुख्य मंत्री बन जाता तो भी स्थिति में कोई परिवर्त्तन नहीं होता था; इसके विपरीत—किसी विचित्र नियम के अनुसार जिसका अनुसन्धान करना लाभप्रद होगा—वे साधारण मुसलमानों से भी अधिक धर्मान्ध सिद्ध होते थे, जैसे फीरोज़ तुग़लक और खाने-जहाँ मक्बूल। इन दोनों के समय में ब्राह्मणों से भी जो अब तक मुक्त रहे थे, जिज़िया वसूल किया गया और मुसलमानों पर से जिनका बोझ पहले से ही हलका था अनेक ऐसे कर हटा दिये गये जिनका इस्लाम में विधान नहीं था। ["सनातनी विधिविज्ञों के अनुसार राज्य की आय के मुख्य साधन थे: (१) जिज़या जो अधीन प्रजा से वसूल किया जाता था, (२) उशैर अथवा उपज का दशांश जो राज्य की भूमि जोतने वाले मुसलमानों को देना पड़ता था, (३) व्यापार-कर, (४) अधीन प्रजा से की गई प्राकृतिक उपज की वस्तुएँ, (५) विदेशी शक्तियों से कर, (६) युद्ध में प्राप्त लूट के धन का ⅕ और (७) खिराज अथवा गैर-मुसलमानों से भूमि-कर"]* फीरोज तुग़लक तथा मकबूल की हिन्दुओं पर धार्मिक अत्याचार की नीति उस समय पराकाष्ठा को पहुँच गई जब उन्होंने एक ब्राह्मण को सार्वजनिक रूप से अपने धर्मानुसार पूजा करने तथा

* डा० ईश्वरी प्रसाद : Medieval India, पृष्ठ ७१।

मुस्लिम मतों को अपनी ओर आकृष्ट करने के अपराध में महल के फाटक के सामने जीवित जलवा दिया। एक अन्य निरंकुश सुल्तान सिकन्दर लोदी को जिसका अपने सहधर्मियों के प्रति अधिकाधिक उदारतापूर्ण बर्ताव था, हिन्दुओं के मन्दिरों को अपवित्र करने और तोड़ने से ही सन्तोष नहीं हुआ इसलिये उसने उन्हें यमुना के पवित्र घाटों पर स्नान करने से रोका और यहाँ तक कि नाइयों को उनकी दाढ़ियाँ न मूँड़ने की आज्ञा दी। बहमनी सल्तनत में जब एक बार अकाल पड़ा तो उसके सुल्तान ने मालवा और गुजरात से नियमपूर्वक अन्न मँगाया और अपने राज्य में उसे कम मूल्य पर बेचा किन्तु 'केवल मुसलमानों को ही।" उसी वंश के महमदशाह ने विजयनगर की लूट के उपलक्ष में २०,०० बन्दी बनाये गये पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों का वध करवा दिया और फरिश्ता के अनुसार मुहम्मदशाह बहमनी ने अपने राज्य-काल में ५ ०,००० हिन्दुओं की हत्या की। तिमूर ने दिल्ली में प्रवेश करने से पहले १००,००० हिन्दू बन्दियों का कत्ल करवा दिया; उस समय मौलाना नासिरुद्दीन उमर जैसे धार्मिक विद्वान ने भी, जिसने अपने जीवन में कभी एक गौरय्या को भी नहीं मारा था अपने हाथों पन्द्रह हिन्दुओं का वध किया; यह उदाहरण भारत के पुण्यात्मा काफिरों के प्रति मुस्लिम विजेताओं की नीति का द्योतक है। किन्तु इस उपद्रव, वेदना और नरसंहार में से एक नई व्यवस्था का उठ खड़ा होना अनिवार्य था। इस राजनैतिक सुधार आन्दोलन का विशिष्ट काश्मीर का ज़ैन उल आबिदीन था।

देश की दशा

तेरहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक भारत की क्या दशा थी, यह जानने के लिये हमें तीन अच्छे साक्षियों का वर्णन उपलब्ध है। यह भी भाग्य की बात है कि वे तीनों विदेशी थे। वे थे: (१) वेनिस का निवासी मार्को पोलो जिसने १२८८ और १२९३ ई० के बीच दक्षिण भारत की यात्रा की थी, (२) मोरक्को का इब्नबतूता जिसने १३३३ और १३४२ ई० के बीच देश के बहुत से भागों का भ्रमण किया था और (३) चीनी मुसाफिर मह्वान जो १४०६ ई में बंगाल आया। मुसलमान इतिहासकारों को केवल, 'राजाओं, दरबारों और विजयों के प्रशस्ति पूर्ण वृत्तान्त में ही रुचि थी; उसे पढ़ने के बाद उपर्युक्त विदेशी लेखकों के ग्रन्थों से जनता के साधारण जीवन के विषय में जानकारी प्राप्त करके हमें अवश्य कुछ आनन्द मिलेगा। इनके अतिरिक्त ईरानी वसाफ़ जैसे अन्य लेखक भी थे जिनका हम पहले उल्लेख कर आये हैं।

उपर्युक्त सभी लेखक इस विषय में एक मत हैं कि देश सामान्यतया धन धान्यसम्पन्न था, विशेषकर बंगाल, मालवा और गुजरात के प्रान्त। मार्को पोलो तथा इब्नबतूता दोनों ही लिखते हैं कि कायल कालीकट, खम्भात और भड़ौच उन्नतशील व्यापार के केन्द्र थे। चिन, इन्डोचीन, ज़फ़र, सोहर आदि से व्यापारी

आते, घोड़े, सोना, चाँदी और ताँबा लाते तथा अपने साथ जड़ी-बूटियाँ, गोंद, काली मिर्च, अदरख, नील आदि यहाँ से ले जाते थे। ताम्रपर्णी पर स्थित कायल बहुमूल्य मोतियों के व्यापार के लिये प्रसिद्ध था; मार्को पोलो ने उसे "एक महान् और सुन्दर नगर' कहा है। कपास मुख्य उपज थी और सारे देश में उसकी खेती होती थी; उसके पौधों की लम्बाई पूरे 'छः कदम' होती थी। तेलुगू देश में लोग सुन्दर सूती कपड़े पहनते थे। मार्को पोलो लिखता है, "वे इतने चिकने हैं कि मकड़ी के जाले के सदृश्य प्रतीत होते हैं; संसार में ऐसा कोई राजा अथवा रानी न होगी जो उन्हें पहनकर प्रसन्न न हो।" वह आगे लिखता है कि, "इस देश के लोगों के पास जो भेड़ें हैं वे संसार में सबसे बड़ी हैं और देश में जीवन-निर्वाह की सभी चीज़ों का बाहुल्य है।" माबर में माता-पिता तेरह वर्ष की अवस्था से ही अपने बालकों को कुशल व्यापारी बनाने के लिये शिक्षा दिया करते थे। गुजरात के व्यापारी संसार में सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक सच्चे थे। विदेशी व्यापारियों ने उन्हें बहुत ईमानदार पाया क्योंकि वे बहुत उत्साह के साथ विदेशियों को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करते थे और जो कमीशन वे प्रसन्न होकर उन्हे दे देते उससे अधिक वे न माँगते थे।

माने हुये बन्दरगाहों को छोड़ कर, समुद्रों में सर्वत्र डकैती का बोलबाला था किन्तु स्थल मार्गों से यात्रा करना अधिक संकटास्पद नहीं था। मार्को पोलो लिखता है कि घोड़ों की इतनी माँग है कि भारत में शायद ही कोई ऐसा जहाज़ आता हो जो अन्य सामग्री के साथ घोड़े न लाता हो। थाना के राजा ने सामुद्रिक डकैती की आज्ञा इस शर्त पर दे रखी थी कि पकड़े हुये सभी घोड़े राज्य के सुपुर्द कर दिये जायँगे। भारतीय डाकू अपने शिकार को मारते नहीं थे और यह कहकर छोड़ देते थे, "भाग जाओ और खूब लाभ कमाओ, हमारे ऊपर भी यही विपत्ति आयगी।" टालमटूल करने वाले कर्जदारों से ऋण वसूल करने की विचित्र प्रणाली प्रचलित थी। यदि साहूकार ऋणी के आस-पास एक वृत्त खींचने में सफल हो जाता तो फिर ऋणी उसकी आज्ञा के बिना उसके बाहर जाने का साहस न करता क्योंकि उसे क़ानूनी दण्ड पाने का भय रहता था। मार्को पोलो ने एक विदेशी व्यापारी को एक राजा के साथ इसी प्रकार का बर्ताव करते देखा था।

तैलिंगाना में रानी रुद्रम्मा शासन करती थी, "वह विवेकशील स्त्री थी।" चालीस वर्ष तक "उसने राज्य पर उसी प्रकार शासन किया जिस प्रकार उसके पति ने किया था बल्कि उससे भी अच्छी भाँति और चूँकि उसे न्याय और शान्ति से प्रेम था, इसलिये उसकी प्रजा जितना उससे प्रेम करती थी उतना उसने पहले किसी राजा और रानी से नहीं किया था।" अनेक स्त्रियाँ अपने पतियों की मृत्यु के उपरान्त उनके शरीर के साथ जल कर मर जाती थीं और इसके लिये उनकी बड़ी प्रशंसा होती थी। हिन्दू लोग कट्टर निरामिष भोजी थे और मदिरा भी नहीं पीते थे; वे केवल पान से ही सन्तोष कर लेते थे। वे अत्यधिक साफ-सुथरे रहते और छूत से बचने के लिये सबके बर्तनों से पानी नहीं

पीते थे। मार्को पोलो की दृष्टि में वे अन्ध-विश्वासी भी थे और "फलित ज्योतिष जादू, टोना और शकुनों आदि शैतानी कलाओं में' विश्वास करते थे। गुजरात के ब्राह्मण पक्के मूर्तिपूजक थे और इनमें से कुछ (दिगम्बर जैन) पूर्णतया नंगे रहते और कहते "हमने कोई शारीरिक पाप नहीं किया है जिसकी लज्जा हमको हो और इसलिये हमें अपनी नग्नता पर शर्म नहीं आती ।" मार्को पोलो ने यह भी लिखा है कि "वे किसी भी दशा में किसी जीव को नहीं मारते; मक्खी, पिस्सू, जूएँ अथवा अन्य किसी भी जीवधारी को नहीं क्योंकि उनका कहना है है कि उनके भी आत्मा है और उन्हें मारने से पाप लगेगा।'

इब्नबतूता ने लोगों के जीवन का जो वृत्तान्त दिया है वह भी इतना ही रोचक और मूल्यवान है। वह लिखता है कि यद्यपि हिन्दू जाति नियमों का कठोरता से पालन करते हैं किन्तु अतिथि-सत्कार की भावना उनमें कूट कूट कर भरी है। धन गाड़ कर रखने की प्रथा सामान्य थी और इब्नबतूता भी ऋण सम्बन्धी उस विचित्र नियम की पुष्टि करता है जिसका उल्लेख मार्को पोलो ने किया है। यदि किसी बड़े अमीर पर किसी का ऋण होता तो साहूकार महल को जाते समय उसका मार्ग रोक कर खड़ा हो जाता और सुल्तान की सहायता प्राप्त करने के लिये चिल्लाता। ऋणी या तो घबड़ाकर कर्ज़ चुका देता अथवा भविष्य में चुकाने का निश्चित वचन देकर पिण्ड छुड़ाता। आवश्यकता पड़ने पर सुल्तान भी हस्तक्षेप करता और ऋणी को ऋण अदा करने पर बाध्य करता। इब्नबतूता ने मर्मक्तायम नामक उत्तराधिकार नियम का भी उल्लेख किया है; यह नियम मालाबार में सदैव से चला आया है और इसके अनुसार किसी व्यक्ति का औरस पुत्र नहीं बल्कि उसका भानजा उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता है। मालाबार का दण्ड-विधान भी अत्यधिक कठोर था चोरी के लिये चाहे अपराधी ने एक नारियल ही चुराया हो, मृत्यु दण्ड मिलता था। इब्नबतूता को यह देखकर आश्चर्य हुआ था कि पश्चिमी तट के निवासी शिक्षा की ओर बहुत ध्यान देते थे। उदाहरण के लिये यात्री ने होनावर में तेरह लड़कियों और इक्कीस लड़कों की पाठशालाएँ देखी थीं। कालीकट समृद्धिशाली बन्दरगाह था और संसार के सभी देश के व्यापारी वहाँ आया-जाया करते थे।

हम पहले लिख आये हैं कि बंगाल को मुसलमान लोग 'सुन्दर वस्तुओं से परिपूर्ण नरक' मानते थे। इब्नबतूता ने भी उसे समृद्धिशाली तथा उपजाऊ प्रान्त कहा है। देश के अन्य भागों की भाँति यहाँ भी वस्तुओं का मूल्य कम था और थोड़ी आयवाले व्यक्ति भी सुख और आराम से जीवन बिताते थे। महुअन लिखता है कि बंगाल में वैदेशिक व्यापार तथा जहाज-उद्योग उन्नतावस्था में था। प्रान्त में गेहूँ, पटसन, अदरक, दालें और शाक भारी मात्रा में उत्पन्न होतीं और चावल की वर्ष में दो फसलें हुआ करती थीं। यद्यपि अधिकतर लोग पान से ही सन्तोष कर लेते थे और देश में चाय नहीं पैदा की जाती थी, फिर भी चावल और नारियल से खमीर उठाकर पेय बना लिये जाते थे। सबसे महत्वपूर्ण निर्मित

उत्पाद सफेद कागज था, जो एक पेड की छाल से तैयार किया जाता और हिरण की खाल के सदृश चिकना और चमकीला होता था, इसके अतिरिक्त ज़री के काम के रेशमी वस्त्र, चित्रित वस्तुएँ, थाल, प्याले, फौलाद की चीजें, बन्दूकें, चाकू, कैंचियाँ आदि अधिक प्रसिद्ध थीं।

इसी प्रकार वसाफ ने गुजरात को धनी तथा घना बसा हुआ देश बतलाया है, जिसमें धन-धान्य से परिपूर्ण ७००० नगर तथा गाँव थे। किन्तु जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, कभी-कभी दुर्भिक्ष के समय जनता पर इतनी भारी विपत्ति टूट पड़ती थी कि बहुत से लोग क्षुधा जनित वेदना न सह सकने के कारण नदियों में डूब कर प्राण उत्सर्ग कर दिया करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि चीज़ों का भाव सस्ता था किन्तु हिन्दुओं को अपने मुस्लिम शासकों के उत्पीडन की चक्की में निरन्तर पिसना पड़ता था। अपने ही देश में जहाँ साधारणतया दूध और शहद की नदियाँ बहती थी उनकी स्थिति 'लकड़हारों और भिश्तियों' की-सी होगई थी। फीरोज़ तुगलक के समय में केवल दिल्ली और उसके अधिकृत प्रदेश में की आय छः करोड़ और पचासी लाख टका तक पहुँच गई थी। किन्तु यह धन मुख्यतया हिन्दुओं को लूट कर जमा किया जाता था। राज्य की ओर से दान तथा लोकहित के कार्यों में जो धन व्यय होता था उसमें उनका भाग नहीं था क्योंकि वे सब मुख्यतया मुसलमानों के ही लिये थे। ऐसी परिस्थितियों में फीरोज़ जैसे धर्मान्ध सुल्तान उनकी विवशता से लाभ उठाते और उन बेचारों को भारी संख्या में धर्मान्तरित करके स्वर्ग में पुण्य कमाते।

फीरोज अपनी आत्मकथा में लिखता है, 'मैंने अपनी काफिर प्रजा को पैगम्बर का धर्म अंगीकार करने के लिये प्रेरित किया और घोषणा की कि जो भी व्यक्ति कलीमा पढ़ेगा और मुसलमान बन जायगा उसे जिजया से मुक्त कर दिया जायगा। यह समाचार सामान्य जनता के कानों तक पहुँचा, बड़ी संख्या में हिन्दू उपस्थित हुए और उन्हें मुसलमान होने का सम्मान प्रदान या गया। इस प्रकार वे दिन-प्रतिदिन हर दिशा से आते रहे और इस्लाम अंगीकार कर लेने पर उन्हें जिज़या से मुक्त कर दिया गया और भेंट तथा सम्मान देकर अनुग्रहीत किया गया।

[जिज़या की तीन दरें थी, (१) ४० टका (२) २० टका और (३) १० टंका। फीरोज़ के समय में ब्राह्मणों को दस टंका तथा पचास जीतल देना पड़ता था। टौमस के अनुसार १४ वीं शताब्दी में ६४ टका का एक जीतल होता था। एक टका में १७५ ग्रेन चाँदी होती थी; बाद के रुपये में १८० ग्रेन होने लगी।]

सांस्कृतिक समन्वय

अरबों की सिन्ध-विजय के परिणामों की पुनरीक्षा करते समय हम लिख आये हैं कि यद्यपि विदेशी युद्ध में विजयी हुए थे किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से विजितों ने ही उन्हें जीत लिया था और सिन्ध में अरबों का इतिहास भारत में इस्लाम के इतिहास का संक्षिप्त रूप था। राजनैतिक दुर्बलता के होते हुए भी मध्ययुगीन

भारत सांस्कृतिक दृष्टि से इतना सजीव तथा सबल था कि बंगाली सन्त श्री चैतन्य की उपमा का प्रयोग करते हुए हम कह सकते हैं कि वह उस वृक्ष के सदृश था जो उसे काटनेवालों को भी छाया प्रदान करता है, 'वह वर्षा आँधी तथा सूर्य की किरणें सहन करता है और फिर भी सुगन्धित पुष्प तथा सुमधुर फल देता रहता है।' ई० बी० हैवेल के शब्दों में, "इस्लाम ने भारत के राजनैतिक केन्द्रों पर अधिकार कर लिया, उसकी सेनाओं को नियन्त्रित किया और उसके राजस्व को हड़प लिया किन्तु फिर भी उसने अपनी सबसे प्रिय वस्तु मानसिक साम्राज्य को हाथ से नहीं जाने दिया और उसकी आत्मा ने कभी घुटने नहीं टेके।" वह अन्यत्र लिखता है कि उस वीर क्षत्राणी फीरोज़ की माता की भाँति भारत ने भी अपने शरीर को विजेताओं के अपयश कर दिया जिससे उसके गर्भ से एक नया इस्लाम जन्म ले सके। वास्तव में उसने जो कुछ युद्ध क्षेत्र में खो दिया था उसे अपने आध्यात्मिक अस्त्रों द्वारा पुनः विजय कर लिया। मध्ययुगीन इतिहास के इस पक्ष का अध्ययन आकर्षक तथा लाभप्रद होगा किन्तु हमें यहाँ कुछ थोड़े से तथ्यों से सन्तोष करना पड़ेगा जिनसे समन्वय की वह प्रक्रिया स्पष्ट हो जायगी जो प्रारम्भ में अज्ञात होते हुए भी, मुसलमानों के इस देश में स्थायीरूप से बस जाने के समय से ही आरम्भ हो गई थी। किन्तु प्रभाव दोनों का ही एक दूसरे पर पड़ा। "हिन्दू धर्म, हिन्दू कला, हिन्दू-साहित्य तथा हिन्दू विज्ञान ने ही इस्लामी तत्वों को आत्मसात नहीं किया बल्कि हिन्दू-संस्कृति की आत्मा तथा हिन्दू मस्तिष्क के मूल तत्व में ही परिवर्तन हो गया और दूसरी ओर मुसलमानों ने जीवन के सभी क्षेत्रों में हिन्दुओं का प्रभाव स्वीकार कर लिया।" *

इन दो सांस्कृतिक धाराओं के मिलन को दो निश्चित वर्गों में विभक्त करना अधिक सुविधाजनक होगा। (१) कला तथा स्थापत्य (२) साहित्य तथा धर्म।

कला तथा स्थापत्य

मुद्रा—मुस्लिम भारत में सजावट तथा स्थापत्य के अतिरिक्त केवल सिक्के ही कला का अन्य रूप थे। मुस्लिम सुलतानों के सम्बन्ध में जानकारी के जितने भी असंदिग्ध तत्कालीन साधन उपलब्ध हैं और जिनसे हम बहुत कुछ सीखते हैं, उनमें सिक्कों का अत्यधिक महत्व है। उनकी छिपाई में लिखावट टकसाली चिन्ह तथा उत्कीर्ण लेख आदि ऐसे साधन हैं जिनसे बहुत ही रोचक जानकारी प्राप्त होती है। सिक्के ढलवाना सुलतानों का ही विशेषाधिकार था और वे ईर्षापूर्वक उसकी रक्षा करते थे किन्तु उनके भद्दे और हीन होने के कारण जाली सिक्कों के बनने का भय सदैव ही बना रहता था। सुलतान की उपाधियों तारीख़ तथा टकसाल के नाम आदि से हमें राज्य का विस्तार तथा सुलतान की स्थिति तथा चरित्र के

* डा० ताराचन्द Influence of Islam on Indian Culture, पृष्ठ १३७।

सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञात हो जाता है। उदाहरण के लिये, मुहम्मद तुग़लक के सिक्के दिल्ली, दौलताबाद तथा अनेक प्रान्तीय राजधानियों में ढाले गये थे और कम से कम पच्चीस भिन्न प्रकारों के थे। इनमें सांकेतिक मुद्रा के सिक्के भी सम्मिलित थे। उनमें दिये हुये तथ्यों से इस मुद्रा प्रयोग की तिथि निश्चित होती है। आदर्श वाक्यों में 'ईश्वर के लिये युद्ध करनेवाला' 'जो सुलतान की आज्ञा मानता है वह दयालु ईश्वर की आज्ञा का पालन करता है' आदि सम्मिलित हैं और कुछ में सुल्तान के स्थान पर काहिरा के खलीफा का नाम खुदा हुआ मिलता है। कुछ सिक्कों पर देवनागरी में भी लेख अंकित हैं। इस्लाम ने अपने को किस प्रकार विजित देश की परिस्थितियों के अनुकूल बना लिया था, इस सम्बन्ध में प्रारम्भिक सिक्के अत्यधिक शिक्षाप्रद हैं। उदाहरण के लिये, मुहम्मद ग़ोरी के सोने के सिक्के "जो कन्नौज के हिन्दू राजाओं के सिक्कों के नमूने पर ढाले गये थे और जिनके अग्रभाग पर देवी लक्ष्मी की प्रतिमा अंकित है, मैसूर के हैदरअली के सोने के सिक्कों को छोड़कर, इस्लामी इतिहास में बेजोड़ हैं।" 'देहलीवाला' नाम के सिक्के जिनके अग्रभाग पर कुब्बड़दार नांदिया और देवनागरी में सुल्तान का नाम तथा उलटी ओर दिल्ली चौहानों के ढंग का अश्वारोही अंकित है, अलाउद्दीन मसूद के शासन-काल (१२४१–४६ ई०) तक चलते रहे। इस वर्ग के कुछ सिक्कों पर इल्तुतमिश के साथ नरवर के चाहड़देव का नाम जुड़ा हुआ है। एक विचित्र नमूना ऐसा है जिसके अग्रभाग पर मुहम्मद बिन साम का और उलटी ओर पृथ्वीराज का नाम अंकित है।

स्थापत्य—जिस प्रकार दिल्ली सुलतानों के प्रारम्भिक सिक्कों में हिन्दू तथा मुस्लिम परम्पराओं का मेल हुआ, वैसे ही दोनों की स्थापत्य शैलियों ने मिलकर तथाकथित हिन्दू-सारसानी शैली को जन्म दिया। हम पहले कह आये हैं कि अरब निर्माण-कला में बहुत पिछड़े हुए थे और अपनी आवश्यकतानुसार उन्होंने विदेशी आदर्शों को ग्रहण कर लिया था। किन्तु स्थापत्य की दृष्टि से तुर्क प्रतिभाशाली थे। फर्ग्युसन लिखते हैं, "भारत में इन पठानों के स्थापत्य सम्बन्धी कार्यों के प्रारम्भ से अधिक तेजोमय तथा साथ ही साथ विलक्षण अन्य कोई चीज़ नहीं हो सकती थी' ....वे सैनिकों की जाति थे और केवल युद्ध के लिये सुसज्जित होकर आये थे, इसलिए अपने साथ वे न कलाकारों को लाये और न शिल्पियों को किन्तु तूरानी नस्ल की अन्य जातियों की भाँति उनमें सुदृढ़ स्थापत्य-प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं, उनकी अपनी एक शैली थी, इसलिये उनकी कोई स्थापत्य-योजना विफल नहीं हुई। इसके अतिरिक्त अपनी नई प्रजा में उन्हें अगणित ऐसे शिल्पि मिल गये जो उनकी किसी भी प्रवचना को कार्यान्वित करने में समर्थ थे।" हम पहले ही राजनैतिक इतिहास का वर्णन करते समय, कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर फीरोज़ तुग़लक तक दिल्ली सुलतानों तथा बंगाल, जौनपुर, मालवा, गुजरात, खानदेश, बहमनी आदि प्रान्तीय राज्यों के शासकों की निर्माण-सम्बन्धी सफलताओं का उल्लेख कर आये हैं। मुस्लिम राज्यों के

स्थापत्य कार्यों का संक्षिप्त परीक्षण भी अत्यधिक रोचक होता किन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ हम केवल कुछ उदाहरण दे सकते हैं, विशेषकर व जिनमें हिन्दू तथा मुस्लिम शैलियों का समन्वय देखने को मिलता है। इस प्रकार का परीक्षण कितना ही संक्षिप्त क्यों न हो उससे यह "निर्विवाद सिद्ध हो जायगा कि विदेशी शासन के अन्तर्गत भी हिन्दू-कला में टिकाऊ जीवन शक्ति विद्यमान रही और मुसलमानों में उस कला को आत्मसात करने तथा उसे अधिक भावपूर्ण आत्मा प्रदान करने की अद्भुत क्षमता थी।'

यद्यपि मुस्लिम विजेताओं ने बर्बरतापूर्ण कार्य किये, फिर भी यह कहना उचित न होगा कि वे नितान्त बर्बर थे। महमूद गजनवी भी, जिसने मथुरा तथा वृन्दावन के मन्दिरों को निर्दयतापूर्वक ध्वस्त किया, धर्म के नाम पर उन पर प्रहार करने से पहले, उनके सौन्दर्य से एक क्षण स्तब्ध रह गया और सराहना करने लगा। आख़िरकार मनुष्य अपने उद्देश्य को ही सब कुछ समझता है और इसलिये हरदोमोला कितना ही मनमोहक क्यों न हो आवेशों को उसका वध करना ही पड़ता है। कुतबुद्दीन से लेकर तिमूर तक जितने भी विजेता भारत में आये उन्होंने बड़ी सावधानी से सुविख्यात हिन्दू शिल्पियों के प्राणों की रक्षा की और उन्हें मुस्लिम भवनों का निर्माण करने के लिये गजनी तथा समरकन्द ले गये। तुर्कों में केवल स्थापत्य की प्रवृत्तियाँ थीं इस विषय की उन्हें शिक्षा नहीं मिली थी; भारत में उन्होंने यहाँ के बेजोड़ हिन्दू शिल्पियों की सहायता से अपने अन्तर्गत कला प्रेम की खुलकर अभिव्यक्ति की। मुस्लिम स्वामियों की आवश्यकताओं तथा उनके भारतीय कारीगरों की कला परम्पराओं में जो असंगति थी वह बाधा नहीं सिद्ध हुई बल्कि इससे दोनों की शैलियाँ और भी अधिक समृद्ध हुईं। "इस्लाम की एकेश्वरवादी कट्टरता की अभिव्यंजना सपाट गुम्बदों की सरलता नुकीली मेहराबों की सरल प्रतीकात्मकता और मीनारों के पतलेपन में हुई। इसके विपरीत हिन्दुओं की बहुदेववादी भावनाओं ने रूप की विभिन्नता तथा जटिलता उभरे हुए काम द्वारा प्रत्येक भाग की सजावट और मानव प्रतिमाओं द्वारा अपने को अभिव्यक्त किया।" विजेता उन कला परम्पराओं के प्रभाव से न बच सके जो उनके चारों ओर प्रचलित थी। सरल इस्लामी रूप हिन्दू अलंकरण से प्रभावित होने लगे। गुम्बद की सरल कलशता का स्थान कलश ने ले लिया और उसके सिरे पर धातु के जो फूल-पत्तियों के गुच्छे बने रहते थे उसकी जगह पत्थर में खुदे हुए चित्रों का प्रयोग होने लगा। इसके अतिरिक्त मुसलमानों ने हिन्दुओं से भवनों तथा उनके भागों को उचित अनुपात से बनाने की कला भी सीख ली। मुस्लिम शैली में संमिति (Symmetry) का जो अभाव था वह भी दूर हो गया और ईसा खाँ तथा हुमायूँ के मकबरों में हमें मुस्लिम कला आदर्शों तथा हिन्दू प्रतिपादन पद्धति का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है।" स्थापत्य

के क्षेत्र में दोनों जातियों का जो समन्वय हुआ उसका सर हैनरी शार्प के इस संक्षिप्त वर्णन से अच्छा सारांश नहीं दिया जा सकता।*

भारतीय मुस्लिम शैली जिसका आरम्भ दिल्ली में कुतुबुद्दीन की मीनार तथा मस्जिद से हुआ और जो आगरा तथा फतेहपुर सीकरी के भवनों में पराकाष्ठा को पहुँच गया, वर्णन शार्प ने चार स्पष्ट युगों में किया है, (१) पहले युग में पुरानी दिल्ली में गुलामों तथा खलजियों के भवन बनाये गये, (२) दूसरे में तुग़लकों ने तुग़लकाबाद तथा हिसार-फीरोजा का निर्माण कराया, (३) तीसरे में सैयदों तथा लोदियों की इमारतें आती हैं और (४) चौथे में मुग़लों के ऐश्वर्यपूर्ण भवनों का निर्माण हुआ। दिल्ली के सात नगरों में से पाँच आधुनिक नगरों को छोड़कर—बाबर से पहले के युग के थे और अधिकतर प्रान्तीय नगर राजधानी का ही प्रतिरूप थे। इसीलिये सर हेनरी का कथन कि "दिल्ली के भवनों में उस नगर के तथा समस्त हिन्दुस्तान के इतिहास का सारांश अन्तर्निहित है", पूर्णतया सत्य है।

प्राक्-तुग़लक युग के स्थापत्य में "मुस्लिम शैली की ऊँची मेहराबों तथा हिन्दू शैली के नीचे और उत्कीर्ण चित्रों से अलकृत स्तम्भों का व्यतिरेक ही देखने को नहीं मिलता बल्कि उन मेहराबों तथा महान् मीनार (कुतुब मीनार) की कारीगरी से भी मुस्लिम प्ररचना (Design) पर हिन्दू विशेषताओं का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। ये स्मारक विजयी, कल्पनाशील तथा अर्ध-बर्बर जाति की भावनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं, जिन्हें शान्त, परिश्रमशील तथा अधिक सभ्य प्रजा के अनुभव ने मूर्तरूप दिया था।" कट्टर तुग़लकों ने, विशेषकर गियासुद्दीन और फीरोज़ ने, हिन्दू प्रभाव से बचने का जान बूझ कर प्रयत्न किया और ऐसे स्थापत्य को जन्म दिया जो कर्कश तथा निराशापूर्ण था किन्तु जिसमें कट्टर शुद्धता देखने को मिलती थी। किन्तु तिमूर के आक्रमण के बाद तुरन्त ही मखदूम सब्जवाड़ी का निर्माण हुआ "जो सैयद तथा लोदी वंशों की शैली को पहले की शैली से जोड़नेवाली एक सुन्दर कड़ी है। द्वार की हिन्दू विशेषताएँ, मस्जिद पर बाहरी ड्रिपस्टोन, कब्र के गुम्बद के भीतरी ओर पलस्तर की सजावट आदि से स्पष्ट होता है कि दिल्ली कला का कट्टर इस्लामी युग समाप्त हो चुका था।"

यद्यपि पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियों में साम्राज्य राजनैतिक दृष्टि से समाप्तप्राय: हो रहा था, फिर भी दिल्ली में एक स्थापत्य शैली का विकास हुआ जिसे फर्ग्युसन के शब्दों में "पतनशील पठानों का अन्तिम प्रयत्न अथवा महान् मुग़लों के प्रयत्नों का ऊषा काल कहना चाहिए और जो दोनों के ही योग्य है।" शार्प लिखते हैं, "यह युग वैभवहीन था किन्तु इसकी अनेक सुन्दर स्थापत्य-कृतियाँ उपलब्ध हैं जो गम्भीर शान्ति के कारण तुग़लक शैली से सम्बद्ध है किन्तु

* Delhi, Its Story and Buildings, पृष्ठ २०–२१

जिनमें हिन्दू रूपों के साथ भी नये ढंग का समन्वय दर्शाया गया है इसलिये ये गुम्बदों के अधिक कोमल स्थापत्य का मार्ग प्रशस्त करती हैं?"

जहाँ तक प्रान्तीय स्थापत्य का सम्बन्ध है, गुजरात, बंगाल और कश्मीर में स्थानीय शैलियों का प्रभाव सबसे अधिक देखने को मिलता है, किन्तु मालवा, जौनपुर और दक्षिण ने या तो विदेशी शैलियों को अपना लिया था, जैसे बीदर में ईरानी (महमूद गावाँ का मदरसा) अथवा केवल दिल्ली की इस्लामी शैली का ही अनुकरण कर लिया था जैसे माँडू में लेकिन ये भी हिन्दुओं के लालित्य, ओज तथा सौन्दर्य से अछूती न रह सकीं। हम हवल के इस कथन से न भी सहमत हों कि "यह इस्लामी संस्कृति जिसका प्रारम्भ उस समय हुआ जब महमूद गज़नवी ने मथुरा तथा कन्नौज के शिल्पियों द्वारा स्वर्ग वधू नामक मस्जिद का निर्माण कराया, केवल नाम को छोड़कर हर दृष्टि से हिन्दू संस्कृति का ही पुनरुत्थान है," फिर भी उसके इस कथन में पर्याप्त सत्य है कि मुस्लिम गुजरात की राजधानी अहमदाबाद का निर्माण राजपूताना के राज शिल्पियों ने किया था; मुसलमान सुल्तानों का गौड़ एक नया लखनौती था; काशी जौनपुर की जननी थी; धार माँडू की माता थी; विजयनगर के राजाओं के शिल्पियों ने बीजापुर के मुसलमानों की राजधानी का निर्माण किया।

साहित्य तथा धर्म

सर जॉन मार्शल लिखते हैं "मानव इतिहास में हिन्दू तथा मुस्लिम सभ्यताओं के जो महान् एवं विकसित किन्तु एक दूसरे से एकदम भिन्न थीं, मिलन तथा समन्वय का जैसा दृश्य है वैसा अन्यत्र शायद ही देखने को मिले। उनमें जो विरोध और उनकी संस्कृति तथा धर्म में जो गहरी भिन्नता थी उससे उनके घात प्रतिघात का इतिहास और भी अधिक शिक्षाप्रद हो जाता है। इस घात प्रतिघात का परिणाम हम मुस्लिम भारत के सिक्कों तथा स्थापत्य में देख चुके हैं। इस सम्बन्ध में हमारी जो धारणाएँ बन चुकी हैं वे साहित्य तथा धर्म के अध्ययन से और भी अधिक पुष्ट हो जाएँगी।

साहित्य—अरबों की सिन्ध विजय के सम्बन्ध में हम जो कुछ लिख आये हैं, वह पाठकों को याद होगा। अरब भारत से जो सांस्कृतिक निधि ले गये वह उन्हें लूट में मिली सम्पत्ति में सबसे अधिक मूल्यवान थी। ब्रह्म सिद्धान्त तथा खण्ड खाद्यक ही ऐसे संस्कृत ग्रन्थ नहीं थे जिनका मुसलमानों ने अनुवाद कराया था। यह भी एक महत्व की बात थी कि महमूद ग़ज़नवी के साथ अलबरूनी आया जो संस्कृत का धुरन्धर विद्वान था और जिसकी ज्ञान पिपासा उतनी ही तीव्र थी जितनी कि उसके स्वामी की धन लिप्सा। फीरोज़ जैसे धर्मान्ध सुल्तान ने भी नगरकोट की लूट में प्राप्त संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थ का फारसी में अनुवाद कराया और उसका नाम दलायले फीरोज़शाही रखा। इसी प्रकार अन्य

सुल्तानों ने जिनका दृष्टिकोण फीरोज से अधिक विस्तृत था, देशी साहित्य में रुचि दिखलाई। इनमें बगाल के हुसैनशाह तथा काश्मीर के जैन-उल-आबिदीन का हम पहले ही उल्लेख कर आये है। अपनी ओर से भी मुसलमानों ने भारतीय साहित्य का भंडार भरा और अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थ रचे,जैसे तारीखे-फीरोज़शाही जिससे हम पहले अनेक उद्धरण दे चुके हैं। अल-बरूनी का यह कथन ठीक ही है कि हिन्दुओं में ऐतिहासिक भावनाओं का अभाव था, यद्यपि उसके बाद उन्होंने राजतरगिणी तथा चाँद राइसा जैसे ग्रन्थ लिखे। इसमें सन्देह नहीं है कि बरनी, अफीफ और यहिया के इतिहास ग्रन्थों के बिना हमारा मध्यकालीन भारत का ज्ञान बहुत अधूरा रहता।

जब मुस्लिम आक्रमणकारियों ने भारत को अपना घर बना लिया, हिन्दू स्त्रियों से विवाह कर लिया और हिन्दुस्तानियों के बीच रहने तथा जीवन बिताने लगे तो एक सामान्य जीवन-प्रणाली का ढूँढ़ निकालना अनिवार्य हो गया और वह प्रणाली निश्चय ही दोनों पक्षों के सबसे अच्छे तथा सबसे बुरे तत्वों का मिश्रण हो सकती थी। पोशाक, भाषा, शिष्टाचार के नियम, रीति-रिवाज तथा मानसिक दृष्टिकोण में दोनों ने एक दूसरे पर अत्यधिक गहरा प्रभाव डाला, जैसा कि उस युग के धार्मिक तथा साहित्यिक आन्दोलनों से स्पष्ट है। एक प्रकार से ये दोनों आन्दोलन अन्योन्याश्रित तथा एक दूसरे से गुथे हुए थे और ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि जब किसी जाति की आत्मा आडोलित हो जाती है तो उसकी सृजनात्मक शक्ति फूट पड़ती है और उसकी अभिव्यक्ति का सबसे सरल तथा सामान्य साधन साहित्य है। ऐसी ही सृजनात्मक जीवन-शक्ति ने मध्य भारत के धार्मिक आन्दोलनों को जन्म दिया और प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का निर्माण किया। हिन्दुओं और मुसलमानों के सांस्कृतिक समन्वय की दृष्टि से इन आन्दोलनों के उत्थान का संक्षिप्त वर्णन करना लाभप्रद होगा। फारसी, अरबी और तुर्की बोलने वाले विदेशियों तथा हिन्दी भाषी भारतीयों के सम्पर्क का पहला फल जबाने-उर्दू का प्रादुर्भाव था। इस बोली को साहित्य का माध्यम बनने योग्य होने में बहुत समय लगा किन्तु बोलचाल में मुसलमान लोग भारतीयों को अपने धर्म की शिक्षा देने में इसका प्रयोग करते थे। बेली लिखते हैं "यह एक आश्चर्य की बात थी कि दक्खिन में उर्दू का साहित्यिक रचनाओं के लिये प्रयोग उत्तर से सैकड़ों वर्ष पहले आरम्भ हो गया था।" बेली ने इसका जो कारण बतलाया है वह दक्खिन में मुस्लिम इतिहास के विद्यार्थियों के लिये बहुत ही रोचक है। यह हम पहले ही लिख आये हैं कि दक्खिन में मुसलमानों के दो वर्ग थे—विदेशी तथा देशी। बहमनी सल्तनत के उत्थान के बाद दक्खिन के देशी मुसलमानों ने अपने को उत्तर में स्थित साम्राज्यीय राजधानी से जितना सम्भव हो सका, अलग रखने का प्रयत्न किया और "उनमें प्रादेशिक भक्ति की भावना तथा अपनी जीवन तथा विचार-प्रणाली को महत्व देने की इच्छा जाग्रत हो उठी और अन्त में वे विदेशियों से घृणा तथा

सन्देह करने लगे। यही कारण था कि दिल्ली सुल्तानों की दरबारी भाषा फारसी के विरोध में उर्दू को प्रोत्साहन दिया गया।' दक्षिण में यह बोली दक्खिनी के नाम से विख्यात हुई और गुजराती तथा मराठी का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा। चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक दिल्ली की उर्दू तथा इस दक्खिनी में कोई वास्तविक अन्तर नहीं था किन्तु बहमनी सल्तनत की स्थापना के बाद दोनों बोलियाँ भिन्न दिशाओं में विकसित होने लगीं। बीजापुर के मुसलमान सन्त शाह मीराँ (१४९६ ई० में मृत्यु) ने उर्दू में ही लिखा और उसी में अपने उपदेश दिये क्योंकि शहादत-उल हकीकत नामक अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि इस भाषा को सब लोग समझ सकते हैं।

हिन्दी साहित्य अधिक पुराना है और इस प्रसंग में उसी का अधिक महत्व है। स्थानाभाव के कारण यहाँ हम इसके प्रान्तीय रूपान्तरों और भाषा सम्बन्धी पहलुओं पर विचार नहीं कर सकते। इस भाषा का सबसे पहला प्रसिद्ध लेखक पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द बरदाई था। तराइन के युद्ध के बाद ११९२ ई० में अपने स्वामी के साथ वह भी मारा गया। 'पृथ्वीराज रासो' में पद्मावती अथवा संयोगिता के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर अत्यन्त सुन्दर पंक्तियाँ आती हैं; उदाहरण के लिये कुछ का भावार्थ इस प्रकार है :

'वह रमणी आभूषणों से सुसज्जित है और उसके हाथों में मोतियों से भरा हुआ थाल है वह दीपक जलाकर आरती उतारती हुई अपने विश्वासपात्र सेवक के साथ उसी प्रकार निर्भयता से आ रही है जैसे रुक्मिणी मुरारी से मिलने गई।'

सारंगधर एक अन्य चारण था जिसने रणथम्भौर के राजा हम्मीर का गुणगान किया है किन्तु हिन्दू पुनरुत्थान के साहित्य के लिये हमें भक्तिमार्गी सन्त कवियों की रचनाओं पर दृष्टिपात करना पड़ेगा।

धर्म—इस सम्बन्ध में भी हम अधिक विस्तार से नहीं लिख सकते; यहाँ हम अपने को केवल दोनों धर्मों के एक दूसरे पर पड़े गम्भीर प्रभाव तक ही सीमित रक्खेंगे। जाति व्यवस्था मूर्तिपूजा तथा सुधार और अनुसन्धान का विरोध—ये हिन्दुत्व के मुख्य दोष थे, इसके विपरीत इस्लाम मूर्तिपूजा का विरोधी, लोकसम्मात्मक तथा सरल था और उसमें जाति तथा सम्प्रदाय-भेद को भी स्थान नहीं था; यही कारण था कि इस्लाम के अनुयायियों ने हिन्दुत्व पर निर्दयतापूर्वक प्रहार किया। १२वीं शताब्दी में हिन्दुओं के धार्मिक पुनर्जागरण की यह विशेषता थी कि उसने उपर्युक्त दोषों को सुधारने का प्रयत्न किया। पहले दक्षिणी भारत में रामानुज (१२वीं शताब्दी) और दक्खिन में नामदेव, राजस्थान में मीराबाई बनारस में रामानन्द, कबीर तथा रैदास बंगाल में चैतन्य और पंजाब में नानक (१५वीं शताब्दी) ने अपने कार्यों तथा उपदेशों द्वारा ब्राह्मणों की जाति व्यवस्था की निन्दा की। दूसरे, उन्होंने ईश्वर की एकता पर जोर दिया और कहा कि सच्चा धर्म मूर्तिपूजा से भिन्न है, यद्यपि इनमें से कुछ ने भक्ति का प्रति-

पादन किया जिसमें मूर्तिपूजा को भी स्थान था। तीसरे, उन्होंने साधारण जनता के हृदय को प्रभावित करने के लिये उसी की भाषा में उपदेश दिये और गीत गाये और ब्राह्मणों की रहस्यमयी भाषा संस्कृत को त्याग दिया। रामानुज, रामानन्द तथा चैतन्य ब्राह्मण, नामदेव दर्जी, मीरा राजपूतिनी, कबीर मुसलमान जुलाहा, रैदास मोची और नानक खत्री थे। इनके अतिरिक्त सभी प्रान्तों और जातियों में अनेक सन्त हुए और उन्होंने जाति भेद का खण्डन किया। कबीर की निम्नांकित पंक्तियों में उनके उपदेशों का सार अन्तर्निहित है :

"यदि ईश्वर मस्जिद में रहता है तो यह सारा ससार किसका है ? यदि राम मूर्ति में निवास करते हैं तो बाहर जो कुछ हो रहा है उसे जानने वाला कौन है ? हरि पूर्व में हैं, अल्लाह पश्चिम में हैं। अपने हृदय में ढूँढो, वहाँ तुम्हें राम और करीम दोनों मिल जायेंगे। ससार के सभी स्त्री-पुरुष उसी के जीवित रूप हैं। कबीर अल्लाह और राम का पुत्र है, वही मेरा गुरु है और वही मेरा पीर। जाति-पाँति के भेद भी निरर्थक हैं। जितने भी रग हैं, वे सब एक ही प्रकार से उत्पन्न होते हैं। मानव स्वभाव के जितने रूप हैं वे सब एक ही मानवता के अग हैं। केवल ब्राह्मणों को ही ईश्वर तक पहुँचने का एकाधिकार नहीं है, सभी लोग जिनके हृदय में भक्ति और सच्चाई है, उसे प्राप्त कर सकते हैं।"

इस युग के धार्मिक साहित्य का अवलोकन करने से स्पष्ट हो जायगा कि कबीर ही अकेले आदर्शवादी न थे, उनके पहले तथा बाद में भी देश के सभी भागों में उन जैसे विचारक हुए। एक-दो और उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा। कबीर की भाँति नानक ने भी हिन्दू तथा मुसलमान दोनों से कहा .

"चाहे तुम्हारे पास अठारह पुराण हों, चाहे तुम्हें चारों वेद कठस्थ हों, चाहे तुमने पवित्र दिनों में स्नान करके लोगों को उनकी जाति के अनुसार दान दिया हो, चाहे तुमने दिन रात व्रत रक्खा हो और धार्मिक कृत्य किये हों, चाहे तुम काजी हो, चाहे मुल्ला, शेख, जोगी और जगम, चाहे तुम गेरुआ कपडे पहिनते हो, और चाहे तुमने गृहस्थ का धर्म निभाया हो—यदि तुमने ईश्वर को नहीं पहिचाना, तो मृत्यु सब को बाँध कर ले जायगी।"

उन्होंने कहा, "मेरा चार जातियों में से किसी से भी सम्बन्ध नहीं है, नानक उनके साथ है जो नीचों में भी नीची जाति के है।" मुसलमानों के लिये उनकी सलाह थी।

"दयालुता को अपनी मस्जिद बनाओ, ईमानदारी को अपना नमाज पढने का कालीन और न्याय तथा कानून को अपनी कुरान, नम्रता को अपना खतना समझो और सौजन्यता को अपना रोजा, तभी तुम सच्चे मुसलमान बनोगे। सदाचार को अपना काबा मानो, सत्य को अपना पीर, अच्छे कामों को अपना मजहब और नमाज़ और ईश्वर की इच्छा को अपनी माला, फिर ईश्वर तुम्हारे सम्मान की अवश्य रक्षा करेगा।'

इस प्रकार की सुधारवादी भावनाएँ केवल उन्हीं प्रान्तों तक सीमित न थीं जहाँ मुसलमान अधिक संख्या में थे बल्कि दक्षिणी भारत के अन्तिम छोर पर भी हमें ऐसे ही विचार सुनने को मिलते हैं।

जो यह जानता है कि मुझे ईश्वर ने उत्पन्न किया है उसको पत्थर अथवा लकड़ी की मूर्ति और हाथ से बनाये हुए मिट्टी के लिंग में ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते। मैंने प्रसिद्ध मन्दिरों की मूर्तियों पर कितने फूल चढ़ाये और कितने मंत्रों का जप किया। अनेक बार देवता का शीश धोया और फिर थके हुये पैरों से शिव मन्दिर की परिक्रमा की। किन्तु अब मैं अब मुझे मालूम हुआ है कि देवताओं का अधिराज ईश्वर कहाँ रहता है अब कभी मैं किसी मन्दिर के सामने हाथ न जोड़ूँगा।'

इसी सम्प्रदाय का एक अन्य सन्त ब्राह्मणों से कहता है

'ब्राह्मणो ! मेरी बात सुनो और हो सके तो उत्तर दो। क्या कभी वर्षा और हवा किसी आदमी से इसलिये बचते हैं कि उसकी जाति नीची है ? क्या जब नीची जाति के लोग पृथ्वी पर चलते हैं तो वह क्रोध से काँपने लगती है ? और क्या चमकता हुआ सूर्य उन पर अपनी किरणें डालने से इन्कार करता है ? वह दिन कब आयगा जब हम सब जाति पाँति के अत्याचारों से मुक्त होकर एक बिरादरी बन जायेंगे ?'

और फिर यही सन्त सच्ची श्रद्धा के साथ विश्वास दिलाता है :

ब्राह्मणो मेरी बात सुनो ! इस समस्त देश में एक ही जाति है, एक ही कुटुम्ब और एक ही बिरादरी है। एक ईश्वर ऊपर निवास करता है और उसने हम सब को जन्म, शरीर तथा भाषा सब को दृष्टि में एक बनाया है।

इन उपदेशों में एकेश्वरवादी इस्लाम के दूरगामी प्रभाव को ढूँढना कठिन नहीं है। श्री टाइटस अपनी पुस्तक इंडियन इस्लाम में लिखते हैं, "हिन्दुओं की ईश्वर सम्बन्धी बे सिर पैर की कल्पनाओं के विपरीत इस्लाम स्पष्ट सुनिश्चित तथा सरल धर्म था, इसलिये अनेक हिन्दुओं को इसने प्रभावित किया और उन्होंने उसे धर्म सम्बन्धी बहुत सी क्लिष्ट समस्याओं का हल समझा। कुछ को उसका सामाजिक लोकतन्त्र जाति-बन्धन से मुक्ति पाने का सुन्दर मार्ग दिखाई दिया। किन्तु इस सम्बन्ध में सब कुछ कह चुकने के उपरान्त यह प्रतीत होता है कि इस्लाम ने हिन्दुत्व पर जितना प्रभाव डाला है उससे कहीं अधिक गम्भीर परिवर्तन हिन्दुत्व के कारण इस्लाम में हुए हैं और हिन्दुत्व आज भी आश्चर्यजनक आत्मविश्वास तथा सन्तोष के साथ अपने निश्चित मार्ग पर चला जा रहा है।" अगले अध्याय में जब हम इस्लाम के अन्य महानतम तथा अन्तिम साम्राज्य के इतिहास का वर्णन कर चुकेंगे तब इस कथन की सत्यता और भी अधिक स्पष्ट हो जायगी। तुर्कों ने हिन्दु-समाज के साथ यथासामर्थ्य बुरा व्यवहार किया किन्तु अपने उद्देश्यों में वे विफल रहे मुगलों ने अपनी सामर्थ्य भर अच्छा करने का प्रयत्न किया किन्तु सफलता उन्हें भी न मिली।

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्	
१३८४	विक्लिफ की मृत्यु ।
१४००–७०	रामानन्द । चौसर की मृत्यु ।
१४४०–१५१८	कबीर ।
१४५२–१५१९	लियोनार्डो दा विंसी ।
१४६९–१५३९	नानक ।
१४७०	मीरा बाई का जन्म ।
१४७३	कोपर्नीकस का जन्म ।
१४८४	बाबर का जन्म ।
१४८५	चैतन्य का जन्म । बासवर्थ के युद्ध में हैनरी ट्यूडर की विजय ।
१४८६	जौनपुर में बहलोल लोदी के पुत्र बारबक का राज्यारोहण । मानसिंह परिहार का ग्वालियर के सिंहासन पर बैठना ।
१४८९	सिकन्दर लोदी का सिंहासनारोहण, बंगाल में नासिरुद्दीन महमूद का, काश्मीर में फतेहशाह का ।
१४९०	सिदी बद्र द्वारा अपहरण, बंगाल में मुजफ्फर शाह ।
१४९४	सिकन्दर लोदी द्वारा जौनपुर के हुसैन की पराजय ।
१४९७	काश्मीर में मुहम्मद शाह का पुनः सिंहासन प्राप्त करना ।
१४९९	काश्मीर में फतेहशाह का पुनः सिंहासन प्राप्त करना ।
१५००	मालवा में नासिरुद्दीन का राज्यारोहण ।
१५०२	मुलतान में महमूद का राज्यारोहण ।
१५०३	मालवा के नासिरुद्दीन का राजपूताना पर आक्रमण ।
१५०४	बाबर काबुल का शासक, भारतीय सीमा पर उसके धावे शिया धर्म की स्थापना करने का प्रयत्न करने के कारण, यूसुफ आदिलशाह का बीजापुर से निकाला जाना ।
१५०५	सिकन्दर लोदी का ग्वालियर के विरुद्ध संघर्ष ।
१५०६	पुर्तगालियों का कोचीन में आगमन ।
१५०७	बाबर का काबुल में बादशाह की पदवी धारण करना ।
१५०९	राणा साँगा तथा कृष्णदेवराय का राज्य रोहण ।
१५१०	इस्माइल आदिलशाह का राज्यारोहण । पुर्तगालियों द्वारा गोआ का हस्तगत किया जाना । कृष्ण देव राय का रायचूर दोआब पर अधिकार ।
१५११	महमूद बेगड़ा की मृत्यु, गुजरात में मुजफ्फरशाह द्वितीय का राज्यारोहण, मालवा में महमूद द्वितीय का । मालवा में राजपूतों का प्रभुत्व तथा मुसलमानों का विद्रोह ।

१५१३ सिकन्दर लोदी का मालवा पर आक्रमण।
१५१४ मांडू में महमूद द्वितीय का राजपूतों के सामने अर्पण। दक्षिण के राज्यों में संघर्ष।
१५१६ रामपुरामा में मुसलमानों द्वारा १०० कुमारियों के साथ बलात्कार।
१५१७ इब्राहीम लोदी का राज्यारोहण; लोहानियों का विद्रोह।
१५१८ बंगाल में नासिरुद्दीन नुसरतशाह का सिंहासनारोहण, गुजरात का मुजफ्फरशाह द्वितीय राजपूतों का संहार करके महमूद द्वितीय को मालवा की गद्दी पर बिठला देता है; इब्राहीम लोदी ग्वालियर को हस्तगत कर लेता है।
१५१९ गगरौं के युद्ध में राणा साँगा मालवा के महमूद द्वितीय को पराजित करके बन्दी बना लेता है; बाबर के भारत पर पहले दो धावे (भीरा)।
१५२० बाबर का भारत पर तीसरा धावा (सियालकोट)।
१५२१ गुजरात का मुजफ्फरशाह द्वितीय और मालवा का महमूद द्वितीय राणा साँगा के राज्य पर आक्रमण करते हैं (मन्दसौर का घेरा)। लूथर का वर्म्स की डाइट (संसद) में उपस्थित होना; फर्नेसिमस लोपस का पाम्पीलूना के युद्ध में घायल होना।
१५२२ बाबर का कान्धार पर अन्तिम रूप से अधिकार; सिन्ध में शाह बेग अर्घून की सत्ता की स्थापना।
१५२४ दौलतखाँ लोदी के निमंत्रण पर बाबर के भारत पर चौथे तथा पाँचवे आक्रमण (लाहौर तथा दिपालपुर पर अधिकार) सिन्ध में शाह हुसैन, शाह बेग अर्घून का उत्तराधिकारी होता है।
१५२५ कलीमुल्लाह का अपदस्थ होना तथा अन्तिम बहमनी सुल्तान कली मुल्लाह का सिंहासनारोहण दक्षिण के राज्यों में युद्ध।
१५२६ पानीपत में इब्राहीम लोदी पर बाबर की विजय; काश्मीर में मुहम्मद शाह को अपदस्थ करके इब्राहीम प्रथम का सिंहासन पर बैठना; गुजरात के मुजफ्फरशाह द्वितीय की मृत्यु सिकन्दर का राज्यारोहण तथा वध और बहादुरशाह प्रथम का गद्दी पर बैठना।
१५२७ बहमनियों का मूलोच्छेदन, काश्मीर में नासूरशाह का सिंहासनारोहण।
१५२८ पुर्तगालियों का बंगाल पहुँचना।

९

तृतीय मुस्लिम साम्राज्य : मुगल

पिछले अध्यायों में जिन्हें हमने प्रथम तथा द्वितीय मुस्लिम साम्राज्यों का नाम दिया है, वे वास्तव में तुर्कों द्वारा साम्राज्यीय व्यवस्था स्थापित करने का एक ही प्रयत्न थे। किन्तु वह प्रयत्न भी निष्फल सिद्ध हुआ क्योंकि खलज़ियों तथा तुगलकों के दोनों साम्राज्य मिलकर भी सवासौ वर्ष (१२११-१३९ ई०) से अधिक न टिक सके। इस दिशा में इससे भी अधिक ठोस प्रयत्न १६वीं और १७वीं शताब्दियों में मुगलों ने किया। भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना ज़हीरुद्दीन बाबर ने १५२६ ई० में की; सभी इतिहासकारों का मत है कि बाबर सम्पूर्ण इतिहास के अधिकतम आकर्षक व्यक्तियों में एक है। उसने अपने जीवन का अधिकांश भारत के बाहर व्यतीत किया और यद्यपि जैसा कि लेनपूल ने लिखा है, उसका इतिहास में स्थायी स्थान उसकी भारतीय विजयों पर निर्भर है, फिर भी उसका पहले का जीवन जिसका वह अपने 'संस्मरणों' में अमर वर्णन छोड़ गया है, कम मोहक नहीं है। "ऐसे व्यक्ति के जीवन का अध्ययन करते समय यदि हम अपने को उसके भारतीय कार्यकलाप तक ही सीमित रखें तो यह एक मिथ्या हठ होगा क्योंकि ऐसा करने से हम उसके छत्तीस वर्ष के अति सुन्दर सग से वंचित रह जायँगे।"

बाबर का प्रारम्भिक जीवन

बाबर का जन्म फरवरी १४८३ ई० में हुआ था। उसके संस्मरण इस वाक्य से प्रारम्भ होते हैं—'हिज्री सन् ८९९ के रमज़ान के महीने में मैं अपनी आयु के बारहवें वर्ष में फरगाना राज्य का शासक बन गया।' अपने पिता उमर शेख के द्वारा उसका सम्बन्ध तिमूर से था और माता कुतलुग निगार द्वारा चिनगिज़खाँ से। इस प्रकार उसमें 'मंगोलों की क्रूरता और तुर्कों की योग्यता तथा साहस' का समन्वय था। इन पित्रागत गुणों के अतिरिक्त उसमें ईरानियों की सी विनीत शिष्टता भी विद्यमान थी जो उसे पालन-पोषण के कारण उपलब्ध हुई थी।

फरगाना जिसकी राजधानी अन्दिजान थी, उमर शेख का राज्य था। जगज़ार्टिस पर स्थित यह उर्वरा भूखण्ड ५०,००० वर्ग मील में फैला हुआ था (रूसी तुर्किस्तान में स्थित आधुनिक खोकन्द)। किन्तु बाबर के पिता को इससे सन्तोष नहीं था। इसलिये उसने अपने बड़े भाई अहमद मिर्ज़ा से जिसे पैतृक राज्य का सबसे बड़ा भाग—समरकन्द तथा बुख़ारा—मिल गया था, झगड़ा कर लिया। इन्हीं झगड़ों के बीच एक दिन (८ जून १४९४ ई०) कबूतर बुलाते समय अकस्मात गिर जाने से उसकी मृत्यु हो गई। इस घातक दुघटना के समय ही बाबर के चाचा अहमद और मामा महमूद मिर्ज़ा ने मिलकर फरग़ाना पर आक्रमण कर दिया। यद्यपि उस समय बाबर की अवस्था मुश्किल से बारह वर्ष की थी, फिर भी प्रजा की राजभक्ति के कारण वह बच गया। वह कृतज्ञतापूर्वक लिखता है: 'हमारे सैनिकों तथा किसानों ने दृढ़ तथा अदम्य संकल्प के साथ शत्रु का सामना किया और जब तक उनके शरीरों में प्राण तथा शक्ति रही तब तक वे अपना जीवन उत्सर्ग करने में नहीं हिचकिचाए।

तिमूर के नगर समरकन्द ने, जिस पर उस समय अहमद मिर्ज़ा शासन कर रहा था उमरशेख के महत्वाकांक्षी पुत्र को सबसे अधिक आकृष्ट किया। वह फरगाना के पश्चिम में स्थित था, उसका घेरा पाँच मील था, किला के लिये वह विख्यात था और उसमें उलुग़बेग द्वारा निर्मित एक ज्योतिष का निरीक्षणालय, अनेक विद्यालय, स्नानागार तथा मस्जिदें विद्यमान थीं। बाबर लिखता है कि समरकन्द में 'नानबाइयों की दुकानें भी अच्छी हैं और रसोइये बहुत ही निपुण हैं। जुलाई १४९४ ई० में जब अहमद मिर्ज़ा की मृत्यु हो गई तो बाबर ने समरकन्द को जीतने का सकल्प किया किन्तु जुलाई १४९६ ई० से पहले वह इस दिशा में कोई प्रयत्न न कर सका और उस समय भी उसे सफलता नहीं मिली। किन्तु यह प्रयत्न बाबर के जीवन की एक महत्वपूर्ण सीढ़ी सिद्ध हुआ। दूसरे वर्ष (१४९७ ई० में) बाबर अपनी अभिलाषा पूरी करने में सफल हुआ किन्तु बहुत थोड़े समय के लिये। उसने समरकन्द को हस्तगत कर लिया और सौ दिन तक उस पर अधिकार रखा। इसके बाद फरगाना में एक विद्रोह हुआ जिसके कारण उसे दोनों राज्यों से हाथ धोने पड़े: 'इस प्रकार मैंने फरग़ाना के लिये समरकन्द त्याग दिया किन्तु अब मैंने देखा कि समरकन्द चला गया है और फरगाना भी हाथ नहीं लगा।'

इसके उपरान्त दो वर्ष बाबर को घुमक्कड़ के रूप में बिताने पड़े। उसने स्वयं लिखा है कि "जब से मैं ग्यारह वर्ष का हुआ, मैंने रमज़ान के दो त्यौहार कभी एक स्थान पर नहीं मनाये;' अथवा फरिश्ता के शब्दों में भाग्य की गेंद अथवा शतरंज के बादशाह की भाँति वह इधर-उधर मारा-मारा फिरा जैसे समुद्र के किनारे कंकड़ धक्के खाते फिरते हैं।' किन्तु जहाँ भी वह गया, वह सदैव प्रसन्नचित्त और दयालु रहा और सदैव प्रकृति के सौन्दर्य का उपभोग करने के लिये तत्पर रहा विशेषकर 'आश्चर्यजनक, कोमल तथा रुचिर आड़ूओं जिनके

छलके कच्चे हरे चमड़े के सदृश धब्बेदार होते थे।' १४९८ ई० में उसने फरग़ाना पर पुनः अधिकार कर लिया किन्तु अपने लोलुप 'मुगल गुंडों' की लूटमार को रोकने का प्रयत्न करने के कारण १५०० ई० में उसे फिर उससे हाथ धोने पड़े। वह लिखता है, 'इतने सशस्त्र व्यक्तियों को असन्तुष्ट करना एक मूर्खता का काम था। युद्ध तथा राजनीति में कोई नीति पहले-पहल देखने पर बुद्धि-संगत भले ही प्रतीत हो किन्तु कार्यान्वित करने से पहले उसे सैकड़ों दृष्टियों से देखना तथा तौलना पड़ता है। मेरी दूरदर्शिताहीन यह आज्ञा ही मेरे दुबारा निकाले जाने का अन्तिम कारण बनी।' इसलिये एक बार फिर उसे संकटास्पद मार्गों द्वारा चट्टानों की शरण लेनी पड़ी। 'संकीर्ण तथा ढालू पर्वतीय मार्गों से जिन्हें हमें लाँघना पड़ा अनेक घोड़े तथा ऊँट गिरकर नष्ट हो गये······फिर भी हम अविश्वसनीय कठिनाइयों का सामना करते और भयंकर दर्रों और करारों को पार करते हुए आगे बढ़ते गये और अन्त में सैकड़ों हानियों तथा वेदनाओं को सहकर और इन विनाशकारी चट्टानों को लाँघकर कान की सीमाओं पर पहुँच गये और सुन्दर विस्तृत झील के दर्शन किये।'

१५००-१ ई० में उसने समरकन्द पर दुबारा अधिकार कर लिया और अपनी चचेरी बहन आयशा से विवाह कर लिया, उससे एक पुत्री उत्पन्न हुई 'जो तीस अथवा चालीस दिन के भीतर ही ईश्वर की शरण में चली गई।' इसके बाद दोनों अलग हो गये · 'क्योंकि जैसे ही मेरा प्रेम क्षीण होता गया वैसे ही मेरी झिझक बढ़ती गई।' शीघ्र ही उज़बेग नेता शैबानी ने सरे-पूल के युद्ध में बाबर को परास्त किया और आठ महीने के भीतर ही समरकन्द से मार भगाया। १५०२-४ ई० के उपरान्त वह फिर शरणार्थी बन गया और उसके साथ केवल दो सौ से कुछ अधिक किन्तु तीन सौ से कम अनुयायी रह गये, जिनके हाथों में केवल लाठियाँ और शरीरों पर चिथड़े शेष रह गये थे। 'एक बार एक बाग में वह मृत्यु की प्रतीक्षा में पड़ा हुआ था किन्तु 'शीघ्र ही जीवन तथा धन प्राप्त हो गया।' उसकी नसों में राजा का रक्त बह रहा था, उसके प्रताप से उसने १५०४ ई० में काबुल में अपने लिये एक राज्य का निर्माण कर लिया।

"दूसरे रबी के अन्तिम दस दिनों में (अक्टूबर १५०४) बिना लड़े, बिना किसी प्रयत्न के सर्वशक्तिमान ईश्वर की अनुकम्पा तथा उदारता के कारण काबुल और ग़ज़नी तथा उनके अधीन ज़िले मेरे अधिकार में आ गये और मैं उनका स्वामी बन गया।" वहाँ पहुँचकर बाबर ने 'पादशाह' अथवा सम्राट की पदवी धारण की, उससे पहले तिमूर के किसी भी वंशज ने यह उपाधि धारण नहीं की थी। 'उस तारीख तक तिमूर बेग के वंशजों को लोग मिर्ज़ा कह कर पुकारते थे चाहे वे शासक ही क्यों न रहे हों, अब मैंने आदेश दिया कि लोग मुझे पादशाह कहें।" उसी वर्ष (१५०७ ई०) बाबर ने कन्धार भी जीत लिया और अपने छोटे भाई नासिर के सुपुर्द कर दिया किन्तु वह शीघ्र एक सप्ताह के

भीतर ही उसके हाथों से निकल गया। इसके बाद पन्द्रह वर्ष बीत गये तब कहीं अन्तिम रूप से कन्धार को विजय किया जा सका।

बाबर का समरकन्द पर शासन की लगन अब भी लगी रही। १५०० ई० में वह अपने चचेरे भाइयों से मिलने हिरात गया जो उस समय 'संस्कृति तथा सुरुचि का केन्द्र था। बाबर लिखता है कि 'बसने योग्य सम्पूर्ण पृथ्वी पर भी ऐसा अन्य नगर नहीं है।' किन्तु वहाँ जाने का बाबर का एक उद्देश्य था। वह यह पता लगाना चाहता था कि उस शैबानी खाँ के विरुद्ध एक और प्रयत्न करने में अपने भाइयों की सहायता मिल सकती थी या नहीं। किन्तु उसे शीघ्र ही अनुभव हो गया इन जैसे आदमियों की सहायता से उत्तर के बहादुर बबरों को पराजित नहीं किया जा सकता। यद्यपि मिर्ज़ा लोग सुसंस्कृत थे और वार्तालाप तथा सामाजिक शिष्टाचार के लिये उनमें आवश्यक प्रतिभा थी, 'किन्तु युद्ध अथवा युद्ध सम्बन्धी कार्यों का उन्हें तनिक भी ज्ञान न था; युद्ध के लिये कैसे तैयारियाँ की जाती हैं और एक सैनिक के जीवन के क्या संकट और क्या यातनाएँ होती हैं इनसे भी वे पूर्णतया अपरिचित थे।' लौटते समय मार्ग में बाबर को 'इतने कष्ट और कठिनाइयाँ भोगनी पड़ीं जितनी अपने जीवन में और कभी मने शायद ही भुगती हों। फिर भी १५११-१२ ई० में उसने ईरान के शाह सफवी की सहायता से अंतिम बार समरकन्द, बुखारा तथा खुरासान पर अधिकार कर लिया। अक्टूबर १५११ ई० में बाबर ने समरकन्द में 'ऐसी सज धज के साथ प्रवेश किया था जैसी पहले कभी किसी ने न सुनी थी और न देखी थी।' अब बाबर का राज्य विस्तार की सीमा पर पहुँच गया वह तातारी के रेगिस्तान की सीमाओं पर स्थित ताशकन्द और सैराम से लेकर भारतीय सीमाओं के निकट काबुल तथा ग़ज़नी तक फैल गया और समरकन्द, बुखारा हिसार, कुन्दुज़ तथा फरगाना उसमें सम्मिलित थे। किन्तु यह वैभव जितना महान था उतना ही क्षणिक सिद्ध हुआ। उसे अपने राज्य में एक भाग से दूसरे में मारा मारा फिरना पड़ा और हर स्थान पर उसकी पराजय हुई; अन्त में १५१३ १४ ई० में वह काबुल लौट आया।

शाह ने बाबर को जो सहायता दी थी उसका भारी मूल्य वसूल किया: बाबर को शाह के अधीन रहकर अपने राज्य पर शासन करना था; इसके अतिरिक्त उसे शिया धर्म अंगीकार करना, उसके बाह्य चिन्हों को धारण करना और शिक्षित राज्य की सुन्नी प्रजा पर शिया सम्प्रदाय को थोपना भी आवश्यक था। यद्यपि बाबर ने किसी पर धार्मिक अत्याचार करना स्वीकार नहीं किया किन्तु स्वयं अपना धर्म परिवर्तन कर लिया और यही उसके पतन का कारण था। उत्तर तथा पश्चिम में इस अन्तिम पराजय से बाबर के जीवन का पहला भाग समाप्त हो गया; इसके बाद उसने निश्चित रूप से दक्षिण पूर्व भारत की ओर प्रयाण किया। यद्यपि वह अगले बारह वर्षों में भी काबुल के सिंहासन पर स्थिर रहा, फिर भी इस युग (१५१४-२५ ई०) के इतिहास का भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों

के लिये कोई महत्व नहीं है। इस काल में उसने भारत पर जो आक्रमण किये, हमें उनकी ओर ध्यान देना है। बाबर लिखता है कि 'काबुल हिन्दुस्तान तथा खुरासान के बीच का मध्य बिन्दु है।' लेनपूल लिखते हैं कि "बाबर मध्य एशिया तथा भारत, लुटेरों के झुंडों तथा साम्राजीय शासन-व्यवस्था और तिमूर तथा अकबर को जोड़नेवाली कड़ी है।"

हिन्दुस्तान की ओर

बाबर लिखता है, "विस्तृत राज्य प्राप्त करने के अतिरिक्त भारत विजय से एक महान् लाभ यह है कि यहाँ सोने की शिलाओं और सिक्कों का बाहुल्य है।" इसलिये जब काबुल विजय के उपरान्त उसको रसद की आवश्यकता हुई तो उसने हिन्दुस्तान की ओर लोभपूर्ण दृष्टि से देखा। (१) १५०४ ई० में वह पेशावर-अटक मार्ग से चला और खैबर में होकर आगे बढ़ा किन्तु सिन्ध को पार न करके वह कोहाट की ओर मुड़ गया। यहाँ पर उसे लूट में विपुल धन-राशि प्राप्त हुई। (२) १५०७ ई० में कुछ वाद-विवाद के उपरान्त उसने हिन्दुस्तान की ओर बढ़ने का सङ्कल्प किया। इसलिये उसने काबुल का भार अपने एक चचेरे भाई को सौंप दिया और बढ़कर अदीनापुर (जलालाबाद) तक आ पहुँचा, मार्ग में उसे अफगानों से लड़ना पड़ा किन्तु 'शान्ति के समय में भी डाकुओं और लुटेरों का सा व्यवहार करनेवाले' उन लोगों को दमन करने का उसका प्रयत्न निष्फल रहा। तब तक शैबानी खाँ पीछे लौट गया, इससे प्रोत्साहित होकर बाबर भी अपनी राजधानी को वापस चला गया और इस प्रकार उसका हिन्दुस्तान की ओर बढ़ना फिर भी स्थगित हो गया। (३) बाबर ने शाह इस्माइल के उदाहरण से लाभ उठाया और एक शक्तिशाली तोपखाना बनाने का संकल्प किया। इस काम को पूरा करने के लिये उसने उस्ताद अली नामक एक ओटोमन तुर्क को अपने यहाँ नौकर रख लिया और तोपखाने का अध्यक्ष नियुक्त किया। इसी प्रकार १५२० तथा १५२५ ई० के बीच किसी समय उसने इसी काम के लिये मुस्तफा नामक एक अन्य तुर्क को अपनी सेना में भर्ती कर लिया। इससे स्पष्ट है कि बाबर ने बहुत पहले से भारत विजय की पक्की तैयारियाँ आरम्भ कर दी थीं। रशब्रुक विलियम्स लिखते हैं, "उसका शक्तिशाली तोपखाना उसकी हिन्दुस्तान विजय का सबसे महत्वपूर्ण कारण था।" (४) हिन्दुस्तान को जीतने का प्रयत्न करने से पहले बाबर ने काबुल के उत्तर-पूर्व में स्थित किलों तथा जातियों को एक बार पुनः अधीन करने की चेष्टा की।

पाँच आक्रमण

बाबर को विजय की वास्तविक प्रेरणा अपने एक अमीर से मिली जिसने कहा, "इसलिये आगे बढ़िये और संसार के सर्वश्रेष्ठ देश पर अधिकार कर लीजिये। सिन्ध के उस पार एक साम्राज्य की स्थापना कीजिये जिसके लिये आपके पूर्वज मार्ग दिखला गये हैं। जाइये और हिन्दुस्तान के मध्य में अपना दरबार

जगाइये और तातारी की बर्फ और तुषार को छोड़कर हिन्दुस्तान के फूलों का आनन्द लूटिये। हर चीज आपको दक्षिण की ओर आमंत्रित कर रही है। ईश्वर आपको काबुल तक ले आया है और हिन्दुस्तान के मार्ग पर खड़ा कर दिया है। ईश्वर तथा मुहम्मद की आज्ञा है कि आप हिन्दुस्तान में मूर्ति पूजा का नाश करें।' इसका बाबर पर जो प्रभाव पड़ा वह उसके इस बयान से स्पष्ट है जिसे उसने पानीपत के युद्ध के उपरान्त लिखा :—

हिजरी सन् ९१० में मैंने काबुल के राज्य पर अधिकार किया। उस समय से लेकर [illegible] अब तक कि घटनाओं को मैं यहाँ [illegible] कर रहा हूँ हिन्दुस्तान की विजय का विचार कभी भी मेरे मन से नहीं हटा। किन्तु इस कार्य को पूरा करने का अवसर मुझे कभी नहीं मिला; कभी-कभी मेरे बेगों के डर के कारण और कभी कभी मुझमें तथा मेरे भाइयों में सहयोग न होने से इस काम में बाधा पड़ती रही। किन्तु अन्त में सौभाग्यवश ये सब रोड़े दूर हो गये। छोटे और बड़े बेगों और कप्तानों आदि किसी ने भी इस योजना के विरुद्ध एक शब्द कहने का साहस नहीं किया इसलिये ९२५ हिजरी (१५१९ ई०) में मैं एक विशाल सेना लेकर चल पड़ा और बाजौर को हस्तगत करके विजय कार्य प्रारम्भ किया — उस समय से लेकर ९३२ हिजरी (१५२६ ई०) तक मैं निरन्तर क्रियात्मक रूप से भारत के मामलों में संलग्न रहा। और सात आठ वर्ष के दौरान में मैं स्वयम् सेना लेकर यहाँ पाँच बार गया। ईश्वर की अनुकम्पा और उदारता से पाँचवीं बार सुल्तान इब्राहीम जैसा भयंकर शत्रु मेरे प्रहारों से धराशायी हो गया और हिन्दुस्तान का विशाल साम्राज्य मेरे अधिकार में आगया'।

पहला आक्रमण—१५१९ ई० में बाबर ने बाजौर को घेर लिया और तीव्र संघर्ष के उपरान्त उस पर अधिकार कर लिया; इस विजय में बाबर के नये तोपखाने का निर्णायक हाथ रहा। 'महान् ईश्वर के अनुग्रह तथा दया से इस शक्तिशाली दुर्ग पर दो तीन घंटे के भीतर ही अधिकार हो गया; दुर्ग की सुरक्षा के अनुकूल ही मेरे वीरों का संघर्ष और प्रयत्न रहा; उन्होंने शूरत्व का प्रदर्शन किया और यश तथा कीर्ति प्राप्त की।' इसे बाबर हिन्दुस्तान के मार्ग में पहला कदम समझता था। बाजौर में उसने सम्पूर्ण जनता का संहार करवा दिया किन्तु ऐसा करने में उसका वास्तविक उद्देश्य उदाहरण उपस्थित करना था। इसके उपरान्त वह झेलम पर स्थित भीरा की ओर बढ़ा और वहाँ उसने अधिक संयम से काम लिया। 'चूँकि मेरे हृदय में हिन्दुस्तान को अधिकृत करने की सदैव अभिलाषा लगी रहती थी और चूँकि इन अनेक देशों पर एक बार तुर्कों का अधिकार रह चुका था इसलिये मैं उन्हें अपना ही समझता था और बलपूर्वक अथवा शान्तिमय तरीकों से जैसे भी हो उन्हें हस्तगत करने का संकल्प कर चुका था। इन्हीं कारणों से पर्वतीय लोगों के साथ सद्व्यवहार करना अनिवार्य हो गया। इसलिये मैंने आज्ञा दी 'इन लोगों के पशुओं और भेड़ों को कोई हानि न पहुँचाओ और उनके सूती चिथड़ों और टूटी हुई सुइयों को भी मत छुओ'।

इसके बाद उसने मुल्ला मुर्शीद को राजदूत बनाकर सुल्तान इब्राहीम के पास भेजा और माँग की कि 'जो देश प्राचीनकाल में तुर्कों के अधिकार में थे, उन्हें मेरे सुपुर्द करदो।' मुल्ला को पंजाब के सूबेदार दौलत खाँ के लिए भी उसने पत्र दिये। किन्तु, बाबर लिखता है कि हिन्दुस्तान के लोग और विशेषकर अफगान 'विचित्र प्रकार से मूर्ख तथा बुद्धिहीन हैं।' मुल्ला मुर्शीद को कुछ समय के लिये लाहौर में रोक लिया गया, इसलिये 'मेरा राजदूत पाँच महीने उपरान्त बिना कोई उत्तर पाये काबुल लौट आया।' बाबर ने भारत छोड़ दिया और भीरा को हिन्दूबेग को सौंप गया किन्तु हिन्दुस्तानियों ने उसे शीघ्र ही मार भगाया।

दूसरा आक्रमण—उसी वर्ष, सितम्बर १५१६ में बाबर ने खैबर में होकर फिर कूच किया; इस बार उसका उद्देश्य यूसुफज़ाइयों का दमन करना और पेशावर के किले में रसद एकत्र करना था जिससे उसे हिन्दुस्तान पर भावी आक्रमण का आधार बनाया जा सकता। किन्तु उसी समय बदख्शाँ से उपद्रवों का समाचार मिला और उसे वापिस लौटना पड़ा। बदख्शाँ १५२० ई० में बाबर के अधिकार में आगया।

तीसरा आक्रमण—१५२० ई० में बाबर ने तीसरा आक्रमण किया और बाजौर होता हुआ भीरा की ओर बढ़ा। मार्ग में उसने उद्दण्ड अफगान जन-जातियों का दमन किया और फिर स्यालकोट जा पहुँचा, उस दुर्ग पर बिना प्रहार किये ही उसका अधिकार हो गया। सैयदपुर के लोगों ने बाबर का सामना किया किन्तु उन्हे भी सरलता से दबा दिया गया। किन्तु कांधार के शासक शाहबेग अर्घून से युद्ध करने के लिये बाबर को फिर शीघ्रता से वापिस लौटना पडा। दो निष्फल प्रयत्नों के बाद, १५२२ ई० में बाबर ने सूबेदार मौलाना अब्दुल-बाग़ी के विश्वासघात के द्वारा कांधार पर अन्तिम रूप से अधिकार कर लिया। शाहबेग ने सिन्ध पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और वहीं रहने लगा और कांधार को बाबर ने अपने दूसरे लडके कामरान के सुपुर्द कर दिया।

चौथा आक्रमण—इस प्रकार जब अपने राज्य में बाबर की स्थिति पूर्ण-तया सुरक्षित हो गई, तब १५२४ ई० में उसने चौथी बार भारत पर आक्रमण किया। पंजाब का सूबेदार दौलत खाँ बहुत शक्तिशाली हो रहा था। सुल्तान इब्राहीम ने उसे दिल्ली बुलाया था। किन्तु दौलत खाँ स्वयम् दरबार में उपस्थित नहीं हुआ और इस प्रकार सुल्तान को अप्रसन्न कर दिया। अपने को सुल्तान के क्रोध से बचाने के लिये दौलत खाँ ने इब्राहीम लोदी को अपदस्थ करके उसके चाचा आलम खाँ (अलाउद्दीन) को सिंहासन पर बिठलाने के लिये षड्यन्त्र रचा। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये उसने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिये निमन्त्रण दिया और अपने बेटे दिलावर खाँ को उसके पास भेजा। बाबर ने तत्परता से यह निमंत्रण स्वीकार कर लिया और एक बार पुन. झेलम तथा चिनाब की घाटियों में बढ़ आया। लाहौर और दिपालपुर शीघ्र ही उसके

हाथों में आ गये। दौलत खाँ को दिल्ली की सेनाओं ने परास्त किया और देश के बाहर खदेड़ दिया। किन्तु कुछ समय बाद वह फिर लौट आया और बाबर की सहायता से अपना पद पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया। किन्तु बाबर ने उसे केवल जालन्धर और सुल्तानपुर दिये। दौलत खाँ को इससे बहुत निराशा हुई। आक्रमणकारी ने इन जागीरों को उसके पुत्र दिलावर खाँ के सुपुर्द कर दिया, जो उससे अधिक विश्वसनीय था। दिपालपुर आलम खाँ को दे दिया गया। दौलत खाँ और उसका दूसरा पुत्र गाजी खाँ पहाड़ियों में भाग गये और बाबर के वापिस चले जाने पर ही लौटे। उन्होंने दिलावर से सुल्तानपुर और आलम खाँ से दिपालपुर छीन लिया। इब्राहीम ने दौलत खाँ का दमन करने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहा। किन्तु लाहौर में स्थित बाबर की सैनिक टुकड़ी ने उसे परास्त किया। इस अनिश्चित अवस्था के कारण आलम खाँ भाग कर काबुल पहुँचा और दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करने के लिये एक बार फिर बाबर से सहायता माँगी। इसके बदले में उसने बाबर को लाहौर तथा पश्चिमी पंजाब का स्वामित्व सौंपने का वचन दिया। इस समझौते के उपरान्त आलम खाँ फिर लौटकर भारत में आ गया। किन्तु कुटिल दौलत खाँ ने फुसलाकर उसे अपनी ओर मिला लिया और उन दोनों ने मिलकर दिल्ली पर आक्रमण किया किन्तु सुल्तान इब्राहीम ने उन्हें मारकर खदेड़ दिया।

पाँचवा आक्रमण—नवम्बर १५२५ ई० में एक विशाल सेना लेकर बाबर ने अन्तिम बार भारत की सीमाओं में प्रवेश किया। इससे पहले वह अपने साथ इतनी बड़ी सेना कभी नहीं लाया था। हुमायूँ भी बदख्शाँ से एक टुकड़ी लेकर उससे आ मिला था। जैसे ही उसने झेलम को पार किया लाहौर की सेना भी उसके साथ हो गई। सब मिलाकर उसके अनुयायियों की संख्या १२,० से अधिक न थी और उनमें से ८,००० से अधिक सक्षम वाले नहीं रहे होंगे। सियालकोट हाथ से निकल गया था और भारत में स्थित उसके सेनापति लाहौर में एकत्र हो गये थे। किन्तु उधर अकेला दौलत खाँ लोदी ४०,००० सेना लेकर युद्ध क्षेत्र में आ डटा था। शीघ्र ही इब्राहीम लोदी भी १ ०,००० सेना तथा लड़ाकू हाथियों की विशाल वाहिनी लेकर उसका सामना करनेवाला था। किन्तु दौलत खाँ का दल बाबर के पहुँचते ही तितर बितर हो गया। २६ फरवरी १५२६ को हुमायूँ ने शाही फौज के एक अग्रगामी दल पर पहली विजय प्राप्त की। इब्राहीम दिल्ली से चला और बाबर सरहिन्द और अम्बाला से आगे बढ़ा। १ अप्रैल को फिर बाबर के अनुयायियों की सुल्तान की एक टुकड़ी से मुठभेड़ हो गई और उन्होंने उसे कुचल दिया। १२ से १९ अप्रैल तक पूरे एक सप्ताह भर दोनों सेनाएँ पानीपत के मैदान में जिसे प्रकृति ने राष्ट्रों का युद्ध क्षेत्र होने के लिये बनाया है, आमने-सामने पड़ी रहीं और कोई युद्ध नहीं हुआ।

KASHMIR
RAJPUTANA
BUNDELKHAND
BENGAL
GONDWANA
BERAR
AHMADNAGAR
BIDAR
GOLCONDA
BIJAPUR
VIJAYA
NAGAR
ABIAN
SEA
BAY OF
BENGAL
English Miles
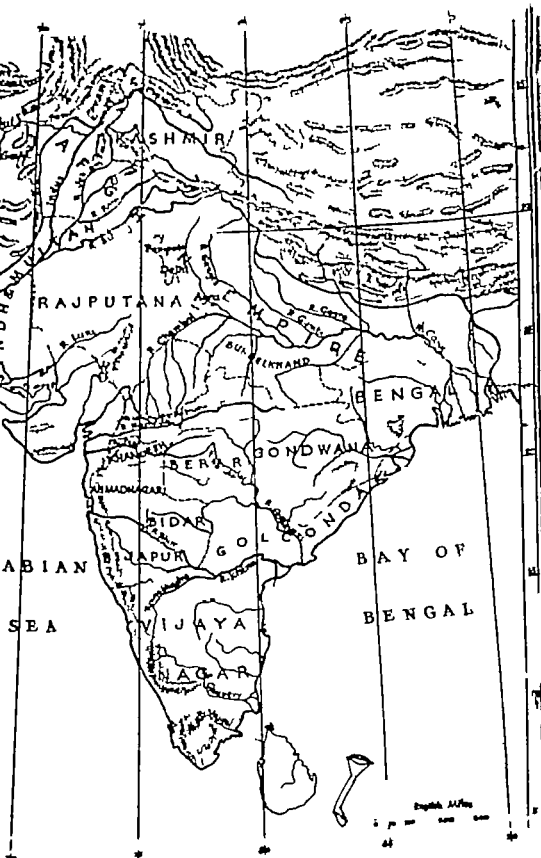
पानीपत का प्रथम युद्ध

२१ अप्रैल १५२६ को संग्राम हुआ। 'एक ओर निराशा जनित साहस और वैज्ञानिक युद्ध-प्रणाली के कुछ साधन थे, दूसरी ओर मध्यकालीन ढंग के सैनिकों की भीड़ थी जो भालों और धनुष बाणों से सुसज्जित थी और जो मूर्खता-पूर्ण तथा अव्यवस्थित ढंग से जमा हो गई थी।' १९ अप्रैल की रात को बाबर के योद्धाओं ने आक्रमण किया किन्तु असफल रहे और इससे उनमें घबड़ाहट फैल गई। शत्रु के इस प्रभावहीन आचरण से प्रोत्साहित होकर शाही फौज आगे बढ़ी। उसकी संख्या विशाल थी, इसलिये उसे सहसा शत्रु की ओर टूटना पड़ा; उसका सामना बहुत चौड़ा था इसलिये बाबर के संकीर्ण मोर्चे से भिड़ने के लिये जैसे ही उसने अपने को सँभाला और फिर से व्यवस्थित किया वैसे ही वह छिन्न-भिन्न हो गया। अपने शत्रु की तुलना में बाबर रणनीति में कहीं अधिक दक्ष था, इसलिये शीघ्र ही उसने 'तुलग़मा' नामक सामरिक चाल से काम लिया और साथ ही साथ तोपखाने का प्रयोग किया। मुगलों ने भारतीयों को चारों ओर से घेर लिया, उन पर आक्रमण किया, खदेड़ दिया और काट डाला। शायद ही कोई युद्ध 'इस प्रकार लड़ा गया हो, इस प्रकार शत्रु का पीछा किया गया हो और इतनी अच्छी जीत हुई हो।'

'जिस समय संग्राम आरम्भ हुआ, सूर्य आकाश में चढ़ चुका था और मध्याह्न तक लड़ाई चलती रही, अन्त में शत्रु दल छिन्न भिन्न हो गया और खदेड़ दिया गया और मेरे योद्धा विजयी हुए। ईश्वर के प्रताप तथा अनुकम्पा से कठिन कार्य मेरे लिये सरल होगया और आधे ही दिन में वह शक्तिशाली सेना धूल में मिल गई।'

युद्ध के परिणाम—इब्राहीम खेत रहा और उसके साथ ग्वालियर का राजा विक्रम भी जिसने अपने देश की रक्षा के लिये मुस्लिम सुल्तान का साथ दिया था, वीरगति को प्राप्त हुआ। जिस स्थान पर सुल्तान मरा पड़ा था उसके निकट ६००० शव गिने गये; रण-क्षेत्र के विभिन्न भागों में १५,००० अथवा १६,००० सैनिक काम आये थे। 'आगरा पहुँचकर हमें ज्ञात हुआ कि हिन्दुस्तान के निवासियों की गणना के अनुसार ४०,००० अथवा ५०,००० व्यक्ति मारे गये थे। 'एक महान् प्रयत्न के परिणामस्वरूप देश एक स्वामी के हाथों से निकलकर दूसरे के अधिकार में चला गया।' 'दिल्ली के अफगानों के लिये पानीपत का युद्ध विनाशकारी सिद्ध हुआ। उसने उनके साम्राज्य का अन्त तथा शक्ति का अवसान कर दिया।' पानीपत के युद्ध से बाबर की हिन्दुस्तान-विजय के मार्ग की दूसरी मंजिल पूरी हो गई।

इब्राहीम लोदी में व्यक्तिगत पराक्रम का अभाव नहीं था किन्तु बाबर के मूल्यांकन के अनुसार वह 'अनुभवहीन युवक था और उसकी गतिविधि सावधानी-पूर्ण नहीं थी, वह अव्यवस्थित ढंग से कूच करता, बिना किसी योजना के ठहर-

जाता अथवा पीछे मुड़ जाता और बिना दूरदर्शिता के शत्रु से भिड़ जाता।' एक सप्ताह भर दोनों सेनाएँ आमने-सामने पड़ी रहीं, उससे बाबर का ही लाभ हुआ। उसके सैनिकों को आत्मविश्वास पुनः प्राप्त करने का अवसर मिल गया। दिल्ली सेना अत्यधिक वेग से आई थी और कूँच करने के उपरान्त कहीं रुकी नहीं थी उसका अनुशासन इतना अच्छा नहीं था कि वह परिस्थितियों के अनुसार व्यवस्थित ढंग से अपने को सँभाल-सुधार सकती। जब सहसा उसे इस प्रकार का प्रयत्न करना पड़ा तो उसकी विशाल संख्या में घोर गड़बड़ फैल गई। इसके विपरीत बाबर परखा हुआ तथा साधन-सम्पन्न सेनानायक था और उसके योद्धा छँटे हुए तथा अनुशासन बद्ध थे 'उसके सैनिकों में भी युद्ध आरम्भ होने के समय कम घबराहट और आतंक नहीं था किन्तु उनके सम्राट की शान्त दृढ़ता और समग्र सामरिक चालों के कारण उनका आत्मविश्वास फिर दृढ़ हो गया और उनका साहस पुनः बँध गया।" बाबर ने अपने अश्वारोही दल तथा तोपखाने को वैज्ञानिक ढंग से संयुक्त करके युद्ध में झोंका, उसकी तुलना में इब्राहीम के हाथियों की विशाल संख्या शक्ति का नहीं बल्कि दुर्बलता का स्रोत सिद्ध हुई।

बाद की घटनाएँ—विजय के उपरान्त तुरन्त ही बाबर ने हुमायूँ को द्रुतगामी दस्ते के साथ आगरा भेज दिया और एक दूसरे दल को दिल्ली जाकर किले तथा कोष पर अधिकार करने की आज्ञा दी। २७ फरवरी को राजधानी में उसके नाम से खुतबा पढ़ा गया। अपनी मुख्य सेना को लेकर बाबर आगे बढ़ा और मुस्लिम संतों तथा योद्धाओं की कब्रों का दर्शन करने के लिये दिल्ली के सामने यमुना तट पर ठहर गया। 'बृहस्पतिवार २८ रजब (१ मई) को मध्याह्नोत्तर नमाज के समय के बाद मैंने आगरा में प्रवेश किया और सुल्तान इब्राहीम के महल में ठहर गया।' यहाँ पर हुमायूँ ने पिता को अन्य कोष के साथ एक हीरा (कोहनूर ?) भेंट किया जिसका मूल्य सम्पूर्ण संसार के आधे दिन के व्यय के बराबर था। किन्तु पिता ने उदारतापूर्वक अपने पुत्र की सेवाओं की सराहना की और पुरस्कारस्वरूप ७०,००० दाम (१०० पौं) के मूल्य की अन्य भेंटों के साथ वह हीरा भी उसी को दे दिया। सात लाख के मूल्य का एक परगना इब्राहीम की माता को दिया गया और उसके प्रत्येक अमीर को परगने दिये गये। आगरा के नीचे एक कोस की दूरी पर स्थित एक किला उसे रहने के लिये दे दिया गया और उसे सम्पूर्ण सामान सहित वहाँ पहुँचा दिया गया। अपने प्रत्येक बेग को भी बाबर ने छः से दस लाख दाम तक (१,५०० से २,५०० पौं० तक) दिये। सैनिकों को भी लूट के धन का भाग मिला। वितरण के समय उसने व्यापारियों तथा विद्यार्थियों तक को नहीं भुलाया और जो अनुपस्थित थे उनके भाग भी अलग कर दिये गये। फरगाना खुरासान काशगर और ईरान में रहनेवाले उसके मित्र सोना, चाँदी, वस्त्र रत्न तथा गुलामों को भेंट के रूप में पाकर विस्मय से चकित हो गये। हिरात समरकन्द, मक्का और मदीना के फकीरों और सन्तों को भी भेंट भेजी गई और काबुल के प्रत्येक पुरुष

और स्त्री—स्वतन्त्र अथवा गुलाम, युवा अथवा वृद्ध को एक-एक चाँदी का सिक्का विजय के उपलक्ष में मिला। शेष धन सेना तथा प्रशासन के व्यय के लिये राजधानी के तहखानों में जमा कर दिया गया।

पानीपत के बाद की समस्यायें

अफगान—जब मैं पहले-पहले आगरा आया, उस समय स्थानीय जनता तथा मेरे लोगों के बीच गहरी घृणा तथा शत्रुता थी। देश के किसान तथा सैनिक मेरे लोगों से बचते और उन्हें देखकर भाग खड़े होते। इसके बाद दिल्ली तथा आगरा को छोड़कर अन्य सभी स्थानों में लोगों ने चौकियों की किलेबन्दी कर ली और नगरों के शासकों ने अपने किलों को रक्षात्मक कार्यवाही के लिये सुदृढ़ कर लिया और समर्पण करने अथवा आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। पानीपत की विजय के उपरान्त जिस स्थिति का बाबर को सामना करना पड़ा उसका उसने स्वयं इन शब्दों में वर्णन किया है :—

'(क) कासिम सम्भाली सम्भल में था, (ख) निजाम खाँ बयाना में, (ग) राजा हसन खाँ मेवाती स्वयं मेवात में। 'यही काफिर सब उपद्रवों तथा विद्रोहों की जड़ था।' (घ) कन्नौज तथा गंगा के उस पार का समस्त प्रदेश नासिर खाँ लोहानी, मारूफ फरमूली आदि उद्दण्ड अफगानों के अधिकार में था, इनके अतिरिक्त अन्य अनेक अमीर भी थे जो इब्राहीम की मृत्यु के ३२ वर्ष पहले से खुला विद्रोह कर रहे थे।

जिस समय मैंने उस सुल्तान को परास्त किया इन लोगों ने कन्नौज को रौंद डाला था और उस पर अधिकार कर लिया था और आगे बढ़कर, कन्नौज से दो-तीन मंजिल इस ओर अपने डेरे डाल दिये थे। उन्होंने दरया खाँ के पुत्र बिहार खाँ (अथवा बहादुर खाँ) को अपना राजा चुन लिया और उसे सुल्तान महमूद की उपाधि प्रदान की। जब मैं आगरा आया उस समय हम लोगों को न तो अपने लिये अन्न मिल सका और न घोड़ों के लिये चारा। हम लोगों से शत्रुता के कारण गाँवों के निवासियों ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया और चोरी तथा लूट मार करने लगे। सड़कों पर चलना संकटास्पद हो गया।

कोष का वितरण करने के उपरान्त मुझे इतना समय न मिला कि विभिन्न परगनों पर अधिकार करने तथा उनकी रक्षा के लिये उपयुक्त व्यक्तियों को भेज सकता।' उस वर्ष गर्मी सदैव से अधिक पड़ी जिससे बाबर के बहुत से आदमी मर गये, इससे स्थिति और भी अधिक भयंकर हो गई। अनेक बेगों तथा सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों का साहस टूटने लगा, वे हिन्दुस्तान में रहने से इनकार करने और वापस लौटने की तैयारियाँ तक करने लगे। 'मेरे सैनिकों की यह बड़बड़ाहट शीघ्र ही मेरे कानों तक पहुँची और मैंने अपने बेगों की एक सभा बुलाई। मैंने उनसे कहा कि ईश्वर की शक्ति से मैंने भयंकर शत्रु को नष्ट कर दिया है और उन अनेक प्रान्तों और राज्यों पर विजय प्राप्त कर ली है जो इस समय हमारे अधिकार में हैं और अब, जब कि अपना लक्ष्य प्राप्त करने में हम अपना जीवन खपा चुके हैं, ऐसी क्या शक्ति अथवा कठिनाई उपस्थित हो गई है जो हमें अपनी विजयों को त्यागकर भागने और निराशा तथा पराजय का कलंक लेकर काबुल को वापस लौटने

पर शासन कर रहा है ? कोई स्पष्ट कारण तो दिखाई नहीं देता। "अब आगे कोई भी जो अपने को मेरा मित्र कहता है, कभी ऐसा प्रस्ताव न करे। किन्तु यदि आप में कोई ऐसा व्यक्ति है जो यहाँ ठहर नहीं सकता और वापस जाने का संकल्प त्याग नहीं सकता वह चला जाय।' मेरे इस उचित तथा सुनिश्चित प्रस्ताव को सुनकर, असन्तुष्ट लोगों को बाध्य होकर अपना द्रोहपूर्ण उद्देश्य त्यागना पड़ा चाहे अनिच्छा से ही उन्होंने ऐसा किया हो।'

अफगानों का दमन करने का कार्य बाबर को स्थगित करना पड़ा क्योंकि उससे पहले उसे एक अधिक भयंकर शत्रु का सामना करना पड़ा।

राजपूत—मेवाड़ का राणा संग्रामसिंह जिसका सर्वप्रिय नाम राणा साँगा था, तथा चन्देरी का मेदिनीराय—ये दो दुर्धर्ष योद्धा थे जिनके नेतृत्व में राजपूतों ने इस आक्रमणकारी को मार भगाने का संकल्प किया। हसन खाँ मेवाती तथा इब्राहीम लोदी का भाई सुल्तान महमूद लोदी आदि मुसलमान भी राणा के झण्डे के नीचे इकट्ठे हो गए। इससे स्पष्ट है कि यह मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं का युद्ध नहीं था बल्कि सम्पूर्ण देश के शत्रु के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा था। अहमद यादगार अपनी पुस्तक 'तारीखे सलातीने अफगाना' में लिखता है

'राणा साँगा ने जो उस समय एक शक्तिशाली राजा था हसन खाँ मेवाती को यह सन्देश भेजा: मुगल लोग हिन्दुस्तान में घुस आये हैं, सुल्तान इब्राहीम लोदी को उन्होंने मार डाला है और देश पर अधिकार कर लिया है, यह स्पष्ट है कि अब वे हम दोनों के विरुद्ध भी सेनाएँ भेजेंगे; यदि आपने हमारी सहायता की तो हम दोनों जीवित रह सकेंगे और उन्हें देश पर आधिपत्य स्थापित नहीं करने देंगे।" '

किन्तु बाबर की निगाह में यह युद्ध काफिरों के विरुद्ध जिनसे कुछ भ्रमपूर्ण मुसलमान भी आ मिले थे एक जिहाद था। विजय के उपरान्त उसने गाज़ी की उपाधि धारण की इससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। वह स्वयं लिखता है, "मैंने शाही उपाधियों में गाज़ी का भी प्रयोग किया।' अपने उत्साहहीन तथा घर लौटने के लालायित सैनिकों को उत्तेजित करने के लिये यह आवश्यक भी था। छोटे-बड़े सभी लोगों में आतंक और घबराहट छा गई। एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जो वीरतापूर्ण शब्दों का उच्चारण करता और न कोई ऐसा ही था जो वीरतापूर्ण मत देता। न तो वजीरों ने ही, जिनका कर्तव्य अच्छी सलाह देना था और न अमीरों ने ही जो राज्य के धन का उपभोग करते आये थे, बहादुरी की बात कही और न उनकी राय अथवा आचरण ही ऐसा था जैसा कि दृढ़चरित्र व्यक्तियों का होना चाहिये।' बाबर के आदमियों ने राजपूतों के शूरत्व की घबराहट उत्पन्न करनेवाली कहानियाँ सुन रक्खी थीं प्रारम्भिक झपटों ने उनका डर और भी पक्का कर दिया। जैसा कि लेनपूल लिखते हैं "अब बाबर को ऐसे उच्चकोटि के योद्धाओं का सामना करना पड़ा जैसों से पहले कभी उसकी टक्कर

नहीं हुई थी। राजपूत शक्तिशाली, वीर, युद्ध तथा रक्तपात के भूखे, सबल राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित, शत्रु शिविर के बड़े से बड़े वीर से टक्कर लेने के लिये उद्यत और सदैव अपने सम्मान की रक्षा के लिये जीवन अर्पण करने के लिये तैयार थे।" उसी समय एक ज्योतिषी ने जिसे बाबर ने दुर्मति तथा धूर्त कहा है, भविष्यवाणी की जिससे लोगों को स्थिति और भी अधिक संकटापन्न लगने लगी। किन्तु सदैव की भाँति इस बार भी बाबर स्थिति के अनुरूप सिद्ध हुआ।

'प्रथम जुमदा की २३ तारीख को, सोमवार के दिन मैंने घोडे पर चढकर अपनी चौकियों की पड़ताल की, उसी समय मुझे सहसा ध्यान आया कि मैं पहले अनेक बार वास्तविक प्रायश्चित करने का संकल्प कर चुका हूं।' गजनी के मसूद की भाँति वह पक्का मद्यपी था, अब उसने सदैव के लिये मदिरा त्यागने का संकल्प किया। इसलिये 'मैंने सोने तथा चाँदी की सुराहियों और प्याले तथा मदिरा उत्सवों में प्रयुक्त होनेवाले सभी पात्र मंगाये और उन्हें तोड डालने की आज्ञा दी और अपना मन शुद्ध करके मद्यपान त्याग दिया। सुराहियों आदि के टुकडों को मैंने दरिद्र लोगों तथा फकीरों में बँटवा दिया।' गजनी से हाल ही में जो शराब आई थी उसमें नमक डलवा दिया गया, शिविर में और जितनी मिली उसे पृथ्वी पर लुढ़कवा दिया गया और इस पुण्यकार्य के स्मारक स्वरूप उस स्थान पर एक कुँआ खुदवाया तथा एक दानशाला बनवाई गई। अपने मुसलमान अनुयायियों के प्रति उदारता प्रकट करने के लिये उसने समस्त राज्य में मुसलमानों पर से तैमगा नाम का कर हटा दिया। अपने सैनिकों के स्नायुओं को दृढ़ तथा रक्त को उत्तेजित करने के लिये उसने इन शब्दों में उन्हें ललकारा—

"अमीरो तथा सैनिको! प्रत्येक व्यक्ति जो इस संसार में आता है, नाशवान है। ... सम्मानपूर्वक मरना अपकीर्ति लेकर जीने से कितना अच्छा है। ... सर्वश्रेष्ठ परमात्मा ने प्रसन्न होकर हमें इस कार्य में नियोजित किया है, यदि हम मारे गये तो वीरगति को प्राप्त होंगे और यदि विजयी हुए तो ईश्वर के उद्देश्य की जीत होगी। हम सबको एक होकर ईश्वर के नाम से शपथ लेनी चाहिये कि जब तक हमारे शरीरों में प्राण रहेंगे तब तक हम इस प्रकार की मृत्यु से विमुख नहीं होंगे और न युद्ध की कठिनाइयों से ही मुख मोडेंगे।"

उसके शब्दों को चरितार्थ करने के लिये नए वर्ष के दिन (१२ मार्च १५२७), 'उन्होंने अनेक काफिरों को लिया और उनके सिर काट डाले। ... इससे सेना के उत्साह में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई और उसका आत्मविश्वास दृढ हो गया। उन्होंने अपनी स्त्रियों को तलाक की तथा कुरान पर हाथ रखकर शपथ ली,' उन्होंने फातिहा पढा और कहा, "हे राजन्! यदि ईश्वर ने चाहा तो जब तक हमारे शरीरों में साँस तथा प्राण हैं तब तक हम किसी प्रकार के त्याग तथा भक्ति से मुख नहीं मोडेंगे।"

जिहाद—११ फरवरी १५२७ को बाबर ने काफिरों के विरुद्ध जिहाद की घोषणा की। इन कथनों द्वारा उसे उचित ठहराया गया :

(१) 'यद्यपि जब मैं काबुल में था, उस समय काफिर राणा साँगा ने मेरे पास अपना एक दूत मित्रता का सन्देश लेकर भेजा और वचन दिया कि यदि आपने उस दिशा से दिल्ली की ओर कूँच किया तो मैं दूसरी ओर से आगरा पर धावा बोल दूँगा किन्तु जब मैंने इब्राहीम को पराजित कर दिया और दिल्ली तथा आगरा पर अधिकार कर लिया, तब भी वह तनिक भी नहीं हिला डुला।' (२) इसके विपरीत राणा ने बाबर पर विश्वासघात का आरोप लगाया और विशेषरूप से कहा कि कालपी, धौलपुर, बयाना और आगरा मुझे मिलने चाहिये किन्तु बाबर ने इन सब पर अधिकार कर लिया था। (३) राणा साँगा ने बयाना के निज़ाम खाँ पर चार चिट्ठियाँ दाई, तब उस सरदार ने बाबर के पास दूत भेजा और सहायता की प्रार्थना की और बदले में मुगल सम्राट के प्रति सम्मान प्रकट करने का वचन दिया। बाबर ने बिना हिचकिचाहट के उसकी भक्ति को स्वीकार कर लिया और राणा को बाहर निकालने के लिए एक दल भेज दिया। बयाना तथा उसके अधीन प्रदेश स्थायी रूप से खाँ को दे दिये गये और इसके बदले में उसने १२ लाख रुपया प्रति वर्ष कर रूप में देना स्वीकार कर लिया।

१६ मार्च १५२७ को शनिवार के दिन कानुआ के मैदान (सीकरी से दस मील; आगरा से बीस मील) में दोनों सेनाओं में टक्कर हुई। बाबर की युद्ध योजना मुख्यतया वैसी ही थी जैसी कि पानीपत में, अन्तर केवल इतना था कि इस बार उसने अपनी तोपों को पहियेदार तिपाइयों पर चढ़ाया जिससे उन्हें सरलता से घुमाया जा सके। योजना की अन्य विशेषता यह थी कि एक विशाल रक्षित दल अलग रख लिया गया था। बाबर ने स्वयं केन्द्रीय मोर्चे का संचालन किया और हुमायूँ ने दायें तथा महदी ख्वाजा ने बायें पार्श्व का भार सँभाला। राजपूतों की सेना उनके शत्रुदल से सात अथवा आठ गुनी थी और यद्यपि इस अवसर पर बाबर की फौज पानीपत की तुलना में अधिक थी किन्तु सैनिकों के निरुत्साह तथा डगमगाहट से जिसे दबाने का बाबर ने अग्नि प्रयत्न किया से सिद्ध होता है कि उनका मनोबल उतना अच्छा नहीं था।

परिणाम—फिर भी बाबर की विजय पूर्ण तथा निर्णायक सिद्ध हुई। 'ऐसा कोई राजपूत कुल नहीं था जिसके श्रेष्ठ नायक का रक्त न बहा हो।' राणा साँगा स्वयम् बुरी तरह घायल हुआ किन्तु किसी प्रकार बच कर भाग गया। घोर राजपूतों के सिरों का एक ऊँचा ढेर बना दिया गया और जैसा कि हम पहले लिख आये हैं बाबर ने गाज़ी की उपाधि धारण की।

कानुआ के युद्ध के परिणाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण हुये। (१) राजपूती प्रभुत्व का संकट जो भारतीय मुसलमानों के सिर पर पिछले दस वर्ष से मँडरा रहा था सदैव के लिये टल गया। (२) अब भारत में मुगल साम्राज्य की नींव सुदृढ़ हो गई। रशब्रुक विलियम्स लिखते हैं "बाबर अब निश्चयपूर्वक सुल्तान इब्राहीम के सिंहासन पर बैठ गया था और उसकी सफलता का सबसे बड़ा चिह्न

यह था कि उसने सुल्तान इब्राहीम के सबसे भयंकर शत्रुओं का नाश कर दिया था। इस समय तक बाबर का हिन्दुस्तान पर अधिकार उसके साहसिक जीवन की एक साधारण घटनामात्र कहा जा सकता था किन्तु इसके बाद वह उसके शेष जीवन में उसके कार्यों का केन्द्र बिन्दु बन गया। भाग्य की खोज में घूमने के उसके दिन अब समाप्त हो गये : "भाग्य लक्ष्मी अब उसकी थी, केवल उसे अपने को उसके योग्य सिद्ध करना था। इस युद्ध से उसके जीवन की एक नई मंजिल प्रारम्भ हुई और इसके बाद फिर कभी उसे अपना सिंहासन तथा जीवन एक युद्ध के दाँव पर नहीं लगाना पड़ा। युद्ध उसे इसके बाद भी करना पड़ा और डट कर करना पड़ा किन्तु अपनी शक्ति के विस्तार, विद्रोहियों के दमन तथा राज्य में व्यवस्था स्थापित करने के लिये। सिंहासन के लिये उसे कभी नहीं लड़ना पड़ा।" (३) वह आगे लिखते हैं, "यह भी महत्व की बात है कि बाबर स्थिति को भली-भाँति समझता था इसलिये अब उसकी शक्ति का गुरुत्वाकर्षण केन्द्र काबुल से हटकर हिन्दुस्तान में आ गया। अपने जीवन के शेष दिन उसने दृढ़ सङ्कल्प के साथ भारत में विताये और जब तक मृत्यु ने उसे उठा नहीं लिया तब तक वह निरन्तर युद्ध करने, शासन करने, व्यवस्था स्थापित करने तथा सब चीज़ों को ठोस बुनियाद पर खड़ा करने के प्रयत्न में संलग्न रहा।" (४) एक वर्ष के भीतर बाबर ने दो निर्णायक प्रहार किये जिससे दो सुसंगठित तथा महान् दलों की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई; पानीपत के युद्ध ने भारत में अफगानों की शक्ति को पूर्णतया चकनाचूर कर दिया था और कानुआ के युद्ध ने राजपूतों के संघ को कुचल दिया।

विद्रोहियों का दमन—बाबर ने अपने पदाधिकारियों को शेष देश को अधिकृत करने की आज्ञा दी और छोटे छोटे दलों के साथ उन्हें विभिन्न दिशाओं में भेजा। "इन छोटे दलों ने अत्यधिक उत्साह के साथ लड़ाई लड़ी क्योंकि वे जानते थे कि इस प्रकार हम अपने भाग्य का निर्माण कर रहे हैं और नये प्रदेशों की विजय से हमारे स्वामी के साम्राज्य का विस्तार हो रहा है।"

हुमायूँ सभल, जौनपुर, गाजीपुर और कालपी को विजय किया, मुहम्मद-अली जंग ने खीरी को हस्तगत कर लिया; महदी ख्वाजा ने इटावा को, सुल्तान मुहम्मद दुल्दरी ने कन्नौज को और सुल्तान जुनैद बर्लास ने धौलपुर को अधिकृत कर लिया। कोल (दोआब) के शेख गुरें को सुरक्षा वचन देकर मुगलों ने अपनी ओर मिला लिया और लोदी सुल्तान के एक महत्वपूर्ण सहायक शेख बायज़िद को अवध में एक करोड़ रुपये के मूल्य की एक जागीर दे दी गई। राजपूतों के डर से बयाना तथा ग्वालियर के शासकों ने बाबर का साथ दिया था; और लोहानी तथा फरमूली सरदार जिन्होंने सुल्तान महमूद का पक्ष लिया था वे बाबर की सेनाओं के जमाव को देखकर तितर-बितर हो गये। हसन खाँ मेवाती कानुआ के युद्ध में मारा गया था।

जब बाबर का हिन्दुस्तान पर दृढ़ अधिकार स्थापित हो गया, तब उसने हुमायूँ को बदख्शाँ तथा अन्य महत्त्वपूर्ण पदाधिकारियों को भारत के बाहर साम्राज्य के अन्य भागों में भेज दिया। कन्धार की अन्तिम विजय १५२२ ई० में हुई थी। तब से वह कामरान के अधिकार में था। बाबर ने अपने बूढ़े सेनापति ख्वाजा कलाँ को पानीपत के युद्ध के बाद ग़ज़नी भेज दिया था। १५२७ ई० में जब मुलतान अधिकार में आ गया तो अस्करी को उसका भार सौंप दिया गया। हिन्दाल काबुल में था।

१५२६ ई० में बाबर ने अफ़ग़ानिस्तान में ख्वाजा कलाँ को एक पत्र लिखा 'कुछ सीमा तक हिन्दुस्तान की स्थिति सुव्यवस्थित हो चुकी है और सर्वशक्तिमान ईश्वर में मेरा विश्वास है कि वह समय निकट ही है जब उसकी कृपा से सब कुछ ठीक ठीक हो जावेगा।' किन्तु खानुआ के युद्ध के बाद अपनी इस आशा को पूरा करने से पहले बाबर को तीन और शत्रुओं से निबटना पड़ा।

(१) चन्देरी का मेदिनीराय—प्रथम रबी की चौदह तारीख को सोमवार के दिन (९ दिसम्बर, १५२७) मैं अपने एक प्रण के अनुसार कूराल के निकट स्थित चन्देरी के विरुद्ध जिहाद लड़ने के लिये चल पड़ा।[1] — पहले चन्देरी माँडू के सुल्तानों के अधीन रह चुकी थी जब राणा साँगा अपनी सेना लेकर इब्राहीम से लड़ने के लिये धौलपुर तक बढ़ आया तब माण्डू के अमीरों ने अपने सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और उसी समय चन्देरी राणा साँगा के हाथ में आ गई। उसने उसे मेदिनीराय नामक प्रभावशाली काफ़िर को सौंप दिया और इस समय वही ४००० अथवा ५००० काफ़िरों के साथ उस स्थान पर डटा हुआ था। मैंने उनके पास एक सन्देश भेजा और दया तथा अनुग्रह का आश्वासन दिया और चन्देरी के बदले में शम्साबाद भी देने का वचन दिया। उसके निकट दो-तीन प्रभावशाली व्यक्ति थे जिन्होंने समझौते का विरोध किया और संधि-वार्ता बिना सफलता के भंग हो गई। इसलिये हम लोगों ने चारों ओर से गढ़ पर आक्रमण किया।[1] हमारे कुछ सैनिकों पर भयंकर प्रहार हुये और कई तलवार के घाट उतार दिया गया। अपने किले से उन्होंने इतना साहसपूर्ण धावा बोला, इसका मुख्य कारण यह था कि उन्होंने समझ लिया था कि अब किले की रक्षा करना असम्भव है इसलिये उन्होंने अपनी सब पत्नियों तथा स्त्रियों को मार डाला और मरने का संकल्प करके तथा नंगे होकर युद्ध के लिये निकल पड़े; उन्होंने दुर्दमनीय साहस के साथ संग्राम किया और हमारे लोगों को दीवालों के नीचे फेंक दिया। दो-तीन सौ काफ़िर मेदनीराय के महल में घुस गये, वहाँ उनमें से अनेक ने एक दूसरे को मार डाला। इस प्रकार बहुत-से दोज़ख को चले गये और ईश्वर की कृपा से दो-तीन घड़ी के भीतर ही बिना अपना झण्डा फहराये बिना नगाड़ा बजाये और बिना अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग किये मैंने उस प्रसिद्ध किले पर अधिकार कर लिया। चन्देरी के उत्तर पश्चिम में स्थित एक पहाड़ी की चोटी पर मैंने काफ़िरों के सिरों का एक मीनार बनवाया। मैंने चन्देरी को सुल्तान नासिरुद्दीन के नाती अहमदशाह के सुपुर्द कर दिया और उसे

पचास लाख प्रति वर्ष शाही-कोष में राजस्व के रूप में जमा करने की आज्ञा दी।' अहमद यादगार भी लिखता है; 'अमीरों को काफिरों की उस सेना से इतना धन लूट में मिला कि वह राजा की सेना के कई वर्ष के व्यय के लिये पर्याप्त हो गया।'

(२) अफगान विद्रोही—२ फरवरी १५२८ को बाबर उन अफगान विद्रोहियों को दण्ड देने के लिये चल पड़ा जो बिहार से निकलकर दोआब में बढ़ आये थे और जिन्होंने शम्साबाद को घेर लिया तथा कन्नौज से शाही दुर्ग-रक्षकों को मार भगाया था। बाबर के वहाँ पहुँचने पर शत्रु ने गंगा को पार किया और उसका मार्ग रोकने के लिये नदी के बाएँ किनारे पर अपनी सेना एकत्र कर ली। २७ फरवरी को सम्राट गंगा-तट पर पहुँच गया और १३ मार्च तक उसकी चौड़ी धार पर पुल बँधवा दिया; विद्रोही सिर पर पैर रखकर भाग खड़े हुए और बाबर ने अवध तक उनका पीछा किया। इसके बाद बाबर वर्षा-ऋतु बिताने के लिये आगरा लौट गया।

'प्रथम जमदा की ३ तारीख को, बृहस्पति के दिन मुझे पत्र प्राप्त हुए जिनमें लिखा हुआ था कि इस्कन्दर के पुत्र महमूद ने बिहार पर अधिकार कर लिया है। १७ तारीख, बृहस्पतिवार को हम लोग आठ कोस चलकर कड़ा के एक परगना दकदकी में जो गंगा के किनारे पर स्थित है, ठहर गये। ...जब हम इस स्थान के निकट ही थे, हमको एक के बाद एक शीघ्रता से समाचार मिले कि सुल्तान महमूद ने अपने झण्डे के नीचे १००,००० अफगान एकत्र कर लिये हैं और चुनार की ओर बढ़ रहा है; शेर खाँ भी जिसे मैंने अनुग्रहसूचक चिन्हों से विभूषित किया, जिसे कई परगने दिये और उस प्रदेश का शासन सौंप दिया था, आ अफगानों से जा मिला था। ' २४ तारीख को... ऐसा प्रतीत हुआ कि विद्रोहियों ने आकर चुनार घेर लिया है किन्तु मेरे पहुँचने का निश्चित समाचार पाकर वे भयभीत हो उठे, घबड़ाकर तितर-बितर हो गये और घेरा उठा लिया।'

(३) बंगाल का नसरतशाह—इसके बाद विद्रोहियों ने जाकर बंगाल में शरण ली। बाबर ने बंगाल के शासक नसरतशाह से सन्धि की बात-चीत आरम्भ कर दी क्योंकि जैसा कि वह स्वयं लिखता है, 'चूँकि बंगाल के साथ मेरा शान्तिपूर्ण सम्बन्ध था और मैं सदैव ऐसा समझौता करने के लिये तैयार रहता था जिससे मैत्री सम्बन्ध के दृढ़ होने की आशा होती।' इसमें असफल होने पर बाबर ने उसको चिनौती भेज दी। 'यदि तुमने मार्ग खुला न छोड़ा और मेरी शिकायतों पर ध्यान न दिया तो जो कुछ विपत्ति तुम्हारे सिर पर पड़े, उसको अपने ही कुकर्मों का फल समझना चाहिये, और जो भी अवांछनीय घटनाएँ घटें उनके लिये तुम्हें अपने को ही दोषी ठहराना चाहिये।'

६ मई १५२९ को घाघरा (बक्सर) के युद्ध से झगड़े का निर्णय हो गया। बंगालियों के लिये इसका विनाशकारी परिणाम हुआ: 'बंगाली लोग कुशल तोपची होने के लिये प्रसिद्ध हैं। इस बार हमें उनका निरीक्षण करने का अच्छा अवसर मिला। वे किसी एक लक्ष्य पर गोले नहीं बरसाते बल्कि इधर-उधर

फेंकते रहते हैं।' "शत्रु ने बढ़कर प्रतिरोध किया किन्तु बाबर की ओर से तोप चलाने का प्रयोग अत्यन्त कुशलता के साथ किया गया। आगे-पीछे तथा दाएँ-बाएँ से मार पड़ने से शत्रु सेना छिन्न-भिन्न हो गई और भाग खड़ी हुई। कुशल सेनानायकत्व के कारण पराक्रम की पुनः विजय हुई।" बंगाल के साथ मुगलों की सन्धि हो गई जिसके अनुसार दोनों पक्षों ने एक दूसरे के प्रभुत्व का सम्मान करने और एक दूसरे के शत्रुओं को शरण अथवा सहायता न देने का वचन दिया। शेख बायज़िद ने जो सदैव विद्रोहियों का साथ देता आया था, एक बार पुनः लखनऊ पर आक्रमण किया किन्तु अधिक समय तक डट न सका।

पैसा ज्ञात हुआ कि शत्रु ने रमज़ान की १२ तारीख को शनिवार के दिन आक्रमण किया किन्तु कुछ कर न सका। जिस समय आक्रमण चल रहा था किले के भीतर लकड़ी सूखी घास में पटाखे, तारपीन तथा अन्य ज्वलनशील पदार्थ फेंककर आग लगायी गई, जिससे किले का भीतरी भाग भट्टी की भाँति तपने लगा और दीवालों पर खड़ा होना असम्भव हो गया और परिणाम यह हुआ कि दुर्ग पर अधिकार कर लिया गया। 'शव्वाल की १८ तारीख को आधी रात के समय मैं आगरा के हस्त बिहिश्त बाग में पहुँच गया।'

बाबर के अन्तिम दिन

बाबर के जीवन के अब बहुत कम दिन शेष रह गये थे। जब हिन्दुस्तान में हर चीज़ व्यवस्थित हो गई तो उसने अफगानिस्तान में ख्वाजा कलाँ को लिखा 'यदि ईश्वर ने चाहा तो मैं बिना एक क्षण भी नष्ट किये आपके यहाँ के लिये प्रस्थान कर दूँगा। उन देशों के आनन्द की स्मृति हृदय पट से कैसे मिटाई जा सकती है। मुझ जैसा व्यक्ति जिसने मदिरा न पीने तथा शुद्ध जीवन का व्रत ले लिया है, उस सुन्दर भूमि के स्वादिष्ट तरबूजों और अंगूरों को कैसे भूल सकता है। उस दिन लोग मेरे लिये एक खरबूजा लाये; जैसे ही मैंने उसे काटा मुझे घर की याद दुख देने लगी, मुझे अनुभव हुआ कि मैं अपने देश से बिछुड़ा हुआ हूँ और मैं रोये बिना न रह सका।' अपने संकल्प के अनुसार उसने प्रस्थान कर दिया और लाहौर तक पहुँच गया; वहाँ उसकी कामरान से भेंट हुई। उज़बेगों के विरुद्ध हुमायूँ की विफलता से उसे भारी निराशा हुई थी। अपने सबसे छोटे पुत्र हिन्दाल को भी उसने काबुल से वापस बुला लिया था। यद्यपि उसमें असाधारण शक्ति तथा बल था, फिर भी निरन्तर युद्धों, मारे मारे फिरने तथा प्रारम्भिक जीवन में अतिशय मद्यपान के कारण उसका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था।

एक बार वह अपनी बगलों में एक-एक आदमी को दबाकर किले की बुर्जी के सहारे दौड़ गया और बीच के कटाव को लाँघकर पार कर गया और यहाँ तक कि मार्च १५२९ में उसने लिखा 'सिलवाक में मैं गंगा को तैरकर पार कर गया। मैंने अपने हाथ गिने और ज्ञात हुआ कि केवल तैंतीस हाथों में ही मैं तैरकर उस पार पहुँच गया था। फिर मैंने थोड़ी साँस ली और उधर से तैरकर इस पार आ गया। गंगा को छोड़कर अन्य

जितनी नदियाँ मेरे मार्ग में पड़ीं थीं उन सबको मैंने तैरकर ही पार किया था।' वह निरन्तर घोड़े की पीठ पर ही रहता और कभी-कभी एक-एक दिन में ८० मील चला जाता, उसके चलने की रफ्तार वास्तव में आश्चर्यजनक थी।

इब्राहीम लोदी की माँ ने उसे विष दिलवा दिया था किन्तु उससे भी वह बच गया। लेकिन अब उसकी शक्ति क्षीण होने लगी और ऐसा प्रतीत होता था कि उसकी मानसिक शक्ति का भी ह्रास होने लगा था। एक षडयन्त्र रचा गया जिसका उद्देश्य हुमायूँ को हटाकर बाबर के बहनोई मीर मुहम्मद महदी ख्वाजा को सिंहासन पर बिठलाना था। हुमायूँ को समय पर इसकी चेतावनी मिल गई और वह शीघ्र ही अपनी माता के साथ आगरा की ओर चल पड़ा और २७ जून १५२६ को वहाँ पहुँच गया। बाबर ने हुमायूँ से कहा, "यदि ईश्वर तुम्हें सिंहासन तथा मुकुट प्रदान कर दे तो तुम अपने भाइयों का बध मत करवाना और सावधानी से उनकी देख-भाल करना।" १५३० ई० की ग्रीष्म में हुमायूँ को एक कठिन रोग ने घेर लिया। उसी दशा में उसे सम्भल से दिल्ली पहुँचाया गया। जब बाबर ने यह सुना तो हुमायूँ की माता माहम से उसने प्रेमपूर्वक कहा, "यद्यपि मेरे और भी पुत्र हैं किन्तु जितना प्रेम मैं हुमायूँ से करता हूँ उतना और किसी से नहीं। मेरी कामना है कि इस बच्चे की इच्छाएँ पूरी हों और वह दीर्घजीवी हो, मैं राज्य भी उसी को देना चाहता हूँ क्योंकि उसके समान योग्य और कोई नहीं है।" स्कूलों के छोटे बालक भी जानते हैं कि किस प्रकार बाबर ने अपने पुत्र का रोग अपने ऊपर ले लिया और उसे बचाने के लिये अपना बलिदान कर दिया। जैसे ही हुमायूँ अच्छा होने लगा बाबर की दशा बिगड़ती गई और दो-तीन महीने बाद २६ दिसम्बर १५३० को उसका देहावसान हो गया।

मृत्यु से ठीक पहले उसने अपने अमीरों को पास बुलाया और कहा, "कई वर्ष से मेरे मन में यह आ रहा था कि हुमायूँ को सिंहासन सौंपकर मैं हश्त-बिहिश्त बाग में जाकर एकान्त जीवन बिताने लगूँ। जब तक मैं स्वस्थ रहा, ईश्वर की अनुकम्पा से इसको छोड़कर मेरी अन्य सभी इच्छाएँ पूरी होती रहीं। अब, जबकि, मैं रोगग्रस्त पड़ा हूँ, आप लोगों को आदेश देता हूँ कि हुमायूँ को मेरा उत्तराधिकारी स्वीकार कर लो और सदैव उसके प्रति वफादार रहो। अनन्य हृदय और मस्तिष्क से उसकी सेवा करो और मेरी भी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि हुमायूँ का भी सबके प्रति अच्छा आचरण हो।" फिर हुमायूँ की ओर मुड़कर भाइयों के प्रति बर्ताव के सम्बन्ध में उसे फिर चेतावनी दी "हुमायूँ, मैं तुम्हें, तुम्हारे भाइयों को, अपने सब सम्बन्धियों को, तुम्हारे तथा अपने लोगों को ईश्वर की दया पर छोड़ता हूँ और उन सबको मैं तुम्हारे सुपुर्द करता हूँ।......मेरी अन्तिम इच्छा का सार यही है कि अपने भाइयों के विरुद्ध कभी कोई कार्य मत करना, चाहे वे उसके योग्य ही क्यों न हों।"

बाबर की इच्छा के अनुसार उसका शरीर काबुल ले जाया गया और एक पहाड़ी के किनारे एक अधिकतम मनमोहक स्थान पर बहती हुई शीतल सरिता तथा सुगन्धित पुष्पों के बीच दफना दिया गया।

"मृत्यु इस विजेता पर विजय नहीं पा सकती क्योंकि
अब वह अपने ग्रन्थरूपी शरीर द्वारा जीवित है।"

बाबर का मूल्यांकन

बाबर के सम्बन्ध में वी० ए० स्मिथ लिखते हैं कि वह "अपने युग के एशियाई शासकों में सबसे अधिक प्रतिभाशाली था और किसी भी देश तथा काल के सम्राटों में उच्च पद पाने के योग्य था। हैवेल का मत है कि 'उसके आकर्षक व्यक्तित्व, कलात्मक स्वभाव रोचक तथा आश्चर्यजनक जीवन के कारण उसका स्थान इस्लाम के इतिहास के सबसे अधिक चित्ताकर्षक व्यक्तियों में है।' फरिश्ता लिखता है, "बाबर की आकृति सुन्दर बातचीत का ढंग आकर्षक तथा स्वाभाविक, परम प्रसन्न और स्वभाव मिलनसार था।" उसके चचेरे भाई मिर्जा हैदर के मत का भी कम मूल्य नहीं है। वह लिखता है कि बाबर 'अनेक गुणों से विभूषित तथा असाधारण विशिष्टताओं से सम्पन्न था, उसमें शूरता तथा मानवता सर्वोपरि थी। वास्तव में उससे पहले उसके परिवार में इतना प्रतिभा सम्पन्न अन्य कोई व्यक्ति नहीं हुआ था और न उसकी जाति (नस्ल) के किसी व्यक्ति ने ऐसे विस्मय तथा वीरतापूर्ण काम किये थे और न ऐसे विचित्र साहस तथा संकटमय जीवन का ही अनुभव किया था।'

'तुर्की काव्य-रचना में बाबर का स्थान अमीर अली शेर के बाद दूसरा था। उसने अत्यधिक सरल तथा सुबोध तुर्की में एक दीवान लिखा है। उसने मुबाइयन नामक एक काव्य शैली का आविष्कार किया और कानून पर एक अत्यन्त लाभदायक ग्रन्थ लिखा जिसे सामान्यरूप से स्वीकार कर लिया गया है। तुर्की काव्य शास्त्र पर भी उसने एक निबन्ध लिखा जो सबसे अधिक लालित्यपूर्ण है। और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उसके तुर्की संस्मरण हैं जिनकी शैली सरल एवं मार्मिक तथा परिष्कृत है। संगीत तथा अन्य कलाओं में भी वह बेजोड़ था।'

बाबर की प्रतिभा निस्सन्देह असाधारण थी, वह ललितकलाओं का प्रेमी था, प्रकृति के अध्ययन में उसे जन्म से ही रुचि थी, वस्तुओं तथा मनुष्यों का सूक्ष्म तथा आलोचनात्मक निरीक्षण करने में वह कुशल था और साथ ही साथ उच्चकोटि का लेखक भी था। उसने एक ऐसे वंश की स्थापना की जिसका स्थान भारत पर शासन करनेवाले सबसे अधिक ऐश्वर्यवान राजवंशों में है और इस प्रकार वह अपने को अमर कर गया है; यही नहीं, आत्मचरित लिखनेवालों में वह सर्वश्रेष्ठ था और बाद की पीढ़ियों के लिये आनन्ददायक संस्मरण छोड़ गया है जिसमें उन देशों के प्राकृतिक दृश्यों, जलवायु, उपज कलाकृतियों उद्योग धन्धों आदि के वर्णन भरे पड़े हैं, जिनका उसने पर्यटन किया था; ऐसे पूर्ण तथा सूक्ष्म वर्णन शायद ही किसी आधुनिक पर्यटक के ग्रन्थ में मिल सकें और जिन परिस्थितियों में वे लिखे गये थे उनको ध्यान में रखते हुए तो वे वास्तव में

आश्चर्यजनक प्रतीत होते हैं।' एर्सकाइन लिखते हैं, "उसके चरित्र का अन्य कोई अंग इतना प्रशंसनीय नहीं है जितनी उसकी एकरूप मानवता और स्वाभाविक दयालुता। यदि उसके संस्मरणों में यत्र-तत्र क्रूर हत्याओं का उल्लेख आता है तो इसके लिये हमें उसे नहीं बल्कि उसके युग को दोषी ठहराना चाहिये। उसके शासन-काल का इतिहास लिखने वालों का कहना है कि जब कभी उसके अमीरों अथवा भाइयों ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया और उन्होंने जैसे ही अपना अपराध स्वीकार कर लिया और पुनः अपने कर्तव्य का पालन करने लग गये वैसे ही वह उन्हें क्षमा कर दिया करता था, यद्यपि जैसा कि खफी खाँ लिखता है, इस प्रकार का आचरण ईरान, अरब और भारत आदि सभी देशों के शासकों की परिपाटी के विरुद्ध था। यही नहीं, वह उनके प्रति किसी प्रकार की दुर्भावनाएँ भी नहीं रखता था।" ईश्वर में बाबर की गहरी आस्था थी। वह कहा करता था, "ईश्वर की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। हमें चाहिये कि अपने को उसके आश्रय में छोड़कर आगे बढ़ते जायँ।" अपनी साधारण से साधारण सफलता को वह ईश्वर की अनुकम्पा का ही परिणाम समझता था। इब्राहीम लोदी पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त उसने राजधानी में प्रवेश करने से पहले दिल्ली के निकट स्थित मुसलमान सन्तों और वीरों की समाधियों के दर्शन किये। कानुआ के युद्ध से पहले उसने मद्यपान त्याग दिया, उसका यह कार्य ईश्वर के समक्ष अपने पापों के हार्दिक प्रायश्चित्त का द्योतक था।

बाबर सेनानायक के रूप में—बाबर का इतिहास जिसका हम पिछले पृष्ठों में वर्णन कर आये है, प्रतिभापूर्ण सेनानायकत्व की कहानी है। 'वह स्वयं प्रशंसनीय घुड़सवार, कुशल निशान लगाने और तलवार चलाने वाला तथा शक्तिशाली शिकारी था। साथ ही साथ उसमें अपने सैनिकों को आकृष्ट करने की अद्भुत प्रतिभा थी। इन गुणों के अतिरिक्त उसमें जन्म से ही एक महान् नेता की विशेषताएँ विद्यमान थी। वह सदैव अपने लोगों के साथ आनन्द मनाता और कष्ट भोगता और अपनी सेना के प्रत्येक अधिकारी तथा सामान्य सैनिक को भलीभाँति जानता था।

अपने संस्मरणों में एक सुन्दर स्थल पर उसने अपने प्रारम्भिक जीवन की एक साहसिक घटना का वर्णन किया है। उसको यहाँ उद्धृत करना उपयुक्त होगा क्योंकि उससे उसके चरित्र के इस पक्ष पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

'उस रात का तूफान अत्यधिक भयकर था और बर्फ इतनी भारी गिर रही थी कि हम सब मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगे। जब हम पर्वत की कन्दरा मे पहुँचे, उस समय तूफान का जोर सबसे अधिक था। उसके द्वार पर हम उतर गये। गहरी बर्फ! एक व्यक्ति के निकलने योग्य मार्ग! और उसमें भी गड्ढे जिनमें घोड़ों के गिरने का डर। दिन सबसे छोटे! पहले आनेवाले दिन के प्रकाश में गुफा में प्रवेश कर गये, जो पीछे रह गये वे जहाँ के तहाँ उतर गये, जब अरुणोदय हुआ तो अनेक अपने घोड़ों की पीठ पर ही बैठे

मिले। कमरा बहुत छोटी थी। मैंने एक फावड़ा लो, बर्फ काट कर साफ की और गुफा के द्वार पर नमाज़ पढ़ने के कालीन के बराबर स्थान अपने लिये निकाल लिया। अपने सीने तक गहरी बर्फ मैंने खोदी किन्तु पृथ्वी तक न पहुँच सका। तब मैं उस गड्ढे में बैठ गया जिससे तूफान से कुछ रक्षा हो गई। मेरे साथियों ने मुझसे भीतर जाने की प्रार्थना की किन्तु मैंने इनकार कर दिया। मैंने सोचा कि मैं भीतर गर्म स्थान में आराम से बैठूँ और मेरे साथी बर्फ और तूफान में खड़े रहें। मैं आराम से सोऊँ और मेरे साथी बाहर कष्ट और दुःख भोगें, यह मनुष्य का काम नहीं है और एकता भी को शोभा नहीं देता। जिन कष्टों को अन्य कोई व्यक्ति सह सकता है उन्हें मैं भी सह सकता हूँ। क्योंकि जैसी एक फारसी लोकोक्ति है, मित्रों के साथ में मृत्यु भी वैवाहिक भोज के सदृश आनन्ददायक होती है। इसलिये मैं आँधी तथा बर्फ के बीच उसी गड्ढे में खड़ा रहा और चार या पाँच गहरी बर्फ मेरे सिर पर, पीठ तथा कानों के पास जमा हो गई।'

किन्तु जहाँ कठोरता की आवश्यकता होती वहाँ बाबर कभी नहीं हिचकिचाता था। फरिश्ता लिखता है, 'दुर्व्यवहार को रोकने के लिये वह शक्ति का प्रयोग तक करने से नहीं चूकता था। वह आगे लिखता है 'केवल उसकी उपस्थिति से ही दौलत खाँ लोदी के परिवार के सम्मान की रक्षा होगई। इसी अवसर पर बाबर ने अपने अफसरों से दौलत खाँ के पुत्र गाज़ी खाँ द्वारा जो कवि तथा विद्वान था, एकत्र किये हुए एक सुन्दर पुस्तकालय को बचा लिया।' बाबर स्वयं लिखता है, 'जब मुझे ज्ञात हुआ कि सैनिकों ने भहरा के निवासियों पर कुछ अत्याचार किये हैं और उनके साथ दुर्व्यवहार कर रहे हैं तो मैंने एक दल भेजा और थोड़े से अपराधी सैनिकों को पकड़वा लिया, कुछ को मैंने तलवार के घाट उतार दिया और कुछ की नाक काट कर शिविर में घुमाया। चूँकि जो देश तुर्कों के अधिकार में रह चुके थे उन्हें मैं अपनी ही भूमि समझता था इसलिये मैं किसी प्रकार की लूटमार सहन करने के लिये तैयार नहीं था।'

अपने शत्रु की सेनाओं तथा सेनापतियों की शक्ति तथा दुर्बलता को भली भाँति परख लेने की बाबर में अद्भुत क्षमता थी; वास्तव में सैन्य संचालकों में अन्य गुणों से अधिक इस क्षमता की आवश्यकता होती है। उसका सर्वोपरि गुण था उसका जन्मजात साहस, इसके अतिरिक्त उसकी इच्छाशक्ति अडिग थी और महत्वाकांक्षा दुर्दमनीय। वह स्वयं लिखता है "मेरे हृदय में विजय की महत्वाकांक्षा तथा प्रभुत्व लालसा हिलोरें मार रही थीं, इसलिये मैं एक-दो पराजय से निष्क्रिय होकर बैठनेवाला नहीं था।

यदि युद्ध में पराजय भी हुई तो उससे क्या उससे सब कुछ नहीं खो जाता—दुर्दमनीय इच्छा तथा साहस को कभी नहीं खोना चाहिये।

बाबर शासक के रूप में—बाबर का साम्राज्य बदख्शाँ से बंगाल तथा ऑक्सस से गंगा तक विस्तृत था। केवल भारत में ही उसका विस्तार पश्चिम में भीरा से पूर्व में बिहार तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण में चन्देरी तक फैला।

हुआ था। किन्तु 'मेरे पास इतना समय नही था कि मैं विभिन्न परगनों तथा चौकियों पर अधिकार करने और उनकी रक्षा करने के लिये उपयुक्त व्यक्तियों को भेज सकता।' युद्धों तथा विजयों में बाबर इतना व्यस्त रहा कि अपने विशाल साम्राज्य के प्रशासन-सम्बन्धी पुन. संगठन की ओर ध्यान देना उसके लिये सम्भव न हो सका। ऐसा प्रतीत होता है कि विजय के उपरान्त उसका प्राथमिक उद्देश्य शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित रखना था। अपनी सैनिक प्रतिभा तथा सुयोग्य सेना की सहायता से इस कार्य को सम्पादित करने के लिये वह सर्वथा योग्य था। किन्तु विजय का संगठन तथा प्रशासन का सगठन—ये दोनों चीज़ें पूर्णतया भिन्न हैं, दूसरे प्रकार के सगठन के लिये सर्वथा भिन्न प्रकार की प्रतिभा की आवश्यकता होती है। यह प्रतिभा शेरशाह तथा अकबर में विद्यमान थी, बाबर में नहीं।

संकटों तथा कठिनाइयों का आह्वान करना, युद्ध में पराक्रम दिखाना, प्रमाद तथा सुख को राजाओं के लिये अशोभनीय समझकर त्यागना, बेगों तथा मन्त्रियों से मंत्रणा करना, निजी भोजों से बचना, प्रतिदिन दो बार दरबार बुलाना और सेना की शक्ति तथा अनुशासन को बनाये रखना—ये सिद्धान्त थे जिन्हे अपनाने के लिये उसने हुमायूँ पर बार-बार जोर दिया और ऐसा प्रतीत होता है कि उसके आचरण सम्बन्धी नियम भी इन्हीं तक सीमित थे। इसमें सन्देह नहीं कि वह उच्छृङ्खल लुटेरों के उत्पीडन से अपनी प्रजा की रक्षा करने के लिये चिन्तित रहता था, जैसा कि उसके संस्मरणों के निम्नाङ्कित उद्धरण से स्पष्ट है .

'जब जब मैने हिन्दुस्तान में प्रवेश किया है, तब तब जाटों तथा गूजरों ने नियमपूर्वक विशाल सख्या में अपने पहाडों तथा जगलों मे निकलकर बैलों तथा भैंसों को हाँक ले जाने के उद्देश्य से आक्रमण किया है। इन्हीं धूर्तों ने वास्तव में अत्यधिक कष्ट दिया और देश में घोरतम उत्पीडन के लिये जिम्मेदार थे। पहले समयों में भी पजाब के इन जिलों मे निरन्तर विद्रोह होते रहे और इनसे बहुत कम राजस्व वसूल होता था। इस अवसर पर जब मने निकटवर्ती सभी जिलों को अधीन कर लिया तब उन्होने अपना दुराचार फिर आरम्भ कर दिया ।······मैने इस प्रकार के कुकृत्य करनेवालों को ढूंढकर पकडवा लिया और उनमें से दो-तीन को टुकडे-टुकडे करवा दिया।'

अहमद यादगार ने एक अन्य उदाहरण दिया है जिससे ज्ञात होता है कि डाकुओं तथा लुटेरों का दमन करने में बाबर अत्यधिक क्रूरता से काम लेता था। 'जब वह सरहिन्द पहुँचा, तो समन के एक काजी ने उससे शिकायत की कि मोहन मुन्धैर ने मेरी जागीर पर आक्रमण करके उसे जला दिया है और मेरी समग्र सम्पत्ति लूट ली तथा पुत्र का वध कर दिया है। उस प्रतापी विश्वविजेता ने अली कुली हमदानी को तीन हजार अश्वारोही देकर भेजा और कहा कि प्रार्थी को मुन्धैरों ने जो क्षति पहुँचाई है, उसका जाकर बदला लो। लगभग एक हजार मुन्धैर मारे गये और लगभग उतने ही पुरुष, स्त्रियाँ तथा बच्चे बन्दी बनाये

गये। संहार भीषण हुआ और कटे हुए सिरों का ढेर लग गया और मोहन जीवित ही पकड़ लिया गया। जब बग्री दिल्ली वापस गये तो स्त्रियाँ सब मुगलों को सौंप दी गईं। अपराधी मुखिया को कमर तक पृथ्वी में गाड़ दिया गया और फिर बाणों से छेद छेद कर उसे मार डाला गया। इस घटना से सदा के लिए हिन्द के लोगों में इतना सम्मान उत्पन्न हो गया कि इसके बाद किसी ने न तो विद्रोह करने का ही साहस किया और न आज्ञा-उल्लंघन करने का।'

इसके अतिरिक्त बाबर ने अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों के बीच यातायात तथा संचार के साधनों को समुचित बनाने के लिए भी आवश्यक कार्य किये, उदाहरण के लिये उसने आगरा तथा काबुल के बीच स्थित सड़क कला को सुव्यवस्थित रखने के लिये विशेष सावधानी से काम लिया पन्द्रह पन्द्रह मील की दूरी पर डाक चौकियाँ स्थापित कीं और प्रत्येक पर छः छः घुड़सवार हरकारे तथा उचित पदाधिकारी नियुक्त किए। फरिश्ता लिखता है, "जब कभी वह कूच करता तो अपने पीछे छूटी हुई सड़कों की नाप अवश्य करवाता यह प्रथा हिन्दुस्तान के सम्राटों में अब तक प्रचलित है; और दूरी नापने का जो नियम उसने चलाया उसका आज तक पालन किया जाता है। जिस समय वह हिन्दुस्तान में आया उस समय यहाँ गज़ सिकन्दरी का प्रयोग होता था उसको हटाकर उसने बाबर गज़ चलाया, जिसका प्रयोग जहाँगीर बादशाह के शासन काल तक होता रहा।'

बाबर की रुचि कलापूर्ण थी, इसलिये सुन्दर उद्यानों, भवनों, जलाशयों तथा पुलों के निर्माण में भी उसको आनन्द आता था। वह लिखता है केवल 'आगरा में, मेरे महलों में प्रतिदिन ६८० व्यक्ति काम करते थे और आगरा, सीकरी बयाना, धौलपुर, ग्वालियर और कोइल में मेरे भवनों के निर्माण में १४९१ तक्षक (संगतराश) कार्य करते थे।' अहमद यादगार ने लिखा है, 'सम्राट के शासन काल के दूसरे वर्ष में यमुना नदी के तट पर एक सुन्दर उद्यान लगाया गया। उसी उद्यान में वह अपने सुगाढ़ साथियों तथा मित्रों की संगति में आमोद प्रमोद में अपना समय बिताता और वहाँ उसके सम्मुख लाल कपोलों वाली मनमोहक नर्तकियाँ गाना गातीं और अपने कौशल का प्रदर्शन करतीं।' इसी प्रकार के एक भव्य उद्यान का निर्माण मिर्ज़ा कामरान ने लाहौर में कराया।

बाबर जिस देश में आया वह इतना धनी था कि स्वयं लोभ भी उसकी कल्पना तक न कर सकता था। उसने लिखा है 'हिन्दुस्तान की मुख्य विशेषता यह है कि यह एक विशाल देश है और सोने तथा चाँदी का यहाँ बाहुल्य है।' इससे उसे भारी राजस्व प्राप्त होता था; वसूल करने की उसने प्राचीन व्यवस्था को ही बनाये रक्खा किसी नये संगठन का निर्माण नहीं किया। 'बहराह से लेकर बिहार तक जो इस समय मेरे अधिकार में है उससे मुझे ५२ करोड़ (टका) की आय

होती है, जैसा कि विशिष्ट तथा व्यौरेवार विवरण से स्पष्ट है।* इसमें से ८ अथवा ६ करोड की आय के परगने कुछ रायों तथा राजाओं के अधिकार में हैं, वे प्राचीनकाल से ही अधीनता स्वीकार करते आये हैं और ये परगने उन्हें इसलिये दे दिये गये हैं कि वे पूर्ववत आज्ञाकारी बने रहें।'

जैसा कि एर्सकाइन ने लिखा है, बाबर के साम्राज्य के भारत के बाहर के अधिकतर भागों में और विशेषकर दुर्गम पर्वतों और उपत्यकाओं में बसने वाली उद्दण्ड जातियों ने उसका आधिपत्य कभी भली भाँति नहीं स्वीकार किया; और यदि उन्होंने नाममात्र को भी उसकी अधीनता मान ली तो बुद्धिमत्तापूर्वक उसने उसी से सन्तोष कर लिया और उसी को कर समझा। ऊपरी तथा निचले सिन्ध में उसके नाम का ख़ुतबा पढा जाता था; किन्तु यद्यपि उसका प्रभुत्व स्वीकार किया जाता था, उन प्रदेशों पर उसका वास्तविक नियंत्रण नहीं था। सिन्ध के पूर्व में समग्र पजाब तथा मुल्तान और सतलज के दक्षिण पूर्व में एक ओर उस नदी तथा बिहार के बीच और दूसरी ओर हिमालय पर्वत तथा राजपूत राज्यों और मालवा के बीच फैले हुए हिन्दुस्तान के समृद्ध प्रान्त उसके अधीन थे; पश्चिमी सीमा बयाना, रणथम्भौर, ग्वालियर तथा चन्देरी के किलों को जोड़ने वाली रेखा थी। दक्षिण में बगाल की ओर उसके आधिपत्य की सीमाएँ सुनिश्चित नहीं थीं। बिहार का अधिकाश उसके अधिकार में था किन्तु उसके कुछ भागों पर वशेषकर पर्वतीय तथा जंगली प्रदेशों पर, बचे हुए अफगान अथवा स्थानीय

* एर्सकाइन ने हिसाब लगाया कि "प्रत्येक चीज को ध्यान में रखते हुए बाबर की आय ४२१२,००० पौ० थी, यह देखते हुए कि उस समय तक अमेरिका की खानों की खुदाई का पूरा प्रभाव नहीं पड़ा था, यह धनराशि बहुत भारी थी।" टामस का अनुमान २६०,००,००० चाँदी के टका अथवा २,६००,००० पौ० था। यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी अनुपयुक्त न होगा कि बाबर ने भारत में नामरहित सिक्कों का भी चलन जारी किया था। टामस लिखते हैं, "ऐसा प्रतीत होता है कि अधीन नगरों मे सिक्के ढालने की परिपाटी भी मुगलों ने ही चलाई। उन्होंने महत्व की दृष्टि से ताँबे के निम्न कोटि के सिक्कों तथा सोना और चाँदी की मुद्रा में बुद्धिमत्तापूर्ण भेद किया। सुल्तान के नाम का न होना भी भारतीय परिपाटी के प्रतिकूल था, यहाँ पर उच्च मूल्य के सोने के सिक्कों की भाँति ताँबे के सिक्कों पर भी सदैव सर्वोच्च सत्ता का नाम अंकित रहता था। बुखारा के जिन आदर्शों का बाबर ने भारतीय मुद्रा में समावेश किया वे गरीब लोगों के जिनके मान को उसने ग्रहण कर लिया था, सिक्कों में अधिक टिकाऊ सिद्ध हुए, दिरहाम तथा अशर्फियों में जिनके ढलवाने में उसने अधिक सावधानी से काम लिया था, उनका प्रभाव स्थायी नहीं रहा क्योंकि उनके सम्बन्ध में उसने स्थानीय सिद्धान्तों की अवहेलना की थी। इस वर्ग के सिक्कों का औसत भार लगभग एक-सा है और १४० ग्रेन तक पहुँचता है। ..."

सामन्त शासन करते थे। उसके साम्राज्य की सीमाओं पर स्थित राजपूत राज्य, मालवा के बिखरे हुए राज्य बुन्देलखण्ड तथा बंगाल स्वतन्त्र थे।

विशाल साम्राज्य के विभिन्न भागों की राजनैतिक स्थिति में एकरूपता नहीं थी। प्रत्येक राज्य, प्रत्येक प्रान्त प्रत्येक जिले और यहाँ तक कि प्रत्येक गाँव का भी प्रबन्ध उसकी अपनी परम्पराओं के आधार पर होता था। उच्च पदाधिकारी असैनिक ही नहीं बल्कि आपराधिक विषयों में भी—मृत्युदण्ड तक के मामलों में—अनियमित सत्ता का उपभोग करते थे और वह भी मनमाने ढंग से। कौन कौन से कर लगाये जाते थे, यह जानने के हमारे साधन अधूरे हैं। मुख्य राजस्व भूमि कर था जो उपद्रवरहित तथा सुव्यवस्थित प्रान्तों से सीधा वसूल किया जाता था; किन्तु जो प्रदेश देशी सामन्तों के अधिकार में थे अथवा जिन्हें पूर्ण रूप से अधिकृत नहीं किया जा सका था, उनसे सम्राट वार्षिक कर के रूप लगान वसूल करता था। सैनिक तथा सरकारी पदाधिकारियों को बहुधा जागीरें दे दी जाती थीं जिन पर उनका असैनिक तथा आपराधिक दोनों प्रकार का पूर्णाधिकार रहता था किन्तु कानूनी दृष्टि से वे भूमि के स्वामी नहीं माने जाते थे और केवल सरकारी कर्मचारियों की भाँति कार्य करते थे। मुसलमानों के समय में जागीरदारों की स्थिति वास्तव में वैसी ही होती थी जैसी सरकारी पदाधिकारियों की और उनको—केवल उन्हें छोड़कर जिन्हें विरासत रूप में भूमि मिली होती—सुलतान अपनी इच्छानुसार हटा सकता था। भूमि कर के अतिरिक्त साम्राज्य की सीमाओं पर काफिलों अथवा अन्य साधनों से लाये गये माल पर आयात-कर लगता था। जिन पशुओं तथा माल पर चुंगी वसूल हो जाती उन पर तिमगा नामक एक चिह्न लगा दिया जाता था। देश के भीतर एक स्थान से दूसरे को जानेवाले माल पर भी चुंगी लगती थी। दूकानदारों से भी कर वसूल किया जाता था, विशेषकर नगरों में और देश के उन भागों में जहाँ मुसलमानों का सुनिश्चित प्रभुत्व होता, सभी गैर मुसलमानों पर जिजया लगाया जाता था।

सब गुणों के होते हुए भी बाबर मुसलमान सम्राट था। जब वह हिन्दुओं को मार डालता तो अपने कट्टर अनुयायियों को प्रसन्न करने के लिये उनके सिरों के ढेर लगवाता। राजपूतों के विरुद्ध युद्ध को उसने जिहाद (धर्म-युद्ध) समझा और कानुआ के युद्ध के उपरान्त गाजी की उपाधि धारण की। चन्देरी के राजपूतों के जौहर को उसने उनका 'जोहन्नुम को जाना' कहा। जब पश्चात्ताप तथा मद्य त्याग का व्रत लेने के उपरान्त उसने तिमगा नाम का कर हटाया तो केवल मुसलमानों को ही छूट दी गई, हिन्दुओं को नहीं। फरिश्ता लिखता है कि चन्देरी के पतन के बाद उसने उन मस्जिदों का पुनर्निर्माण अथवा जीर्णोद्धार कराया जिन्हें मेदिनीराय की आज्ञा से नष्ट अथवा पशुशालाओं में परिवर्तित कर दिया गया था। चन्देरी की विजय के सम्बन्ध में बाबर ने स्वयं कहा कि मैंने कुफ्र के गढ़ को इस्लाम के सदन में बदल दिया है। इन सब तथ्यों को ध्यान में

अन्त में रशब्रुक विलियम्स के इन शब्दों के साथ हम इसे समाप्त करते हैं ' दुर्भाग्यवश बाबर में प्रशासन-सम्बन्धी प्रतिभा नहीं थी, वह कोरा योद्धा था और राजनीतिज्ञ की सी कुछ प्रवृत्तियाँ उसमें विद्यमान थीं इसलिये उसने उस समय प्रचलित प्रशासन व्यवस्था को कायम रखना आवश्यक समझा और साम्राज्य को अपने अधिकारियों में विभिक्त कर दिया और उनमें से प्रत्यक को अपने प्रदेश की सुव्यवस्था के लिये उत्तरदायी बना दिया। इस योजना का सदैव एक ही परिणाम हुआ था राजा तथा स्थानीय प्रशासन के बीच एक कृत्रिम दीवार खड़ी हो गई और धीरे धीरे उसकी सत्ता का ह्रास होने लगा अन्त में उसकी प्रतिष्ठा विलुप्त हो गई और सिंहासन के लिए विभिन्न दलों में संघर्ष छिड़ गया। राजा ने जो कुछ खोया उसे बड़े अमीरों ने हथिया लिया। बाबर के समय में इस प्रक्रिया के लक्षण प्रकट नहीं हुए इसका एक कारण यह था कि वह स्वयं एक विजेता की प्रतिष्ठा से विभूषित था और दूसरे उसे समय इतना कम मिला कि उसकी नीति का प्रभाव स्पष्ट न हो सका। फिर भी उसकी मृत्यु से पहले ही दिखाई देने लगा था कि प्रशासन का आधार ठोस नहीं है। वित्त प्रणाली इतनी अव्यवस्थित थी कि उससे पेशेवर सैनिकों, जैसे तोपचियों तथा बन्दूकचियों को, जिन्हें सीधा राज्यकोष से वेतन मिलता था, बनाये रखना कठिन होगया। दिल्ली तथा आगरा में जो धन प्राप्त हुआ उसे बाबर ने अपव्ययतापूर्ण उदारता के साथ बाँट दिया और शीघ्र ही खाली कोष देखना पड़ा। कुछ समय के लिये उसने बड़े बड़े अधिकारियों से मिलनेवाले राजस्व में ३ प्रतिशत वृद्धि करके घटी को पूरा किया। किन्तु हुमायूँ के समय में पुरानी कहानी फिर दुहराई गई वित्त-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई क्रान्तियाँ और कुचक्र उमड़ पड़े और राजवंश अपदस्थ कर दिया गया।'

कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्

१५१७ सिकन्दर लोदी की मृत्यु, दिल्ली में इब्राहीम लोदी तथा जौनपुर में उसके भाई जलालखाँ का राज्यारोहण। *पुर्तगालियों का बङ्गाल में प्रवेश।*

१५१८ इब्राहीम द्वारा जलालखाँ का वध तथा अन्य भाइयों का कारागार में डाला जाना। गुजरात का मुजफ्फरशाह द्वितीय मेदिनीराव को भगा कर महमूद खलजी को पुनः मालवा के सिंहासन पर बिठला देता है। अलबुकर्क का वापिस बुलाया जाना; पुर्तगालियों के पतन का आरम्भ।

१५१९ बाबर का सिन्ध के उस पार के प्रदेश में प्रवेश। रायचूर में विजय नगर द्वारा आदिलशाह की पराजय। बंगाल में नसरतशाह का राज्यारोहण। मालवा के महमूद की राणा साँगा द्वारा पराजय तथा पुनः सिंहासन पर बिठलाया जाना।

१५२० बाबर का तीसरा आक्रमण। कृष्णदेवराय द्वारा रायचूर की विजय। सिन्ध पर शाहबेग अर्घून का अधिकार। गुजरात के मुजफ्फरशाह द्वितीय द्वारा राणा साँगा की पराजय।

१५२१ बाबर ने बदख्शाँ हुमायूँ को दे दिया। अहमदशाह तृतीय बहमनी की मृत्यु, अमीर बरीद का अलाउद्दीन को सिंहासन पर बिठलाना।

१५२२ ड्यू तथा चाउल पर पुर्तगालियों का अधिकार।

१५२३ अलाउद्दीन बहमनी सिंहासनच्युत करके मार डाला गया, वलीशाह गद्दी पर बिठलाया गया। बीजापुर तथा अहमदनगर के बीच युद्ध।

१५२४ अहमदनगर सघ की बीजापुर द्वारा पराजय। शाह हुसैन अर्घून का मुलतान पर अधिकार। आलम खाँ लोदी का भागकर बाबर के पास पहुँचना। कोचीन में वास्को डी गामा की मृत्यु।

१५२५ अमीर बरीद द्वारा अन्तिम बहमनी सुलतान कलीमुल्ला का सिंहासन पर बिठलाया जाना।

१५२६ पानीपत के युद्ध में इब्राहीम पर बाबर की विजय। गुजरात के मुजफ्फरशाह द्वितीय की मृत्यु; सिकन्दरशाह तथा नासिरखाँ का राज्यारोहण तथा अपदस्थ होना, बहादुरशाह का सिंहासनारोहण, मुलतान का एक अधीन राज्य बन जाना।

१५२७ कानुआ में बाबर द्वारा राणा साँगा की पराजय। खानदेश तथा बरार की सेनाओं द्वारा अहमदनगर की पराजय, चाउल में गुजराती वेडे की पुर्तगालियों द्वारा पराजय। जरमन सेनाओं द्वारा रोम की लूट।

१५२८ चन्देरी पर बाबर का अधिकार। राणा साँगा के पुत्र विक्रमाजीत द्वारा रणथम्भोर का समर्पण। बाबर का गंगा को पार करना।

१५२९ बाबर की बंगाल से सन्धि। बहादुरशाह द्वारा अहमदनगर का विध्वंस। बगदाद का सुलतान सुलैमान वोना को घेर लेता है।

१५३० आगरा में बाबर की मृत्यु, हुमायूँ का राज्यारोहण (२२ वर्ष की अवस्था में)—वह १५३९ तक शासन करता है। इंगलैण्ड का हैनरी आठवाँ पोप से झगड़ा कर लेता है।

१०

साम्राज्य का संक्रमण काल

जिस साम्राज्य की स्थापना बाबर ने इतने परिश्रम से की थी, उसकी नींव दुर्बल तथा अस्थिर थी। किसी महराब की शक्ति तथा दृढ़ता उसके केन्द्रीय पत्थर पर निर्भर रहती है किन्तु मुगल साम्राज्य रूपी महराब का केन्द्रीय पत्थर इतना दुर्बल था कि वह उसके भार को दृढ़ता से अधिक दिनों तक न सम्भाल सका। हुमायूँ के अपनी विरासत को खोने तथा उसे पुनः प्राप्त करने की कहानी बाबर के साहसिक कार्यों की कथा से कम चित्ताकर्षक नहीं है। साथ ही साथ यह शिक्षा प्रद भी है क्योंकि उससे प्रकट होता है कि उस युग में साम्राज्य का स्थायित्व शासक के निजी चरित्र पर निर्भर था। हुमायूँ के जीवन को हम चार स्पष्ट युगों में विभक्त कर सकते हैं—(१) प्रारम्भिक जीवन राज्यारोहण तक (१५०८ से ३० ई०); (२) अपनी विरासत को बनाये रखने के लिये उसके संघर्ष (१५३० से ४० ई०); (३) निर्वासन के पन्द्रह वर्ष (१५४० से ५५ ई०); और (४) पुनः राज्य प्राप्त करना तथा मृत्यु (१५५५–५६ ई०)।

हुमायूँ का प्रारम्भिक जीवन

हुमायूँ का जन्म ६ मार्च १५०८ ई० को काबुल के किले में हुआ था। बाबर की मृत्यु के तीन दिन बाद २९ दिसम्बर, १५३० ई० को तेईस वर्ष की अवस्था में वह आगरा में सिंहासनारूढ़ हुआ। ख्वांद मीर लिखता है 'जड़ तथा चैतन्य जगत के कर्त्ता दयालु ईश्वर ने अपने हाथों से इस विश्व विजयी शासक को राजत्व की पोशाक में विभूषित किया। पूर्वोक्त महीने की नौ तारीख को शुक्र के दिन आगरे की जामामसजिद में इस श्रेष्ठ राजा के नाममें खुतबा पढ़ा गया और लोगों की भीड़ से जयजयकार की जो ध्वनि उठी वह स्वर्ग के उस पार पहुँच गई।' तबकाते अकबरी में लिखा है, 'सम्राट बाबर की मृत्यु के उपरान्त राज कुमार हुमायूँ जो सांभल से आ गया था जुमदा-उल अव्वल की ९वीं तारीख को ९३७ हिजरी में अमीर निजामुद्दीन अली खलीफा की सहायता से आगरे में सिंहासन पर बैठा। पदाधिकारियों ने उसके प्रति अपनी राजभक्ति प्रकट की और उसने

अमीरों तथा अधिकारियों के साथ दयालुता का बर्ताव किया। जिन लोगों को पूर्व सम्राट के समय में पद और मन्सब मिले हुए थे उन्हे स्थायी कर दिया गया और नये सम्राट के अनुग्रह से प्रत्येक व्यक्ति प्रसन्न तथा सन्तुष्ट हुआ।'

१५२० ई० में खान मिर्जा की मृत्यु के उपरान्त हुमायूँ को १२ वर्ष की अवस्था में बदख्शाँ का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया था। बाबर ने स्वयं हुमायूँ की माता के साथ उस प्रान्त में जाकर राजकुमार को नये पद पर आसीन किया। १५२५ ई० में जब बाबर ने भारत पर आक्रमण किया तो हुमायूँ बदख्शाँ से एक टुकडी लेकर उसकी सहायता के लिये आ गया। इस युद्ध में हुमायूँ ने हिसार फीरोज़ा के एक दल को जो इब्राहीम लोदी की सहायता के लिये जा रहा था १५२६ ई० में परास्त किया। पानीपत के युद्ध के उपरान्त हुमायूँ को, जिसने अपना काम भली भाँति पूरा किया था बाबर ने एक बहुमूल्य हीरा तथा ७०,००,००० दाम (लगभग २०,००० पौंड) भेंट किये। हुमायूँ ने पूर्वी प्रदेशों के विद्रोही अफगानों पर भी चढ़ाई की और सांभल, जौनपुर, गाजीपुर तथा कालपी पर अधिकार कर लिया। १५२७ ई० में कानुआ के युद्ध में हुमायूँ ने मुगल सेना के दक्षिण पार्श्व का संचालन किया और इसके लिये उसे भली-भाँति पुरस्कृत किया गया। १५२८ ई० में वह फिर बदख्शाँ को लौट गया, बाबर ने उसे अपने भाइयों के साथ हिसार, समरकन्द अथवा मर्व—जैसी भी सुविधा हो—पर चढ़ाई करने की आज्ञा भेजी और लिखा, 'यह समय ऐसा है जब कि तुम्हें सकटों तथा कठिनाइयों का आह्वान तथा अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहिये। प्रत्येक सकट में अधिक से अधिक परिश्रम करने से मत चूको; प्रमाद तथा सुख का जीवन राजाओं के लिये शोभा नहीं देता।' उसी पक्ति में बाबर ने हुमायूँ को बहुत कुछ अच्छी सलाह दी और कहा, 'अपने भाई कामरान के साथ अच्छा व्यवहार करो, बदख्शाँ में अकेलेपन की शिकायत मत करो क्योंकि यह एक राजकुमार को शोभा नहीं देता, अपने बेगों तथा मन्त्रियों, विशेषकर ख्वाजा कलाँ से मन्त्रणा किया करो, निजी दावतों से बचो किन्तु दरबार को प्रतिदिन दो बार बुलाओ और अपनी सेना की शक्ति तथा अनुशासन कायम रखो।' यद्यपि बाबर हुमायूँ के विषय में इतना चिन्तित तथा सावधान रहता था फिर भी वह १५२९ ई० में सहसा भारत को लौट आया। बाबर ने अपने पुत्र के आगमन का इस प्रकार उत्साहपूर्वक वर्णन किया है :—

'मैं उसकी माता से उसके विषय मे बात कर ही रहा था कि वह आ पहुँचा। उसकी उपस्थिति से हमारे हृदय गुलाब की कलियों की भाँति खिल उठे और नेत्र मशालों की भाँति चमक उठे। मेरा यह नियम था कि मैं प्रतिदिन अपना भोजनालय खुला रखता था किन्तु इस अवसर पर मैंने उसके सम्मान में दावतें दी और प्रत्येक भाँति उसके साथ विशिष्ट बर्ताव किया। कुछ समय तक हम अत्यधिक घनिष्ठता से साथ-साथ रहे। सत्य यह है कि उसके सम्भाषण में अनिर्वचनीय आकर्षण था और उसने पूर्ण पुरुषत्व के आदर्श को प्राप्त कर लिया था।'

किन्तु हुमायूँ ने अपना कार्य भार क्यों छोड़ा? इसके तीन कारण थे। (१) उज़बेगों के विरुद्ध जिन्होंने पुनः आक्रमण आरम्भ कर दिये थे उसकी विफलता (२) बाबर का गिरता हुआ स्वास्थ्य और उसका हिंदाल को काबुल से अपने पास बुलाना; और (३) आगरा में हुमायूँ को सिंहासन से वंचित करने का षड्यन्त्र।

यह षड्यन्त्र मीर मुहम्मद महदी ख्वाजा के पक्ष में रचा गया था; यह बाबर का बहनोई था और कानुआ के युद्ध में उसने मुग़ल सेना के वाम-पार्श्व का संचालन किया था। इस षड्यन्त्र का मूल तथा उसका ब्यौरा हमारे लिये निरर्थक है क्योंकि अन्त में यह निष्फल रहा। रशब्रुक विलियम्स लिखते हैं 'षड्यन्त्र कारियों को अपनी योजना की सफलता की आशा थी इससे कम से कम यह स्पष्ट है कि बाबर की मानसिक तथा शारीरिक शक्तियाँ क्षीण होने लगीं थीं।' हुमायूँ काबुल में कामरान तथा हिन्दाल से मिला था और आगरे में जो षड्यन्त्र चल रहा था उसको ध्यान में रखते हुये वे तैयार हो गये कि हुमायूँ शीघ्र ही राजधानी पहुँचे और हिन्दाल बदख्शाँ में उसके स्थान पर कार्य भार सँभाल ले। अन्त में बाबर ने सुलेमान मिर्ज़ा को वहाँ भेज दिया। शेष कहानी पहले कही जा चुकी है। षड्यन्त्र प्रारम्भ होने से पहले ही कुचल दिया गया इसलिये हुमायूँ ने अपना कुछ समय अपनी जागीर सांभल में बिताया। इसके उपरान्त उसकी बीमारी और फिर २६ दिसम्बर १५३० ई० को बाबर का प्रेमपूर्ण बलिदान। मृत्यु से पहले बाबर ने अपने अमीरों से हुमायूँ के सम्बन्ध में इन स्पष्ट शब्दों में कहा, "इस समय जब कि मैं रोगशैया पर पड़ा हुआ हूँ तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि हुमायूँ को मेरा उत्तराधिकारी स्वीकार करलो और उसके प्रति वफ़ादार रहो। अनन्य हृदय तथा मस्तिष्क से उसकी सेवा करो और मुझे आशा है कि ईश्वर की कृपा से हुमायूँ का भी लोगों के प्रति अच्छा आचरण रहेगा।" किन्तु जैसे ही बाबर ने अन्तिम साँस ली अथवा ख़ाँद मीर के शब्दों में वह 'इस संसार के सिंहासन को छोड़ कर स्वर्ग गया,' वैसे ही हुमायूँ के संकट प्रारम्भ हो गये।

हुमायूँ की राजनैतिक विरासत

बाबर ने हुमायूँ के लिये जो साम्राज्य विरासत में छोड़ा वह राज्यों का समूह मात्र था, उन्हें परस्पर सम्बद्ध करनेवाला कोई एकता अथवा सामुदायिक हित का सूत्र नहीं था; जो कुछ एकता थी वह केवल स्वयं उसके जीवन के कारण थी। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उसकी मृत्यु के समय पूर्व मुसलमान राजवंशों की भाँति मुग़लवंश की जड़ भी इस भूमि में भली प्रकार नहीं जम पायीं थीं। बाबर न तो पूर्व में स्थित बंगाल को ही जीतकर अपने साम्राज्य में मिला सका था और न दक्षिण में मालवा तथा गुजरात के प्रान्तों को जो अब तक एक शासक (बहादुरशाह) की अधीनता में संयुक्त हो चुके थे। राजपूताना के अनेक सामन्त भी आतंकित हो गये थे किन्तु उन्हें पूर्णरूप से वश में नहीं किया जा सका

था और साम्राज्य के दूरस्थ भागों में मुगल-सत्ता केवल नाममात्र को स्वीकार की जाती थी।

अफगान—अनेक अफगान सामन्तों के अधिकार में अभी तक शक्तिशाली जागीरें थीं और वे यह नहीं भूले थे कि कुछ समय पहले दिल्ली के सुलतान अफगान ही थे। जब अपदस्थ राजवंश का एक सदस्य (सुलतान महमूद लोदी) बिहार में प्रकट हुआ तो एक शक्तिशाली विद्रोह की सभी सामग्री उसके आसपास एकत्र होगई। इस प्रकार अपने पैतृक राज्य में भी जो समस्त भारत का लगभग आठवाँ भाग था, हुमायूँ की स्थिति सुदृढ़ नहीं थी और न वह प्रतिद्वन्दियों तथा विद्रोहों के भय से मुक्त था। अफगानों के लिये जो विद्रोह करने के लिये तैयार बैठे थे, संगठित होने के तीन केन्द्र थे: (१) इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी जिसे बाबर ने खदेड़ दिया था किन्तु कुचल नहीं पाया था। पुराने अफगान अमीरों ने उसका साथ दिया, बबन और बायजीद, जिन्हे पूर्वी प्रान्तों तथा बिहार की ओर भगा दिया गया था, वापिस लौटने तथा जिस राज्य से निकाल दिये गये थे उस पर पुन: अधिकार करने के लिये सुअवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। बंगाल का सुलतान भी, जिसने महमूद लोदी की एक बहिन से विवाह कर लिया था, उसकी सहायता कर रहा था। (२) शेर खाँ सूर जो समस्त अफगान दल में सबसे अधिक योग्य, सिद्धान्तहीन तथा महत्वाकांक्षी व्यक्ति था, बाबर के अन्तिम दिनों में ही विद्रोहियों से मिल गया था, यद्यपि मुगल सम्राट ने उसे अनेक अनुग्रह चिन्हों से विभूषित किया था और कई परगने देकर पूर्वीय प्रान्तों का भार सौंप दिया था। वह मुगलों को बहुत घृणा की दृष्टि से देखता था जैसा कि उसके निम्न कथन से स्पष्ट है —

'यदि भाग्य मेरा साथ दे तो मैं इन मुगलों को हिन्दुस्तान से मारकर निकाल सकता हूँ, युद्ध में वे हम से श्रेष्ठ नहीं हैं किन्तु हमने अपने पारस्परिक झगड़ों के कारण राजसत्ता अपने हाथ से निकल जाने दी है। मैं मुगलों में रह चुका हूँ और मैंने उनका आचरण देखा है, उनमें व्यवस्था और अनुशासन का अभाव है, उनमें से जो अपने जन्म तथा पद के अहंकार के कारण उनके नेता होने का दावा करते हैं, वे निरीक्षण सम्बन्धी कर्तव्य का पालन नहीं करते और सब कुछ अधिकारियों पर छोड़ देते हैं और अन्धे होकर उन पर विश्वास करते हैं। ये अधीन अधिकारी हर विषय में भ्रष्टतापूर्ण आचरण करते हैं। ... वे सदैव लाभ की चिन्ता में रहते हैं और सैनिक अथवा असैनिक, मित्र अथवा शत्रु में भेद नहीं करते।'

यह मूल्यांकन उचित हो अथवा अनुचित, इससे शेर खाँ की जो शीघ्र ही हुमायूँ को निर्वासित करके सिंहासन पर अधिकार करनेवाला था, महत्वाकांक्षा प्रकट होती है। (३) इब्राहीम लोदी का चचा आलम खाँ अथवा अलाउद्दीन लोदी उन व्यक्तियों में से था जिन्होंने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिये आमन्त्रित किया था और पानीपत के युद्ध में वह अपने भतीजे के विरुद्ध

पड़ा था। बाद में उसे अपमानित करके बदख्शाँ के एक किले में बन्द कर दिया गया था। बाबर की मृत्यु के बाद अलाउद्दीन वहाँ से भाग निकला और गुजरात के बहादुरशाह के यहाँ शरण ली। 'हुमायूँ के विरुद्ध युद्ध की घोषणा किये बिना ही बहादुरशाह ने अलाउद्दीन को पर्याप्त धन की सहायता दी जिससे उसने थोड़े ही समय में एक विशाल सेना एकत्र कर ली और अपने पुत्र तातार खाँ की अध्यक्षता में आगरा पर चढ़ाई करने के लिये भेज दी। यह सेना जितनी शीघ्रता से इकट्ठी की गई थी, उतनी ही जल्दी भाग खड़ी हुई; और तातार खाँ एक टुकड़ी का जिसने वफादारी से अन्त तक उसका साथ दिया, संचालन करते हुए युद्ध में काम आया। बहादुरशाह ने अलाउद्दीन लोदी को ही नहीं बल्कि हुमायूँ के अन्य प्रतिद्वन्द्वियों को भी शरण दी, जिनका हम अभी उल्लेख करेंगे। गुजरात तथा मालवा के शासक बहादुरशाह ने अपने दक्षिण के पड़ोसियों पर ही शक्ति तथा प्रतिष्ठा की धाक नहीं जमा ली थी बल्कि "राजपूतों पर भी विजय प्राप्त की और सक्रिय रूप से उसका लाभ उठाकर आगरा की ओर बढ़ने लगा।'

हुमायूँ के सगे तथा चचेरे भाई—अफगानों के अतिरिक्त अपने सम्बन्धियों में भी हुमायूँ के प्रतिद्वन्द्वी विद्यमान थे : (१) मुहम्मद ज़मान मिर्ज़ा हिरात के सुल्तान हुसैन का नाती था और उसने हुमायूँ की एक सौतेली बहिन मासूमा से विवाह कर लिया था। बाबर के युद्धों में वह अपने को योग्य सेनापति सिद्ध कर चुका था। (२) मुहम्मद सुल्तान मिर्ज़ा भी तिमूर का वंशज और खुरासान के स्वर्गीय सुल्तान का नाती था। राजकुल में उत्पन्न होने तथा अपने पद के कारण वह भी सिंहासन की अभिलाषा करने के योग्य समझा जाता था। (३) मीर मुहम्मद महदी ख्वाजा बाबर का बहनोई था; उसे केन्द्र बनाकर एक निष्फल षड्यन्त्र रचा गया था जिसका हम पहले उल्लेख कर आये हैं। बाबर का प्रधान मन्त्री तथा उसका आजीवन मित्र खलीफा भी उसकी ओर झुका हुआ था। सेना का एक अंग उसके अधीन था और पदाधिकारियों में उसका स्थान था। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, कानुआ के युद्ध में उसने वाम पार्श्व और हुमायूँ ने दक्षिण पार्श्व का संचालन किया था। इस प्रकार सेना में वह वर्तमान सम्राट के समान ही पद पर रह चुका था। (४) कामरान मिर्ज़ा हुमायूँ का सबसे घातक शत्रु था। बाबर की मृत्यु के समय वह काबुल तथा कंधार का सूबेदार था। बाबर ने जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, हुमायूँ को अपने भाई कामरान के प्रति सद्व्यवहार करने की आज्ञा दी थी। अस्करी तथा हिन्दाल हुमायूँ के दो अन्य भाई थे। एर्स्किन लिखते हैं, "बाबर ने अपने छोटे पुत्रों को कोई भाग नहीं दिया, इससे यह सम्भव प्रतीत होता है कि वह साम्राज्य का विभाजन करने के पक्ष में नहीं था किन्तु कामरान अपने भाई के सामने झुकने के लिये तैयार नहीं था; और चूँकि उसके अधिकार में एक सुदृढ़ युद्ध प्रिय देश था जिसके निवासी उसके वंश की पितागत प्रजा थे इसलिये हुमायूँ की तुलना में उसकी स्थिति अधिक सुदृढ़ थी क्योंकि हुमायूँ अपने नये विद्रोहग्रस्त प्रान्तों को

खाली किये बिना एक विशाल सेना एकत्र नहीं कर सकता था।" लेनपूल लिखते हैं, "अस्करी तथा हिन्दाल दुर्बल तथा अस्थिर मति थे और वे केवल इसलिये खतरनाक थे कि महत्वाकांक्षी लोग उन्हें अपने हाथों की कठपुतली बना सकते थे।"

हुमायूँ की सैनिक दुर्बलता

चूँकि हुमायूँ चारों ओर से चतुर तथा शक्तिशाली शत्रुओं द्वारा घिरा हुआ था इसलिये यह अत्यधिक आवश्यक था कि उसमें 'सैनिक परिस्थिति को भली-भाँति समझने तथा दृढ़ संकल्प के साथ उसका सामना करने की क्षमता होती।' किन्तु हुमायूँ में इन दोनों गुणों का सर्वथा अभाव था। "उस परिस्थिति में अपरिमित शक्ति तथा सैनिक प्रतिभा अभिवांछनीय थी।" उत्तर में कामरान था जो उद्दण्ड तथा विद्रोही और बाबर के वंश को लजानेवाला था, हुमायूँ के भाइयों में सबसे अधिक शक्तिशाली वही था। पूर्व में महमूद लादी तथा शेर खाँ के नेतृत्व में अफगान लोग एकत्र हो रहे थे। दक्षिण में बहादुरशाह हुमायूँ के प्रतिद्वन्द्वियों को शरण दे रहा था।

'सेना में राष्ट्रीय भावनाओं का अभाव था। उसे एकता के सूत्र में बाँधने के लिये भाषा अथवा देश के बन्धन नहीं थे, वह साहसिकों का एक मिश्रित झुण्ड थी और उसमें चगताई, उजबेग, मुगल, ईरानी, अफगान तथा भारतीय सभी सम्मिलित थे। चगताई अमीरों पर सम्राट का सबसे अधिक विश्वास तथा अनुग्रह था किन्तु वे भी पूर्णतया एकमत नहीं थे। यद्यपि वे बाबर के वंशजों के भक्त थे क्योंकि वे उन्हें उस श्रद्धेय सम्राट तथा तिमूर महान् का प्रतिनिधि मानते थे। किन्तु कोई मुख्य अमीर अथवा कबीले का प्रमुख ऐसा नहीं था जो राजमुकुट को [illegible] महत्वाकांक्षाओं की सीमा के बाहर समझता हो। वह क्रान्ति का युग था और चारों ओर ईरान, समरकन्द, बुखारा, हिसार, बलख और स्वयम् हिन्दुस्तान में साहसिकों ने अथवा साहसिकों के तात्कालिक वंशजों ने जो उनसे अधिक योग्य नहीं थे, सिंहासनों पर अधिकार कर लिया था।" "इन परिस्थितियों में ऐसी हजार अप्रत्याशित घटनायें घट सकती थीं जिनसे कुचक्रों तथा गुटबन्दियों की सुलगती हुई चिनगारियाँ लपटों का रूप धारण कर लेतीं।'

ऐसे संकट के समय में शासक के व्यक्तिगत चरित्र का सर्वाधिक महत्व था। हुमायूँ में अपने पिता के सभी मानवीय गुण विद्यमान थे किन्तु उसमें 'निर्णय-बुद्धि तथा शासन की भावना का जिनके बिना कोई राजा अपनी प्रजा का विश्वास तथा सम्मान नहीं प्राप्त कर सकता, सर्वथा अभाव था।' उसका स्वभाव इतना कोमल तथा भला था कि उस युग में तथा उन परिस्थितियों में वह सफल नहीं हो सकता था; उसकी सुन्दर किन्तु बुद्धिमत्तारहित दयालुता पर उसकी विफलता का कम उत्तरदायित्व नहीं था। 'उसने एक राजनीतिज्ञ की भाँति परिस्थिति का अध्ययन नहीं किया और न सबसे भयंकर संकट का पहले सामना करने तथा एक शत्रु को कुचल कर दूसरे से भिड़ने की नीति को ही अपनाया बल्कि उसने सेना

को कई भागों में बाँटकर उसकी पूरी शक्ति को कम कर दिया; यह एक शत्रु का पूरी तरह कुचले बिना दूसरे से भिड़ जाता। और यदि दैवयोग से उसके साहस के कारण—सामरिक चतुराई के कारण नहीं—उसे विजय प्राप्त हो जाती तो वह विजयोत्सव मनाने तथा अपने मित्रों के साथ आमोद प्रमोद करने में जुट जाता, उधर इसी बीच में उसके शत्रु नए सिरे के लिये अपनी सेनाओं को एकत्र करने में बहुमूल्य समय का उपयोग करते। अब भी हुमायूँ की सेना में वे ही योद्धा बने हुए थे जिन्होंने दिल्ली को जीता तथा राणा साँगा को पराजित किया था और अब भी बाबर के सेनानायक उसकी वाहिनियों का नेतृत्व कर रहे थे। किन्तु हुमायूँ ने विभाजन तथा शिथिल नीति से उनके पराक्रम तथा विश्वास को दुर्बल कर दिया, सेनापतियों की मन्त्रणा की उसने अवहेलना की और निर्णय बुद्धि का इतना अभाव दिखलाया कि यह आश्चर्य की बात है कि कोई सेना उसके डगमगाते हुए भाग्य का साथ देती रही।'

साम्राज्य का विभाजन

निज़ामुद्दीन अहमद लिखता है कि हुमायूँ के राज्यारोहण के दिन मिर्ज़ा हिन्दाल बदख्शाँ से आ गया; और बड़ी दयालुता के साथ उसका स्वागत किया गया। हुमायूँ ने पूर्व राजाओं के दो कोषों में से एक उसे देकर सन्तुष्ट किया। फिर उसने साम्राज्य का विभाजन कर दिया: (१) मिर्ज़ा हिन्दाल को मेवात (अलवर) का जिला जागीर के रूप में मिला; (२) पंजाब काबुल तथा कंधार मिर्ज़ा कामरान को दिये गये; (३) सम्भल मिर्ज़ा अस्करी के सुपुर्द कर दिया गया; (४) प्रत्येक अमीर की जागीर में भी वृद्धि की गई; (५) 'अकबरनामा' के अनुसार मिर्ज़ा सुलेमान को बद[illegible] स्थायी किया गया था। (६) मीर मुहम्मद [illegible] में स्थायी बना दिया गया।

प्रारम्भ में कामरान को केवल काबुल और कन्धार में ही [illegible] के अधिकार था। किन्तु उसे इससे सन्तोष नहीं हुआ, इसलिये कन्धार को अस्करी [illegible] में छोड़कर उसने हिन्दुस्तान की ओर कूच कर दिया। तब हुमायूँ ने पेशावर [illegible] और लमगान भी उसकी जागीर में सम्मिलित कर दिये। "किन्तु कामरान की महत्वाकांक्षा इतनी विस्तृत थी कि वह इतने पर भी सन्तुष्ट न हो सकी।" उसने शीघ्र ही लाहौर पर चढ़ाई कर दी और उसे अधिकृत कर लिया। हुमायूँ चारों ओर कठिनाइयों से घिरा हुआ था इसलिये लाहौर को भी उसने स्थायी रूप से कामरान को दे दिया। एक फरमान जारी किया गया जिसके द्वारा काबुल, कंधार तथा पंजाब कामरान को सौंप दिये गये। "यह अनुदान इतना बड़ा था कि कामरान के अधिकार में लगभग उतना ही बड़ा राज्य और शक्ति आ गई जितनी हुमायूँ के पास थी।" कामरान को कविता से भी प्रेम था, इसलिये कुछ पद्य लिखकर उसने हुमायूँ की चाटुकारी की और हिसार फीरोज़ा का धनी प्रान्त भी उससे खसोट लिया। यह अनुदान महत्वपूर्ण था और कामरान को इससे अत्यधिक लाभ हुआ क्योंकि हिसार फीरोज़ा उसके पंजाब के प्रान्त तथा दिल्ली के बीच के

राजमार्ग पर स्थित था। इस विभाजन से हुमायूँ ने सबसे बड़ी भूल यह की कि उसने बाबर के साम्राज्य के सबसे महत्वपूर्ण भागों को नीच कामरान के हाथों में सौंप दिया। अब हुमायूँ के हाथों में केवल नये जीते हुये देश रह गये और वह उन साधनों से वंचित हो गया जिनके द्वारा उन्हें जीता गया था और जिनकी सहायता से ही केवल उन पर अधिकार रखा जा सकता था।

'राज्य के मामलों को सुव्यवस्थित करके सम्राट् कालिंजर की ओर बढ़ा, वहां के राजा ने अधीनता स्वीकार कर ली और सिंहासन के समर्थकों की श्रेणी में सम्मलित हो गया। उन दिनों सुल्तान सिकन्दर लोदी के पुत्र सुल्तान महमूद ने बबन, बायजीद तथा अफगान अमीरों की सहायता से विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया था और जौनपुर तथा उसके अधीन प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। हुमायूँ उसका दमन करने के लिये चला और सफलता प्राप्त करके आगरा को लौट आया। वहाँ उसने एक महान् उत्सव मनाया और सब अमीरों तथा सामन्तों को पोशाक तथा अच्छी घोड़े देकर सम्मानित किया। कहा जाता है कि उस दावत में १२,००० लोगों को पोशाकें बाँटी गई और उनमें से २,००० ऐसी थी जिनमें जुनहरी गोटा तथा बटन लगे हुये थे।

यद्यपि बाबर को भी ऐसी तड़क भड़क से शौक था किन्तु हुमायूँ का कोष खाली था और इस संकट के समय जब चारों ओर से शत्रु उसे घेरे हुये थे इस प्रकार की अपव्ययता उसके अनुकूल न थी। इसीलिये 'वित्त व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने और उसके बाद क्रान्ति, कुचक्र तथा एक राजवंश के अपदस्थ होने' की कहानी ने अपने को फिर दोहराया। इस अवसर पर हुमायूँ ने जिस अपव्ययता का परिचय दिया, वह उसके चरित्र का द्योतक थी।

इस समय मुहम्मद ज़मान मिर्ज़ा ने जो मूलतः बलख से स्वर्गीय सम्राट के यहाँ शरण लेने आया था, विरोध करना आरम्भ कर दिया किन्तु उसे बन्दी बनाकर बयाना के किले में यादगार तगाई की देख रेख में रख दिया गया, जिससे दूसरे विद्रोहियों को चेतावनी मिल सके। उसकी आँखें फोड़ने की भी आज्ञा दी गई किन्तु यादगार बेग के नौकरों ने इस ढंग से काम किया कि उसकी पुतलियों पर प्रभाव न पड़ा। कुछ समय उपरान्त वह भाग निकला और गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह के यहाँ शरण ली। उसी समय मुहम्मद सुल्तान मिर्ज़ा अपने पुत्रों, उलग मिर्ज़ा तथा शाह मिर्ज़ा के साथ कन्नौज को भाग गया और विद्रोह का झगड़ा खड़ा कर दिया।

गुजरात का युद्ध

'सम्राट ने एक व्यक्ति को पत्र देकर गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह के पास भेजा और मुहम्मद जमान मिर्ज़ा को समर्पण करने की माँग की किन्तु उसने अहंकारपूर्ण उत्तर दिया और मिर्ज़ा को लौटाने से इनकार किया तथा विद्रोह और प्रतिरोध की भावनाएँ प्रकट करने लगा। इस पर सम्राट का क्रोध भड़क उठा और उसने गुजरात पर चढ़ाई करके सुल्तान बहादुर को दण्ड देने का संकल्प कर

लिया। वह ग्वालियर पहुँचा और दो महीने आमेर तथा मेर-मपाटे में बिताये' (१५३३)। जब अन्त में हुमायूँ ने बहादुरशाह के विरुद्ध कूच किया, उस समय वह सुलतान चित्तौड़ के घेरे में व्यस्त था (१५३४)। सम्राट के आगमन की सूचना पाकर उसने अपनी युद्ध समिति की बैठक बुलाई। 'अनेक अधिकारियों ने घेरा उठा लेने की सलाह दी किन्तु सद्र खाँ ने जो अमीरों का प्रमुख था, कहा कि हम लोग काफिरों के विरुद्ध लड़ रहे हैं और यदि ऐसे अवसर पर मुसलमानों के सम्राट ने हम पर आक्रमण किया तो वह काफिरों को सहायता पहुँचायेगा और इस कार्य के लिये मुसलमान उसे क्यामत (अन्तिम न्याय) के दिन तक कलंकित करते रहेंगे। इसलिये उसने घेरा जारी रखने की सलाह दी और कहा कि मुझे विश्वास नहीं कि सम्राट हम पर आक्रमण करेगा। जब सम्राट मालवा को पार करके सारंगपुर पहुँचा, तो उसे इस बात की सूचना मिली, इसलिये वह वहीं विश्राम करने लग गया।' हुमायूँ की यह दूसरी महान् भूल थी। इससे दुहरी विफलता हुई। सामयिक सहायता मिल जाने से चित्तौड़ का राणा हुमायूँ का स्थायी मित्र बन जाता और गुजरात के विरुद्ध बाँध का काम करता; यदि बहादुरशाह पर तुरन्त ही आक्रमण कर दिया जाता तो सम्भवतः पहले ही प्रहार से उसकी शक्ति चकनाचूर हो जाती। 'किन्तु सुलतान बहादुर आराम से घेरे का संचालन करता रहा और सहसा धावा बोलकर उसने किले पर अधिकार कर लिया तथा अपार धन लूट में प्राप्त किया। विजय के उपलक्ष में उसने एक भारी दावत दी और लूट की सम्पत्ति अपने सैनिकों में वितरित कर दी। इसके बाद उसने शाही सेना की ओर मुँह किया।' यह समाचार पाकर हुमायूँ ने बहादुरशाह पर आक्रमण कर दिया और मंदसौर के पास उससे भिड़ गया। गुजरात के सुलतान ने फिर युद्ध-समिति की बैठक बुलाई। सद्र खाँ ने युद्ध की सलाह दी किन्तु तोपखाने के अध्यक्ष रूमी खाँ ने कहा कि मोर्चा लगाना अधिक लाभप्रद होगा क्योंकि उससे तोपों तथा तुफंगों का पूरा-पूरा उपयोग हो सकेगा। 'गुजरात का तोपखाना बहुत शक्तिशाली था और रूम के सम्राट को छोड़कर अन्य कोई राजा उसकी समानता न कर सकता था। बहादुरशाह ने यह सलाह मान ली और शिविर के आस-पास मोर्चा बनाने की आज्ञा दी। दो महीने तक हुमायूँ ने शत्रु की रसद के मार्ग को बन्द करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया। जब बहादुरशाह ने देखा कि यदि मैं अधिक समय तक यहाँ ठहरा तो बन्दी बन जाऊँगा, वह शिविर के पीछे से निकल अपने पाँच विश्वसनीय अनुयायियों के साथ माँडू की ओर भाग गया। जब उसके आदमियों ने उसके निकल भागने का समाचार सुना तो वे भी भाग खड़े हुए।

'हुमायूँ ने माँडू तक बहादुरशाह का पीछा किया और उस किले को घेर लिया। जिस समय संकट का घंटा बजा, उस समय सुलतान बहादुर सो रहा था। एक दम खलबली मच गई और गुजरातियों के पैर उखड़ गये। सुलतान बहादुर पाँच-छः घुड़सवारों के साथ गुजरात की ओर भाग गया। 'चम्पानेर

के किले में उसका भारी कोष तथा अनेक रत्न जमा थे, उन्हें वह अपने साथ अहमदाबाद ले गया और चम्पानेर को छोड़ने से पहले नगर में आग लगा गया। हुमायूँ ने खम्भात तक उसका पीछा किया। लौटते समय मार्ग में उसने अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया और उस नगर की लूट में भारी धनराशि उसके हाथ लगी।' अन्त में बहादुरशाह ने भागकर ड्यू के द्वीप में शरण ली। हुमायूँ ने अपनी सफलता से लाभ उठाकर भगोड़े को पूर्णतया समाप्त करने की अपेक्षा चम्पानेर की ओर कूच करना अधिक उपयुक्त समझा।

यह महत्वपूर्ण किला दक्षिण-पूर्वी गुजरात में एक पहाड़ी के ऊपरी भाग पर स्थित है और उस प्रान्त के अधिकतर भागों से दिखाई देता है। किले को चारों ओर से लम्बाकार चट्टानें घेरे हुए हैं और उन्हीं के कारण वह अभेद्य समझा जाता है। उसमें दो किले थे, एक निचले भाग में और दूसरा उसी पर ऊपरी भाग में बना हुआ था और उसके नीचे एक ओर आधार के सहारे मुहम्मदाबाद का विस्तृत तथा वैभवपूर्ण नगर विद्यमान था। हुमायूँ चार महीने तक व्यर्थ उसका घेरा डाले रहा किन्तु अन्त में निम्नलिखित तरीके से उसने उसे हस्तगत कर लिया। फरिश्ता लिखता है कि इस किले की महान् दृढ़ता, रक्षकों की विशाल संख्या तथा उस साहसिकता को वीरता तथा सफलता जिसके द्वारा उस पर अधिकार किया गया, को ध्यान में रखते हुये सैनिक विशेषज्ञों ने राय दी है कि इस कार्य की तुलना इतिहास के इस प्रकार के अन्य किसी भी कार्य से की जा सकती है।

चम्पानेर पर १५३५-३६ ई० में अधिकार कर लिया गया। हुमायूँ स्वयम् बैराम खाँ की सहायता से किले की सबसे अधिक ढालू ओर से चट्टानों में लोहे के खूँटे गाड़कर उस पर चढ़ गया। 'दुर्ग रक्षक भारी संख्या में मारे गये और उनकी अनेक स्त्रियाँ तथा बच्चे दीवारों पर से कूद कर मर गये। सम्राट ने इख्तियार खाँ का, जिसे गुजरातियों में उच्च स्थान प्राप्त था, दयापूर्वक स्वागत किया और उसे अपना निजी चाकर बना लिया। वह बहुत ही ज्ञानवान तथा अनुभवी था और राजनीतिज्ञता के लिये अधिक विख्यात था और रेखिकीय तथा ज्योतिष में उसकी अच्छी गति थी। कवि के रूप में भी वह प्रसिद्ध था। जब किले पर अधिकार हो गया तो केवल एक ऐसा अधिकारी मिला जिसे बहादुरशाह के छिपे हुए कोष का पता था। हुमायूँ ने यातनाओं द्वारा उससे रहस्य जानने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि इस कार्य के लिये मदिरा का उपयोग किया; उस आदमी को एक दावत में निमंत्रित किया गया और 'जब दयापूर्ण व्यवहार तथा आनन्द से उसका हृदय कोमल हो गया' तो उसने भेद खोल दिया। कोष एक जलाशय के नीचे तहखाने में छिपा हुआ मिला। 'सोने को सैनिकों ने आपस में बाँट लिया। रूम, योरुप, चीन तथा संसार के अन्य भागों का सामान तथा चीजें भी जिन्हें गुजरात के सुल्तानों ने एकत्र कर रखा था, विजेताओं के हाथ लगीं। सैनिकों को इतना सोना तथा सामान मिला कि उस वर्ष किसी ने गुजरात से राजस्व वसूल करने का प्रयत्न नहीं किया।'

इसके बाद अहमदाबाद में बहादुरशाह के पक्ष में एक साधारण सा सैनिक प्रदर्शन हुआ किन्तु अस्करी को जो मुहम्मदाबाद में था सरलता से विजय मिल गई। युद्ध में १,००० से अधिक व्यक्ति मारे गये। सम्राट ने अहमदाबाद तथा उसके अधीन प्रदेश मिर्ज़ा अस्करी को पाटन मिर्ज़ा यादगार नासिर को और भड़ौंच हिन्दू बेग को दे दिया। तार्दी बेग को चम्पानेर और कासिम हुसैन को बड़ौदा मिला। खानजहाँ शीराज़ी आदि अन्य अमीरों को भी जागीरें मिलीं। इस सफलता के बाद हुमायूँ पहले बुरहानपुर गया और फिर वहाँ से माण्डू।

फरिश्ता लिखता है कि ऐसी स्थिति में बुरहान निजामशाह इमादशाह तथा दक्षिण के अन्य सुल्तान उसके संकल्पों से भयभीत होने लगे और उन्होंने उसको पत्र लिखकर अधीनता स्वीकार कर ली। हुमायूँ को अपनी सफलता के उपलक्ष्य में उनके चाटुकारिता पूर्ण चिन्ह प्राप्त हो रहे थे कि उसी समय उत्तर से शेर खाँ के विद्रोह के समाचार आ गये।

'मालवा तथा गुजरात के दो प्रान्त जो क्षेत्रफल में हुमायूँ के शेष सम्पूर्ण राज्य के बराबर थे पके फलों की भाँति उसके हाथ आ गये थे। इतनी सरल विजय कभी किसी को नहीं मिली थी और न कभी किसी ने अपनी विजय के फल को इस प्रकार अन्धे होकर बरबाद किया था।' निज़ामुद्दीन अहमद लिखता है, 'सम्राट हुमायूँ ने एक वर्ष आगरे में बिताया और आनन्द लूटा।' इसी बीच में गुजरात और मालवा उसके हाथ से निकल गये (१५३६-३७ ई०)।

'एक रात को एक आनन्दोत्सव में मिर्ज़ा अस्करी ने बहुत अधिक मदिरा पी ली और उच्छृंखलतापूर्वक कह बैठा 'मैं राजा हूँ और ईश्वर की छाया।'' उसी समय हिन्दू बेग ने अस्करी को अपने नाम से खुतबा पढ़वाने और सिक्के ढलवाने तथा अपनी स्वाधीनता स्थापित करने की सलाह दी, उसकी आशा थी कि पुरस्कार के भय से सैनिक लोग भक्तिपूर्वक अस्करी की सेवा करते रहेंगे। मिर्ज़ा अस्करी ने यह मन्त्रणा स्वीकार नहीं की किन्तु तार्दी बेग ने हुमायूँ के पास सन्देश भेज दिया कि मिर्ज़ा अस्करी के विचार शत्रुतापूर्ण हैं तथा वह आगरे पर धावा बोलने और अपने को सुल्तान घोषित करने वाला है।

अहमदाबाद तथा अन्य स्थानों में बहादुरशाह के पक्ष में विद्रोह उठ खड़े हुए और वह शीघ्र ही द्यू से लौट आया और पुर्तगालियों की सहायता से अपने खोये हुए समस्त राज्य पर अधिकार कर लिया। 'मिर्ज़ा अस्करी तथा उसके अमीरों ने घोड़ों पर चढ़कर युद्ध का दिखावा किया और फिर पीछे लौट गये। किन्तु मिर्ज़ा अस्करी के अहमदाबाद से हटने से पहले ही सम्वाददाताओं ने सम्राट को मिर्ज़ा हिन्दू बेग के उस प्रस्ताव से अवगत कर दिया जो उसने मिर्ज़ा अस्करी के सामने मुकुट धारण करने के सम्बन्ध में रखा था और यद्यपि अस्करी ने उसे स्वीकार नहीं किया था फिर भी सम्वाददाताओं ने सूचना दी कि उसके इरादे शत्रुतापूर्ण हैं (१५३६-३७ ई०)।

हुमायूँ ने माण्डू को छोड़ दिया और अस्करी से पहले ही आगरा पहुँच गया।

यद्यपि उसे धोखा नही हुआ था फिर भी उसने इन समाचारों पर ध्यान न देना ही उचित समझा। इस प्रकार मालवा और गुजरात के प्रदेश, 'जिनकी विजय इतनी श्रेष्ठ सेना के परिश्रम से हुई थी बिना संघर्ष के ही त्याग दिये गये।' हुमायूँ की अपने भाइयों के प्रति सुन्दर किन्तु मूर्खतापूर्ण दयालुता उसके नाश का कारण सिद्ध हुई।

सुल्तान बहादुरशाह की पराजय के बाद हुमायूँ ने मुहम्मद ज़मान मिर्ज़ा को उचित दण्ड न देकर सिन्ध भेज दिया था। कुछ समय उपरान्त कान्धार में उपद्रव हुआ और कामरान को कुछ समय के लिये पंजाब छोडना पड़ा, अवसर पाकर मिर्ज़ा ज़मान ने लाहौर को घेर लिया किन्तु जब उसने सम्राट के आगरा लौट आने का समाचार सुना तो फिर भाग कर गुजरात में शरण ली। इसी बीच में कामरान ने कान्धार पर, जिसे कुछ समय के लिये ईरानियों ने छीन लिया था, फिर अधिकार कर लिया।

पुर्तगाली सूबेदार नूनो ड'कूना ने बहादुरशाह को ५०० यूरपीय सैनिकों का एक दल भेंट किया और इसके बदले में गुजरात के सुल्तान ने उन्हे द्यु के किलेबन्दी करने की आज्ञा तथा महत्वपूर्ण व्यापारिक सुविधायें प्रदान की। बाद में पुर्तगालियों ने बहादुर-शाह को एक सम्मेलन में आमन्त्रित किया और उसी के दौरान में १५३७ ई० में ३० वर्ष की अवस्था में वह समुद्र में डूब कर मर गया। किन्तु हुमायूँ ने अपने साहसी शत्रु की मृत्यु का, जिसके कारण गुजरात में अव्यवस्था फैल गई, कोई लाभ नहीं उठाया।

हुमायूँ तथा शेर खाँ के बीच निर्णायक संघर्ष

जैसा कि हम पहले उल्लेख कर आये हैं शेर खाँ उन महत्वशाली अफगान नेताओं में से एक था, जिन्होंने मुगलों के विरुद्ध विद्रोह का संगठन किया था; १५३१ ई० के अन्त तक वह दक्षिणी बिहार का स्वामी बन बैठा और बनारस के निकट स्थित चुनार के गढ़ पर भी अधिकार कर लिया।

चुनार का दुर्ग गगा के निकट एक चट्टान पर स्थित है और ऐसा लगता है मानो वह विन्ध्या पर्वतों का जो मिर्जापुर में गगा नदी तक फैले हुए है, एक पृथक भाग है। उस स्थान से रोहतास तथा श्रीगढ़ी के किलों के पास से पहाडियाँ पश्चिम की ओर हटने लगती हैं और भागलपुर से पहले गगा को नहीं छूतीं, उसके बाद वे सीधी दक्षिण को मुड जाती हैं और गगा को बहुत दूर छोड देती है। इसलिये ये पहाडियाँ समस्त दक्षिणी-पश्चिमी बिहार तथा बगाल को ढके हुए हैं और गगा के दक्षिणी किनारे के सहारे जानेवाली सडक को दो स्थानों पर बन्द कर देतीं हैं—एक चुनार के पास और दूसरे भागलपुर के पूर्व में सिक्रगली के पास। पहाडियाँ स्वय बहुत ऊँची नहीं है किन्तु वे महत्वहीन तथा जगलों से ढकी हुई हैं। 'चूँकि हुमायूँ ने गगा के किनारे-किनारे कूँच किया और अपनी रसद तथा तोपें ले जाने के लिये उस नदी का प्रयोग किया इसलिये उसको चुनार का पहले घेरा डालना आवश्यक हो गया।'

हुमायूँ ने बहादुरशाह पर चढ़ाई करने से पहले किन्तु चौसा के युद्ध से पूर्व चुनार किले को घेरने के बाद प्रथम बार शेर खाँ से टक्कर ली थी। अब्बास खाँ रचित 'तारीखे शेरशाही' में इस घटना का निम्नांकित वर्णन दिया हुआ है।

"सुल्तान महमूद को पराजित करने तथा उसे उखाड़ फेंकने के पश्चात् हुमायूँ ने हिन्दू बेग को शेर खाँ से चुनार का किला लेने के लिये भेजा किन्तु शेर खाँ ने किले को उसके सुपुर्द करने से इनकार किया। जब हुमायूँ को यह समाचार मिला तो उसने अपनी सेना को चुनार की ओर कूच की आज्ञा दी। हुमायूँ की सेना ने चुनार को घेर लिया। शेर खाँ को पता था कि सम्राट बहुत दिनों तक इस भाँति में नहीं रह सकता। इतने में भेदियों ने सूचना दी थी कि गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने मांडू राज्य को ले लिया है और दिल्ली को हस्तगत करने की योजना बना रहा है तथा शीघ्र ही युद्ध की घोषणा करने वाला है। हुमायूँ को भी यह समाचार मिल चुका था। शेर खाँ ने अपना वकील उसके पास भेजा और कहा, 'मैं आपका गुलाम तथा [illegible] हूँ। चुनार का किला किसी के सुपुर्द करेंगे ही, इसलिये कृपा करके मुझको दे दीजिये और मैं अपने पुत्र कुतुब खाँ को इस युद्ध में आपके साथ भेज दूँगा। इन प्रदेशों के सम्बन्ध में आप मेरे ऊपर विश्वास कीजिये; क्योंकि यदि मैं अथवा अन्य कोई अफगान अनुचित अथवा विद्रोहपूर्ण कार्य करे तो मेरा पुत्र आपके साथ रहेगा, आप उसको ऐसा दण्ड दीजिये जो दूसरों के लिये चेतावनी बन सके।' जब शेर खाँ के दूतों ने सम्राट हुमायूँ से यह निवेदन किया तो उसने उत्तर दिया, 'मैं चुनार को इस शर्त पर शेर खाँ के सुपुर्द करने को तैयार हूँ कि वह जलाल खाँ को मेरे साथ भेज दे।'" अन्त में जब हुमायूँ ने मिर्जा मुहम्मद जमान के बयाना से भाग जाने और बहादुरशाह के दिल्ली पर चढ़ाई करने के इरादे का समाचार सुना तो वह शेर खाँ के प्रस्ताव को मानने के लिये तैयार हो गया। शेर खाँ बहुत प्रसन्न हुआ और अपने पुत्र कुतुब खाँ तथा गृह प्रबन्धक ईसा खाँ को सम्राट के पास भेज दिया। हुमायूँ आगरे को लौट गया और सुल्तान बहादुरशाह के विद्रोह का दमन करने में जुट गया।

शेर खाँ ने इस अवसर से लाभ उठाया और बिहार के सम्पूर्ण राज्य में अपना एक भी शत्रु नहीं छोड़ा। जब सम्राट गुजरात से लौटा, उस समय खानखाना यूसुफ खैल ने जो सम्राट बाबर को काबुल से हिन्दुस्तान लाया था, उससे कहा 'शेर खाँ की ओर से असावधान होना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है क्योंकि उसकी इच्छा विद्रोह करने की है और वह शासन-सम्बन्धी सभी मामलों को भली भाँति समझता है; इसके अतिरिक्त सभी अफगान उसके चतुर्दिक एकत्र हो गये हैं।' किन्तु हुमायूँ को अपनी सेना की संख्या पर भरोसा था इसलिये उसने शेर खाँ की कोई चिन्ता न की और चौमासे भर आगरा में ही पड़ा रहा। उसने हिन्दू बेग को जौनपुर भेजा और कहा कि वहाँ जाकर शेर खाँ के सम्बन्ध में पूर्ण तथा सच्चा समाचार मेरे पास भेजो।

'जब शेर खाँ ने सुना कि सम्राट हुमायूँ बिहार पर चढ़ाई करने का संकल्प कर

रहा है तो उसने जौनपुर के सूबेदार हिन्दू बेग के पास बहुमूल्य भेंट भेजकर उसकी सद्भावनाएँ प्राप्त कर लीं। साथ ही साथ शेर खाँ ने यह भी लिखा : "मैंने जो वचन दिया था, उससे मैं विचलित नहीं हुआ हूँ। मैंने सम्राट की भूमि पर आक्रमण नहीं किया है। कृपया सम्राट को लिख दीजिये और मेरी ओर से राजभक्ति का आश्वासन देते हुए कहिये कि इस दिशा में प्रस्थान न करें; क्योंकि मैं उनका सेवक तथा शुभेच्छु हूँ।" जब हिन्दू बेग ने शेर खाँ की भेजी हुई भेंट देखी तो उसे स्वीकार कर लिया और प्रसन्न होकर उसके वकील से कहा, "जब तक मैं जीवित हूँ, आप निश्चिन्त रहें। कोई भी आपको क्षति नहीं पहुँचायगा।" और शेर खाँ के वकील के सामने ही उसने सम्राट हुमायूँ को पत्र लिखा : "शेर खाँ श्रीमान का स्वामिभक्त नौकर है और वह आपके नाम का खुतबा पढवाता तथा सिक्के ढलवाता है और उसने श्रीमान के राज्य की सीमाओं का उल्लंघन नहीं किया है तथा न आपके जाने के उपरान्त कोई ऐसा कार्य किया है जो आपको पसन्द न हो।" हिन्दू बेग का पत्र पाकर सम्राट ने उस वर्ष अपनी यात्रा स्थगित कर दी। इसी बीच में शेर खाँ ने जलाल खाँ, बडे खावस खाँ तथा अन्य अमीरों को बंगाल तथा गौड का नगर जीतने के लिये भेज दिया। उनके बंगाल पहुँचने पर सुलतान महमूद ने गौड के किले में शरण ली क्योंकि उसमें उनका विरोध करने की शक्ति नहीं थी। अफगानों ने निकटवर्ती प्रदेश पर अधिकार करके उस दुर्ग का घेरा डाल दिया और उसके सामने प्रति दिन झपटें होने लगीं।

दूसरे वर्ष हुमायूँ ने बिहार तथा बंगाल की ओर कूच किया। चुनार के पास पहुँच कर उसने अमीरों से मंत्रणा की कि पहले इस दुर्ग को लेना उचित होगा अथवा गौड़ पर धावा करना जिसे शेर खाँ का पुत्र घेरे हुए है किन्तु जिस पर वह अभी तक अधिकार नहीं कर पाया है। सभी मुगल अमीरों ने यही सलाह दी कि पहले चुनार को हस्तगत कर लिया जाय और तब गौड़ पर चढ़ाई की जाय और अन्त में यही निश्चय हुआ। किन्तु जब चुनार पर हुमायूँ का अधिकार हुआ, उसी समय शेर खाँ ने गौड़ को जीत लिया और साथ ही साथ रोहतास के अधिक महत्वपूर्ण किले को चाल से हथिया लिया। शेर खाँ ने ईश्वर को धन्यवाद देते हुए कहा, "इस दुर्ग की तुलना में चुनार का किला कुछ भी नहीं है, चूँकि वह मेरे हाथ से निकल गया है और यह मेरे अधिकार में आगया है। गौड़ के किले को जीतकर मुझे इतनी प्रसन्नता नहीं हुई थी जितनी रोहतास को पाकर।" इस बार भी ग़लत किले को चुनकर हुमायूँ ने दूसरी भारी भूल की और शेर खाँ द्वारा चतुराई से बिछाये जाल में स्वयं जा फँसा। इस प्रारम्भिक सामरिक भूल का उसे भारी मूल्य चुकाना पड़ा। चुनार की विजय के उपरान्त, जैसा कि उसका स्वभाव था, उसने दावतें दीं और सम्मान तथा पारितोषिक बाँटे।

इसके बाद वह बनारस में ठहर गया और बिहार के प्रान्त पर अधिकार करने के उद्देश्य से शेर खाँ के पास अपना दूत भेजा। किन्तु शेर खाँ ने दूत को उत्तर दिया, "मैंने गौड़ के इस दुर्ग पर अधिकार कर लिया है और अपने झण्डे के नीचे अफगानों की एक विशाल सेना एकत्र कर ली है। यदि सम्राट बंगाल पर अपना

दावा त्यागने के लिये तैयार हों तो मैं बिहार उनको समर्पित करने के लिये उद्यत हूँ और जिसे वह भेजेंगे, उसी के सुपुर्द मैं उसे कर दूँगा और मुझे बंगाल की वे सीमाएं स्वीकार होंगी जो सुल्तान सिकन्दर लोदी के समय में निश्चित की गई थीं। साथ ही साथ मैं छत्र, सिंहासन आदि सभी राजचिह्न सम्राट की सेवा में भेज दूँगा और दस लाख रुपया प्रतिवर्ष बंगाल से भेजता रहूँगा। किन्तु शर्त यह है कि सम्राट आगरा को लौट जायँ।" यह सुनकर सम्राट अत्यधिक प्रसन्न हुआ और शेर खाँ के प्रस्ताव से सहमत हो गया। शेर खाँ भी बहुत प्रसन्न हुआ और बोला, "जो शर्तें ते हुई हैं मैं सदैव उनका पालन करूँगा और दिन-रात सर्वशक्तिमान ईश्वर से प्रार्थना करता रहूँगा कि जीवन पर्यन्त सम्राट में तथा मुझमें कभी कोई शत्रुता न हो क्योंकि मैं उनका सेवक तथा आश्रित हूँ।'

इतिहासकार लिखता है कि इसके तीन दिन बाद ही बंगाल के नसरतशाह के उत्तराधिकारी सुल्तान महमूद का दूत सम्राट हुमायूँ के सम्मुख उपस्थित हुआ और निम्न सन्देश दिया अफ़ग़ानों ने गौड़ का दुर्ग छीन लिया है किन्तु अधिकांश देश अभी मेरे ही अधिकार में है श्रीमान शेर खाँ के वायदों का विश्वास न करें और शीघ्र ही इन प्रदेशों की ओर कूच कर दें और इससे पहले कि वे अपनी शक्ति स्थापित तथा दृढ़ कर सकें उन्हें देश से खदेड़ कर इस विद्रोह को पूर्णतया कुचल दें। मैं भी आपका साथ दूँगा और उनमें इतनी शक्ति नहीं है कि आपका विरोध कर सकें। जैसे ही सम्राट ने सुल्तान महमूद का यह सन्देश सुना वैसे ही उसने अपनी विजयपताका को बंगाल की ओर बढ़ाने की आज्ञा दी। वहाँ पहुँचकर उसने चार दिन के भीतर ही, बिना किसी कठिनाई के बंगाल की राजधानी गौड़ पर अधिकार कर लिया और सब अफ़ग़ानों को मार भगाया। नगर की सफ़ाई तथा मरम्मत के उपरान्त सम्राट ने पहला कार्य यह किया कि प्रान्त को जागीरों में विभक्त करके अपने अधिकारियों में बाँट दिया; इसके बाद वह अपने को रनिवास में बन्द करके हर प्रकार के भोग विलास में लिप्त हो गया। नियामतुल्ला लिखता है 'हुमायूँ के गौड़ में प्रवेश करने से पहले शेर खाँ ने उस स्थान के प्रत्येक भवन तथा महल को अत्यन्त सुन्दर प्रकार के आभूषणों तथा अलंकरणों से सुसज्जित कर दिया था और अभरंगी कालीनों तथा बहुमूल्य रेशमी वस्त्रों से उन्हें श्रेष्ठ चित्रागारों में परिवर्तित कर दिया था, जिससे कि हुमायूँ उनसे मोहित होकर अधिक समय तक वहाँ ठहर जाय; और अप्रत्याशित रूप से भाग्य ने उसके विचारों का अनुमोदन किया; क्योंकि हुमायूँ चार महीने तक गौड़ में छिपा रहा और आमोद प्रमोद तथा भोग विलास के अतिरिक्त उसके पास और किसी काम के लिये समय न रहा। इस प्रकार जब सम्राट ने कई महीने आनन्द तथा प्रमोद में नष्ट कर दिये तब उसे सूचना मिली कि शेर खाँ ने ७०० मुग़लों को मार डाला चुनार के दुर्ग को घेर लिया और बनारस पर अधिकार कर लिया तथा कन्नौज को हस्तगत करने के लिये एक सेना गंगा के किनारे किनारे भेज दी है; इसके अतिरिक्त उसने अनेक अधिकारियों के परिवारों को बन्दी बना कर रोहतास गढ़ में भेज दिया है।'

शेर खाँ ने हुमायूँ के इस आचरण को विश्वासघात समझा।

उसने कहा, "मेरा सम्राट के प्रति स्वामिभक्तिपूर्ण व्यवहार रहा है और मैंने उसके विरुद्ध कोई अपराध नहीं किया है और न उसकी सीमाओं का ही उल्लंघन किया है। ......सम्राट बिहार का राज्य चाहता था और मैं उसे अर्पण करने के लिये तैयार था। किन्तु राज्य पर शासन करने की यह उचित प्रणाली नहीं है कि मेरी जैसी विशाल सेना को अपनी सेवा से अलग कर दिया जाय और अफगानों के शत्रुओं को प्रसन्न करने के लिये उन्हें (अफगानों को) नष्ट किया तथा मार डाला जाय। किन्तु सम्राट को इस बात की चिन्ता नहीं है और उसने अपने वचन को भंग किया है, इसलिये आप देखेंगे कि अफगान लोग क्या कार्य कर सकते हैं, बंगाल का आक्रमण पश्चाताप तथा खेद का कारण बनेगा क्योंकि अफगान अब एक हो गये हैं और अपने पारस्परिक झगड़ों तथा ईर्ष्या को भूल चुके हैं। जिन देशों को मुगलों ने जीता है उनको वे उनकी (अफगानों की) आपसी कलह के कारण विजय कर सके हैं।"

चूँकि हुमायूँ ने अपने वचन का पालन नहीं किया इसलिये शेर खाँ ने सोचा कि मैं अपनी इच्छानुसार कार्य करने को स्वतन्त्र हूँ। इसी आधार पर उसने, जिस समय हुमायूँ दूर बंगाल में पड़ा हुआ था, अपने कुछ अधिकारियों को सम्राज्य पर आक्रमण करने के लिये पश्चिम की ओर भेज दिया। उन्होंने बनारस पर अधिकार कर लिया और वहाँ के अधिकतर मुगल दुर्गरक्षकों को मार डाला। उसके बाद वे बहराइच पहुँचे और उन भागों से भी मुगलों को खदेड़ दिया; फिर आगे बढ़कर उन्होंने सांभल को हस्तगत किया और वहाँ के निवासियों को बन्दी बनाकर नगर को लूट लिया। एक दल जौनपुर भेजा गया जिसने वहाँ के सूबेदार को युद्ध में मार डाला और फिर आगरा की दिशा में बढ़ता गया। समस्त देश में जिस सूबेदार ने भी हुमायूँ का पक्ष लेकर विरोध किया, वह या तो मारा गया अथवा पराजित होकर भाग गया। इस प्रकार कन्नौज तथा सांभल तक के सब जिले अफगानों के अधिकार में आ गये। शेर खाँ के अधिकारियों ने इन भागों से खरीफ तथा रबी दोनों फसलों का राजस्व वसूल किया।

इसी बीच में मिर्ज़ा हिन्दाल ने जो हुमायूँ के शिविर को छोड़कर आगरा पहुँच गया था, राजधानी में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और शेख बहलोल को जिसका हुमायूँ बहुत सम्मान करता था, मार डाला। 'जब हुमायूँ ने विद्रोह का समाचार सुना तो उसने बंगाल का शासन भार जहाँगीर बेग को सुपुर्द किया और उसकी सहायता के लिये ५,००० सैनिक छोड़कर आगरा की ओर चल पड़ा। उसी समय मुहम्मद ज़मान मिर्ज़ा अत्यधिक पश्चाताप के साथ गुजरात से लौट आया और सम्राट की सेवा में उपस्थित हुआ, हुमायूँ ने उसे क्षमा कर दिया और एक भी अपशब्द नहीं कहा।' किन्तु शेर खाँ ने हुमायूँ को इतनी सरलता से नहीं निकलने दिया। उसने बिहार, जौनपुर तथा अन्य स्थानों से अपनी सेनाएँ बुलाकर रोहतास के आस-पास एकत्र कर लीं। फिर वह सम्राट

से टक्कर लेने के लिये चल पड़ा। उसने अपने अमीरों से मंत्रणा की, और जब सबने बड़े उत्साह के साथ उसका समर्थन किया तो अपनी सेना से उसने कहा

दो दिन से मैंने अपनी सेना तैयार कर रक्खी है और फिर मैं अपने शिविर को लौट गया हूँ जिससे सम्राट असावधान हो जाय और उसे यह सन्देह न हो कि अफ़ग़ान सेना मेरी ओर आ रही है। अब घूमो और सम्राट की सेना की ओर मुँह करो, अफ़ग़ानों की प्रतिष्ठा अपने हाथों से न निकलने दो और अधिकाधिक शक्ति का प्रदर्शन करने से मत चूको क्योंकि अब हिन्दुस्तान का साम्राज्य पुनः प्राप्त करने का समय आ गया है।'

फ़रिश्ता लिखता है कि 'इस संकट के समय हुमायूँ के भाई कामरान ने उसका साथ नहीं दिया बल्कि स्वयं सिंहासन की अभिलाषा करने लगा और सहायता देने के बहाने से १०,००० घुड़सवार सेना लेकर लाहौर की ओर चल पड़ा। जब कामरान दिल्ली पहुँचा तो हिन्दाल मिर्ज़ा ने उसे समझाया कि इस नगर का घेरा संचालन करने के लिये हम लोग अपनी सेनाएँ मिला लें। कामरान तैयार हो गया। —जब राजकुमारों ने देखा कि दिल्ली का सूबेदार न समर्पण करने के लिये तैयार है और न विश्वासघात के लिये तो उन्होंने घेरा उठा लिया और आगरा की ओर चल पड़े। जब वे उस नगर में पहुँचे तो उनकी पारस्परिक ईर्ष्या खुले युद्ध के रूप में भड़क उठी। हिन्दाल मिर्ज़ा को उसके दल के अनेक लोग छोड़कर चले गये इसलिये वह स्वयं ५,००० घुड़सवारों तथा ३०० हाथियों के साथ अलवर को भाग गया; उसी बीच में कामरान मिर्ज़ा ने आगरा पहुँच कर अपने को सम्राट घोषित कर दिया। फिर भी हुमायूँ ने शेर ख़ाँ की सेना को तुच्छ समझा और अपने दल का निरीक्षण तक नहीं किया और न युद्ध-सम्बन्धी आवश्यक चीज़ों की ओर ही ध्यान दिया; बंगाल के जलवायु के कारण उसकी सेना में जो अव्यवस्था फैल गई थी उस पर भी उसने कोई विचार नहीं किया।'

'शेर ख़ाँ युद्ध का सभी चालों और नीतियों से परिचित था और यह भी जानता था कि युद्ध को कैसे आरम्भ किया जाय और कैसे उसका अन्त किया जाय; और वह समृद्धि तथा विपत्ति दोनों का भली भाँति अनुभव कर चुका था। मुग़ल सेना शिविर से निकल भी नहीं पाई थी कि अफ़ग़ान दल ने आकर उसे घेर लिया और साहस के साथ आगे बढ़कर उस पर आक्रमण कर दिया। पलक मारते ही उन्होंने २६ जून १५३९ ई० को मुग़ल सेना को खदेड़ दिया। हुमायूँ स्नान कर रहा था, जिस समय उसे सूचना मिली कि मुग़ल सेना तितर बितर हो गई है इसलिये अब उसको पुनः एकत्र करना असम्भव हो गया। सेना में इतनी भारी गड़बड़ी फैली कि उसे अपने परिवार को हटाने का भी समय न मिला और इसलिये वह आगरे की ओर भाग गया जिससे वहाँ अपनी बिखरी हुई सेना को एकत्र करके शत्रु को नष्ट करने के लिये पुनः लौट सके।' हुमायूँ के

हर ने इस घातक युद्ध का जो चुपाघाट अथवा चौसा के स्थान पर लड़ा गया था निम्नांकित वर्णन दिया है :

'हाथी पर चढ़े हुए एक धनुर्धारी ने एक बाण फेंका जिससे सम्राट की बाँह में चोट लग गई और शत्रु उसे चारों ओर से घेरने लगे। तब सम्राट ने अपने सैनिकों को ललकारा और आगे बढ़कर शत्रु पर धावा बोलने की आज्ञा दी किन्तु किसी ने आज्ञा का पालन नहीं किया, अफगानों ने सर्वत्र गड़बड़ मचा रक्खी थी इसलिये सम्राट का एक साथी उसके पास पहुँचा और उसके घोड़े की लगाम पकड़ कर बोला, "अब समय खोना उचित नहीं है, जब आपके मित्रों ने ही आपको छोड़ दिया है तब भाग जाने में ही कल्याण है।" तब सम्राट नदी के किनारे पहुँचा और यद्यपि उसका एक हाथी पीछे आ रहा था, फिर भी उसने अपने घोड़े को नदी में डाल दिया किन्तु शीघ्र ही घोड़ा डूब गया। जब एक भिश्ती ने यह देखा तो उसने अपनी मशक जिसे उसने हवा भर कर फुला लिया था, सम्राट को दे दी और उसकी सहायता से वह तैर कर नदी पार कर गया। अत्यधिक प्रामाणिक गणना के अनुसार हिन्दुओं के अतिरिक्त ८,००० मुगल युद्ध के दौरान में डूब गये और उनमें मुहम्मद जमान मिर्ज़ा भी सम्मिलित था।'

इस विजय के उपरान्त शेर खाँ ने अपने अमीरों की इच्छानुसार राजचिह्न तथा उपाधि धारण कर ली। वह सिंहासन पर बैठ गया, सिर पर छत्र धारण किया, शेरशाह की उपाधि ग्रहण की, सिक्के ढलवाये और अपने नाम में ख़ुतबा पढ़वाया; इसके अतिरिक्त उसने शाह आलम की उपाधि भी धारण की। प्रोफैसर कानूनगो के अनुसार राज्याभिषेक दिसम्बर १५३६ के अन्त में गौड़ में सम्पादित हुआ।

तब तक हुमायूँ आगरा पहुँच गया। 'मिर्ज़ा कामरान को सम्राट के आगमन की पूर्व सूचना नहीं मिली थी। हुमायूँ सीधा अपने भाइयों के मण्डप में चला गया और एक दूसरे को देखकर भाइयों के नेत्रों में आँसू भर आये। हिन्दाल मिर्ज़ा अलवर से लौट आया था, उसके अपराध क्षमा कर दिये गये और तब वह सम्राट की सेवा में उपस्थित हुआ। मुहम्मद सुल्तान मिर्ज़ा तथा उसके पुत्र भी आकर उससे मिल गये। मंत्रणा की गई। मिर्ज़ा कामरान लाहौर लौट जाने का इच्छुक था और उसने अपरिमित आकांक्षायें प्रदर्शित की। सम्राट ने उसके सब असाधारण प्रस्ताव स्वीकृत कर लिये। ख्वाज़ा कलन बेग ने कामरान को वापिस भेजने के लिये विशेष प्रयत्न किया। छः महीने तक बातचीत चलती रही। इसी बीच में कामरान को एक भयंकर रोग ने आ घेरा और कुछ स्वार्थी लोगों ने उसके मस्तिष्क में यह बात बिठला दी कि सम्राट की आज्ञा से आपको विष दे दिया गया है और यही आपके रोग का कारण है। इसलिये रोग-ग्रस्त होने पर भी वह लाहौर को चल पड़ा, ख्वाजा कलन बेग को उसने आगे-आगे भेज दिया था। उसने अपना सेना के बड़े भाग को भाई की सहायता के लिये आगरे में छोड़ने का वचन दिया था किन्तु अपने वचन का पालन न करते हुये वह सम्पूर्ण सेना अपने साथ

भे गया और बचल दो हज़ार की एक 'टुकड़ी सिकन्दर के नेतृत्व में आगरे में छोड़ गया।'

शेरशाह ने स्वयं सम्राट हुमायूँ का पीछा किया और कन्नौज तथा कालपी तक के समस्त प्रदेश पर अधिकार कर लिया। उसने ईसा खाँ को गुजरात तथा माण्डू की ओर भेज दिया और उन भागों के सामन्तों को लिखा, "मैं अपने एक पुत्र को तुम्हारे पड़ौस में भेजने वाला हूँ। जब सम्राट हुमायूँ कन्नौज की ओर बढ़े तो तुम मेरे पुत्र के साथ हो जाओ और आगरा तथा दिल्ली के आसपास के प्रदेश पर अधिकार करके उसे उजाड़ दो।'

'जब सम्राट हुमायूँ ने सुना कि शेरशाह ने अपने पुत्र को चन्देरी की ओर उन भागों में उपद्रव खड़ा करने के उद्देश्य से भेज दिया है तो उसने भी अपने भाइयों, मिर्ज़ा हिन्दाल तथा मिर्ज़ा अस्करी को अन्य अमीरों के साथ उस दिशा में भेज दिया। जब मालवा के सामन्तों ने सुना कि सम्राट के दो भाई क़ुतुब खाँ का विरोध करने के लिये आ रहे हैं तो उन्होंने उनको कोई सहायता नहीं दी। क़ुतुब खाँ चन्देरी से चौंधा (कालपी ?) पहुँचा और वहाँ मुग़लों से युद्ध करते हुये मारा गया। इस विजय के उपरान्त मिर्ज़ा हिन्दाल तथा मिर्ज़ा अस्करी सम्राट के पास लौट गये। यह समाचार सुनकर शेरशाह को अत्यधिक दुःख तथा क्रोध हुआ। इस विजय से मुग़लों का आत्मविश्वास अत्यधिक बढ़ गया और तब तक उनके अपने देश से भी निराश तमा आ गई थी इसलिये सम्राट हुमायूँ ने कन्नौज के पास अपनी सेना को लगाकर मोर्चा खड़ा कर लिया (अप्रैल १५४० ई०)। शेरशाह ने भी दूसरी ओर अपनी क़िलेबन्दी कर ली।

कन्नौज अथवा बिलग्राम का युद्ध

'१ मुहर्रम ९४७ हिजरी के दिन दोनों सेनाएँ आमने-सामने आखड़ी हुई।' शेरशाह ने अपने प्रत्येक अमीर को आज्ञा दी कि अपने अपने अनुयायियों के पास लौट जाओ और उन्हीं के पास रहो; उसने स्वयं सम्पूर्ण सेना का निरीक्षण किया और व्यवस्थित रूप में खड़ा कर दिया। इसके विपरीत हुमायूँ के पक्ष में किसी प्रकार की सावधानी नहीं बरती गई। बाबर का भतीजा भाई मिर्ज़ा हैदर इस अवसर पर सेना के एक अंग का संचालन कर रहा था, उसने मुग़ल सेना की दशा और युद्ध तथा उसके परिणामों का इस प्रकार विशद वर्णन किया है—

"शाही सेना उतने अच्छे ढंग से जितना कि सम्भव हो सकता था गंगा के किनारे पहुँच गई। वहाँ उसने डेरा डाल दिया और लगभग एक महीने तक पड़ी रही सम्राट नदी के एक किनारे पर था और शेरशाह दूसरे पर और दोनों आमने-सामने थे। सेनाओं की संख्या २, , ० के लगभग रही होगी। मुहम्मद सुलतान मिर्ज़ा ने हुमायूँ के विरुद्ध अनेक बार असफल विद्रोह किया था, उसने क्षमा माँगी थी और माफ कर दिया गया था किन्तु इस अवसर पर वह शेरशाह से मिल गया और सम्राट को छोड़ कर चला गया।

'इस प्रकार एक नया मार्ग खुल गया। प्रत्येक व्यक्ति छोड़कर भागने लगा और सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि भगोड़ों में से बहुत से शेरशाह के पास नहीं गये क्योंकि उन्हें उससे अनुग्रह की आशा नहीं थी। सेना में एक उग्र भावना फैल गई और आवाज उठने लगी कि "चलो, हम लोग चलें और अपने घरों में आराम करें।" कामरान के सहायक दल की एक टुकड़ी भी छोड़कर लाहौर को भाग गई।

'चूँकि सेना भागने लगी थी इसलिये उसे बिना लड़े ही नष्ट होते देखने की अपेक्षा युद्ध के दाव पर लगाना अधिक उचित समझा गया। यदि परिणाम प्रतिकूल भी हुआ तो कम से कम हमारे सिर पर यह कलंक तो न रहेगा कि हमने बिना प्रहार किये ही साम्राज्य खो दिया। इसलिये हमने नदी पार की। दोनों सेनाओं ने मोर्चेबन्दी कर ली। प्रतिदिन दोनों पक्षों के साहसिक तथा शेखीखोरे लोगों में झपटें होती रहीं किन्तु मानसून के आजाने से ये कार्यवाहियाँ मन्द हो गईं, भूमि चारों ओर पानी से भर गई और तँबुएँ लगाने-योग्य न रही। आगे बढ़ना असम्भव था। कुछ लोगों ने मत प्रकट किया कि यदि ऐसी ही एक और बाढ़ आई तो समस्त सेना निराशा के खड्ड में डूब जायेगी, इसलिये उस नीची भूमि की ओर जो शत्रु के सामने स्थित थी और जहाँ तक बाढ़ का पानी नहीं पहुँच सकता था, बढ़ने का निश्चय किया गया। मैं निरीक्षण के लिये गया और देखा कि स्थान काम का है।......

'मेरे तथा नदी के बीच में सत्ताईस अमीरों का दल पड़ा हुआ था और उन सबके पास तुग झण्डे थे।......युद्ध के दिन जब शेरशाह अपनी सेना दलों में विभक्त करके आगे बढ़ा तो इन सत्ताइस तुग झण्डों में से एक भी न दिखाई दिया क्योंकि ये महान् अमीर इस डर से छिप गये थे कि कहीं शत्रु हमारी ओर न बढ़ आये। उन अमीरों ने साहस का जो यह परिचय दिया उसी से उनके सैनिक गुणों तथा शूरत्व का अनुमान लगाया जा सकता है। शेरशाह एक-एक हजार के पाँच दलों को लेकर आगे बढ़ा और उसके आगे तीन हजार सैनिक चले। मैंने अनुमान लगाया कि उसकी सब सेना पन्द्रह हजार रही होगी और मेरी गणना के अनुसार चगताई सैनिकों की संख्या चालीस हजार थी, वे सब तिपचक घोड़ों पर सवार तथा लोहे के कवच पहने हुये थे। वे समुद्र की उफनती हुई लहरों की भाँति आगे बढ़े किन्तु अमीरों तथा सेना के अधिकारियों का साहस जैसा था वैसा हम ऊपर कह आये हैं।

'चगताई सेना के प्रत्येक अमीर तथा वजीर के पास, चाहे वह अमीर हो अथवा गरीब, अपने गुलाम हैं। एक प्रसिद्ध अमीर के पास जिसके सैनिकों तथा अनुयायियों की संख्या सौ है, पाँच सौ नौकर तथा गुलाम हैं जो युद्ध के दिन अपने स्वामी को कोई सहायता नहीं करते और न अपने ही ऊपर कोई नियन्त्रण रख सकते हैं। इसलिये जहाँ भी संघर्ष हुआ इन गुलामों पर अधिकार रखना नितान्त कठिन हो गया। जब उनका स्वामी मारा गया तो वे भयग्रस्त हो गये और आतङ्क से अन्धे होकर इधर-उधर भागने लगे। संक्षेप में, हमारे लिये मैदान में डटना असम्भव हो गया। पीछे से उन्होंने इतना भारी दबाव डाला कि सेना का केन्द्र भाग तोपों के बीच में फैली हुई जंजीरों पर आ

गिरा और सैनिक एक दूसरे से टकराने लगे। केन्द्र की यह दशा थी। दायीं ओर से अस्कारी अव्यवस्थित रूप से आगे बढ़ा किन्तु यह बात भी न पूरा था कि विघ्नगुप्ते हवा के सामने तिनकों की भाँति भाग खड़े हुये और पंक्ति तोड़कर केन्द्र की ओर दबने लगे।

इस युद्ध में चगताइयों की पराजय हुई, किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इसमें एक भी व्यक्ति—मित्र अथवा शत्रु—घायल नहीं हुआ, एक भी तोप नहीं दागी गई और रथ निरर्थक सिद्ध हुये। सम्राट आगरे को भाग गया और जब शत्रु उस नगर में भी आ पहुँचा तो उसने अविलम्ब लाहौर की ओर प्रस्थान कर दिया।

शेरशाह ने अपने दो योग्यतम अधिकारी ग्वालियर तथा मालवा को घेरने के लिये भेज दिये और 'स्वयम् कन्नौज के निकटवर्ती प्रदेश की ठीक व्यवस्था करके आगरे की दिशा में चल पड़ा। जब शेरशाह आगरे के निकट पहुँचा तो सम्राट वहाँ न टिक सका और लाहौर की ओर भाग गया। इससे शेरशाह बहुत प्रसन्न हुआ और आगरे पहुँचकर कुछ दिनों स्वयम् वहाँ ठहरा किन्तु खवास खाँ तथा बरमजीद गुर को एक विशाल अफगान दल के साथ सम्राट का पीछा करने के लिए लाहौर की ओर भेज दिया। किन्तु सम्राट तथा मिर्ज़ा कामरान ने लाहौर छोड़ दिया और शेरशाह ने कुछ ही समय उपरान्त उस पर अधिकार कर लिया लेकिन वह वहाँ ठहरा नहीं। लाहौर से आगे पहुँचकर तीसरी मार्च को उसने सुना कि मिर्ज़ा कामरान जूद की पहाड़ियों के मार्ग से काबुल को चला गया है और सम्राट हुमायूँ सिन्ध के किनारे किनारे मुल्तान तथा भक्कर की ओर जा रहा है। शेरशाह खुशाब गया और वहाँ से खवास खाँ तथा सेना के एक बड़े भाग को सम्राट का पीछा करने के लिये मुल्तान की ओर भेज दिया। उसने उन्हें आज्ञा दी कि सम्राट से युद्ध मत करना बल्कि राज्य की सीमाओं से उसे बाहर खदेड़ कर लौट आना।

यहाँ पर हम कुछ पीछे की ओर मुड़कर देख लें कि हुमायूँ ने किस प्रकार अपने कृतघ्न भाइयों का सहयोग प्राप्त करने के लिये अन्तिम दयनीय प्रयत्न किये। रबी-उल अव्वल के प्रारम्भ में सभी चगताई अमीर और सुल्तान लाहौर में इकट्ठे हुये, किन्तु मिर्ज़ा मुहम्मद सुल्तान और उसके पुत्र जो लाहौर आ गये थे, वहाँ से मुल्तान को भाग गये। मिर्ज़ा हिन्दाल तथा मिर्ज़ा यादगार नासिर ने भक्कर तथा थट्टा की ओर जाना उचित समझा और मिर्ज़ा कामरान ने जैसे ही दल छिन्न-भिन्न हुआ काबुल को जाने का संकल्प कर लिया।

'सम्राट को अब भली-भाँति स्पष्ट हो गया कि भाइयों तथा अमीरों को किसी एक समझौते पर राज़ी करना असम्भव है इसलिये वह बहुत निराश हुआ।' फरिश्ता लिखता है, 'हुमायूँ ने शेरशाह के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने के लिये अपने भाइयों के सम्मुख हर प्रकार के तर्क रखे और कहा कि हमारे आन्तरिक कलह से यह विशाल साम्राज्य हाथ से निकल जायगा जिसे प्राप्त करने के

लिये हमारे पिता ने इतने कष्ट सहे थे; हमारे आचरण से तिमूर के वंश का
सर्वनाश हो जायगा; हम मिलकर शत्रु के विरुद्ध लड़ें और बाद में साम्राज्य
परस्पर बाँट लें, इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग हमारे सामने नहीं है। सम्राट
के भाइयों पर इन तर्कों का कोई प्रभाव न पड़ा, महत्वाकांक्षा ने उन्हें इतना
अन्धा कर दिया था कि थोड़े से सन्तुष्ट होने की अपेक्षा उन्होंने सब कुछ खोने
का संकल्प कर लिया।'

'दीर्घ मंत्रणा के उपरान्त मिर्ज़ा हैदर बेग को एक दल के साथ जिसने काश्मीर
में सेवा के लिये जाना स्वीकार कर लिया था, भेज दिया गया और ख्वाजा
कलन बेग को उसके पीछे-पीछे जाने की आज्ञा दी गई। जब मिर्ज़ा नौशहर और
कलन बेग सियालकोट पहुँचा तो सम्राट को सूचना मिली कि शेरशाह ने
सुल्तानपुर के पास व्यास नदी को पार कर लिया है और कुछ ही कोस की दूरी
पर है। तब श्रीमान ने लाहौर की नदी को पार किया।

'मिर्ज़ा कामरान ने शपथ खाई थी और समझौता किया था कि जो कुछ भी
निश्चय किया जायगा मैं उसमें सहायता करूँगा, किन्तु अब उसने सम्राट के साथ
बहरा में शरण लेना उचित समझा। जब ख्वाज़ा कलन बेग को यह समाचार
मिला तो उसने तेजी से सियालकोट से कूँच किया और हुमायूँ के शिविर में
जा पहुँचा। बहरा में मिर्ज़ा कामरान तथा मिर्ज़ा अस्करी हुमायूँ से विदा हो गये
और ख्वाजा कलन बेग के साथ काबुल को चले गये।' यह घटना अक्टूबर १५४६
ई० के अन्त की है।

हुमायूँ का निर्वासन

मरुस्थल में—'मिर्ज़ा हिन्दाल तथा मिर्ज़ा यादगार नासिर इसके बाद भी
हुमायूँ के साथ बने रहे। वे जगह-जगह मारे-मारे फिरे—रोरी, भक्खर, पतर—और
गुजरात को पुनः विजय करने के उद्देश्य से थट्टा के शासक शाह हुसैन अर्गून से
सहायता माँगी किन्तु विफल रहे।' भक्खर में अन्न मिलना दुर्लभ होगया इसलिये
सम्राट पतर को कूँच कर गया, हिन्दाल वहाँ ठहरा हुआ था और हुमायूँ ने सुन
रखा था कि हिन्दाल कान्धार जाने का विचार कर रहा है। यहीं पर पतर में
हिन्दाल के शिविर में हुमायूँ का मरियम-ए-मकानी हमीदाबानू बेगम से १५४१
ई० की ग्रीष्म में प्रेम हो गया, और वह शीघ्र ही अकबर की माँ बन गई।
निजामुद्दीन लिखता है कि उसने हिन्दाल के शिविर में कई दिन आनन्द से
बिताये। सम्राट ने हिन्दाल से कान्धार जाने को मना किया किन्तु वह नहीं
माना। जब हुमायूँ ने यह सुना तो उसे अपने भाइयों में एकता के अभाव के
कारण बहुत दुःख हुआ। फिर थट्टा की विजय का विचार किया गया। जब
सम्राट ने थट्टा की ओर कूँच किया तो सैनिकों का एक विशाल दल
अलग होकर भक्खर में ठहर गया। उसने सेहवान के किले को हस्त-
गत करने का विफल प्रयत्न किया और भक्खर में जाकर शरण ली। मिर्ज़ा
यादगार नासिर विश्वासघाती सिद्ध हुआ और उसने शत्रु को हुमायूँ को तंग

करने में सहायता की। इस संकट की स्थिति में हुमायूँ ने मालदेव के यहाँ जाने का संकल्प किया। 'मालदेव हिन्दुस्तान का एक स्वामिभक्त जमींदार था और उसकी शक्ति तथा सेना हिन्दुस्तान के अन्य सभी जमींदारों से बढ़ी चढ़ी थी। मालदेव ने भक्कर में हुमायूँ को पत्र भेजे थे अपनी स्वामिभक्ति की घोषणा की थी और हिन्दुस्तान को पुनः जीतने में सहायता करने का वचन दिया था। इसलिए जैसलमेर के मार्ग से हुमायूँ ने मालदेव के देश के लिये प्रस्थान किया।

किन्तु जब मालदेव को सम्राट की दुर्बलता का पता लगा तो वह बदल गया क्योंकि वह जानता था कि मेरे पास शेरशाह का सामना करने के लिये पर्याप्त साधन नहीं हैं। उधर शेरशाह ने मालदेव के पास अपना दूत भेजा और बहुत कुछ आशा दिखाई और मालदेव ने वचन दिया कि यदि सम्भव हो सका तो मैं हुमायूँ को बन्दी बनाकर आपके सुपुर्द कर दूँगा। नागौर तथा उसके अधीन प्रदेशों पर शेरशाह का अधिकार हो गया था, इसलिये उसे भय था कि कहीं शेरशाह अप्रसन्न होकर मेरे राज्य में हुमायूँ के विरुद्ध सेना न भेज दे। किन्तु भाग्यवश हुमायूँ के एक पुस्तकाध्यक्ष ने जो उसकी पराजय के समय मालदेव के पास भाग गया था, सम्राट को एक पत्र लिखकर सूचना दी कि माल देव विश्वासघात करने पर तुला हुआ है और सलाह दी कि जितनी शीघ्र हो सके उसके राज्य से निकल जाइये। इसलिये हुमायूँ ने एकदम अमरकोट के लिये कूँच कर दिया।

'मरु में भयंकर परिश्रम के उपरान्त वे अमरकोट पहुँचे जो थट्टा से सौ कोस दूर है। अमरकोट के राणा ने दयालुता दिखलाई और आगे बढ़कर सम्राट का स्वागत किया तथा सेवा करने का वचन दिया। सेना ने भी कठिनाइयों से छुटकारा पाकर कुछ दिनों तक उसी नगर में विश्राम किया और जो कुछ सम्राट के कोष में था उसे उसने सैनिकों में बाँट दिया। अब नियति ने हुमायूँ के प्रति कुछ समय के लिये अपना व्यवहार बदल दिया और उसे एक पुत्र प्रदान करके समय के पृष्ठ पर एक अमिट छाप लगादी। पुत्र का जन्म ५ रजब, ९४९ हिज्री (१५ अक्टूबर १५४२ ई०) को हुआ और धार्मिक लोगों की सलाह से सम्राट ने उसका नाम जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर रखा।

"हुमायूँ को सिन्ध में आये तीन वर्ष हो चुके थे; उनमें से अठारह महीने संधि की बात चीत तथा सैनिक प्रयत्नों में बीत गये थे; छः महीने सिन्ध के पूर्व की ओर की यात्राओं में और एक वर्ष जून (अमरकोट और थट्टा के बीच में स्थित) में निवास तथा कन्धार की यात्रा में।"

१५४३ की जुलाई के लगभग 'सम्राट ने देखा कि इस देश में अब अधिक रहना उचित नहीं है इसलिये उसने कन्धार जाने का विचार कर लिया।' उसी समय बैराम खाँ जो आगे चलकर अकबर का प्रसिद्ध अभिभावक बना, आकर उससे मिल गया। कन्नौज के युद्ध में हुमायूँ की पराजय के बाद उसने भागकर गुजरात में शरण ली थी और अनेक कुछ संकटों का सामना करने के उपरान्त

अपने स्वामी के पास फिर आ पहुँचा। किन्तु हुमायूँ के शत्रुओं ने अब भी उसके मार्ग में रोड़े डालना नहीं छोड़ा। थट्टा के शाह हुसैन ने मिर्ज़ा अस्करी तथा कामरान को उसकी गति विधि का पता दे दिया और उन कृतघ्न धूर्तों ने वापिस लिख भेजा कि उसको आगे बढ़ने से रोक दो और बन्दी बनालो। हुमायूँ ने केवल इतना कहा "काबुल और कान्धार का ऐसा क्या महत्व है कि मैं अपने विश्वासघाती भाइयों के साथ इतना परिश्रम करूँ?" राजकुमार अकबर को जिसकी अवस्था उस समय एक वर्ष थी कान्धार में एक छोटी टुकड़ी की देख-रेख में छोड़कर हुमायूँ बैराम खाँ तथा थोड़े से अन्य व्यक्तियों के साथ 'बिना मार्ग निश्चित किये हुये ही चल पड़ा।'

ईरान में—'उसके भाइयों की शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियों के कारण ये प्रदेश सम्राट के रहने के लिये सुरक्षित नहीं थे इसलिये वह खुरासान तथा इराक की ओर बढ़ा।' जब उसने सीस्तान में प्रवेश किया तो उस प्रान्त के सूबेदार अहमद सुल्तान शम्लू ने जो शाह तहमस्प के अधीन था बड़ी दयालुता के साथ उसका स्वागत किया। वहाँ से वह हिरात गया 'क्योंकि उसने उस नगर की बड़ी प्रशंसा सुन रखी थी', और वहाँ भी उसका वैसा ही स्वागत हुआ। जिस वस्तु की उसे आवश्यकता हुई वह उसे मिली और शाह तहमस्प से भेंट होने के समय तक उसे किसी चीज का अभाव नहीं रहा। हिरात के सभी महल तथा उद्यान देखने में अत्यन्त सुन्दर थे, श्रीमान ने उन सबको देखा और इसके बाद मैशद तथा तुस् के लिये रवाना हो गया। शाह की आज्ञा से मार्ग में प्रत्येक सूबेदार ने उसे सभी आवश्यक वस्तुयें प्रदान कीं। अन्त में वह पुलक सुर्लिक पहुँचा और वहाँ शाह तहमस्प से भेंट हुई, शाह ने उसका सत्कार किया और अतिथि तथा मेज़बान दोनों की प्रतिष्ठा के अनुरूप उसे सब प्रकार से सम्मानित तथा समाद्रित किया। शाह ने उसे चौदह हजार सैनिक दिये जिन्हें लेकर वह कान्धार की ओर बढ़ा। इसके बदले में हुमायूँ ने वचन दिया कि अपने राज्य में पहुँचकर वहाँ मैं शिया मत की स्थापना करूँगा और कांधार आपके सुपुर्द कर दूँगा।

हिन्दुस्तान की पुनः विजय

इस समय काबुल कामरान के, गज़नी हिन्दाल के और कान्धार अस्करी के अधिकार में था। कामरान ने सुलेमान मिर्ज़ा से जिसे बाबर ने नियुक्त किया था, बदख्शाँ (दक्षिणी बैक्ट्रिया) छीन लिया था; बलख़ सहित उत्तरी बैक्ट्रिया उज़बेगों के हाथ में था। शेरशाह अभी तक जीवित था, इसलिये हिन्दुस्तान के आक्रमण से किसी लाभ की आशा नहीं थी।

'गर्मसीर के किले में पहुँचकर उन्होंने गर्मसीर के राज्य पर अधिकार कर लिया। जब वे कान्धार पहुँचे तो सैनिकों के एक विशाल दल ने किले में से निकल कर यथासामर्थ्य उनका प्रतिरोध किया किन्तु पराजित हुये। कान्धार का घेरा तीन महीने तक चला।' बैराम खाँ एक दूत के रूप में कामरान मिर्जा के पास काबुल भेजा गया। वहाँ

कामरान, हिन्दाल तथा अन्य लोगों से उसकी भेंट हुई। कामरान ने अपना दूत भेजा 'जिससे हो सके वह संधि की शर्तें ते हो जायँ, किन्तु मिर्ज़ा अस्करी अब भी युद्ध करने तथा हठ करने पर तुला हुआ था। कन्धार के दीर्घकालीन घेरे से ईरानी सैनिक थक गये थे और लौटने का विचार कर रहे थे। किन्तु जब अनेक बड़े बड़े बेग सम्राट के साथ हो गये तो अस्करी का अभिमान भंग हो गया और उसने समर्पण का प्रस्ताव भेजा। 'महान् दयालुता के साथ सम्राट ने उसको क्षमा प्रदान की।'

ईरानियों के साथ यह समझौता हुआ था कि जैसे ही कन्धार जीत लिया जायगा वैसे ही वह उनके सुपुर्द कर दिया जायगा। इसलिये सम्राट ने उसे उनके अधिकार में दे दिया, यद्यपि स्वयं उसके पास कोई भूमि नहीं थी। मिर्ज़ा अस्करी अवसर पाकर भाग निकला किन्तु एक दल ने उसका पीछा किया और पकड़ लिया। तब सम्राट ने उसे कारागार में डाल दिया। तब सरदार कबीलों के प्रमुखों की बैठक हुई और यह निश्चय किया गया कि परिस्थिति की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये कन्धार अभी ईरानियों से ले लिया जाय और काबुल तथा बदख्शाँ की विजय के उपरान्त उसे उन्हें पुनः लौटा दिया जाय। उन्होंने किले में प्रवेश किया और ईरानियों को धर दबाया। हुमायूँ स्वयं घोड़े पर सवार होकर नगर में पहुँचा।... इस प्रकार कन्धार पर अधिकार पाकर चग़ताइयों को बहुत सन्तोष हुआ' (सितम्बर १५४५ ई०)।

एल्फिंस्टन का कथन है, 'कन्धार को ईरानियों के सुपुर्द करना शाह की सहायता का मूल्य था, और सहायता से लाभ उठाकर हुमायूँ ने उस समझौते को नये सिरे से स्वीकार कर लिया था; और अब उस समझौते का उल्लंघन करके, विशेषकर इस ढंग से उसने विश्वासघात का टीका अपने माथे पर लगा लिया।' इसके उपरान्त हुमायूँ कन्धार का भार बैराम ख़ाँ को सौंप कर काबुल की विजय के लिये चल पड़ा।

'मिर्ज़ा कामरान के पास सुसज्जित सेना थी इसलिये वह युद्ध का संकल्प करके बाहर निकला किन्तु प्रत्येक रात को सैनिकों के दल उसे छोड़कर हुमायूँ से आकर मिलने लगे। इससे घबड़ाकर कामरान ने शेखों के एक मण्डल को सम्राट के पास भेजा और क्षमा याचना की। सम्राट उसे इस शर्त पर क्षमा करने के लिये तैयार हो गया कि वह स्वयं आकर समर्पण करे। कामरान इस पर राजी नहीं हुआ और भागकर काबुल के किले में शरण ली। उसकी सम्पूर्ण सेना सम्राट से जा मिली। उसी रात को वह स्वयं ग़ज़नी को भाग गया। तब सम्राट ने काबुल में प्रवेश किया (१५ नवम्बर १५४५ ई०) और रात को नागरिकों ने अत्यधिक प्रसन्नता के कारण दीपकों से समस्त नगर को जगमगा दिया। उसके महल में प्रवेश करने पर मौसजी बेगम ने जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर को लाकर पिता की गोदी में रखा। उसे देखकर पिता का हृदय आनन्द से प्रफुल्लित हो उठा और इस पुनर्मिलन के लिये उसने ईश्वर को धन्यवाद दिया। यह विजय १० रमज़ान ९५२ हिजरी के दिन हुई जिस समय राजकुमार की अवस्था ४ वर्ष २ महीने और ५ दिन थी। उस वर्ष का शेष भाग सम्राट ने काबुल में ही आमोद प्रमोद में बिताया।

हुमायूँ ने बदख्शाँ से मिर्ज़ा सुलैमान को बुलाया और आकर समर्पण करने की आज्ञा दी किन्तु उसने आने से इन्कार किया इसलिये दूसरे वर्ष ही सम्राट ने बदख्शाँ के लिये प्रस्थान कर दिया। मिर्ज़ा सुलैमान पराजित हुआ और भाग गया। जिस समय हुमायूँ दूर बदख्शाँ में था, कामरान ने सहसा आक्रमण करके काबुल तथा गज़नी पर अधिकार कर लिया। यह सुनकर सम्राट पुनः सुलैमान को बदख्शाँ तथा कुन्दुज़ का भार सौंप कर काबुल को लौट आया। कामरान ने राजकुमार अकबर को भी अपने अधिकार में ले लिया था और जो युद्ध हुआ उसमें उसका अच्छा उपयोग किया। इतिहासकार लिखता है, 'कुत्सित भावनाओं से उसने श्रीमान राजकुमार अकबर को किले की दीवालों पर उस जगह बिठलाने की आज्ञा दी जहाँ तोपों तथा बन्दूकों के गोलों की सबसे भयंकर वर्षा हो रही थी। किन्तु महम अङ्गा ने बालक को अपने हृदय में छिपा लिया और अपने को आगे करके उसे शत्रु (दुर्ग रक्षकों) की ओर कर दिया और सर्वशक्तिमान ईश्वर ने उसकी रक्षा की।' कामरान का साहस टूट गया और सभी भागों तथा दिशाओं से लोग सम्राट की सहायता के लिये आ गये। बदख्शाँ तथा कान्धार से भी कुमुक आ पहुँची।

अब मिर्ज़ा कामरान ने सन्धि का प्रस्ताव किया और सम्राट ने उसे इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि वह स्वयं आकर समर्पण करे। किन्तु ऐसा करने में उसे डर लगा इसलिये भाग निकलने का प्रयत्न किया। कुछ कठिनाइयों तथा सङ्कटों का सामना करते हुए वह बदख्शाँ पहुँचा। उज़बेगों से सहायता प्राप्त करने का उसने व्यर्थ प्रयत्न किया और अन्त में निराश तथा खिन्न होकर उसने पश्चाताप किया और मक्का जाने की इच्छा प्रकट की। सम्राट ने उसे एक बार फिर क्षमा कर दिया (अप्रैल १५४७)। "जब वे मिले तो उसने कामरान के प्रति अत्यधिक दयाभाव दर्शाया और फिर राजचिन्ह प्रदान किये। तीन दिन तक वे एक ही महल में रहे और दावतें तथा उत्सव होते रहे। कुछ दिनों बाद उसने कोलाब का प्रदेश कामरान को इक्ता (सैनिक जागीर) के रूप में दे दिया। जून १५४८ में हुमायूँ ने बलख पर चढाई करने के उद्देश्य से काबुल छोड दिया और कामरान तथा अस्करी को भी बुलाया। हिन्दाल तो आकर उसके साथ हो गया किन्तु कामरान तथा अस्करी ने फिर शत्रुता दिखलाई और अभिवादन करने नहीं आये।

कामरान ने सिन्ध के शाह हुसैन अर्घून की एक पुत्री से विवाह कर लिया था। जब हुमायूँ ने उसे अपदस्थ कर दिया तो उसने अपने ससुर की सहायता से काबुल को जीतने का एक बार फिर प्रयत्न किया। इस युद्ध में हिन्दाल मारा गया—१६ नवम्बर १५५१। अन्त में कामरान ने हिन्दुस्तान में आकर सुल्तान सलीम शाह सूर के यहाँ शरण ली, किन्तु यहाँ जो बर्ताव उसके साथ किया गया उससे तंग आकर वह सियालकोट की पहाडियों में भाग गया। वहाँ वह सुल्तान अहमद गक्कर के हाथों में पड़ गया जिसने उसे बन्दी बनाकर हुमायूँ के पास

भेज दिया। 'स्वभाव से दयालु होने के कारण सम्राट कामरान के सभी अपराधों को भूलने के लिये तैयार था, किन्तु अधिकारियों तथा चगताई कबीलों के प्रमुखों ने, जिन्हें कामरान की शत्रुता के कारण अनेक कष्ट भोगने पड़े थे, आपस में सलाह की और हुमायूँ के पास जाकर कहा कि चगताई कबीलों तथा जनता की रक्षा इसी पर निर्भर है कि कामरान मिर्जा का नाश कर दिया जाय, क्योंकि हम बार बार उसकी शत्रुता का फल भोग चुके हैं। हुमायूँ के पास इसके सिवाय और कोई चारा न था कि उस अन्धा करने की अनुमति दे देता।'

कुछ समय उपरान्त भारत से सुल्तान सलीम सूर की मृत्यु तथा अफ़गानों की पारस्परिक कलहकी सूचनामिली। नवम्बर १५५४ में सम्राटने भारत की ओरप्रस्थान कर दिया। जब सेना पेशावर में डेरे डाले हुई थी, उसी समय बैरामखाँ सम्राट की आज्ञानुसार कान्धार से आगया और वर्ष के अन्तिम दिन शाही पताकाओं ने सिन्ध को पार किया। यद्यपि रोहतास के किले की शक्ति बढ़ादी गई थी, फिर भी वहाँ के सूबेदार ने प्रतिरोध नहीं किया और भाग गया। हुमायूँ ने लाहौर की ओर बढ़ना जारी रखा और जब उस नगर के अफ़गानों ने सुना कि मुगल सेना निकट आ पहुँची है तो वे भी भाग खड़े हुये। २४ फरवरी १५५५के दिन उसने बिना किसी प्रतिरोध का सामना किये लाहौर में प्रवेश किया और फिर अग्रगामी दलों के सेनानायकों को जलन्धर तथा सरहिन्द की ओर भेज दिया। पंजाब के जिले सरहिन्द और हिसार सब बिना लड़े ही चगताई सेना के अधिकार में आ गये। दिपालपुर में एकत्रित एक अफ़गानों की टुकड़ी परास्त हुई और उनका सामान, स्त्रियाँ तथा परिवार विजेताओं के हाथ लगे।

'सिकन्दर अफ़गान ने जिसका दिल्ली पर अधिकार था, तातार खाँ तथा हैबात खाँ की अधीनता में १ हजार सेना सरहिन्द में अग्रगामी दलों पर आक्रमण करने के लिये भेजी। चगताई दल जलन्धर में एकत्र हुए और यद्यपि उनकी संख्या कम और शत्रु की अधिक थी फिर भी वे लड़ने को तैयार हो गये। आगे बढ़कर उन्होंने सतलज को पार किया। और जैसे ही सूर्य डूबा, घमासान युद्ध छिड़ गया।

मच्छीवारा का युद्ध—'अफ़गानों ने बाणों की वर्षा द्वारा युद्ध आरम्भ किया किन्तु अँधेरा हो चला था इसलिये मुगलों पर उनके बाणों का कोई प्रभाव न पड़ा; अफ़गान गोलाबारी से बहुत भयभीत हुये और उन्होंने भागकर पास के एक गाँव में शरण ली। चूँकि हिन्दुस्तान के गाँवों के अधिकतर घरों पर छप्पर पड़े होते हैं इसलिये आग लग गई और युद्ध क्षेत्र प्रकाशित हो उठा; मुगल धनुर्धारियों ने निकलकर जलते हुये गाँव के प्रकाश में जी भरकर अपने हथियारों का उपयोग किया। अग्नि के प्रकाश में वे भली भाँति शत्रु को अपने बाणों का लक्ष्य बना सके, अफ़गान अधिक न ठहर सके और भाग खड़े हुये।'

मुगलों की यह महान् विजय थी, और लूट में अनेक हाथी तथा बहुत सा धन

विजेताओं के हाथ लगा। जब यह समाचार लाहौर पहुँचा तो सम्राट बहुत प्रसन्न हुआ और सेनानायकों को उसने बहुत सम्मानित किया। अब सम्पूर्ण पंजाब, सरहिन्द, तथा हिसार फीरोजा पर उसका अधिकार हो चुका था और कुछ दिल्ली के अधीन प्रदेश भी मुग़लों के हाथों में आगये थे।

सरहिन्द का युद्ध—'इस पराजय का समाचार सुनकर (सुलतान) सिकन्दर अफगान ८०,००० घुड़सवार और हाथी तथा तोपखाना लेकर बदला लेने के लिये चल पड़ा। उसने सरहिन्द को कूँच किया और वहाँ पहुँचकर खाइया खोदकर अपने शिविर को मोर्चाबन्दी कर ली। चगताई सेनानायकों ने सरहिन्द की किलेबन्दी सुदृढ़ की, प्रतिरोध का अच्छा प्रदर्शन किया और हुमायूँ के पास कुमुक के लिये पत्र भेजे। इस पर उसने राजकुमार अकबर को सरहिन्द की ओर भेज दिया और जैसे ही वह निकट पहुँचा, सेनानायक उससे मिलने के लिये बाहर निकल आये। युद्ध के लिये सेनायें व्यवस्थित रूप से खड़ी की गईं और शत्रु के विरुद्ध अधिक से अधिक प्रदर्शन किया गया, अफगानों की सख्या मुगलों से चौगुनी थी।

'कुछ दिनों तक दोनों सेनाओं के साहसी योद्धाओं ने एक दूसरे को चिनौती दी और अपने पराक्रम का प्रदर्शन किया, और अन्त में राजकुमार अकबर ने अग्रभाग को युद्ध के लिये खड़ा कर दिया। एक दल ने बैराम खा (खानखाना) की अधीनता में एक ओर से तथा दूसरे दल ने इस्कन्दर खां की अधीनता में दूसरी ओर से शत्रु पर आक्रमण किया। युद्ध में सभी अमीरों ने दुर्दमनीय साहस तथा दृढ संकल्प का परिचय दिया। अफगानों की सख्या १,००,००० थी, फिर भी वे परास्त हुये क्योंकि साहस में वे घटिया थे और (सुलतान) सिकन्दर भाग गया।

'विजेताओं ने शत्रु का पीछा किया और उनमें से अनेक को मार डाला और लूट का अतुल धन लेकर लौटकर सम्राट की सेवा में उसे बधाई देने के लिये उपस्थित हुये। उसकी आज्ञा से एक विजय का फरमान निकाला गया जिसमें जीत का श्रेय अकबर को दिया गया और चारों ओर घुमाया गया।'

फरिश्ता लिखता है, 'इस युद्ध ने साम्राज्य के भाग्य का निर्णय कर दिया और दिल्ली का राज्य सदा के लिये अफगानों के हाथ से निकल गया।'

सिकन्दरखाँ उजबेग को दिल्ली पर चढ़ाई करने के लिये भेजा गया और शाही खेमें समन में गाड़ दिये गये। दिल्ली में जो अफगानों का दल था, वह तुरन्त ही निकल भागा और सिकन्दर उजबेग ने नगर पर अधिकार कर लिया। सुलतान [illegible] को जो सिवालिक पहाड़ियों में भाग गया था, रोकने के लिये मीर अब्दुलमाली को लाहौर भेजा गया। 'रमज़ान के महीने में (२३ जुलाई १५५५) सम्राट ने दिल्ली में प्रवेश किया और एक बार फिर हिन्दुस्तान में उसके नाम या खुतबा पढ़ा गया और सिक्के ढाले गये। जिन अमीरों ने युद्ध में भाग लिया था, उन्हें उदारतापूर्वक पुरस्कृत किया गया और प्रत्येक को एक-एक प्रान्त शासन करने को दे दिया गया। इस वर्ष के शेष दिन विश्राम तथा आमोद-प्रमोद में बिताये गये।'

एर्सकाइन लिखता है कि जिस समय हुमायूँ दिल्ली में आया तभी से वह 'राज्य के कामों की सामान्य देख भाल में जुट गया तथा जिन सेनाओं को उसने विभिन्न प्रान्तों का दमन करने भेज दिया था उनकी प्रगति का निरीक्षण करने लगा। उसने देखा कि साम्राज्य की प्रशासन व्यवस्था में अनेक दोष हैं, इसलिये वह उसे सुधारने के उपाय ढूँढने लगा। उसने जो योजना बनाई उसका सारांश था कि साम्राज्य को कई भागों में बाँट दिया जाय प्रत्येक भाग की एक स्थानीय राजधानी हो और स्थानीय विषयों के संचालन के लिये एक प्रशासक-मण्डल हो। जो राजधानियाँ निश्चित की गईं उनमें दिल्ली, आगरा कन्नौज जौनपुर मांडू और लाहौर मुख्य थे। उनमें से प्रत्येक में एक योग्य सेनानायक के अधीन शक्तिशाली सैनिक दल रख दिया गया जिससे उसे दूसरों की सहायता पर निर्भर न रहना पड़े। सम्पूर्ण साम्राज्य को एकता प्रदान करने का काम सम्राट ने स्वयं अपने ऊपर लिया और १२००० घुड़सवार सेना के साथ जो सीधी उसी के अधीन थी और जो हर समय किसी भी दिशा में चलने को तैयार रहती थी, बारी बारी से प्रत्येक प्रान्त का दौरा करना निश्चय किया। किन्तु इस योजना को कार्यान्वित करने का उसे पर्याप्त समय नहीं मिला और यदि मिलता भी तो उसमें आवश्यक दृढ़ता तथा अध्यवसाय नहीं था।'

हुमायूँ की मृत्यु

'किन्तु अब एक अत्यन्त असाधारण घटना घट गई। ८ रबी उल् अव्वल के दिन सूर्यास्त के समय सम्राट अपने पुस्तकालय के शिखर पर चढ़ गया और कुछ समय तक वहीं खड़ा रहा। जैसे ही वह उतरने लगा, मुअज्जिन ने अजाँ लगाई और वह श्रद्धापूर्वक दूसरी सीढ़ी पर बैठ गया। जैसे ही वह फिर उठने लगा उसका पैर फिसल गया और वह सीढ़ियों पर से नीचे भूमि पर आ गिरा। जो लोग उसकी सेवा में उपस्थित थे, वे बहुत घबराये और सम्राट को उठाकर, मूर्छित अवस्था में, महल में ले गये। थोड़े समय बाद उसकी मूर्छा खुली और बोला; दरबारी हकीमों ने अपनी पूरी शक्ति लगादी, किन्तु सब निरर्थक। दूसरे दिन उसकी दशा अधिक बिगड़ गई और स्थिति असाध्य हो गई। शेख जूली को अकबर को बुलाने के लिये पंजाब भेजा गया। १५ रबी उल अव्वल ९६३ हिजरी (२४ जनवरी १५५६ ई) को सूर्यास्त के समय वह संसार से चल बसा और स्वर्ग सिधारा। उसकी मृत्यु की तिथि इस पंक्ति में दी हुई है; हुमायूँ बादशाह अज़ बाम उफताद।'

हुमायूँ का चरित्र

निज़ामुद्दीन अहमद जिसके कथानक का ही हमने हुमायूँ के जीवन के लिये मुख्यतया सहारा लिया है, अधोलिखित मूल्यांकन के साथ उसकी जीवनगाथा को समाप्त करता है

उसका देवदूतों जैसा चरित्र पुरुषोचित गुणों से विभूषित था और साहस तथा

शूरत्व में वह अपने युग के सभी राजाओं से बढ़ा-चढ़ा था। ज्योतिष-विज्ञान तथा गणित-शास्त्र में वह अद्वितीय था। वह कविता भी करता था और उस समय के सभी विद्वान, महान् तथा भद्रपुरुष उसके समाज में प्रविष्ट होते तथा उसके साथ रातें बिताते थे। उसके स्वागत समारोहों में अत्यधिक शिष्टाचार बरता जाता और शास्त्रार्थ बहुत ही व्यवस्थित ढग से होते थे। उसके शासन-काल में योग्य तथा महत्वशाली व्यक्तियों पर अनुग्रह का प्रकाश चमकता रहा। दयालु वह इतना था कि कामरान तथा चगताई अमीर यद्यपि बारबार बन्दी बनकर उसके अधिकार मे आ गये थे, फिर भी उसने उन्हे क्षमा कर दिया। स्नानादि के सम्बन्ध में वह बहुत ही सावधान था और उन्हें पूरा किये बिना वह कभी ईश्वर का नाम अपने जीभ पर नहीं आने देता था।

हुमायूँ के चरित्र का वर्णन करने वाले जितने उसके समसामयिक लेखक हैं उनमें उसके चचेरे भाई मिर्ज़ा हैदर के मूल्यांकन का सबसे अधिक महत्त्व है, क्योंकि उसका मत सच्चा ही नहीं बल्कि निजी जानकारी पर आधारित था। वह लिखता है, 'सम्राट की सेवा में मेरे भाइयों में से अथवा उस समय के सुल्तानों में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जिसे इतना सम्मानित किया गया हो जितना मुझ, मुहम्मद हैदर कुर्कान को, मै सम्राट जैसे राजा का माना हुआ मित्र ही नहीं था, बल्कि वह मुझे अपना "भाई" कहता और उसने मुझको अपना 'दस्त' चुना था।'

'हुमायूँ पादशाह बाबर के पुत्रों में सबसे बड़ा, महानतम तथा सर्वाधिक विख्यात था। मैंने ऐसे बहुत कम व्यक्ति देखे हैं जिनमें इतनी स्वाभाविक प्रतिभा और श्रेष्ठता हो; उसकी सेवा में कुछ विलासी तथा अपव्ययी लोग थे, उनके सम्पर्क में बार-बार आने के कारण उसमें कुछ बुरी आदतें पड गईं थीं, इनमें अफ़ीम खाना मुख्य था। जितने भी दोष सम्राट के सिर मढे गये हैं और जो जनता की सामान्य चर्चा का विषय बन गये हैं; उन सबका मूल यही दुर्व्यसन था। फिर भी उसमें अनेक श्रेष्ठ गुण विद्यमान थे और वह युद्धों में पराक्रमी, दावतों में प्रसन्नचित्त, तथा बहुत ही उदार था। सक्षेप में वह प्रतापी तथा ऐश्वर्यसम्पन्न सम्राट था और बहुत ठाठ-बाट से रहता था। जिस समय आगरा में मैंने उसकी नौकरी की उस समय वह पराजय भुगत चुका था और लोगों ने कहा कि पहले की तुलना में अब उसका ठाठ बाट कुछ भी नहीं रह गया है। फिर भी जब गगा के युद्ध के लिये उसकी सेना एकत्र हुई (जिसका सचालन पूर्णतया मेरे ही हाथ मे था), उस समय उसकी सेवा में १७००० चाकर थे, इसी से उसके शेष रहन-सहन का अनुमान लगाया जा सकता है।'

फरिश्ता लिखता है, 'हुमायूँ की आकृति भव्य और वर्ण काँसे जैसा था। उसकी कोमलता तथा उदारता अतिशय थी, यदि इन गुणों में भी अति हो सकती है। उसमें निर्भीकता, दानशीलता तथा उदारता आदि गुण अधिक मात्रा में विद्यमान थे। वह भूगोल-विज्ञान में दक्ष था और विद्वानों के सत्संग में आनन्द लिया करता था। वह पूजा-पाठ तथा स्नानादि में नियमबद्ध था और बिना स्नान किये कभी ईश्वर का नाम न लेता था। हुमायूँ जितना शिष्टाचार-

पूर्ण व्यवहार के लिये विख्यात था उतना ही हास परिहास के लिये भी; और अपना अधिकतर समय सामाजिक समागम तथा आमोद प्रमोद में बिताया करता था। साथ ही साथ ज्योतिष तथा भूगोल में भी उसकी लगन थी और उसने प्रकृति के तत्वों पर निबन्ध ही नहीं लिखे थे बल्कि अपने प्रयोग के के लिये भूमण्डल तथा आकाश के गोले भी तैयार करवा लिए थे।

उसने सात सभागृहों का निर्माण कराया जिनमें वह प्रत्येक व्यक्ति का उसके पद के अनुसार स्वागत किया करता था। पहला चन्द्रमहल कहलाता और राजदूतों, सन्देश वाहकों और पर्यटकों के लिये सुरक्षित था, दूसरे में जिसका नाम कामामहल (शुक्रगृह) था सैनिक अधिकारियों तथा उसी प्रकार के अन्य व्यक्तियों का स्वागत होता था; इसी प्रकार अन्य पाँच ग्रहों के नाम के पाँच महल और थे। इनमें से प्रत्येक महल में वह दिन के ग्रह के अनुसार सार्वजनिक दरबार किया करता था। महलों के सामान, चित्रों तथा घरेलू चाकरों की वर्दियों पर ग्रहों के प्रतीकात्मक चिन्ह अंकित रहते थे। इन महलों में से प्रत्येक में वह सप्ताह में एक बार राजकाज किया करता था।

हैवेल लिखते हैं, "बाबर की भाँति उसकी शिक्षा तथा रुचि पूर्णतया ईरानी थी।— किन्तु तिमूर तथा बाबर पक्के व्यक्तिवादी तथा कर्मशील थे और अपने निश्चित उद्देश्य से कभी विचलित नहीं होते थे चाहे कोई मुल्ला उपदेश दे और चाहे ज्योतिषी भविष्यवाणी करे; हुमायूँ दुर्बल तथा दुर्विदग्ध था और राज्य के सभी विषयों में दरबारी ज्योतिषियों की सलाह लिया करता था। इतना सावधान होने पर भी ग्रहों ने हुमायूँ के विरुद्ध ही कार्य किया। व्यक्तिगत साहस का उसमें अभाव नहीं था, किन्तु मुगल-वंश की पुनः स्थापना का श्रेय उसकी योग्यता को नहीं; बल्कि उसके साथियों की अडिग भक्ति तथा शेरशाह के उत्तराधिकारियों की दुर्बलता को था। हुमायूँ तथा शेरशाह के चरित्र का वैषम्य इतना और किसी चीज़ से स्पष्ट नहीं होता जितना उन दो महान् स्मारकों से जो उनकी स्मृति को जीवित बनाये हुए हैं। दिल्ली में हुमायूँ का मकबरा भव्य तथा परिष्कृत है किन्तु वह ईरानी शैली के भद्र-पुरुष अथवा छिछले दुर्विदग्ध का चित्रण है जिसकी ख्याति का मुख्य कारण यह था कि वह अकबर का पिता था; इसके विपरीत सहसराम में शेरशाह का मकबरा एक ऐसे व्यक्ति का प्रतीक है जो कठोर बलिष्ठ तथा अहंकारी था, जिसने एक साम्राज्य का निर्माण किया अपने शत्रुओं को पैरों के नीचे कुचल दिया और लौहदण्ड से हिन्दुस्तान पर शासन किया।'

एल्फिन्स्टन का मत है, 'इसमें बुद्धि का अभाव नहीं था किन्तु शक्ति की कमी थी और यद्यपि वह दुर्व्यसनों तथा उग्र आवेशों से मुक्त था लेकिन साथ ही साथ सिद्धान्तहीन तथा स्नेहशून्य भी था। स्वभाव से वह जितना आरामप्रिय था उतना महत्त्वाकांक्षी नहीं फिर भी बाबर के संरक्षण में उसका पालन पोषण हुआ था इसलिये उसे शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम का अभ्यास था। संकटमय परिस्थितियों में उसने कभी शक्ति की कमी नहीं दिखलाई और न अपने जन्म तथा पद

के लाभों से ही पूर्णतया अपने को वंचित किया, यद्यपि उसने उनका अधिक से अधिक प्रयोग नहीं किया।......स्वभाव से न वह क्रूर था और न चालाक, और यदि वह योरुप का एक संविधानिक राजा हुआ होता तो चार्ल्स द्वितीय से अधिक विश्वासघाती तथा रक्तपिपासु न सिद्ध होता।"

मैलिसन का कथन है, "हुमायूँ वीर, प्रसन्नचित्त, हास्य-प्रिय, मनमोहक साथी, अत्यधिक शिक्षित, उदार और दयालु होने के कारण स्थायी सिद्धान्तों पर एक राजवंश की स्थापना करने के लिये अपने पिता बाबर से भी कम योग्य था। इन अनेक गुणों के साथ उसमें कई वहत्तर दोष भी थे। वह चंचल, विचारहीन तथा अस्थिर था। उसे कर्तव्य की कोई बलवती भावना अनुप्राणित नहीं करती थी। उसकी उदारता अपव्ययता में तथा अनुराग दुर्बलता में परिवर्तित हो जाता था। उसमें किसी एक दिशा में कुछ समय के लिये पूर्णरूप से अपनी शक्तियों को केन्द्रित करने की क्षमता नहीं थी, और इसी प्रकार से विस्तार से कानून बनाने की न उसमें प्रतिभा थी और न रुचि ही। इसलिये जो साम्राज्य उसका पिता विरासत में छोड़ गया था, उसको सुसंगठित तथा सुदृढ़ करने के वह सर्वथा अयोग्य था।"

एर्सकाइन लिखते हैं, "हुमायूँ के चरित्र के सम्बन्ध में उसके इतिहासकारों के वर्णनों की अपेक्षा उसके शासनकाल की घटनाओं से अधिक अच्छी जानकारी प्राप्त हो सकती है।......अपने शासन के प्रारम्भिक दिनों में उसने अनुभवी अधिकारियों तथा सुशिक्षित सेना की जिसे उसका पिता छोड़ गया था, सहायता से पहले मालवा तथा गुजरात के राज्यों को और फिर बिहार तथा बंगाल को रौंद डाला; ये विजयें बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा शानदार थी, किन्तु अन्त में उसे इन विजयों को त्यागना पड़ा क्योंकि विजय के लिये जिस प्रकार वीरता तथा अनुशासनबद्ध सेना की आवश्यकता है उसी प्रकार उसको संगठित करने तथा बनाये रखने के लिये समन्वय की शक्तियों की आवश्यकता होती है किन्तु इनका उसमें अभाव था; उसके अधिकांश शासनकाल में पराजयों, विद्रोहों तथा अराजकता का बोलबाला रहा,—यह सब कुछ उसकी राजनैतिक दृढ़ता तथा संकल्प के अभाव का परिणाम था।"

ऐसी दुर्बल नींव पर साम्राज्य नहीं टिक सकता था। इसीलिये अफगानों को अपनी सत्ता की पुनः स्थापना करने का अवसर मिल गया।

कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्	
१५३१	बहादुरशाह कुछ लोदी सामन्तों को हुमायूँ के विरुद्ध शरण देता है। गुजरात का बहादुरशाह मालवा को अपने में मिला लेता है और दक्षिणी सेनाओं को परास्त करता है। अच्युतराय कृष्णदेव राय का उत्तराधिकारी बनता है। दमन तथा मंगलौर में पुर्त-

गाज़ियों की विजय । बीजापुर तथा अहमदनगर में अन्तिम युद्ध । वल्लभाचार्य की मृत्यु ।

१५३२ बंगाल तथा गुजरात के बीच संधि । शेर खाँ चुनार तथा रोहतास पर अधिकार कर लेता है । जोधपुर का मालदेव अजमेर तथा नागौर को पुनः जीत लेता है । पुर्तगाली बम्बई तथा थाना से कर वसूल करते हैं; बेसीन पर अधिकार तथा उसका नाश । हुमायूँ के मालवा तथा गुजरात में युद्ध ।

१५३३ नसरतशाह तथा उसके बाद उसके पुत्र फीरोज़ का वध; बंगाल में ग्यासुद्दीन महमूद द्वारा सिंहासन का अपहरण । कर मिलने पर बहादुरशाह चित्तौड़ का घेरा उठा लेता है ।

१५३४ बीजापुर के इस्माइल की मृत्यु; उसका पुत्र मल्लू ६ महीने बाद अपदस्थ कर दिया जाता है । पुर्तगालियों द्वारा द्यू की किले बन्दी ।

१५३५ हुमायूँ की बहादुर पर विजय; मांडू तथा चम्पानेर पर अधिकार । मल्लू का अपदस्थ किया जाना तथा इब्राहीम आदिलशाह का राज्यारोहण । मेवाड़ में अराजकता ।

१५३६ शेर खाँ बिहार का स्वामी हो जाता है । डे'कूना बेसीन की किले बन्दी करता है ।

१५३७ बहादुरशाह का डूब जाना ।

१५३८ गुरु नानक की मृत्यु (जन्म १४६९ ई०); गुरु अङ्गद का गद्दी पर बैठना ।

१५३९ बंगाल में शेर खाँ द्वारा हुमायूँ की पराजय शेरशाह राजा घोषित कर दिया जाता है । दी सोसाइटी ऑफ जीसस (ईसामसीह का समाज) की स्थापना ।

१५४० हुमायूँ की शेरशाह द्वारा कन्नौज में अन्तिम पराजय । शेरशाह दिल्ली पर अधिकार कर लेता है । हुमायूँ का चचेरा भाई मिर्ज़ा हैदर काश्मीर को जीत लेता है । हुमायूँ का निर्वासन ।

११

अफगानों का पुनरारोहण

"तिमूर के वंशजों का यह बड़ा सौभाग्य था कि अन्त में उन्हें अपनी विजय की विरासत पुन: प्राप्त हो गई, जिसे अफगान शेरशाह ने अपने कार्यों द्वारा सुदृढ़ बना दिया—शेरशाह में प्रशासन सम्बन्धी मौलिक प्रतिभा थी और अनजाने उसने मुगलों के लिये प्रशासनतन्त्र का वह ढाँचा खड़ा कर दिया जो उनके नये राजत्व सिद्धान्तों की, जिनका वे प्रतिनिधित्व करते थे, विजय के लिये आवश्यक था किन्तु जिसका अपने लिये निर्माण करने के वे सर्वथा अयोग्य सिद्ध हुये थे।" रशब्रुक विलियम्स ने इस संक्षिप्त कथन में मुगल साम्राज्य के इतिहास में अफगान पुनरारोहण के महत्व का सारांश सुन्दर ढंग से व्यक्त कर दिया है। इसके अतिरिक्त, जिस प्रकार हुमायूँ के प्रथम शासनकाल की घटनाओं का शेरशाह के भाग्य से अभिन्न सम्बन्ध था, उसी प्रकार उसके पुनरारोहण तथा पुनः राज्य प्राप्ति की घटनायें शेरशाह के वंशजों के दुर्भाग्य से सम्बद्ध थीं। बाबर की प्रतिभा तथा हुमायूँ की राजनैतिक अयोग्यता के वैषम्य का प्रतिबिम्ब भी अफगान इतिहास में उपलब्ध होता है और इन दोनों से हमें एक ही शिक्षा मिलती है कि राजतन्त्रीय प्रतिभा विरासत में नहीं दी जा सकती। हुमायूँ के विरुद्ध शेरशाह के विजय-संघर्ष का वर्णन करते समय हम उसके जीवन का अधिकांश इतिहास लिख आये हैं। यहाँ पर हम उसके जीवन तथा चरित्र का अधिक विशद अध्ययन करेंगे।

शेरशाह का प्रारम्भिक जीवन

शेरशाह का जन्म सुल्तान बहलोल के शासन काल (१४५०–८८ ई०) में फीरोज़शाह तुग़लक द्वारा संस्थापित हिसार फीरोजा (विजय नगर) नामक नगर में हुआ था। 'शेरशाह का दादा इब्राहीम खाँ सूर अपने पुत्र हसन खाँ के साथ जो आगे चलकर शेरशाह का पिता हुआ, अफगानिस्तान से हिन्दुस्तान आगया था।'''—वे बजवाड़ा के परगने में बस गये।' आगे चलकर हिसार फीरोज़ा के जमाल खाँ सरंगखानी ने इब्राहीम को 'नारनौल परगने में कई गाँव

चालीस घुड़सवारों के व्यय के लिये दे दिये।' हसनखाँ ने अपने आक़ा उमर खाँ के यहाँ जो सुल्तान बहलोल का 'मुसाहिबकार तथा दरबारी' था, नौकरी कर ली। उमर खाँ ने हसन खाँ को शाहाबाद परगने में कई गाँव जागीर के रूप में दे दिये। इब्राहीम की मृत्यु के बाद हसन खाँ को अपने पिता की जागीर तथा उसके अतिरिक्त अन्य कई गाँव भी मिल गये। बहलोल लोदी के उत्तराधिकारी सिकन्दर लोदी ने जमाल खाँ को जौनपुर के सूबे में भेज दिया; जमाल 'हसन खाँ की सेवाओं से बहुत प्रसन्न था' इसलिये वह उसे अपने साथ लेता गया और उसे पाँच सौ घुड़सवारों के व्यय के लिये बनारस के निकट सासराम हाजीपुर और टाँडा के परगने जागीर के रूप में दे दिये।'

हसनखाँ के आठ पुत्र थे। फ़रीद खाँ (शाहशाह) और निज़ाम खाँ एक अफ़ग़ान माता से उत्पन्न हुये थे'; शेष दासियों के पुत्र थे। 'बहुधा हसन तथा फ़रीद में कहा-सुनी हो जाया करती थी।' 'फ़रीद 'अपने पिता से अप्रसन्न होकर जौनपुर जमाल खाँ के पास चला गया,' वहाँ 'उसने अरबी तथा प्राचीनकाल के बहुत से राजाओं के जीवन चरित्र पढ़ने में अपना समय बिताया। उसने सिकन्दर नामा, गुलिस्ताम और बोस्ताम कंठस्थ कर लिये और दार्शनिकों के भी ग्रन्थ पढ़ने लगा। बाद में उसके शासनकाल में जब कभी कोई विद्वान उसके पास निर्वाह-वृत्ति (मदद माश) माँगने आता तो वह उससे 'हाशिया इ हिन्दिया' के विषय में पूछता, और इतिहास ग्रन्थों तथा प्राचीन राजाओं के जीवन चरित्रों के पढ़ने में सदैव उसकी रुचि बनी रही।

'कुछ वर्ष बाद जब जौनपुर में रहनेवाले हसन के सम्बन्धियों ने फ़रीद को निकाल देने पर उसने बुरा-भला कहा और बोले कि यद्यपि फ़रीद खाँ अल्पवयस्क है किन्तु उसमें भावी महानता के लक्षण विद्यमान हैं; उसके माथे पर श्रेष्ठता के चिह्न अंकित हैं और समस्त सूर जाति में ऐसा कोई नहीं है जिसमें उसके समान विद्वत्ता, प्रतिभा, विवेक तथा बुद्धि हो और उसने इतनी योग्यता प्राप्त करली है कि यदि उसे एक परगने का शासन भार सौंप दिया जाय तो वह बड़ी श्रेष्ठता के साथ उसका निर्वाह और अपने कर्त्तव्यों का पूर्णरूप से पालन करेगा। तब हसन जमाल खाँ के पास गया।'

जब पिता और पुत्र का मेल हो गया तो फ़रीद को सासराम तथा खवासपुर के परगने (वर्तमान शाहाबाद ज़िले में) सौंप दिये गये। इतनी छोटी अवस्था में ही (१५११ ई०) शेरशाह ने अपनी कार्यपालिका सम्बन्धी योग्यताओं तथा प्रतिभा का स्पष्ट परिचय दे दिया। उसने अपने पिता से कहा, "मैं ज़िले [की समृद्धि बढ़ाने में अपनी शक्ति लगाऊँगा, और वह न्यायपूर्ण प्रशासन पर निर्भर होती है।" अब्बास खाँ आगे लिखता है, 'अपनी जागीर में पहुँचने पर उसने कहा : "सभी मुखिया (मुक़द्दम) तथा किसान जिन पर ज़िले की समृद्धि निर्भर है, तथा गाँव के सभी पटवारी मेरे सामने उपस्थित हों।" जब वे आ गये तो उसने सैनिकों को भी बुला लिया और उन सबसे कहा :—

"मेरे पिता ने मुझको तुम्हें नियुक्त तथा पदच्युत करने की शक्ति दे दी है। मैंने अपने मन में जिले की समृद्धि बढाने की ठान ली है और यह उद्देश्य तुम्हारे भी हित में है और इस प्रकार मैं अपना यश स्थापित करने की आशा करता हूँ।" सिपाहियों से कह चुकने के बाद उसने किसानों की ओर मुख किया और बोला : "आज मैं तुम्हें अधिकार देता हूँ कि लगान अदा करने का जो तरीका चाहो चुन लो और जो तुम अपने हित के लिये सबसे अधिक लाभदायक समझो सो करो।"

'कुछ मुखियों (मुकद्दमों) ने रुपये के रूप में नियत लगान देना पसन्द किया और उस सम्बन्ध में लिखित पट्टे माँगे, कुछ ने उपज के रूप में भूमिकर देना स्वीकार किया। इसी के अनुसार उसने पट्टे दे दिये और करार लिखवा लिये और भूमि नापने का वेतन भी निश्चित कर दिया और इसी प्रकार लगान वसूल करने-वालों तथा नापनेवालों का शुल्क (मुहासिलाना) नियत कर दिया और तब चौधरियों तथा मुखियों से बोला

' मैं जानता हूँ कि खेती बेचारे किसानों पर निर्भर रहती है क्योंकि यदि वे दरिद्र होंगे तो कुछ भी नहीं उत्पन्न कर सकेंगे और यदि समृद्ध हुए तो बहुत उपजा लेंगे। मैं जानता हूँ कि तुमने किसानों पर कितना उत्पीडन और लूट-खसोट की है, यही कारण है कि मैंने भूमि नापने तथा लगान वसूल करनेवालों का शुल्क निश्चित कर दिया है—यदि तुमने किसानों से जो कुछ नियत है, उससे अधिक लिया तो वह तुम्हारे हिसाब में से काट लिया जायगा। तुम्हें यह भी ज्ञात होना चाहिये कि मैं तुम्हारे शुल्क का हिसाब अपने सामने करवाऊँगा। जो धन उचित होगा उसकी मैं अनुमति दे दूँगा और किसानों को उसे चुकाने पर बाध्य करूँगा, मैं खरीफ का सरकारी लगान खरीफ की फसल में और रबी का रबी की फसल में वसूल करूँगा, क्योंकि सरकारी लगान बकाया रहने से परगने का नाश हो जाता है और उससे किसानों तथा सरकारी अधिकारियों के बीच झगड़े उठ खड़े होते हैं। शासक के लिये यह उचित है कि नाप के समय किसानों के साथ कोमलता का व्यवहार करे किन्तु जब लगान चुकाने का समय आये तो किसी प्रकार की रियायत न करे और जितनी कठोरता से हो सके राजस्व वसूल करे। यदि वह देखता है कि किसान लगान देने में टालमटूल कर रहे हैं तो उसे चाहिये कि इतना कठोर दंड दे जिससे डर के कारण अन्य लोग वैसा करने का साहस न करें।" फिर वह किसानों से बोला, "यदि तुम्हें कभी कुछ कहना हो तो स्वयं सीधे मेरे पास चले आओ, मैं किसी को तुम्हारा उत्पीडन नहीं करने दूँगा।" इस प्रकार कहकर उसने उन्हें मुफ्त वस्त्र दिये और विदा कर दिया। किसानों के चले जाने पर उसने अपने पिता के अधिकारियों से कहा, "किसान लोग समृद्धि के स्रोत हैं। मैंने उन्हें प्रोत्साहन देकर विदा कर दिया है और मैं सदैव उनकी दशा की देख-भाल करता रहूँगा, जिससे कोई उनका उत्पीडन न कर सके और हानि न पहुँचा सके क्योंकि यदि शासक गरीब किसानों की उपद्रवों से रक्षा नहीं कर सकता तो उनसे राजस्व वसूल करना अत्याचार है, कुछ जमींदार हैं जिनका परगनों में आचरण द्रोहपूर्ण रहा है, जो सूबेदार (मसनदे हाकिम) के दरबार में

नहीं उपस्थित हुए हैं, जो राजस्व नहीं चुकाते और अपने पड़ोसी गाँववालों को तंग करते हैं—बतलाइये मैं किस प्रकार उनका दमन तथा नाश करूँ?" उन्होंने उत्तर दिया, "अधिकतर सैनिक मियाँ हसन के पास हैं, थोड़े दिन प्रतीक्षा कीजिये, तब तक वे लौट आयेंगे।' फरीद बोला, 'मैं धीरज से नहीं बैठ सकता, जब कि वे आने से इन्कार करते हैं और ईश्वर की सन्तान प्रजा का उत्पीड़न कर रहे हैं; विचार कीजिये कि उनके विरुद्ध क्या कार्यवाही की जाय और उन्हें कैसे दण्ड दिया जाय।'

'उसने अपने पिता के अमीरों को २०० घोड़े कसने की आज्ञा दी और पूछा कि परगने में कितने सैनिक हैं, फिर उसने सब अफगानों तथा अपने कबीले के लोगों को जिनके पास जागीरें नहीं थी, बुला भेजा और कहा :

"मियाँ हसन के लौटने तक मैं तुम्हें भोजन तथा वस्त्र दूँगा। इन विद्रोहियों को लूट से जो सामान और धन तुम्हें मिल जायगा वह तुम्हारा होगा और मैं उसे तुमसे कभी नहीं माँगूगा; और तुममें से जो विशेष कार्य करेगा उसे मैं मियाँ हसन से एक अच्छी जागीर दिलवा दूँगा। मैं स्वयं तुम्हें घोड़े चढ़ने के लिये दूंगा।" यह सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए और बोले कि आपकी अधीनता में कार्य करते हुए हम अपने कर्तव्य पालन में चूक नहीं करेंगे। जिन लोगों ने उसकी सेवा करना स्वीकार किया उन्हें उसने हर प्रकार से अनुग्रह तथा वस्त्र आदि प्रदान करके प्रसन्न किया और थोड़ा-सा धन भी दे दिया।

सुबह तड़के ही फरीद घोड़े पर सवार हुआ और अपराधी जमींदारों पर आक्रमण कर दिया; सभी विद्रोही मार डाले गये और उनकी स्त्रियाँ तथा बच्चे बन्दी बना लिये गये; अपने लोगों को उसने आज्ञा दी कि इन्हें दास बनाकर बेच दो; और दूसरे गाँवों से लोगों को लाकर वहाँ बसा दिया। जब दूसरे विद्रोहियों ने उनकी मृत्यु, बन्दी बनाये जाने तथा सर्वनाश का समाचार सुना तो उनकी बुद्धि ठिकाने आ गई वे अपनी उद्दण्डता पर पश्चात्ताप करने लगे और चोरी करना तथा डाका डालना छोड़ दिया। यदि कभी किसी सैनिक अथवा किसान को कोई शिकायत करनी होती तो फरीद स्वयम् बड़ी सावधानी से उस विषय की जाँच करता, उसमें कभी असावधानी अथवा प्रमाद नहीं दिखलाता। थोड़े ही समय में दोनों परगनों की आर्थिक स्थिति सँभल गई और सैनिक तथा किसान दोनों ही सन्तुष्ट हो गये। यह सब सुनकर मियाँ हसन को बहुत प्रसन्नता हुई और वह अपने सभी साथियों से परगनों की समृद्धि, अपने पुत्र की वीरता तथा जमींदारों के दमन का उल्लेख किया करता था।'

इतना सब कुछ होने पर भी फिर एक बार फरीद को अपने सगे पिता के अनुग्रह से वंचित होना पड़ा और उसने कुछ समय के लिये दौलत खाँ के संरक्षण में आगरा में आकर इब्राहीम लोदी के दरबार में शरण ली। जब वह सुल्तान पानीपत के युद्ध में मारा गया (अप्रैल १५२६ ई०) तो यह साहसी नवयुवक दरिया खाँ के पुत्र बहार खाँ के पास चला गया जिसने सुल्तान मुहम्मद की उपाधि

धारण करली थी। 'दिन-रात परिश्रम से अपना कार्य करके फरीद ने बहार खाँ का अनुग्रह प्राप्त कर लिया और उसका सबसे घनिष्ठ मित्र हो गया। उसके उत्तम प्रबन्ध के कारण बिहार के सम्पूर्ण प्रदेश में उसका यश फैल गया।' एक दिन वह बहार खाँ के साथ आखेट के लिये गया और एक शेर को मार डाला। इस वीरतापूर्ण कार्य के उपलक्ष में बहार खाँ ने उसे शेर खाँ की उपाधि प्रदान की।

इसके उपरान्त शेर खाँ ने जौनपुर के सूबेदार सुल्तान जुनैद बर्लास की सहायता से आगरे में बाबर के यहाँ नौकरी प्राप्त करने का प्रयत्न किया। वहाँ उसे दरबार में स्थान मिल गया, कुछ समय तक वह मुगलों के साथ रहा और चन्देरी के घेरे में उपस्थित था; उसने 'उनकी सैनिक व्यवस्था, शासन प्रणाली तथा उनके अमीरों के चरित्र के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर ली।' कहा जाता है कि उसने अफगानों के बीच में प्रकट किया, "यदि दैव ने मेरी सहायता की और भाग्य ने मेरा साथ दिया तो मैं सरलता से मुगलों को भारत से निकाल दूँगा।" बाबर को मानव स्वभाव की अच्छी परख थी, इसलिये उसने अपने मन्त्री खलीफा से कहा, "शेर खाँ पर दृष्टि रखो, वह चालाक आदमी है और राजत्व के चिन्ह उसके माथे पर दिखाई देते हैं। मैंने अनेक अफगान अमीर देखे हैं और इससे महान् व्यक्ति किन्तु उनका मेरे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा लेकिन जैसे ही मैंने इस व्यक्ति को देखा मेरे मन में आया कि इसको गिरफ्तार कर लेना चाहिये क्योंकि मुझे इसमें महानता के गुण तथा शक्ति के चिन्ह दिखाई देते हैं।"

साम्राज्य की विजय

शेर खाँ बहुत ही सावधान व्यक्ति था इसलिये वह बाबर के इस कथन के महत्व को समझे बिना न रह सका। जैसे ही अवसर मिला उसने उसके शिविर को छोड़ दिया। उसने कहा, "मुझे मुगलों में विश्वास नहीं और न उन्हें मुझमें, मेरे लिये सुल्तान मुहम्मद खाँ के पास जाना उचित होगा।" सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु के बाद शेर खाँ उसके पुत्र जलाल खाँ का नायब हो गया (लगभग अक्टूबर १५२८ ई०) और बिहार तथा उसके अधीन प्रदेशों पर शासन करने लगा। दूसरे वर्ष (१५३० ई०) शेर खाँ ने चुनार का महत्वपूर्ण गढ़ हस्तगत कर लिया।''' यहीं से उसके आक्रमणकारी जीवन का प्रारम्भ समझना चाहिये। जिस प्रकार उसने किले पर अधिकार किया उसका अब्बास सर्वानी ने इस भाँति वर्णन किया है :—

'सुल्तान इब्राहीम लोदी ने चुनार का किला ताज खाँ सारंगखानी को सौंप दिया था और उसी में राजकीय कोष जमा कर दिये गये थे। वह ताज खाँ अपनी स्त्री लाड मलिका के प्रेम का पक्का दास था, वह बुद्धिमती तथा विवेकशील स्त्री थी। एक दिन ताज खाँ के सबसे बड़े पुत्र ने (दूसरी पत्नी से) लाड मालिका को एक भाले से घायल कर दिया किन्तु उसके भारी चोट नहीं आई। उसके नौकरों ने ताज खाँ से शिकायत

की, इस पर वह तलवार खींचकर अपने पुत्र को मारने दौड़ा। जब पुत्र ने देखा कि पिता मुझे पत्नी के लिये मार डालने पर उतारू है तो उसने उस पर भी भाले से प्रहार किया और घर से निकल भागा। घाव से ताज खाँ की मृत्यु हो गई।' इस घटना के बाद शेर खाँ ने बड़ी चतुराई से अपने को लाड मलिका का प्रेम भाजन बना लिया और उससे विवाह कर लिया। इस प्रकार दुर्ग ही उसके हाथ में नहीं आ गया बल्कि 'उसने (लाड मलिका) उसे १५० बहुमूल्य रत्न, सात मन मोती, १५ मन सोना, बहुमूल्य अन्य सामान तथा आभूषण भेंट किये।'

इसके उपरान्त शेर खाँ ने चुनारगढ़ के समीपवर्ती परगनों पर भी अधिकार कर लिया और नासिर खाँ की विधवा गुहर हुसैन से ६० मन सोना पाकर अपने साधन और भी अधिक सुदृढ़ कर लिये।

जब हुमायूँ ने दौरा के युद्ध में सुल्तान महमूद लोदी को परास्त कर दिया और उसके अधिकतर अनुयायियों को तलवार के घाट उतार दिया, तब उसने हिन्दू बेग को शेर खाँ से चुनार का किला लेने के लिये भेजा किन्तु शेर खाँ ने समर्पण करने से इन्कार किया। जौहर लिखता है, 'जब मुगलों की विजयिनी सेना चुनार पहुँची उस समय शेर खाँ का पुत्र जलाल खाँ तथा अनेक दूसरे अमीर किले के भीतर थे; किले का घेरा चार महीने तक चलता रहा। जब शेर खाँ ने देखा कि आजकल में किले का पतन होनेवाला है तो उसने समर्पण कर दिया और अपने पुत्र कुतुब खाँ को श्रीमान (हुमायूँ) की सेवा में भेजकर संधि कर ली।' इस प्रकार चतुराई से उसने कपटपूर्ण राजभक्ति दिखलाकर कुछ समय के लिये हुमायूँ को टाल दिया। हुमायूँ ने भ्रान्तिवश यह समझा कि पूर्वी प्रान्त सुरक्षित हैं, इसलिये पीछे लौटकर गुजरात की ओर मुड़ गया। प्रोफेसर कानूनगो लिखते हैं, 'सुल्तान सिकन्दर लोदी की मृत्यु (१२१० ई.) के बाद पूर्वी प्रान्तों पर दिल्ली का ऐसा आधिपत्य कभी नहीं हुआ था जैसा कि इस समय। निर्भीक अफगान नेता बबन तथा बायजीद मारे जा चुके थे। गंगा के उत्तरी तट का प्रदेश, गोमती से गंडक तक (बंगाल राज्य की सीमा) पूर्णतया शान्त था। गंगा के दक्षिणी तट पर शेर खाँ का दमन कर दिया गया था और बाध्य होकर उसने सम्राट की अधीनता स्वीकार कर ली थी और अपने पुत्र को उसकी सेवा में भेज दिया था किन्तु सर्प कुचला गया था, मरा नहीं था; और भावी संकटों के लक्षण दिखाई दे रहे थे। जब हुमायूँ सुरक्षा की भ्रान्तिपूर्ण भावना के वशीभूत होकर विश्राम कर रहा था उसी बीच में वह उठ खड़ा हुआ और नई शक्ति इकट्ठी कर ली। दो व्यक्तियों के बीच आजीवन शत्रुता का बीज बो गया।'

बिहार तथा बंगाल—अब्बास खाँ आगे लिखता है, 'शेर खाँ ने इस अवसर से लाभ उठाया और सम्पूर्ण बिहार के राज्य में अपना एक भी शत्रु जीवित नहीं छोड़ा। वह अफगानों का भी संरक्षण करने लगा। बहुतों ने विपत्तियों के कारण फकीरी वस्त्र धारण कर लिये थे उसने उन्हें सहायता दी और अपनी सेना में

भर्ती कर लिया और जिन्होंने भर्ती होने से मना किया और फकीरी जीवन पसन्द किया उनका उसने बध कर दिया और घोषणा की कि मैं प्रत्येक अफ़गान को जो सैनिक बनने से इनकार करेगा, मार डालूँगा। युद्ध में वह अफगानों के जीवन की बड़ी चिन्ता रखता था जिससे व्यर्थ में ही उनका बलिदान न हो जाय। जब अफगानों ने सुना कि शेर खाँ अपनी नस्लवालों का संरक्षण करने का इच्छुक है तो वे चारों दिशाओं से आकर उसकी सेना में भर्ती हो गये। सुल्तान बहादुर (गुजरात का) हुमायूँ से परास्त होकर सूरत की ओर भाग गया और उसकी सेवा में जितने अफगान थे—अमीर अथवा साधारण सैनिक—वे सब शेर खाँ के यहाँ चले गये।

'जब बंगाल का सुल्तान नासिर खाँ (नशरत शाह) मर गया तो बंगाल के अमीरों ने सुल्तान महमूद को उसका उत्तराधिकारी बना दिया किन्तु वह इस योग्य न था कि राज्य का प्रबन्ध कर सकता इसलिये उसमें अव्यवस्था फैल गई। फिर भी महमूदशाह ने अफगानों से बिहार को जीतने का संकल्प किया और इस कार्य को पूरा करने के लिये कुतुब खाँ को एक विशाल सेना के साथ भेज दिया। शेर खाँ ने बार-बार तथा सच्चे हृदय से ऐसा न करने के लिये अनुरोध किया किन्तु कुतुब खाँ ने एक न सुनी। परिणाम यह हुआ कि शेर खाँ अफगानों से बोला, "एक ओर मुगल हैं और दूसरी ओर बंगाल की सेना। हमारी वीरता को छोड़कर बचने का अन्य कोई साधन नहीं है।" अफगानों ने उत्तर दिया, "आप प्रसन्न रहिये, हम सामर्थ्य भर युद्ध करेंगे; हम तब तक युद्ध-क्षेत्र से नहीं हटेंगे जब तक विजय प्राप्त नहीं कर लेंगे अथवा मारे नहीं जायेंगे।"

'शेर खाँ ने डटकर लड़ने की तैयारियाँ कर लीं और फिर शत्रु पर टूट पड़ा। घमासान युद्ध हुआ जिसमें बंगाल की सेना परास्त हुई।... कोष, घोड़े, हाथी आदि जो शेर खाँ के अधिकार में आ गये उनमें से उसने लोहानियों को कुछ नहीं दिया और इस प्रकार स्वयं धनवान बन गया। इससे लोहानियों की ईर्ष्या भड़क उठी और इसके बाद वे शेर खाँ के शत्रु हो गये। उन्होंने अनेक प्रकार से उसे गिराने का प्रयत्न किया और हत्या तक के लिये कुचक्र रचे। जब उनके सब प्रयत्न विफल हो गये तब उन्होंने जलाल खाँ (शेर खाँ का नाममात्र का प्रभु) को अपनी ओर तोड़ लिया और यहाँ तक कि उसके शत्रु बंगाल के सुल्तान से मिलकर षड्यन्त्र रचे। कबीले के रूप में लोहानी सूरों के प्रतिद्वन्दी थे। शेर खाँ ने स्वयं लिखा है 'लोहानी सूरों से अधिक बलिष्ठ तथा शक्तिशाली कबीला है और अफ़गानों की यह परिपाटी है कि यदि एक आदमी के कुटुम्ब में दूसरे से चार व्यक्ति ज्यादा होते हैं तो वह अपने पड़ोसी को मारने अथवा अपमानित करने की बात नहीं सोचता।"

जब शेर खाँ ने सुना कि जलाल खाँ बंगाल के सुल्तान से मिल गया है तो वह बहुत प्रसन्न हुआ और बोला :

"मुझे विश्वास था कि बंगाल के सुल्तान की सेना बिहार की विजय का प्रयास करने के लिये अवश्य आयगी और चूंकि मेरे तथा लोहानियों के बीच शत्रुता थी इसलिये मैं डर गया कि कहीं शत्रु विजयी न हो जाय क्योंकि अपनी सेना की निजी फूट पराजय का सबसे निश्चित कारण होती है। अब चूंकि लोहानी बंगाल चले गये हैं इसलिये मेरी सेना में अब कोई झगड़े नहीं रहे और यदि, अफगानों में आपसी फूट नहीं, है तो बंगाल की सेना युद्ध क्षेत्र में उनसे क्या तुलना कर सकती है? यहाँ तक कि मुगल भी उनके सामने नहीं टिक सकते। यदि ईश्वर ने चाहा तो अब मैं बंगाल की सेना को खदेड़ चुका हूँ तो यदि मैं जीवित रहा, तो आप देखेंगे कि मैं मुगलों को हिन्दुस्तान से किस प्रकार खदेड़ देता हूँ।'

घटनाओं ने दिखा दिया कि शेर खाँ का अनुमान गलत नहीं था। 'इसके बाद शेर खाँ ने अपनी शक्ति बढ़ाना आरम्भ कर दिया तथा और अधिक सैनिक भर्ती कर लिये। जहाँ कहीं भी कोई अफगान थे उन्हें उसने बुला भेजा और मुँह माँगा धन दिया। एक विशाल सेना एकत्र करने के उपरान्त उसने पूरी तैयारियाँ की और सेना की सद् भावनायें प्राप्त करके बिहार के देश को अपने पीछे छोड़कर बंगाल के सुल्तान पर चढ़ाई कर दी। प्रोफेसर कानूनगो लिखते हैं, "मध्ययुगीन भारत के इतिहास में इस युद्ध का अत्यधिक निर्णायक परिणाम हुआ। शेरशाह के जीवन को इसने एक नई दिशा में मोड़ दिया।" अब्बास खाँ ने युद्ध का निम्नांकित वर्णन छोड़ा है:—

सूरजगढ़ का युद्ध—'जब रात का एक पहर शेष रह गया तो शेर खाँ ने अपनी सेनाएं व्यवस्थित की और खाइयों में से निकालकर उन्हें बाहर लाया प्रातःकाल की नमाज के बाद वह स्वयम् निकला और अमीरों से कहा, शत्रु की सेना में अनेक हाथी, तोपें तथा विशाल पैदल दल है। हमें इस ढंग से युद्ध करना है कि वे अपनी मूल व्यवस्था न बनाये रख सकें। बंगाल के अश्वारोही दल को उनके पैदलों तथा तोपों से दूर कर दो और उनके घोड़ों तथा हाथियों की टुकड़ियाँ एक दूसरे में मिल जायें जिससे उनका संगठन भंग हो जाय। मैंने बंगालियों को परास्त करने की एक चाल सोच ली है: मैं अपनी अधिकांश सेना उस सामने वाली पहाड़ी के पीछे छिपा दूँगा और कुछ अनुभवी तथा परखे हुए घुड़सवारों को आक्रमण के लिये छोड़ दूँगा। वे ठीक उसी भाँति लड़ेंगे जैसे पहले अवसर पर लड़े थे और उन्हें पराजय की इच्छा नहीं रहेगी। मैं अपना चुना हुआ दल आगे या को बंगाली सेना पर बाणों की पहली बौछार करके लौट जायगा। अपनी घुड़सवार सेना की श्रेष्ठता के कारण शत्रु को घमण्ड है इसलिये वह समझेगा कि अफगानों ने भागना आरम्भ कर दिया है; और उत्तेजना में आकर वह अपने तोपखाने तथा पैदलों को पीछे छोड़ देगा और स्वयम् वेग से आगे बढ़ेगा और इस प्रकार उसकी युद्ध व्यवस्था में गड़बड़ फैल जायगी। तब मैं अपने टीले के पीछे छिपे हुए घुड़सवारों को निकालूँगा और वे शत्रु पर धावा बोल देंगे। तोपखाना तथा पैदलों की सहायता के बिना बंगाली घुड़सवार वैसे ही अफगान अश्वदल का सामना नहीं कर सकते। मुझे आशा है ईश्वर की कृपा से उनकी सेना खदेड़कर भगा दी जायगी।

परिणाम ठीक वही हुआ जो चतुर शेर खाँ ने सोचा था। 'सम्पूर्ण कोष, हाथी तथा तोपखाना शेर खाँ के हाथ में आगया; इस प्रकार युद्ध की सामग्री उसे मिल गई और वह बिहार के राज्य का तथा कुछ अन्य प्रदेशों का स्वामी बन गया। चूँकि पवित्र तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर ने अनादिकाल से यह निश्चय कर दिया था कि हिन्द का राज्य शेर खाँ को मिले और ईश्वर की सन्तान उसके न्याय की छाया में सुख तथा आराम से रहे और वह उत्साही तथा दयालु शासक सिद्ध हो इसलिये उसकी सम्पत्ति दिन प्रति-दिन बढ़ती गई और शनैः शनैः सम्पूर्ण देश उसके अधिकार में आगया।'

१५३५ के मई महीने में शेर खाँ ने फिर महमूदशाह पर आक्रमण कर दिया और बिहार की सीमाओं पर स्थित उसकी भूमि के लिये युद्ध करने लगा। 'इसे देखकर अयोग्य तथा व्यभिचारी सुलतान जो हुसैनशाह तथा नसरतशाह जैसे शक्तिशाली शासकों के सिंहासन को कलंकित कर रहा था विस्मय से चकित होगया। शेर खाँ ने धीरे धीरे तथा विधिपूर्वक प्रदेशों को जीतने तथा अपने राज्य में मिलाने की नीति अपनाई। उसका उद्देश्य था महमूदशाह के हाथों से तेलियागढ़ी के इस ओर का समस्त प्रदेश छीन लेना।' कुछ समय के लिये महमूदशाह ने १३,००,००० सोने की मुहरें युद्ध-क्षति पूर्ति रूप में देकर उससे अपना पिण्ड छुटाया, यद्यपि उसके पुर्तगाली मित्र इसके विरुद्ध थे। इससे प्रोत्साहित होकर शेर खाँ ने एक बार फिर १५३७ ई० में एक शक्तिशाली सेना लेकर बंगाल पर चढ़ाई कर दी। पुर्तगाली इतिहासकारों से हमें ज्ञात होता है कि शेर खाँ ने अपने नायबों को चिटगाँव आदि दूरस्थ जिलों को अधिकृत करने के लिये भेज दिया और स्वयम् बंगाल की राजधानी गौड़ को घेर लिया। उसकी इन कार्यवाहियों से हुमायूँ का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। अबुल फ़ज़ल लिखता है, 'इसी समय शेर खाँ के अभ्युदय तथा पूर्वी प्रान्तों के उपद्रवों का समाचार मिला।...... बंगाल पर आक्रमण की तैयारियाँ करने की आज्ञा दे दी गई। यह निश्चय किया गया कि शेर खाँ का दमन करके बंगाल की भूमि पर अधिकार करलिया जाय।' इसके बाद जो कुछ हुआ उसका हम पहले वर्णन कर आये हैं। १५३९ ई० में शेर खाँ ने चौसा के युद्ध में हुमायूँ को परास्त किया और शेरशाह की उपाधि धारण की; १५४० ई० में बिलग्राम के युद्ध में हुमायूँ अन्तिम रूप से खदेड़कर साम्राज्य से बाहर निकाल दिया गया।

यहाँ पर हम एक और घटना का उल्लेख कर दें जो फतेहमालिका की कहानी की भाँति शेरशाह के कपटपूर्ण चरित्र पर प्रकाश डालती है। इससे प्रतीत होता है कि उसने किस प्रकार रोहतासगढ़ पर अधिकार किया :

हुमायूँ ने चुनार को हस्तगत कर लिया था, इसलिये शेर खाँ कठिनाइयों में पड़ गया। 'शेर खाँ तथा रोहतासगढ़ के राजा में मित्रता थी और राजा के नायब चूड़ामन से उसको विशेष घनिष्ठता थी। चूड़ामन ब्राह्मण था और पहले शेर खाँ के भाई निजाम के परिवार के प्रति दया का व्यवहार कर चुका था और उन्हें रोहतास के गढ में

शरण दी थी।" इस अवसर पर शेर खाँ ने लिखा कि मैं घोर संकट में हूँ और यदि राजा कृपा करके थोड़े समय के लिये किले में मुझे रहने की आज्ञा दे दें तो मैं जीवन भर उनका आभारी रहूँगा और संकट टल जाने पर किला उनको लौटा दूँगा।" शेर खाँ ने चूड़ामन को छः मन सोना घूस के रूप में दिया और कहा, 'जैसे हो सके राजा को समझाओ कि वह मुझे अपने परिवार के लिये थोड़े दिनों के लिये अपना किला दे दें, किन्तु यदि उसने नहीं दिया तो मैं जाकर सम्राट हुमायूँ से सन्धि कर लूँगा और फिर राजा की प्रत्येक चीज लूटकर बदला चुकाऊँगा।" जब अन्त में राजा ने अनुमति दे दी तो शेर खाँ ने विश्वासघात किया और अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि यदि दुर्गरक्षक वहाँ से न हटें तो उन्हें बलपूर्वक निकाल दो। शेर खाँ ने किले के प्रत्येक भाग में अपने रक्षक तथा सन्तरी नियत कर दिये और राजा को बाहर निकाल दिया। इस प्रकार उसने रोहतासगढ़ पर अधिकार कर लिया। अब्बास सरवानी लिखता है कि सामान्य लोगों में प्रचलित कहानी कि शेर खाँ ने अपने आदमियों को स्त्रियों के वेश में डोलियों में बिठलाकर भीतर भेज दिया था, गलत है क्योंकि इस इतिहास के लेखक, मैंने इस विषय में उन सभी अमीरों तथा सामन्तों से पूछ-ताछ कर ली है जो इस घटना में शेर खाँ के साथ थे।

इस घटना की ब्यौरे की बात कुछ भी रही हो, उस समय इस कुचाल को इसलिये उचित समझा गया था कि उस किले का शेर खाँ के लिये बहुत महत्व था। उस स्थान पर अधिकार करने के उपरान्त शेर खाँ ने कहा, 'इस किले की तुलना में चुनारगढ़ का कोई महत्व नहीं है; जैसे ही वह मेरे अधिकार से निकला है, यह मेरे हाथों में आ गया है। गौड़ की विजय से भी मुझे इतनी प्रसन्नता नहीं हुई थी जितनी रोहतास को हस्तगत करके हुई है।" शेर खाँ इस दुर्ग की विजय करनेवाला पहला मुसलमान था; इससे उसे अफगान परिवारों के शरण लेने के लिये सुरक्षित स्थान ही नहीं प्राप्त हो गया बल्कि अपार धन राशि भी उसके हाथ लगी जिसे हिन्दू राजाओं ने युग-युग से जमा कर रक्खा था। प्रोफेसर कानूनगो के मतानुसार मार्च १५३८ में शेर खाँ का इस दुर्ग पर अधिकार हुआ होगा। चौसा के युद्ध से पहले शेर खाँ ने अपनी सेना के सम्मुख एक व्याख्यान दिया, उसमें अपने दृष्टिकोण से उसने उस युद्ध तक अपने तथा हुमायूँ के सम्बन्धों का अच्छा सारांश दिया है। अपने सब अमीरों को इकट्ठा करके उसने कहा :

"मैंने सम्राट हुमायूँ को शान्ति कायम रखने का वचन दे दिया है किन्तु मेरा विचार है कि मैंने उसकी जो कुछ अच्छी सेवायें की हैं, उनका कोई अच्छा फल नहीं निकला; उसके प्रति मेरी इतनी भक्ति रही है, फिर भी उसने चुनार का किला मुझसे माँगा। जब मैंने उसे समर्पित करने से इन्कार किया तो उस पर अधिकार करने के लिये उसने एक दल भेज दिया पर जब उसे सफलता नहीं मिली तो वह स्वयं उसे बलपूर्वक छीनने आया लेकिन जब उसने सुना कि मिर्जा मुहम्मद जमा कारागार से भाग गया है और देश में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया है तो उसने अपना इरादा छोड़ दिया। इसके अति

रिक्त गुजरात का राजा सुलतान बहादुर दिल्ली प्रदेश पर आक्रमण करने आ रहा था इसलिये उसे बाध्य होकर लौटना पड़ा। मैंने अपने पुत्र कुतुब खाँ को उसकी सेवा में भेज दिया जो गुजरात के सम्पूर्ण युद्ध में ५०० वीर घुड़सवारों के साथ जो भाला चलाने में दक्ष थे, उसके साथ रहा। यद्यपि मैं जौनपुर आदि पर अधिकार कर सकता था किन्तु मैंने कोई शत्रुतापूर्ण कार्य नहीं किया क्योंकि सम्राट बलशाली है। यद्यपि मुझमें शक्ति थी फिर भी मैंने कोई बुरा तथा द्रोहपूर्ण काम करना अच्छा नहीं समझा, जिससे सम्राट देखले कि मैं उसका स्वामिभक्त सेवक हूँ और मुझे किसी प्रकार की हानि न पहुँचाये। जब वह गुजरात से लौटा तो अपनी सेना तैयार कर ली और मेरी स्वामिभक्ति का विचार किये बिना मुझे निकालने का भरपूर प्रयत्न किया किन्तु मेरा भाग्य ऊँचा था इसलिये उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई। मैंने हर प्रकार से नम्रता दिखलाई किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। जब उसने अपने सब वायदों को तोड़कर बंगाल पर आक्रमण कर दिया तो मुझे उसकी सद्भावनाओं में विश्वास जाता रहा और इस डर से कि वह मेरा अपकार करने पर तुला हुआ है मैंने बाध्य होकर उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और उसके सूबेदारों को निकाल दिया तथा सौंभल तक उसके राज्य को लूट लिया और आज इन भागों में मैंने एक भी मुगल नहीं छोड़ा है। अब मैं किस आशा से उससे सन्धि करूँ? वह इसलिये सन्धि चाहता है और मेरे प्रति मित्र-भाव प्रकट कर रहा है कि उसकी सेना में घोड़ों, पशुओं तथा अन्य सभी प्रकार के सामान की कमी है और उसके भाइयों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया है। वह मेरे साथ खिलवाड़ कर रहा है और अन्त में फिर सन्धि की शर्तों का पालन नहीं करेगा, बल्कि आगरा पहुँच कर अपने भाइयों को प्रसन्न करके तथा सेना को पुन सुसज्जित करके वह मेरा नाश तथा मूलोच्छेद करने से नहीं चूकेगा। मैंने बहुधा अनुभव किया है कि युद्ध में अफगान मुगलों से अधिक वीरता दिखलाते हैं, उन्हें देश पर अधिकार करने में इसलिये सफलता मिली थी कि अफगानों में आपसी फूट थी। यदि मेरे भाई सलाह दें तो मैं सन्धि को तोड़कर अपने भाग्य की परीक्षा करूँ।"

जैसा कि हम देख चुके हैं भाग्य ने शेरशाह का साथ दिया। चौसा तथा बिलग्राम ने हुमायूँ का साम्राज्य उसके अफगान प्रतिद्वन्दी को सौंप दिया। बाबर की यह बुद्धिमत्तापूर्ण घोषणा सत्य निकली 'संसार उसी का है जो परिश्रम करता है।' अब हमें शेरशाह के शेष जीवन का दिग्दर्शन करना है।

हुमायूँ का पीछा करना—'मुगलों से निश्चिन्त होने पर शेरशाह ने सुज्जात खाँ को जिसे वह बिहार तथा रोहतास का सूबेदार बनाकर छोड़ आया था, लिखा कि ग्वालियर के किले को घेर लो।' "जैसे ही सुज्जात खाँ को फरमान मिला उसने जाकर ग्वालियर का घेरा डाल दिया। उधर शेरशाह ने कन्नौज से बरमजीद गुर की अध्यक्षता में एक सेना आगे भेज दी किन्तु उससे कहा कि सम्राट हुमायूँ से युद्ध मत मोल लेना, एक दूसरा दल उसने नासिर खाँ के नेतृत्व में सौंभल की ओर भेज दिया। कन्नौज के निकटवर्ती प्रदेश की व्यवस्था करके वह स्वयं आगरा की ओर चल पड़ा। 'जब शेरशाह आगरा के निकट पहुँचा

तो सम्राट के लिये यहाँ टिकना कठिन हो गया और वह लाहौर की ओर भाग गया।' इससे शेरशाह बहुत प्रसन्न हुआ और आगरा पहुँच कर खवास खाँ तथा बरमजीद गुर को एक विशाल दल के साथ सम्राट का पीछा करने के लिये लाहौर की दिशा में भेज दिया।

'जब वह दिल्ली पहुँचा तो संभल के प्रमुख लोग तथा निवासी वहाँ आये और शिकायत की कि नासिर खाँ ने हमारा अनेक प्रकार से उत्पीड़न किया है। इसलिये शेरशाह ने ईसा खाँ को जिसमें पराक्रम तथा न्यायप्रियता दोनों गुण विद्यमान थे, भेजा और नासिर खाँ को उसके अधीन कर दिया। इसके बाद शेर शाह ने आराम की साँस ली और कहा, "अब मैं दिल्ली से लेकर लखनऊ तक के समस्त देश के सम्बन्ध में निश्चिन्त हो गया हूँ।" फिर भेजाल को हाजी खाँ के सुपुर्द करके वह लाहौर की ओर बढ़ा। लाहौर से आगे पहुँचकर तीसरी माघ को उसने सुना कि मिर्ज़ा कामरान नूर की पहाड़ियों के मार्ग से काबुल को चला गया है और सम्राट हुमायूँ सिन्ध के किनारे किनारे मुलतान तथा भक्कर की ओर जा रहा है। राजा (शेरशाह) खुशाब पहुँचा और वहाँ से खवास खाँ तथा अधिकांश सेना को सम्राट का पीछा करने के लिये मुलतान की ओर भेज दिया। उसने उन्हें आज्ञा दी कि सम्राट से भिड़ना मत बल्कि उसे राज्य की सीमाओं के उस पार खदेड़ कर लौट आना। मुगलों का एक दल जिसने सम्राट का साथ छोड़ दिया था और काबुल की ओर जा रहा था खवास खाँ से भिड़ गया किन्तु इतना शक्तिशाली न था कि युद्ध कर सकता; इसलिये सैनिक लोग भगाड़े तथा कपड़े पीछे छोड़ कर भाग गये वे खवास खाँ के हाथ लगे और अफगान सेना उस स्थान को छोड़कर शेरशाह से आ मिली।'

बलूची तथा गक्खर—'शेरशाह ने खुशाब में कुछ विश्राम किया। वहीं पर इस्माइल खाँ, फतेह खाँ तथा गाजी खाँ बलूची उसकी सेवा में उपस्थित हुए। शेरशाह ने इस्माइल खाँ को सिन्ध में स्वामी कर दिया। हर वन-जाति (कबीला) के तथा रोह परिवार के प्रमुख उसकी सेवा में उपस्थित हुए और शेरशाह ने बुद्धिमत्ता के साथ इन बलूची प्रमुखों को अपने अपने पदों पर निर्विघ्न रहने दिया। इसके बाद वह अपनी सम्पूर्ण सेना तथा नौकर-चाकरों के साथ पदमन तथा गरजक की पहाड़ियों में होकर चला; वह एक ऐसे स्थान की खोज में था जहाँ गक्खरों पर अधिकार रखने के लिये एक किला बनवा दे और जिससे काबुल की सड़क पर एक रक्षक सेना रख दे और स्वयं वापिस लौट आये। उसने रोहतास को चुना और किले का निर्माण कराया जो अब भी विद्यमान है, तथा गक्खरों के देश को उजाड़ दिया।'

अर्स्किन ने लिखा था कि तातारी तथा भारत के बीच यह दुर्ग सबसे अधिक शक्तिशाली है। गक्खरों को पूर्णतया नहीं दबाया जा सका था, उन्होंने प्रतिज्ञा की कि हम में से कोई इस किले के निर्माण में मजदूरों के रूप में कार्य न करेगा। यदि किसी ने इस

प्रतिज्ञा के विपरीत कार्य किया तो उसे हम नष्ट कर देंगे'''—टोडरमल ने (जो आगे चलकर अकबर के शासनकाल में इतना अधिक प्रसिद्ध हो गया) शेरशाह से इसकी शिकायत की किन्तु उसने उत्तर में लिख भेजा कि किले का निर्माण जारी रखो, चाहे एक पत्थर के लिये उतना ही ताँबा देना पड़े। किला पूरा हो गया किन्तु धन बहुत व्यय हुआ। शेरशाह ने उसका नाम 'छोटा रोहतास' रखा। 'तारीखे-दाऊदी' में उसे 'नया रोहतास' कहा गया है और लिखा है कि इसके निर्माण में 'आठ करोड़ पाँच हजार तथा ढाई दाम (बहलोली) व्यय हुआ था और यह सब किले के फाटक पर लिखा हुआ है।'

बंगाल—'इसी बीच में बंगाल से समाचार आया कि वहाँ के सूबेदार खिज्र खाँ ने राजा की पदवी धारण कर ली है और शेरशाह के प्रभुत्व को चुनौती दी है। इसलिये उसने बंगाल के लिये प्रस्थान कर दिया।' "शेरशाह ने सम्पूर्ण प्रान्त को एक सैनिक सूबेदार के अधिकार में नहीं छोड़ा जैसी कि इस समय प्रथा चली आई थी बल्कि उसने अनेक सूबेदारियाँ स्थापित कर दीं। उन भागों पर जो सूबेदार नियुक्त किये गये वे समान स्थिति के तथा अपने-अपने क्षेत्रों के प्रशासन में एक दूसरे से पूर्णतया स्वतन्त्र थे। उन सबकी नियुक्ति सीधी उसी ने की और उसी के प्रति वे उत्तरदायी थे। इस एक नीति से उसने विद्रोहों के पुराने रोग की जड़ ही काट दी।" वह बंगाल में जून १५४१ ई० से जनवरी १५४२ ई० तक, लगभग सात महीने रहा और फिर आगरा लौट आया।

मालवा—अप्रैल १५४२ ई० में शेरशाह ने ग्वालियर के मार्ग से माण्डू की ओर प्रस्थान किया, वह माण्डू के शासकों से बदला लेना चाहता था क्योंकि उन्होंने कुतुब खाँ की भरपूर सहायता नहीं की थी। प्रोफेसर कानूनगो के मतानुसार इस यात्रा के दो और भी उद्देश्य थे: (१) गुजरात तथा मेवाड़ के राज्यों से सीधा सम्पर्क स्थापित करना जिनमें होकर मुगल मालवा में प्रवेश कर सकते थे; (२) मालवा में मालदेव के संकल्पों को पूरा होने से रोकना तथा मालदेव के भावी मित्रों को कुचल देना इससे पहले कि वे कोई उपद्रव कर सकें। मल्लू खाँ के अधिकार में शादमाबाद का नगर—माण्डू का किला, उज्जैन, सारंगपुर तथा रणथम्भौर के किले थे और उसने राजा की उपाधि तथा कादिरशाह नाम धारण कर लिया था। जब शेरशाह सारंगपुर पहुँचा तो मल्लू खाँ ने आकर समर्पण कर दिया। उस पर शेरशाह की सेना की कठोरता, अनुशासन तथा परिश्रमशीलता का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और अफगानों से उसने कहा, "तुम आश्चर्यजनक परिश्रम करते हो, दिन-रात तुम्हें आराम नहीं मिलता और सुख तथा सुविधा का तुम्हारे लिये निषेध है।" अफगानों ने उत्तर दिया, "हमारे स्वामी का यही नियम है। सैनिक का यह कर्तव्य है कि उसका स्वामी जितनी सेवा के लिये कहे और जो भी परिश्रम तथा उद्यम करने की आज्ञा दे उसे संकट न समझे। आराम तो स्त्रियों के लिये है, सम्मानीय पुरुषों के लिये वह

एक लज्जा की बात है।" शेरशाह ने मालवा शुजात खाँ के सुपुर्द कर दिया और फिर धार तथा रणथम्भौर होता हुआ आगरा लौट आया।

रायसीन—आगरा से वह बिहार तथा बंगाल की ओर गया जहाँ उसे मलेरिया ज्वर ने घेर लिया। स्वस्थ होने पर वह फिर आगरा लौट आया। वहाँ आकर उसने फिर पूरी सज धज के साथ मालवा के देश को कूँच कर दिया और रायसीन के दुर्ग पर अधिकार कर लिया (१५४८ ई०)। अब्बास खाँ के अनुसार इस आक्रमण का कारण यह था कि वहाँ के राजा पूरनमल ने मुसलमान परिवारों का उत्पीड़न किया था। किन्तु प्रोफेसर कानूनगो निश्चयपूर्वक लिखते हैं, "इस आक्रमण का कारण पूरनमल को चन्देरी के मुस्लिम परिवारों को दास बनाने के अपराध में दण्ड देने का धार्मिक उद्देश्य नहीं था। इसके लिये किसी पहर धार्मिक प्रेरणा की आवश्यकता भी नहीं थी, रायसीन पर आक्रमण करने के लिए राजनैतिक उद्देश्य ही शेरशाह के लिये पर्याप्त था। हुमायूँ के भाग्य को देखते हुए शेरशाह भली भाँति अनुभव करता था कि एक दुर्ग के अविजित रहने से भी सम्पूर्ण साम्राज्य खोटा जा सकता है। इसलिये उसने अपने को भावी अज्ञात संकटों से मुक्त करने के लिये मालवा से राजपूतों के प्रभाव को उखाड़ फेंकने का संकल्प किया।" आक्रमण का उद्देश्य कुछ भी रहा हो; अब्बास खाँ लिखता है कि पूरनमल तथा उसके साथी 'घिर गये सूअरों की भाँति वीरता तथा पराक्रम दिखलाने से नहीं चूके किन्तु पलक मारते ही उन सब का संहार कर दिया गया। उनकी स्त्रियों तथा परिवारों में से जो बच रहे उन्हें गुलाम बना लिया गया।'[1] रायसीन का दुर्ग उसने शाहबाज खाँ सरवानी को सौंप दिया और स्वयं आगरा को लौट आया तथा वर्षा ऋतु भर राजधानी में ही रहा।

सिन्ध तथा मुल्तान—जिस समय रायसीन का पतन हुआ लगभग उसी समय शेरशाह के सेनानायक हैबत खाँ न्याज़ी ने सिन्ध तथा मुल्तान को जीत लिया। बहुत बलूची हमेशा मुल्तान के लिये संकट का कारण बने हुए थे। इन भागों की विजय का शेरशाह के लिये अत्यधिक महत्व था। इसमें सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि लाहौर तथा भक्कर के—जिसका नाम उसने शेरगढ़ रख दिया था—सुरक्षित हो जाने से हुमायूँ के लिये सिन्धी होकर कान्धार आनेवाला मार्ग बन्द हो गया। नवम्बर १५४१ ई० तक यह विजय कार्य पूरा हो गया।

राजपूताना—वर्षा समाप्त होने पर शेरशाह ने अपने अपार तथा अपराजित विजयी दलों को अपनी विजय पताकाओं की छाया में नागौर अजमेर तथा जोधपुर की ओर कूच करने की आज्ञा दी ये राज्य राजा मालदेव के अधिकार में थे जिससे हुमायूँ ने शरण देने की निष्फल प्रार्थना की थी।

[1] जब शेरशाह शत्रु के पास पहुँचा तो उसने एक चाल चली; उसने मालदेव के सरदारों के नाम से पत्र लिखे जिनका सारांश था, "राजा को किसी प्रकार की चिन्ता

अथवा सन्देह को अपने हृदय में स्थान नहीं देना चाहिये। युद्ध के दौरान में हम मालदेव को पकड़कर आपके पास ले आयेंगे।' और इन्हें एक गद्दी (देशी थैला) में बन्द करके एक आदमी को दे दिया और उससे कहा कि मालदेव के वकील के खेमे के पास जाकर छिप जाओ और जब वह बाहर चला जाय तो उसके मार्ग में डालकर फिर छिप जाओ। शेरशाह के आदमी ने ऐसा ही किया और जब मालदेव के वकील ने वह थैला देखा तो उसे उठा लिया और उसे मालदेव के पास भिजवा दिया। मालदेव को इन पत्रों को पढ़कर सन्देह हुआ तो वह घबड़ा गया और बिना लड़े ही भाग गया। उसके सरदारों ने [illegible] शपथ खाई किन्तु उसने एक न सुनी। जैता, गोहा तथा कुछ अन्य सरदारों ने शेरशाह पर आक्रमण कर दिया और असाधारण पराक्रम का परिचय दिया। सेना का कुछ भाग उखड़ गया और एक अफगान ने शेरशाह के पास जाकर अपनी मातृभाषा में कहा, "घोड़े पर चढ़ लीजिये, क्योंकि काफिर आपकी सेना को खदेड़ रहे हैं।" शेरशाह आत्मसम्मान का प्रदर्शन कर रहा था और [illegible] पढ़ रहा था। उस अफगान को उसने कोई उत्तर नहीं दिया। इशारे से उसने घोड़ा पास बुलाया और सवार हो गया। तब तक विजय का समाचार आ गया कि खवास खाँ ने जैता तथा गोहा को उनके साथियों सहित मार डाला है। जब शेरशाह ने इन लोगों के साहस तथा पराक्रम के बारे में सुना तो चिल्ला पड़ा, "एक मुट्ठी भर बाजरे के लिये मैंने दिल्ली का राज्य लगभग खो दिया था।"

यह घटना मार्च १५४४ ई० में हुई। 'उसने खवास खाँ, ईसा खाँ नियाज़ी तथा कुछ अन्य सरदारों को नागौर में छोड़ दिया और स्वयं वापस लौट गया। खवास खाँ ने जोधपुर के किले के निकट अपने नाम के एक नगर की स्थापना की और नागौर के सम्पूर्ण देश, अजमेर, जोधपुर के किले तथा मारवाड़ के ज़िलों पर अधिकार कर लिया। मालदेव गुजरात की सीमाओं पर स्थित सिवाना के किले में चला गया।' लोगों के सन्देह को दूर करने के लिये शेरशाह क्षण भर के लिये अपनी राजधानी गया और फिर जून १५४४ ई० मध्य में लौटकर अपने शिविर में अजमेर पहुँच गया।

चित्तौड़—इसके बाद उसने चित्तौड़ की ओर ध्यान दिया। इस समय मेवाड़ पूर्णतया भूमिसात था; ऐसा प्रतीत होता था कि अब उसमें अपनी राजधानी की प्रतिरक्षा के लिये बहाने को अधिक रक्त नहीं रह गया था। राजपूताने के इतिहास का यह सबसे अन्धकारमय युग था। दोगला बनवीर ने जिसे मेवाड़ के विद्रोही सरदारों ने सिंहासन पर बिठला दिया, विक्रमाजीत को मार डाला था और यदि पन्ना दायी ने पवित्र बलिदान न किया होता तो वह शिशु उदयसिंह की भी हत्या कर देता। शेरशाह के आक्रमण से केवल दो वर्ष पहले उस बालक को सिंहासन पर बिठलाया गया था। ऐसी स्थिति में यह आश्चर्य की बात नहीं थी कि 'जब वह चित्तौड़गढ़ से बारह कोस की दूरी पर था, राजा ने जो उसका शासक था, उसके पास कुंजियाँ भेज दीं। चित्तौड़ पहुँचकर शेरशाह ने किले को खवास खाँ के छोटे भाई मियाँ अहमद सरवानी तथा

इसन खाँ सामजी के सुपुर्द कर दिया और स्वयं मजुबाहा की ओर चल पड़ा और वहाँ से कालिंजर को चला गया।

कालिंजर—कालिंजर का राजा कीरतसिंह उससे मिलने नहीं आया। इसलिये शेरशाह ने किले को घेरने की आज्ञा दे दी और उसके पास टीले बनवाना आरम्भ कर दिये। कुछ समय में टीले उठकर किले की दीवारों से भी ऊँचे पहुँच गये। जो लोग मकानों तथा छज्जों में थे वे दिखाई देने लगे और अफगानों ने टीलों पर से उन पर बाणों और गोलियों की वर्षा की। किले को इस धम्यम ढंग से जीतने का कारण यह था: राजा कीरतसिंह की स्त्रियों में एक पतर लड़की थी। राजा (शेरशाह) ने उसकी अत्यधिक प्रशंसा सुन रक्खी थी। इसलिये उसने सोचा कि उसे कैसे पकड़ा जाय क्योंकि उसे डर था कि यदि किले पर सहसा आक्रमण किया गया तो कीरतसिंह जौहर कर लेगा और उस लड़की को जला देगा।'

"१२४७ ई० में, लगभग नवम्बर के आरम्भ में कालिंजर के किले का घेरा डाला गया। उसकी प्राकृतिक सुरक्षा ऐसी थी कि सहसा आक्रमण करके उसे जीतना कठिन था। जिस पहाड़ी पर किला स्थित है वह समुद्र तल से १२३० फीट ऊँची है और १२०० गज चौड़ी एक दरार उसे पास की श्रृंखला से पृथक करती है। उसके किनारे एक दम ढालू हैं और ऊपर जाकर एक सौ पचास अथवा एक सौ अस्सी फीट तक लगभग लम्बाकार हो गये हैं और अधिकतर स्थानों में दुर्गम हैं। किलेबन्दी करने में भारी-भारी पत्थर की चट्टानों से काम लिया गया था जो बिना सीमेंट की जुड़ी हुई थीं और जिनकी मोटाई लगभग पैंतीस फीट थी।"

'शुक्रवार, ९ रबी उल अव्वल ९०५ हिज्री को, जब दिन का एक पहर तथा दो घंटे बीत गये, तो शेरशाह ने अपना कलेवा मँगवाया और उलेमा तथा पीरों के साथ बैठकर खाया बिना जिनके वह कभी कलेवा नहीं करता था। कलेवा के बीच में शेख निजाम ने कहा, "काफिरों के विरुद्ध जिहाद से बढ़कर और कुछ नहीं है। यदि तुम मारे गये तो शहीद हो जाओगे और यदि जीवित रहे तो गाजी होगे।" जब शेरशाह ने कलेवा समाप्त कर लिया तो दरिया खाँ को भरे हुए गोले लाने की आज्ञा दी और टीले की चोटी पर चढ़कर स्वयम् अपने हाथों से अनेक बाण चलाये और कहा "दरिया खाँ नहीं आ रहा है; बड़ी देर करता है।' किन्तु अन्त में जब गोले आ गये तो शेरशाह टीले से उतरकर जहाँ वे रक्खे हुए थे, वहीं खड़ा हो गया। जिस समय लोग उन्हें फेंकने में लगे हुए थे, सर्व शक्तिमान ईश्वर की इच्छा से बारूद से भरा हुआ एक गोला किले के फाटक से टकराकर टूट गया और वहाँ आकर गिर गया, जहाँ बहुत से गोले रक्खे हुए थे। जो भरे हुये थे वे फटने लगे। शेख खलील, शेख निजाम तथा अन्य विद्वान और बहुत से दूसरे लोग जो भाग गये, जलने से बच गये किन्तु वे शेरशाह को जब जला बाहर लाये। एक अनाम राजकुमारी जो पास खड़ी हुई थी, जलकर मर गई।

'जब शेरशाह को लोग उसके तम्बू में ले गये तो सब अमीरों का एक दरबार लगा;

और उसने ईसा खाँ हजिब और मसनद खाँ कलकपुर, ईसा खाँ के दामाद तथा लेखक (अब्बास खाँ) के मामा को, अपने तँबुए में बुलाया और आज्ञा दी कि मेरे जीवित रहते ही किले पर अधिकार कर लो। जब ईसा खाँ ने बाहर आकर सरदारों से कहा कि शेरशाह को आज्ञा है कि हम चारों ओर से धावा बोलकर किले पर अधिकार कर लें, तो तुरन्त ही चारों ओर से लोग चींटियों तथा टिड्डियों की भाँति एकत्र हो गये और दोपहर के बाद की नमाज़ के समय तक दुर्ग को हस्तगत कर लिया, प्रत्येक व्यक्ति तलवार के घाट उतार दिया गया और सभी काफिर दोजख भेज दिये गये। सध्या की नमाज के समय शेरशाह के पास विजय की सूचना पहुँची, तो उसके मुखमण्डल पर आनन्द तथा प्रसन्नता के चिन्ह प्रकट हो आये।

'१० रबी-उल-अव्वल, ९५२ हिज्री (२२ मई १५४५ ई०) को शेरशाह इस ससार के विश्राम स्थल को छोड़कर सुख-सदन में चला गया और शान्तिपूर्वक इस सांसारिक निवास-स्थान से ऊँचे स्वर्ग में चढ़ गया; अज़ आतश मुर्द (वह अग्नि से जलकर मरा) इन शब्दों में उसकी मृत्यु तिथि दी हुई है।' यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसका शव कालिञ्जर में ही दफना दिया गया अथवा सासराम के विशाल मकबरे में जिसका उसने स्वयं निर्माण कराया था, ले जाया गया था। वह छः महीने बंगाल तथा जौनपुर के राजा तथा पाँच वर्ष हिन्दुस्तान के सम्राट के रूप में शासन कर चुका था। मृत्यु के समय उसकी अवस्था साठ वर्ष की रही होगी। "इस प्रकार विजयी जीवन तथा लाभदायक कार्यों के बीच ही एक महान् सैनिक तथा राजनीतिज्ञ चल बसा, जिसके आगमन के साथ धर्म के नाम पर उत्पीड़ित हिन्दुओं के लिये सहिष्णुता; न्याय तथा राजनैतिक अधिकारों की समानता का वह प्रभात उदय हुआ था जो अकबर के राज्यारोहण के समय विस्तृत होकर जगमगाते हुए मध्याह्न में परिवर्तित हो गया।"

शेरशाह की प्रतिभा

सभी लेखकों का मत है कि शेरशाह अनेक प्रकार के गुणों से विभूषित था और उसकी प्रतिभा असाधारण थी। यदि हम उसकी तुलना सामन्तों के प्रति व्यवहार में हेनरी आठवें से; सैनिक संगठन तथा प्रशासन की ओर अधिक ध्यान देने में प्रुशिया के महानतम 'आन्तरिक शासक' फ्रेडरिख विलियम प्रथम से; व्यावहारिक दृष्टिकोण तथा सिद्धान्तों में कौटिल्य और मैकेवेली से और उदार विचारों तथा प्रजा के सभी वर्गों के हितचिन्तन में अशोक से करें, तो उसमें अतिशयोक्ति न होगी। वास्तव में उसमें बाबर तथा प्रुशिया के फ्रेडरिख महान् के गुणों का समन्वय था। एर्सकाइन लिखते हैं, "शेरशाह की गणना भारतीय इतिहास के सबसे असाधारण व्यक्तियों में है। विभिन्न लेखकों ने उसके चरित्र का चित्रण विभिन्न प्रकार से किया है। चूँकि वह दीर्घकाल तक तिमूर के वंश का महान् शत्रु रहा था और कुछ समय के लिये उसे भारत के बाहर खदेड़ दिया

था इसलिये उस पंथ के समर्थकों ने उसके चरित्र का प्रतिकूल चित्रण किया है। किन्तु निष्पक्ष लेखकों के साक्ष्य तथा तथ्यों से स्पष्ट है कि वह सम्मानपूर्ण यश तथा उच्च प्रशंसा का अधिकारी था।"

ऊपर के पृष्ठों में शेरशाह के जीवन की जो कहानी हम दे आये हैं वही उसके चरित्र की सर्वोत्तम समालोचना है। असाधारण प्रतिभा के अतिरिक्त निरन्तर कार्य करने की क्षमता उसका एक अन्य विशेष गुण थी और उसी पर उसकी सफलतायें निर्भर थीं। वह कहा करता था, "महान् पुरुषों के लिए यह आवश्यक है कि वे निरन्तर क्रियाशील रहें और अपनी प्रतिष्ठा की महत्ता तथा पद की उच्चता के कारण राज्य के कामों को छोटा अथवा तुच्छ न समझें।'

'वाकियाते मुश्ताकी' में शेरशाह के व्यस्त जीवन का निम्न दैनिक कार्यक्रम दिया हुआ है —

'शेरशाह दिन रात के कामों में लगा रहता था और कभी निठल्ला न बैठता था। रात्रि समाप्त होने पर वह उठता, स्नानादि करता तथा नमाज़ पढ़ता। इसके बाद वह अपने अधिकारियों तथा प्रबन्धकों को बुलाता और दिन भर की घटनाओं की रिपोर्ट सुनता। चार घण्टे वह राजकीय विषयों की रिपोर्टें पढ़ने अथवा राजकाज की देख भाल करने में बिताता। जो आज्ञायें वह जारी करता वे लिख ली जातीं और कार्यान्वित की जातीं; बाद में किसी प्रकार के वाद विवाद की आवश्यकता नहीं रहती थी। इस प्रकार वह प्रातःकाल होने तक व्यस्त रहता। जब नमाज़ का समय आता, तो वह एक विशाल समूह के साथ भजन पूजन करता और सब प्रकार से नमाज़ पढ़ता। तदुपरान्त वह अमीरों और सैनिकों से मिलता और दागने के लिये लाये गये घोड़ों के सम्बन्ध में पूछ ताछ करता। फिर बाहर निकल कर वह स्वयं अपनी सेनाओं का निरीक्षण करता और जब तक पूरी व्यवस्था न हो पाती तब तक के लिये प्रत्येक व्यक्ति का भत्ता स्वयं अपनी आज्ञा से तय कर देता। इसके बाद वह अन्य अनेक कार्यों को देखता तथा लेखा-परीक्षण करता। राज्य के प्रत्येक भाग से आवेदन पत्र आते और उनके उत्तर भेजे जाते वह स्वयं फारसी में उन्हें बोलता और लिपिकार उन्हें लिख लेते। प्रत्येक व्यक्ति का जो उससे मिलने आता, महल में स्वागत किया जाता था।'

इसमें सन्देह नहीं कि उसकी महत्वाकांक्षा ही महान् न रखा थी जिसके कारण वह इतना अधिक कार्य-व्यस्त रहता था किन्तु उसकी महत्वाकांक्षा का मूल उसकी राष्ट्रीय भक्ति थी जिसका अंकुर उसके हृदय में उसके प्रारम्भिक अध्ययन तथा अनुभव ने जमा दिया था। जब अपने पिता के अनुचित व्यवहार के कारण वह भागकर जौनपुर गया तो उसने अपना समय इतिहास दर्शन तथा प्राचीन राजाओं के जीवन चरित पढ़ने में बिताया। अब्बास खाँ लिखता है, बाद में उसके शासन काल में जब कभी कोई विद्वान निर्वाह-वृत्ति के लिये उसके पास आता तो वह उससे हाशिया इ-हिन्दिया के विषय में पूछता और इतिहास ग्रन्थों तथा प्राचीन राजाओं के जीवन चरित पढ़ने की रुचि उसमें सदैव बनी रही।' जब प्रथम पिता की जागीर का प्रबन्ध उसे सौंपा गया तो उसने कृषक की दशा

किन्तु संयत भावना से कार्य किया। "आपको प्रसन्न करने के लिये मैं इन दो ज़िलों का भार अपने ऊपर लेता हूँ। मैं यथासामर्थ्य अपना कर्तव्य पालन करूँगा।— मैं ज़िलों की समृद्धि बढ़ाने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दूँगा और वह न्यायपूर्ण शासन पर निर्भर रहती है।" जागीरदार के पद पर वह थोड़े ही समय रहा किन्तु उतने में ही उसकी व्यावहारिक प्रतिभा तथा जनता के, विशेषकर किसानों के प्रति महान प्रेम का परिचय मिल गया। धार्मिक व्यक्तियों तथा विद्वानों के सतसंग में उसे सदैव आनन्द मिलता था। अब्बास लिखता है कि वह उलेमा को साथ बिठलाये बिना कभी कलेवा नहीं कर करता था। किन्तु कार्य के समय वह स्वयम् अपना सर्वोत्तम सलाहकार था। उसकी न्याय की भावना उसके जीवन का एक अंग थी और उसी से उसके प्रशासन का रूप निर्धारित हुआ। इस सबसे बढ़कर, वह भाग्यवान पुरुष था और ईश्वर में तथा अपने में उसका विश्वास था और ऐसा प्रतीत होता था कि ईश्वर ने उसे उन सफलताओं के लिये उत्पन्न किया जो उस प्राप्त हुईं।

जब शत्रु की अन्तिम रूप से पराजय हो गई और उसकी सेनायें तितर-बितर हो गई, तब वह शाही तँबुओं में आया और सभा-गृह में घोड़े से उतरा और विजय के दाता ईश्वर की प्रार्थना में साष्टांग लेट गया। "इस अवसर पर उसने बिना किसी हिचकिचाहट के उस स्वप्न का भी वर्णन कर दिया जो उसने पिछली रात को देखा था। मैं तथा हुमायूँ ईश्वर के पैगम्बर के समक्ष, जो सज-धज के साथ सिंहासन पर बैठा हुआ था उपस्थित किये गये, उसने सम्राट से कहा कि सर्वशक्तिमान ईश्वर ने तुम्हारा राज्य शेरशाह को दे दिया है, और उसी समय उसने मुकुट तथा प्रभुत्व का चिन्ह उसके सिर से उतार कर उसके प्रतिद्वन्द्वी मेरे सिर पर रख दिया और मुझे न्यायपूर्वक शासन करने की आज्ञा दी।'

भाग्य, साहस तथा परिश्रम करने की क्षमता के सुन्दर समन्वय को ही प्रतिभा कहा गया है। सैनिक सफलताओं के सम्बन्ध में यह कथन विशेष रूप से सत्य है जैसा कि हुमायूँ की विफलताओं ने प्रकट किया, सफल सेनानायकत्व के लिये निजी साहस के अतिरिक्त अन्य अनेक गुणों की आवश्यकता होती है मानव स्वाभव को समझने की सूक्ष्म दृष्टि, साधन सम्पन्नता तथा वास्तविकता की स्पष्ट पहचान आदि गुण सबसे अधिक आवश्यक होते हैं। शेरशाह की एकरूप सफलताओं ने दिखा दिया कि उसमें ये सभी गुण विद्यमान थे। स्पष्ट करने के लिये हम कुछ उदाहरण यहाँ देते हैं।

(१) जिस दृढ़ता के साथ उसने अपने पिता की जागीर के उपद्रवी जमींदारों का दमन किया वह इस बात का प्रथम प्रमाण है कि उस उपद्रवग्रस्त युग में भी व्यवस्था स्थापित करने की उसमें परिपक्व योग्यता थी।

'कुछ जमींदार थे जिन्होंने चोरी, राहजनी आदि सभी अपराध किये थे और जिन्होंने न राजस्व चुकाया था और न कभी सूबेदार की ही सेवा में उपस्थित हुए थे

उन्हें अपनी संख्या में विश्वास था और इसीलिये वे धृष्टतापूर्ण आचरण करते थे। यद्यपि उन्हें अनेक बार चेतावनी भी दे दी गई थी किन्तु उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। फरीद ने अपने दल इकट्ठे किये और आज्ञा निकाली कि गाँव के सभी लोग जिन पर घोड़े हैं वे उन पर सवार होकर और जिन पर नहीं हैं वे पैदल आकर उपस्थित हों। अपने आधे सैनिक उसने साथ ले लिये तथा शेष आधों को राजस्व तथा अन्य स्वामीत्व करों को वसूल करने में जुटा दिया। जब सैनिक तथा किसान इकट्ठे हो गये तो उसने विद्रोहियों के गाँवों की ओर कूच कर दिया और एक कोस की दूरी पर खाई खोदकर मोर्चा बना लिया और उन्हें पड़ोस के जंगल को काट डालने की आज्ञा दी। अपने घुड़सवारों को उसने गाँवों का चक्कर लगाने का आदेश दिया और कहा कि जितने पुरुष मिलें उनको मार डालो, स्त्रियों तथा बच्चों को बन्दी बना लो, पशुओं को हाँक लाओ, किसी को खेत जोतने-बोने की आज्ञा मत दो और खड़ी फसल को नष्ट कर दो, पड़ोस के भागों से किसी को कुछ न लाने दो और न उनमें से किसी को गाँव के बाहर कुछ ले जाने दो और न एक भी व्यक्ति को बाहर निकलने दो। जब पूरा जंगल काट डाला गया तो वह पहले मोर्चे से आगे बढ़ा और गाँव के अधिक निकट जाकर एक दूसरी खाई खोद ली और उस पर अधिकार कर लिया। विद्रोहियों का घमण्ड चूर्ण हो गया और उन्होंने अपना एक प्रतिनिधि भेजकर कहा कि यदि फरीद खाँ हमें क्षमा कर दे तो हम समर्पण कर दें। फरीद खाँ ने उत्तर दिया कि हमें तुम्हारा समर्पण स्वीकार नहीं है और हमारे तथा तुम्हारे बीच शत्रुता के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता; ईश्वर जिस पर प्रसन्न होगा उसे विजय प्रदान करेगा। यद्यपि विद्रोहियों ने हर प्रकार से अनुनय विनय की और बहुत सा धन भेंट करने का वचन दिया किन्तु फरीद खाँ ने धन स्वीकार नहीं किया और अपने आदमियों से कहा—"इन विद्रोहियों का यही ढंग है पहले वे अपने शासक से लड़ते और उसका विरोध करते हैं यदि वह दुर्बल निकलता तो वे अपने विद्रोहपूर्ण आचरण पर डटे रहते हैं किन्तु यदि वे देखते हैं कि वह शक्तिशाली है तो वे छलपूर्वक उसके पास आते, नम्रता दिखलाते और धन देने का वचन देते और इस प्रकार वे उसे फुसलाकर छुटकारा पा लेते हैं किन्तु जैसे ही उन्हें अवसर मिलता है वे फिर कुमार्ग पर चलने लगते हैं।'

जब दूसरे विद्रोहियों ने उनकी मृत्यु, बन्दी बनाये जाने तथा सर्वनाश का समाचार सुना तो उनकी बुद्धि ठिकाने आ गई और वे अपने विद्रोहपूर्ण आचरण पर पश्चाताप करने लगे तथा चोरी करना और डाका डालना छोड़ दिया।

(२) बंगाल की सेनाओं से शेरशाह ने जो युद्ध किया उससे भी उसकी सेनानायकत्व सम्बन्धी योग्यतायें प्रकट होती हैं। बंगाली सेनानायक इब्राहीम खाँ की सेना शेरशाह की सेना से बहुत बड़ी थी और उसके पास अनेक हाथी तथा तोपखाना था। किन्तु शेर खाँ उससे योग्य सेनानायक था इसलिये अपनी चतुराई तथा साधन सम्पन्नता से उसने अपनी यह सब कमी पूरी कर ली। कुछ दिनों की झपटा झपटी के बाद उसने अपने आदमियों को इकट्ठा किया और कहा :—

"कुछ समय तक मैंने बगालियों से खुले मैदान में टक्कर नहीं ली है और अपने को खाइयों के पीछे छिपाकर रखा है जिससे हमारे सैनिक शत्रु की विशाल संख्या को देखकर हतोत्साह न हो जायँ। अब मुझे विश्वास हो गया है कि युद्ध में बगाली अफगानों से बहुत घटियाँ हैं। अब मैं खुलकर युद्ध करूँगा क्योंकि बिना युद्ध के हम अपने शत्रुओं को नष्ट तथा तितर-बितर नहीं कर सकते। ईश्वर की जय हो, जब कभी अफगानों तथा बगालियों में इस प्रकार की टक्कर होती है तो अफगान सदैव विजयी होते हैं। बगालियों के लिये उनके सामने टिक सकना असम्भव है। इस समय मेरा यह उद्देश्य है। यदि आप सहमत हों और ईश्वर की दया की आपको आशा हो और इस कथन में विश्वास हो—'ईश्वर की आज्ञा से छोटे दलों की विशाल सेनाओं पर विजय होती है,' तो कल प्रातःकाल मैं खुले युद्ध-क्षेत्र में शत्रु से टक्कर लूँगा क्योंकि इस सम्बन्ध में विलम्ब करना अथवा पीछे रहना हमारे लिये उचित नहीं है, उनकी कुमुक शीघ्र ही आनेवाली है।" अफगानों ने उत्तर दिया : "आपके श्रेष्ठ मस्तिष्क ने जो कुछ संकल्प किया है वह सर्वथा उचित है।"

(३) जिन चालों से शेरशाह ने हुमायूँ को घेरा उनसे उसकी उच्चकोटि की रण-नीति प्रकट होती है। विस्तृत विवरण के लिये पाठक को चौसा तथा बिलग्राम के युद्धों का वर्णन पढ़ना चाहिये। यद्यपि शेरशाह ने दोनों अवसरों पर एक-सी चालों का प्रयोग किया किन्तु हुमायूँ इतना मन्द बुद्धि था कि अनुभव से कुछ लाभ न उठा सका।

(४) जन-शक्ति के सम्बन्ध में मितव्ययी होना और टल सकने योग्य युद्ध में अपने सैनिकों को न खपाना शेरशाह का निश्चित सिद्धान्त था। इस कारण वह कभी-कभी ऐसे साधनों से भी अपना उद्देश्य पूरा करता जिन्हें नैतिक दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता था। जिस प्रकार उसने चुनार, रोहतास तथा राइसीन पर अधिकार किया उससे उसके विश्वासघातपूर्ण आचरण का पता लगता है और वह उसके अन्यथा धवल यश पर गहरा कलंक है, यद्यपि इस प्रकार का कपटपूर्ण आचरण उस युग में सामान्य था। जाली पत्र लिखकर मालदेव को जाल में फँसाना इसी प्रकार के सिद्धान्तहीन व्यवहार का एक उदाहरण है, जिसे कभी-कभी राजनैतिक दक्षता का नाम दिया जाता है। फिर भी इस प्रकार के कार्यों का मुख्य कारण यह था कि शेरशाह अपने सैनिकों का व्यर्थ में रक्त बहाने से बहुत ही हिचकिचाता था। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि उसके आदमियों का उसमें इतना गहरा विश्वास था। अपने सैनिकों का विश्वास दृढ़ करने के लिये वह बार-बार कहता, 'मुगल अफगानों से न संग्राम में ही श्रेष्ठ हैं और न द्वन्द-युद्ध में, किन्तु अफगानों ने अपने आन्तरिक द्वन्दों के कारण हिन्द का साम्राज्य अपने हाथ से निकल जाने दिया। उसकी लगातार विजयों से उन्हें विश्वास हो गया होगा कि उसका कथन ठीक था। उसने अफगानों को दर्शाया कि उसके संघर्ष का उद्देश्य राष्ट्रीय हित था और जिन्हें वह अन्य तरीकों से न समझा सका उन्हें उसने बलपूर्वक भर्ती कर लिया।

अब्बास खाँ लिखता है 'उनमें से बहुत सों को जिन्होंने अपने दुर्भाग्य के कारण फकीरी वस्त्र धारण कर लिये थे वहाँ उसने एकत्र किया और सैनिकों के रूप में भर्ती कर लिया; और जिन्होंने भर्ती होने से इनकार किया तथा भिखारियों का जीवन पसन्द किया उनका उसने वध करवा दिया और घोषणा की कि मैं प्रत्येक अफगान को जो सैनिक बनने से इनकार करेगा, मरवा डालूँगा। युद्ध में वह अफगानों की बहुत चिन्ता रखता था जिससे उनके जीवन का व्यर्थ में ही बलिदान न हो। जब अफगानों ने सुना कि शेर खाँ बड़ी तत्परता से हमारी जातिवालों का संरक्षण कर रहा है तो सब दिशाओं से आकर वे उसके यहाँ नौकर हो गये।

प्रोफेसर कानूनगो लिखते हैं, "उसकी गणना सबसे अधिक दयालु विजेताओं में है। यद्यपि वह बहुत कठोर था फिर भी कोई ऐसा सेनानायक नहीं हुआ जो अपने सैनिकों का इतना प्रिय रहा हो। उसमें महान् व्यक्तिगत आकर्षण-शक्ति थी जिससे उसके सैनिक अनुप्राणित होते तथा प्रसन्नतापूर्वक अपने कठिन कर्त्तव्यों का पालन करते थे। दिन की कठिन यात्रा के बाद भी वह सैनिकों को अपने शिविर की मोर्चेबन्दी किये बिना विश्राम नहीं करने देता था। वे बिना किसी आपत्ति के सब कठिनाइयों को सह लेते, एक पूर्वीय निरंकुश शासक के गुलामों के रूप में नहीं बल्कि एक पूज्य सेनानायक के साथियों के रूप में। शेरशाह के युद्धों की मुख्य विशेषतायें थीं मौलिक तथा साहसपूर्ण योजना, द्रुत गति तथा सामरिक परिस्थितियों की पहचान। अनावश्यक रक्तपात तथा अत्याचार से उसे घृणा थी और युद्ध उसके लिये व्यसन नहीं था। इन सबसे बढ़कर, उसके पास हृदय था जिसका सैनिकों तथा राजनीतिज्ञों में बहुधा अभाव होता है। शत्रु की विपत्तियों से दुःखी होने की भी उसमें क्षमता थी। कहा जाता है कि जब मुगल बेगमें बहुत सी स्त्रियों के साथ तंबुओं से निकलकर उसके सामने प्रार्थी के रूप में खड़ी हो गईं (चौसा में हुमायूँ की पराजय के बाद) तो उसके नेत्रों से आँसू उमड़ पड़े।

उसी लेखक का मत है कि शेरशाह, "प्रशासन-सम्बन्धी तथा सैनिक प्रतिभा में अफगानों में सर्वश्रेष्ठ था। यदि हम उसके द्वारा अपने राज्य में स्थापित की गई प्रशासन-व्यवस्था तथा उसके स्थायी परिणामों की, विशेषकर उस अराजकता पूर्ण युग में सावधानी से समीक्षा करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उपयुक्त कथन में अतिशयोक्ति नहीं है। कुछ लोगों का कथन है कि बाबर को समुचित प्रशासन व्यवस्था स्थापित करने के लिये समय नहीं मिला था किन्तु यदि वे शेरशाह की रचनात्मक सफलताओं पर ध्यान दें तो वे बाबर के सम्बन्ध में ऐसे तर्क उपस्थित नहीं करेंगे। अबुलफज़ल ने लिखा है कि शेरशाह ने अलाउद्दीन खलजी की अनेक योजनाओं को अपना लिया था, जिसके सम्बन्ध में उसने गुप्त रक्खा था क्योंकि तारीखे फीरोज़शाही में उनका विस्तृत वर्णन दिया है। किन्तु यह कथन वास्तव में उसकी राजनैतिक मौलिकता के प्रति न्याय नहीं करता। हो सकता है

कि उसने पूर्ववर्ती राजाओं से सैनिक तथा असैनिक संगठन के सम्बन्ध में कुछ ब्यौरे की बातें सीख ली हों किन्तु उसकी प्रशासन-व्यवस्था का स्थायित्व उसको अनुप्राणित करनेवाली भावनाओं पर निर्भर था। इसलिये इस सम्बन्ध में क्रुक का मूल्यांकन सर्वथा उचित है "वह पहला मुसलमान शासक था जिसने अपनी प्रजा के हित का विचार किया। उसमें यह समझने की प्रतिभा थी कि सरकार को सर्वप्रिय बनाया जाय, राजा को प्रजा के कल्याण के लिये शासन करना चाहिये, न्याय तथा सहिष्णुता की नीति द्वारा हिन्दुओं को प्रसन्न करना चाहिये, भू-राजस्व न्याय के आधार पर निर्धारित होना चाहिये और देश की भौतिक उन्नति को प्रोत्साहन देना चाहिये।......आगे चल कर अकबर ने यह सब तथा इससे भी अधिक करने का प्रयत्न किया। ...—शेरशाह ने अत्याचारपूर्ण इस्लामी नियमों को शिथिल कर दिया और न्याय-प्रशासन का प्रबन्ध किया। ये विस्तृत सुधार उसने पाँच वर्ष के अल्प काल में ही कर डाले, यह उसकी कार्यपालिका सम्बन्धी योग्यता का आश्चर्यजनक प्रमाण है। जैसा कि कीनी लिखते हैं, 'किसी भी सरकार ने इतनी योग्यता का परिचय नहीं दिया है जितना कि इस पठान ने; अँग्रेजों ने भी नहीं।'

अब्बास खाँ सर्वानी रचित 'तारीखे शेरशाही' में शेरशाह की प्रशासन व्यवस्था का सारांश इस प्रकार दिया हुआ है—

'जब भाग्य ने शक्ति की बागडोर शेरशाह के हाथों में सौंप दी और हिन्द का सम्पूर्ण राज्य उसके अधिकार में आ गया तो उसने प्रजा को अत्याचारों से मुक्त करने, अपराधों तथा गुण्डागीरी का दमन करने, देश की समृद्धि बनाये रखने, राजमार्गों की सुरक्षा तथा व्यापारियों और सैनिकों के आराम के लिये कुछ नियम बनाये, जिनका आधार उसके निजी विचार तथा विद्वानों के ग्रन्थों से लिये गये सिद्धान्त, दोनों थे। वह कहा करता था, "अपराध तथा हिंसा से समृद्धि के विकास में बाधा पड़ती है। राजाओं को ईश्वर का कृतज्ञ होना चाहिये कि उसने अपने लोगों को उनके अधीन रख दिया है और इसलिये उन्हें उस प्रभु की आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं करना चाहिये।"

'शेरशाह राज्य के प्रशासन तथा राजस्व से सम्बन्ध रखनेवाले छोटे-बड़े सभी कामों की स्वयं देख-भाल किया करता था। इसलिये उसने प्रत्येक काम के लिये दिन तथा रात को अलग-अलग भागों में बाँट रखा था और वह किसी प्रकार के प्रमाद अथवा आलस्य को अपने पास नहीं फटकने देता था। वह कहा करता था, "महान पुरुषों को सदैव कार्यशील रहना चाहिये और अपनी प्रतिष्ठा की महत्ता तथा पद की उच्चता के कारण राज्य के कामों को तुच्छ अथवा छोटा नहीं समझना चाहिये और न मन्त्रियों का ही आवश्यकता से अधिक विश्वास करना चाहिये।...—मैं इस सांसारिक राज्य को इसलिये प्राप्त कर सका कि तत्कालीन राजाओं के मन्त्री भ्रष्ट थे। राजा को भ्रष्ट वकील अथवा वजीर नहीं रखना चाहिये क्योंकि घूस लेनेवाला घूसदेनेवाले पर निर्भर रहता है और जो दूसरों पर निर्भर

है वह वज़ीर होने के योग्य नहीं है क्योंकि वह स्वार्थी है और स्वार्थी व्यक्ति राज्य के प्रशासन के सम्बन्ध में सच्चा तथा स्वामिभक्त नहीं हो सकता।'

'शेरशाह न्यायरूपी रत्न से अलंकृत था और यह बहुधा कहा करता था 'धार्मिक कृत्यों में न्याय सर्वश्रेष्ठ है और काफ़िरों तथा मुसलमानों, दोनों के राजा इसे स्वीकार करते हैं।'' जब शेरशाह की समृद्धि का नया अंकुर प्रकट हुआ तो वह प्रहत लोगों तथा न्यायार्थियों के सम्बन्ध में ठीक-ठीक सत्य का पता लगाने का प्रयत्न करता और उसने उत्पीड़कों का कभी पक्ष नहीं लिया चाहे वे उसके निकट सम्बन्धी, उसके प्रिय पुत्र उसके विख्यात सरदार अथवा जातिवाले ही क्यों न हों और न उसने उत्पीड़कों को दण्ड देने में विलम्ब अथवा रियायत की। उसने प्रत्येक स्थान में न्यायालय स्थापित किये।

[आपराधिक न्याय का प्रशासन शिक़दार तथा राजस्व सम्बन्धी झगड़ों का फ़ैसला मुंसिफ़ करता था। प्रोफ़ेसर क़ानूनगो लिखते हैं कि किसी भी इतिहासकार ने व्यावहारिक मुक़दमों के निर्णय के लिये, जिसके लिये इस्लामी शास्त्रीय नियमों के ज्ञान की आवश्यकता होती थी, मीर अदलों अथवा क़ाज़ियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। मीर अदल और क़ाज़ी का उल्लेख हमें केवल 'तारीख़े दाऊदी' की एक घटना में मिलता है (पाण्डु लिपि पृष्ठ २०४)। यह संस्था वास्तव में पुरानी था जिसको सिकन्दर लोदी ने समुन्नत किया था।]

यदि किसी आमिल अथवा सूबेदार के अधिकार क्षेत्र में चोरी अथवा डकैती हो जाती और अपराधियों का पता न लगता तो पास के गाँवों के मुक़द्दम गिरफ़्तार कर लिये जाते और उन्हें क्षति पूर्ति करने पर बाध्य किया जाता किन्तु यदि मुक़द्दम अपराधियों को प्रस्तुत कर देते अथवा उनके अड्डों का पता बतला देते तो चोरों तथा डाकुओं को इस्लामी नियमों के अनुसार दण्ड दिया जाता था। और यदि कहीं हत्या हो जाती और हत्यारों का पता न लगता तो आमिलों को आज्ञा थी कि वे मुक़द्दमों को जैसा कि ऊपर लिखा हुआ है गिरफ़्तार करके कारागार में डाल दें और अपराधियों का पता बताने के लिये कुछ निश्चित समय उन्हें दे दें। यदि वे हत्यारे को प्रस्तुत कर देते अथवा उसके रहने का स्थान बता देते तो वे छोड़ दिये जाते और हत्यारे को मृत्यु दण्ड दे दिया जाता। किन्तु यदि जिस गाँव में हत्या होती उसके मुक़द्दम अपराधियों का पता न बतला सकते तो स्वयं उन्हें मृत्यु का दण्ड दे दिया जाता क्योंकि यह निश्चय है कि कोई चोरी अथवा डकैती इन मुखियों के आँख बचाये बिना नहीं हो सकती। यदि कोई मुक़द्दम ऐसे चोरों तथा डाकुओं को आश्रय देता है जिसका सूबेदार को पता नहीं है तो यह उचित ही है कि स्वयं उसे दण्ड दिया जाय अथवा फाँसी दे दी जाय जिससे दूसरे लोगों को चेतावनी मिले और वे इस प्रकार के काम न करें।'

राजस्व वसूल करना—'जनता से राजस्व वसूल करने तथा राज्य की समृद्धि के लिये इस प्रकार के नियम बनाये गये। प्रत्येक परगने में एक आमिल,

एक ईश्वर से डरनेवाला शिकदार, एक कोषाध्यक्ष, एक कारकुन हिन्दी और एक फारसी लिखने के लिये था, और उसने सूबेदारों को आज्ञा दी कि प्रत्येक फसल में भूमि की नाप कराई जाय, राजस्व नाप के अनुसार तथा उपज के अनुपात में वसूल किया जाय। एक भाग किसान को तथा आधा मुकद्दम को दिया जाय, राजस्व अन्न की किस्म को ध्यान में रख कर निर्धारित किया जाय, जिससे मुकद्दम, चौधरी और आमिल किसानों का उत्पीड़न न कर सकें क्योंकि राज्य की समृद्धि उन्हीं पर निर्भर रहती है। उसके समय से पहले भूमि की नाप कराने की प्रथा नहीं थी; प्रत्येक परगने में एक कानूनगो होता था जिससे परगने की पूर्व, वर्तमान तथा सम्भावित भावी स्थिति का पता लगा लिया जाता था।

[शेरशाह के शासन काल में एक निश्चित नाप-प्रणाली के अनुसार भूमि की पड़ताल की जाती थी। उसने गज सिकन्दरी (३२ इकाइयों का) का प्रयोग करने की आज्ञा दी। भूमि बीघों में रस्सी द्वारा नापी जाती थी—बाद में अकबर ने उसके स्थान पर बाँस का प्रयोग चलाया। बीघा तथा जरीब का एक ही अर्थ था। एक बीघा अथवा जरीब में ३,६०० वर्ग गज होते थे (आईन, द्वितीय भाग पृष्ठ ६७)। प्रत्येक रैयत की भूमि की अलग-अलग नाप की जाती थी और उपज का $\frac{1}{3}$ सरकारी लगान के रूप में निश्चित किया जाता था। जैसी कि पूर्व सुलतानों के समय में परिपाटी थी, किसान को नकद अथवा उपज के रूप मे लगान चुकाने का अधिकार था, किन्तु नकद को अधिक पसन्द किया जाता था। प्रत्येक रैयत से अमीन कबूलियत अथवा करार लिखवा लेता था जिसमें रैयत की भूमि का संक्षिप्त विवरण तथा सरकारी लगान लिखा रहता था और उस पर उसके प्रमाणित हस्ताक्षर रहते थे, और बदले में रैयत को पट्टा लिख दिया जाता था जिसमें सरकारी माँग का उल्लेख रहता था।"शेरशाह शासक तथा रैयत के हितों को अभिन्न समझता था: 'यदि रैयत के साथ थोड़ा भी अनुग्रह किया जाता है तो उससे शासक को भी लाभ होता है।' राजस्व पदाधिकारियों को उसकी सामान्य आज्ञा थी—'राजस्व निर्धारित करते समय कोमलता दिखलाओ किन्तु वसूल करते समय किसी प्रकार की दया मत करो।' उसकी राजस्वव्यवस्था, जो टोडरमल के बन्दोबस्त के नाम से प्रसिद्ध थी, उत्तरी भारत में समस्त मुगल युग में प्रचलित रही और उसकी मुख्य विशेषतायें रैयतवाड़ी बन्दोबस्त के नाम से ब्रिटिश भारत में भी बनी हुई थीं और आँग्ल-भारतीय प्रशासकों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है।"]

'प्रत्येक सरकार में उसने एक प्रमुख सिकदार (सिकदारे सिकदारान) और और एक प्रमुख मुंसिफ (मुंसिफे मुंसिफान) नियुक्त किये। उनका कर्तव्य था जनता तथा आमिलों दोनों के आचरण की देख-भाल करना जिससे आमिल जनता का उत्पीड़न न कर सकें तथा क्षति न पहुँचा सकें और न राजा के राजस्व का गबन कर सकें, और यदि कभी आमिलों में परगनों की सीमाओं के सम्बन्ध में कोई झगड़ा उठता तो उसका निर्णय करना भी उन्हीं का काम था जिससे राजकीय मामलों में किसी प्रकार की गड़बड़ न फैलने पाये। यदि जनता उद्दण्डता अथवा विद्रोही भावनाओं के कारण राजस्व वसूल करने में किसी प्रकार का

उपद्रव फैलाती तो ऐसे दण्डों द्वारा उसका नाश तथा मूलोच्छेदन कर दिया जाता कि उनका विद्रोह तथा धूर्तता दूसरों में न फैलने पाती।'

[प्रमुख शिकदार के कर्तव्य वे ही थे जो मुगल काल में फौजदार के और वह वैसे ही काम करता था जो सिकन्दर लोदी के समय में। यद्यपि वह एक सैनिक अमीर था और उसके अधिकार में २,००० से ५,००० तक सैनिकों का पुलिस दल रहता था फिर भी वह वास्तव में आधुनिक दण्डाधीश की भाँति असैनिक पदाधिकारी था। मुन्सिफ शब्द का अर्थ है 'न्याय करनेवाला'; ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमुख मुन्सिफ व्यावहारिक मुकदमों का निर्णय करने तथा परगने के अधिकारियों के विरुद्ध किसानों और मुकद्दमों (मुखियों) की शिकायतें दूर करने के लिये दौरा भी किया करता था।]

पदाधिकारियों का स्थानान्तरण—प्रतिवर्ष अथवा प्रति दूसरे वर्ष वह आमिलों को स्थानान्तरित कर दिया करता था क्योंकि उसका कहना था, 'मैंने बहुत जाँच की है और सही पता लगा लिया है कि जितनी आय तथा लाभ जिले की सरकार में है उतनी और किसी नौकरी में नहीं है। इसलिये मैं जिलों का कार्य-भार सँभालने के लिये अपने अच्छे पुराने तथा स्वामिभक्त नौकरों को भेजता हूँ जिससे दूसरों की अपेक्षा उन्हें अधिक वेतन लाभ आदि प्राप्त हो सके; और दो वर्ष बाद मैं उन्हें बदल देता हूँ तथा उन्हीं जैसे दूसरे लोगों को भेज देता हूँ जिससे वे समृद्ध हो सकें और मेरे शासन काल में मेरे सभी पुराने नौकर इन लाभों का उपभोग कर सकें और सुख तथा आराम का द्वार उनके लिये खुल जाय।'' इसी प्रकार सैनिक सेवाओं के सम्बन्ध में भी उसने लाभ तथा श्रम के सम विभाजन का नियम रक्खा। अब्बास खाँ लिखता है, 'प्रत्येक स्थान में जहाँ उसके हितों के अनुकूल हुआ उसने रक्षा-सेनायें रक्खीं। कुछ समय बाद वह उन सेनाओं को जो अपनी जागीरों में सुख तथा आराम उठा लेती वापिस बुला लेता और उनके स्थान पर उन अमीरों को भेज देता जिन्होंने विजयी सेना के साथ रहकर परिश्रम किया था और कठिनाइयाँ झुगती थीं।'

सैनिक सङ्गठन—'उसकी सम्पूर्ण सेना की संख्या अगणित थी और प्रतिदिन उसमें वृद्धि होती गई। राज्य की रक्षा करने तथा विद्रोहियों के उपद्रव से उसे बचाने और विद्रोही तथा उद्दण्ड जमींदारों का दमन करने के लिये, जिससे कोई राज्य को अरक्षित समझकर उसे छीनने का प्रयत्न न करे निम्नांकित नियम बनाये —

'शेरशाह के पास सदैव १५०, ० अश्वारोही तथा २५, ०० पैदल रहते थे और वे या तो बन्दूकें अथवा धनुष धारण करते किसी किसी आक्रमण में तो वह इससे भी अधिक सेना अपने साथ ले जाता था। उसके हाथीखानों में ५००० हाथी थे। प्रत्येक स्थान में जहाँ उसके हितों के अनुकूल होता वह रक्षा सेनायें रखता; उदाहरण के लिये उसने ग्वालियर के किले में एक सेना रक्खी जिसमें १, ०० बन्दूकची सम्बद्ध थे। बयाना में एक दल रक्खा, जिसमें ५० बन्दूकची थे; रणथम्भौर में एक दल तथा १६० बन्दूकची

चित्तौड़ में ३,००० बन्दूकची, शदमाबाद अथवा माण्डू के किले में सुज्जात खाँ नियुक्त था जिसके पास १०,००० घुड़सवार तथा ७,००० बन्दूकची थे। हिन्दिया तथा मालवा में उसकी जागीरें थीं। राइसीन के किले में भी एक सेना रहती थी जिसमें १,००० तोपची सम्मलित थे, और चुनार मे एक दल तथा १,००० बन्दूकची रहते, बिहार के निकट रोहतास के किले में उसने इख्त्यार खाँ पन्नी को १०,००० बन्दूकचियों के साथ नियुक्त किया और उस किले में शेरशाह ने अगणित धन एकत्र किया।' ~ (इसी प्रकार नागपुर, जोधपुर, अजमेर, कालपी इत्यादि में)। बगाल के उसने दो भाग कर दिये और काजी फजीलत को उस पूरे राज्य का अमीर नियुक्त किया।'

प्रोफेसर कानूनगो लिखते हैं, "भारतीय सेना को नये ढंग से संगठित करने का श्रेय सुल्तान अलाउद्दीन खलजी को है। उसने एक सेना का निर्माण किया जिसकी भर्ती सीधी केन्द्रीय सरकार द्वारा होती, जिसे राजकोष से नकद वेतन मिलता और जिसका नेतृत्व सुल्तान द्वारा चुने हुये अमीर करते थे, भ्रष्टाचार को रोकने के लिये उसने दाग-प्रथा प्रचलित की। लोदियों की सेनायें सामन्ती ढग की थीं जिनमें विभिन्न कबीलों के प्रमुखों की टुकडियाँ सम्मिलित रहतीं थीं और अपनी सेवाओं के लिये उन्हे जागीरें मिलीं होतीं थीं। शेरशाह ने अलाउद्दीन खलजी की प्रथा को पुन. प्रचलित किया और सेना को एक वास्तविक साम्राज्यीय संस्था के रूप में परिवर्तित कर दिया। सैनिक अपने पदाधिकारी की सम्राट के सेवक के रूप में आज्ञा पालन करता न कि उसे अपना निजी प्रमुख समझकर। महासेना-नायक तथा प्रमुख बख्शी दोनों के काम सम्राट के ही हाथों में थे। अपने प्रशासन के सैनिक रूप को कम करने के लिये शान्ति के समय में शेरशाह सेना को पृष्ठ-भूमि में रखता और उससे केवल असैनिक सत्ता को सहायता देने का काम लेता।"

घोड़े को दागना—**'शेरशाह ने जो नियम चलाये उनमें घोड़ों को दागने का नियम भी था। उसने कहा कि मैने यह आज्ञा इसलिये निकाली है कि अमीरों तथा सैनिकों के अधिकार अलग तथा स्पष्ट रहे और अमीर सैनिकों को उनके अधिकारों से वंचित न कर सकें; और प्रत्येक व्यक्ति अपने मंसब के अनुसार सैनिक रक्खे और उनकी सख्या को घटा-बढ़ा न सकें।**

वह कहा करता था, "मैंने देखा कि सुलतान इब्राहीम के समय में तथा उसके बाद भी अनेक ऐसे अमीर थे जिनका आचरण बेईमानी का तथा कपटपूर्ण था, जिस समय उनका मासिक वेतन निर्धारित किया जाता, उनके पास बहुत से घोडे होते, किन्तु जब वे अपनी जागीरों पर अधिकार पा लेते तो अपने बहुत से आदमियों को बिना वेतन दिये ही निकाल देते और अनिवार्य कामों के लिये कुछ थोडे से आदमियों को रखते और उन्हें भी पूरा वेतन न देते। इस कृतघ्नतापूर्ण आचरण से उनके स्वामी को जो क्षति होती उसकी वे चिन्ता न करते और जब उनका स्वामी उन्हें अपने सैनिकों को एकत्र करने की आज्ञा देता अथवा उनका निरीक्षण करता तो वे नये घोडे तथा सैनिक लाकर खडे कर देते किन्तु जो धन मिलता उसे अपने कोषों में जमा कर लेते। युद्ध के समय कम संख्या के कारण उनकी

पराजय होती किन्तु धन व हड़पते रहते और जब उनके स्वामी की स्थिति संकटपूर्ण तथा अव्यवस्थित हो जाती तो उसी धन से अपने को सुसज्जित करके वे अन्यत्र नौकरी कर लेते और इस प्रकार उनके स्वामी के सर्वनाश से उनको कोई हानि नहीं होती थी। जब भाग्य से मेरे हाथ में शक्ति आई तो मैंने अपने को अमीरों तथा सैनिकों—दोनों के धोखे तथा बेईमानी से सावधान रक्खा और घोड़ों को दागने की आज्ञा दी जिससे इस प्रकार की चालाकी तथा बेईमानी का मार्ग बन्द हो जाय और अमीर लोग अपनी सेनाओं की संख्या पूरी करने के लिये नये लोगों को न भर्ती कर सकें।'

'शेरशाह का नियम था कि वह उन्हें तब तक वेतन न देता जब तक कि उनके घोड़े दाग न दिये जाते और इस नियम का वह यहाँ तक पालन करता कि बिना दाग के महल के संगियों तथा नौकरानियों को भी कुछ न देता। वे अपने आदमियों तथा घोड़ों की हुलिया लिखकर उसके सामने उपस्थित करते और वह मासिक वेतन निश्चित करते समय उनका निरीक्षण करता और फिर अपने सामने घोड़ों के दाग लगवाता।

सड़कें तथा सराएँ—'गरीब यात्रियों की सुविधा के लिये उसने प्रत्येक सड़क पर दो-दो कोस की दूरी पर सराएँ बनवाई; उसने पंजाब में सिन्ध किले का निर्माण कराया वहाँ से लेकर बंगाल राज्य में समुद्र के किनारे स्थित सुनारगाँव तक एक सड़क तथा उसके किनारे सराएँ बनवाईं। एक सड़क उसने आगरा से जोधपुर तथा चित्तौड़ तक और दूसरी लाहौर से मुल्तान तक बनवाई तथा उसके किनारे सरायों का निर्माण कराया। विभिन्न सड़कों पर सब मिलाकर १७०० सराएँ बनवाई गईं; प्रत्येक सराय में हिन्दू तथा मुसलमानों के लिये अलग अलग निवास स्थान भी बनाये गये, हर सराय के द्वार पर लोगों के पीने के लिये पानी के घड़े रक्खे गये, प्रत्येक सराय में हिन्दुओं का सत्कार करने, उन्हें गर्म तथा ठंडा पानी, चारपाइयाँ, भोजन तथा घोड़ों को दाना देने के लिये एक ब्राह्मण नियुक्त किया गया; और इन सरायों का यह नियम था कि जो कोई भी उनमें ठहरता उसे उसकी स्थिति के अनुसार सरकार से भोजन तथा पशुओं के लिये कुछ मिलता।

'सरायों के चारों ओर गाँव बसाये गये। प्रत्येक सराय के बीच में एक कुआँ तथा पक्की ईंट की मसजिद थी और प्रत्येक मसजिद में एक इमाम, एक मुअज्जिन एक सक्का तथा कई चौकीदार नियुक्त किये गये और इन सबका व्यय सराय से लगी हुई भूमि से चलता था। सड़कों के दोनों किनारों पर शेरशाह ने छायादार तथा फलदार दोनों तरह के पेड़ लगवाये जिससे लू के दिनों में यात्री पेड़ों के नीचे चल सकें और यदि मार्ग में ठहरें तो उनके नीचे आराम कर सकें। यदि वे सराय में ठहरते तो पेड़ों से अपने घोड़े बाँध देते।

गुप्तचर तथा सम्वाददाता—'प्रत्येक सराय में सम्वाददाताओं के लिये दो घोड़े रक्खे जाते थे। इस प्रकार सब सरायों में मिलाकर ३,४०० घोड़े

थे जो राज्य के विभिन्न भागों से समाचार लाने के लिये सदैव तैयार रहते थे। शेरशाह ने प्रजा की रक्षा के लिये जिन नियमों की स्थापना की उनको उचित रूप से लागू करने के लिये वह प्रत्येक अमीर के दल के साथ विश्वसनीय गुप्तचर भेजता जिससे वे गुप्तरूप से अमीरों, उनके सैनिकों तथा जनता की स्थिति के विषय में जानकारी प्राप्त करके उसके पास भेज दें; क्योंकि दरबारी तथा मन्त्री लोग अपना अभिप्राय सिद्ध करने के लिये राजा के सामने देश की दशा का पूरा-पूरा चित्र उपस्थित नही करते क्योंकि वे नहीं चाहते कि न्यायालयों में प्रचलित अव्यवस्था अथवा गड़बड़ सुधार दी जाय।

व्यापारी तथा यात्री—'शेरशाह तथा इस्लामशाह के समय में मुकद्दम लोग अपने गाँवों की सीमाओं की रक्षा स्वयं करते थे जिससे कोई चौर-डाकू अथवा शत्रु किसी यात्री को चोट न पहुँचा सके और उसके नाश तथा मृत्यु का कारण न बन सके। और उसने अपने सूबेदारों तथा आमिलों को आज्ञा दी कि लोगों को बाध्य करो कि वे व्यापारियों तथा यात्रियों के साथ अच्छा व्यवहार करें और उन्हें तनिक भी हानि न पहुँचायें और यदि कोई व्यापारी मार्ग में मर जाय तो उसकी सम्पत्ति को बिना स्वामी का समझकर उसकी ओर अत्याचार तथा हिंसा का हाथ न बढ़ायें क्योंकि शेख निज़ामी (ईश्वर उन पर दया करे) ने कहा है; "यदि कोई व्यापारी तुम्हारे देश में मर जाय तो उसकी सम्पत्ति से हाथ लगाना घोर पाप है।" अपने सम्पूर्ण राज्य में शेरशाह व्यापारिक माल पर केवल दो स्थानों पर चुंगी वसूल करता था, बंगाल से आनेवाले पर गढ़ी में (सीखरी गली) और खुरासन की दिशा से आनेवाले पर राज्य की सीमाओं पर; दूसरी चुंगी बिक्री के स्थान पर लगती थी। कोई भी व्यक्ति सड़कों, घाटों, नगरों अथवा गाँवों में, इनके अतिरिक्त अन्य कोई कर वसूल करने का साहस नही करता था। शेरशाह ने अपने पदाधिकारियों को बाजार भाव से कम मूल्य पर चीज़ें खरीदने का कठिन निषेध किया।

किसानों की रक्षा—'शेरशाह ने जो नियम बनाये उनमें एक यह भी था कि मेरी विजयी सेनायें किसानों को किसी प्रकार भी क्षति न पहुँचायें और जब स्वयं कूच करता तो वह खेती की दशा को जाँच करता और घुड़सवारों को नियत कर देता जिससे लोग खेतों को न रौंद सकें। यदि वह किसी आदमी को खेत को हानि पहुँचाते देखता तो अपने हाथों से उसके कानों को काट लेता और उसकी तोड़ी हुई बालों को उसके गले में लटकाकर उसे शिविर में चारों ओर घुमवाता। और यदि मार्ग के संकीर्ण होने के कारण खेती अनिवार्य रूप से नष्ट हो जाती तो वह अमीरों को पड़ताल करनेवालों के साथ भेजता और नष्ट हुई खेती की नाप कराता और किसान को नकद धन देकर क्षतिपूर्ति करता। यदि वह शत्रु के देश में प्रवेश करता तो वह उस देश के किसानों को न दास बनाता और न लूटता और न उनकी खेती ही उजाड़ता। उसका कहना था, "किसान निर्दोष हैं। वे जो

शक्तिशाली होते हैं उन्हीं की आज्ञा मानते हैं और यदि मैंने उनका उत्पीड़न किया तो वे गाँव छोड़कर चले जायँगे और देश ऊजड़ तथा बरबाद हो जायगा और फिर से समृद्ध होने में उसे बहुत समय लगेगा।'

दान—'उसका भोजनालय बहुत विशाल था, उसमें प्रतिदिन कई हजार घुड़सवारों तथा भिक्षा अनुयायियों को भोजन मिलता था और सम्राट ने एक सामान्य आज्ञा दे रखी थी कि यदि किसी सैनिक, धार्मिक व्यक्ति अथवा किसान को भोजन की आवश्यकता हो तो उसे सम्राट के भोजनालय से खाना खिलाया जाय और भूखों न मरने दिया जाय। भोजन पर प्रतिदिन ५०० सोने की अशर्फियाँ व्यय होती थीं। शेरशाह बहुधा कहा करता था, "राजाओं का कर्तव्य है कि इमामों को अनुदान दें क्योंकि हिन्द के नगरों की समृद्धि तथा जनसंख्या इमामों तथा धार्मिक व्यक्तियों पर ही निर्भर है और जो अध्यापक यात्री तथा अभावग्रस्त लोग राजा के पास नहीं आ सकते वे अनुदान प्राप्त व्यक्तियों से सहायता पाकर उसकी प्रशंसा करेंगे और इससे यात्रियों तथा गरीबों को सुविधाएँ मिलती हैं और विद्या कला तथा धर्म का प्रसार होता है; जो व्यक्ति चाहता है कि ईश्वर मुझे महान् बनाये उसे चाहिये कि उलेमा को तथा धार्मिक लोगों को भोजन कराये जिससे उसे इस संसार में यश तथा परलोक में आनन्द मिले।"

भवन—प्रोफेसर कानूनगो लिखते हैं, 'शेरशाह ने साम्राज्य रूपी भवन के उपयोगी ही नहीं वरन् अलंकारिक पक्ष पर भी अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ी। सासराम में स्थित उसका मकबरा दर्शक को उसके साम्राज्य के वैभव का स्मरण दिलाता है,—कठोर होने पर भी वह लालित्यपूर्ण है, अत्यधिक मुस्लिम होते हुए भी भीतर से हिन्दू है।" वी. ए. स्मिथ ने कहा है, 'सासराम में शेरशाह की समाधि जो एक ऊँचे चबूतरे पर सरोवर के बीच में स्थित है योजना तथा सौन्दर्य की दृष्टि से भारत की सर्वोत्कृष्ट इमारत है और वैभव तथा ओज में उत्तरी प्रान्तों के पहले के भवनों में अनुपम है। कनिंघम को तो वह ताज से भी कुछ-कुछ अधिक अच्छी लगी थी। इसका गुम्बज बीजापुर के गोलगुम्बज के बराबर न होते हुये भी १३ फीट का और ताज के से चौड़ा है। बाहरी स्थापत्य पूर्णतया मुस्लिम शैली का है किन्तु भीतरी द्वारों पर हिन्दू ढंग के गर्डरों तथा डाटों का का प्रयोग किया गया है जैसा कि जौनपुर में। इस शैली को हम तुगलक इमारतों की कठोरता तथा ताज के स्त्रियोचित लालित्य के बीच की शैली कह सकते हैं।" हेवेल को इसमें शेरशाह के व्यक्तित्व तथा चरित्र की छाप दिखाई दी; "यद्यपि अपने धर्म के अनुसार वह अपनी मनचाही की हुई मूर्ति नहीं बनवा सकता था फिर भी इस मुस्लिम सम्राट ने अपने अन्तिम विश्रामस्थान की योजना बनाने में इतनी रुचि दिखाई कि अनजाने उसने उसमें अपना ही चरित्र पिंडीभूत कर दिया और शिल्पियों ने उसे उसी के अनुरूप बना दिया।"

शेरशाह कहा करता था,' यदि मेरा जीवन काफी लम्बा हुआ तो मैं

प्रत्येक सरकार में उपयुक्त स्थान पर एक किला बनवाऊँगा, जहाँ संकट के समय त्रस्त लोग शरण ले सकें और जिससे विद्रोहियों पर नियंत्रण रक्खा जा सके; और मैं सभी कच्ची सरायों को पक्का करवा रहा हूँ जिससे उनके द्वारा मार्गों की रक्षा तथा देख-भाल हो सके।" इसलिये उसने काश्मीर तथा गक्करों के देश पर नियन्त्रण रखने के लिये लाहौर से ६० मील की दूरी पर, खुरासान के मार्ग में रोहतास का किला बनवाया तथा उसकी अत्यधिक सुदृढ़ किलेबन्दी की इससे पहले अन्य किसी स्थान की ऐसी किलेबन्दी नहीं की गई थी; और इस कार्य पर बहुत धन-राशि व्यय की गई। शेरशाह के उसका नाम 'छोटा रोहतास' रक्खा।

'दिल्ली का पुराना नगर यमुना से दूर था, शेरशाह ने उसे नष्ट करके यमुना के किनारे पुनः बनवाया और नये नगर में दो किले बनवाये जो पर्वत के समान सुदृढ़ तथा उससे भी अधिक ऊँचे थे, छोटा किला सूबेदार के रहने के लिये था और दूसरा उसकी रक्षा के लिये और समस्त नगर के चारों ओर से घेरे हुए था; सूबेदार के किले में उसने एक पत्थर की जामा मस्जिद का निर्माण कराया और उसको सजाने में बहुत-सा सोना, वैदूर्य मणियाँ तथा अन्य बहुमूल्य सामान व्यय किया गया। किन्तु नगर के चारों ओर की किलेबन्दी शेरशाह की मृत्यु तक पूरी नहीं हो सकी। उसने भारत के प्राचीन राजाओं की राजधानी कन्नौज के पुराने नगर को भी नष्ट कर दिया और उसके स्थान पर पक्की ईंट का एक किला बनवाया; और जिस स्थान पर उसे विजय प्राप्त हुई थी वहाँ उसने एक नगर बसाया और दूसरा नाम शेर सूर रक्खा। पुराने नगर को नष्ट करने का कोई सन्तोषजनक कारण मेरी समझ में नहीं आता।' (अब्बास सरवानी)

'जिस दिन शेरशाह सिंहासन पर बैठा उस दिन से किसी को उसका विरोध करने का साहस न हुआ, न किसी ने उसके विरुद्ध विद्रोह अथवा उपद्रव का झंडा खड़ा किया, न उसके राज्योद्यान में हृदय में चुभनेवाला कोई काँटा ही उत्पन्न हुआ, न कोई ऐसा अमीर, सैनिक, चोर अथवा डाकू ही हुआ जो दूसरों की सम्पत्ति को बेईमानी की दृष्टि से देखता; और न उसके राज्य में कोई चोरी अथवा डकैती हुई। शेरशाह के शासन काल में यात्रियों तथा पथिकों को अपनी रक्षा के लिये पहरा देने का कष्ट नहीं करना पड़ता था, और न उन्हे रेगिस्तान के बीच तक में ठहरने में डर लगता था, जमींदार लोग इस भय से उन पर पहरा दिया करते थे कि यदि इनको कोई हानि हो गई तो हमें भरना पड़ेगा अथवा उसके बदले में गिरफ्तार होना पड़ेगा। शेरशाह के शासन-काल में कोई दुर्बल बूढ़ी स्त्री सोने के आभूषणों की टोकरी सिर पर रखकर यात्रा कर सकती थी, सम्राट के दण्ड के भय से किसी चोर अथवा डाकू का उसके पास आने का साहस न पड़ता। संसार में ऐसा प्रताप छा गया कि दुर्बल मनुष्य रुस्तम से भी नहीं डरता था। उसके समय में समस्त हिन्दुस्तान तथा रोह के देशों में अफगानों के स्वाभाविक झगड़े, लड़ाई, कलह

तथा उपद्रव पूर्णतया शान्त तथा बन्द हो गये। बुद्धि तथा अनुभव में शेरशाह दूसरा हैदर था। अल्प काल में ही उसने देश का राज्य प्राप्त कर लिया, राज मार्गों को सुरक्षित बना दिया, सरकार का प्रशासन स्थापित कर दिया और जनता तथा सैनिकों को सुख तथा शान्ति प्रदान की। ईश्वर पुण्य कार्यों का देखनेवाला है।'

इस प्रकार अब्बास सरवानी ने शेरशाह का वृत्तान्त समाप्त किया है। इसमें हम कुछ आधुनिक लेखकों के मूल्यांकन भी जोड़ दें।

शेरशाह के कुछ आधुनिक मूल्यांकन

ई० बी० हैवेल—"शेरशाह ने सैनिक तथा असैनिक दोनों ही विषयों में अद्भुत संगठन शक्ति का परिचय दिया। अपने अथक परिश्रम से तथा प्रशासन की छोटी से छोटी बातों की ओर निजी ध्यान देकर पाँच वर्ष के अल्प काल में ही उसने समस्त हिन्दुस्तान में कानून तथा व्यवस्था की स्थापना कर दी। इसमें सन्देह नहीं कि रैयत जो दीर्घ काल से कष्ट भोगती आई थी और जो स्वभाव से ही नियमों का पालन करने की अभ्यस्त थी, अपेक्षाकृत शान्ति के कुछ समय तथा अन्धाधुन्ध लूट से रक्षा के लिये इस लौह पुरुष अफगान की बड़ी कृतज्ञ थी, यद्यपि कभी कभी वह उस बीते हुए स्वर्ण युग का स्मरण करके आहें भरती होगी जब शूद्र भी स्वतन्त्र आर्य थे और जब पाँच भारतों का महाराजाधिराज भी पंचायतों के नियमों का सम्मान करता था।

विलियम एर्सकाइन—'उसने केवल अपनी प्रतिभा से सिंहासन प्राप्त कर लिया और जिस उच्च पद पर पहुँच गया अपने को उसके सर्वथा योग्य सिद्ध कर दिया। बुद्धि में, ठोस सूझ-बूझ तथा अनुभव में, अपने सिविल तथा असैनिक प्रशासन में और सैनिक चतुराई में वह भारत पर शासन करनेवाले अपनी जाति वालों में सर्वश्रेष्ठ था। ; अकबर से पहले अन्य कोई शासक ऐसा नहीं था जिसमें व्यवस्थापक तथा प्रजा हितैषी की इतनी भावना रही हो जितनी कि शेरशाह में।

एच० जी० कीन—'उसने अपना अल्प शासन काल एकता स्थापित करने में लगाया जिसकी देश में बहुत पहले से आवश्यकता अनुभव हो रही थी। सच्चा मुसलमान होते हुये भी उसने अपनी हिन्दू प्रजा का कभी उत्पीड़न नहीं किया। उसकी उन्नति उसकी प्रजा की समृद्धि का कारण हुई न कि नाश का जैसा कि भारत में बहुधा हुआ करता है।' यह प्रसन्नता की बात थी कि लूट तथा भर्त्सना की दीर्घ परम्परा टूट गई और शेरशाह के कार्यों की उसके शत्रुओं ने भी, जिन्होंने उसकी मृत्यु के बाद तथा उसके वंश के लुप्त हो जाने के उपरान्त लिखा, भूरि भूरि प्रशंसा की है।'

वी० ए० स्मिथ—"शेरशाह केवल भयंकर अफगानों के झुण्ड का योग्य नेता मात्र न था। स्थापत्य में उसे रुचि थी, जिसकी अभिव्यक्ति बिहार में स्थित सासराम के सुन्दर मकबरे में हुई जिसका उसने अपने लिये निर्माण कराया।... उसने असैनिक प्रशासन तथा संस्थाओं के सुधारों में भी योग्यता का परिचय दिया; कुछ सीमा तक वे अलाउद्दीन की संस्थाओं पर आधारित थे और अकबर ने आगे चलकर उनका और भी अधिक विकास किया।.... उसने मुद्रा में भी सुधार किये, चाँदी के बहुत से सिक्के चलाये जो बनावट तथा सफाई में बहुत श्रेष्ठ थे। पाँच वर्ष के तूफानी शासन काल में उसने बहुत कुछ कर दिखाया। यदि शेरशाह कुछ और जीवित रहता तो अपने वंश को दृढ आधार पर खड़ा कर जाता और 'महान् मुगलों' को इतिहास के रंग मंच पर प्रकट होने का अवसर न मिलता।"

कालिका चरण कानूनगो—"शेरशाह के राज्यारोहण के साथ-साथ उदार इस्लाम का वह युग प्रारम्भ हुआ जो औरंगजेब के शासन की प्रतिक्रिया के समय तक चलता रहा।...... यह कहना अनुचित न होगा कि अकबर नहीं बल्कि शेरशाह प्रथम व्यक्ति था जिसने भारतीय राष्ट्र के निर्माण का प्रयत्न किया।.... उसकी प्रशासन-प्रतिभा का कार्य उसके वंश के साथ लुप्त नहीं हुआ बल्कि सम्पूर्ण मुगल काल में विद्यमान रहा, साम्राज्य के अधिक विस्तृत हो जाने से उसमें कुछ थोड़े से परिवर्तन अवश्य करने पड़े थे। वह हमारी वर्तमान प्रशासन व्यवस्था का भी आधार है। ब्रिटिश भारत का आधुनिक मजिस्ट्रेट (दण्डाधीश) तथा कलक्टर शेरशाह के शिकदारे-शिकदारान का और तहसीलदार आमिल अथवा अमीन का उत्तराधिकारी है।.....राजस्व तथा मुद्रा-प्रणालियाँ जो थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक चलती रहीं, अकबर की नहीं बल्कि शेरशाह की कृतियाँ थीं।"

शेरशाह की मुद्रा-प्रणाली—"शेरशाह का शासन-काल भारतीय मुद्रा के इतिहास का महत्त्वपूर्ण युग है, टकसाल में ही निश्चित सुधार नहीं किये गये बल्कि पूर्व सुलतानों के समय में मुद्रा-प्रणाली में जो उत्तरोत्तर अवनति होती आई थी उसे भी ठीक किया गया और इन अनेक सुधारों को बाद में मुगलों ने अपना वतलाया।"*

"शेरशाह को ही इस बात का श्रेय है कि उसने वह परिष्कृत मुद्रा-प्रणाली स्थापित की जो सम्पूर्ण मुगल काल में चलती रही, जिसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने १८३५ ई० तक कायम रखा और जो वर्तमान ब्रिटिश मुद्रा-प्रणाली का आधार है। उसने मिश्रित धातु की असुविधापूर्ण मुद्रा हटा दी और सोने, चाँदी तथा ताँबे के सुन्दर बनावट के सिक्के चलाये, जिनका भार तथा परिष्कार दोनों ही

*टामस. Chronicles of the Pathan Kings, पृष्ठ ४०३।

सुनिश्चित थे। उसके रुपये का भार १८० ग्रेन था और उसमें १७५ ग्रेन शुद्ध चाँदी थी और इस प्रकार यह लगभग आधुनिक रुपये के बराबर था, उस पर बहुधा अरबी लेखों के साथ राजा का नाम देवनागरी लिपि में लिखा रहता था।"*

'उसके सिक्कों से उस मुक्ति गति का भी पता चलता है जिससे उसने देशों को जीता तथा व्यवस्थित किया। ऐसा प्रतीत होता है कि विजयी सेनाओं के पीछे पीछे भूमि की पड़ताल, सड़कों के निर्माण तथा टकसालों की स्थापना का काम साथ साथ होता जाता था।"†

शेरशाह के उत्तराधिकारी

शेरशाह के उत्तराधिकारियों के संक्षिप्त इतिहास का बहुत कम महत्व है। उससे केवल उस स्थिति का स्पष्ट पता लगता है जिसके कारण हुमायूँ अपनी खोई हुई विरासत को पुनः प्राप्त करने में सफल हो सका किन्तु इस अफगान घटना का इसलिये मूल्य है कि उससे हमें वह शिक्षा सारांश रूप में मिल जाती है जो मुगल साम्राज्य के इतिहास में विस्तार से उपलब्ध होती है। जैसा कि कीनी ने लिखा है, 'निरंकुश राजतन्त्र का यह दुर्भाग्य होता है कि सर्वश्रेष्ठ शासक भी निश्चयपूर्वक योग्य उत्तराधिकारियों को उत्पन्न नहीं कर सकते।" शेरशाह का प्रमुख उन शक्तियों ने धारण किया जो जन्म से ही उस शक्ति का उपभोग करने के लिये उत्पन्न हुए थे, जिसे प्राप्त करने में उन्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ा था। जैसा कि हम देख चुके हैं, शेरशाह ने अनेक बार कहा था कि अफगानों ने अपनी पारस्परिक कलह के कारण राज्य खोया है। जब अफगानों को नियन्त्रण में रखने वाला पराक्रमशील व्यक्ति उठ गया तो उनकी झगड़ालू प्रवृत्तियाँ फिर उभर पड़ीं। शेरशाह के पुत्र सलीमशाह का सम्पूर्ण शासन काल कुचक्रों तथा निरर्थक झगड़ों में ही नष्ट होगया। नवम्बर १५५४ ई० में उसकी मृत्यु होगई, उसके पुत्र का शीघ्र ही वध कर दिया गया और अराजकता की शक्तियाँ सक्रिय हो उठीं। "देशी मुसलमान इतने झगड़ालू तथा निकम्मे हो गये कि राज्य की बागडोर हेमू नामक हिन्दू मन्त्री के हाथ में चली गई।

सलीमशाह सूर—'तारीखे दाऊदी' का रचयिता अब्दुल्ला लिखता है—"अकबरशाही में लिखा है कि जब कालिंजर में शेरशाह ने मृत्यु के दूत को अपना जीवन अर्पण कर दिया　　　तो अमीरों ने देखा कि आदिल खाँ (शेरशाह का सबसे बड़ा पुत्र) शीघ्रता से न आ सकेगा (रणथम्भौर से) और चूँकि राज्य को एक प्रमुख की आवश्यकता थी इसलिये उन्होंने जलाल खाँ को जो निकट ही था (भाटा प्रान्त में रीवाँ स्थान पर) बुलाने के लिये एक आदमी भेज दिया।

*वी० ए० स्मिथ Imperial Gazetteer of India भाग २, पृष्ठ १४५-४६।
†कानूनगो: Sher Shah, पृष्ठ १८१।

पाँच दिन में वह कालिञ्जर जा पहुँचा और ईसा हज्जाब तथा अन्य अमीरों की सहायता से रबी-उल-अव्वल ६५२ हिज्री की १५ तारीख (२५ मई १५४५ ई०) को कालिञ्जर के किले के निकट सिंहासन पर बैठ गया। उसने इस्लामशाह की उपाधि धारण की।

अब्दुल्ला आगे लिखता है, 'सिंहासन पर बैठने के उपरान्त उसने शेरशाह के अध्यादेशों के सम्बन्ध में पूछ ताछ की, उनमें से कुछ को उसने पूर्ववत रहने दिया और शेष को अपने विचारों के अनुसार बदल दिया।' एल्फिंस्टन लिखते हैं कि अपने पिता की भाँति उसने भी सुधार किये "किन्तु कानूनों में नहीं बल्कि सार्वजनिक उपयोगी कामों में।" अन्य लेखकों का मत है कि "उसके नियम मूर्खतापूर्ण तथा निरर्थक थे और उनका उद्देश्य केवल अपने पिता की नीति को बदलना तथा अपने लिये व्यवस्थापक के रूप में यश प्राप्त करना था। इस्लामशाह संसार को दिखाना चाहता था कि मुझ में भी 'अपनी कड़क' है।" किन्तु उसके इन सुधारों तथा नियमों के वर्णन से उनकी उपयोगिता अपने आप स्पष्ट हो जायगी। बदायूनी जिसका एक उद्धरण नीचे दिया गया है, लिखता है, 'ये नियम सलीम-शाह के शासन के अन्त तक प्रचलित रहे और इस इतिहास (तारीखे-बदायूनी) के रचयिता ने जब वह अल्पवयस्क था, ६५५ हिज्री में वह दृश्य देखा जिसका ऊपर वर्णन है, वह अपने नाना (ईश्वर उस पर दया करे) के साथ फरीद खाँ के शिविर में गया था, जो ५,००० घुड़सवारों का अध्यक्ष था और जिसने बजवाड़ा में जो बयाना का अधीन जिला था, अपने तम्बू गाड़ रक्खे थे।'

'अपने शासन के प्रारम्भ में सलीमशाह ने आज्ञा निकाली कि शेरशाह की सरायें दो-दो मील की दूरी पर हैं, जनता की सुविधा के लिये उनके बीच-बीच में उसी प्रकार की एक एक और बनवा दी जाय, उनके साथ एक एक जलाशय तथा मसजिद भी लगी हो और पानी के घड़े तथा कच्चा और पक्का भोजन हिन्दू और मुसलमान यात्रियों के सत्कार के लिये सदैव तैयार रक्खा जाय। अपनी एक आज्ञा में उसने कहा कि शेरशाह ने हिन्दुस्तान में जो मदद-माश तथा आईमा दिये हैं और जो सरायें बनवाई तथा बाग लगवाये हैं उनको पूर्ववत रक्खा जाय और उनकी सीमाओं में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो। भारत की प्रचलित प्रथा के अनुसार अमीर लोग अपने दरबार में बहुत-सी नर्तकियाँ रक्खा करते थे, उन सबको उसने छीन लिया। उसने उनके सब हाथी भी ले लिये और केवल सामान ढोने के लिए एक-एक हथिनी उनके पास छोड़ दी। यह भी नियम जारी किया गया कि लाल तँबुओं का प्रयोग केवल सम्राट के लिये ही किया जाय। सैनिकों को जो जागीरें मिली हुई थीं उन्हें उसने वापस ले लिया और राज्य के प्रबन्ध में रख दिया और बदले में शेरशाह द्वारा निश्चित की गई दर के अनुसार सबके नकद वेतन निश्चित कर दिये। प्रत्येक जिले में उचित अधिकारी द्वारा गश्ती आज्ञायें भेजी गईं जिनमें धार्मिक, राजनैतिक तथा वित्तीय विषयों पर अत्यन्त विस्तृत नियम दिये हुए थे, और जिनमें केवल सेना ही नहीं बल्कि किसानों, व्यापारियों

तथा अन्य पेशे के लोगों के लिये भी नियम थे और जो राजकीय अधिकारियों का पथ प्रदर्श न करने के लिये थे, चाहे वे इस्लामी नियमों के अनुसार थे अथवा नहीं; इस आशा से इन विषयों पर काज़ियों तथा मुफ्तियों से परामर्श करने की आवश्यकता नहीं रही।'

प्रशासन का रूप—सलीमशाह के प्रशासन का सबसे अच्छा वर्णन 'तारीखे-दाऊदी' के लेखक ने किया है। अब्दुल्ला लिखता है, 'सहृदय भावुक, सज्जन और प्रभुत्व तथा विजय की महत्वाकांक्षा में इस्लामशाह अपने पिता के समान था। सिंहासन पर बैठने के दिन उसने दो मास का नकद वेतन अपने सैनिकों में बँटवा दिया: इसमें से एक महीने का इनाम के रूप में और शेष भत्ते के रूप में दिया गया। उसने अपने राज्य के प्रान्तों की सभी जागीरें वापिस ले लीं और बदले में उनके उपभोक्ताओं को राज कोष से नकद पेंशनें दे दी गई। जिन लोगों को शेरशाह के समय में वृत्तियाँ मिली हुई थीं उन्हें भूमि तथा परगने दे दिये गये। शेरशाह के समय में शाही शिविर में दरिद्रों को सदावर्त बाँटने के लिये सदैव एक स्थान निश्चित रहता था। इसके स्थान पर इस्लामशाह ने आज्ञा निकाली कि सरायों में ही दान देने का प्रबन्ध किया जाय और दरिद्र यात्रियों को उनकी आवश्यकता की चीज़ें दी जायँ और फकीरों को दैनिक भत्ता मिले, जिससे वे शान्त तथा सन्तुष्ट रहें। जब वह राजकुमार था उसके पास ६,००० घुड़सवार थे; अब उसने उन सबकी तरक्की कर दी। उसने सिपाहियों को अधिकारी तथा अधिकारियों को अमीर बना दिया। इस्लामशाह के इन नियमों से शेरशाह के नियमों का पालन बन्द हो गया। इससे शेरशाह के समय के अनेक प्रमुख अमीरों को बहुत असन्तोष हुआ, उन्होंने समझा कि ये हमें अपमानित करने के लिये बनाये गये हैं और इसलिये वे इस्लामशाह के प्रति द्वेष भाव रखने लगे। उधर वह स्वयम् उनकी ओर से शंकित था इसलिये मुख्य अमीरों तथा राजा के बीच जो सम्बन्ध थे उनका रूप बदल गया।

विद्रोह तथा उपद्रव—'इस्लामशाह विश्वासघाती शासक था और स्वभाव से ही उसमें बदला लेने की प्रवृत्ति थी। जब शक्ति उसके हाथ में आ गई तो उसने अपने बड़े भाई आदिल खाँ के प्रति, जिसे शेरशाह का युवराज नामनिर्दिष्ट किया गया था, कपटपूर्ण भक्ति का प्रदर्शन किया किन्तु आदिलशाह को सुख और आराम से प्रेम था इसलिये वह अपनी बयाना की जागीर को जो उसे दे दी गई थी, चला गया। फिर भी इस्लामशाह ने उसे पकड़वाने का प्रयत्न किया। फरिश्ता लिखता है 'आदिलशाह को इसकी समय पर सूचना मिल गई इसलिये वह मेवात भाग गया जहाँ उस समय खावस खाँ रहता था और नेत्रों में आँसू भर कर उस अमीर के सामने अपने भाई की नीचता का वर्णन किया। खावस खाँ के सम्मान का प्रश्न था, इसलिये उसकी क्रोधाग्नि भड़क उठी उसने गाज़ी महली (इस्लामशाह का दूत) को पकड़ लिया और खुले रूप से विद्रोह कर दिया। खावस खाँ का चरित्र इतना उच्च कोटि का था कि उसने दरबारी अमीरों

को पत्र लिख कर उनमें से अनेक का समर्थन प्राप्त कर लिया और आदिल खाँ को साथ लेकर आगरे की ओर चल पड़ा।••• ••(किन्तु) यद्यपि उसके सैनिकों ने वीरतापूर्वक युद्ध किया फिर भी सलीमशाह ने उसे पराजित कर दिया। इस युद्ध के उपरान्त आदिल शाह पहले पटना को भाग गया, किन्तु शीघ्र ही लुप्त हो गया और उसके बारे में फिर कभी कुछ नहीं सुना गया, विद्रोही अमीरों ने भाग कर कुमायूँ की पहाड़ियों में शरण ली, किन्तु केवल थोड़े समय के लिये।

'इन घटनाओं के बाद इस्लामशाह अपने अमीरों का अविश्वास करने लगा और उनकी शक्ति को कुचलने का उपाय सोचने लगा। कुछ को उसने कारागार में डलवा दिया और शेष की सम्पत्ति छीन ली। उसने अपने भतीजे, आदिल खाँ के पुत्र महमूद खाँ को भी नियन्त्रण में रख दिया और पहले कुतुब खाँ सूर को फिर बरमजीद सूर, जलाल खाँ सूर तथा जैन खाँ न्याजी को नष्ट कर दिया। उसने जलाल खाँ सूर तथा उसके भाई को हाथी के पैरों से बाँध कर मरवा डाला, और तत्पश्चात् पूर्वोक्त अमीरों को हाथी पर बिठला कर शिविर में घुमवाया। शेरशाह के अमीरों के हृदयों में भय तथा आतंक छा गया। इसके बाद उसने अनेक दूसरे अमीरों का वध करवा दिया जिनमें खावस खाँ भी जिसे मसनद अली की उपाधि प्राप्त थी, सम्मिलित था, एक साधारण बहाना ढूँढ कर उसे खूँटों पर ठुकवा दिया गया। दीर्घकाल तक वह अपनी सम्पूर्ण प्रजा को दुःख पहुँचाता रहा और ईश्वर के सेवकों को कष्ट देता रहा, किन्तु अपने शासन के अन्त में उसने अपनी प्रजा के साथ उदारता तथा दयालुता का व्यवहार किया।'

ऊपर हम जो कुछ लिख आये हैं, वह सलीमशाह के प्रशासन के रूप को स्पष्ट करने को पर्याप्त है। अन्य विद्रोह तथा उपद्रव भी हुए, विशेषकर आजम हुमायूँ के नेतृत्व में नियाजियों का और सुल्तान आदम गक्कर (जिसने कामरान को हुमायूँ के सुपुर्द कर दिया था) की अधीनता में गक्करों का। अन्त तक सलीमशाह इन उपद्रवों को दबाने में लगा रहा। इन संकटपूर्ण वर्षों में अनेक बार उसकी हत्या का भी प्रयत्न किया गया। 'कुछ अमीर मुबारिजखाँ को (जिसे अदली की उपाधि मिली हुई थी) सिंहासन पर बिठलाना चाहते थे।' जैसा कि विद्रोही नियाजियों ने कहा : "किसी को राज्य उत्तराधिकार में नहीं मिलता, वह उसी का होता है जो उसे तलवार द्वारा प्राप्त कर सकता है।" इस्लामशाह को इन लोगों के राजद्रोह का पता लग गया और उसने तुरन्त ही उन सबको एक स्थान पर एकत्र करके दण्ड देने का प्रयत्न किया। अमीरों को उसके विचारों की सूचना मिल गई और वे इकट्ठे हुये तथा करार किया कि हम सब एक साथ दरबार में उपस्थित नहीं होंगे बल्कि एक-एक करके जायँगे। इस्लामशाह दिन-रात यही सोचा करता और योजना बनाता कि किस प्रकार इन सबका बध कर पाऊँ, किन्तु विधाता का विधान मानवीय इच्छाओं के अनुसार नहीं बदलता, और वह शीघ्र ही बीमार होकर ग्वालियर के किले में चारपाई पर पड़ गया।••••••'उसने (अपनी पत्नी) बीबी बाई को बुलाया और कहा, "शासन की बागडोर अब भी मेरे हाथों में है, अभी मैंने कुछ भी नहीं

आया है। यदि तुम चाहती हो कि मेरे उपरान्त तुम्हारा पुत्र शासन करे तो मुझे बतलाओ मैं तुम्हारे भाई मुबारिज़खाँ को मरवा डालूँगा।" इस पर बीबी बाई रोने लगी। इस्लामशाह ने कहा 'तुम्हीं सबसे अच्छा समझती हो।

और फिर जैसे ही वह बोल रहा था सहसा पलक मारते ही उसके प्राण पखेरू उड़ गये और ९६१ हिजरी में (नवम्बर १५५४) उसने परलोक को प्रयाण किया।

अनेक सैनिकों को राजा की बीमारी का समाचार नहीं मिला था, इसलिये उसकी अप्रत्याशित मृत्यु की सूचना पाकर वे सब घबड़ा गये और बहुत दुःखी हुए क्योंकि इससे उनके सभी कामों में गड़बड़ पड़ गई। उसका शव ग्वालियर से सासराम ले जाकर, उसके पिता के निकट दफना दिया गया।

फिरोजशाह सूर—बाद की घटनाओं का फरिश्ता इस प्रकार वर्णन करता है—सलीमशाह के उपरान्त उसका पुत्र फीरोज़ जिसकी अवस्था उस समय केवल ११ वर्ष की थी उत्तराधिकारी हुआ और सूर जाति के अमीरों ने ग्वालियर में उसे सिंहासन पर बिठला दिया। वह तीन दिन भी शासन न कर पाया था कि निज़ामखाँ सूर (शेरशाह का छोटा भाई) के पुत्र मुबारिज़खाँ ने जो स्वर्गीय शेरशाह का भतीजा तथा इस्लामशाह का बहनोई था युवक सम्राट्-की हत्या करदी और स्वयं सिंहासन पर बैठ गया तथा मुहम्मद आदिलशाह की उपाधि धारण की। सलीमशाह की मृत्यु के तीसरे दिन मुबारिज़खाँ ने रनिवास में प्रवेश किया और उस अभागे सम्राट् को अपनी बहिन बीबी बाई की गोदी से छीन कर अपने हाथों से उसका वध कर दिया।' जब कभी उसके पति ने कहा था कि मुबारिज़खाँ राजकुमार के लिये घातक सिद्ध होगा; इसलिये इसे हटा देना ही अच्छा है तब उसने उत्तर दिया था 'मेरा भाई भोग विलास तथा आमोद प्रमोद का इतना प्रेमी है कि वह अपने ऊपर राजपद की चिन्ताओं का भार नहीं लेगा।' किन्तु विधाता का विधान मनुष्य की इच्छाओं के अनुसार नहीं बदलता।

तीन राजा

महमूदशाह अदली—मुबारिज़ अपने भानजे की हत्या करके मुहम्मद आदिलशाह के नाम से शेरशाह के सिंहासन पर बैठा। किन्तु शीघ्र उसके चरित्र ने उसकी उपाधि आदिल (न्यायी) को जिसे उसने स्वयं धारण किया था पहले अदली (मूर्ख) में और फिर अन्धली (अन्धा) में परिवर्तित कर दिया। एर्स्किन लिखते हैं 'उसका चरित्र ऐसा नहीं था कि लोग उसके पाप को भूल जाते वह पूर्णरूप से मूर्ख तथा निकृष्ट व्यभिचार तथा नीच लोगों की संगति का शौकीन था और जितना वह अपने दुर्व्यसनों के कारण घृणास्पद था उतना ही अपनी अयोग्यता के कारण। फरिश्ता से एक उद्धरण देना उपयुक्त होगा:— 'उसने पूर्ववर्ती सुलतानों की, विशेषकर, मुहम्मद तुगलक की दानशीलता की

प्रशंसा सुन रक्खी थी और भ्रमवश अपव्ययता को वह उदारता समझता था, इसलिये उसने अपना कोष खोल दिया और बिना भेदभाव के सभी स्थिति के लोगों में धन लुटाया। जब उसकी सवारी निकलती तो वह भीड़ में सोने से मढ़ी हुई नोकों के वाण फेंकता जो बाज़ार में दस बारह रुपये में बिक जाते। इस घोर अपव्ययता का परिणाम यह हुआ कि पूर्वाधिकारियों से प्राप्त खज़ाने में कुछ भी न बचा।' जब उसके पास अपना कुछ भी रहा तब उसने अपने अमीरों के पद तथा जागीरें छीन लीं और अपने प्रियजनों में बाँट दी, 'उनमें से एक हिन्दू दूकानदार हेमू था जिसको उसके पूर्वाधिकारी सलीमशाह ने बाजारों का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया था; उसे उसने प्रशासन का समस्त भार सौंप दिया। उधर राजा, जो कुछ हो रहा था उसकी चिन्ता न करते हुए, अपने रनिवास में अतिशय विलासपूर्ण जीवन में समय नष्ट करता रहा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अफगान अमीर उसके शत्रु हो गये और उसकी हत्या का षडयन्त्र रचा तथा उसकी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। प्रजा की दृष्टि में उसका आचरण दिन प्रतिदिन घृणित होता गया और राजकाज की नियमबद्धता पूर्ण-रूपेण लुप्त हो गई।'

इब्राहीमखाँ सूर—इन अराजकतापूर्ण परिस्थितियों में अधिक महत्वाकांक्षी अमीरों तथा राजकुमारों ने अपना अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उदाहरण के लिये, ताजखाँ किरानी ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि "राजदरबार की स्थित इतनी विषम हो गई है कि मैंने अपने भाग्य का निर्माण करने का संकल्प कर लिया है।" उसके विद्रोह के कारण राजा को स्वयं रणक्षेत्र में उतरना तथा उसका पीछा करने के लिए चुनार जाना पड़ा। इस अवसर से लाभ उठाकर राजा के चचेरे भाई तथा बहिनोई इब्राहीमखाँ ने 'एक विशाल सेना एकत्र कर ली और दिल्ली नगर पर अधिकार करके सिंहासन पर बैठ गया तथा राज-चिह्न धारण कर लिए। वहाँ से उसने आगरा की ओर प्रस्थान किया और प्रान्तों पर अधिकार कर लिया।......जब महमूदशाह अदली को सब लोगों ने धोखा दिया और उसका साथ छोड़ दिया तो उसने भागकर चुनार में शरण ली और पूर्वी प्रान्तों की सरकार से ही सन्तोष कर लिया, साम्राज्य का पश्चिमी भाग इब्राहीमखाँ के ही अधिकार में रहा।

सिकन्दरशाह सूर—जैसे ही इब्राहीमखाँ दिल्ली के सिंहासन पर बैठा वैसे ही पंजाब में अहमदखाँ नामक राजकुमार के रूप में उसका एक प्रतिद्वन्द्वी उठ खड़ा हुआ, वह शेरशाह का दूसरा भतीजा था और उसकी बहिन महमूदशाह अदली को ब्याही थी। अहमदखाँ की सहायता हैबातखाँ तथा अन्य सरदारों ने की जिन्हें स्वर्गीय सलीमशाह ने अमीर बनाया था, उसने सिकन्दरशाह की उपाधि धारण की और दस-बारह हजार घुड़सवार लेकर आगरा की ओर चल पड़ा तथा नगर से बीस मील की दूरी पर फर्रा नामक स्थान पर तम्बू गाड़ दिये।

हुमायूँ ने ५०००० अश्वारोही सेना लेकर उसका सामना किया किन्तु फिर भी परास्त हुआ। तब वह राजधानी छोड़कर भाग गया तथा संभल में शरण ली, उधर सिकन्दरखाँ ने दिल्ली तथा आगरा दोनों पर अधिकार कर लिया। वह अधिक दिनों अपने सौभाग्य का उपभोग न कर पाया था कि हुमायूँ अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त करने के लिए पंजाब पर चढ़ आया। बाद की घटनाओं का हम पहले उल्लेख कर आये हैं। सरहिन्द में पराजित होकर सिकन्दर सिवालिक पहाड़ियों में भाग गया, वहाँ से भी निकाले जाने पर उसने बंगाल में शरण ली तथा राज्य की बागडोर अपने हाथों में ले ली किन्तु थोड़े ही समय उपरान्त उसकी मृत्यु हो गई।

सूरवंश का अन्त

जब सिकन्दर आगरे में सिंहासन पर बैठा तो उसने एक शानदार दावत दी और अमीरों को एकत्र करके निम्न भाषण दिया जिससे अफगानों में आशा की अन्तिम ज्योति जग उठी —

'मैं अपने को आप लोगों में से ही एक समझता हूँ अब तक मैंने सभी की भलाई के लिए कार्य किया है मैं किसी प्रकार की प्रधानता का दावा नहीं करता। बहलोल ने लोदी जाति को पद तथा ख्याति के शिखर पर पहुँचाया था शेरशाह ने सूर जाति को ऐश्वर्य प्रदान किया; और अब हुमायूँ मुगल जिसे अपने पिता के विजित देश विरासत में मिले थे हमें नष्ट करने तथा अपनी सरकार पुनः स्थापित करने के अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है। इसलिए यदि आप सच्चे हृदय से कार्य करें और अपने व्यक्तिगत झगड़ों तथा शत्रुता को भूल जायें तो अब भी हम अपना राज्य बनाये रख सकते हैं किन्तु यदि आप मुझे शासन के लिए अयोग्य समझते हो, तो अपने में से अधिक योग्य तथा बलशाली व्यक्ति को चुन लीजिए जिससे मैं भी उसके प्रति राजभक्ति की शपथ ले सकूं; मैं भरसक भक्ति के साथ उसका समर्थन करने का वचन देता हूँ और मैं इस बात का प्रयत्न करूँगा कि राज्य अफगानों के हाथ में बना रहे जिन्होंने अपने पराक्रम के द्वारा इतने दिनों उस पर अधिकार रखा है।" इसके उपरान्त अफगान सरदारों ने एक स्वर से उत्तर दिया हम सर्वसम्मति से आपको जो सम्राट शेरशाह के भतीजे हैं अपना वैध प्रभु स्वीकार करते हैं।' फिर सबने कुरान मँगाई और सिकन्दर की अधीनता में रहने तथा अपने में पूर्ण एकता बनाये रखने की शपथ खाई।

किन्तु जैसा कि फरिश्ता लिखता है थोड़े ही दिनों में सरदार लोग सरकारी उपाधियों तथा पदों के लिए विवाद करने लगे और फूट की लपटें फिर जल उठीं तथा पहले से भी अधिक भयंकर रूप में चमकने लगीं; परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे पर विश्वासघात का आरोप लगाने लगा, जब कि वह स्वयं उसका समान अपराधी था।

सूरवंश के अन्य सदस्यों को भी सिकन्दर से अधिक सफलता नहीं मिली। जिस समय वह मुगलों से युद्ध कर रहा था, उस समय अन्य सूरों ने शत्रु को निकालने के लिये मिलकर उसका साथ नहीं दिया बल्कि आपस में लड़ते रहे। इब्राहीम खाँ ने कालपी पर आक्रमण कर दिया और महमूदशाह अदली ने चुनार से अपने वजीर हेमू को एक सेना देकर जिसमें घोड़ों, हाथियों तथा तोपों की समुचित संख्या थी, साम्राज्य के पश्चिमी भागों पर पुनः अधिकार करने के लिये भेजा। हेमू ने कालपी में इब्राहीम शाह पर धावा बोल दिया और उसे परास्त किया, इब्राहीम ने भाग कर बयाना में अपने पिता (गाजी खाँ) के यहाँ शरण ली, हेमू ने उसका पीछा किया तथा उस नगर में तीन महीने तक घेर रखा। इसी बीच में बंगाल के शासक ने जो स्वयं सूर था अपनी सेना लेकर अदली के विरुद्ध कूच कर दिया, जिससे हेमू को शीघ्र ही लौटना पड़ा। इससे प्रोत्साहित होकर इब्राहीम ने फिर आगरा तक उसका पीछा किया किन्तु पुनः पराजित होकर बयाना को लौट गया। कुछ दिनों बुन्देलखण्ड में जो उस समय बाज़ बहादुर की अधीनता में स्वतन्त्र हो गया था, मारे-मारे फिरने के उपरान्त वह भाग कर उड़ीसा पहुँचा और वहीं अकबर के शासन-काल में कलंकपूर्ण मृत्यु को प्राप्त हुआ। बंगाल के मुहम्मदशाह सूर ने बुन्देलखण्ड में शरण ली किन्तु हेमू ने उसका पीछा किया तथा मार डाला। 'इस विजय के उपरान्त महमूदशाह अदली आगरा की ओर न बढ़ कर चुनार को लौट गया और हुमायूँ से लड़ने के लिए अधिक सेना एकत्र करने लगा, किन्तु शीघ्र ही उसे मुगल सम्राट की मृत्यु का समाचार मिला, इसलिए उसने हेमू को ५०,००० घुड़सवारों तथा ५०० हाथियों के साथ आगरा की ओर भेज दिया, किन्तु वह स्वयं चुनार छोड़ने का साहस न कर सका क्योंकि अफगानों के देशवासियों में कलह फैली हुई थी।' शेष कहानी का सम्बन्ध अकबर के शासन-काल से है। हेमू की पराजय तथा मृत्यु के उपरान्त महमूदशाह का भाग्य तेजी से डूबने लगा। बंगाल के अगले शासक खिज्रखाँ ने अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया और अदली के हाथों से पूर्वी प्रदेशों का अधिकांश छीन लिया और अन्त में उसे परास्त करके मार डाला।

शेरशाह ने अपनी नाटकीय सफलताओं के साथ जिस ऐश्वर्यपूर्ण तथा आशा-जनक युग का आरम्भ किया था, उसके सहसा तथा तेजी से अन्त होने के साथ-साथ देश में एक दुःखद तथा विनाशकारी दुर्भिक्ष भी पड़ा। बदायूँनी ने लोगों की, जो पहले ही निरन्तर युद्ध की अराजकतापूर्ण स्थिति के कारण घोर कष्ट भोग चुके थे, दुर्दशा का निम्नांकित वर्णन किया है —

'इसी समय पूर्वी प्रान्तों में, विशेषकर आगरा, बयाना तथा दिल्ली में ऐसा भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा कि एक सेर अन्न (जुआरी) का मूल्य २½ टंका तक पहुँच गया और इस मूल्य भी पर उसका मिलना कठिन था। बहुत से मुसलमानों ने अपने द्वार बन्द कर लिये और दस-दस, बीस-बीस तथा इससे अधिक संख्या में मर गये, और न इन्हें कफन ही मिला और न दफनाये ही गए। हिन्दू भी इसी संख्या में नष्ट हो गये। साधारण लोगों ने

काँटेदार झाड़ियों के बीजों, मनुष्य की सूखी हड्डी-मूड़ियों तथा पशुओं की खाल पर जिन्हें धनी लोग मारकर बेचते थे, जीवन निर्वाह किया। कुछ दिनों बाद उनके हाथ पाँव सूजने लगे और वे मर गये; उस तारीख को खास इरशाद 'ईश्वरीय प्रकोप' कह कर पुकारा जाता था। लेखक ने स्वयं अपनी आँखों देखा कि मनुष्य मनुष्यों को खा गये और भूख से पीड़ित लोगों का दृश्य इतना वीभत्स था कि उन्हें देखना भी कठिन था। कुछ अनावृष्टि, दुर्भिक्ष तथा लोगों के भाग जाने के कारण और कुछ दो वर्ष के निरन्तर युद्ध के कारण समस्त देश उजड़ हो गया और भूमि जोतने तक के लिये कोई किसान न रहा। विद्रोहियों ने भी नगरों को लूटा।'

कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्

१५४१ हिन्दाल हुमायूँ का साथ छोड़ देता है और कान्धार पर अधिकार कर लेता है। कामरान उसे छः महीने तक घेरे रहता है। बंगाल के सूबेदार खिज्र खाँ का शेरशाह द्वारा पदच्युत किया जाना। प्रान्त का पुनः संगठन।

१५४२ शेरशाह अपने साम्राज्य को ११३ ००० वित्तीय इकाइयों में विभक्त करता है और प्रत्येक में पाँच अधिकारी नियुक्त करता है। प्रथम जेसुइट धर्म प्रचारक (मिशनरी) फ्रांसिस जेवियर गोआ में उतरता है। अमरकोट में अकबर का जन्म। विजयनगर में सदाशिवराय अच्युतराय का नाममात्र का उत्तराधिकारी बनता है। राम राय तथा उसके भाइयों का राजशक्ति पर अधिकार।

१५४३ शेरशाह चाल द्वारा रायसीन पर अधिकार कर लेता है। हुमायूँ अकबर को अस्करी को सौंप कर कान्धार के मार्ग से ईरान को चला जाता है। गोलकुण्डा तथा विजयनगर बीजापुर के विरुद्ध संघ बना लेते हैं।

१५४४ हुमायूँ का शाह तहमास्प सफवी द्वारा स्वागत; वह शिया धर्म स्वीकार कर लेता तथा भारत को पुनः जीतने के लिये सहायता प्राप्त करता है। शेरशाह चित्तौड़, मारवाड़ तथा अजमेर को विजय कर लेता है।

१५४५ हुमायूँ कान्धार पर अधिकार कर लेता है। अस्करी तथा हिन्दाल उससे आ मिलते हैं। कामरान सिन्ध को भाग जाता है; शेरशाह की कालिंजर में मृत्यु। दिल्ली में इस्लामशाह का राज्यारोहण। मुहम्मदखाँ सूर बिहार तथा बंगाल में शासन आरम्भ कर लेता है।

१५४६ पुर्तगालियों द्वारा गुजरात के बन्दरगाहों की लूट। मार्टिन लूथर की मृत्यु।

१५४७	बीजापुर के विरुद्ध विजयनगर अहमदनगर तथा पुर्तगालियों में त्रिदलीय सन्धि। कामरान का काबुल से पलायन तथा बदख्शाँ में पराजय।
१५४८	महदी सम्प्रदाय के संस्थापक शेखअली का आगरा में शहीद होना।
१५४९	बलख में हुमायूँ की विफलता।
१५५०	हुमायूँ कामरान से काबुल जीत लेता है। गोलकुण्डा में इब्राहीम कुतुबशाह का राज्यारोहण।
१५५१	अबुल फजल का जन्म। हिन्दाल की मृत्यु। हिन्दाल की पुत्री का अकबर के साथ विवाह।
१५५२	काश्मीर में गृह-युद्ध। गुरु अंगद की मृत्यु और गुरु अमरदास का गद्दी पर बैठना।
१५५३	गोआ में फ्रांसिस जेवियर की मृत्यु, कामरान अन्धा करके मक्का भेज दिया जाता है (१५५७ में मृत्यु)।
१५५४	दिल्ली में मुहम्मदशाह आदिल का राज्यारोहण। काश्मीर में भयंकर भूकम्प। मुहम्मद आदिल शाह के विरुद्ध अमीरों के विद्रोह।
१५५५	इब्राहीमखाँ तथा सिकन्दरशाह सूर, दूसरे की सरहिन्द में पराजय। मालवा का बाजबहादुर के नेतृत्व में स्वतन्त्र होना।
१५५६	हुमायूँ का पुनरारोहण तथा मृत्यु, पानीपत के द्वितीय युद्ध में हेमू की पराजय, अकबर का राज्यारोहण। काबुल अकबर के सौतेले भाई मिर्जा हाकिम के अधीन। इग्नेशियस लॉयला की मृत्यु।

१२

मुगलों का पुनरारोहण

अकबर का राज्यारोहण

अकबर के जन्म के सम्बन्ध में निज़ामुद्दीन अहमद का निम्नांकित कथन हम पहले ही उद्धृत कर आये हैं —

'अब नियति ने हुमायूँ के प्रति कुछ समय के लिये अपना व्यवहार बदल दिया और उसे एक पुत्र प्रदान करके समय के पृष्ठ पर एक अमिट छाप लगा दी। पुत्र का जन्म ५ रजब ९४९ (१५ अक्टूबर १५४२ ई०) को हुआ। तारदी बेगखाँ ने अमरकोट के निकट सम्राट को यह शुभ समाचार सुनाया और धार्मिक लोगों की सलाह से सम्राट ने बालक का नाम जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर रक्खा।

हुमायूँ एक धार्मिक व्यक्ति था कहा जाता है कि (उसके निजी नौकर जौहर के साक्ष्य के आधार पर) उसने चीनी थाल में एक कस्तूरी तोड़कर रक्खी और सब प्रमुख व्यक्तियों में बाँट दी और कहा 'इस समय अपने पुत्र के जन्म के उपलक्ष में मैं यही भेंट आपको दे सकता हूँ। मेरा विश्वास है कि मेरे पुत्र का यश सारे संसार में उसी भाँति फैल जायगा जिस प्रकार इस कस्तूरी की गंध इस कमरे में भर गई है। जब हुमायूँ अपने भाग्य की खोज में ईरान गया तो राजकुमार अकबर को कन्धार में ही छोड़ गया; उसका चाचा अस्करी उसे उठा ले गया सुल्तान बेगम ने लगभग एक वर्ष तक उसका पालन-पोषण किया और 'उसके साथ बहुत ही कोमलता का व्यवहार किया।' जब हुमायूँ और कामरान के बीच युद्ध हुआ तो छोटे राजकुमार को काबुल के किले की दीवारों पर तोपों की आग के बीच में रख दिया गया। उसके चाचा हिन्दाल की मृत्यु के उपरान्त उसकी पुत्री रुक़िया सुल्ताना के साथ उसका विवाह कर दिया गया और उसे हिन्दाल का पद तथा गज़नी का शासन सौंप दिया गया। इसके बाद जब हुमायूँ ने हिन्दुस्तान को पुनः जीतने का प्रयत्न किया तो अकबर अपने पिता के साथ रहा और सरहिन्द की महान विजय का श्रेय उसी को दिया गया।

सरहिन्द की पराजय के उपरान्त सुल्तान सिकन्दर सूर शिवालिक पहाड़ियों में भाग गया। मीर अब्दुल माली, जिसे उसका पीछा करने के लिये भेजा गया, विफल रहा। इसलिये सिकन्दर की शक्ति दिन पर दिन बढ़ती गई। जब सम्राट को

अकबर तथा उसके दो मंसबदार ।

यह पता लगा तो उसने सिकन्दर 'की कार्यवाहियों का अन्त करने के लिये शीघ्र ही राजकुमार अकबर को तथा बैराम खाँ को उसका अतालिक अथवा अभिभावक बनाकर भेजा।' जब अकबर इन युद्धों में लगा हुआ था, उसी समय हुमायूँ सहसा रोग ग्रस्त होकर मर गया। 'राजकुमार अकबर को बुलाने के लिये शेख-जूली को पंजाब भेजा गया।'...... ....'उसने कलानौर में राजकुमार से भेंट की और सम्राट की बीमारी का समाचार कहा, किन्तु तब तक हुमायूँ की मृत्यु का समाचार भी शीघ्र ही पहुँच गया। विलाप सम्बन्धी रस्मों का पालन करने के उपरान्त अमीरों ने जो राजकुमार की सेवा में उपस्थित थे, बैरामखाँ के कहने से राजकुमार का उत्तराधिकार स्वीकार कर लिया, और इसलिये २ रबीउस्सनी को वह कलानौर में पूरी सज-धज तथा सामारोह के साथ साम्राज्य के सिंहासन पर बैठा (१४ फरवरी १५५६ ई०), और अनुग्रह तथा कृपा के पत्र हिन्दुस्तान के सभी भागों में भेज दिये गये।' दिल्ली में तीन दिन पहले ११ फरबरी को उसके सिंहासनारोहण की घोषणा कर दी गई थी और कलानौर में राज्यारोहण होने के ३ दिन उपरान्त 'राज्याभिषेक दरबार' बुलाया गया जिसका अहमद यादगार इन शब्दों में वर्णन करता है :—

'बैरामखाँ ने भारी सत्कार किया और एक विशाल सभा मण्डप तयार करवाया, और सुनहरी काम की साटन से उसे सजाया गया जिससे वह बसन्त में किसी बाग की फूल की क्यारियों की भाँति अथवा स्वयम् स्वर्ग के सदृश्य शोभायमान होने लगा। उसने विभिन्न रंगों के कालीन बिछवाये और उन पर एक स्वर्ण सिंहासन रक्खा और राजकुमार अकबर मिर्जा को उस पर बिठलाया। इसके बाद दरबार जनता के लिये खोल दिया गया। चगताई अमीरों को बहुमूल्य सम्मानसूचक वस्त्र तथा अन्य शाही उपहार देकर प्रसन्न किया गया और साथ ही साथ उन्हें भविष्य में अनुग्रहीत करने का वचन दिया गया। बैरामखाँ ने कहा, "यह श्रीमान् सम्राट के शासन काल का प्रारम्भ है।"

राजनैतिक स्थिति

स्मिथ लिखते हैं, "जिस समय कलानौर में उसका राज्याभिषेक हुआ उस समय उसे किसी राज्य का स्वामी नहीं कहा जा सकता था। बैरामखाँ के नेतृत्व में एक छोटी सी सेना बलपूर्वक पंजाब के कुछ जिलों पर ढिल मिल अधिकार किये हुये थी; और उस सेना पर भी पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता था। वास्तविक अर्थ में पादशाह होने से पहले अकबर को यह सिद्ध करना था कि वह सिंहासन के लिये प्रतिद्वन्दी दावेदारों से अच्छा था और कम से कम उसे अपने पिता के खोये हुये राज्य की पुनः विजय करनी थी।" शेरशाह के उत्तराधिकारियों में सिकन्दरसूर का भी दमन किया जाना था, महमूदशाह अदली अभी जीवित था और उसका हिन्दू सेनानायक हेमू अपने नाममात्र के स्वामी से भी अधिक शक्तिशाली हो गया था, उससे अभी टक्कर लेनी थी। बङ्गाल लगभग दो शता-

दिल्ली से स्वतन्त्र था, मुख्यतया अफ़गानों के नेतृत्व में। राजस्थान के राजपूत वंशों ने बाबर के हाथों हार खाने के उपरान्त पुनः अपनी शक्ति की स्थापना कर ली थी और कालिंजर में शेरशाह की मृत्यु के समय से अपने राज्यों का निष्कण्टक भोग करते आये थे। मालवा और गुजरात ने हुमायूँ के पलायन से पहले ही दिल्ली के प्रभुत्व का जुआ उतार फेंका था। गोंडवाना तथा मध्य भारत अव्यव स्थापूर्ण स्वतन्त्रता की अवस्था में थे। दक्षिण के खानदेश, अहमदनगर, बरार, बीदर, गोलकुण्डा, बीजापुर राज्य अपनी स्वाभाविक राजनीति तथा विजयनगर के विरुद्ध जो अब भी अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था, झगड़ों में फँसे हुये थे। अरब सागर तथा पश्चिमी तट पर पुर्तगालियों की शक्ति बढ़ रही थी। पंजाब तथा उत्तर पश्चिमी प्रदेशों की दशा अव्यवस्थित थी और ये वास्तविक तथा शक्तिशाली संकटों से घिरे हुये थे।

निज़ामुद्दीन अहमद लिखता है "शासन काल के प्रारम्भिक दिनों की एक महत्वपूर्ण घटना शाह अबुल माली का विद्रोह था। स्वर्गीय सम्राट की उस पर विशेष कृपा थी जिससे उसका अहंकार बढ़ गया, इसलिये धृष्टतापूर्ण विचारों ने उसके मस्तिष्क पर अधिकार कर लिया और उसके आचरण में कुछ अनुचित बातें दिखाई देने लगीं। खान-खाना (बैराम खाँ) ने उसे बन्दी बना लिया और उसका वध करने ही वाला था; किन्तु युवक सम्राट को दया आई।— वह यह नहीं चाहता था कि बिना अपराध सिद्ध किये सैयद के एक वंशज का वध करके प्रारम्भ में ही मेरे शासन को कलंकित किया जाय। इसलिये उसने उसे पहलवान कलगज़ (कोतवाल) की हिरासत में रख दिया और लाहौर भेज दिया। अबुल माली हिरासत से भाग निकला किन्तु कुछ दिनों मारा-मारा फिरने के उपरान्त फिर पकड़ लिया गया और बन्दी बनाकर बयाना के किले में भेज दिया गया।'

निज़ामुद्दीन आगे लिखता है 'जब तक सिकन्दर अफ़गान (सूर) युद्ध क्षेत्र में डटा हुआ था तब तक सम्राट के पदाधिकारी मनोबल का पतन के लिये कोई उपाय न कर सके, बल्कि अपने सम्पूर्ण दल सिकन्दर के विरुद्ध भेज दिये। शाही सेनाओं ने शिवालिक पहाड़ियों के निकट अफ़गानों से टक्कर ली और विजय प्राप्त की जिस पर सम्राट ने कृपापूर्वक प्रसन्नता प्रगट की।' इस पराजय के उपरान्त भी सिकन्दर कुछ समय तक और डटा रहा किन्तु अन्त में 'जब उसकी बहुत दुर्दशा होगई (जैसा कि तारीख़े बाबरी में आगे लिखा है) तो उसने शिवालिक पहाड़ियों में स्थित मानकोट से अपने पुत्र अब्दुर रहमान को अकबर बादशाह की सेवा में भेजा और कहलवाया कि मैंने बहुत अपराध किए हैं इसलिये दरबार में स्वयम् उपस्थित होने का मेरा साहस नहीं होता मेरे पास कुछ अपूर्व वस्तुएँ हैं जिन्हें मैं संधि की भेंट के रूप में आपके पास भेज रहा हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे बंगाल में शरण लेने तथा अपना शेष जीवन एकान्त में

बिताने की आज्ञा दें। अकबर ने उसकी ये सभी प्रार्थनायें मान लीं और बंगाल जाने की आज्ञा दे दी। इस समर्पण के तीन वर्ष उपरान्त सिकन्दर का देहान्त होगया।'

'जब हुमायूँ ने हिन्दुस्तान की ओर कूँच किया तो वह काबुल और गजनी की सरकार, अपने एक प्रमुख अमीर मुनीमखा को सौंप आया था, और उसे अपने पुत्र मिर्जा मुहम्मद हाकिम का अतालिक (अभिभावक) भी नियुक्त किया था। कान्धार का नगर तथा उसके आधीन राज्य बैरामखाँ (खानखाना) की जागीर थे। श्रीमान् सम्राट की कृपा से बदख्शाँ की सरकार मिर्जा सुलेमान को दी गई थी।...... किन्तु जब हुमायूँ की मृत्यु का समाचार उसे मिला तो महत्वाकांक्षाओं ने उसे ग्रस्त कर लिया और उसने काबुल पर चढ़ाई कर दी और घेरा डाल दिया। मुनीम खां ने इन तथ्यों की पूरी रिपोर्ट लिख कर सम्राट के पास भेजी।......—जब काबुल के घेरे का समाचार मिला तो तुरन्त ही एक फरमान जारी किया गया,—.... और मिर्जा सुलेमान ने देखा कि शत्रुतापूर्ण व्यवहार से कुछ भी लाभ नहीं उठा सकता हूँ,..... -- उसने मुनीमखाँ को सूचना दी कि यदि खुतबा में मेरा नाम पढ़ा जाय तो मैं चला जाऊंगा। मुनीमखां जानता था कि लम्बे घेरे के कारण दुर्ग-रक्षकों को बहुत कष्ट हुये हैं इसलिये उसने अनुमति दे दी कि श्रीमान् सम्राट की उपाधियों की सूची में मिर्जा सुलेमान के नाम का भी उल्लेख किया जाय। इस स्वीकृति की सूचना पाकर मिर्जा सुलेमान तुरन्त ही बदख्शाँ को चला गया।

'तार्दीबेग खाँ ने, जो हुमायूँ के शासनकाल का एक बहुत ही प्रसिद्ध सरदार था और जिसका उस सम्राट की दृष्टि में बहुत ऊँचा स्थान था, उसी सप्ताह में जिसमें सम्राट की मृत्यु हुई दिल्ली में सम्राट अकबर के नाम का खुतबा पढ़वाया। उसने दिल्ली, मेवात तथा अन्य परगनों को भी जिन पर हाल ही में शाही प्रभुत्व स्थापित हुआ था, नियन्त्रण में रक्खा।' किन्तु इसके बाद वह अधिक दिनों तक जीवित न रह सका।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, महमूद शाह अदली ने हुमायूँ की मृत्यु का समाचार सुनकर हेमू को पंजाब की ओर भेज दिया था। 'उस सेनानायक ने ग्वालियर में एक विजय प्राप्त की और फिर आगरे को घेर लिया तथा उस पर अधिकार करके दिल्ली की ओर चल पड़ा। तार्दीबेग खाँ घबड़ा गया और उसने दिल्ली के पड़ौस में स्थित सभी मुगल सरदारों को शीघ्र ही अपनी सहायता के लिये बुलाया। हेमू ने—.... तार्दीबेग खाँ पर इतना भयंकर धावा बोला कि बाध्य होकर वह युद्ध-क्षेत्र से भाग खड़ा हुआ। मुगल सेना का दक्षिण पार्श्व खदेड़ दिया गया, युद्ध चारों ओर फैल गया और दिल्ली नगर ने भी समर्पण कर दिया। तार्दीबेग खाँ सम्पूर्ण देश को शत्रु के लिये खुला छोड़ कर सरहिन्द को भाग गया।..... ...'बैरामखाँ ने तार्दीबेग को पकड़वा लिया और दिल्ली छोड़ने

के अपराध में जिसकी उसे रक्षा करनी चाहिये थी, सिर कटवा लिया।— बैराम खाँ ने कहा कि इस संकट के समय पर कोमलता के परिणाम बहुत ही भयंकर होंगे और इस अवसर पर मुगलों के लिये केवल एक ही आशा रह गई है कि प्रत्येक व्यक्ति यथाशक्ति उद्यम करे सम्राट को बाध्य होकर इस कार्य की स्वीकृति देनी पड़ी। इस ग्रन्थ के लेखक (फरिश्ता) को उस समय के सबसे अधिक जानकार लोगों से पता लगा है कि उस समय मुगल सेना की दशा तथा उन सिपाहियों की भावनायें ऐसी थीं कि तार्दीबेग को उदाहरण के रूप में फाँसी न दी गई होती तो शेरशाह के समय के दृश्य फिर उपस्थित हो जाते। लेकिन इस कठोर किन्तु तत्परतापूर्ण कार्य से चगताई अधिकारियों के लिये जिनमें से प्रत्येक इससे पहले अपने को कैकोबाद और कैकोस के समान समझता था, बैरामखाँ की आज्ञा मानना तथा चुपचाप उसकी सत्ता स्वीकार करना आवश्यक हो गया।

वी० ए० स्मिथ भी इस मत से सहमत है —"यद्यपि यह दण्ड अनियमित रूप से और बिना मुकद्दमा चलाये दिया गया था किन्तु वह आवश्यक तथा अधिकांश रूप में न्याय संगत था। यह कहना युक्त संगत होगा कि यदि तार्दी बेग को कर्तव्य की अवहेलना करने के लिये दण्ड न दिया गया होता तो अकबर को अपने सिंहासन तथा जीवन दोनों से हाथ धोने पड़ते।"

पानीपत का द्वितीय-युद्ध

फरिश्ता लिखता है, जब हेमू ने राजा विक्रमाजीत की उपाधि धारण कर ली और शादीखाँ तथा अन्य अफगान सरदारों को अपने पक्ष में मिलाकर राजा का सामना करने के लिये राजधानी से निकला; उसकी सेना मरुस्थल की टिड्डियों तथा चींटियों की भाँति असंख्य थी। अहमद यादगार का कहना है कि जब हेमू ने दिल्ली में प्रवेश किया तो उसने शाही छत्र धारण किया और अपने नाम के सिक्के ढलवाये। उसने अपने सूबेदार नियुक्त किये और दिल्ली तथा निकटवर्ती परगनों पर अधिकार कर लिया। स्थिति निस्संदेह संकटापन्न थी। दिल्ली के समर्पण के समय अकबर जलन्धर में था, वह पंजाब के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों को अपने हाथों से निकला देख कर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। यौवन तथा अनुभवहीनता के कारण उसे अपने पर विश्वास नहीं था, इसलिये अन्त में उसने बैरामखाँ को खान-बाबा (पिता किन्तु यहाँ अभिभावक) की उपाधि प्रदान की और बैरामखाँ से कहा कि मेरे स्वर्गीय पिता हुमायूँ की तथा स्वयं अपने पुत्र के सिर की शपथ खाओ कि तुम स्वामिभक्तिपूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करोगे। इसके बाद बैरामखाँ ने एक सभा बुलाई। चूँकि शत्रु सेना में एक लाख से अधिक अश्वारोही थे जब कि शाही सेना मुश्किल से बीस हजार, इसलिये अधिकतर पदाधिकारियों की यही राय हुई कि काबुल लौट चलना ही बुद्धिमानी होगी। बैरामखाँ ने इस प्रस्ताव का विरोध ही नहीं किया बल्कि केवल अकेला ही था

जिसने कहा कि राजा को तुरन्त ही शत्रु से युद्ध करना चाहिये। अकबर के विचार भी बैरामखाँ की भावनाओं के अनुरूप थे इसलिये उसके शब्दों ने प्रश्न का निर्णय कर दिया।

'२ मुहर्रम ९६४ हिज्री (५ नवम्बर १५५६ ई०) के दिन हेमू ने अपने हाथियों को लेकर युद्ध आरम्भ किया, उसे आशा थी कि शत्रु के घोड़े, जिन्हें हाथियों का सामना करने का अभ्यास नहीं है, आतंकित हो जायेंगे, वे सेना के केन्द्र तक पहुँच गये जिसका नेतृत्व खानजमान कर रहा था, किन्तु फिर भी मुगलों ने इतने उन्मत्त होकर धावा बोला कि भालों, बाणों तथा बर्छों से घबड़ा कर वे अनियन्त्रित हो गये और महावतों के अंकुश की चिन्ता न करते हुए पीछे मुड़ गये और अफगानों की पाँतों में गड़बड़ फैला दी। किन्तु हेमू अत्यधिक विशालकाय हाथी पर चढ़ा हुआ, चार हजार घुड़सवारों को लेकर मुगल सेना के ठीक मध्य में अत्यधिक वीरता के साथ युद्ध करता रहा, किन्तु आँख में बाण लगने के कारण घोर वेदना से वह हौदे में गिर पड़ा। उसकी अधिकांश सेना उसके घाव को प्राणान्तक समझकर भाग खड़ी हुई। किन्तु वह फिर उठा — और पूर्ण साहस के साथ युद्ध जारी रक्खा और उसके आस-पास जो थोड़े से लोग रह गये थे उनकी सहायता से शत्रु की पाँतों को तोड़कर पीछे निकलने का प्रयत्न किया। ——अन्त में——घुड़सवारों के एक दल ने उसे घेर लिया और बन्दी बनाकर अकबर के पास ले गये जो पीछे दो तीन कोस की दूरी पर था।'

'जब हेमू को राजा के सम्मुख उपस्थित किया गया तो बैरामखाँ ने अनुरोध किया कि इस काफिर को अपने हाथ से मार कर पुण्य कमाइये। अकबर ने अपने मंत्री की इच्छा पूरी करने के लिये अपनी तलवार निकाली और बन्दी के सिर से छुआकर गाजी की उपाधि का अधिकारी बन गया, और बैरामखाँ ने अपनी तलवार निकाली और एक ही प्रहार ने हेमू का सिर धड़ से अलग कर दिया।'*

* यह कथन फारिश्ता का है। ब्रिग्स, दूसरा भाग, पृष्ठ १८८-८९। इस घटना के तथा युद्ध के ब्यौरे के अनेक वर्णन हैं। अहमद यादगार लिखता है, 'इसलिये राजकुमार ने उस पर प्रहार किया और उसके सिर को कुत्सित धड़ से अलग कर दिया।'—ईलियट तथा डाउसन, पाँचवाँ भाग पृष्ठ ६५-६६। स्मिथ ने इस कथन को स्वीकार करते हुये कहा है: "चौदह वर्ष के बालक अकबर को बैरामखाँ के कथन का पालन करने के लिये दोषी ठहराना उचित नहीं है। बैरामखाँ का अकबर से आज्ञा पालन की आशा करना अधिकार था, और न यही मानने के लिये उचित कारण है कि बालक अपने पदाधिकारियों से अधिक विचारवान था। सरकारी कहानी बाद के दरबारी चाटुकारों की गढ़ी हुई प्रतीत होती है। '—पानीपत के युद्ध के समय अकबर असंस्कृत बालक था और आमोद-प्रमोद में व्यस्त रहता था, इसलिये यह कहना अनुचित होगा कि उसमें उस समय भी वे भावनायें विद्यमान थीं जो आगे चलकर उसके परिपक्व जीवन में मिलीं।" Akbar, पृष्ठ ३९। निजामुद्दीन, जो अकबर का मुख्य बख्शी था, निश्चित रूप से लिखता है, "तब बैराम खान-खाना ने अपने हाथ से हेमू का वध कर दिय।।"—ईलियट और डाउसन, पाँचवाँ भाग, पृष्ठ २५३।

पानीपत के बाद की घटनायें १५६० तक

हेमू के बध के बाद की मुख्य घटनायें इस प्रकार थीं:—

(१) दिल्ली तथा आगरा पर अधिकार;
(२) मेवात पर अधिकार तथा हेमू के पिता का बध
(३) अजमेर को हस्तगत करना
(४) ग्वालियर का समर्पण;
(५) जौनपुर की विजय; और
(६) रणथम्भौर तथा मालवा पर आक्रमण।

एलफिंस्टन का यह कथन ठीक ही है कि, "तिमूर के वंश की सत्ता की पुनः स्थापना इसी तारीख से मानी जा सकती है यह सब बैरामखाँ के प्रयत्नों के कारण ही पूरा हो सका था और जब उसकी शक्ति चरम सीमा पर पहुँच गई, जितनी कि कभी किसी प्रजाजन की पहुँची होगी।' इस काल के अन्त में खान बाबा का अपने उच्च पद से सहसा पतन होगया, यद्यपि यह अप्रत्याशित नहीं था; उसका पतन मुझे के उन स्मरणीय शब्दों की याद दिलाता है जो उसने टॉमस—क्रॉमवैल से मानवीय भाग्य की चंचलता तथा राजकीय अनुग्रह की अस्थिरता के सम्बन्ध में कहे थे।

अकबर के सामने तीन काम थे: (१) खोये हुये राज्यों को पुन प्राप्त करना; (२) अमीरों पर अपनी सत्ता स्थापित करना और (३) आन्तरिक प्रशासन तथा व्यवस्था कायम करना जो इतनी क्रान्तियों के काल में छिन्न भिन्न हो चुकी थी अकबर के शासन काल के प्रथम वर्ष में उसका राज्य, पंजाब तथा दिल्ली और आगरा के आस पास तक ही सीमित था। तीसरे वर्ष में उसने बिना लड़े ही अजमेर पर अधिकार कर लिया; चौथे वर्ष में उसे ग्वालियर मिल गया; और बैराम के पतन से कुछ ही पहले उसने अफगानों को लखनऊ तथा जौनपुर तक के गंगा के प्रदेश से निकाल दिया था।' मुस्लिम इतिहासकारों ने केवल तिथि-क्रम के आधार पर घटनाओं का वर्णन किया है और उन्होंने उनके आपेक्षिक महत्व का भी ध्यान नहीं रक्खा है। इसलिये हमें महत्व पूर्ण तथ्यों को इस तरह से निकाल कर ऐसे ढंग से व्यवस्थित करना है कि उन्हें समझा जा सके। निम्नांकित वर्णन मुख्यतया तबकाते अकबरी, 'अकबरनामा' 'तथा तारीखे' फिरिश्ता से लिया गया है।

हेमू के बध के दूसरे दिन सेना ने पानीपत से कूच किया और बिना कहीं पड़ाव डाले सीधी दिल्ली जा पहुँची। नगर के सभी वर्गों के निवासी श्रीमान सम्राट का उचित स्वागत करने तथा उन्हें सम्मानपूर्वक नगर में ले जाने के लिये बाहर आये। वह एक महीने तक वहाँ ठहरा।' वहाँ से दो महत्वपूर्ण आक्रमण

किये गये, (क) एक मेवात पर, क्योंकि 'समाचार मिला था कि हेमू के आश्रित लोग उसके कोष तथा सामान के साथ मेवात में हैं, (ख) दूसरा सिकन्दर अफगान (सूर) पर, जिसकी पराजय का पहले उल्लेख किया जा चुका है। पहले का नेतृत्व पीर मुहम्मद सरवानी ने किया। 'उसने सब व्यक्तियों को पकड़ लिया और सभी मूल्यवान वस्तुओं पर अधिकार करके उन्हें सम्राट के चरणों में प्रस्तुत किया।' अकबरनामा में अन्य ब्यौरे की बातें दी हुई हैं और लिखा है कि हेमू के पिता से धर्म परिवर्तन और मृत्यु में से एक को स्वीकार करने के लिये कहा गया। जब उस बूढ़े ने अपना धर्म छोड़ने से इन्कार किया, तो 'पीर मुहम्मद ने अपनी तलवार की धार रूपी जीभ से उत्तर दिया।' मेवात पीर मुहम्मद को जो बैरामखाँ का विश्वासनीय नौकर था, जागीर के रूप में दे दिया गया। मेवात अथवा अलवर से लौटते समय मार्ग में 'हाजीखाँ ने अजमेर, नागौड़ तथा उन सब प्रदेशों पर अधिकार कर लिया।.... पीर मुहम्मदखाँ को सम्राट ने अजमेर का भार सँभालने के लिये भेज दिया।'

सिकन्दर के विरुद्ध आक्रमण का कुछ समय तक अकबर ने स्वयं संचालन किया। उसके बाद जब उसकी माता मरियम मकानी तथा अन्य राजमहिलाएँ काबुल से लौट आईं, तो 'सम्राट सैन्य संचालन बैरामखाँ के हाथों में छोड़कर उनसे मिलने चला गया, और इस पुनर्मिलन से उसे बहुत सान्त्वना मिली।' १५५८ ई० में मार्च के अन्त में श्रीमान सम्राट दिल्ली पहुँचा। फिर उसने अपनी प्रजा तथा सेना के हितों की ओर ध्यान दिया, और अपने कार्यों में उसने न्याय तथा दया को महत्वपूर्ण स्थान दिया। खान-खाना राज्य के मंत्रियों तथा अमीरों के साथ सप्ताह में दो बार दीवान-खाना में उपस्थित होता और श्रीमान सम्राट की आज्ञा तथा निर्देशन के अनुसार राज-काज करता।..... ...छः महीने बीतने पर सम्राट ने नाव में बैठकर आगरा के लिए प्रस्थान किया और १७ मुहर्रम ९६६ हिज्री को (३० अक्टूबर १५५८) वहाँ पहुँच गया। उस समय आगरा अपेक्षाकृत कम महत्व का नगर था।'

"अकबर के शासन-काल के तीसरे तथा चौथे वर्षों (१५५८-६०) में मध्य भारत में स्थित ग्वालियर के शक्तिशाली किले ने समर्पण कर दिया और पूर्व में जौनपुर का प्रान्त जीत लिया गया, इस प्रकार हिन्दुस्तान में उसकी सत्ता सुसंगठित हो गई। राजपूताना में स्थिति रणथम्भौर के दुर्ग को हस्तगत करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु विफल रहा, मालवा को विजय करने के लिये प्रारम्भिक सैनिक कार्यवाहियाँ की गईं, किन्तु इस बीच में अकबर ने अपनी शासन-क्षमता प्रदर्शित करने के लिये शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया जिसके कारण कुचक्र तथा उपद्रव खड़े हो गये और अन्त में अभिभावक बैरामखाँ का पतन हुआ, इस स्थिति में मालवा के विरुद्ध कार्यवाही कुछ समय के लिये स्थगित करनी पड़ी।"

यहाँ पर शेरशाह सूर के वंश के मूलोच्छेदन का संक्षिप्त उल्लेख करना उपयुक्त

होगा। सिकन्दर सूर के अन्त का हम पहले ही जिक्र कर चुके हैं। अब महमूद शाह अदली जिसने चुनार में अपनी शक्ति की स्थापना करके हेमू को मुगलों से लड़ने को भेजा था, सूरवंश का एकमात्र प्रतिनिधि शेष रह गया था। उसके भाग्य का तारीखे दाऊदी में इस प्रकार वर्णन किया गया है —

'अदली हेमू की मृत्यु के समय चुनार में था उसी समय बंगाल का शासक खिज्र खाँ जो महमूद खाँ का पुत्र था और जिसने सुल्तान बहादुर की उपाधि धारण की थी अपने पिता के वध का बदला लेने के लिए एक विशाल सेना लेकर आगे बढ़ा और अदली उसका सामना करने के लिए बिहार में मुंगेर तक आ पहुँचा। सूर्य उदय भी न हो पाया था कि सुल्तान बहादुर ने अपनी सेना खड़ी की, अदली पर धावा बोल दिया और युद्ध के नगाड़े बजा दिए। अदली के साथ बहुत थोड़े आदमी थे किन्तु उसने पर्याप्त पराक्रम का परिचय दिया। सूरजगढ़ के पास जो मुंगेर से लगभग एक कोस और पटना से लगभग बारह कोस था, युद्ध लड़ा गया, और ९६८ हिज्री (१५६०) में अदली अपनी सेना की कम संख्या के कारण हारा और मारा गया; वह केवल आठ वर्ष शासन कर पाया था।'

बैरामखाँ का पतन—१५६० के प्रारम्भ में अकबर ने सरकार का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने का निश्चय किया। उसके ऐसा करने के कारण अनेक थे। निजामुद्दीन लिखता है 'साम्राज्य के कार्यों का सामान्य प्रबन्ध बैरामखाँ के अधीन था; किन्तु कुछ ऐसे ईर्ष्यालु तथा वैरभाव रखने वाले व्यक्ति थे जो सम्राट के कृपापात्र बनने का प्रयत्न कर रहे थे; ये लोग अवसर मिलने पर सम्राट का मस्तिष्क खराब करने के उद्देश्य से चुगली खाने से न चूके।' इसके विपरीत अकबरनामा में लिखा है, 'बैराम का स्वाभाविक चरित्र अच्छा तथा मिलनसार था। किन्तु कुसंसर्ग से जो मनुष्य का हृदय बड़ा दुर्गम्य होती है, उसके स्वाभाविक गुण अच्छादित हो गए और चाटुकारिता के कारण उसमें अहंकार की वृद्धि हो गई।' अबुल फजल ने भी उस पर षड्यन्त्र का आरोप लगाया है 'अन्त में बैरामखाँ का आचरण असह्य हो गया और उसने कुछ दुर्बुद्धि चाटुकारों से मिलकर षड्यन्त्रपूर्ण योजनाएँ बनाईं।' फरिश्ता स्पष्ट कहता है, संक्षेप में, बैरामखाँ पर इसने आरोप लगाये गए, विशेषकर कामरान के पुत्र अबुल-कासिम मिर्जा को सिंहासन पर बिठलाने का षड्यन्त्र, कि अकबर घबरा उठा और उसने संरक्षक की सत्ता को नियन्त्रित करना आवश्यक समझा।' एक बार जो गलत धारणाएँ उत्पन्न हो गईं वे अविश्वास के कारण बढ़ती गईं और खाई गहरी करने के लिए छोटी से छोटी घटनाओं को बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया।

वी० ए० स्मिथ लिखते हैं "फारसी इतिहास ग्रन्थों में बैराम खाँ के पतन की परिस्थितियों के सम्बन्ध में खूब विस्तार से तथा विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखा गया है; किन्तु आधुनिक पाठकों की उत्सुकता को सन्तुष्ट करने के लिए संक्षेप में सारांश देना

पर्याप्त होगा। जब अकबर अठारह वर्ष का हुआ (१५६०), तो वह अपने को (परिपक्व) पुरुष अनुभव करने लगा और अभिभावक के संरक्षण के बन्धन उसे खलने लगे, इसलिये, उसने नाम तथा व्यवहार दोनों ही दृष्टि से राजा बनने का निश्चय किया। उसको इन स्वाभाविक भावनाओं को घर की महिलाओं तथा उन दरबारियों ने और प्रोत्साहन दिया तथा उभाड़ा जिन्हें संरक्षक के विरुद्ध किसी न किसी कारण से शिकायत थी। उसने शेख गदई को सद्र सुदूर के पद पर नियुक्त किया जिससे दरबार के सुन्नयों का साम्प्रदायिक वैरभाव भड़क उठा और उन्होंने शिकायत की कि वैरामखाँ अपने शिया अनुयायियों के साथ अतिशय पक्षपात करता है, उनका यह कथन पूर्णतया असत्य भी नहीं था। अनेक प्रभावशाली व्यक्ति तार्दीबेग के वध से असन्तुष्ट हो गये थे, और अनेक अवसरों पर वैरामखाँ ने अपनी स्थिति का अनधिकार उपयोग करते हुए, अत्यधिक अहंकार पूर्ण व्यवहार किया था। उस पर अविवेकपूर्ण शब्द कहने का भी आरोप लगाया गया। इसके अतिरिक्त अकबर को एक विशेष निजी शिकायत भी था: उसे अपने व्यय के लिए निश्चित धन न मिलता था और उसके परिवार का वेतन बहुत कम था, जब कि संरक्षक के नौकर धनी हो रहे थे। उधर वैराम खाँ समझता था कि मेरी सेवाएँ अपरिहार्य हैं और इसलिये वह उस निरकुंश शक्ति को त्यागने के लिए उद्यत नहीं था जिसका वह इतने दिनों से उपभोग करता आया था। धीरे धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि अकबर अथवा वैरमखाँ किसी एक को झुकना पड़ेगा।" शीघ्र ही स्थिति सङ्कटापन्न हो गई। "वैरामखाँ के सलाहकार एकमत न थे। सद्र-सुदूर शेख गदई तथा अन्य सलाहकारों ने राय दी अकबर को गिरफ्तार करके मामला निपटा लिया जाय। किन्तु कुछ सोच-विचार के बाद वैरामखाँ ने विश्वासघात करके अपने जीवन भर के स्वामिभक्त पूर्ण आचारण को कलङ्कित करने से इन्कार कर दिया और मेरा समर्पण करने का विचार है, यह भी प्रकट कर दिया। इसी बीच में बहुत-से दरबारीगण पतनशील मन्त्री का साथ छोड़ गए और अपने वर्ग के आचरण के अनुरूप उदीयमान सूर्य की पूजा करने लगे।"

इसके विपरीत अकबर ने तत्परता से काम किया। उसने बैरामखाँ को निम्न सन्देश अपने निजी अध्यापक मीर अब्दुल लतीफ के द्वारा भेजा।—"मुझे आपकी ईमानदारी तथा स्वामिभक्ति में विश्वास था, इसलिये मैंने राज्य के सभी विषय आपके हाथों में छोड़ रक्खे थे, और स्वयं केवल अपने आमोद-प्रमाद की ही चिन्ता की। अब मैंने राज्य की बागडोर अपने हाथों में ले लेने का सकल्प कर लिया है, और यह वाञ्छनीय है कि आप हज के लिये मक्का चले जायँ, जिसके सम्बन्ध में आप इतने दिनों से विचार कर रहे हैं। आपके निर्वाह के लिये हिन्दुस्तान के परगनों में से एक समुचित जागीर दे दी जायगी और उसकी आय आपके प्रतिनिधियों द्वारा आपके पास भेज दी जाया करेगी।" इसके बाद की घटनाओं का निजामुद्दीन इस प्रकार वर्णन करता है।

'जब अब्दुल लतीफ ने खानखाना को यह सन्देश सुनाया तो उसने ध्यानपूर्वक सुना

और मीर को विदा करके मेवात से नागौर चला गया।——नागौर पहुँच कर उसने अपना झंडा नगाड़ा तथा अपने पद के अन्य चिह्न हुसैन कुली बेग के द्वारा सम्राट के पास भेज दिये। (झण्डा तथा अन्य चिह्नों के समर्पण से सम्राट को बहुत संतोष हुआ। —) किन्तु पीर मुहम्मद्खाँ सरवानी जिसे खान-खाना ने देश से निर्वासित करके मक्का को भेज दिया था, गुजरात में अनुकूल ऋतु की (जहाज के प्रस्थान करने के लिये) प्रतीक्षा कर रहा था। खान-खाना के अपमानित किये जाने का समाचार सुनकर वह यथासम्भव वेग से दरबार को लौट आया। उसका दयालुतापूर्वक स्वागत हुआ और नासिर उल-मुल्क की उपाधि तथा झंडा और नगाड़े से विभूषित किया गया। उसे एक दल के साथ भेजा गया जिससे वह खान-खाना को शीघ्रता से मक्का भिजवा दे अथवा बदायूँनी के शब्दों में यथाशीघ्र उसके बिस्तर मक्का के लिये बँधवादे और विलम्ब करने का अवसर न दे और तुरन्त ही वह उसके पीछे चल पड़ा।

इस पर क्रोध में आकर खानखाना ने विद्रोह किया, किन्तु पूरे हृदय से नहीं और शीघ्र ही समर्पण कर दिया तथा पवित्र नगर (मक्का) को चल पड़ा। किन्तु बैरामखाँ अपनी यात्रा पूरी न कर सका; पाटन में एक अफगान ने जिसका पिता मच्छीवाड़ा के युद्ध में मारा गया था, उसका वध कर दिया। निज़ामुद्दीन लिखता है, 'कुछ गुण्डों ने मृतक के डेरे लूट लिये', बैरामखाँ के शव को कुछ फकीरों ने लेकर दफना दिया। उसका परिवार बड़ी कठिनाई से अहमदाबाद पहुँच सका। उसके छोटे पुत्र अब्दुर्रहीम को जिसकी अवस्था उस समय केवल चार वर्ष की थी अकबर के दरबार में लाया गया आगे चलकर वह खानखाना नियुक्त हुआ तथा साम्राज्य का एक महानतम अमीर बना।

स्मिथ लिखते हैं, 'उन सब कार्यवाहियों की कहानी, जिनके कारण अन्त में बैरामखाँ का पतन तथा मृत्यु हुई पढ़कर ग्लानि होती है।——हुमायूँ तथा अकबर दोनों को ही बैरामखाँ के ही कारण सिंहासन पुनः प्राप्त हुआ था इसलिये कृतज्ञता की माँग थी कि जब अकबर का सरकार की बागडोर अपने हाथों में लेने का समय आया तो उस स्वामी को जितनी अधिक नम्रता से हो सकता हटाया जाता। किन्तु बैरामखाँ के अनेक शत्रु थे जो यह नहीं चाहते थे कि उसका निष्क्रमण सरलता से सम्पादित हो जाय। यदि उनकी चलती तो वे अवश्य ही उसका वध करवा देते। विद्रोह की विफलता के बाद उदारतापूर्वक उसका स्वागत किया गया, इसका श्रेय स्वयं नवाब अकबर को ही था; बाद की कार्यवाही में भी उसका बहुत कम हाथ था, क्योंकि उस समय उत्तरदायित्व, जैसा कि अकबर के प्रशंसक अबुल फज़ल ने लिखा है महम अंगा पर था।"

"पर्दा-शासन"—स्मिथ लिखते हैं 'बैरामखाँ के संरक्षण से छुटकारा पाकर अकबर कुछ सिद्धान्तहीन स्त्रियों के उससे भी अधिक 'विकट नियन्त्रण' में फँस गया। उसे एक और प्रयत्न करना पड़ा, इससे पहले कि वह अपनी इच्छा-

नुसार कार्य करने के योग्य हो सका और अपने तत्वतः श्रेष्ठ स्वभाव की उच्चता को प्राप्त कर सका।" अकबर की अवस्था उस समय केवल १८ वर्ष की थी, इसलिये यह असम्भव नहीं था कि वह बहुत समय तक 'पर्दा' के प्रभाव में रहा हो, किन्तु स्मिथ के आरोप को हम बिना सावधानी से जाँच किये स्वीकार नहीं कर सकते। वह स्वयं लिखते हैं कि अकबर के "तत्वत श्रेष्ठ स्वभाव" की विजय हुई और जिसने बैरामखाँ जैसे महारथी को अपदस्थ करने में इतने दृढ़ सकल्प का परिचय दिया था वह "निम्नतम कोटि के पर्दा शासन को" बहुत दिनों तक सहन नहीं कर सकता था. बैरामखाँ के पतन के चार वर्ष के भीतर ही (१५६०–६४ ई०) अकबर पूर्णरूप से तथा प्रत्येक अर्थ में स्वयं अपना स्वामी बन गया। इस काल की दो घटनायें ऐसी हैं जो अकबर के स्वतन्त्र चरित्र तथा व्यक्तित्व की विजय की द्योतक हैं; आलोचकों के कथन से, जिन्होंने स्त्रियों के 'राक्षसी नियन्त्रण' तथा 'पर्दा सरकार' के कुप्रभावों को अत्यधिक महत्व दिया है, जवान अकबर के चरित्र पर इतना अच्छा प्रकाश नहीं पड़ता।

निज़ामुद्दीन लिखता है, 'उस वर्ष एक दुःखद घटना घटी (१६ मई १५६२ ई०)। माहम अंगा का पुत्र आधमखाँ कोकलताश अपने साथियों का उच्च पदों पर नियुक्त किया जाना सहन न कर सका। अपने यौवन के अहंकार तथा धन और पद के घमण्ड के कारण वह शिहाबुद्दीन अहमदखाँ, मुनीम खान-खाना तथा अन्य अमीरों के बहकाने में आगया और प्रधान मन्त्री खाने आजम (शम्सुद्दीन मुहम्मद अतगा) को, जिस समय वह अपने कार्यालय में बैठा हुआ था, मार डाला। इसके बाद सम्राट ने उसके प्रति जो अनुग्रह तथा कृपा दिखलाई थी, उसका भरोसा करते हुये वह जाकर रनिवास के द्वार पर खड़ा होगया। सम्राट तलवार हाथ में लेकर रनिवास से झपटकर निकला और हत्यारे को उसके अपराध के लिये हाथ पैर बंधवाकर किले की दीवाल से नीचे गिरवा दिया।
वे सब लोग जिन्होंने षड्यन्त्र में भाग लिया था, दण्ड के डर से छिप गये।—'
सम्राट ने मृत मन्त्री के पुत्रों तथा माहम अंगा के प्रति बहुत सहानुभूति दिखलाई, किन्तु वह क्रोध तथा पुत्र शोक के कारण बीमार पड गई और 'चालीस दिन बाद मर गई।'

दूसरी घटना भी इसी प्रकार की थी। उसी लेखक ने लिखा है, 'ख्वाज़ा मुआज्ज़म सम्राट का मामा था।'' '''उसने सम्राट हुमायूँ के शासन काल में अनेक घृणित कार्य किये थे।—'' अन्त में उसके अशोभनीय आचरण से बाध्य होकर सम्राट ने उसे निर्वासित कर दिया।'' निर्वासन के बाद ख्वाज़ा कुछ समय गुजरात में रहा किन्तु बाद में फिर सम्राट के दरबार में लौट आया। तब बैरामखाँ से उसकी भेंट हुई और उसकी ओर कुछ ध्यान दिया जाने लगा। बैरामखाँ के अपमानित किये जाने के उपरान्त सम्राट को ख्वाज़ा पर दया आई और उसे कुछ जागीर दे दी। किन्तु ख्वाजा फिर अपने कुटिल तथा दुष्ट

स्वभाव के प्रभाव में आ गया और फिर कुछ घृणित कार्य कर बैठा। उनमें से एक यह था : फातिमा नाम की एक स्त्री थी जो स्वर्गीय सम्राट के रनिवास में रहती थी, एवं ज्ञा ने उसकी एक पुत्री जुहरा बेगम को रख लिया था। कुछ समय उपरान्त उसने उस भार शासन का सबब किया। जब उसकी माता का हृदय पता लगा तो शीघ्र ही उसने सम्राट को सूचना दे दी और उस यथार्थ की प्रार्थना की। सैव ही सम्राट आया और उसे प्रधानाध्य के क्रूर कार्यों की सूचना मिली जो दयनीय थे, वैसे ही उसने अपने नौकरों को उस अपराध तरह पाटन की आज्ञा दी और फिर उस नाव में बिठलाकर कई बार गोते लगवाये। इसके बाद उसे बन्दी बना कर ग्वालियर के पक्ष में भेज दिया गया जहाँ कारागार में ही उसकी मृत्यु हो गई।'

स्मिथ ने जो कुछ दूसरी घटना के विषय में कहा है वह दोनों के सम्बन्ध में सही है। वह लिखता है, "उस को दण्ड दिया गया उससे निश्चयपूर्वक सिद्ध हो गया कि अकबर पारिवारिक प्रभाव के कारण अपराधियों को अपने समय के अनुरूप तत्काल तथा कठोर दण्ड देने से चूकने वाला नहीं था। इसी घटना के समय से अकबर महल के गुट के नियन्त्रण से पूर्णतया मुक्त हो गया। वह अपनी माता के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित करता रहा किन्तु उसने उसको अपनी नीति को नियन्त्रित नहीं करने दिया; जिन सिद्धान्तों पर उसकी नीति आधारित थी वे उसकी माता को रुचिकर न थे।"

मालवा की विजय—इस उर्वरा पठार की स्थिति ऐसी थी कि उसे विजय करने के उद्देश्य से आक्रमण करने के लिये लोग लालायित हुए और उन्हें सफलता की कम ही आशा रहती थी। शुजात अथवा शुजावलखाँ, जो अदली शाह सूर के समय में उस पर लगभग स्वतन्त्र रूप से शासन करता था अकबर के राज्यारोहण के बाद (१५५४ ई०) मर गया था। तारीखे-अकबरी' में लिखा है, 'उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र बाजबहादुर हुआ और जब विजयी चगताइयों ने अफगानों को समस्त हिन्दुस्तान में बसेर दिया तो बाजबहादुर स्थायी रूप से मालवा का शासक बन बैठा। जब बहादुरखाँ (खानखाना का भाई) ने उस पर चढ़ाई की उसी समय बैरामखाँ की संकटापन्न समस्या उठ खड़ी हुई इसलिये मालवा की चढ़ाई स्थगित करनी पड़ी।'

निजामुद्दीन लिखता है "बाजबहादुर संगीत विज्ञान और विशेषकर हिन्दू संगीत में अपने युग का सबसे अधिक निपुण व्यक्ति था। वह अपना अधिकांश समय संगीतज्ञों तथा गायकों की संगति में बिताया करता था। जब श्रीमान् सम्राट को पता लगा कि बाजबहादुर इन्द्रिय भोगों में लिप्त हो गया है और देश की कुछ भी चिन्ता नहीं करता; अत्याचारी तथा दुष्ट लोग दरिद्र तथा असहाय जनता का उत्पीड़न करते हैं और किसानों तथा सामान्य जनता की दशा बहुत ही दुःखमय है। तबकाते अकबरी में आगे लिखा है, 'शाही सिंहासन की प्रतिष्ठा इसी में थी कि इस देश को फिर अपने अधीन

किया जाय और वहाँ शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित की जाय' (आक्रमणकारी साम्राज्यवाद का सदैव यही बहाना रहा है!)।

'इसलिये आधम खाँ (माहम अनगा का पुत्र जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है), पीर मुहम्मद खाँ (बैरम खाँ का शत्रु) और कुछ अन्य अमीर उस देश की विजय करने के लिए नियुक्त किये गये। उन्होंने उस ओर कूच किया और जब वे सारंगपुर से दस कोस रह गए तब बाजबहादुर जो उस समय नगर में ही था अपनी उपेक्षा की नींद से जागा, और नगर से दो मील निकल कर एक स्थान की किले बन्दी करके मोर्चा डाल दिया।......आधम खाँ ने एक अग्रगामी दल बाजबहादुर की उस मोर्चाबन्दी पर धावा बोलने के लिये भेजा, जिसे उसने अपनी सेना के आस-पास खोद रखा था। तब बाजबहादुर अपनी निष्क्रियता को त्याग कर युद्ध के लिए निकल पड़ा। किन्तु उसकी सेना के अफगान अमीर असन्तुष्ट थे इसलिए भाग खड़े हुए और उसे स्वयम् खानदेश तथा बुरहानपुर (फैजी) की ओर भागने पर बाध्य होना पड़ा। उसकी प्रिय स्त्री रूपमती, जो कविता-पाठ किया करती थी, अन्य अनेक स्त्रियाँ तथा उसका सम्पूर्ण कोष शाही सेना के हाथ लगा। जब भगोड़े लोग भाग रहे थे उसी समय बाजबहादुर के एक हिजड़े ने रूपमती को तलवार से घायल कर दिया, जिससे वह अपरिचितों के हाथों में न पड़ सके, और जब आधम खाँ ने उसे अपने सम्मुख बुलाया तो उसने विष खाकर अपना प्राणान्त कर लिया।

'आधम खाँ ने सम्राट् को विजय का वृत्तान्त लिख भेजा। उसने सब स्त्रियाँ, सङ्गीतज्ञ तथा गायक अपने पास रख लिये और कुछ हाथी सादिक खाँ के द्वारा दरबार में भेज दिये। उसके स्त्रियों को अपने पास रख लेने से सम्राट् बहुत अप्रसन्न हुआ और उसने स्वयम् मालवा के लिए प्रस्थान करना आवश्यक समझा। २१ शाबान ९६८ हिजी (२७ अप्रैल १५६१ ई०) को सम्राट ने आगरा छोड़ा और मालवा की ओर कूच किया।......आधम खाँ ने लूट का सभी धन एकत्र किया और सम्राट को भेंट कर दिया, वह आनन्द मनाने के लिए कुछ दिन वहीं ठहरा और फिर आगरा लौट आया।'

किन्तु अकबर आधम खाँ से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं हुआ था। वह उसकी माता माहम अनगा के बीच में पड़ने से केवल कुछ समय के लिये शान्त हो गया था। नवम्बर १५६१ ई० में शम्सुद्दीन मुहम्मद खाँ अतगा काबुल से आया, उसे अकबर ने अपना मन्त्री नियुक्त किया और सभी राजनैतिक, वित्तीय तथा सैनिक विषयों का प्रबन्ध उसे सौंप दिया, और सम्भवत उसी की सलाह से आधम खाँ को मालवा से बुला लिया गया था। माहम अंगा अतगा खाँ की इस उच्च नियुक्ति के विरुद्ध थी, और जब उसने देखा कि अकबर तेजी से मेरे नियन्त्रण से निकला जा रहा है तो उसे बहुत चिन्ता हुई। किन्तु साथ ही साथ यह भी आश्चर्य की बात थी कि मालवा में आधम खाँ के स्थान पर पीर मुहम्मद को नियुक्त किया गया; क्योंकि ये दोनों ही समानरूप से अयोग्य थे। दोनों ने ही मालवा में अतिशय अनाचार

किये थे, किन्तु आदम खाँ ने लूट की सम्पत्ति अपने पास रख ली थी और उद्दण्डता का परिचय दिया था इसलिये सम्राट की दृष्टि में उसका अपराध अधिक था।

'आदम खाँ के स्थान पर नियुक्त किए जाने के उपरान्त पीर मुहम्मद ने मालवा की सेनाओं को एकत्रित किया और असीर तथा बुरहानपुर के देशों को लूटने के लिए प्रस्थान किया। असीर तथा बुरहानपुर के सूबेदारों तथा बाजबहादुर ने जो मालवा से पलायन के बाद से उसी प्रदेश में रहता आया था मिल कर कार्य किया और देशों के सभी जमींदारों ने उनका साथ दिया; एक सेना एकत्रित करके उन्होंने पीर मुहम्मद पर आक्रमण कर दिया। पीर मुहम्मद उनका सामना न कर सका और माण्डू की ओर भाग गया, और जब वह नर्मदा के तट पर पहुँचा तो घोड़े से पानी में गिर कर डूब गया और इस प्रकार उसे अपने कर्मों का बदला मिल गया। ('तबकाते अकबरी')। जब अन्य अमीर मालवा पहुँचे तो उन्होंने देखा कि देश हाथ से निकल गया है, इसलिये उन्होंने सम्राट के दरबार का मार्ग पकड़ा। बाजबहादुर ने उनका पीछा किया और पुनः एक बार सम्पूर्ण मालवा में अपनी शक्ति स्थापित कर ली। जो अमीर मालवा छोड़ कर बिना आज्ञा के दरबार में चले आये थे उन्हें कुछ समय के लिए कारागार में डाल दिया गया और फिर मुक्त कर दिया गया।

'अब अब्दुल्लाखाँ उजबेग को मालवा की इस विकट स्थिति को पुनः सम्भालने की आज्ञा मिली और अनेक अन्य खानों को उसकी सहायता के लिये भेजा गया। ९६९ हिज्री (१५६२ ई०) के अन्त में अब्दुल्ला तथा उसके सहायकों ने मालवा में प्रवेश किया, बाजबहादुर उनका सामना न कर सका और कुम्भलमीर की पहाड़ियों में भाग गया। उसका पीछा करने के लिए एक दल भेजा गया जिसने अनेक भगोड़ों को पकड़कर मार डाला। बाजबहादुर ने कुछ समय के लिये मारवाड़ के एक मुख्य राजा राणा उदयसिंह के यहाँ शरण ली, और उसके बाद गुजरात चला गया किन्तु अन्त में उसने अपने को सम्राट की दया पर छोड़ दिया और नियति के कोप से बचने का प्रयत्न किया। (बदायूनी के अनुसार उसे कुछ समय के लिए बन्दी बना लिया गया था किन्तु मुक्त होने के उपरान्त शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई फैजी लिखता है कि उसे २,००० का मंसब दिया गया था।) अब्दुल्ला खाँ माण्डू में ही रहा और शेष अमीर अपनी अपनी जागीरों को लौट गये।

जुलाई १५६४ ई० में अब्दुल्ला खाँ ने विद्रोही भावनायें प्रकट कीं, इसलिये अकबर को स्वयम् उसके विरुद्ध कूच करना पड़ा। अब्दुल्ला खाँ शीघ्र ही गुजरात की ओर भगा दिया गया वहाँ से वह जौनपुर चला गया और वहीं १५६६ ई० में खानजमाँ के विद्रोह के दौरान में उसकी मृत्यु हो गई। तब शाही सेना आगे बढ़ी और जिल-हिज्ज ९७१ हिज्री में द्वितीया के दिन माण्डू पहुँच गई पड़ोस के जमींदार अभिवादन करने आये और यथापूर्वक उनका स्वागत किया गया। खानदेश के शासक मुबारकशाह ने एक पत्र तथा उपयुक्त उपहार अपने दूतों के हाथों सम्राट की सेवा में भेजे। मुहर्रम ९७२ हिज्री (१५६४ ई०) में शाही तंबुये

माण्डू से उखाड़े गये।.... .. कई बहादुर खाँ को माण्डू का सूबेदार नियुक्त किया गया....... 'मारवाड तथा ग्वालियर के मार्ग से होते हुये ३ रबी-उल-अव्वल को सम्राट आगरा पहुँचा।'

राजपूतों से पहली सन्धि—'८ जुमद-उल-अव्वल ६६६ हिज्री (जनवरी १५६२) को सम्राट ने अजमेर में स्थित ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की समाधि के दर्शन के लिये प्रस्थान किया। जब वह साँभर के निकट पहुँचा, तो उस देश का एक प्रमुख राजा बिहारी मल (कछवाहा) अपने पुत्र भगवानदास के साथ बड़ी भक्ति तथा सम्मानपूर्वक श्रीमान् सम्राट की सेवा में उपस्थित हुआ, उसका बड़े आदर तथा ध्यान के साथ सत्कार किया गया और उसकी एक पुत्री को जो एक सम्मानीय महिला थी, श्रीमान् सम्राट ने स्वीकार कर लिया, और दरबार की महिलाओं में उसे भी स्थान मिल गया। वहाँ से वह अजमेर गया और उस श्रेष्ठ नगर की जनता में बहुत से उपहार तथा पेंशनें बाँटी।

मैर्था पर अधिकार—'मिर्जा शर्फुद्दीन हुसैन जिसकी अजमेर में जागीर थी, अभिवादन करने आया। उसे उस प्रान्त के अन्य अनेक अमीरों के साथ मैर्था के किले को जो अजमेर से २० कोस की दूरी पर था और जिस पर उस समय मालदेव का सेना नायक जयमल शासन करता था, जीतने के लिये भेजा गया। तब सम्राट ने आगरा को प्रस्थान किया और शीघ्रता से मंजिलें तै करता हुआ एक सौ बीस कोस एक दिन और रात में चल कर वहाँ पहुँच गया। ('तारीखे अल्फी' में तीन दिन का समय दिया है जो अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है)। ....जब विजयी सेना किले पर अधिकार करने के लिये आगे बढ़ी, तो जयमल अपने आदमियों को लेकर बाहर निकल गया। किन्तु लज्जा तथा अहकार के कारण देवदास ने किले में जो कुछ सम्पत्ति थी उसमें आग लगा दी और राजपूतों के एक दल को लेकर झपट कर किले से बाहर निकला और शाही सेना के अग्र भाग पर टूट पड़ा।.... अनेक शाही सैनिक मारे गये और लगभग २०० राजपूत खेत रहे तब शाही सेना ने मैर्था के दुर्ग पर अधिकार कर लिया।'

गोंडवाना की वीर रानी दुर्गावती—इस काल की (१५५४ ई०) एक ओजपूर्ण घटना जब्बलपुर जिले में स्थित गढ़ की विजय थी; उसका 'तारीखे अल्फी' में निम्नांकित संक्षिप्त वर्णन दिया हुआ है:—

'ख्वाजा अब्दुल मजीद जिसे आसफ खाँ की उपाधि प्राप्त थी, कर्रा का सूबेदार नियुक्त किया गया और उस प्रान्त में उसने अच्छी सेवा की। उसकी एक सेवा गढ की विजय थी; गढ का प्रदेश जङ्गलों तथा पहाड़ियों से ढका हुआ था और इस्लाम के अभ्युदय से लेकर इस समय तक हिन्दुस्तान का कोई शासक उसे जीत नहीं पाया था। इस समय रानी (दुर्गावती) नाम की एक स्त्री उस पर राज्य करती थी और उस देश के सभी कुत्ते (!) उसके भक्त थे। आसफ खाँ ने अनेक बार विभिन्न बहानों से अपने दूत उस

देश में भेजे थे और जब उसने देश की परिस्थितियों और विशेषताओं और रानी के कोष के ठिकाने का पता लगा लिया तो उसे जीतने के लिए उसने एक सेना एकत्र की। रानी ५०० हाथी तथा २,००० घुड़सवार लेकर युद्ध करने के लिए निकली। सेनाओं की टक्कर हुई और दोनों ने ही यथासामर्थ्य युद्ध किया। रानी अपने घुड़सवारों के आगे आगे लड़ रही थी; उसके एक बाण लगा और जब उस वीर स्त्री ने देखा कि मैं बन्दी बना ली जाऊँगी तो अपने महावत से कटार लेकर अपने पेट में भोंक ली और मर गई। आसफ खाँ की विजय हुई और वह चौरागढ़ के दुर्ग में रुक गया, जहाँ पर गढ़ के राजाओं के कोष छिपे हुए थे। रानी के पुत्र ने अपने को किले में बन्द कर लिया किन्तु उसी दिन उस पर अधिकार हो गया और वह युद्ध घोड़ों की टापों से कुचल कर मर गया। लूट में इतने रत्न, सोना, चाँदी तथा अन्य वस्तुयें मिलीं कि उनके दशांश की भी गिनती करना असम्भव था। लूट के धन में से आसफ खाँ ने केवल पन्द्रह हाथी दरबार को भेजे, और शेष सब कुछ अपने पास रख लिया।'

गोंडवाना आधुनिक मध्य प्रदेश का उत्तरी भाग था। चौरागढ़ का किला आजकल नरसिंहपुर के जिले में स्थित है। जब आसफ खाँ का उस पर अधिकार हो गया तो उसके खजानों में पूर्वोक्त वस्तुओं के अतिरिक्त सोने के सिक्के तथा शिलायें [?] चित्रित बर्तन सामग्री, मूर्तियाँ जिन पर रत्न जटित तथा सजी हुई मूर्तियाँ पूर्णतया सोने की बनी हुई मूर्तियाँ तथा अन्य दुष्प्राप्य वस्तुयें सम्मिलित थीं। कहा जाता है कि सिक्कों में अलाउद्दीन खलजी की अशर्फियों से भरे हुये सौ बड़े बड़े कलश भी मिले थे।'

वीर रानी ने पन्द्रह वर्ष पहले अपने पुत्र वीर नारायण की अभिभाविका के रूप में राज्य का कार्य भार सँभाला था। यद्यपि अब राजा प्रौढ़ हो चुका था फिर भी वह राजशक्ति का उपभोग करती रही। 'रानी महोबा के प्रसिद्ध चन्देल वंश की, जिसकी ५०० वर्ष पहले भारत की महान शक्तियों में गणना थी, राजकुमारी थी। उसके पिता को दरिद्रता के कारण अपना अभिमान त्याग कर अपनी पुत्री का विवाह धनी गोंड राजा से करना पड़ा था जो सामाजिक स्थिति में उससे बहुत नीचा था। उसने अपने को अपने महान् पूर्वजों के योग्य सिद्ध किया और अपने स्वामी के देश पर साहस तथा योग्यता के साथ शासन किया और जैसा कि अबुल फज़ल ने लिखा है अपनी दूरदर्शितापूर्ण योग्यताओं द्वारा महान् कार्य सम्पादित किये। उसने बाज़ बहादुर तथा मियानों से बड़े-बड़े युद्ध किये और सदैव विजयप्राप्त की। युद्धों में वह २०,००० अच्छे अश्वारोही तथा १,००० प्रसिद्ध हाथी लेकर जाया करती थी। उस देश के राजाओं के कोष भी उसके अधिकार में आ गये थे। वह तीर तथा बन्दूक से निशाना लगाने में कुशल थी और सदैव आखेट के लिये जाती तथा अपनी बन्दूक से जंगली पशुओं का शिकार करती। उसका यह नियम था कि जब कभी वह चीते के प्रकट होने की सूचना पाती तो उसे बिना मारे पानी नहीं पीती थी।' स्मिथ का कथन है, 'अकबर का इसने

श्रेष्ठ चरित्र वाली रानी पर चढ़ाई करना एक कोरा आक्रमण था, रानी की ओर से कोई ऐसा कार्य नहीं किया गया था जिससे उसे उचित ठहराया जा सकता; केवल लूट और विजय की अभिलाषा ही उसका मुख्य कारण थी।"

पूर्व तथा पश्चिम में विद्रोह

इस काल के दो विद्रोह मुख्य थे : काबुल में अकबर के सौतेले भाई मिर्ज़ा मुहम्मद हाकिम का और जौनपुर में खानज़मान का। उनका परस्पर सम्बन्ध इतना था कि उन दोनों की एक दूसरे से सहानुभूति थी और वे आशा करते थे कि साथ-साथ कार्य करने से ही सफलता मिल सकती है।

काबुल—१५६४ ई० में 'मिर्ज़ा मुहम्मद हकीम तथा उसके लोगों ने बदख्शाँ वालों से अप्रसन्न होकर उन्हें काबुल से निकाल दिया। इस पर मिर्ज़ा सुलेमान एक बडी सेना लेकर इस निर्वासन का बदला लेने आया।"......—हाकिम भाग कर पेशावर पहुंचा तथा अकबर से सहायता की प्रार्थना की,...... जब मिर्ज़ा मुहम्मद हाकिम का संदेश शाही दरबार में पहुँचा तो पंजाब के सभी अमीरों तथा जागीरदारों के नाम आज्ञा जारी की गई कि वे अपने दल इकट्ठे करके मिर्ज़ा मुहम्मद हाकिम की सहायता के लिये पहुँचें शाही सेनाके पहुँचते ही मिर्ज़ा सुलेमान बदख्शाँ को भाग गया, किन्तु शीघ्र ही फिर लौट आया। मिर्ज़ा हाकिम ने पुन भाग कर शरण ली और फिर अकबर से प्रार्थना की। इस बार सम्राट ने मिर्ज़ा के मामा फरीदुनखाँ को जो शाही दरबार का एक अमीर था, उसकी सहायता के लिये जाने को आज्ञा दी।

फरीदुन ने मिर्ज़ा को शत्रुतापूर्ण कार्यवाही करने के लिये भडकाया और कहा कि लाहौर को विजय करना तुम्हारे लिये बहुत सरल होगा। सुल्तान अली नामक एक लिपिकार ने, जो दरबार से भाग गया था और शिहाबुद्दीन अहमद खाँ के भाई हसनखाँ ने, जो काबुल में था, शत्रुतापूर्ण भावनाओं को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया और फरदुन के प्रस्ताव का समर्थन किया। उनके फुसलाने में आकर मिर्ज़ा ने खुला विद्रोह कर दिया और सेना लेकर लाहौर की ओर चल पड़ा। नगर के निकट पहुँचकर उसने लूट-मार आरम्भ कर दी। इन कार्यवाहियों की सूचना पाकर पंजाब के कुछ अमीर लाहौर में एकत्र हुये। उन्होंने किले की रक्षा का प्रबन्ध किया और मिर्ज़ा के विद्रोह तथा शत्रुतापूर्ण कार्यों का वृत्तान्त सम्राट को लिख भेजा। लाहौर के निकट पहुँचकर मिर्ज़ा किले की दीवालों की ओर बढ़ा, किन्तु पंजाब के अमीरों ने अपनी बन्दूकों तथा तमन्चों की मार से उसे पीछे हटा दिया। अन्त में जब शाही सेना के पहुँचने का समाचार मिला तो मिर्ज़ा अपने को प्रतिरोध करने के योग्य न समझ कर भाग खड़ा हुआ[८]।

खानजमान का विद्रोह : खानज़मान तथा उसके भाई ने १५६५ ई० में पूर्वी प्रान्तों में विद्रोह किया। मई के महीने में अकबर को स्वयम् युद्ध-क्षेत्र में

उतरना पड़ा और यमुना पार की। दिसम्बर १५६५ ई० में ख़ानज़मान ने गंगा को पार न करने का वचन दिया और अकबर मार्च १५६६ ई० में आगरा वापिस लौट गया। इसी बीच में जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं मिर्ज़ा मुहम्मद हाकिम ने पंजाब पर आक्रमण कर दिया। 'उज़बगों के विद्रोहों ने उसे हिन्दुस्तान के सिंहासन के लिये प्रयत्न करने को प्रोत्साहित किया; और ख़ानज़मान ने तो यहाँ तक किया कि खुतबा भी अपने नाम में पढ़ वाया।" नवम्बर १५६६ ई० में अकबर ने अपने भाई के विरुद्ध कूच किया; किन्तु जब उसने उसकी हार तथा भागने का समाचार सुना तो लाहौर लौट आया और वहाँ पर उसे मिर्ज़ाओं के विद्रोह की सूचना मिली (फरवरी १५६७ ई०)। मिर्ज़ाओं को पहले मुरादाबाद के निकट सम्भल में जागीरें मिली हुई थीं, जब उन्होंने वहाँ विद्रोह किया तो उन्हें मालवा की ओर खदेड़ दिया गया। मई १५६७ ई० में अकबर को भी फिर एक बार ख़ानज़मान का अन्तिम रूप से दमन करने के लिये कूच करना पड़ा क्योंकि उसने अपने वचन को भङ्ग कर दिया था। निज़ामुद्दीन ने '*तबक़ात अकबरी*' में इन घटनाओं का *निम्नांकित* ब्योरा दिया है

'अब्दुल्लाखाँ उज़बेग के विरुद्ध जो कठोर कार्यवाहियाँ की गईं, जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है (उदाहरण के लिये द्रोहपूर्ण आचरण के कारण उसका मालवा से निकाला जाना) उसके परिणाम स्वरूप लोगों में यह धारणा फैल गई कि उज़बेगों के सम्बन्ध में सम्राट के विचार अच्छे नहीं हैं।' असन्तुष्ट अमीरों ने, जिनमें ख़ानज़मान का चाचा इब्राहीम भी था अली कुली खाँ (ख़ानज़मान) से सलाह करने का विचार किया, वह उन्हीं की जाति का था और उनके प्रदेश में सम्राट का प्रतिनिधि था। सलाह करने के उपरान्त उन्होंने विद्रोह करने का संकल्प कर लिया।— —इब्राहीम खाँ तथा सिकन्दर खाँ धृणापूर्ण योजनाओं को लेकर लखनऊ पहुँचे। ख़ानज़मान तथा उसका भाई कड़ा मानिकपुर गये और वहाँ विद्रोह कर दिया। ०

ख़ानख़ाना (जो शाही सेना का सेनापति था) की ख़ानज़मान से पुरानी तथा गहरी मित्रता थी इसलिए लम्बी बात-चीत के बाद ख़ानज़मान ने समर्पण करना तथा उचित बंधक देना स्वीकार कर लिया। 'ख़ानख़ाना के लिये सम्राट के हृदय में दयाभाव था इस लिये उसने कहा, 'तुम्हारे लिये मैं उनके अपराधों को क्षमा किये देता हूँ, किन्तु मुझे विश्वास नहीं है कि वे राज भक्त बने रहेंगे इसके बाद सम्राट चुनार का किला देखने गया जो अपनी ऊँचाई तथा दृढ़ता के लिये प्रसिद्ध था। जौनपुर से बनारस तक का मार्ग उसने तीन दिन में तय किया और वहाँ कई दिन ठहरा। किन्तु जब सम्राट चुनार चला गया तो ख़ानज़मान ने नदी पार की और मुहम्मदाबाद पहुँचा जो जौनपुर का एक अधीन ज़िला था, और वहाँ से ग़ाज़ीपुर तथा जौनपुर पर अधिकार करने के लिये सैनिक टुकड़ियाँ भेज दीं। जैसे ही सम्राट अपने शिविर में लौटा उसे अलीकुली खाँ की इन दुष्टतापूर्ण कार्यवाहियों की सूचना मिली उसने ख़ानख़ाना को धिक्कारते हुये कहा,

"मैं इस स्थान को छोड भी न पाया था कि अलीकुली खाँ ने अपनी क्षमा की शर्तों को तोड दिया।" खानखाना लज्जित हुआ और बहाने बनाने का प्रयत्न किया।

'अशरफ खाँ मीरबख्शी को जौनपुर जाकर वहाँ से अली कुली खाँ की माता को बन्दी बनाने तथा जौनपुर के किले में रखने की आज्ञा दी गई। उससे यह भी कहा गया कि जो भी विद्रोही मिले उसे पकड लाओ।" सम्राट ने स्वयम् एक बड़ी सेना लेकर शीघ्रता से अलीकुली खाँ के विरुद्ध कूच कर दिया।" "सम्राट की सेनाओं ने सवर (सरू) नदी के किनारों पर अधिकार कर लिया और सब जङ्गलों को ढूंढने के बाद पता लगा कि खानजमान शिवालिक पहाडियों की तरफ चला गया है। उसी समय समाचार मिला कि बहादुर खाँ ने जौनपुर जाकर अपनी माता को मुक्त कर लिया है। उसने अशरफ खाँ को बन्दी बना लिया और शाही शिविर पर भी आक्रमण करने की योजना बनाने लगा। यह सुन कर सम्राट ने खानजमान का पीछा छोड दिया और जौनपुर की ओर लौट आया।" वहाँ उसने एक सुन्दर स्थान ढूंढने तथा उस पर एक शानदार महल बनवाने की आज्ञा दी और अमीरों से भी अपने पदों के अनुरूप भवन बनवाने को कहा, क्योंकि यह निश्चय कर लिया गया था कि जब तक अली कुली खाँ तथा उसका भाई (बहादुर खाँ) इस संसार में रहें तब तक जौनपुर ही राज्य की राजधानी रहे। शाही दलों को भगोडों का पीछा करने से लिये भेजा गया और आज्ञा दी गई कि जब तक उन्हें उचित दण्ड न दे लो, विश्राम न करो।

'जब अली कुली खाँ ने यह सुना तो उसने शिवालिक पहाडियों को, जहाँ भाग कर उसने शरण ली थी, छोड दिया और गंगा की ओर आया, और अपने एक स्वामिभक्त नौकर को एक सन्देश देकर दरबार में भेजा। खानखाना ने"'एक बार फिर खानजमान की ओर से अनुनय विनय की, और महान दयालु सम्राट ने एक बार पुनः उसके अपराधों को क्षमा कर दिया। "तब, जैसी कि उसे आज्ञा दी गई, उसने अपने अपराधों के लिये पश्चाताप किया, स्वामिभक्ति की शपथ खाई और आगन्तुक को विदा किया। इस प्रकार जब सम्राट के शत्रु अपने पापाचारों के लिये पछताये और समर्पण कर दिया तब वह अपने शासन-काल के ग्यारहवें वर्ष के प्रारम्भ में, ९७३ हिज्री में, (१२ मार्च १५६६ ई०) राजधानी को लौट आया।

आशफ खाँ का समर्पण—'जब सम्राट का मन अली कुली खाँ तथा अन्य विद्रोहियों की ओर से निश्चिन्त हो गया, तब उसने शाही परिवार के वृद्ध अमीर मधी कासिम को ३,००० अथवा ४,००० सेना के साथ गढ राज्य की व्यवस्था करने तथा आसफ खाँ को पकडने भेजा (खानजमान के युद्ध के दौरान में वह सहसा इस डर से भाग गया था कि कहीं उसको चौरागढ के लूट के धन का हिसाब न देना पड़े)। इससे पहले कि मधी कासिम वहाँ पहुँचा, आसफखा चौरागढ के दुर्ग को छोड कर जङ्गलों में भाग गया। उसने सम्राट को एक नम्रता तथा पश्चातापपूर्ण पत्र लिखा और तीर्थ यात्रा को जाने की आज्ञा मांगी। गढ पहुँचकर मधी कासिम खाँ ने सम्पूर्ण देश पर अधिकार

कर लिया और आसफ खाँ का पीछा करने के लिये गया; तब आसफखाँ ने खानजमान को पत्र लिखे कि मैं स्वयम् आकर आपके साथ रहना चाहता हूँ। खानज़मान ने उसे उत्तर लिख भेजा और अपने पास आने को आमन्त्रित किया। इससे धोखा खाकर आसफ खाँ जौनपुर गया किन्तु पहली ही भेंट में उसे खानजमान के उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार का पता चल गया और उसे वहाँ आने का दु:ख हुआ। (उसके बाद कुछ समय इधर-उधर मारा मारा फिरने के उपरान्त वह सम्राट के पास गया, जबकि वह मिर्ज़ा मुहम्मद हाकिम का पीछा करने के लिये लाहौर में डेरे डाले हुये था; अपने अपराधों के लिये उसे क्षमा मिल गई।)

मिर्ज़ाओं का विद्रोह— जिस समय वह लाहौर में ठहरा हुआ था आगरे से मुनीमखाँ खानखाना का पत्र आया कि सुल्तान मुहम्मद मिर्ज़ा तथा उलुग मिर्ज़ा के पुत्रों ने जिनके नाम इब्राहीम हुसैन मिर्ज़ा, मुहम्मद हुसैन मिर्ज़ा तथा शाह मिर्ज़ा थे और जिन्हें सांभल की सरकार में जागीरें मिली हुई थीं विद्रोह कर दिया था। जब खानखाना उन्हें दण्ड देने गया और दिल्ली तक पहुँच गया तो उसके आगमन का समाचार सुनकर वे मान्डू की तरफ चले गये। ये मिर्ज़ा अकबर के दूर के सम्बन्ध में भाई लगते थे और बाबर तथा हुमायूँ दोनों ने उन पर अनुग्रह किया था। अकबर ने भी उनमें से प्रत्येक को समुचित जागीरें दी थीं और अमीर का पद देकर प्रतिष्ठित किया था। वे सदैव सम्राट के समक्ष उपस्थित रहे और सेवा करते रहे। जब सम्राट जौनपुर के युद्ध से लौटा तो वे अपनी जागीरों को चले गये और सांभल में बने रहे। किन्तु जब सम्राट मिर्ज़ा मुहम्मद हाकिम का दमन करने के लिये लाहौर गया तो उस समय उन्होंने विद्रोह कर दिया।

खानज़मान का अन्तिम रूप से दमन— एक आज्ञा निकाली गई कि आसफखाँ म नून खाँ (जिसने पहले एक बार खानजमान का प्रतिरोध किया था) के साथ कड़ामानिकपुर को जाय और अधीन मरदों की सुरक्षा का प्रबन्ध करे। इसी समय समाचार मिला कि अली कुली खाँ, बहादुर खाँ तथा सिकन्दर खाँ ने फिर अपने वचन भंग कर दिये हैं और विद्रोह का झण्डा खड़ा कर लिया है (और मिर्ज़ा मुहम्मद हाकिम के नाम में खुतबा पढ़वाया है)। तब सम्राट ने उनके वकील मिर्ज़ा मिराक रिज़वी को खान बाकी खान की हिरासत में रख दिया और पंजाब के प्रबन्ध का भार मीर मुहम्मद खाँ तथा अमी अफ़सरों के हाथ में छोड़ कर १२ रमज़ान ९७४ हिज्री को (२२ मार्च १५६७ ई०) आगरा वापिस लौटने के लिये प्रस्थान कर दिया।

आगरा पहुँचकर सम्राट को समाचार मिला कि खानज़मान ने कन्नौज से चार कोस की दूरी पर स्थित शेरगढ़ के किले को घेर लिया है। उन्नीस दिन बाद सम्राट ने खान खाना को नगर का भार सौंपा और तईस ज़ुल्काद ९७४ हिज्री को सोमवार के दिन जौनपुर के लिये प्रस्थान किया। जब वह सकीट के परगने में पहुँचा तो अली कुली खाँ अपने भाई के पास मानिकपुर चला गया। जब वह रायबरेली के परगने में पहुँचा तो समाचार मिला कि विद्रोहियों ने कालपी की ओर जाने के उद्देश्य से गंगा नदी को पार कर लिया है

राजपूताना की विजय

स्मिथ लिखते हैं "सितम्बर १५६७ ई० में अकबर ने चित्तौड़ की विजय का संकल्प किया जो उसके सैनिक कार्यों में सबसे अधिक प्रसिद्ध, दुःखद तथा रोचक था और जिसका वर्णन विशेष विस्तार से करना उचित है। इस आक्रमण के अनेक कारण बतलाये गये हैं :। राणा ने बाजबहादुर को मालवा से भागने के बाद अपने यहाँ शरण दी थी ; विद्रोही मिर्ज़ाओं की सहायता की थी ; अम्बेर के शासक (बिहारमल) की भाँति आगे आकर सम्राट के समक्ष समर्पण नहीं किया था और न अपने वंश की किसी राजकुमारी का ही सम्राट से विवाह करना स्वीकार किया था इत्यादि-इत्यादि। किन्तु जैसा कि डा० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है 'राजपूतों के बिना कोई भारतीय साम्राज्य टिक नहीं सकता था और न उनके चातुर्यपूर्ण तथा सक्रिय सहयोग के बिना सामाजिक अथवा राजनैतिक समन्वय ही स्थापित हो सकता था। इसलिये मेवाड़ की विजय उसकी महान योजना का एक अंग थी और सम्राट इसको सम्पूर्ण हिन्दुस्तान की विजय की प्रथम सीढ़ी समझता था।' अम्बेर पहले ही साम्राज्यीय जाल में फँस चुका था चित्तौड़ के पतन के बाद रणथम्भौर कालिंजर, जैसलमेर बीकानेर और जोधपुर ने भी हथियार डाल दिये।

स्मरण रहे कि युद्ध में सिंह के समान राणा साँगा का भी १५३० ई० में लगभग उसी समय देहान्त हो गया था, जिस समय उसके विजेता बाबर का। जिस समय १५३५ ई० में गुजरात के बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया उसके उत्तराधिकारी ने व्यर्थ ही हुमायूँ से सहायता की प्रार्थना की; और १५४४ ई० में अफ़ग़ान साहसिक शेरशाह के सामने प्राचीन तथा गर्वीला चित्तौड़ अशक्त सिद्ध हुआ और भूमिसात हो गया। 'मेवाड़ का यह दुर्भाग्य था कि इस संकट के क्षण में एक भीरु राजकुमार (उदयसिंह) उसके सिंहासन पर बैठा जब कि भारत में एक ऐसा व्यक्ति शासन कर रहा था, जो उसके इतिहास का योग्यतम और सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वाकांक्षी सम्राट था। टॉड का कथन है उदयसिंह में शासक का एक भी गुण नहीं था; सैनिक पराक्रम का जो उसकी जाति की सामान्य विरासत थी उसमें अभाव था और इसलिये वह सभी गुणों से हीन था।' राजपूतों के इतिहासकार ने उचित ही कहा है कि मेवाड़ के लिये यह अच्छा हुआ होता कि उस कटार का संकल्प पूरा हो जाता और इतिहास में राजाओं की सूची में उदयसिंह का नाम लिखा गया होता।'

चित्तौड़ का घेरा—निज़ामुद्दीन लिखता है 'जब सम्राट राजधानी को लौट आया था और अली कुली ख़ाँ तथा अन्य विद्रोहियों के सम्बन्ध में उसका मस्तिष्क निश्चिन्त हो चुका था, इसलिये उसने चित्तौड़ की विजय की ओर ध्यान दिया। उस ओर जाते समय मार्ग में सम्राट ने मिर्ज़ाओं का विध्वंस सोमल से

भाग कर उन भागों में शरण ली थी, दमन करना आवश्यक समझा। इसलिये उसने शहाबुद्दीन अहमदखाँ तथा अन्य अमीरों को, जिन्हें माण्डू में जागीरें मिली हुई थीं, इस काम का भार सौंपा। जब अमीर उज्जैन पहुँचे जो उस देश का एक मुख्य स्थान है, तो उन्हें पता लगा कि सम्राट् के आगमन का समाचार सुन कर मिर्ज़ा लोग इकट्ठे होकर गुजरात की ओर भाग गये थे, इसलिये अमीरों का माण्डू पर निर्विरोध अधिकार हो गया।

'जब सम्राट् गगरून से आगे बढ़ा तो राणा उदयसिंह ने चित्तौड़ की रक्षा के लिये ७,००० अथवा ८,००० सैनिक जयमल नामक एक पराक्रमी राजपूत सरदार की अध्यक्षता में छोड़ दिये, जिसने जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, मैर्था के किले में मिर्ज़ा शरफउद्दीन हुसैन से युद्ध किया था। राणा ने स्वयम् अपने सम्बन्धियों तथा आश्रितों के साथ पहाड़ियों और जङ्गलों में शरण ली और शीघ्र ही अपने लिये उदयपुर में एक नई राजधानी बना ली।

'चित्तौड का किला एक पहाडी पर स्थित है जिसकी ऊँचाई लगभग एक कोस है और जिसका अन्य किसी पहाडी से कोई सम्बन्ध नहीं है। दुर्ग की लम्बाई तीन कोस है। इसमें पर्याप्त बहता हुआ पानी है। श्रीमान् सम्राट् की आज्ञा से किले के चारों ओर की भूमि विभिन्न अमीरों में बाँट दी गई। शाही दलों को देश को लूटने तथा उजाड देने की आज्ञा दी गई और आसफ खाँ को उस प्रान्त के एक समृद्ध नगर रामपुर को (चित्तौड़ से दक्षिण पूर्व में लगभग ५० मील पर) भेजा गया। उसने आक्रमण करके किले को हस्तगत कर लिया और निकटवर्ती सभी प्रदेश को रौंद डाला। हुसैन कुली खाँ को एक टुकड़ी के साथ उदयपुर तथा कुम्भलनीर (उदयपुर से ३४ मील उत्तर-पश्चिम में), जो देश के उस भाग का एक प्रमुख गढ है और जो राणा का निवास स्थान है, भेजा गया। उसने अनेक नगरों तथा गाँवों को ऊजड कर दिया किन्तु राणा का पता न लगा, इसलिये शिविर में लौट आया।

'जब चित्तौड के घेरे को चलते हुए कुछ समय हो गया तो सम्राट् ने साबतें बनवाने तथा खाइयाँ खुदवाने की आज्ञा दी। लगभग पाँच हजार कारीगर, बढई तथा राज इकट्ठे किये गए और उन्होंने किले के दो तरफ साबतें बनाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। जिस समय साबतें बन रहीं थीं, दुर्ग रक्षक अपनी बन्दूकों तथा तमचों से ऐसी अग्नि-वर्षा करते रहे, जिससे काम में लगे हुये शिल्पियों तथा मजदूरों में से सौ से अधिक प्रतिदिन मारे गए, यद्यपि वे बैल की खाल की ढालों की आड में काम किया करते थे। शवों को ईंटों की भांति दीवारों में चिन दिया गया। थोडे ही समय में साबत बनकर पूरी हो गई और किले के निकट पहुँचा दी गई।

'२५ शबन ९७५ हिज्री मगलवार की रात को शाही दल चारों ओर से इकट्ठे हो गये और दीवार में दरार कर ली, तब भयानक सग्राम प्रारम्भ हो गया। किले का सेनापति जयमल अपने सैनिकों को प्रोत्साहन देने के लिए स्वयम् दरार के पास आया। सम्राट बरामदे में जो साबत के ऊपर उसके लिये बनाया गया था, बैठा हुआ था।

बन्दूकों तथा तमंचों की अग्नि से उस स्थान पर जो प्रकाश पड़ रहा था उसमें जयमल का चेहरा दिखाई दे गया। सम्राट ने उस पर निशाना लगाया और ऐसा घायल कर दिया कि वह वहीं मर गया। अपने नेता के पतन से दुर्गरक्षकों का साहस टूट गया और प्रत्येक व्यक्ति अपने घर की ओर दौड़ने लगा। उन्होंने अपनी स्त्रियों, बच्चों तथा धन सम्पत्ति को एक स्थान पर इकट्ठा किया और जला दिया। हिन्द के काफिरों की भाषा में यह क्रिया जौहर कहलाती है। अब शाही दल एकत्र हो गए और उन्होंने अनेक दरारों में होकर आक्रमण किया। अनेक काफिर उनकी रक्षा के लिए आगे झपटे और अत्यधिक पराक्रम से युद्ध किया। सम्राट साबात में बैठा हुआ अपने लोगों के परिश्रम को देखकर प्रसन्न हो रहा था। आदिल मुहम्मद कन्धारी* तथा अन्य लोगों ने महान् पराक्रम तथा साहस का परिचय दिया और उनकी बहुत प्रशंसा हुई। उस रात भर युद्ध चलता रहा किन्तु प्रातःकाल — जो गौरवपूर्ण था — होते ही किले पर अधिकार होगया। सम्राट् हाथी पर सवार हुआ और अपने स्वामिभक्त सेवकों को पैदल लेकर किले में प्रवेश किया। सामान्य नर संहार की आज्ञा दी गई और लगभग ८,००० राजपूतों को जो उस स्थान में थे, अपने कार्यों का फल भोगना पड़ा। दोपहर के उपरान्त संहार बन्द कर दिया गया और सम्राट अपने शिविर को लौट आया और वहाँ तीन दिन उसने विश्राम किया। आसफखाँ को उस देश पर शासन करने के लिये नियुक्त किया गया और श्रीमान् सम्राट् ने २५ शबन, मंगल के दिन राजधानी के लिये प्रस्थान किया।

जब सम्राट ने चित्तौड़ की विजय के लिये कूच किया था उस समय उसने व्रत लिया था कि सफल होने पर मैं अजमेर में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के मकबरे की यात्रा करूँगा। इस व्रत को पूरा करने के लिये उसने अजमेर को प्रस्थान किया और पूरा मार्ग पैदल चलकर तय किया। [illegible] रमजान, रविवार को वह अजमेर पहुँचा। उसने तीर्थ यात्रा की सभी रीतियों को पूरा किया और दान-दक्षिणा देकर दरिद्रों को प्रसन्न किया। वह वहाँ दस दिन तक ठहरा और फिर राजधानी को चला आया। (मार्च १५६८ ई० में वह आगरा पहुँचा।)

रणथम्भौर — कुछ महीने आगरा में ठहरने के उपरान्त सम्राट ने रणथम्भौर के किले पर आक्रमण करने का संकल्प किया यह हिन्दुस्तान में सबसे अधिक शक्तिशाली तथा ऊँचा किला समझा जाता था। उन दलों को एकत्र करने की आज्ञा दी गई जिन्होंने चित्तौड़ के घेरे में भाग नहीं लिया था।

'जब अमीर कई मंजिलें तय कर गये तो सम्राट को मिर्जाओं के उपद्रवों की सूचना मिली, जो गुजरात से भाग निकले थे और मालवा में स्थित उज्जैन के किले को घेर लिया था। तब सम्राट ने कलिजखाँ को उन अमीरों तथा सेना को साथ लेकर जिन्हें रणथम्भौर भेज दिया गया था मिर्जाओं के विद्रोह को दमन करने की आज्ञा दी। इस आज्ञा के अनुसार दोनों दल संयुक्त हो गये। जब मिर्जाओं को उनके पहुँचने का समाचार मिला तो उज्जैन का घेरा उठा कर वे माण्डू की ओर चले गये। सभी लोग मिर्जाओं का पीछा करने के लिये दौड़े वे माण्डू से भाग कर नर्बदा के तट को चले गये

थे। उन्होंने ऐसी घबड़ाहट में नदी पार की उनके बहुत से आदमी डूब गये। उसके बाद मिर्जा लोग गुजरात चले गये। ''शेष कार्यवाही का यथास्थान वर्णन किया जायगा।

'वर्ष प्रारम्भ होते ही (२२ फरवरी १५६६ ई०) सम्राट ने रणथम्भौर की ओर कूच किया और कुछ ही समय में किले की दीवालों के नीचे पहुँच गया। किले को घेर लिया गया। सावतें बनवाई गईं और तोपों से कई स्थानों में दरारें कर लीं गईं। किले के शासक राय सुर्जन ने जब घेरे की प्रगति देखी तो उसकी धृष्टता तथा घमण्ड लच गया और उसने अपने दुध तथा भोज नामक दो पुत्रों को संधि के लिये भेजा। श्रीमान सम्राट ने दोनों युवकों का, जो उसकी दया की भीख माँगने आये थे, दयालुतापूर्वक सत्कार किया और उनके अपराधों को क्षमा कर दिया। उसने हुसैन कुली खाँ को, जिसे खान जहान की उपाधि मिल गई, राय सुर्जन को आश्वासन देने के लिये किले में भेजा। वह गया और राय को लाकर सम्राट की सेवा में उपस्थित किया, राय ने स्पष्ट रूप से अधीनता स्वीकार कर ली और शाही सेवकों में उसे भर्ती कर लिया गया।

कालिंजर —'अफगानों के अराजकतापूर्ण शासन-काल में राजा रामचन्द्र ने कालिंजर का दुर्ग बिजिलीखाँ से भारी मूल्य देकर खरीद लिया था।'''' '' चित्तौड़ तथा रणथम्भौर के किलों की विजय का यश सारे संसार में फैल गया था और साम्राज्यीय सेना के वे लोग जिनकी जागीरें कालिंजर के निकट थीं, किले को हस्तगत करने की निरन्तर योजनाएँ बना रहे थे और युद्ध छेड़ने के लिये उतावले हो रहे थे। राजा रामचन्द्र अनुभवी तथा बुद्धिमान व्यक्ति था और अपने को शाही सिंहासन का समर्थक मानता था। उसने अपने आदमियों के द्वारा किले की कुंजियाँ तथा उपयुक्त उपहार सम्राट की सेवा में भेज दिये और साथ ही साथ उसे जो विजयें प्राप्त हुई थीं, उनके लिये बधाई भी दी। उसी दिन उस प्रदेश के एक जागीरदार मजनूनखाँ को किले का भार सौंप दिया गया और राजा रामचन्द्र के पास एक मैत्री-सूचक फरमान भेजा गया। सम्राट के शासन-काल के चौदहवें वर्ष में, ९७७ हिज्री के सफर महीने में, किला उसके अधिकार में आया।

जोधपुर तथा बीकानेर —'जिस समय सम्राट नागौड़ में ठहरा हुआ था, राइ मालदेव का पुत्र चन्द्रसेन सम्राट का अभिवादन करने तथा भेंट चढ़ाने आया। बीकानेर का राजा कल्याणमल भी अपने पुत्र राईसिंह के साथ सम्राट की सेवा में उपस्थित हुआ और कर भेंट किया। पिता तथा पुत्र दोनों की राजभक्ति प्रकट हो जाने पर सम्राट ने कल्याणमल की पुत्री से विवाह कर लिया। चालीस दिन तक उसने अपने न्याय तथा दया के प्रकाश से नागौड की दरिद्र जनता को प्रफुल्लित किया। वहाँ से वह शेख फरीदुद्दीन मसूद गंजे शकर की समाधि के दर्शन करने के लिये अजोधन गया। राइ कल्याणमल इतना मोटा था कि घोड़े पर भी नहीं चढ़ सकता था, इसलिये उसे बीकानेर लौट जाने की आज्ञा मिल गई

किन्तु उसके पुत्र को सम्राट की सेवा में ही उपस्थित रहने का आदेश हुआ और उसमें उस उच्च पद प्राप्त हुआ ।

राजपूत-युद्धों के परिणाम

इन युद्धों से राजपूताना का पूर्ण दमन किसी भी प्रकार से नहीं हुआ। इससे भी विकट संग्राम अभी निर्भीक राणा प्रताप से होना था जिसमें 'कभी समर्पण न करने अथवा हार न मानने का साहस था।' किन्तु इस बीच में, अगस्त १५६९ ई० से जुलाई १५७६ ई० तक सात वर्ष का समय शान्ति से बीता, इससे पहले कि हिन्दुओं के सिरों पर हिन्दुओं के ही हाथों इस्लाम की तलवार का पुनः प्रहार हुआ। अब तक राजपूताना की विजय के लिये किये गये प्रारम्भिक प्रयत्नों की मुख्य विशेषताओं तथा परिणाम पर विचार कर लेना लाभप्रद होगा। अकबर ने मेर्टा पर जो 'मारवाड़ का दूसरा नगर कहलाता था', सहसा आक्रमण करके अधिकार किया था, इस विजय में उसका उद्देश्य कुछ भी रहा हो। अम्बेर के राजा भारमल ने 'अकबर के राजपूताना पर आक्रमण से पहले ही अपने को तथा अपने पुत्र भगवानदास को उसके अधीन राजाओं में सम्मिलित कर लिया था, अकबर को अपनी एक पुत्री विवाह में दे दी थी और अपने देश पर साम्राज्य की सैनिक जागीर के रूप में शासन कर रहा था।" उसके बाद और भी सफलतायें मिल चुकी थीं। अभिमानी राणा को भागकर पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी थी; चित्तौड़ पर अधिकार हो गया था और रणथम्भौर कालिंजर जोधपुर तथा बीकानेर ने भी कम से कम कुछ समय के लिये समर्पण कर दिया था। टॉड ने इन घटनाओं का इस प्रकार वर्णन किया :—

✓ अकबर मुगलों के साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक था, वह पहला सफल विजेता था जिसने राजपूतों की स्वाधीनता पर विजय पाई; इस उद्देश्य की पूर्ति में उसके गुण बहुत सहायक हुये क्योंकि उसमें विचारों का विश्लेषण करने तथा तुरन्त ही उनके अनुसार कार्य करने की क्षमता थी, यही कारण था कि जिन शृंखलाओं से उसने उन्हें बाँधा उन पर वह सोने का पानी चढ़ाने में सफल हुआ। आदत पड़ जाने पर वे उनके अभ्यस्त हो गये और विशेषकर जब सिंहासन की ओर से उनके राष्ट्रीय अहंकार को संतुष्ट करने का उद्यम किया गया अथवा जब उनकी कुत्सित वासनाओं को पूरा किया गया। किन्तु इससे पहले कि उसकी विजय पर्याप्त रूप से स्थाई हो सकी सैनिक जातियों की अनेक पीढ़ियाँ उसकी तलवार द्वारा काट डाली गई थीं और उनका प्रताप धूल में मिला दिया गया था। बहुत दिनों तक उसकी गणना शाहबुद्दीन अलाउद्दीन तथा विनाश के अन्य कर्त्ताओं में होती रही और इस प्रकार की तुलना उचित भी थी; उन लोगों की भाँति उसने भी एक लिंग की वेदियों से कुरान के लिये मुम्बा (मचान) तैयार करवाया फिर भी वह अन्त में उन घावों को पूरने में सफल हुआ जो उसकी महत्वाकांक्षाओं ने किये थे

और करोड़ों लोगों मे उसने वह प्रशंसा प्राप्त की, जो उसकी जाति के अन्य लोगों को उपलब्ध न हो सकी थी।'

अकबर तीन विशिष्ट प्रकार के राजपूतों के सम्पर्क में आया : (१) अम्बेर के प्रकार के वे जिन्होंने सरलता से समर्पण कर दिया और जो शीघ्र ही साम्राज्यीय व्यवस्था में घुल-मिल गये, (२) वे जिन्होंने डट कर युद्ध किया अथवा जिन्होंने विजेता से सम्मानपूर्ण समझौता कर लिया, जैसे रणथम्भोर, और (३) वे जिन्होंने आत्मसात होने से इनकार किया और या तो भागकर शरण ली अथवा निरन्तर युद्ध करते रहे जैसे मेवाड़ के राणा। पहले दो प्रकार के राजपूतों ने समर्पण करके समझौते की तथा एकीभूत होने की भावना का परिचय दिया, संयुक्त राष्ट्र के निर्माण के लिये, जिसमें अकबर अपनी प्रतिभा की सम्पूर्ण शक्ति जुटा रहा था, इस प्रकार की भावना अत्यावश्यक थी। अन्तिम प्रकार के राजपूतों ने अपनी अनन्त घृणा, अजेय अहंकार तथा कभी समर्पण न करने अथवा हार न मानने के साहस द्वारा हमारे राष्ट्रीय चरित्र की श्रेष्ठता तथा शक्ति के निर्माण में योग दिया। अकबर तथा हाडा राजपूतों के बीच जो संधि हुई वह गम्भीर राजनीतिज्ञता की दृष्टि से उल्लेखनीय है —

बूंदी के इतिहास में लिखा है —'तत्काल ही एक संधि-पत्र तैयार किया गया, अम्बेर (जयपुर) के राणा ने मध्यस्थता की। उस सन्धि से हिन्दुओं की भावनाओं का अच्छा परिचय मिलता है। शर्तें ये थीं :—(१) बूंदी के सरदारों को शाही रनिवास में डोला भेजने पर बाध्य न किया जाय क्योंकि यह प्रथा एक राजपूत के लिये अकीर्तिकर है, (२) जिजया से मुक्ति, (३) बूंदी के सरदारों को अटक पार करने पर बाध्य न किया जाय, (४) बूंदी के सामन्तों को नौ रोज के उत्सव पर महल के मीना बाजार में दूकान रखने के लिये अपनी स्त्रियों को भेजने पर बाध्य न किया जाय, (५) उन्हें दीवाने-आम में अस्त्र-शस्त्रों से पूर्णतया सुसज्जित होकर प्रवेश करने का विशेषाधिकार हो, (६) उनके पवित्र भवनों का सम्मान किया जाय, (७) उन्हें कभी किसी हिन्दू नेता के सेनापतित्व मे न रक्खा जाय, (८) उनके घोड़ों को शाही दाग (माथे पर एक फूल का दाग) से न दागा जाय, (९) उन्हें राजधानी की सड़कों पर लाल दरवाजे तक अपने नक्कारे बजाने की आज्ञा हो, (१०) सम्राट के सामने उपस्थित होने पर उन्हें सिजदा करने की आज्ञा न दी जाय, और (११) जो दिल्ली सम्राट के लिये है वही बूंदी हाडा लोगों के लिये हो और सम्राट की ओर से आश्वासन मिले कि उनकी राजधानी का कभी परिवर्तन न होगा।'

किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, "अकबर के सैनिक कार्यों में सबसे अधिक प्रसिद्ध तथा दुःखदरूप से रोचक उस चित्तौड़गढ़ का नाश था, जो "आठ शताब्दियों के वीरतापूर्ण कार्यों तथा हृदय विदारक दुःखद घटनाओं की स्मृति से पवित्र हो चुका था। उससे राजपूतों की आत्मा को गहरा घाव लगा। वह स्थान अभिशप्त हो गया और आजतक उदयसिंह का कोई उत्तराधिकारी उसकी सीमाओं

के भीतर जो एक समय उसके पूर्वजों का पवित्र गढ़ था, पैर रखने का साहस नहीं कर सकता। आपरखौगद में 'कामवैल के शाप' की भाँति 'चित्तौड़ के संहार का पाप' भी एक लोकोक्ति बन गया है और एक विचित्र प्रथा द्वारा उसकी स्मृति आज तक जीवित रखी जाती है अथवा कुछ वर्ष पहले तक जीवित थी। कहा जाता है कि अकबर ने राजपूतों के जनेउओं को, जिन्हें पहिनना उच्च जाति वालों का विशेषाधिकार तथा कर्तव्य है, इकट्ठा करके तथा तौलकर राजपूत मृतकों का अनुमान लगाया। उनकी तौल ७४॥ मन (१ मन लगभग ८ पौंड का) हुई थी। ['इस विनाश की स्मृति को अमर रखने के लिये ७४॥ को तिलक अथवा अभिशप्त मान लिया है। राजस्थान में साहूकारों की चिट्ठियों पर यह निशान लगा दिया जाता है और यह मानो एक मुहर मानी जाती है, क्योंकि यह विश्वास है कि इस रहस्यपूर्ण संख्या से सुरक्षित पत्र को जो खोलेगा उसके सिर पर 'चित्तौड़ के संहार का पाप' पड़ेगा।'] पराजित व्यक्ति ही नहीं बल्कि ये वस्तुयें भी जिन्हें टॉड ने 'राजत्व का प्रतीक' कहा है विजेता के कोप का भाजन बनीं। किले के फाटक उतार कर आगरा पहुँचा दिये गये। नक्कारे, जिनका व्यास आठ अथवा दस फीट था और जिनकी प्रतिध्वनि से 'आस पास कई मील तक लोगों को राजाओं के प्रवेश करने तथा निकलने' की सूचना मिलती थी तथा उस महामाता के मन्दिर का बहुमुखी दीपक जिसने (महामाता) बप्पा रावल को वह तलवार प्रदान की थी जिससे चित्तौड़ जीता गया था—इन्हें भी विजेता उठा ले गये। कायर राणा उदयसिंह (जो अकबर के आ पहुँचने पर अरावली पहाड़ियों में भाग गया था और वहाँ नई राजधानी उदयपुर की स्थापना की थी) चित्तौड़गढ़ के पतन के उस स्वयम् रक्षा करनी चाहिये थी पतन के चार वर्ष उपरान्त अरावली पहाड़ियों में स्थित गोगुन्दा में मर गया। उसके वीर उत्तराधिकारी राणा प्रताप ने दीर्घकाल तक अकबर से युद्ध किया और धीरे धीरे मेवाड़ का अधिकांश पुनः जीत लिया। किन्तु चित्तौड़ उजाड़ ही पड़ा रहा।

गुजरात की विजय

गुजरात के धनी प्रान्त को हुमायूँ ने विजय किया तथा खो दिया था। इसलिये उसकी विजय के लिए अकबर के पास एक उचित बहाना था। 'अनेक बन्दरगाहों तथा उनके द्वारा होने वाले विस्तृत सामुद्रिक व्यापार के कारण गुजरात भारतवर्ष का सबसे धनी राज्य हो गया था। उसकी राजधानी अहमदाबाद की गणना संसार के सुन्दरतम नगरों में थी और यह उचित ही था और अनेक स्थानों में नमक कपड़ा तथा कागज के उद्योग फल-फूल रहे थे।' बहादुर शाह की मृत्यु के बाद शीघ्र ही गुजरात में जो अराजकता फैल गई उसका पहले उल्लेख हो चुका है। निजामुद्दीन लिखता है, सम्राट के दरबार में गुजरात की स्थिति के सम्बन्ध में बराबर बात चीत चला करती थी और उसके दुष्

राजाओं के उत्पीड़न तथा स्वेच्छाचारिता और उसके नगरों तथा कस्बों की बरबादी के समाचार बहुधा आते रहते थे। चूंकि अब विद्रोहियों के दमन से तथा उनके ऊँचे-ऊँचे किलों के अधिकार में आ जाने से सम्राट का मन पूर्णतया निश्चिंत हो गया था, इसलिये उसने गुजरात की विजय की ओर ध्यान दिया।' स्मिथ के शब्दों में, "उस समय देश में सुव्यवस्थित सरकार का अभाव था और वह सात छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था जो आपस में लड़ा करते थे। उनके ऊपर नाममात्र के राजा मुजफ्फरशाह तृतीय का जिसके वैध होने में लोगों को संदेह था, किंचितमात्र आधिपत्य था। ऐसी स्थिति में लगभग आवश्यक सा प्रतीत होता था कि कोई योग्य शक्ति जो व्यवस्था की स्थापना कर सके, आकर हस्तक्षेप करे। अकबर को वास्तव में इतिमादखाँ नामक एक छोटे से स्थानीय राजा ने फैली हुई अराजकता का अन्त करने के लिये आमन्त्रित किया।"

४ जुलाई, १५७२ ई० को अकबर ने राजधानी से प्रस्थान किया और 'मार्ग में आखेट का आनन्द लेता हुआ अजमेर की ओर बढ़ा।' उसने कुछ फकीरों की समाधियों के भी दर्शन किये 'और उदारतापूर्वक उपहार देकर शेखों तथा चाकरों के हृदय प्रसन्न किये।' तब उसने मिर्जा मुहम्मदखाँ अतका को 'जो खाने-कलान के नाम से अधिक प्रसिद्ध था', दस हजार घुड़सवारों के साथ आगे भेजा। सम्राट ने स्वयम् नागोड, मिराठ तथा सिरोही के मार्ग से प्रस्थान किया और एक पदाधिकारी को जोधपुर के राज्य को सुनिश्चित रखने तथा गुजरात की सड़क को खुला रखने के लिये भेजा, जिससे कोई राणा किसी प्रकार की हानि न पहुँचा सके। यह काम रायसिंह बीकानेरी को सौंपा गया और शाही सेना के एक शक्तिशाली दल के साथ उसे भेजा गया। उस प्रान्त के अमीरों तथा जागीरदारों को फरमान भेजे गये और कहा गया कि वे रायसिंह को आवश्यक सहायता दें।............

'सम्राट''पाटन पहुँचा और एक सप्ताह तक वहाँ विश्राम किया। उस देश का शासन सैयद अहमदखाँ बड़ा को, जो साहसी तथा दृढ़ संकल्प व्यक्ति था और जिसके हिन्दुस्तान के मैदान में अनेक मित्र तथा सहायक थे, सौंपा गया। इस पड़ाव पर राजा मानसिंह लौटकर आ गया और अपने साथ बहुत सा धन लाया जिसे उसने बचे खुचे अफगानों से लूटा था। तब सम्राट अहमदाबाद की ओर चला। शेरखाँ फुलादी छः महीने से अहमदाबाद का जो उस समय इतिमाद खाँ (जो मूलतः हिन्दू गुलाम था और बाद में सुलतान महमूद गुजराती का गुलाम तथा प्रधान मंत्री बन गया था) के अधिकार में था, घेरा डाले हुये था। किन्तु जब उसने सम्राट के आगमन का समाचार सुना तो भाग खड़ा हुआ। सम्राट पाटन से मुश्किल से दो मंजिल आगे बढ़ पाया था कि सुल्तान महमूद गुजराती का पुत्र सुल्तान मुजफ्फर, जिसे इतिमाद खाँ ने निरन्तर बन्दी बनाकर रक्खा था, सम्राट से मिलने आया और अत्यधिक सम्मान प्रदर्शित किया।

दूसरे दिन अहमदाबाद का शासक इतिमाद खाँ, तथा गुजरात के अमीर और सरदार जिनकी रक्षा इतनी थी कि वर्णन करना कठिन है, सम्राट की सेवा में उपस्थित हुए और उपहार भेंट किये। इतिमाद खाँ ने अहमदाबाद की कुञ्जियाँ प्रस्तुत की और हर प्रकार से अधीनता प्रकट की। दरबार के अधिकारियों को हब्शियों की ओर से शंका थी इसलिए उन्होंने यह समस्या सम्राट के सामने रक्खी और यद्यपि वह उनके साथ उदारतापूर्ण तथा शोभनीय व्यवहार करना चाहता था, फिर भी सावधानी की दृष्टि से उसने उन्हें अपने कुछ सेवकों के संरक्षण में रख दिया। इसके बाद सम्राट फिर आगे बढ़ा और १४ रजब शुक्र के दिन अहमदाबाद नदी (साबरमती) के किनारे अपने लघु गाड़ दिये। सम्राट के नाम में खुतबा पढ़ा गया और नगर तथा आस पास के सभी लोग बधाइयाँ और धन्यवाद देने आये।

'इब्राहीम हुसैन मिर्ज़ा तथा मुहम्मदहुसैन मिर्ज़ा सम्राट की इच्छा के विरुद्ध भड़ौंच बड़ौदा तथा सूरत पर अधिकार किये हुए थे, इसलिये उसने गुजरात देश को उनकी विद्रोही शक्ति से मुक्त करने का संकल्प किया। २ शाबान सोमवार को उसने अहमदाबाद नदी से प्रस्थान किया और खम्भात की ओर चला। ६ तारीख को सम्राट खम्भात पहुँचा। वह समुद्र देखने गया और ११ तारीख को खम्भात से चलकर १४ को बड़ौदा पहुँच गया। गुजरात देश पर शासन करने तथा उसकी रक्षा करने के सर्वोत्तम उपायों पर विचार करके उसने मिर्ज़ा अज़ीज़ मुहम्मद कोकलताश खाने आज़म को उस देश का, और विशेषकर उसकी राजधानी अहमदाबाद का सूबेदार नियुक्त किया।' यहाँ पर यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि जिस समय अकबर खम्भात में ठहरा हुआ था उस समय पुर्तगाली व्यापारियों का एक मण्डल अकबर का अभिवादन करने आया और उसने उनका स्वागत किया और इस प्रकार ईसाई धर्म से उसका प्रथम परिचय हुआ जिसके आगे चलकर गम्भीर परिणाम हुये।

'आज़मखाँ के चले जाने के उपरान्त सम्राट ने सूरत के किले पर आक्रमण करने का संकल्प किया जो उस समय मिर्ज़ाओं का निवास स्थान तथा गढ़ था। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये उसने मिर्ज़ाहुसैन को जो उस समय सूरत में था, घर दबाने के लिये सैयद महमूदखाँ बारहा, राजा भगवानदास कुँवर मानसिंह तथा अन्य अनेक लोगों को भेजा।

संक्षिप्त युद्ध के उपरान्त इब्राहीम हुसैन मिर्ज़ा का साहस टूट गया। सम्राट ने सरनाल नगर में प्रवेश किया और विजय के लिये ईश्वर को धन्यवाद दिया। जिन लोगों ने इस युद्ध में भाग लिया था उनमें से प्रत्येक को पद तथा जागीरों की वृद्धि द्वारा पुरस्कृत किया गया। १८ शाबान बुधवार को सम्राट बड़ौदा में अपने शिविर को लौट गया। दूसरे दिन उसने राजा भगवानदास को, जिसने युद्ध में अत्यधिक वीरता दिखलाई थी, झण्डा तथा नगाड़ा भेंट किया।

'सूरत का किला छोटा किन्तु अत्यधिक दृढ़, सुरक्षित और सभी किलों में बहुत विख्यात है। कहा जाता है कि इस किले का निर्माण समुद्र तट पर (वास्तव में तापी नदी के किनारे, समुद्र तट से २० मील दूर) सुल्तान महमूद गुजराती के खुदावन्द खाँ उपाधिधारी एक गुलाम ने योरुपीय लोगों के आक्रमणों का प्रतिरोध करने के लिये ९४७ हिज्री में कराया था, क्योंकि इसके बनने से पहले योरुपीय लोग मुसलमानों को सभी प्रकार के कष्ट दिया करते थे। जब खुदावन्द इस किले के निर्माण में लगा हुआ था, उस समय योरोपियों ने अनेक बार जहाज लेकर उस पर आक्रमण किया, किन्तु अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुये।" " " किले का द्वार स्थल की ओर है, उसके दो ओर उसने खाइयां खुदवाई जो पानी तक पहुँचती और २० गज चौड़ी थीं, और उनमें पानी भरवा दिया, वे पत्थर, चूना तथा पक्की ईंटों की बनी हुई थीं। दोहरी दीवारों की मोटाई ५ गज और ऊँचाई २० गज है। यह आश्चर्य की बात है कि प्रत्येक पत्थर पास वाले से लोहे की कीलियों द्वारा सम्बद्ध था और बीच की दरारों में पिघला हुआ सीसा डाल दिया गया था। मुंडेरिया तथा उनके बीच की दरारें पत्थर की बनी हुई हैं और देखने में भयंकर लगती हैं। बुर्ज के ऊपर एक चौखण्डी है जिसका आविष्कार योरुपीयों के मतानुसार पुर्तगालियों ने किया था। जब योरुपीय शस्त्रों के बल पर किले का निर्माण न रोक सके तो उन्होंने बहुत सा धन देकर उसका बनवाना बन्द करने का प्रयत्न किया। किन्तु खुदावन्द ने घृणापूर्वक योरुपीयों की प्रार्थना अस्वीकार की और किला बनाकर खड़ा कर दिया।

जब सम्राट सरनाल से बड़ौदा लौटा तो उसने सूरत को जीतने की पुनः योजना बनाई।"""सम्राट ने राजा टोडरमल को किले में आने जाने के मार्गों का ठीक पता लगाने के लिए भेजा। उसने एक सप्ताह बाद आकर रिपोर्ट प्रस्तुत की। श्रीमान् सम्राट सर्वशक्तिमान ईश्वर पर भरोसा करके बड़ौदा से चला और १८ रमजान को सूरत से एक कोस की दूरी पर डेरे डाल लिये। उसी रात में वह स्वयम् गया और किले का निरीक्षण किया। उसने तोपें अपने अमीरों में बांट दीं और तीन दिन बाद अपना तम्बू उखाड़कर किले के इतने निकट गाड़ा कि तोपों तथा बन्दूकों के गोले उस तक पहुँच सकते थे।

घेरे का दबाव बढ़ता गया और थोड़े ही समय में पानी लाने का मार्ग बन्द हो गया। जब दो महीने बीत गये तो घेरा डालने वालों ने तोपें बढ़ाईं जिससे भीतर आने-जाने का प्रत्येक मार्ग रुक गया।""""प्रत्येक छिद्र जिसमें से चूहा भी निकल सकता था, बन्द कर दिया गया। सुरंग खोदने वालों ने रक्षा बुर्जों तक सुरंगें पहुँचा दीं और इतनी प्रगति की कि किले के पतन होने में एक-दो दिन की देर रह गई। जब दुर्ग-रक्षकों ने यह चीज़ देखी तो वे बहुत ही दुःखित तथा भयभीत हुए। दुष्ट तथा स्वामिद्रोही हमज़बान तथा किले के अन्य लोगों ने मौलाना निजामुद्दीन लारी को, जो एक विद्यार्थी तथा अच्छा वक्ता था, शरण मांगने के लिये भेजा।——कोमलता तथा मनुष्यता से अनुप्राणित सम्राट ने यह

प्रार्थना स्वीकार कर ली। शरण पाने का शुभ समाचार लेकर खारी किले के भीतर लौट गया।—" विजय के लिए ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुये सम्राट ने उस स्थान के सामान्य लोगों तथा निवासियों को क्षमा कर दिया, किन्तु हमजबान तथा अन्य लोगों को जिन्होंने युद्ध भड़काया था, दण्ड दिया और कारागार में डाल दिया।' यह विजय २६ फरवरी, १२७३ ई० को हुई।

जिस समय सम्राट सूरत के घेरे में संलग्न था उसी समय अनेक घटनायें हुई। उनमें से एक यह थी कि इब्राहीम हुसैन मिर्ज़ा ने उपद्रव खड़े करने के उद्देश्य से हिन्दुस्तान की यात्रा की। सरनाल में पराजित होने के बाद इब्राहीम पाटन की ओर भाग गया और वहाँ मुहम्मद हुसैन मिर्ज़ा तथा शाह मिर्ज़ा से जाकर मिल गया और उन्हें अपने भाग निकलने तथा सूरत के घेरे की सूचना दी। परामर्श करने के उपरान्त यह निश्चय किया गया कि इब्राहीम हिन्दुस्तान जाय और उपद्रव खड़े करे तब तक शेष दो मिर्ज़ाओं ने पाटन घेर लिया; उनका अनुमान यह था कि इन कार्यवाहियों की सूचना पाकर सम्राट सूरत के घेरे को उठा लेगा और इन दो विद्रोहों को दबाने के लिये लौटकर अहमदाबाद पहुँचेगा। उन्होंने पाटन का घेरा डाल दिया। सैयद अहमद खाँ बारहा (सूबेदार) ने किले को व्यवस्थित किया और अपने को भीतर बन्द कर लिया। इस घेरे का वृत्तान्त उसने सम्राट के पास लिखकर भेज दिया; यह सुनकर उसने आज्ञा दी कि इस विद्रोही प्रयत्न को कुचल दिया जाय। आज्ञानुसार अमीर लोग आज़म खाँ को साथ लेकर पाटन की ओर चल पड़े। मिर्ज़ा लोग अग्रगामी दल पर टूट पड़े और उसे हरा दिया जब आज़म खाँ ने अपने दायें तथा बायें पार्श्वों की पराजय और मुहम्मद बुखारी का पतन देखा तो उसने स्थिति सुधारने के लिये साहसपूर्ण प्रयत्न करने तथा युद्ध में कूद पड़ने का संकल्प किया।" जब शत्रु के सैनिक लूट की खोज में तितर बितर होगये और केवल थोड़े से आदमी बच रहे तो आक्रमकों ने अपनी पंक्तियाँ सँभालीं और शत्रु के केन्द्र पर टूट पड़ा। ईश्वर की कृपा से विजय उनके पक्ष में रही और शत्रु दल चारों ओर बिखर गया। 'मुहम्मद हुसैन मिर्ज़ा दक्खिन को भाग गया। यह विजय १८ रमज़ान ९८० हिजरी को हुई।'

मार्च १२७३ में 'सम्राट अहमदाबाद आया और वहाँ उसने गुजरात का शासन खाने आज़म (मिर्ज़ा कोका) को सौंपा। १ सिफ्र हिजरी, ईद गुहा के दिन उसने राजधानी के लिए यात्रा प्रारम्भ की। मार्ग में मुज़फ्फ़रखाँ (गुजरात का पूर्व सुलतान) को शाही अनुग्रह प्राप्त हुआ। मालवा में सारनपुर तथा उज्जैन की सरकारें राजा से ले ली गईं और पचास लाख टका सहित उसे जागीर के रूप में दे दी गईं।

गुजरात में विद्रोह—'जब सम्राट गुजरात से लौटा तो उस देश में कोई प्रतिरोध शेष न रह गया सब किले उसके सेवकों के हाथों में थे और जिन सैनिक दलों ने इन युद्धों में भाग नहीं लिया था उन्हें आक्रमणों की स्थिति दूर करने के लिये भेज दिया गया। किन्तु उसे राजधानी में आये छः महीने भी न बीतने पाये

थे कि नये विद्रोहों के समाचार, एक के बाद एक, आने लगे और आजम खाँ ने स्वयम् कुमुक के लिये लिखा। इसलिए सम्राट ने एक बार पुनः गुजरात में अपना झण्डा ऊँचा करने, देश को विद्रोहियों से मुक्त करने तथा उनके परिवारों का मूलोच्छेदन करने का दृढ़ संकल्प किया। ... २४ रबीउल रविवार १८१ के आखिर को प्रातःकाल सम्राट ने अपने साथियों तथा सेवकों के साथ वेगगामी उष्ट्रनियों पर सवार होकर प्रस्थान किया। उस दिन वह बिना नकेल थामे टोडा तक (आगरे से दक्षिण पश्चिम में ७० मील पर एक कस्बा) चला गया। वहाँ उसे जो कुछ मिला खाया और बढ़ता गया।... मंगल को वह अजमेर में चिश्ती की समाधि पर पहुँच गया (१४० कोस, "२०८ मील"—थॉर्नटन), वहाँ उसने सदैव की भाँति आचार धर्म किये और दरिद्रों को दान दिया।... यद्यपि उसके झण्डे के नीचे केवल ३,००० सवार थे जबकि शत्रु की संख्या २०,००० थी, फिर भी ईश्वर पर भरोसा करके दोपहर के बाद उसने भिलसान से अहमदाबाद को प्रस्थान कर दिया। खाने आज़म को अपने आगमन की सूचना देने के लिये, उसने अपने एक सन्देशवाहक को भेजा। वह रात भर चलता रहा और ३ जुमद अव्वल को मंगल के दिन अहमदाबाद से २० कोस की दूरी पर स्थित कारी पहुँच गया। इस प्रकार ९ दिन में सम्राट ने फतहपुर से अहमदाबाद के निकट तक की यात्रा की। इस वीरतापूर्ण कार्य का वर्णन करना लेखनी की शक्ति के बाहर है।

गुजरात की अन्तिम रूप से व्यवस्था—एक तीव्र युद्ध के उपरान्त गुजरात के विद्रोह की रीढ़ टूट गई। इस कार्य के पूरा होने पर अकबर ने कुतुबुद्दीन मुहम्मदखाँ तथा नौरंगखाँ को भड़ोंच तथा चम्पानेर में शाह मिर्ज़ा की शक्ति का मूलोच्छेदन करने के लिये नियुक्त किया। अब वही एक मिर्ज़ा शेष रह गया था, जिसका दमन करना था। राजा भगवानदास, शाह कुली महरम तथा कई अन्य लोगों को उस देश को उजाड़ने के लिये, जिसे राणा उदयसिंह छोड़ गया था, ईदर भेजा गया। पाटन का शासन फिर खाने कलन के सुपुर्द किया गया। ख्वाजा ग्यासुद्दीन अली बख्शी को, जिसने इस युद्ध में अच्छी सेवा की थी, आसफखाँ (द्वितीय) की उपाधि मिली और गुजरात का दीवान तथा बख्शी नियुक्त किया गया। इसलिये वह खाने आज़म के साथ जिसे पहले की भाँति प्रान्त का पूरा भार सौंपा गया था, वहीं रुक गया। सम्राट ने १६ जुमद-उल्-अव्वल को सोमवार के दिन अहमदाबाद छोड़ दिया, 'प्रस्थान करने के तितालीस दिन के भीतर वह फतहपुर सीकरी में वापिस पहुँच गया। जितनी दूरी तय की गई उसे ध्यान में रखते हुये कहा जा सकता है कि अकबर का द्वितीय गुजरात युद्ध इतिहास का तीव्रतम युद्ध था। ४ अक्टूबर १५७३, सोमवार को विजेता ने हाथ में भाला लेकर गर्व के साथ राजधानी में प्रवेश किया।'

निज़ामुद्दीन लिखता है, 'गुजरात का राजस्व सन्तोषजनक रूप से नहीं चुकाया

गया था। इसलिये राजा (टोडरमल) को राजस्व की जाँच, करने उसे निर्धारित करने तथा शाही कोष के लिये उसका हिसाब बनाने के लिये भेजा गया।' इस योग्य अधिकारी ने, जिसके सम्बन्ध में अधिक विस्तार से हम आगे लिखेंगे 'छ: महीने के अवकाश में ही अधिकांश भूमि की नाप करवा ली। पुनः व्यवस्थित होने के उपरान्त प्रान्त से प्रशासन का व्यय निकाल कर शाही-कोष को ५०, ०,००० रुपये प्रति वर्ष की आय होने लगी। जिस कार्य को राजा टोडरमल ने इतने सुचारु रूप से आरम्भ किया उस शिहाबुद्दीन अहमदखाँ ने जो १५० से १५८३ अथवा १५८४ तक सूबेदार था जारी रक्खा। उसने सरकारों अथवा प्रशासन इकाइयों का पुनः संगठन किया और प्रान्त में उनकी संख्या १६ निश्चित की गई। १५७२ की विजय अन्तिम सिद्ध हुई यद्यपि उसके बाद भी उपद्रव होते रहे। गुजरात १७५८ ई० तक साम्राज्यीय सूबेदारों के अधिकार में रहा उस वर्ष मराठों ने निश्चित रूप से अहमदाबाद को हस्तगत कर लिया। हम कह सकते हैं कि अकबर की प्रशासन व्यवस्था की योजना गुजरात की पुनर्विजय के उपरान्त तुरन्त ही १५७३ और ७४ में बन चुकी थी।' *

बिहार तथा बंगाल की विजय

मुगलों ने बिहार तथा बंगाल को पदाक्रान्त कर दिया था किन्तु पूर्णरूप से उन्हें अधिकृत न कर पाये थे। हुमायूँ ने कुछ समय के लिये बंगाल की राजधानी गौड़ पर अधिकार कर लिया था परन्तु अफगानों ने उसे तुरन्त ही मार भगाया था। सूरों ने आसाम की सीमाओं तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। सुलेमान किरानी जो सलीमशाह का एक अमीर और बंगाल तथा बिहार का शासक था और जिसने अपने पत्रों में सदैव अपने को दिल्ली सिंहासन का सामन्त स्वीकार किया था, ९८१ हिज्री में जिस समय सम्राट सूरत के युद्ध में लगा हुआ था मर गया। उसका सबसे बड़ा पुत्र बायजीद उत्तराधिकारी हुआ, किन्तु अमीरों ने उसका वध करके छोटे पुत्र को सिंहासन पर बिठला दिया। सम्राट को सूचना मिली कि अफगान सरदार दाऊद ने अपने उत्तराधिकार का परिवर्तन करके अपने को राजा घोषित कर दिया है और पटना के किले को नष्ट कर दिया है। तुरन्त ही खानखाना के लिये एक फरमान भेजा गया और उसे दाऊद को दण्ड देने तथा बिहार के देश को जीतने की आज्ञा दी गई।

उस समय दाऊद हाजीपुर में था और उसका मुख्य अमीर लोदी जो स्पष्ट रूप से उसका शत्रु था रोहतास के किले में था और उसने स्वतन्त्र होने का दावा किया। खानखाना मुनीमखाँ ने शाही सेना को लेकर पटना तथा हाजीपुर के लिये प्रस्थान किया। लोदी समझता था कि यद्यपि दाऊद से मेरी शत्रुता है फिर भी अफगानों का नाश निश्चित है, इसलिये उसने खानखाना से एक प्रकार की संधि कर ली। खानखाना को

* स्मिथ, Akbar

स्वर्गीय सुलेमान किरानी से पुरानी मित्रता थी और उसका वह बहुत आदर करता था, इसलिये वह राजी होगया कि दो लाख रुपया नकद तथा एक लाख रुपये का सामान कर के रूप में मिलने पर शाही सेनायें वापिस लौट जायेंगी। फिर उसने जलालखाँ क़ोरी को भेजकर दाउद से भी संधि कर ली। किन्तु दाऊद दुराचारी तथा दुष्ट था और राज-काज से पूर्णतया अनभिज्ञ था। कत्लू खाँ तथा श्रीधर हिन्दू बंगाली के भड़काने पर तथा स्वयम् अपनी निर्णय बुद्धि के अभाव के कारण उसने लोदी (प्रधान मन्त्री) को पकड़ लिया और श्रीधर बंगाली की देख भाल में कारागार में डाल दिया। जिस समय लोदी कारागार में था उसने कत्लू तथा श्रीधर को बुलाया और दाऊद को यह सन्देश भेजा "यदि आप समझते हैं कि मेरी मृत्यु से देश का भला होगा तो शीघ्रता कीजिये और निश्चिन्त हो जाइये, किन्तु मेरी मृत्यु के बाद आपको इसके लिये पश्चाताप करना पड़ेगा। आपने मुझे कभी आशीर्वाद अथवा सलाह नहीं दी है किन्तु मैं आपको सलाह देने के लिये तैयार हूँ। मेरी राय के अनुसार कार्य कीजिये, क्योंकि इससे आपका कल्याण होगा. मेरे मारे जाने के उपरान्त निःसंकोच होकर मुगलों से युद्ध कीजिये, जिससे आपको विजय प्राप्त हो जाय। यदि आपने ऐसा न किया तो मुगल आप पर आक्रमण कर देंगे। और फिर आप अपनी सहायता न कर सकेंगे। मुगलों की संधि का बहुत भरोसा न कीजिये। वे केवल समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं।" किन्तु दाऊद तथा अफगानों की शक्ति क्षीण हो रही थी: ईश्वर की इच्छा थी कि उनका पतन हो और बंगाल के देश पर सम्राट की शक्ति की स्थापना हो जाय। इसलिये दाऊद ने लोदी को मार्ग से हटाने तथा ऐसा करके सन्तोषजनक ढङ्ग से अपनी सत्ता स्थापित करने का निश्चय कर लिया। ...... इसलिये उसने अहंकार तथा मद में आकर अपने कुटिल सलाहकारों की राय मानी। अभागे बन्दी का वध कर दिया गया और दाऊद उसके हाथियों तथा सेना का स्वामी बन गया। किन्तु वह मूर्खता तथा अहंकार से फूला हुआ था इसलिये शत्रुओं से लड़ने के लिये किसी प्रकार की सावधानी नहीं बरती और लोदी ने जो असन्तोषजनक संधि करली थी उसका भरोसा करते हुये निश्चिन्त होकर बैठ गया।

'जब खानखाना को लोदी की मृत्यु का समाचार मिला तो उसने तुरन्त ही बंगाल तथा लखनौती को जीतने का संकल्प कर लिया और पटना तथा हाजीपुर पर चढ़ाइयाँ करा दी।......' जब सम्राट ने यह सुना तो उसने स्वयम् जाकर युद्ध का संचालन करने का निश्चय किया। कुछ दिन फतेहपुर में विश्राम करके उसने अपने शिविर तथा हाथी अपने एक मुख्य अमीर मिर्ज़ा यूसुफखाँ रिज़वी की अधीनता में स्थल मार्ग से भेज दिये। आगरा का भार उसने शाहबुद्दीन अहमदखाँ नैशापुरी के सुपुर्द किया और सफर, ९८२ हिज्री के अन्तिम दिन, रविवार (१५ जून १५७४) को नाव में बैठकर प्रस्थान कर दिया। नावों में सभी सामान तथा युद्ध-सामग्री भरी हुई थी, जैसे कवच, नगाड़े, कोप, कालीन, रसोई के बर्तन इत्यादि। और स्वयम् उसके बैठने के लिये बड़ी नावें विशेष प्रकार से तैयार की गईं जिनमें वह अपने सेवकों के साथ सवार हुआ। अमीरों तथा

उनके सामान का मार्ग शाही नावों के पीछे चलीं। प्रत्येक दिन वह नाव छोड़कर किनारे आता तथा आखेट का आनन्द लेता, ('सार्वकाल को वे शहर दाखत तथा सम्राट विश्राम, कविता इत्यादि की चर्चा में समय बिताता, — बदायूँनी दूसरा भाग पृष्ठ १०१)। प्रत्येक दिन नये सैनिक दल उससे आ मिलते— २८ तारीख को वह गोमती तथा गंगा के संगम पर स्थित चौसी नामक स्थान पर पहुँचा, जो जौनपुर का एक अधीन जिला था, और वहाँ शहर डाल दिये। यहाँ मिर्ज़ा यूसफ़खाँ, जो स्थल मार्ग से सेना लेकर पहुँच गया था, उसकी सभा में उपस्थित हुआ।

खानखाना तथा अन्य अमीर पटना से दो कोस पहले सम्राट से मिलने आये। ११ तारीख को वह अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच गया और खानखाना के तम्बुओं में टिक गया। खूब आनन्द मनाया गया और बहुत सा धन दान दिया गया। १० तारीख को अकबर ने एक युद्ध समिति की बैठक बुलाई। उसने सोचा कि हाजीपुर के किले पर पहले अधिकार करना सबसे अच्छा होगा, यह किला पटना के सम्मुख स्थित था और दोनों के बीच में गङ्गा बहती थी जिसका फाँट दो मील चौड़ा था और दुर्ग रक्षकों को आवश्यक सहायता उसी के द्वारा पहुँचाती थी। सब लोगों ने इस योजना की बहुत प्रशंसा की।— विजय शीघ्र ही सम्राट के पक्ष में रही। हाजीपुर का किलेदार फ़तहखाँ बड़ा तथा अन्य अफ़गान मारे गये और स्थान पर मुगलों का अधिकार हो गया। फ़तहखाँ बड़ा तथा अन्य अफ़गानों के सिर नावों में भरकर दाऊद के पास भेज दिये गये जिससे वह अपने अधिकारियों की दशा अपनी आँखों देख ले और स्वयम् अपनी स्थिति पर विचार करना आरम्भ कर दे। जब दाऊद की दृष्टि इन सिरों पर पड़ी तो वह निराशा में डूब गया और भागने का निश्चय किया। बहुत रात बीते जब सम्राट को दाऊद के भाग जाने का समाचार मिला तो सम्राट ने ईश्वर को धन्यवाद दिया और जैसे ही प्रकाश हुआ खानखाना ने इस तथ्य की पुष्टि कर दी और शाही सेनाओं ने बड़ी सज धज के साथ नगर में प्रवेश किया। २१ हाथी नगर में मिले जिन्हें शत्रु अपने साथ न लेजा सका था। पटना की विजय वास्तव में अकस्मात की विजय थी। उसकी तिथि इस पंक्ति में दी हुई है 'मुल्की—इ सुलेमान ज़ि दाऊद रफ्त' (९८२)।

इस सम्बन्ध में स्मिथ ने लिखा है 'भरी वर्षा में इतने बड़े नगर पर अधिकार करना एक अभूतपूर्व सफलता थी और इससे बंगाल के शासक को हासपूर्ण विस्मय हुआ। उसका विश्वास था कि अकबर प्राचीन भारतीय परिपाटी का अनुसरण करते हुए युद्ध आरम्भ करने के लिये अक्टूबर में विजय-दशमी के उत्सव तक प्रतीक्षा करेगा। किन्तु अकबर ने अपने मूल रूप मकदूनियों के सिकन्दर की भाँति ऋतु की प्रतिकूल परिस्थितियों की चिन्ता न की और शास्त्रों तथा ऋतुओं को चिनौती देकर विजय प्राप्त करली।"

गढ़ी तथा टांडा पर अधिकार—'चार घण्टा दिन चढे तक सम्राट नगर में ठहरा और नगर निवासियों के अभयदान की घोषणा की और सेना को खानखाना के नेतृत्व में छोडकर स्वयम् गूजरखाँ (दाऊद का मन्त्री) का पीछा करने के लिये झपटा। ' जब वह पुनपुन (पटना के निकट एक नदी) के तट पर पहुँचा तो घोड़े की पीठ पर बैठकर वह उस पार तैर गया और अमीरों तथा सैनिकों ने उसका अनुसरण किया। फिर उसने प्रत्येक सैनिक तथा अधिकारी को यथाशक्ति दबाव के साथ शत्रु का पीछा करने की आज्ञा दी और स्वयम् आगे एँड़ लगाई ''। सम्राट छ: दिन दरियापुर में ठहरा। खानखाना को उसने बङ्गाल का सूबेदार नियुक्त किया और २०,००० घुड़सवारों की अतिरिक्त सेना उसकी सहायता के लिये छोड दी। उसने उसका सैनिक भत्ता २५ से ६० प्रतिशत तक बढ़ा दिया और आगरे से जितनी नावें लाया था वे सब उसे दे दीं और पूरी शक्ति तथा सत्ता उसके हाथों में छोड़ दी। तब उसने लौटने के लिये झण्डे उखाडे और खानखाना तथा अन्य अमीरों से विदाई ली।'' '

'सम्राट तेतीस दिन तक जौनपुर में ठहरा और देश की सरकार तथा सेना का प्रबन्ध करने में अपना समय बिताया। उसने जौनपुर, बनारस, चुनार का किला तथा अन्य छोटे-मोटे महाल और परगने सीधे शाही राजस्व-विभाग के अधीन रक्खे और मिर्ज़ा मिराक रिज़वी तथा शेख इब्राहीम सिक्र को उनका प्रबन्ध सौंपा।

'दाऊद पटना से भाग कर गढ़ी पहुँचा। कुछ विश्वसनीय आदमियों को वहाँ छोड़कर वह टाँडा की ओर बढा। गढ़ी के किले को दृढ़ करने के लिये उसने इतना प्रयत्न किया कि मूर्खतावश वह उसे अभेद्य समझने लगा। खानखाना ने टांडा के लिये कूँच किया और गढ़ी के निकट जा पहुचा (सुराजगढ़, मुंगेर और भागलपुर पर उसने पहले ही अधिकार कर लिया, 'अकबरनामा' दूसरा भाग, पृष्ठ ८४)। जैसे ही भयत्रस्त अफगानों की दृष्टि उसकी सेना पर पडी वे किले को छोड़कर भाग खडे हुये, और इस प्रकार बिना एक भी प्रहार किये गढ़ी को उसने हस्तगत कर लिया। यह समाचार सुनकर सम्राट अत्यधिक प्रसन्न हुआ और खानखाना तथा अन्य अमीरों को प्रशंसा के पत्र भेजे। उसने यात्रा जारी रक्खी और मार्ग में आखेट का आनन्द लेता हुआ ८ जुमदस्सनी को इस्कन्दरपुर पहुँच गया। वहीं उसे टांडा के पतन का समाचार मिला। गढ़ी के किले पर अधिकार करके शाही सेनाओं ने टांडा पर जो बङ्गाल राज्य की राजधानी है, चढ़ाई कर दी। खानखाना के भेदियों ने पहले आकर सुचना दो कि दाऊद उस स्थान पर डटकर सामना करने करने का विचार कर रहा है और अपनी सेनायें लगा रक्खी हैं। तब खानखाना ने अमीरों को बुलाया और सेना की सुरक्षा के लिये पहले से पूरी-पूरी सावधानी रक्खी। दूसरे दिन अपनी सेनाओं को सुसंगठित करके वह टांडा की ओर बढ़ा। जब दाऊद के गुप्तचरों ने उसे खानख़ाना की प्रगति की सूचना दी, तो उसे तथा

उसके साथियों को पटना की पराजय का स्मरण हो आया और वे निराशा से नगर छोड़कर भाग खड़े हुये। इस प्रकार ४ जुमादुस्सानी को बिना लड़े ही राजधानी टाँडा सम्राट के लिये विजय कर ली गई और जनता की सुरक्षा की घोषणा की गई ···रमजान के अन्तिम दिन सम्राट फतहपुर पहुँच गया (१८ जनवरी १५७५ सात महीने की कठिन यात्रा तथा युद्ध के उपरान्त)।

तुकारोई में दाऊद की पराजय—टाँडा की विजय तथा दाऊद के पलायन के बाद खानखाना ने राजा टोडरमल को कुछ अन्य अमीरों के साथ दाऊद का पीछा करने के लिये उड़ीसा की ओर भेजा···राजा टोडरमल मदारन पहुँचा (हुगली जिले में जहानाबाद तथा मिदनापुर के बीच) यहाँ उसके भेदियों ने समाचार दिया कि दाऊद दिन कसरी में सेनायें इकट्ठी करने में लगा हुआ है और उसके दलों की दिन प्रतिदिन वृद्धि हो रही है। टोडरमल ने इसकी सूचना खानखाना के पास भेजी और कुमुक मँगा ली। उसके आ जाने पर सभी सरदारों ने एक मत से यह निश्चय किया कि दिन-कसरी से दस कोस की दूरी पर स्थित गोपालपाड़ा पर पूरे वेग से चढ़ाई करना उचित होगा। जब दाऊद ने यह सुना तो वह भागा नहीं और धारपुर में डटा रहा। राजा टोडरमल ने पड़ाव डाल दिया और खानखाना को स्थिति से अवगत करने के लिये द्रुतगामी संवाद वाहक भेजे। तब खानखाना ने टाँडा को छोड़कर दाऊद के विरुद्ध कूच किया और अपनी सेना संगठित करके उससे युद्ध करने के लिये आगे बढ़ा। अफगानों ने अपने शिविर के चारों ओर खाइयाँ खोद लीं। २० जिलकदा ९८२ (३ मार्च १५७५ ई०) को आधुनिक बालासोर जिले में स्थित (मिदनापुर तथा जलेसर के बीच) तुकारोई नामक स्थान पर दोनों सेनाओं में मुठभेड़ हो गई। सेना को पाँत में खड़ा करके अफगानों ने वेग से तथा साहस के साथ आगे बढ़कर आक्रमण किया। खानखाना ने हल्की तोपों (जम्बूरक) तथा हल्की बन्दूकों (जन-तुरक) को जो आगे की पंक्ति में ऊँटों पर चढ़ी हुई थीं, गोलाबारी करने की आज्ञा दी। तोपों की आग के कारण अफगानों के हाथी, जो उनकी आक्रमणकारी पाँतों के आगे थे, पीछे भाग गये और बन्दूकचियों ने अफगानों को जो आगे खड़े रहे थे भून डाला। गूजर खाँ (दाऊद खाँ का सेना नायक) के एक बाण लगा और वह धराशायी हो गया। अपने नेता को गिरा हुआ देखकर अफगान पीछे मुड़कर भाग खड़े हुये किन्तु उनमें से अनेक भागने में काट डाले गये। दाऊद ने गूजर खाँ की मृत्यु का समाचार सुना। इससे उसका संकल्प डिग गया और वह पीछे मुड़कर भाग खड़ा हुआ। भरार लूट का धन विजेताओं के हाथ लगा और विजयी खानखाना ने युद्ध क्षेत्र में अपना तंबू गाड़ा। वह वहाँ कुछ दिनों ठहरा और विजय की रिपोर्ट सम्राट के पास भेज दी। जो लोग बन्दी बना लिये गये थे, वे सब तलवार के घाट उतार दिये गये।[1]

दाऊद से संधि—दाऊद उड़ीसा में स्थित कटक को भाग गया, किन्तु राजा टोडरमल तथा अन्य लोगों ने उसका पीछा किया। दाऊद को एक के बाद अनेक पराजयें उठानी पड़ीं थीं और उसका मुख्य सहारा तथा समर्थक गूजरखाँ मारा गया था—स्वयम्

वह भी मृत्यु के मुँह में था, निराश तथा दुखी होकर उसने एक सवादवाहक को इस सन्देश के साथ खानखाना के पास भेजा: "मुसलमानों के एक दल को कुचलने का प्रयत्न करना कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं है। मैं समर्पण करने तथा प्रजा बनने के लिये तैयार हूँ; किन्तु मेरी प्रार्थना है कि बगाल के इस विस्तृत देश का एक कोना, जो मेरे निर्वाह के लिये पर्याप्त हो, मुझे दे दिया जाय। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय तो मैं सन्तुष्ट रहूँगा और इसके बाद फिर कभी विद्रोह न करूँगा।" अमीरों ने यह प्रस्ताव खानखाना को सुनाया और लम्बे वाद-विवाद के उपरान्त इसे स्वीकार करने का निश्चय किया गया, शर्त यह थी कि दाऊद स्वयं आकर खानखाना से मिले और शपथ खाकर करार की पुष्टि करे। (राजा टोडरमल स्थिति को भली-भाँति समझता था। उसने इस विराम सधि को रोकने के लिये बहुत कुछ हाथ मले और पैर पटके, किन्तु किसी ने उसका समर्थन नहीं किया। उसने इस समझौते मे भाग लेने से इन्कार कर दिया)

'दाऊद ने विश्वास दिलाया कि मैं कभी शाही सिंहासन के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण आचरण नहीं करूँगा, और कठोर शपथों द्वारा अपने वचन की पुष्टि की। सधि की शर्तें तैयार कर ली गईं और तब खानखाना ने एक तलवार, जिसकी पेटी रत्न-जटित और बहुत मूल्यवान थी, निकाली और दाऊद को भेंट करते हुये कहा, "अब तुम साम्राजीय सिंहासन की प्रजा बन गये हो और उसको अपना सहारा देने का वचन दे चुके हो। इसलिये मैंने प्रार्थना की है कि उड़ीसा का देश तुम्हारे निर्वाह के लिये दे दिया जाय, और मुझे विश्वास है कि श्रीमान् सम्राट मेरा प्रस्ताव स्वीकार करेंगे और तुम्हें यह दे देंगे। अब मैं फिर तुम्हें नवीन रूप में इस युद्ध की तलवार से सुसज्जित करता हूँ।' फिर उसने अपने हाथों तलवार बाधी, हर प्रकार का शिष्टाचार दिखलाया और अनेक प्रकार के उपहार भेंट करके विदा किया। इसके बाद दरबार उठ गया और खानखाना ने लौटने का प्रस्ताव किया। १० सफर ९८३ को उसने सम्राट को इस व्यवस्था की सूचना दी, और बङ्गाल की विजय से वह बहुत सतुष्ट तथा प्रसन्न हुआ। शानदार पोशाक, रत्न-जटित तलवारें तथा सुनहरी काठी से सुसज्जित एक घोड़ा खानखाना के पास भेजा गया और उसने जो कुछ प्रबन्ध किया था उसकी पुष्टि कर दी गई।

'जब यह समाचार श्रीमान् सम्राट के पास पहुँचा तो उसने खानजहान को जो पंजाब का सर्वोच्च सूबेदार था, बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया। उसने उसे अमीर उल उमरा का पद प्रदान किया, किसानों को तथा जनता को उसकी देख रेख में छोड़ दिया और ज़रीदार कोट, रत्न-जटित तलवारें और बहुमूल्य झूलों से सुसज्जित घोड़े उपहारस्वरूप भेंट करके उसे अपने प्रान्त में भेज दिया।

'जिस समय सम्राट अजमेर में डेरे डाले हुए था, उसे समाचार मिला कि दाऊदखाँ अफगान ने, खानखाना के साथ जो संधि की थी उसे फाड़ फेंका है और शाही सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया है और टांडा पर आक्रमण करने के लिये चल पड़ा है। उस प्रदेश में जो शाही सेनायें थीं, उनका कोई सरदार न था जिसका वे भरोसा कर सकतीं। इसीलिये उस देश को छोड़कर उन्होंने हाजीपुर तथा

पटना में शरण ली। यह सब उपद्रव इसलिए हुआ कि खानजहान को वहाँ पहुँचने में समय लगा क्योंकि उसकी सेनायें लाहौर में थीं। खान युद्ध क्षेत्र में उतरा और बंगाल की ओर बढ़ा। उसने उन तीन हजार आदमियों से युद्ध किया जिन्हें दाऊद गढ़ी में छोड़ गया था, और उस स्थान पर अधिकार कर लिया। शत्रु के लगभग १२,०० आदमी मारे गये और अनेक अमीर बन्दी बनाये गये।

२२ जुलाई १५७६ को जब अकबर फतेहपुर में था सम्वादवाहक यह समाचार लेकर आये कि गढ़ी पर अधिकार करके खानजहान आगे बढ़कर टाँडा के निकट पहुँच गया है। वहाँ पहुँचकर उसने देखा कि दाऊद टाँडा को खाली कर गया है और आक नामक गाँव में मोर्चा जमा लिया है। एक ओर नदी थी और दूसरी ओर पहाड़। अपनी स्थिति को सुरक्षित बनाने के लिये उसने चारों ओर खाइयाँ खोद ली थीं। खानजहान ने उस पर धावा बोल दिया और तीव्र संघर्ष शुरू हो गया। एक दिन एक शाही अधिकारी ख्वाजा अब्दुल्ला अपने तोपखाने से आगे बढ़ा और अफगान मोर्चे के किनारे पहुँच गया। शत्रु ने झपट कर उस पर आक्रमण किया और वह वीरतापूर्वक लड़ता हुआ मारा गया। उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर सम्राट का क्रोध उमड़ पड़ा और उसने पटना तथा बिहार के सूबेदार मुजफ्फरखाँ को प्रान्त के सभी सैनिकों को इकट्ठा करके खानजहान की सहायता के लिये जाने की आज्ञा दी। "सेना के व्यय के लिये उसने पाँच लाख रुपया डाक चौकी द्वारा भिजवा दिया। आगरा से सेना के प्रयोग के लिये धन से भरी हुई नावों को भेजने की आज्ञा दे दी गई।" सम्राट ने स्वयम् फतेहपुर से प्रस्थान किया, किन्तु पाँच कोस की दूरी पर पड़ाव डाल दिया और सैनिकों को एकत्र तथा नावों और तोपखानों को तैयार करने का आदेश दिया। यहाँ पर अब्दुल्लाखाँ जिसे उसने सम्वादवाहक के रूप में खानजहान के पास भेजा था, आकर उसकी सेवा में उपस्थित हुआ और दाऊद का सिर लाकर सम्राट के चरणों में रक्खा। विजय से प्रसन्न होकर सम्राट राजधानी को लौट गया।

'तारीखे दाऊदी निम्नांकित शब्दों के साथ समाप्त होती है —'दाऊदखाँ किरानी बन्दी बनाकर लाया गया; उसका घोड़ा पहले ही मारा जा चुका था। खानजहान ने दाऊद को इस दशा में देखकर कहा कि क्या तुम अब भी अपने को मुसलमान कहते हो? और तुमने पैगम्बर तथा कुरान की साक्षी करके जो शपथें ली थीं उन्हें क्यों तोड़ा? दाऊद ने कहा कि मैंने मुनीमखाँ से निजी रूप में सन्धि की थी और यदि इस समय वह जिन्दा होता तो मैं फिर उसे दोहराने के लिये तैयार था। खानखाँ ने आज्ञा दी कि इसके शरीर को सिर के भार से मुक्त कर दो; उसके सिर को उसने सम्राट के पास भिजवा दिया। उस समय से हिन्दुस्तान का प्रभुत्व अफगान जाति के हाथों से निकल गया और उनके वंश का सदैव के लिये अन्त हो गया और उसके स्थान पर अकबर शाह के प्रभुत्व का मण्डप समस्त देश पर छत्र होगया।'

स्मिथ लिखते हैं, "बंगाल के स्वतन्त्र राज्य का जो लगभग दो सौ पचीस

वर्ष (१३४०-१५७६) चला, दाऊद के साथ-साथ जो दुराचारी तथा दुष्ट और शासन कार्य से पूर्णतया अनभिज्ञ था, नाश हो गया।"

राणा प्रताप का गौरवपूर्ण प्रतिरोध

हम पहले देख चुके हैं कि अकबर की राजपूताना-विजय लगभग पूर्ण हो चुकी थी, कसर केवल इतनी थी कि मेवाड का राणा उदयसिंह भाग गया था और उसने अरावली में शरण ली थी तथा उदयपुर में अपने लिये एक नई राजधानी बना ली थी। टॉड लिखते हैं, 'चित्तौड के पतन के उपरान्त उदयसिंह चार वर्ष और जीवित रहा, फिर गोगन्द में ब्यालीस वर्ष की अल्पायु में उसकी मृत्यु हो गई, किन्तु देश के हित तथा सम्मान की दृष्टि से इतनी भी अवस्था आवश्यकता से अधिक हुई थी।' "प्रताप को उत्तराधिकार में एक तेजस्वी वंश का यश तथा उपाधियाँ प्राप्त हुईं थीं, किन्तु न उसके पास राजधानी थी और न साधन, उसके जाति-बिरादरी वाले पराजयों से हतोत्साह हो चुके थे; किन्तु अपनी जाति का श्रेष्ठ शूरत्व उसमें विद्यमान था, इसलिये उसने चित्तौड को पुनः जीतने, अपने वंश के सम्मान की रक्षा करने तथा उसकी शक्ति की पुनः स्थापना करने का संकल्प किया। अपने इस सकल्प से उल्लसित तथा अनुप्राणित होकर वह शक्तिशाली शत्रु (अकबर) के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़ा, और न उसने अपने शत्रु के साधनों का जिनका उसे सामना करना था, अनुमान लगाने का ही प्रयत्न किया।"* चतुर मुगल ने प्रताप के विरुद्ध उसी के सहधर्मियों तथा जातिवालों को खडा किया। मारवाड, अम्बेर, बीकानेर और यहाँ तक कि बूँदी के भी शासकों ने अकबर का साथ दिया और निरंकुशवाद का उन्नयन किया। यही नहीं, उसका भाई सगोरजी भी उसका साथ छोड़ गया और अपने इस विश्वासघात के मूल्यस्वरूप अपने कुल की राजधानी तथा उससे सम्बन्धित उपाधि प्राप्त की।

"किन्तु संकट की भयकरता ने प्रताप के धैर्य को और भी अधिक बल दिया, और चारण के शब्दों में उसने 'अपनी माता के दूध को देदीप्यमान करने' का व्रत लिया, और अपने प्रण को उसने बहुत कुछ पूरा कर दिखाया। लगभग चौथाई शताब्दी तक उसने अकेले ही साम्राज्य की संयुक्त शक्ति से टक्कर ली, कभी उसने मैदानों का सत्यानाश किया, कभी चट्टानों में ठोकरें खाता फिरा और अपने परिवार को देश की पहाडियों के फलों पर जीवित रक्खा और शिशु अमर (उसका पुत्र) का रक्त पिपासु हिंसक पशुओं और उन्हीं जैसे बर्बर मनुष्यों के बीच पालन-पोषण

* स्मिथ का कथन है, " १६वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अकबर का साम्राज्य ससार में सबसे अधिक शक्तिशाली था और उसका प्रभुत्व पृथ्वी पर अतुलनीय, तथा सर्वाधिक धनी था।' ' १५७६ में भी उसकी एकत्र की हुई धन-राशि अपरिमित रही होगी, और केवल शूरों में भी सर्वश्रेष्ठ शूर ही दारिद्र-ग्रस्त मेवाड के केवल वीरत्व के भरोसे धनी हिन्दुस्तान की जगमगाती हुई सेनाओं का सामना करने का साहस कर सकता था।

किया,—इसीलिये यह (अमर) उसके पराक्रम तथा प्रतिशोध का उचित ही उत्तराधिकारी हुआ। यह विचार ही कि 'बप्पा रावल का पुत्र किसी लौकिक पुरुष के सामने शीश नवाये' असह्य था और उसने ऐसे हर सन्धि प्रस्ताव को ठुकरा दिया जिसका अभिप्राय उसका समर्पण अथवा पराजित मनुष्यों के स्वामी तातार से विवाह सम्बन्ध स्थापित करके वंश की कीर्ति को कलंकित करना था।

"इस काल (१२०२-१० ई०) में उसने जो आश्चर्यजनक कार्य किये वे प्रत्येक घाटी में जीवित हैं, प्रत्येक राजपूत के हृदय मन्दिर में ये प्रतिष्ठित हैं और अनेकों का उल्लेख विजेताओं की गाथाओं में मिलता है। उन सबकी गणना करना अथवा उन कष्टों और कठिनाइयों का, जो उसे भुगतने पड़ीं वर्णन करना एक ऐसे व्यक्ति के लिए रोमांचमात्र होगा जिसने उस देश का पर्यटन नहीं किया जहाँ उसके वीरतापूर्ण कार्यों की परम्परायें अब भी मुखरित हैं अथवा जिसने उसके सरदारों के उन वंशजों से बात नहीं की है जो अपने पूर्वजों के कार्यों की स्मृति को जीवित रखे हुए हैं और जो उनका बखान करते समय द्रवित होकर पुरुषोचित आँसू बहाने लगते हैं।— चित्तौड़ के जिसे चारण इतिहासकार ने अपने सौन्दर्य के आभूषणों से वंचित विधवा' कहा है, विनाश की स्मृति जीवित, रखने के हेतु प्रताप ने अपने तथा अपने उत्तराधिकारियों के लिए विलास-तथा तड़क-भड़क की सभी वस्तुओं का निषेध कर दिया, जब तक कि वह (चित्तौड़) अपने ऐश्वर्य चिन्ह पुनः प्राप्त न करले।* 'प्रताप ने अपने कुछ बुद्धिमान तथा अनुभवी सरदारों की सहायता से शासन-व्यवस्था का पुनः संगठन किया और उस संकटापन्न परिस्थितियों तथा अपने क्षीण साधनों के अनुरूप ढाला। नई जागीरें प्रदान की गईं और उनके बदले में सेवा के लिये निश्चित नियम बना दिये गए। कुम्भलमेर (अथवा कुम्भलगढ़ मेवाड़ की पश्चिमी सीमा के निकट उदयपुर से ४० मील पर एक पर्वत पर स्थित) को जो अब सरकार की राजधानी थी, गोगुन्द तथा अन्य पहाड़ी गढ़ों को और भी दृढ़ किया गया, और चूँकि वह इस योग्य न था कि मेवाड़ के मैदानों में युद्ध कर सकता इसलिए अपने पूर्वजों की परिपाटी के अनुसार अपनी प्रजा को पहाड़ों में शरण लेने का

---

* सोने तथा चाँदी के थालों के स्थान पर पत्तलों और बिस्तरों की जगह तिनकों की चटाइयों का प्रयोग होने लगा, और दाढ़ी बनवाना बन्द होगया। किन्तु अपने दुर्भाग्य को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करने तथा पुनर्विजय के लिये प्रोत्साहन देने के लिये उसने आज्ञा दी कि युद्ध के नगाड़े जो युद्ध अथवा जुलूस के आगे आगे बजते थे अब पीछे बजाये जाँय। मेवाड़ के पतन की सूचक यह अन्तिम प्रथा अब भी चली आती है और दाढ़ी को जो अब भी कैंची से नहीं छुआ जाता, और जिस चतुराई के साथ उस वैश्य मस्त राजा के आदेश का उल्लंघन किया जाता है वह भी उसकी स्मृति का सूचक है क्योंकि उसके उत्तराधिकारी सोने तथा चाँदी के थालों में खाते हैं किन्तु उनके नीचे पत्तलें रख लेते हैं पलंग पर सोते हैं किन्तु नीचे चटाई बिछा लेते हैं।' टॉड भाग १, पृष्ठ ३४७

आदेश दिया और इस आज्ञा का उल्लघन करने वालों के लिये मृत्यु दण्ड निश्चित किया। उस दीर्घकालीन संघर्ष के युग में पश्चिम में अरावली श्रृंखला से लेकर पूर्व में पठार तक वूनप तथा बेरिस नदियों द्वारा सिंचित उपजाऊ प्रदेश 'बेचिराग' हो गये।''......

हल्दीघाट अथवा गोगन्द का युद्ध—निजामुद्दीन ने जिसके वृत्तान्त से हमने अकबर के शासन-काल की अन्य घटनाओं के उद्धरण दिये हैं, इस गौरवपूर्ण स्वतन्त्रता-सग्राम का अत्यन्त सक्षिप्त वर्णन छोडा है: 'राणा कीका (वह प्रताप को इसी नाम से पुकारता है) हिन्दुस्तान के राजाओं में प्रमुख था। चित्तौड की विजय के उपरान्त उसने हिन्दूवाडा नामक पहाडों मे कोकन्द (गोगन्द) नाम का नगर बसाया और उसे अनेक सुन्दर भवनों तथा उद्यानों से सुशोभित किया। वहाँ उसने विद्रोह में अपने दिन बिताये। जब कुँवर मानसिंह कोकन्द के पास पहुँचा तो राणा कीका ने हिन्दुस्तान के सब राजाओं को अपनी सहायता के लिये बुलाया और एक शक्तिशाली दल लेकर आक्रमणकारी का सामना करने के लिये घाटी हल्देव (हल्दीघाट) से बाहर निकला। अपने अमीरों की सलाह से कुँवर मानसिंह ने सैनिकों को युद्ध के लिये सुव्यस्थित किया और युद्ध-क्षेत्र की ओर चल पडा। दोनों ओर से भयंकर धावे किये गये। युद्ध लगभग एक पहर तक चला और भीषण सहार हुआ।* दोनों सेनाओं के राजपूतों ने एक दूसरे की देखा-देखी भयकर मारकाट की, शाही सेना के लगभग १५० घुडसवार मारे गये और शत्रु सेना के लगभग ५०० राजपूत दोजख भेज दिये गये। शत्रु की ओर रामेश्वर, ग्वालियरी, उसका पुत्र तथा जयमाल का पुत्र मारे गये। उस दिन राणा कीका ने डट कर युद्ध किया और अन्त में उसके बाण तथा भाले से घाव लगे, तब अपनी जीवन-रक्षा के लिये वह पीछे मुडा और युद्ध-क्षेत्र से चला गया। शाही दलों ने राजपूतों का पीछा किया और उनमें से अनेकों का वध कर दिया। कुँवर मानसिंह ने सम्राट को इस विजय का वृतान्त लिख भेजा। दूसरे दिन उसने हल्देवघाट को पार किया और कोकन्द में प्रवेश किया। राणा कीका के महल में उसने निवास किया और विजय के लिये सर्वशक्तिमान ईश्वर को धन्यवाद दिया। राणा कीका ने

* इतिहासकार बदायूँनी बडे उत्साह के साथ इस युद्ध में सम्मिलित हुआ था। वह लिखता है, "मेरी इच्छा है कि मैं श्रीमान् की भक्ति द्वारा अपनी इन काली मूँछों और दाढी को रक्त में रगूँ।" उसने अपने सरदार आसफखाँ से जिसके नेतृत्व में वह लडा था, कहा, "इन परिस्थितियों में जब कि हमारे दोनों ओर राजपूत ही हैं हम शत्रु तथा मित्र राजपूतों में कैसे पहिचान करें?" उसने उत्तर दिया, "अरे! किसी भी ओर वे मारे जाँय, हर प्रकार से इस्लाम को लाभ होगा।" उसने बडे सन्तोष के साथ लिखा है. "इस विषय में हाथ को खूब सफलता मिली और मुझे वह पुरस्कार मिला जो काफिरों के विरुद्ध युद्ध करने वाले को मिलना चाहिये...... ," और उस दिन मानसिंह के सेनापतित्व के कारण मुल्लाशीर के इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट हुआ:—"प्रहार हिन्दू करता है, किन्तु तलवार इस्लाम की है।"

पहाड़ियों में शरण ली। सम्राट ने कुँवर मानसिंह तथा उसके अमीरों को वस्त्र तथा घोड़े भेंट करके पुरस्कृत किया।'

"७ मुहर्रम ६८४ (जुलाई, १५७६ ई०) का दिन इतिहास में चिरस्मरणीय है, उस दिन राजपूतों के सर्वोत्तम रक्त से हल्दीघाट की उपत्यिका सींची गई।" प्रताप ने चौंड के गढ़ में शरण ली और उसके शक्तिशाली दुर्गों को एक एक करके शत्रु ने हस्तगत कर लिया। "किन्तु आगे चलकर उसने चित्तौड़ अजमेर तथा मण्डलगढ़ को छोड़कर सम्पूर्ण मेवाड़ को पुनः प्राप्त कर लिया। उसके जीवन के अन्तिम दिन शान्ति से बीते, क्योंकि अकबर को स्थिति की आवश्यकताओं से बाध्य होकर तेरह वर्ष तक पंजाब में बिताने पड़े, इसलिये वह राजपूताना में सक्रिय रूप से युद्ध जारी न रख सका। प्रताप का शरीर तथा मस्तिष्क जर्जरित हो चुका था; १५९७ ई० में उसने इहि लीला समाप्त की। उसके सरदारों ने प्रतिज्ञा की कि हमारे जीवित रहते अमरसिंह अपना कर्तव्य न भूल सकेगा।'

टॉड लिखते हैं, "प्रताप के अन्तिम पल उसके समस्त जीवन के अनुरूप ही बीते उन्हें समाप्त करने से पहले, कार्थेजी की भाँति उसने अपने उत्तराधिकारी को देश की स्वतन्त्रता के शत्रुओं से निरन्तर संघर्ष करते रहने की शपथ दिलाई। इस प्रकार उस राजपूत के जीवन का अन्त हुआ जिसकी पुण्य-स्मृति को आज भी प्रत्येक सीसोदिया आराधना करता है, और तब तक करता रहेगा जब तक फिर नये उत्पीड़न से उस भक्ति की अन्तिम चिनगारियाँ नहीं बुझ जातीं। काश ! वह दिन कभी न आवे ! और यदि नियति ने उसके भाग्य में यही लिखा हो, तो कम से कम ब्रिटेन की तलवार को यह कलंक न लगे।" टॉड ने आगे लिखा है 'अरावली की कोई ऐसी उपत्यिका नहीं है जो प्रताप के किसी न किसी कार्य से—किसी देदीप्यमान विजय अथवा बहुधा उससे भी अधिक गौरवपूर्ण पराजय से पवित्र न हुई हो। हल्दीघाट मेवाड़ की थर्मापली है, और देवीर की रण भूमि उसका मराथन।'

अकबर और राजपूतों के संघर्ष के अन्त का डा० ईश्वरीप्रसाद ने इन शब्दों में वर्णन किया : "१५९७ ई० में राणा प्रताप का पुत्र अमरसिंह उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसने राजकीय संस्थाओं का पुनः संगठन किया, भूमि कर नये सिरे से निर्धारित किया और सैनिक सेवा की शर्तों को नियमबद्ध किया। मुगलों ने पुन आक्रमण किया, और १५९९ में अकबर ने राजा मानसिंह तथा राजकुमार सलीम को मेवाड़ पर चढ़ाई करने भेजा। राजकुमार ने अजमेर में आमोद प्रमोद में अपना समय नष्ट किया, किन्तु प्रतापी राजा ने अन्य अधिकारियों की सहायता से बहुत कुछ किया। अमर ने युद्ध का संचालन किया, किन्तु उसकी पराजय हुई और साम्राज्यवादियों ने उसके देश को उजाड़ दिया। युद्ध का सहसा अन्त हो गया, क्योंकि मानसिंह को अकबर ने बंगाल के उस्मान खाँ के विद्रोह को कुचलने के लिये वापिस बुला लिया। अकबर ने एक बार मेवाड़ पर आक्रमण करने का विचार

किया, किन्तु अपनी बीमारी के कारण वह अपनी योजना को कार्यान्वित न कर सका।"

१५८१ का संकट

स्मिथ लिखते हैं, "१५८१ का वर्ष अकबर के शासन-काल का सबसे अधिक संकटमय समय कहा जा सकता है, यदि हम उन प्रारम्भिक संघर्षों को न गिन जो उसे अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने के लिये करने पड़े थे।" इस वर्ष के आरम्भ होते समय वह उत्तरी भारत के सभी दुर्गों का निर्विवाद स्वामी था और अपना साम्राज्य अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक और दक्षिण की ओर ताप्ती नदी तक बढ़ा चुका था। किन्तु उसे सभी दिशाओं में विद्रोहों का सामना करना पड़ा जो अनेक जटिल कारणों से उठ खड़े हुये थे। अफगानों के, जिन्हें हराकर उसने अपनी शक्ति की स्थापना की थी, दुर्दमनीय असन्तोष के अतिरिक्त अकबर के धार्मिक तथा अन्य सुधारों ने, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे, उसकी प्रजा के अनुदार वर्गों में भारी उथल-पुथल मचा दी थी। इसके साथ-साथ अकबर का चचेरा भाई मुहम्मद हाकिम संकटापन्न परिस्थितियों से लाभ उठाने के लिये अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। इस समय बंगाल, बिहार, गुजरात तथा उत्तर-पश्चिम में लगभग एक साथ विद्रोह उठ खड़े हुये। हम एक-एक करके उनकी चर्चा करेंगे।

बंगाल तथा बिहार—हम पहले देख चुके हैं कि मुनीमखाँ की मृत्यु के बाद खानजहान को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया गया था। उसकी भी दिसम्बर १५७८ ई० में मृत्यु हो गई और मार्च १५७९ ई० में मुजफ्फरखाँ तुर्बती उसके स्थान पर नियुक्त हुआ। निजामुद्दीन लिखता है, "बंगाल में आकर मुजफ्फरखाँ प्रान्त के मामलों की व्यवस्था करने में जुट गया, किन्तु उसका भाग्य सूर्य अस्त हो रहा था और उसके दिन निकट आ गये थे। अपने कार्यों में उसने कठोरता दिखलाई, अपने शब्दों से उसने अपने लोगों को अप्रसन्न कर दिया, अन्यों की जागीरें छीनलीं, दाग (दाग कर) की माँग की और पुरानी प्रथाएँ फिर प्रचलित कर दीं। यद्यपि बाबाखाँन काकशाल का व्यवहार मित्रतापूर्ण था और उसने प्रार्थना की कि मेरी जागीर से हाथ न लगाया जाय, फिर भी उसे दाग के लिये बुलाया गया और उसकी प्रार्थना पर उचित ध्यान नहीं दिया गया। जलेसर का परगना जो खल्दीखाँ को जागीर के रूप में मिला हुआ था, रबी की फसल के आरम्भ में उससे छीन लिया गया और शाह जमालुद्दीन हुसैन की जागीर में तनख्वात के रूप में सम्मिलित कर दिया गया। रबी की फसल का लगान खल्दीखाँ ने वसूल कर लिया था, उसे छीनने के लिये मुजफ्फरखाँ ने उसे कारागार में डलवा दिया, कोड़े लगवाये तथा उसके पैरों के तलुओं को बेतों से पिटवाया।

'उसी समय शाही दरबार से एक फरमान आया जिसमें मुजफ्फरखाँ को मिर्जा मुहम्मद हाकिम के एक नौकर रोशन बेग को, जो काबुल छोड़ कर बंगाल चला आया था, पकड़ कर मार डालने तथा उसका सिर दरबार में भेजने की आज्ञा दी गई। यह रोशन

बेग भी एक काकशाल था और मुजफ्फरखाँ ने उसके वध की आज्ञा जारी कर दी। बाबाखाँ काकशाल के सम्बन्ध में भी उसने कुछ कठोर शब्द कहे। जो सैनिक वहाँ उपस्थित थे और विशेषकर बाबाखाँ तथा काकशाल लोग एकत्र हुये और उन्होंने सैनिक विद्रोह करने का संकल्प किया। उन्होंने अपने सिर मुड़वाये, ऊँची टोपियाँ पहनीं और खुला विद्रोह कर दिया। जब काकशालों के विद्रोह की सूचना सम्राट के पास पहुँची तो उसने मुजफ्फरखाँ को एक फरमान भेजा और कहा कि काकशाल लोग सिंहासन के पुराने सेवक हैं और उन्हें चोट पहुँचाना उचित नहीं है इसलिये उन्हें प्रसन्न रक्खा जाय तथा सम्राट के अनुग्रह की आशा दिलाकर प्रोत्साहित किया जाय और उनकी जागीरों का झगड़ा तै कर दिया जाय। फरमान उस समय पहुँचा जब मुजफ्फर खाँ विद्रोहियों का सामना कर रहा था। फरमान पहुँचने पर बाबाखाँ तथा अन्य विद्रोहियों ने समर्पण का दिखावा किया और मुजफ्फरखाँ के पास सन्देश भेजा कि रिजवी खाँ तथा पत्रदास को सन्धि की शर्तें तै करने के लिये भेज दीजिये किन्तु जैसे ही वे पहुँचे बाबाखाँ ने उन्हें बन्दी बना लिया और इस प्रकार युद्ध की ज्वाला प्रज्वलित कर दी।

'इसी समय संयोग से ऐसा हुआ कि मुल्ला तैयब, पुरुषोत्तम बख्शी तथा बिहार के राजस्व पदाधिकारियों ने भी दुर्व्यवहार करना आरम्भ कर दिया उन्होंने मुहम्मद मासूम काबुली अरब बहादुर तथा सभी अमीरों की जागीरें छीन लीं और इस प्रकार एक संकट मोल ले लिया। मासूम काबुली तथा अन्य लोगों ने विद्रोह करने तथा मुल्ला तैयब और राय पुरुषोत्तम को मार डालने का संकल्प किया। वहाँ भागकर विद्रोहियों ने उनके घर लूट लिये। कुछ दिनों बाद पुरुषोत्तम ने कुछ राजभक्त प्रजाजन इकट्ठे किये और विद्रोहियों पर आक्रमण करने के इरादे से कोसी नदी पार की किन्तु विद्रोही अरब बहादुर पहले से सचेत था इसलिए उसने पुरुषोत्तम को सहसा पकड़ लिया और मार डाला।

'जब मासूम के विद्रोह का समाचार बाबाखाँ को मिला तो दोनों में पत्र व्यवहार होने लगा और जब काकशालों ने मुजफ्फरखाँ से मोर्चा लिया तो मासूम उसकी सहायता के के लिये गया और गढ़ी पहुँच गया। और विद्रोह अधिक शक्तिशाली हो गया। फिर काकशालों ने नदी पार की और मुजफ्फरखाँ पर चढ़ाई कर दी।" "तब मुजफ्फरखाँ ने टाँडा के किले में शरण ली, किन्तु वह किला चार दीवालों के अतिरिक्त और कुछ न था। विद्रोहियों ने टाँडा के नगर पर अधिकार कर लिया। उन्होंने हाकिम अबुल फतेह, ख्वाजा शम्सुद्दीन तथा अन्य लोगों को बन्दी बना लिया और लूट-मार आरम्भ कर दी। विद्रोहियों ने टाँडा के किले पर अधिकार कर लिया और मुजफ्फरखाँ को सुरक्षा का लिखित आश्वासन देकर उसको घर से बाहर निकाल लाये तथा वध कर दिया। उन्होंने उसकी धन-सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया और सम्पूर्ण बंगाल तथा बिहार का देश उनके हाथों में आगया। विद्रोहियों के झण्डे के नीचे लगभग ३०,०० घुड़सवार एकत्र हो गये। इससे कुछ समय पहले सम्राट ने मिर्जा शराफुद्दीन हुसेन को कारागार से निकाल कर बंगाल में मुजफ्फर खाँ के पास भेज दिया था (हिरासत में रक्खे जाने के लिये)।

अब विद्रोहियों ने उसे कारागार से मुक्त कर दिया और अपना नेता बना लिया। इस प्रकार विद्रोह बढ़ता गया।

'जब इन घटनाओं का समाचार सम्राट के पास पहुँचाया गया तो उसने राजा टोडरमल...तथा अन्य अमीरों को उसका दमन करने के लिये भेजा। जौनपुर के सूबेदार मुहम्मद मसूम फरंखुदी और......'उस देश के जागीरदारों के नाम फरमान भेजे गये और आज्ञा दी गई कि वे जाकर टोडरमल के नेतृत्व में कार्य करें और विद्रोह को कुचलने में हर प्रकार की सहायता दें। जब शाही सेना मुंगेर पहुँची तो काकशाल लोग तथा मिर्ज़ा शराफुद्दीन हुसैन ३०,००० घुड़सवार, ५,००० हाथी और युद्ध की नावें तथा तोपखाना लेकर युद्ध के लिये सुव्यवस्थित होकर शाही सेना से टक्कर लेने के लिये आगे बढ़े। टोडरमल को विश्वास था कि शत्रु सेना में, जिसमें साहसिक लोग सम्मलित हैं, एकता नहीं हो सकती, इसलिये उसने लड़ना उचित नहीं समझा और मुंगेर के किले पर अधिकार करके उसकी नये ढंग से किलेबन्दी कर ली और वहीं डट गया। चार महीने तक शाही सेनायें तथा विद्रोही आमने सामने पड़े रहे, किन्तु अन्त में पड़ौस के कुछ राजभक्त जमींदारों ने विद्रोहियों के रसद के मार्ग काट दिये जिसके परिणाम स्वरूप उनके पास सामग्री की बहुत कमी हो गई। बाबाखाँ काकशाल बीमार पड़ गया और चल बसा।......'मसूम भी अपने मोर्चे पर न डट सका और बिहार की ओर चला गया। अरब बहादुर ने वेगपूर्वक पटना की ओर कूच किया, नगर पर अधिकार कर लिया और कोष लूट लिया, किन्तु उसे शीघ्र ही खदेड़ दिया गया।"' टोडरमल तथा अन्य अमीर बिहार पहुँचे, .. 'सम्राट के सौभाग्य ने उनकी सहायता की और मसूम दु:खी होकर बंगाल को भाग गया। अब गढ़ी पर भी शाही सेना का अधिकार हो गया।' यद्यपि इसके बाद भी पूर्वी प्रान्तों में दीर्घकाल तक संघर्ष चलता रहा, किन्तु विद्रोह की रीढ़ टूट चुकी थी और बंगाल तथा बिहार फिर साम्राज्य की आधीनता में आ गये।

अकबर ने कोकाभाई मिर्ज़ा अज़ीज़ कोका को खाने आज़म के नाम से बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया और उसे पूर्वी प्रान्तों में पूर्ण शान्ति स्थापित करने का कार्य सौंपा। विद्रोहियों को सन्तुष्ट करने के लिये दीवान (वित्त मंत्री) शाह मसूर को, जिसने कठोर कार्यवाहियाँ कीं थीं (जैसे सैनिकों का भत्ता ५० से २० प्रतिशत तक कम करना) अस्थायी रूप से पदच्युत कर दिया गया। "जौनपुर के काज़ी मुल्ला मुहम्मद यज़दी को, जिसने यह फतवा देने का साहस किया था कि विद्रोह (नये प्रयोग करने वाले शासक के विरुद्ध) उचित है, उसके सहयोगी बंगाल के काज़ी के साथ बुलाया गया। उनकी नाव नदी में टकरा कर डूब गई और अन्य छोटे-मोटे मुल्ला, जिनके विद्रोही होने का सन्देह था, किसी न किसी प्रकार से 'विनाश के गर्त में भेज दिये गये' (बदायूनी, दूसरा भाग, पृष्ठ २८५)। ... 'अकबर ने सदैव की भाँति अनेक प्रमुख विद्रोही नेताओं के साथ नीतिपूर्ण

दयालुता का व्यवहार किया, किन्तु उन्होंने कभी कभी उसकी कोमलता से लाभ उठा कर फिर विद्रोहपूर्ण आचरण किया।"

मिर्ज़ा हाकिमख़ाँ का विद्रोह—पूर्व के विद्रोहियों का दमन करने के लिये अकबर स्वयं नहीं गया, क्योंकि उत्तर पश्चिम में एक उससे भी भयंकर संकट मँडरा रहा था। उसके चचेरे भाई मिर्ज़ा मुहम्मद हाकिम ने बंगाल के विद्रोहियों का साथ देने के लिये एक बार फिर हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया। स्मिथ का कथन है "यदि काबुल से एक सफल आक्रमण होता, जिसके परिणाम स्वरूप दिल्ली और आगरा तथा उनके विशाल धन-कोषों पर अधिकार हो जाता तो इसका अर्थ होता अकबर के साम्राज्य का विनाश, जिसका उसने इतने परिश्रम और चतुराई से निर्माण किया था। किन्तु यदि वह आक्रमण विफल हो गया तो पूर्व के विद्रोह को एक सामान्य प्रान्तीय उपद्रव समझा जा सकता था और शाही सेनाएँ धीरे-वेग उसका दमन कर सकती थीं। घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि अकबर का निर्णय ही ठीक था। उत्तर पश्चिम के आक्रमण को पीछे धकेल दिया गया और फिर पूर्व के विद्रोह धीरे धीरे दबा दिये गये।" निज़ामुद्दीन ने उत्तर पश्चिम के इस युद्ध का वृत्तान्त इस प्रकार दिया है :—

इस वर्ष (९८९ हिजरी अथवा १५८१ ई०) के आरम्भ में सूचना मिली कि मिर्ज़ा मुहम्मद हाकिम ने उन प्रलोभनों में आकर, जो मासूम काबुली तथा मासूम फ़रंख़ुदी ने पत्र लिखकर उसे दिये हैं, तथा अपने मामा फरीदुन के भड़काने पर हिन्दुस्तान को जीतने के उद्देश्य से काबुल से प्रस्थान कर दिया है। उसने अपने नौकर शादमान को आगे आगे सिन्ध के इस पार भेज दिया था किन्तु राजा भगवानदास के पुत्र कुँवर मानसिंह ने उस पर आक्रमण किया और मार डाला। यह सुनकर मिर्ज़ा ने नदी पार की और सैयदपुर के परगने में तम्बू गाड़ दिये। सम्राट ने अपनी सेनायें पंजाब की ओर सब सैनिकों को आठ महीने का वेतन अग्रिम के रूप में राज-कोष से दे दिया' और पंजाब की ओर चल पड़ा। "

'जब कुँवर मानसिंह ने शादमान को परास्त कर दिया तो उसी उसके बस्ते में मिर्ज़ा मुहम्मद हाकिम के लिखे हुये तीन पत्र मिल गये, एक हाकिम-उल मुल्क को दूसरा ख़्वाजाशाह मंसूर (अकबर का विश्वसनीय दीवान) को और तीसरा मुहम्मद कासिमख़ाँ मीर बहर को लिखा गया था; ये पत्र निमंत्रण तथा प्रोत्साहन के पत्रों के उत्तरों के रूप में थे। कुँवर मानसिंह ने ये पत्र सम्राट के पास भेज दिये। उसने उनके तथ्यों की जाँच करवाई, किन्तु उन्हें गुप्त रक्खा।

'सम्राट के दिल्ली से प्रस्थान करने के उपरान्त, मिर्ज़ा मुहम्मद हाकिम लाहौर की ओर बढ़ा और महदी कासिम ख़ाँ के बाग में डेरे डाल दिये। कुँवर मानसिंह सईदख़ाँ और राजा भगवानदास किले में चले गये थे। जब सम्राट पानीपत पहुँचा तो मिर्ज़ा हाकिम का दीवान मलिक सानी काबुल मिर्ज़ा को छोड़कर शाही शिविर में भागआया। वह ख़्वाजा शाह मंसूर के तम्बू के पास आकर उतरा।" "सम्राट को मंसूर पर पहले से ही सन्देह

था, अब वह और पक्का हो गया। उसने मंसूर को निकाल दिया और मिर्जा का पत्र भी उसे दिखला दिया। मसूर ने शपथ खाई (अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये), किन्तु कोई लाभ न हुआ।

'सम्राट ने शाहाबाद की ओर प्रस्थान किया और वहाँ उसे कुछ अन्य पत्र मिल गये जिनसे लोगों का अभियोग सिद्ध होता था।......इन पत्रों को सुनकर तथा उन पर विचार करके सम्राट को ज्ञात हुआ कि शराफ बेग ने एक पत्र ख्वाजा मसूर के लिये लिखा था और दूसरे का सम्बन्ध निश्चय ही मिर्जा हाकिम के दीवान मलिक सानी के ख्वाजा मसूर के पास आने से था। राज्य के अनेक अमीरों तथा पदाधिकारियों की ख्वाजा से अन-बन थी, इसलिए उन्होंने उसका वध करवाने का प्रयत्न किया। सम्राट ने उसके वध की आज्ञा दे दी और दूसरे दिन उसे लटका दिया गया।

'तीन दिन बाद सूचना मिली कि मिर्जा मुहम्मद हाकिम सम्राट के पंजाब की ओर बढ़ने का समाचार पाकर लाहौर की नदी को पार करके काबुल चला गया है। सम्राट सरहिन्द से बढ़कर कलानौर पहुँचा और वहाँ से नये रोहतास। वहाँ पर उसे शुभ समाचार मिला, और मार्ग में आखेट का आनन्द लेते हुये वह सिन्ध तक जा पहुँचा।.... उसने सिन्ध के किनारे एक दुर्ग बनाने की आज्ञा दी, जो सिन्ध-सागर कहलाता है, और जिसे वह अटक-बनारस कहता था। नावों की बहुत कमी थी, इसलिये उसने अमीरों को अपने-अपने स्थानों पर नियुक्त किया। कुँवर मानसिंह.... तथा अन्य लोग नदी को पार करके पेशावर भेजे गये। जब उन्होंने नगर पर अधिकार कर लिया तो सम्राट ने राजकुमार मुराद को अन्य लोगों के साथ काबुल को जीतने के लिये भेजा।

'इसी समय मिर्जा हाकिम के दूत उसके अपराधों के लिये क्षमा याचना करने आये। सम्राट ने हाजी हबीबुल्ला को उनके साथ काबुल भेजा और क्षमा करने का वचन दिया, किन्तु शर्त यह रक्खी कि वह अपने अतीत के लिये पश्चाताप करे और शपथ खाये (भविष्य के लिये) और अपनी बहिन को शाही दरबार में भेज दे.... किन्तु जब राजकुमार मुराद काबुल से सात कोस की दूरी पर पहुँचा तो मिर्जा हाकिम ने निकलकर उस पर आक्रमण कर दिया, किन्तु वह पराजित हुआ और भाग गया। तब विजयी राजकुमार ने काबुल में प्रवेश किया।..... १० रजब, शुक्रवार को (९ अगस्त १५८१ ई०) सम्राट ने स्वयम् अपने दादा की राजधानी में प्रवेश किया और बीस दिन तक वहाँ ठहरा और उद्यानों का भ्रमण किया।.....मिर्जा मुहम्मद हाकिम ने वचन दिया, राज-भक्ति की शपथ खाई और एक करार लिख दिया,... तब सम्राट ने काबुल को मिर्जा मुहम्मद हाकिम के सुपुर्द करके हिन्दुस्तान की ओर प्रस्थान किया।... रमजान के अन्तिम दिन वह लाहौर आ पहुँचा।

'उसने पंजाब का शासन सईदखाँ, राजा भगवानदास तथा कुँवर मानसिंह को सौंपा और मार्ग में आखेट करता हुआ फतहपुर को गया। ... २६ शब्वल (१ दिसम्बर १५८१) को वह दिल्ली जा पहुँचा।

'जिस समय सम्राट काबुल के युद्ध में लगा हुआ था, सैयद बदख्शी के पुत्र बहादुर

भलो ने शिरहुत में प्रवेश किया और बहादुरशाह को उपाधि धारण की (बदायूनी के अनुसार उसने अपने नाम का खुतबा पढ़वाया और सिक्के जारी किए) किन्तु खाने आजम के आदमियों ने उसे पकड़ कर मार डाला। मंसूमखाँ फरखुदी ने (जो शिवालिक की ओर भाग गया था) दुःखी होकर खाने आजम के द्वारा अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगी और खान के बीच में पड़ने से उसे क्षमा कर दिया गया।'

स्मिथ का कथन है, 'काबुल के आक्रमण की सफलता से वह (अकबर) अपने शेष जीवन भर के लिये निश्चिन्त हो गया और इसे हम उसके जीवन का चरम उत्कर्ष कह सकते हैं।"

गुजरात का विद्रोह—निजामुद्दीन ने गुजरात के विद्रोह का जो वृत्तान्त दिया है वह इतना विस्तृत है कि उसे यहाँ उद्धृत नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त उस वृत्तान्त का अधिक महत्व भी नहीं है सिवाय इसके कि लेखक ने स्वयं विद्रोह के दमन करने में भाग लिया था। स्मिथ के निम्नांकित वृत्तान्त में विद्रोह की मुख्य मुख्य घटनाओं का सारांश दिया हुआ है :—

"जिस समय बङ्गाल में युद्ध चल रहे थे और काबुल पर आक्रमण हुआ, उसी समय गुजरात में वहाँ के भूतपूर्व सुल्तान मुज़फ्फरशाह के विद्रोह के कारण बहुत उपद्रव फैल गये। वह १५७८ ई० में कारागार से भाग निकला था और काठियावाड़ में स्थित जूनागढ़ में शरण ली तथा १५८३ ई० तक वहीं रहा, और फिर एक सेना एकत्र करके भयंकर विद्रोह खड़ा कर दिया, जो लगभग आठ वर्ष तक चला। जब इतिमाद खाँ को १५८३ ई० में वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया गया तो वह बहुत भाग्यशाली निकला; इतिहासकार निजामुद्दीन अहमद ने बख्शी के रूप में उसकी बहुत सहायता की और बहुत ही क्रिया शील तथा योग्य पदाधिकारी सिद्ध हुआ। सितम्बर १५८३ में मुज़फ्फर ने अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया और सुल्तान की उपाधि तथा पद भी धारण की। नवम्बर में उसने कुतुबुद्दीन नामक एक विख्यात शाही अधिकारी को जिसने उसके समक्ष समर्पण कर दिया था, मार डाला और भड़ौंच ले लिया। पश्चिम से आतंककारी समाचारों को सुनकर अकबर १५८५ ई में इलाहाबाद से अपनी राजधानी को लौटने पर बाध्य हुआ। इसी बीच में उसने मिर्जा खाँ (अब्दुर्रहीम, बैरामखाँ का पुत्र) को जो अपनी खानखाना उपाधि से ही अधिक विख्यात है, गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। उस झूठे दावेदार को बहुत थोड़ी सी शाही सेना ने जनवरी १५८४ ई० में पहले अहमदाबाद के निकट स्थित सरखेज के युद्ध में और फिर राजपीपला में नादौत अथवा नामदौद में परास्त किया। भाग्य के अनेक उतार चढ़ाव के उपरान्त वह कच्छ में भाग गया और वहाँ कुछ स्थानीय सरदारों ने उसकी सहायता की। निजामुद्दीन ने उनके प्रदेश को भयंकर दण्ड दिया और लगभग ३०० गाँव नष्ट कर दिये और दो परगने उजाड़ दिये। तब उसे वापिस बुला लिया गया। मुज़फ्फर काठियावाड़ और कच्छ के जंगली प्रदेशों से १५९१-९२ तक कष्ट देता रहा और फिर पकड़ लिया गया। उसने अपना गला काट कर आत्महत्या कर ली अथवा कहा गया था कि उसने ऐसा कर लिया है। अब्दुर्रहीम को मुज़फ्फर को पराजित करने के उपलक्ष्य में ही खानखाना की उपाधि मिली।'

सीमाओं की व्यवस्था

ऊपर जिस संकट का हम वर्णन कर आये हैं उस पर सफलतापूर्वक विजय प्राप्त करके अकबर ने कुछ युद्ध लड़े जो न्यूनाधिक रूप में आक्रमणकारी थे और जिनका उद्देश्य साम्राज्य की सीमाओं को काट-छाँट कर व्यवस्थित तथा ठीक करना था। काबुल, काश्मीर, कान्धार, सिन्ध तथा उड़ीसा को साम्राज्य में मिलाना, बलूची तथा यूसुफ ज़ाइयों का दमन करना और बदख्शाँ में उज़बेगों के विरुद्ध युद्ध—इन सबका एक ही उद्देश्य था। इन्हें पूरा करने के उपरान्त उसने दक्खिन के राज्यों को जीतने के लिये अन्तिम आक्रमणकारी युद्ध लड़े।

काबुल को साम्राज्य में मिलाना—मिर्ज़ा मुहम्मद हाकिम की मृत्यु से अकबर को *काबुल को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने का अवसर मिल गया।* निज़ामुद्दीन लिखता है, 'मिर्ज़ा सम्राट का अपना भाई था किन्तु सम्राट ने उसके प्रति भाई से भी अधिक दया तथा प्रेम का व्यवहार किया। मिर्ज़ा में बहुत अहंकार था और उसने कई बार आक्रमण किये थे, किन्तु सम्राट ने उसे क्षमा तथा अनुग्रह ही नहीं प्रदान किये बल्कि उसे काबुल में बनाये रखने के लिये अमीर तथा सेनायें भी भेजीं। वह अत्यधिक मद्यपी था और अतिशय मदिरा सेवन ही उसके रोग तथा मृत्यु का कारण था। उसका देहावसान १२ शबन, ९९३ हिज्री (जुलाई १५८५) को हुआ। जब उसकी मृत्यु का समाचार सम्राट के पास पहुँचा तो उसे अत्यधिक दुःख हुआ; और जब विलाप की अवधि समाप्त हो गई तो उसने काबुल का देश मिर्ज़ा के पुत्रों को देने का निश्चय किया, किन्तु अमीरों ने कहा कि मिर्ज़ा के पुत्र अल्पवयस्क तथा शासन के लिये अयोग्य हैं, और उजबेग सेना, जिसने पहले ही बदख्शाँ पर अधिकार कर लिया है, काबुल को हथियाने का अवसर ढूंढ रही है। इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये सम्राट को पंजाब की ओर प्रस्थान करना पड़ा और १० रमजान को उसने कूच कर दिया।

'सम्राट उत्तरोत्तर मंजिलें ते करता हुआ तथा बिना कहीं पड़ाव डाले दिल्ली पहुँच गया। वहाँ उसने अपने पिता के मकबरे तथा सन्तों की समाधियों के दर्शन किये, दरिद्रों को दान दिया और ईद मनाई।। २९ शव्वल को वह सतलज के तट पर पहुँचा और वहाँ डेरा डाल दिया। वहाँ उसे समाचार मिला कि कुँअर मानसिंह ने एक दल सिन्ध के उस पार पेशावर भेज दिया है और मिर्जा मुहम्मद हाकिम का पदाधिकारी शाह बेग काबुल को भाग गया है।... २८ तारीख को वह (अकबर) बियाह पहुँचा और उसे पार किया। वहाँ उसे मानसिंह का सदेश मिला कि काबुल की जनता ने स्वेच्छा से शाही प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया है।..... इसके अतिरिक्त जब कुँवर मानसिंह ने काबुल में प्रवेश किया तो स्वर्गीय मिर्जा के मामा फरीदुन ने अपने को अनदाय समन्दर छन्दवक्त राजकुमारों को कुँवर की सेवा में उपस्थित किया। उनका दयालुता के साथ स्वागत किया

गया और सुरक्षा का आश्वासन दिया गया। मानसिंह ने स्वयं अपने पुत्रों को काबुल में हो समसुद्दीन ख़ाफ़ी की देख रेख में छोड़ दिया, और राजकुमारों तथा काबुल के अमीरों को साथ लेकर सम्राट से मिलने चल दिया। (रावलपिंडी में) उनका राजकीय उदारता के साथ स्वागत हुआ। प्रत्येक सेवक को पाँच पाँच छः छः हजार रुपये पुरस्कार स्वरूप मिल गये। समुचित भत्ते तथा जागीरें भी प्रदान की गईं। सम्राट ने कुँवर मानसिंह को काबुल का राज्य जागीर के रूप में दे दिया और उसे सूबेदार नियुक्त किया।

अफगानों आदि का दमन—जब सम्राट अटक पहुँचा तो उसने भगवानदास शाह कुली महरम तथा अन्य प्रसिद्ध अमीरों को ५००० घुड़सवारों के साथ काश्मीर-विजय के लिये भेजा। उसी दिन इस्माइल कुलीखाँ और राईसिंह बलूचियों पर चढ़ाई करने को भेजे गये। दूसरे दिन जैनखाँ कोका को स्वात तथा बाजौर की उद्दण्ड अफगान जातियों का दमन करने तथा व्यवस्था कायम करने के लिये भेजा गया। १२ मुहर्रम ९९४ हिज्री को सम्राट ने अटक में डेरे डाल दिये।

'प्राचीन काल में एक हिन्दुस्तानी सैनिक अफगानों के बीच आया और एक इस्लाम द्रोही सम्प्रदाय की स्थापना की। उसने अनेक मूर्ख लोगों को बहकाकर अपना शिष्य बना लिया और स्वयं पीर रोशनाई की उपाधि धारण की। वह मर चुका था, किन्तु उसका चौदहवर्षीय पुत्र जलाल ९८९ हिज्री में जिस समय सम्राट काबुल से लौट रहा था उसकी सेवा में उपस्थित हुआ। उसका दयापूर्वक स्वागत किया गया किन्तु थोड़े ही दिनों उपरान्त अपनी कुप्रवृत्तियों से प्रेरित होकर वह भाग खड़ा हुआ और अफगानों में चला गया। वहाँ उसने उपद्रव खड़े कर दिये, अपने झंडे के नीचे बहुत से आदमी एकत्र कर लिये और काबुल तथा हिन्दुस्तान के बीच का मार्ग बन्द कर दिया। रोशनाइयों के इस नीच सम्प्रदाय का दमन करने के लिये सम्राट ने कुँवर मानसिंह को नियुक्त किया और काबुल जागीर के रूप में दे दिया।

'जब जैनखाँ के स्वात देश में पहुँच जाने तथा अफगानों के इस सम्प्रदाय से जिनकी संख्या चींटियों तथा टिड्डियों की भाँति अगणित थी, टक्कर लेने का समाचार आ गया, तो ९ सफर ९९४ हिज्री को सईदखाँ गक्खर राजा बीरबल तथा अन्य लोग सेनाओं के साथ उसकी सहायता के लिये भेजे गये। थोड़े दिनों बाद हाकिम अबुल फतह को अतिरिक्त सैनिक देकर उनके पीछे रवाना कर दिया गया। जब यह कुमुक पहुँच गई तो जैनखाँ ने अफगानों को लूटना तथा उजाड़ना आरम्भ कर दिया और लूट में बहुत-सा धन उसके हाथ लगा। जब ये करगर के दर्रे में पहुँचे तो एक आदमी ने आकर राजा बीरबल से कहा कि अफगान रात में आक्रमण करने का विचार कर रहे हैं, पहाड़ तथा दर्रे की चौड़ाई केवल तीन चार कोस है, और यदि हम लोग दर्रे में होकर निकल गये तो इस सम्भावित आक्रमण से बच सकेंगे राजा बीरबल ने जैनखाँ को कोई सूचना नहीं दी और दर्रे में से निकलने के लिये आगे बढ़ता गया और उसकी समग्र सेना पीछे-पीछे चलती गई। दिन डूबे, जब कि सूर्य अस्त होने को ही था, वे एक पहाड़ के पास

जा पहुँचे जिसकी दोनों करारें अफगानों से घिरी हुई थीं। उस संकीर्ण दर्रे में उन पर बाणों तथा पत्थरों की वर्षा होने लगी, अँधेरे में लोग मार्ग भूल गये और वहाँ पहाड़ की खोहों में नष्ट हो गये। भयंकर पराजय तथा संहार हुआ। लगभग ८००० सैनिक खेत रहे; राजा बीरबल ने जीवन-रक्षा के लिये भागने का प्रयत्न किया, किन्तु मारा गया।··· ५ रबी-उल-अव्वल को जैनखाँ कोका तथा हाकिम अबुल फतह भी पराजित हुए और बड़ी कठिनाई से अटक के किले में पहुँच सके।

'इस पराजय से सम्राट को अत्यधिक क्लेश हुआ।* उसने इन सेनापतियों को हटा दिया और इस सत्यानाश का बदला लेने के लिये राजा टोडरमल को विशाल सेना के साथ भेजा। राजा ने बड़ी सावधानी से पर्वत-प्रदेश में प्रवेश किया। जहाँ-तहाँ उसने किले बनवाये, और निरन्तर मार-काट तथा लूट जारी रक्खी, जिससे अफगानों की स्थिति बहुत ही संकटापन्न हो गई। राजा मानसिंह ने भी शत्रु पर धावा बोल दिया था, खैबर के दर्रे में उसने उनसे भयंकर युद्ध किया और उनमें से अनेक बन्दी बनाये और मारे गये। राजा को (१५८६ में) भारी विजय प्राप्त हुई।

काश्मीर की विजय—'जब राजा भगवानदास, शाह कुलीखाँ महरम तथा अन्य अमीर जिन्हें काश्मीर पर चढ़ाई करने को भेजा गया था, काश्मीर की सीमाओं पर स्थित भूलिया के दर्रे पर पहुँचे, तो उस देश के शासक यूसुफखाँ ने आकर दर्रे को रोक दिया। कुछ दिनों तक शाही सेनाओं को निष्क्रिय पड़ा रहना पड़ा, पानी तथा बर्फ की वर्षा होने लगी और अन्न की पूर्ति होना बन्द हो गया। इसके अतिरिक्त ज़ैन की हार का समाचार भी आ गया जिससे सेना बड़ी कठिनाइयों में फँस गई। अमीरों ने सन्धि करने का निश्चय किया। उन्होंने शाही कोष के लिये कुछ कर निर्धारित किया जिसे काश्मीरियों ने केसर, शालों तथा नकद रुपयों के रूप में चुकाने का वचन दिया; और कर वसूल करने के लिये अधिकारी नियुक्त कर दिये गये। (उन्होंने देश पूर्णतया यूसुफ के ही अधिकार में रहने दिया—बदायूनी, भाग २, पृष्ठ ३५२।) इन शर्तों से यूसुफ बहुत प्रसन्न हुआ और अमीरों से भेंट करने आया, और वे उसे सम्राट के पास ले आये। जब वे दरबार में पहुँचे, तो सम्राट ने सन्धि को अस्वीकर किया और अमीरों को अपने सम्मुख उपस्थित होने की आज्ञा नहीं दी, किन्तु कुछ दिनों बाद उन्हें अभिवादन करने की आज्ञा मिल गई।— "फिर मुहम्मद कासिमखाँ मीर-बहर को···—"एक विशाल सेना के साथ काश्मीर को विजय करने के लिये भेजा गया।

* अकबर को अपने हास्यप्रिय मित्र राजा बीरबल की मृत्यु पर विशेष सन्ताप हुआ। कहा जाता है कि वह शोक से इतना अभिभूत हो गया कि दो दिन तक उसने खाना-पीना ही त्याग दिया। बदायूँनी लिखता है 'अन्य किसी अमीर की मृत्यु पर उसे इतना शोक नहीं हुआ जितना कि राजा के मारे जाने पर।'

'सात दिन की मंजिल तै करके उन्होंने पहाड़ी दर्रों में प्रवेश किया। जब वे करगल की घाटी में पहुँचे तो यूसुफ (जिसे उसके पुत्र ने कारागार में डाल दिया था और मरा हुआ समझ लिया था।'—बदायूँनी, भाग २, पृष्ठ ३५२) के पुत्र याकूब ने अपने को काश्मीर का शासक समझकर एक बड़ी सेना लेकर उनका प्रतिरोध करने के लिये कूच किया। किन्तु भाग्य ने शाही सेना का साथ दिया और काश्मीरियों में कलह का बीज बो दिया। काश्मीर के सरदार याकूब के शासन से दुःखी थे और उनमें से अनेक उसका साथ छोड़कर कासिमखाँ से आ मिले। एक दूसरे दल ने श्रीनगर में जो देश की राजधानी है विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। याकूब ने आन्तरिक विद्रोह का दमन प्राथमिक महत्व का कार्य समझा और काश्मीर को लौट गया। तब शाही सेना ने निर्विरोध काश्मीर में प्रवेश किया, और याकूब प्रतिरोध करने के अयोग्य होने के कारण पहाड़ों में भाग गया श्रीनगर पर अधिकार होगया और सभी परगनों में राजस्व वसूल करने के लिये पदाधिकारी नियुक्त कर दिये गये।

जब सम्राट ने विजय का समाचार सुना तो उसने कासिमखाँ तथा अन्य अमीरों के पास धन्यवाद के पत्र भेजे और उनको सम्मान तथा पदवृद्धि द्वारा पुरस्कृत किया। याकूब ने एक दल एकत्र करके कासिम से युद्ध किया, किन्तु पराजित हुआ। एक बार उसने रात्रि में सहसा आक्रमण किया किन्तु असफल रहा। शाही दलों ने खड्डों तथा वनों से भरी पहाड़ियों में उनका पीछा किया, हराया और खदेड़ते गये। एक बार तो वह लगभग पकड़ ही लिया गया। अन्त में अत्यधिक दुःखी होकर वह नम्रभाव से कासिमखाँ की सेवा में उपस्थित हुआ और अपने को शाही सिंहासन के अनुगामियों में भर्ती करा लिया। बदायूँनी लिखता है कि अन्ततोगत्वा उसे बिहार में मानसिंह के पास जहाँ उसका पिता था, भेज दिया गया, और यूसुफ तथा याकूब दोनों ने कष्टों तथा पश्चात्ताप से जर्जरित होकर कारागार में ही शरीर त्याग दिया।'

इसके पश्चात् सम्राट ने काश्मीर तथा काबुल की यात्रा की और अनेक महत्वशाली पदाधिकारियों का स्थानान्तरण किया। 'काबुल की सरकार जैनखाँ कोका को सुपुर्द की गई, और राजा मानसिंह को दरबार में बुला लिया गया और फिर बिहार तथा बंगाल की सूबेदारी उसे प्रदान की गई। इसी समय काश्मीर का शासन मिर्ज़ा यूसुफखाँ रिज़वी को सौंपा गया और कासिमखाँ मीर बहर को वापिस बुला लिया गया। सादिकखाँ को यूसुफज़ाइयों के विरुद्ध स्वात तथा बाजौर भेजा गया, और सियालकोट तथा अन्य स्थानों में मानसिंह की जो जागीरें थीं वे उसे दे दी गईं। इस्माइल कुलीखाँ को स्वात तथा बाजौर से हटाकर गुजरात भेज दिया गया, और वहाँ से अज़ीज़कोका को दरबार में बुला लिया गया। 'वज़ीर खाँ गुजरात से आया और उसे राजस्व तथा सैनिक प्रशासन में राजा टोडरमल की सहायता के लिये नियुक्त किया गया।' किन्तु जब सम्राट काबुल में ही था उस समय सूचना मिली कि वकील उस सल्तनत तथा मुशरिफ-ए-दीवान राजा टोडरमल तथा अमीर-उल-उमरा राजा भगवानदास की लाहौर में मृत्यु हो गई। ८ मुहर्रम

१८ को सम्राट ने काबुल का शासन भार मुहम्मद कासिम मीर-बहर के हाथों में छोड़कर हिन्दुस्तान को लौटने के लिये प्रस्थान कर दिया। ...'उसने गुजरात का प्रान्त मिर्ज़ा अज़ीज़ मुहम्मद कोकलताश आजमखाँ को, जिसके हाथों में मालवा की सरकार थी, दे दिया। उसने इस ग्रन्थ के रचयिता मुझ निज़ामुद्दीन अहमद को दरबार में बुला लिया। खानखाना को गुजरात में जागीर मिली हुई थी, उसके बदले में उसे जौनपुर का प्रान्त दे दिया गया।

सिन्ध तथा बलूची—'अनेक वर्षों से सम्राट लहौर नगर में ही रहता आया था और उस प्रदेश के अनेक अमीर वहाँ आकर उसकी सेवा में उपस्थित हुए थे। किन्तु थट्टा के जानी बेग ने पत्र तथा कर तो भेजा था किन्तु उसने स्वयं कभी आकर सिंहासन के समर्थकों में अपना नाम नहीं लिखवाया था। अब खानखाना को मुलतान तथा सक्कर का सूबेदार नियुक्त किया गया और उसे सिन्ध तथा बलूचियों को विजय करने की आज्ञा दी गई। रबी-उस-सनी (१५९०) के महीने में उसे अपना कार्य सम्पादित करने के लिये भेजा गया, और उसके साथ जो अमीर गये उनकी संख्या इतनी थी कि उनका उल्लेख करना असम्भव है।

जानी बेग शीघ्र ही समर्पण करने तथा सम्राट की सेवा में जाकर उपस्थित होने का वचन देने पर बाध्य हुआ। उसने यात्रा की तैयारियाँ करने के लिये तीन महीने का समय मांगा और उसकी यह प्रार्थना स्वीकार करली गई। वर्षा ऋतु आरम्भ हो गई थी, इसलिये उस समय खानखाना सैहवान के निकट सन के गाँव में ही ठहरा रहा। सैहवान के किले का समर्पण कर दिया गया, और जानी बेग ने अपनी पुत्री का विवाह खानखाना के पुत्र मिर्ज़ा इराज से कर दिया। उसने तीन ग्रब (तीन मस्तूलों वाले जहाज) भी समर्पित कर दिये। इस विजय से सम्राट बहुत प्रसन्न हुआ और इसे काश्मीर की विजय के शुभ होने का लक्षण समझा।

उड़ीसा की विजय—'तब तक राजा मानसिंह ने कुतलूखाँ अफगान के पुत्रों जो से उसकी मृत्यु के बाद से उडीसा के देश पर अधिकार किये हुए थे, एक भारी लड़ाई लड़ ली थी और उन्हे परास्त करके उस विस्तृत देश को जो बंगाल के उस पार स्थित था, साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था; इसका समाचार भी सम्राट के पास पहुंचा', नये प्रान्त को बंगाल के सूबे में मिला दिया गया, और १७५१ तक वह साम्राज्य का अंग बना रहा, उस वर्ष उसे मराठों ने अलीवर्दीखा से छीन लिया।

बलूचिस्तान तथा कन्धार—"१५९५ में उत्तर पश्चिम की ओर विजय तथा साम्राज्य विस्तार का कार्य पूरा हो गया, इसका श्रेय अकबर के पदाधिकारियों की तलवार को तथा उस कूटनीति को था जो उसके नाम के आतंक पर आधारित थी। उस वर्ष फरवरी के महीने में मीर मसूम इतिहासकार ने जो तलवार तथा लेखनी दोनों के प्रयोग में समान रूप से दक्ष था, क्वेटा के दक्षिण-पूर्व में स्थित

सिवी के दुर्ग पर जो उस समय पन्नी अफगानों के अधिकार में था, आक्रमण किया। किले की रक्षा के लिये कबाइलियों का एक शक्तिशाली दल एकत्र हो गया, किन्तु युद्ध में वे पराजित हुए और कुछ सोच विचार के बाद उन्होंने दुर्ग समर्पित कर दिया, जिसके परिणाम स्वरूप सटवर्ती प्रदेश मकरान समेत कान्धार की सीमाओं तक स्थित समग्र बलूचिस्तान शाही आधिपत्य के अन्तर्गत आ गया। कुछ समय उपरान्त अप्रैल में कान्धार पर भी बिना रक्त-पात के सम्राट का अधिकार हो गया। ईरानी सूबेदार मुजफ्फर हुसैन मिर्ज़ा के अपने सम्बन्धियों से झगड़े चल रहे थे और उधर उसे उजबेगों का डर था इसलिये उसने अकबर से किले का भार सँभालने के लिये एक पदाधिकारी भेजने की प्रार्थना की। सम्राट तो यह चाहता ही था, उसने प्रसन्नता से प्रार्थना स्वीकार कर ली और शाह बेग को जो काबुल में उसके भाई की सेवा में कार्य कर चुका था भेज दिया। इस प्रकार शान्तिपूर्वक अधिकृत किया हुआ नगर १६२२ तक भारतीय सरकार के अधिकार में बना रहा, उस वर्ष यह जहाँगीर के हाथों से निकल गया। शाहजहाँ ने उसे पुनः प्राप्त कर लिया और १६३८ से १६४९ तक उस पर अधिकार रक्खा उसके बाद वह अन्तिम रूप से साम्राज्य से पृथक हो गया।"

बदख्शाँ तथा उजबेग—अकबर की अपने पूर्वजों के ह्रास भारिसयाना में स्थित राज्यों को जीतने की उत्कट अभिलाषा थी। जब उसने काबुल को कूच किया, उस समय उसने 'बदख्शाँ को जीतने का संकल्प कर लिया था।' बाद में 'मिर्ज़ा सुलेमान मिर्ज़ा मुहम्मद हाकिम खाँ की सहायता से बदख्शाँ को लौट गया और अब्दुल्ला खाँ उजबेग की सेना पर विजय प्राप्त कर ली। जब बदख्शाँ के अब्दुल्ला खाँ ने मिर्ज़ा सुलेमान की सफलता का समाचार सुना तो उसने एक शक्तिशाली दल इकट्ठा किया और उसका विरोध करने के लिये भेज दिया। मिर्ज़ा सुलेमान उस सेना के सामने न डट सका और काबुल को लौट आया और समग्र बदख्शाँ पर उजबेग की शक्ति स्थापित हो गई।' तब अकबर ने कूटनीति द्वारा अब्दुल्ला खाँ को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया। उसकी भेंट करने के लिये उसने मुहम्मद अली खज़ांची को लगभग डेढ़ लाख रुपये जिनका मूल्य १०००० इराकी तुमन होता था, हिन्दुस्तान का सामान तथा विचित्र वस्तुएँ दीं।' किन्तु इस सब से कोई लाभ नहीं हुआ। बल्कि उजबेग सेनाओं की कार्यवाहियों से अकबर को निरन्तर चिन्ता बनी रही; किन्तु १५९८ में जब अब्दुल्ला खाँ की मृत्यु हो गई, तब उस दिशा से पूर्णरूपेण संकट मुक्त होकर उसने दक्षिण की ओर ध्यान दिया।

दक्खिन की विजय

अगस्त १५९१ में अकबर ने दक्खिन के विभिन्न राज्यों को कूटनीतिक शिष्ट-मण्डल भेज दिये थे: 'शिक्षाविद् अबुल फज़ल के भाई फैज़ी को असीर तथा बुरहानपुर, ख्वाजा अमीनुद्दीन को अहमदनगर, मीर मुहम्मद अमीन मसूदी को

बीजापुर ; और मिर्जा मसूद को गोलकुण्डा।' किन्तु १५९३ में 'उन सभी
दूतों ने जिन्हें राजा ने दक्खिन भेजा था लौट कर सूचना दी कि सभी सुल्तानों
ने सम्राट की आधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है, इस पर अकबर
ने उन्हे जीतने का संकल्प कर लिया। खानदेश के शासक राजा अली ने
जो 'एक प्रतिभावान, न्यायप्रिय, बुद्धिमान, नीति निपुण तथा वीर पुरुष था,'
सम्राट् के प्रति भक्ति का कुछ परिचय दिया था। "राजा अली खाँ के राज्य का
मुख्य महत्व यह था कि उसमें असीरगढ़ का शक्तिशाली दुर्ग स्थित था, जो
दक्खिन के मुख्य मार्ग की नाकाबन्दी करता और एशिया अथवा योरुप में सबसे
अधिक दृढ़ तथा सुसज्जित दुर्ग माना जाता था, और यह ठीक भी था।" दक्खिन
के सुल्तानों में परस्पर एकता नहीं थी, और यद्यपि अब उन सबकी स्वाधीनता के
लिये समान सकट उपस्थित हो गया था, फिर भी वे आपस में लडते रहे। अहम-
दनगर के बुरहानुमुल्क की १५९४ में मृत्यु हो गई और उसका पुत्र इब्राहीम भी
जो उसका उत्तराधिकारी हुआ, १५९५ में बीजापुरियों से लड़ता हुआ मारा
गया। 'अहमदनगर के अमीरों ने नये राजा को स्वीकार करने से इन्कार किया
और अहमदनगर को घेर लिया। इस प्रकार अल्पायु सुलतान का समर्थन करने
वाला दल दुहरे संकट में फँस गया और शत्रुओं का सामना न कर सका, तब
उसने गुजरात के मुगलों से सहायता की प्रार्थना की। राजकुमार मुराद को अपने
पिता अकबर से दक्खिन के लिये कूच करने की पहले से ही आज्ञा मिली हुई थी,
इसलिये उसने प्रसन्नता से यह प्रस्ताव अङ्गीकार कर लिया और शीघ्रता से
दक्षिण की ओर चल पडा।' उसी समय अब्दुर्रहीम खानखाना ने भी दक्षिण के
लिये प्रस्थान किया।

अहमदनगर का घेरा—'इस समय तक मजूखाँ (मत्री) विद्रोह का दमन
कर चुका था, और मुगलों को निमत्रण देने की भूल पर पश्चाताप करने लगा था, और
अहमदनगर की रक्षा के लिये रसद आदि एकत्र करली थी। उसने हुसैन निजाम शाह की
पुत्री चाँद बीबी को दुर्ग की रक्षा का भार सौंपा और स्वय शेष सेना तथा एक भारी तोप-
खाना लेकर बीजापुर की सीमाओं की ओर चल पडा। अब राजकुमार मुराद तथा
खानखाना मित्रों के रूप में आने की अपेक्षा, अहमदनगर को घेरने के लिये आगे बढे।
नवम्बर १५९५ में घेरा डालनेवालों ने खाइयाँ खोद लीं, टीले बनाये, उन पर तोपें चढाईं
सुरगें खोदीं तथा आगे बढे। उधर चाँदबीबी ने पुरुषों की सी दृढताके साथ किले की रक्षा
की और बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह तथा गोलकुण्डा के कुतुबशाह को सहायता के
लिये पत्र लिखे। तीन महीने बीतने पर · —चाँदबीबी सिर पर बुरका डालकर निकली।
आक्रमणकारियों पर उसने तोपों से अग्नि वर्षा करवाई और पत्थर फिकवाये जिससे बार-
बार उनके आक्रमण विफल रहे। रात को वह मजदूरों के पास खडी रहती और प्रातःकाल
तक दरारों को लकडी, पत्थर, मिट्टी तथा लाशों से नौ नौ फुट भरवाती। उसी समय
चारों ओर अफवाह फैल गई कि इब्राहीम आदिलशाह का सेनापति कुतुबशाही सेना

के साथ लगभग ७०,००० घुड़सवार लेकर घेरा तोड़ने के लिये आ रहा है। उधर मुगल शिविर में रसद का बहुत अभाव हो गया, इसलिये राजकुमार तथा खानखाना ने नगर रक्षकों से संधि की बातचीत चलाना अधिक हितकर समझा। चाँदबीबी ने शर्त रक्खी कि बरार अकबर के अधिकार में रहे किन्तु अहमदनगर तथा उसके मूल अधीन प्रदेश पुनरूपेण बुरहान निजामशाह द्वितीय के नाती बहादुरशाह के हाथों में रहने दिये जायें। इन शर्तों की पुष्टि हो जाने पर राजकुमार मुराद तथा खानखाना ने बरार की ओर कूच किया; वहाँ उन्होंने बालापुर के निकट शाहपुर का नगर बसाया और उस स्थान में छावनियाँ कायम कीं (१५९६)।

मुगलों के चले जाने के उपरान्त चाँदबीबी ने अपनी सत्ता त्याग दी और अमीरों ने उसकी इच्छा के विरुद्ध तथा उस सन्धि का उल्लंघन करते हुये, मुगलों को बरार से निकालने के लिये ५०,००० घुड़सवार सेना लेकर उत्तर की ओर प्रस्थान कर दिया उधर खानखाना ने राजकुमार को शाहपुर में छोड़ा और स्वयं राजा अलीखाँ फारूकी के साथ २०,००० अश्वारोहियों को लेकर गोदावरी के तट पर उनका विरोध करने के लिये चल पड़ा। सुपा गाँव में पहुँचकर उसने स्थिति का ज्ञान करने तथा शत्रु सेना की शक्ति का पता लगाने के लिए वहीं पड़ाव डाल दिया; उसके बाद उसने नदी पार की और दक्षिणी तट पर सेना व्यवस्थित करके खड़ी कर दी। निजामशाही सेना ने दाईं ओर कुतुबशाही ने बाईं ओर आदिलशाही ने मध्य में स्थान ग्रहण किया।

'किन्तु साम्राज्यीय सेना की पराजय हुई। अन्त में अकबर ने राज्य के उत्तरी भागों का भार युवराज मुहम्मद सलीम मिर्ज़ा को सौंपा और स्वयं दक्षिण के लिये कूच कर दिया (१५९९)।

'इसी बीच में दानियाल मिर्ज़ा तथा खानखाना ने दक्खिन में प्रवेश किया। मुगल सेना के दक्षिण की ओर चले जाने के उपरान्त राजा अली खाँ के पुत्र मिरान बहादुरखाँ ने अपने पिता की नीति के विपरीत कार्य किया और असीरगढ़ में मुगलों के विरुद्ध मोर्चा जमा लिया। इसलिये राजकुमार ने उससे मेल करने के लिये गोदावरी के तट पर पैठान के निकट पड़ाव डालना उचित समझा। किन्तु जब अकबर मांडू पहुँचा तो उसने मिर्ज़ा को अहमदनगर की ओर बढ़ने की आज्ञा दी, क्योंकि वह स्वयं असीरगढ़ का घेरा डालना चाहता था। उसकी आज्ञानुसार दानियाल तथा खानखाना ने १०,००० घुड़सवारों के साथ अहमदनगर की ओर कूच किया। उनके सामने दक्खिनी पदाधिकारी भाग खड़े हुए और मुगलों को बिना किसी प्रकार का कष्ट उठाये आगे बढ़ने की स्वतन्त्रता मिल गई।' अहमदनगर में आन्तरिक झगड़े चल रहे थे, इसलिये सरलता से उस पर मुगलों का अधिकार होगया। चाँदबीबी जो एक मात्र योग्य नेता थी उसका या तो वध कर दिया गया अथवा बाध्य होकर उसने स्वयं विष खा लिया। नगर रक्षकों में से १५०० तलवार के घाट उतार दिये गये और अगस्त १६०० में नगर ने समर्पण कर दिया। अल्पायु राजकुमार तथा उसके परिवार को आजीवन बन्दी बनाकर ग्वालियर के क़िले में रख दिया गया।

असीरगढ़ पर अधिकार—'अकबर ने मिरान बहादुर को अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिये बहुत प्रलोभन दिये किन्तु विफल रहा। इसलिये वह स्वयं बुरहानपुर की ओर बढ़ा और अपने एक सेनापति को उस स्थान से छः कोस की दूरी पर स्थित असीरगढ के दुर्ग को घेरने की आज्ञा दी। जब घेरे को चलते काफी समय हो गया तो किले के भीतर सैनिकों की अधिक संख्या के कारण वायु दूषित तथा स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद हो गई। इससे एक महामारी फैल गई और बहुत-से दुर्ग रक्षक मर गये, और यद्यपि मिरान बहादुरखाँ के पास अब भी रक्षा के लिये पर्याप्त सैनिक तथा रसद और युद्ध सामग्री का भण्डार था, फिर भी वह हतोत्साह होने लगा। इसी समय अहमदनगर का भी पतन होगया।'''' '१००९ हिज्री (१६०० ई०) के आरम्भ में मिरान बहादुरखाँ का साहस बिलकुल टूट गया और असीर का किला उसने अकबर के हाथों में समर्पण कर दिया और उसमें युग-युग के एकत्रित भण्डार तथा कोष भी सौंप दिये। अहमदनगर की सम्पत्ति भी बुरहानपुर ले जाई गई। बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह ने अकबर को सन्तुष्ट करने के लिए एक दूत भेजा और अपनी पुत्री का विवाह उसके पुत्र राजकुमार दानियाल के साथ करना स्वीकार कर लिया। तदनुसार एक मुगल अमीर समुचित उपहार लेकर वधू को लेने के लिये भेजा गया।'

असीर, बुरहानपुर, अहमदनगर तथा बरार को मिलाकर एक प्रान्त बना दिया गया और उसका शासन खानखाना की देख-रेख में दानियाल मिर्जा को सौंप दिया गया। इन कार्यों को समाप्त करके विजयी सम्राट १०११ हिज्री (१६०२) में आगरा को लौट आया और एक उद्घोषणा द्वारा अपनी अन्य उपाधियों के अतिरिक्त दक्खिन के सम्राट की उपाधि भी धारण की।

अकबर की मृत्यु

दक्खिन विजय का उक्त वृत्तान्त फरिश्ता से उद्धृत किया गया है। यथार्थ में असीरगढ़ का कैसे पतन हुआ, यह विवाद का विषय है। स्मिथ ने लिखा है, "अकबर की विजयों की दीर्घ परम्परा में जो लगभग पैंतालीस वर्ष तक निरन्तर जारी रही, असीरगढ की विजय अन्तिम थी।" अकबर के शासन-काल के शेष थोड़े से वर्षों का इतिहास फरिश्ता ने इस प्रकार दिया है :—

'उसी वर्ष (१६०२) शेख अबुल फजल को दक्खिन से वापिस बुला लिया गया, किन्तु दुर्भाग्यवश नरवर जिले में ओर्छा के निकट डाकुओं ने उस विद्वान पुरुष पर आक्रमण किया और काट डाला। १०१३ हिज्री के सफर महीने में मीर जमालुद्दीन हुसैन जिसे बीजापुर भेजा गया था, राजवधू तथा निश्चित दहेज को लेकर लौट आया। उसने गोदावरी के तट पर पैठान के निकट युवती सुलताना को दानियाल के सुपुर्द कर दिया और और वहीं बड़ी धूम-धाम से विवाह संस्कार संपादित हुआ, उसके बाद मीर जमालुद्दीन हुसैन ने सम्राट से मिलने के लिये आगरा को प्रस्थान किया। १ जिलहज १०१३ हिज्री को बुरहानपुर में अतिशय मद्यपान से राजकुमार दनियाल का देहावसान हो गया।

सम्राट का स्वास्थ्य पहले से ही गिर रहा था, राजकुमार की मृत्यु से विशेषकर जिन परिस्थितियों में वह हुई उनसे उसको इतना धक्का लगा कि उसकी दशा दिन प्रतिदिन बिगड़ती गई और अन्त में ११ जुमदुस्सनी १०१४ हिजरी (११ अक्टूबर १६०५) को ५१ वर्ष तथा कुछ महीने के शासन के उपरान्त उसका शरीरपात होगया। जो राजा हमारी पूजा का अधिकारी होता है उसी को अमरत्व लाभ होता है। 'राजा अकबर की मृत्यु' इन शब्दों में जो अक्षर है उनसे उसकी मृत्यु की तिथि का पता लगता है।

इस वृत्तान्त में अबुल फज़ल की हत्या का उल्लेख अवश्य है, किन्तु राजकुमार सलीम के विद्रोह का इसमें कहाँ तक सम्बन्ध था, इसका इसमें कोई जिक्र नहीं। यद्यपि अकबर का अन्त निकट था, फिर भी उसके महान साथी की हत्या तथा राजकुमार सलीम के दुराचरण से उसकी गति तीव्र अवश्य हो गई होगी, इसमें सन्देह नहीं। इस घटना से सम्बन्धित ब्यौरे की बातों को हम यहाँ संक्षेप में दिये देते हैं :—

बदायूँनी के साक्ष्य के आधार पर राजकुमार सलीम पर अभियोग लगाया गया है कि १५९१ में ही उसने अपने पिता को विष दिया था। बदायूँनी लिखता है 'इस वर्ष सम्राट का शरीर कुछ अव्यवस्थित हो गया और उसे उदर शूल तथा वायुगोला से बहुत पीड़ित होना पड़ा" 'मूर्छित दशा में उसके मुख से कुछ शब्द निकले जिनसे प्रकट होता था कि उसे अपने सबसे बड़े पुत्र पर विष देने का सन्देह था।' इस कथन पर टिप्पणी करते हुए स्मिथ कहते हैं, "यह सन्देह उस समय उचित था अथवा नहीं, यह कहना असम्भव है, किन्तु इतना निश्चित है कि सलीम को सिंहासन पर बैठने की भारी उत्कंठा थी, और चूँकि उसमें बहुत विलम्ब हो चुका था इसलिये अब १६०० ई० में उसका धीरज जाता रहा था।" १५९८ में जब अकबर ने दक्षिण विजय के प्रस्थान किया तो वह राजधानी का भार सलीम को सौंप गया। १६०० ई० में जब उस्मानखाँ नामक अफगान सरदार ने बंगाल में विद्रोह किया तो सलीम से पूर्वी प्रान्त की ओर जाने को कहा गया, किन्तु उसने इलाहाबाद में रहना पसन्द किया, बिहार के राजस्व की भारी रकम हड़प ली (जो ३० लाख रुपये से कम न थी) और अपने कुछ समर्थकों को जागीरें देदीं। सलीम का यही घोर दुराचार था जिसके कारण अकबर ने शीघ्रता से असीरगढ़ की विजय का कार्य समाप्त किया और उत्तर को लौट आया। मई १६०१ में अकबर आगरा पहुँचा और सुना कि सलीम ३०,००० घुड़सवार लेकर आ रहा है और राजधानी से ७२ मील की दूरी पर स्थित इटावा तक आ पहुँचा है। सम्राट ने उसे इलाहाबाद को लौटने की आज्ञा दी और साथ ही साथ बंगाल तथा उड़ीसा की जागीर भी उसे प्रदान कर दी। १६०२ के आरम्भ में सलीम ने माँग की कि मुझे ७०,००० सेना के साथ राजधानी को लौटने की आज्ञा दी जाय, मेरे पदाधिकारियों को मिले अनुदानों की पुष्टि कर दी जाय और मेरे साथियों के साथ विद्रोहियों जैसा व्यवहार न किया जाय। फिर भी अकबर इस विचित्र विद्रोही से बचने का

संकल्प न कर सका। उधर सलीम इलाहाबाद में शाही ढंग से रहता रहा, अपने नाम के सिक्के जारी किये और उनके कुछ नमूने अकबर के पास भेजने की भी धृष्टता की।

सम्राट यह सब कुछ सहन न कर सका और अपने पुत्र की धृष्टता का समाचार दक्खिन में अबुल फज़ल को लिख भेजा। वीर मंत्री ने कठोर कार्यवाही करने की सलाह दी और स्वयं अपने ऊपर राजकुमार को बाँध कर दरबार में उपस्थित करने का उत्तरदायित्व लिया। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दुर्भाग्यवश वीरसिंह बुन्देला के हाथों मार्ग में ही उसकी हत्या कर दी गई; हत्यारे को सलीम ने इसी कार्य के लिये भाड़े पर नियुक्त किया था। उसका सिर इलाहाबाद भेज दिया गया और "उसे देखकर सलीम ने पापपूर्ण आनन्द प्रकट किया और उसके साथ लज्जास्पद अपमान का व्यवहार किया।" सलीम ने अपने इस अपराध का वर्णन इस प्रकार किया है :—

'शेख अबुल फजल ने, जो ज्ञान तथा विद्या में हिन्दुस्तान के सभी शेखजादों से बढ़कर था, बाहरी तौर से अपने को सच्चाई के रत्न से विभूषित कर रक्खा था और मेरे पिता को वह रत्न भारी मूल्य पर बेचा था। उसे दक्खिन से बुला लिया गया था और चूंकि मेरे प्रति उसकी भावनायें ईमानदारी की नहीं थीं, इसलिये वह एकान्त में तथा सार्वजनिक रूप से मेरी बुराई किया करता था। ... उसे दरबार में पहुँचने से रोकना आवश्यक हो गया। चूंकि वीरसिंह देव का देश ठीक मार्ग में था और उस समय वह एक विद्रोही था इसलिये मैंने उसको सन्देश भेजा कि यदि तुमने इस द्रोह फैलाने वाले को मार्ग में रोक कर मार डाला तो मैं तुम्हारे प्रति सभी प्रकार की दया दिखलाऊँगा। ईश्वर की अनुकम्पा से जिस समय शेख अबुल फजल वीरसिंह देव के देश में से होकर निकल रहा था, राजा ने उसका मार्ग रोक लिया और एक साधारण लड़ाई लड़कर उसके आदमियों को तितर-बितर कर दिया और उसे मार डाला। उसका सिर उसने मेरे पास इलाहाबाद में भेज दिया। यद्यपि इससे स्वर्गीय सम्राट के हृदय में बहुत क्रोध उपजा, किन्तु अन्त में इससे लाभ हुआ और मैं निश्चिन्त मन से गया तथा पिता के महल की देहरी को चूमा, और धीरे-धीरे सम्राट का भी क्रोध शान्त हो गया।'

अकबर क्रोध से आग-बबूला हो गया और शोक से क्षुब्ध होकर बोला : "यदि सलीम सम्राट होना चाहता था तो वह मुझे मार डालता किन्तु अबुल फ़ज़ल के प्राण न लेता।" तीन दिन तक उसने दरबार आम में दर्शन नहीं दिये और वीरसिंह देव को तत्काल ही गिरफ्तार करने की आज्ञा भेजी। यद्यपि हत्यारे का तेज़ी से पीछा किया गया और एक बार वह घायल भी हो गया, फिर भी वह पकड़ में न आया और आगे चलकर जहाँगीर का अनुग्रह-भाजन बनने के लिये जीवित रहा। स्मिथ का कथन है, "इस हत्या का इतना प्रभाव हुआ कि दो वर्ष तक अकबर अपने विद्रोही पुत्र का दमन करने के लिये कठोर कार्यवाही न कर सका।"

अप्रैल १६०३ के लगभग सलीमा बेगम (बैरामखाँ की विधवा, हुमायूँ की बहिन गुलबदन बेगम की पुत्री जिससे अकबर ने विवाह कर लिया था और जो मुराद की माता थी) की मध्यस्थता के कारण कुछ समय के लिये पिता और पुत्र में मेल हो गया। अकबर ने यहाँ तक किया कि अपनी पगड़ी उतार कर पुत्र के सिर पर रख दी और इस प्रकार उसे सार्वजनिक रूप से सिंहासन का उत्तराधिकारी मान लिया। किन्तु यह सब निरर्थक सिद्ध हुआ। जब सलीम को अमरसिंह (प्रतापसिंह का पुत्र) पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी गई तो वह इलाहाबाद चला गया और एक बार फिर पुराने ढङ्ग से पितृद्रोही आचरण करने लगा। इसी बीच में अगस्त १६०४ में अकबर की माता मरियम मकानी का देहान्त हो गया, इस कारण वह स्वयं सलीम का पीछा न कर सका। नवम्बर में जब सलीम फिर राजधानी में पहुँचा तो अकबर ने उससे बहुत बुरा भला कहा और पितृद्रोहपूर्ण आचरण के लिये बहुत भर्त्सना की तथा दण्डस्वरूप उसे २४ घण्टे के लिये अफीम की खुराक से जिसका वह आदी था वंचित रखा (*'मआसीरे जहाँगीरी'* के अनुसार शराब तथा अफीम दोनों से दस दिन के लिए), किन्तु अन्त में वह पिघल गया और पुत्र को क्षमा कर दिया। इसके बाद सलीम ने नम्रतापूर्वक पश्चिमी प्रान्तों का शासन जो उसके भाई दानियाल के हाथों में था स्वीकार कर लिया, किन्तु रहता आगरे में ही रहा; तब तक अक्टूबर १६०५ में अकबर की मृत्यु हो गई।

असद बेग लिखता है   सम्राट की बीमारी के दौरान में राज्य का भार खाने-आज़म (अज़ीज़ कोका) पर पड़ा, और जब यह स्पष्ट दिखाई देने लगा कि इस प्रतापी सम्राट के जीवन का अन्त निकट आ रहा है तो उसने राजा मानसिंह से जो एक प्रमुख अमीर था, मंत्रणा की और वे सुल्तान खुसरू को सम्राट बनाने के लिये सहमत हो गये। वे दोनों राजकाज में दक्ष तथा बहुत शक्तिशाली थे, उन्होंने निश्चय कर लिया कि जब राजकुमार (सलीम) नित्य नियम के अनुसार दरबार में अभिवादन करने आयेगा, तो उसे पकड़ लेंगे इस प्रकार उन्होंने अपनी चित्तवृत्ति का परिचय दिया, किन्तु उन्होंने यह तनिक भी नहीं सोचा कि सूर्य कीचड़ से मैला नहीं हो सकता और न विधाता की लेखनी के चिह्न विश्वासघात रूपी चाकू से मिटाये जा सकते हैं। जिसे ईश्वर की शक्ति की भुजा साधे हुए है वह स्वयं असहाय होने पर भी सभी अनिष्टों से सुरक्षित रहता है। जब अन्य राजभक्त अमीरों ने ये योजनाएँ विफल कर दीं और घोषणा की कि, "यह चग़ताई तातारों के नियमों तथा परम्पराओं के विरुद्ध है और कभी न हो सकेगा" तो मानसिंह ने समझ लिया कि स्थिति बदल चुकी है और वह सुल्तान खुसरू को अपने महल में ले गया तथा दूसरे दिन बंगाल को भाग निकलने के उद्देश्य से नाव तैयार करवा ली। जैसे ही राजकुमार घटनाचक्र के बदलने के सम्बन्ध में निश्चिन्त हो गया, वैसे ही वह बड़े अमीरों के साथ और मीर मुर्तज़ा खाँ को आगे करके निर्भय होकर किले में चला गया और मरणासन्न सम्राट के पास आ पहुँचा। उसकी साँस अभी तक चल रही थी, मानो वह उस दिलदार (सलीम) को देखने की प्रतीक्षा कर रहा था। जैसे ही वह

सर्वाधिक भाग्यशाली राजकुमार भीतर पहुँचा, उसने श्रीमान सम्राट के चरणों में शीश नवाया। उसने देखा कि वह अन्तिम वेदनाओं में ग्रस्त है। सम्राट ने एक बार फिर आँखें खोलीं और उन्हें निर्देश किया कि पगडी तथा पोशाक जो उसके लिये तैयार कर ली गई थीं उसे पहिना दें और कटार उसकी कमर में कस दें। सेवकों ने झुक कर साष्टांग अभिवादन किया, और उसी समय सम्राट ने भी जिसके पाप क्षमा कर दिये हैं शीश नवाया और जीवन त्याग दिया।'

अकबर की मृत्यु विष देने के कारण हुई थी, इस सम्बन्ध में अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं, किन्तु स्मिथ का कथन है, "सभी चीजों को ध्यान में रखते हुए कदाचित यही सर्वाधिक सम्भव प्रतीत होता है कि अकबर की स्वाभाविक मृत्यु हुई थी, किन्तु इस सामान्य विश्वास का कि उसे किसी ने किसी ढंग से विष दिया था, समुचित आधार रहा होगा। उपलब्ध सामग्री से हम निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच सकते।"

यूरोपीय जातियों से अकबर का सम्पर्क

पुर्तगाली ही प्रमुख यूरोपीय लोग थे जिनके अकबर धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष दोनों ही उद्देश्यों से अधिक निकट सम्पर्क में आया। यद्यपि जैसुइट लोग विभिन्न राष्ट्रों के थे फिर भी वे गोआ के पुर्तगाली अधिकारियों से पूर्णरूपेण मिलकर कार्य करते थे। अँग्रेजों से अकबर का बहुत कम सम्पर्क हुआ।

१५६१ में "पश्चिमी तट पर पुर्तगालियों की शक्ति दृढ़ता से स्थापित थी, वे दक्खिन के सुलतानों से छीनी हुई गोआ में स्थित दुर्ग-रक्षित बस्तियों में निवास करते थे। उनसे बहुत सी भूमि संलग्न थी; जैसे चौल, बम्बई तथा उसके आस-पास के स्थान, बसई; दमन तथा ड्यू। अरब सागर तथा ईरान की खाडी के वाणिज्य तथा तीर्थयात्रियों के यातायात पर उनके बेडे का नियन्त्रण था। अन्य किसी योरोपीय शक्ति के भारतीय भूमि पर पैर न जमे थे, और कोई अँग्रेज़ तो इस देश में कभी उतरा भी नहीं था।"

पुर्तगालियों से अकबर की भेंट सर्वप्रथम गुजरात-युद्ध के दौरान में हुई। १५७२ में जब वह खम्भात में था, कुछ पुर्तगाली व्यापारी सम्मान प्रकट करने आये। अबुल फज़ल ने लिखा है कि दूसरे वर्ष 'जब सूरत का घेरा चल रहा था, गोआ के बन्दरगाह से ईसाइयों का एक बडा दल आया, उन्हें सम्राट के सम्मुख उपस्थित होने की आज्ञा मिल गई, यद्यपि सम्भवतः वे घिरे हुओं की सहायता करने तथा दुर्ग पर स्वयं अधिकार करने के लिये आये थे। किन्तु जब उन्होंने शाही सेना की संख्या तथा उसकी घेरा चलाने की शक्ति को देखा तो उन्होंने अपने को राजदूत बतलाया और सम्राट से भेंट करने के सम्मान की याचना की। उन्होंने अपने देश की अनेक वस्तुएँ उसे भेंट की। अकबर ने उनमें से प्रत्येक के

साथ दयापूर्ण व्यवहार किया और उनसे पुर्तगाल तथा अन्य यूरोपीय विषयों पर बातचीत की।' गोआ के पुर्तगाली प्रतिनिधि एन्टोनियो कैब्राल के साथ एक सन्धि भी की गई जिसकी मुख्य शर्त थी मक्का के लिये जानेवाले उन तीर्थयात्रियों की सुरक्षा का आश्वासन जिन्हें इसाई लोग उन्हें बहुत सताया करते थे।

इबादतखाना के बनने के दूसरे वर्ष १५७६ में अकबर बंगाल में दो जैसुइट पादरियों (एन्थनी वाज़ और पीटर दियाज़) से मिला। उन्होंने उन धर्मपरिवर्तित इसाइयों को जो उचित जहाजी किराया तथा अन्य कर न देकर शाही कोष को ठगते थे, बुरा भला कहा, इससे यूरोप के इन परदेशियों का अकबर पर बहुत प्रभाव पड़ा। इसलिये उसने सात गाँव के मुख्य पादरी फादर जुलियन पेरीरा को बुला भेजा। किन्तु वह योग्य पादरी "जितना धार्मिक था उतना विद्वान नहीं था"—इसलिये ईसाई धर्म के सम्बन्ध में वह अकबर की उत्कण्ठा को दूर न कर सका।

१५७७ में अकबर ने हुगली के बन्दरगाह के कप्तान अथवा प्रधान पीट्रो टैवेरीस से बात चीत की; किन्तु जैसा कि स्मिथ ने लिखा है, "स्वाभाविक ही था कि वह भी उन पहेलियों का सही उत्तर देने के अयोग्य निकला जो उससे पूछी गई थीं।' फिर भी १५७८ और ८० के बीच किसी समय अकबर ने उसे कुछ भूमि दे दी।

१५७८ में एन्टोनियो कैब्राल एक बार पुनः दरबार में आकर अकबर से मिला "किन्तु धर्म में दीक्षित न होने के कारण वह भी अधिकृत रूप से अपने धर्म के गूढ़ तत्वों की व्याख्या न कर सका।"

इन असफलताओं से अकबर की उत्कण्ठा और भी अधिक तीव्र हो गई। इसलिये उसने धर्म निरपेक्ष तथा धार्मिक दोनों प्रकार के शिष्टमंडल गोआ भेजे। हाजी अब्दुल्ला को उसने गोआ भेजा जिससे वह यूरोप की विचित्र वस्तुएँ ले आये और अनुकरण करने योग्य चीजों की नकल कर लाये। अपने साथ जो वस्तुएँ वह लाया उनमें एक वाद्ययंत्र भी था जो सन्दूक के समान तथा मनुष्य के आकार का था, और एक यूरोपीय भीतर बैठकर उसे बजाता था।' धौंकनियों अथवा मोर के पंखों के बीजनों से उसमें हवा भरी जाती थी। कुछ यूरोपीय तथा कुछ अन्य लोग जो यूरोपीयों के समान वस्त्र पहिने हुये थे उस यंत्र के साथ आये। किन्तु इस दूत मंडल को भेजने का मुख्य उद्देश्य ईसाई पादरियों को लाना था।—

गोआ का प्रथम जैसुइट शिष्टमंडल—सितम्बर १५७९ में अकबर के दूत निम्न सन्देश लेकर गोआ पहुँचे।—

अकबर द्वारा नियुक्त महान राजा जलालुद्दीन की आज्ञा सन्त पाल के संघ के पादरियों को विदित हो कि तुम्हारे प्रति मेरे हृदय में अत्यधिक दयापूर्ण भावनाएँ हैं। मैं अपने दूत अब्दुल्ला तथा डोमिनिक पिरीज़ को भेज रहा हूँ। वे मेरी ओर से तुमसे जो

पादरी भेजने को कहेंगे, वे अपने साथ कानून तथा इंजील की मुख्य पुस्तकें लेकर आयें क्योंकि मैं आपके धर्म तथा उसकी सर्वोत्तम और पूर्ण चीजों का अध्ययन करने का इच्छुक हूँ। जैसे ही मेरे दूत लौटें वैसे ही वे बिना हिचकिचाहट उनके साथ चले आयें और धर्म ग्रन्थ अपने साथ लेते आयें। तुम्हें यह भी विदित हो कि जो पादरी आयेंगे उनका मैं जहाँ तक बन पड़ेगा, अत्यधिक दयालुता तथा सम्मानपूर्वक स्वागत करूँगा। उनके आगमन से मुझे अत्यधिक हर्ष होगा, और जब मैं धर्म तथा उसकी पूर्णता के सम्बन्ध में जानना चाहता हूँ, जान लूँगा, तो उन्हें अपनी इच्छानुसार शीघ्रातिशीघ्र लौट जाने की स्वतन्त्रता होगी, और मैं उन्हें सम्मानों तथा उपहारों से लादे बिना नहीं जाने दूँगा। इसलिये वे आने में तनिक भी न डरें। मैं उन्हें अपने संरक्षण में लेता हूँ। आशीर्वाद।'

पुर्तगाली सूबेदार पहले तो हिचकिचाया, किन्तु १० नवम्बर १५७६ को बिशपों की समिति ने एक शिष्ट-मण्डल भेजने का निश्चय किया। रुडोल्फ एकुआविवा, एन्थनी मौन्सरैट और फ्रान्सिस हैनरीक्वैज़ नाम के तीन पादरी इस कार्य के लिये चुने गये। "इनमें से हैनरीक्वैज़ जन्म से ईरानी तथा उर्मुज़ का रहने वाला था और मुसलमान से ईसाई हुआ था, उसे शिष्ट मण्डल का दुभाषिया नियुक्त किया गया। मौन्सरैट स्पेन में कैटालोनिया का निवासी था, उसकी अवस्था तेतालीस वर्ष की थी, वह बुद्धिमान अध्ययनशील तथा चैतन्य था और वह शिष्ट मण्डल तथा मुगल दरबार का प्रशंसनीय आँखों देखा वर्णन छोड़ गया है।" ''' शिष्ट-मण्डल का तीसरा सदस्य रुडोल्फ एकुआविवा उच्च सामाजिक श्रेणी का इटालवी था और विशिष्ट रूप से धार्मिक समझा जाता था।"

१७ नवम्बर १५७६ को शिष्ट-मण्डल ने प्रस्थान किया और २७ अथवा २८ फरवरी १५८० को फतेहपुर-सीकरी पहुँच गया। सर एडवर्ड मैक्लेगन लिखते हैं, 'यह शिष्ट-मण्डल अकबर के दरबार में उस समय आया जब कि उसकी धार्मिक नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे, और तत्कालीन भारतीय इतिहासकार बदायूनी तथा अबुल-फज़ल ने इसके कार्यों का उल्लेख किया है, पहले ने कट्टर मुस्लिम दृष्टिकोण से उसके सम्बन्ध में लिखा है और दूसरे ने अकबर की समन्वयवादी भावनाओं को लेकर। शिष्ट-मण्डल के सदस्यों ने भी स्वयम् जो कुछ लिखा है उससे हमें आँखों देखी जानकारी उपलब्ध होती है।" मौन्सरेट की रिलेकम * (१५८२ ई०) में शिष्ट-मण्डल के समय अकबर की शक्ति तथा चरित्र का सर्वोत्तम सम-सामयिक चित्रण दिया हुआ है और कमेण्टेरियस† (१५६० ई०) में शिष्ट-मण्डल का सबसे अच्छा वृतान्त मिलता है।"

शिष्ट-मण्डल का उद्देश्य था चर्च के यश की वृद्धि करना और पुर्तगाल को लाभ पहुँचाना। ये धर्म-प्रचारक (मिशनरी) "मोगर" के निवासियों को ईसाई

* Relacam.

† Commetarious.

बनाने की महत्वाकांक्षा रखते थे, किन्तु जैसा कि मैक्लेगन लिखता है, "चूँकि अकबर ने अपनी ओर से ही गोआ को निमन्त्रण भेजा था और उसकी प्रवृत्तियों का भी पता था, इसलिये इस बात की बड़ी आशा थी कि राजा के धर्म परिवर्तन द्वारा ही यह उद्देश्य पूरा हो सकेगा। इसलिये पहले शिष्ट मण्डल ने अपने सारे प्रयत्न राजा पर ही केन्द्रित किये। भारत में राजाओं का धर्म-परिवर्तन अनहोनी बात न थी। —फादर रिडोल्फ के सूरत आने के थोड़े समय बाद ही बीजापुर के सुल्तान के एक निकट सम्बन्धी ने गोआ में बपतिस्मा ले ली थी। इसलिये इस शिष्ट-मण्डल की योजना में कोई असम्भव अथवा बे सिर-पैर की बात न थी, और चूँकि जैसुइट लोग ऐसे काम के लिए सबसे अधिक उपयुक्त थे, इसलिये शिष्ट मण्डल ने सफलता की पर्याप्त आशा के साथ कार्य आरम्भ किया।"

अकबर ने शिष्ट मण्डल के सदस्यों का हार्दिक स्वागत किया :

'वहाँ पहुँचने पर उन्हें बहुत सा धन भेंट किया गया और चूँकि उन्होंने निर्वाह के लिये आवश्यक से अधिक लेना स्वीकार नहीं किया, इसलिये उनका सम्मान और भी अधिक बढ़ गया। उन्हें महलों में रहने के लिये स्थान दिया गया। — — उन्हें शाही भोजनालय से भोजन मिलता था, और जब मोन्सरेट बीमार पड़ गया तो राजा स्वयम् उसे देखने गया और पुर्तगाली भाषा में उसका अभिनन्दन किया। राजा के निजी सम्पर्क में आने पर पादरियों के साथ विशेष शिष्टता का व्यवहार किया जाता था। मोन्सरेट लिखता है, 'अपने सामने वह उन्हें कभी टोप नहीं उतारने देता था, अमीरों की गम्भीर बैठकों में तथा निजी मुलाकात के समय जब वह उन्हें एकान्त में बात चीत करने के लिए ले जाता तो वह उनसे अपने निकट बैठने के लिए कहता। वह बहुत ही घनिष्ठता के साथ उनसे हाथ मिलाता और एकान्त में बात चीत करने के लिए साधारण सेवकों के मण्डल से उन्हें अलग बुला लेता। कई बार वह सब लोगों के सामने बर्दोल्फ के गले में हाथ डालकर थोड़ी दूर तक उसके साथ चला।' — इस घनिष्ठता से प्रोत्साहित होकर पादरियों ने उसके शासन तथा आचरण के दोषों के सम्बन्ध में गम्भीरता से बातचीत की 'यद्यपि वे बहुत ही नम्रता से और पहले उसकी चित्त-वृत्ति का पता लगा कर ऐसा करते थे।

संक्षेप में राजा ने उन्हें हर प्रकार की स्वतन्त्रता और यहाँ तक कि उपदेश देने और लोगों को ईसाई बनाने की आज्ञा दे रखी थी। बदायूनी लिखता है, 'श्रीमान् सम्राट ने राजकुमार मुराद को शुभ मुहूर्त में ईसाई धर्म के कुछ सिद्धान्त सीखने की आज्ञा दी और अबुल फज़ल को इन्जील को अनूदित करने का काम सौंपा।' काबुल के युद्ध के दौरान में फादर मौन्सरेट को राजा के साथ जाने की आज्ञा मिल गई और इसलिये हमें फादर की कलम से लिखा हुआ अकबर की शिविर, उसकी सेना, नगरों जिनमें होकर वह गुज़रा, सिन्ध के उस पार उसका बढ़ने तथा काबुल में उसके विजय प्रवेश का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। और जैसा कि मैक्लेगन ने लिखा है, यह वर्णन ऐसा है कि भविष्य में अकबर का कोई भी

इतिहासकार इसका उपयोग किये बिना नहीं रह सकता। मैन्सरेट लिखता है, 'राजा (पादरियों की बात) सुना करता था; किन्तु वह ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट हुआ हो ऐसा नहीं जान पड़ता था और कभी-कभी वह दूसरी बातों में व्यस्त रहने का बहाना किया करता था। किन्तु साथ ही साथ वह ईसा-मसीह के चित्र को सबके सामने सम्मानित करने तथा चूमने से भी नहीं डरता था।' अकबर के इस प्रकार के व्यवहार से पादरियों को निराशा हो गई और उन्होंने यहाँ तक कह दिया, 'राजा को इंजील के मोती देने का अर्थ है उन्हें पैरों तले कुचले जाने के लिये फेंक देना।' इसलिये अन्त में गोआ के अधिकारियों ने उन्हें वापिस लौटने की आज्ञा दी, किन्तु साथ ही साथ यह भी कहा कि यदि कोई लाभ होने की आशा हो तो वे और अधिक दिनों तक ठहर सकते हैं।

अकबर इन पादरियों को विदा नहीं करना चाहता था, किन्तु मौन्सरेट यह बहाना करके चला गया-कि मैं स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय के दरबार में आपकी ओर से दूत बन कर जाऊँगा। रुडोल्फ एकुआविवा को अधिक आशा थी, इसलिये वह फतेहपुर में थोड़े दिन और ठहरा रहा। उसने सोसाइटी ऑफ जीज़स के उच्चतम पदाधिकारी को जो पत्र लिखा उसका बहुत मूल्य है क्योंकि उससे ईसाइयों की योजनाओं तथा आशाओं का पता लगता है।—

उसने लिखा, 'इस समय सम्राट का व्यवहार पहले से अधिक आशापूर्ण है: पहली बात तो यह है कि वह हमारे धर्म के विषय में जानने का इच्छुक है और अधिक परिश्रम के साथ उसकी ओर ध्यान देता है और बहुत कुछ प्रेम भी प्रदर्शित करता है, यद्यपि बाधाओं का भी पूर्णतया अभाव नहीं है, और जिस प्रेम तथा घनिष्ठता से वह हमारे साथ व्यवहार करता है उससे अधिक की इच्छा नहीं की जा सकती। (२) हमें सम्राट के दूसरे पुत्र पहारी से जो तेरह वर्ष का लड़का है अधिक फल की आशा है, वह पुर्तगाली भाषा तथा उसके साथ हमारे धर्म से सम्बन्धित चीजों को सीख रहा है, इन चीजों की ओर बहुत ध्यान देता है और उसमें महान् स्वाभाविक प्रतिभा तथा सद्-प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। फादर मौन्सरेट उसे पढ़ाया करता था और अब यह कार्य मैं करता हूँ। (३) हमने गैर-ईसाइयों की एक जाति का पता लगा लिया है जो बोटन (तिब्बती) कहलाती है और जो लाहौर के उस पार सिन्ध नदी की ओर है, उस जाति के लोगों की पुण्य कार्यों में बहुत ही रुचि और प्रवृत्ति है। वे गोरे लोग हैं और मुसलमान लोग उनके बीच में नहीं बसते। इसलिए यह आशा है कि यदि दो अच्छे और ईमानदार पादरी उधर भेज दिए जायँ तो भारी संख्या में लोग ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेंगे। (४) यहाँ पर एक वृद्ध पुरुष है; वह सम्राट के सचिव का पिता है और धर्म के मामलों में सम्राट उसका बहुत विश्वास करता है। उसने ससार त्याग दिया है और बहुत ही पुण्यात्मा है और चिन्तन तथा दैवी कार्यों में व्यस्त रहता है, उसमें भी हमारे धर्म का प्रकाश पाने की रुचि प्रतीत होती है। हमारे साथ उसका व्यवहार बहुत ही उच्चतापूर्ण है और वह हमारे धर्म की बातें सुनता है और हम अनेक बार उसके घर पर उससे मिल चुके हैं और बहुत सन्तोष हुआ है। (५)

यहाँ हम हैं वही ऊपरी भारत है और यह राज्य वह सीढ़ी है जिससे हम एशिया के अधिकतर भागों तक पहुँच सकते हैं; और चूँकि अब सोसाइटी के पैर जम गए हैं और इसे इतने बड़े सम्राट तथा उसके पुत्रों का अनुग्रह प्राप्त है इसलिये भारत के इस महाद्वीप में धर्म-प्रचार के सभी सम्भव साधनों का प्रयोग किये बिना यहाँ से चला जाना उचित नहीं मालूम पड़ता। अब तक जो कुछ किया गया है वह समुद्र तट तक ही सीमित रहा है।'

इन सब आशाओं के होते हुए भी फादर मौन्सरेट की रिपोर्ट अधिक उत्साहवर्धक नहीं थी इसलिये अन्त में गोआ के अधिकारियों ने फादर रुडोल्फ को भी वापिस बुला लिया। फरवरी १५८३ में वह अकबर को छोड़कर चला गया और अपने साथ उसका निम्न प्रशंसात्मक पत्र भी लेता गया —

'अल्ला हो अकबर (ईश्वर महान् है)। जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर पादशाह गाज़ी का फर्मान। —उसने (गोआ के अधिकारी ने) फादर रुडोल्फ को यहाँ से भेजने के सम्बन्ध में मुझे जो पत्र लिखा उसके उत्तर में—

चूँकि मुझे स्वर्गीय ईसा का धर्म बहुत पसन्द है, और मैं उसकी सच्चाई जानने का इच्छुक हूँ और चूँकि फादर रुडोल्फ की विद्वत्ता की सहायता से मुझे अतीत में जिन लोगों ने लिखा है उनका सही अभिप्राय समझने में सहायता मिलती है इसलिए उनके लिए मेरे हृदय में बहुत प्रेम है और यह जानते हुए कि वह बुद्धिमान तथा धर्मशास्त्रों में पारंगत है, मैं हर घड़ी उनसे वार्तालाप करने का इच्छुक रहता हूँ और यही कारण था कि मैंने उन्हें जाने की आज्ञा नहीं दी, किन्तु चूँकि आपने अनेक बार पत्र लिखकर इस सम्बन्ध में मुझसे अनुरोध किया है, इसलिए मैंने आज्ञा दे दी है और चूँकि मेरी यह इच्छा है कि हमारी मित्रता दिन प्रति दिन बढ़ती जाय, इसलिए आपके लिए भी यही शोभनीय है कि अपनी ओर से उसे बनाये रखने का प्रयत्न करें और फादर रुडोल्फ को कुछ अन्य पादरियों के साथ वापिस भेज दें; और मैं चाहता हूँ कि इस सम्बन्ध में विलम्ब न किया जाय क्योंकि मेरी इच्छा है कि इस संघ के पादरी मेरे साथ रहें मैं उन्हें बहुत पसन्द करता हूँ। और मैंने फादर रुडोल्फ से आपसे कहने के लिये अनेक मौखिक बातें भी कही हैं जिन पर आप समुचित ध्यान देंगे। फरवरी १५८३ के शुक्ल पक्ष में लिखा गया।

किन्तु फादर रुडोल्फ की अप्रत्याशित मृत्यु हो गई और वे शहीद हो गये। २० जुलाई १५८३ के दिन गोआ के निकट कुनकोलिम में धर्मान्ध हिन्दुओं की एक भीड़ ने चार अन्य साथियों के साथ उनका वध कर दिया। १८९३ में पोप ने उनके स्वर्गस्थ होकर अनन्त आनन्द का उपभोग करने की घोषणा कर दी और अब वे ब्लैसिड रुडोल्फ एक्वाविवा के नाम से विख्यात हैं। अकबर ने जब फादर के इस दुःखद अन्त का समाचार सुना तो बोला 'हे फादर! मैंने आपसे कहा था कि न जाइये। किन्तु आपने मेरी एक न सुनी।' मौन्सरेट ने लिखा है कि अकबर उनसे इसलिये नहीं प्रेम करता था कि वह स्वयं ईसाई बनने का इच्छुक था, वरन इसलिये कि वह समझता था कि फादर को अपने धर्म में पक्का विश्वास है और वे

अन्य लोगों को भी अपने जीवन-मार्ग पर लाना चाहते हैं। इस प्रकार अकबर के दरबार में आने वाले प्रथम जैसुइट शिष्ट मण्डल का अन्त हो गया।

गोआ से दूसरा जैसुइट शिष्टमण्डल—१५९० ई० में अकबर ने दूसरी बार गोआ के ईसाइयों से पुनः सम्पर्क स्थापित किया। इस बार उसने लिओ ग्रिमन नामक एक यूनानी द्वारा गोआ के अधिकारी के पास एक सन्देश भेजा। सम्राट ने अपने विभिन्न प्रान्तीय पदाधिकारियों को परवाना भेजा और उन्हें ईसाई शिष्ट मण्डल को सुरक्षापूर्वक पहुँचाने की आज्ञा दी और कहा, "मैं सबसे अधिक विद्वान तथा धार्मिक पादरियों को बुला रहा हूँ जिससे वे मुझे ईसाई धर्म का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने में कुछ सहायता दे सकें और वह राजमार्ग बतला सकें जिस पर चल कर वे ईश्वर के समक्ष पहुँच जाते हैं। इसलिये उपरोक्त अधिकारियों के लिये मेरी आज्ञा है कि वे डौम लियो ग्रिमन तथा अन्य पादरियों को जिन्हे मैं बुला रहा हूँ, सम्मानित तथा अनुग्रहीत करें . . ." संघ के पादरियों को उसने लिखा :—

"ईश्वर के नाम में। महान तथा अजेय अकबर की ओर से उनके लिये जिन पर ईश्वर की कृपा है और जिन्होंने उसकी पवित्र आत्मा का स्वाद चख लिया है और जो मसीहा की आत्मा की आज्ञा का पालन करते हैं और मनुष्यों को ईश्वर तक पहुँचाते हैं। आप विद्वान पादरियों से, जिन्होंने ससार त्याग दिया है, जिनके शब्दों को लोग ध्यान से सुनते हैं, जिन्होंने सासारिक तड़क-भड़क और सम्मानों को तिलाञ्जलि दे दी है, मेरा निवेदन है . सत्य के मार्ग पर चलने वाले आप पादरियों को मेरी ओर से विदित हो कि मुझे संसार के मुस्लिम तथा गैर-मुस्लिम दोनों प्रकार के धर्मों का ज्ञान है। मैं केवल ईसा-मसीह के धर्म से, जिसकी उत्पत्ति ईश्वर से हुई है और जिसको अनेक लोग स्वीकार करते तथा उसका अनुसरण करते हैं, अपरिचित हूँ। अब चूँकि मुझे पादरियों की मित्रता में बहुत रुचि है इसलिये मैं चाहता हूँ कि वे मुझे ईसाई धर्म की दीक्षा दे। हाल ही में मेरे दरबार मे तथा शाही महलों में डोम लिओ ग्रिमन नाम का एक व्यक्ति आगया है, वह महान् पुण्यात्मा तथा शास्त्रों में दक्ष है, मैंने उससे अनेक इधर-उधर के विषयों पर प्रश्न पूछे हैं और उसने जो उत्तर दिये हैं उनसे मुझे तथा मेरे विद्वानों को पर्याप्त सन्तोष मिला है। उसने मुझे विश्वास दिलाया है कि भारत में (पुर्तगाली) अनेक बुद्धिमान तथा शास्त्रों में पारंगत पादरी रहते हैं। यदि ऐसा है तो आप कृपा करके मेरा पत्र पाते तुरन्त ही पूर्ण विश्वास के साथ उन्हें मेरे दरवार में भेज दीजिये जिससे उनके तथा मेरे विद्वानों के बीच में वाद-विवाद हो सके और मैं उनके चरित्र तथा विद्वत्ता से तुलना कर सकूँ और जान सकूँ कि पादरी लोग हमारे विद्वानों से किस प्रकार बढ़कर हैं,...और इस प्रकार उन्हें भी सत्य का ज्ञान हो सके। यदि वे मेरे दरवार में ठहरेंगे तो मैं उनके लिये निवास-स्थान बनवा दूँगा जहाँ वे इतने सम्मान से तथा अनुग्रह में रह सकेंगे जितना कि इस देश में रहने वाले पादरी को नहीं प्राप्त हुआ होगा और जब वे जाना चाहेंगे तो मैं सम्मान पूर्वक उन्हें विदा कर दूँगा। इसलिये मैंने आपको जो इस पत्र में लिखा है उसे पूरा कीजिये। जून के चाँद के प्रारम्भ में लिखा गया।'

तदनुसार गोआ के अधिकारी ने एडवर्ड लियोटन (लीटेनस) तथा क्रिस्टो फर डी वेगा नाम के दो पुर्तगाली पादरी तथा एक सहायक भेजा जिनका लाहौर में १५९१ ई० में स्वागत हुआ। गोआ के उस अधिकारी ने अपने से उच्च पदाधिकारी को नवम्बर १५९१ ई० में रिपोर्ट भेजी जिसमें लिखा, 'इस दूत मण्डल के जाने पर अनेक पादरियों ने ही नहीं बल्कि विद्यार्थियों ने भी शिष्ट-मण्डल के साथ भेज जाने के लिये प्रार्थना पत्र भेजे, और इस उद्देश्य के लिये दो पादरी तथा एक सहायक चुने गये, १५९१ ई० में वे सम्राट के दरबार में पहुँचे और बहुत कृपा पूर्वक उनका स्वागत हुआ। महल में उनके प्रति हर प्रकार का अनुग्रह दिखलाया गया, आवश्यकता की वस्तुएँ उन्हें दी गई और एक पाठशाला खोली गई जिसमें अमीरों के पुत्रों तथा सम्राट के दो पुत्रों (मुराद तथा दानियाल) तथा एक नाती (खुसरू) को पुर्तगाली भाषा लिखना पढ़ना सिखाया जाता था।' किन्तु जब पादरियों ने देखा कि सम्राट उनकी आशा के अनुसार निर्णय नहीं कर रहा है तो उन्होंने गोआ लौटने का प्रस्ताव किया, किन्तु मैंने उन्हें ऐसा न करने की आज्ञा दी। और चूंकि सम्राट के कैथोलिक धर्म स्वीकार करने का सबसे अधिक महत्व है इसलिये इस विषय में बड़ी चतुराई तथा ठीक ढंग से आगे बढ़ने की आवश्यकता है।' किन्तु जैसा कि स्मिथ ने लिखा है, 'कोई ऐसा छपा हुआ अभिलेख उपलब्ध नहीं है जिससे ज्ञात हो सके कि कब, क्यों और कैसे शिष्ट-मण्डल का सहसा अन्त हो गया। इसके सदस्यों को वापिस बुला लिया गया और १५९१ ई० में किसी समय लौट कर वे गोआ पहुँच गये। यह सन्देह उचित ही जान पड़ता है कि जिन पादरियों को चुना गया था वे सब दृष्टि से उस काम के लिये उपयुक्त नहीं थे जो उन्हें सौंपा गया था और सम्भवतः उनमें साहस का अभाव रहा होगा। इस प्रकार पहले की भाँति दूसरे शिष्ट-मण्डल का भी निराशा तथा विफलता में अन्त हुआ।

गोआ से तीसरा जैसुइट शिष्ट मण्डल—१५९४ ई० अकबर ने फिर तीसरी बार गोआ के पुर्तगाली सूबेदार को पत्र लिखा और विद्वान ईसाइयों का एक दल भेजने के लिये कहा। एक अर्मीनी ईसाई इस सन्देश को लेकर गया। किन्तु गोआ का धर्माधिकारी पहले दो शिष्ट-मण्डलों के परिणामों से निराश हो चुका था, इसीलिये वह इस प्रार्थना को स्वीकार करने के लिये तैयार न था किन्तु सूबेदार का मत भिन्न था उसे 'केवल धार्मिक ही नहीं बल्कि अच्छे राजनैतिक परिणामों की भी आशा थी'' इसलिये अन्त में एक शिष्ट मण्डल भेजने का निश्चय किया गया। सन्त फ्रान्सिस ज़ेवियर के एक नाती फादर जिरोम ज़ेवियर, फादर इमेनुअल पिनहीरो तथा ब्रादर बैनेडिक्ट डी गोज़ को इस कार्य के लिये चुना गया। ''उनमें से प्रत्येक अपने अपने क्षेत्र में विशेष योग्यता रखता था। पहला व्यक्ति भारत में काफी सेवा कर चुका था और उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर रह चुका था। वह बीस वर्ष तक मुगल दरबार में रहा और कभी कभी उसने सम्राट को ईसाई बनाने और कभी कभी पुर्तगाल के भौतिक हितों को बढ़ाने का

प्रयत्न किया।' अन्त में वह भी गोआ लौट गया और जून १६१७ में उसकी मृत्यु हो गई। दूसरे व्यक्ति के विषय में मैक्लेगन ने लिखा है कि, "मोगर में जैसुइट लोगों में वह पहला व्यक्ति था जिसने दरबार की अपेक्षा जनता की ओर अधिक ध्यान दिया।" वह लाहौर में एक विशाल संघ के अध्यक्ष (पैस्टर) के रूप में कई वर्षों तक रहा। और साथ ही साथ अकबर का उस पर बहुत अनुग्रह और इसका सम्राट पर बहुत प्रभाव था। १६१५ ई० में वह गोआ को लौट गया और केवल चार वर्ष उपरान्त ही 'वह इससे भी अधिक अच्छे मिशन को पूरा करने के लिये प्रस्थान कर गया।' ब्रादर वैनीडिक्ट को मुगल दरबार में बहुत रुचि नहीं थी, इसलिये १६०३ ई० में लाहौर से वह एक शिष्ट मण्डल चीन को ले गया और बहुत ख्याति प्राप्त की, और वहीं १६०४ ई० में उसकी मृत्यु होगई।

३ दिसम्बर, १५९४ ई० को शिष्ट मण्डल गोआ से चला और दमन होता हुआ खम्भात के लिये रवाना होगया। वहाँ से वे राजपूताना के मरुस्थल में होते हुये पाँच महीने के बाद ५ मई १५९५ को लाहौर पहुँचे। इस समय तथा १६०५ के बीच के जब कि अकबर की मृत्यु होगई, जैसुइट पादरियों के पत्रों के दो संग्रह मिलते हैं जिनसे बहूमूल्य जानकारी उपलब्ध होती है। इस युग की जानकारी के लिये भारतीय साधन बहुत कम हैं और उनसे अकबर तथा ईसाइयों के सम्बन्धों के विषय में बहुत कम ज्ञात होता है। बदायूनी का वृत्तान्त १५९५ और अबुल फ़ज़ल का १६०२ तक समाप्त होजाता है। शिष्ट मण्डल का प्रमुख फादर ज़िरोम ज़ेवियर अकबर के शासनकाल के अन्तिम दस वर्षों में उसकी सेवा में उपस्थित रहा। दक्खिन के युद्धों में भी वह अकबर के साथ गया। पहले शिष्ट मण्डलों की भाँति इसका भी लाहौर में समुचित स्वागत हुआ।

फादर पिनहीरो सितम्बर १५९५ के अपने एक पत्र में लिखता है, "सम्राट तथा राजकुमार (सलीम) दोनों का ही हम पर अनुग्रह था और हमारे साथ उन्होंने बहुत दयापूर्ण व्यवहार किया और मैंने देखा कि अपने लोगों में से वह किसी की ओर इतना ध्यान नहीं देता था जितना कि हम लोगों की ओर। क्योंकि वह हमें बारी-बारी से उस मसनद पर बैठने को कहता जिस पर केवल स्वयम् वह या राजकुमार बैठा करते थे।" उसी वर्ष २० अगस्त को फादर जिरोम जेवियर ने भी लिखा, "उसने (अकबर ने) सार्वजनिक रूप से बहुत सम्मान तथा दयापूर्वक हमारा स्वागत किया और जब कभी वह हमें देखता है वैसा ही व्यवहार करता है और हमें अपने दरबार के मुख्य अमीरों के निकट बिठलाता है।...... उसके पास प्रभु ईसा तथा पवित्र कुमारी के चित्र हैं जो यूरुप से लाये गये चित्रों में सर्वोत्तम प्रकार के हैं, वह सदैव उन्हें श्रद्धा और सम्मान के साथ रखता है। उन्हें दूसरों को दिखाने में उसे सर्वाधिक आनन्द मिलता है और बहुत देर तक वह उन्हें अपने हाथों में पकड़े रहता है यद्यपि उनके भारी होने के कारण उसको थकावट हो जाती है।..." 'उसने बहुमूल्य सोने तथा चाँदी के काम के कपड़े भेजे जिनसे उसके नौकरों ने हमारे पूजा-गृह को भली-भाँति सजाया।' उसने आज्ञा दे दी कि हम जितने लोगों को ईसा-मसीह के चर्च में सम्मिलित होने के लिये एकत्र कर सकें, करलें।"

अकबर ने उन्हें एक पाठशाला खोलने की भी आज्ञा दे दी जिसमें कुछ अधीन राजाओं के तथा अहदयानों के सूबेदार के पुत्र पढ़ते थे। इन शिष्यों में से दो ने ईसाई बनने के लिये कहा और एक ने तो संघ में भी सम्मिलित होने की इच्छा प्रगट की। लाहौर में एक गिरजाघर बनाने के लिये उपयुक्त स्थान की खोज की गई और अन्त में एक गिरजाघर बना दिया गया। १५९७ ई० में जिस समय अकबर काश्मीर में था, उसका उद्घाटन हुआ, और नगर का शासक स्वयम् उत्सव में सम्मिलित हुआ और लगभग दो घण्टे तक फादर पिनहीरो के घर में ठहरा और बातचीत करता रहा। दूसरे दिन बड़े दिन के अवसर पर ब्रादर बैनीडिक्ट डी गोज़ ने एक पवित्र पालना तैयार किया, जिसकी बहुत सराहना की गई। पादरियों के प्रति अनुग्रह दिखलाने में राजकुमारों ने अकबर का अनुसरण किया; उनमें से एक ने ईसा तथा कुमारी के सम्मान में जलाने के लिए एक बड़ा दीपक भेंट किया और साथ-साथ दरिद्रों के लिये बहुत सी दान दक्षिणा दी। युवराज राजकुमार सलीम शिष्ट-मण्डल का पक्का मित्र तथा संरक्षक बन गया। जब मई में अकबर काश्मीर गया तो वह अपने साथ फादर ज़ेवियर और ब्रादर गोज़ को भी ले गया। वे नवम्बर १५९७ तक वहीं ठहरे। उनके निवास के समय में ही घाटी में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा और फादर ने अनेक अनाथ बच्चों को जो सड़कों पर मर रहे थे, उठा लिया और बपतिस्मा दी। वहाँ से लौटने पर फादर और ब्रादर दोनों को लगभग दो महीने तक ज्वर से पीड़ित होना पड़ा। वे अकबर के दरबार में लगभग ढाई वर्ष बिता चुके थे, किन्तु जहाँ तक उनके मुख्य उद्देश्य का सम्बन्ध था उन्हें उत्साह वर्धक परिणाम नहीं दिखाई दिये। १५९८ ई० में स्पेन के राजा ने गोआ के सूबेदार को लिखा कि यद्यपि पादरियों को सफलता नहीं मिली है फिर भी शिष्ट-मण्डल का अन्त नहीं किया जाय और यदि पादरी मर जायें अथवा उन्हें वापिस बुलाना पड़े तो उनके स्थानों की पूर्ति करदी जाय। उसने लिखा 'अभी तक फल नहीं दिखाई दिया है, किन्तु ऐसा हो सकता है कि जब न्यूनतम आशा हो तभी यह ईश्वर की कृपा से प्रकट हो जाय।' किन्तु अकबर के व्यवहार से पादरी लोग ऊबता गये थे। अकबर ने बड़ी शिष्टता से उन्हें समझाया कि पूर्ववर्ती शासकों ने आपका दमन करने का प्रयत्न किया होता किन्तु मैंने अपने राज्य में आपको हर प्रकार की स्वतन्त्रता दे रक्खी है। ✓

दक्खिन के युद्धों में भी पादरी लोग अकबर के साथ ही गये। जब अकबर असीरगढ़ के कठिन घेरे में फँस गया तो उसने जैसुइट पादरियों से गोआ के पुर्तगाली अधिकारियों की सहायता प्राप्त करने को कहा, किन्तु ज़ेवियर ने इनकार कर दिया और कहा कि इस प्रकार का काम ईसाई धर्म के विरुद्ध है। किन्तु डू जैरिक लिखता है कि फादर ज़ेवियर पर इस बात का भी प्रभाव रहा होगा कि खानदेश की सेनाएं, जिनके विरुद्ध अकबर लड़ रहा था, पुर्तगालियों की मित्र थी। इस कारण अकबर जैसुइट पादरियों से अप्रसन्न हो गया, क्योंकि उसने समझा कि

उनकी आपत्ति केवल एक धार्मिक बहाना है। जब तक उसका क्रोध शान्त हुआ तब तक पादरी लोग उसके सामने से चले गये।

जनवरी १६०१ में असीरगढ का पतन हो गया। जैसुइट लोगों ने उससे सम्बन्धित ब्यौरे का अपने ढङ्ग से वृत्तान्त दिया हैं। मैक्लैगन लिखता है, "इन घटनाओं के विषय में सच्चाई कुछ भी रही हो, जैसुइट लोगों के लिये महत्त्व की बात यह थी कि जब किले का पतन हुआ तो दुर्गरक्षकों में सात भगोड़े पुर्तगाली अधिकारी भी पकड़े गये और उन्हें क्रूर दण्ड मिलनेवाला ही था, किन्तु फादर ज़ेवियर की प्रार्थना से वे उसके सुपुर्द कर दिये गये और उसने उन्हें पुनः ईसाई समाज में वापिस ले लिया।" इसके उपरान्त फादर पिनहीरो लाहौर से आ गया और फादर जेवियर के साथ सम्राट के समक्ष उपस्थित हुआ, सम्राट ने दयापूर्वक उनका स्वागत किया और पिनहीरों के कन्धे पर हाथ रक्खा ('यह अनुग्रह वह अपने महान सेनानायकों तथा घनिष्ठ मित्रों को छोड़कर अन्य किसी के साथ नहीं करता')। मई १६०१ में अकबर फादर जेवियर तथा पिनहीरो के साथ आगरा लौट गया।

किन्तु लौटने से पहले उसने चौथी बार गोआ को एक दूतमंडल भेजा था, लेकिन एक धर्म-निरपेक्ष उद्देश्य से। २० मार्च १६०१ के इस पत्र में अकबर ने पादरियों के लिये प्रार्थना नहीं की बल्कि एक राजनैतिक सम्बन्ध के लिये, और कुशल कारीगर तथा बहुमूल्य रत्न माँगे। पुर्तगाली अधिकारियों ने उसके दूत को अपना सब गोलाबारूद दिखला दिया और प्रदर्शन के लिये अपनी भारी तोपों से एक सलामी भी दिलवाई, किन्तु इस दूतमण्डल को इससे अधिक सफलता न मिली।

दूसरे वर्ष गोज तथा मकाडो नामक दो अन्य धर्म प्रचारकों के आ जाने से मुग़ल दरबार में स्थित जैसुइट पादरियों का एक मठ सा बन गया। अब उन्हें अकबर से शाहीमुद्रा से अंकित एक लिखित आज्ञा प्राप्त करने में सफलता मिल गई जिसके अनुसार राज्य के उन लोगों को जो ईसाई धर्म अंगीकार करना चाहते थे, ऐसा करने की पूरी छूट थी, यद्यपि इस चीज़ का बहुत विरोध किया गया, विशेषकर, मिर्ज़ा अज़ीज़ कोका द्वारा। पचास पुर्तगाली बन्दी भी जिन्हें अकबर ने बन्धक के रूप में रख छोड़ा था, मुक्त कर दिये गये और पादरियों के अनुरोध के कारण उनके साथ अच्छा व्यवहार किया गया। ज़ेवियर ने कहा, "मेरे प्रभु, आपने पचास पुर्तगाली बन्दी मुक्त कर दिये हैं और इस प्रकार पचास हज़ार पुर्तगालियों को अपना सेवक बना लिया है।"

इस प्रकार के सौहार्द्र तथा सौजन्यता के होते हुए भी पुर्तगाली पादरियों को कट्टर मुसलमान अमीरों की शत्रुता का सामना करना पड़ा, और विशेषकर उन अन्य यूरोपीयों के कुचक्रों के कारण जो अब मुगल दरबार में एकत्र हो रहे थे। यही कारण था कि १६०५ में जब अकबर मृत्यु शैया पर पड़ा हुआ था, उस समय जैसुइट लोगों को उसके निकट नहीं जाने दिया गया। उस समय की घटनाओं का वर्णन डु जैरिक ने इस प्रकार किया है :—

'पादरियों को राजा की बीमारी के विषय में पूरी जानकारी थी; एक दिन शनिवार को वे इस आशा से उससे मिलने गये कि वह उनके उन शब्दों को सुनेगा जो उन्होंने बहुत सोच विचार के बाद तथा ईश्वर के समक्ष इस विषय को रख कर उस अवसर के लिये तैयार किये थे। किन्तु उन्होंने उसे अपने सामन्तों के बीच में तथा असम्य प्रसन्नचित्त पाया, इसलिये उससे उसकी मृत्यु के सम्बन्ध में बात करना उचित नहीं समझा और अन्य अवसर की बाट देखने का निश्चय किया। वे इस विश्वास के साथ वापिस चले आये हैं कि उसकी दशा भली भाँति सुधर रही है। किन्तु उसके बाद सोमवार को चारों ओर समाचार फैल गया कि सम्राट मर रहा है। यह सुनकर पादरी महल में गये किन्तु वहाँ कोई ऐसा व्यक्ति न मिला जो राजा को उनके आने की सूचना दे देता अथवा उनके विषय में उससे कुछ कहने का साहस करता; क्योंकि उस समय तक ऐसे विषय राजा के हाथों से निकलकर बड़े अमीरों के हाथों में पहुँच गये थे, इसलिये पादरियों ने प्रवेश पाने का जो भी प्रयत्न किया वह निष्फल रहा।'

अकबर का अँग्रेजों से सम्बन्ध—भारत तथा इंगलैण्ड के बीच सीधा सम्पर्क अक्टूबर १५७९ में ही प्रारम्भ हो गया था जब कि फादर टॉमस स्टीवंस नामक आक्सफोर्ड का एक जैसुइट आकर गोआ में उतरा था। उसने वहाँ चालीस वर्ष तक निवास किया कोंकणी भाषा सीखी, उसका व्याकरण लिखा और एक पद्यग्रन्थ की रचना की जिसमें उच्चकोटि के साहित्यिक महत्व के ११००० छन्द थे। उसने इंगलैंड को जो पत्र लिखे उनसे उस देश में भारत के सम्बन्ध में बड़ी रुचि उत्पन्न हुई। परिणाम यह हुआ कि १५८१ में कुछ अँग्रेज व्यापारियों ने रानी एलिज़ाबेथ से अधिकार पत्र प्राप्त करके एक कम्पनी चालू कर दी और दो वर्ष उपरान्त जॉन न्यूबरी नामक लन्दन के एक व्यापारी को भारत भेजा। इंगलैण्ड का इस देश के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने का यह पहला प्रयत्न था। न्यूबरी के साथ तीन व्यक्ति और आये—विलियम लीड्स नामक एक जौहरी, जेम्स स्टोरी नामक एक चित्रकार और लन्दन का एक अन्य व्यापारी जिसका नाम राल्फ फिट्श था। गोआ में उन्हें धर्मद्रोही समझकर गिरफ्तार कर लिया गया, किन्तु बाद में बड़ी कठिनाई से फादर स्टीवेंस के अनुरोध से उन्हें जमानत पर छोड़ दिया गया। जैसुइटों ने केवल जेम्स स्टोरी का स्वागत किया क्योंकि वह कलाकार था और उनके गिर्जाघर को चित्रित कर सकता था। वह गोआ में ही बस गया, एक वर्णसंकर लड़की से विवाह कर लिया, एक दुकान खोल ली और यूरोप लौटने का विचार पूर्णतया त्याग दिया। उसके तीन साथी गुप्तरूप से निकल भागे और बेलगाँव, बीजापुर, गोलकुण्डा, मछलीपट्टम बुरहानपुर और माण्डू होते हुए मालवा तथा राजपूताना के मार्ग से आगरा पहुँचे। 'मार्ग में अनेक नदियाँ पड़ीं जो वर्षा के कारण इतनी चढ़ी हुई थीं कि अपनी जान बचाने के लिये हमें बहुधा उन्हें तैर कर पार करना पड़ा। इस दल के सदस्यों में से केवल फिट्श लौटकर यूरोप गया; १५९१ में वह लन्दन पहुँचा। अन्य सदस्यों का क्या हुआ इस

विषय में बाद में कभी कुछ नहीं सुना गया। फिट्श ने फतेहपुर सीकरी तथा आगरा का भी भ्रमण किया था और उसका वह निम्न रोचक वर्णन छोड गया है:—

वह लिखता है, "आगरा काफी बडा और घना बसा हुआ नगर है, वह पत्थर का बना है, सड़कें काफी चौडी हैं और एक बडी नदी उसके पास बहती है और वह जाकर बंगाल की खाडी में गिरती है। इसमें एक विशाल तथा मजबूत किला है जो चौडी खाई से घिरा हुआ है। यहाँ बहुत से मूर (मूसलमान) तथा गैर-ईसाई रहते हैं, राजा का नाम जिलाबदीन (जलालुद्दीन) एकबर (अकबर) है। लोग उसे बहुधा महान मोगर (मुगल) कह कर पुकारते हैं।

"यहाँ से हम फतेहपुर गये, इसी स्थान पर राजा का दरबार लगता था। यह नगर आगरा से बडा है किन्तु मकान तथा सडकें उतनी अच्छी नहीं हैं। यहाँ पर बहुत से मूर गैर-ईसाई (मुसलमान तथा हिन्दू) रहते हैं।

"जैसा कि लोगों का कहना है, फतेहपुर तथा आगरा में राजा के पास १००० हाथी ३००००, घोडे, १४०० पालतू हिरन, ८२० रखैल स्त्रियाँ, तथा चीतों (?) तेंदुओं, भैंसों (जो कुश्ती के लिये रक्खी जाती हैं) मुर्गों तथा बाजों का ऐसा झुंड है कि देख कर आश्चर्य होता है।

"उसका एक बडा दरबार लगता था, जिसे लोग डिरीकन कहते हैं"

"आगरा तथा फतेहपुर दो बहुत बडे नगर हैं और उनमें से प्रत्येक लंडन से बहुत बडा तथा घना बसा हुआ है।* आगरा तथा फतेहपुर में १२ मील (कोस २३ मील) का अन्तर है और सम्पूर्ण मार्ग में खाने-पीने तथा अन्य वस्तुओं का इतना भरा हुआ बाजार है कि देखने वाले को लगता है कि अभी नगर में ही हूँ और आदमियों की इतनी भीड रहती है कि सदैव बाजार ही लगा हुआ जान पडता है।

"उनके पास अनेक सुन्दर गाडियाँ हैं और उनमें से अनेक पर नक्काशी का काम है और सोने से मढी हुई हैं, उनमे दो पहिये रहते हैं और दो छोटे-छोटे बैल जो इंगलैंड के बडे कुत्तों के बराबर होते हैं, उन्हें खींचते हैं। यहाँ पर ईरान तथा भारत के बाहर से व्यापारी आते हैं और रेशम, कपड़ा, तथा लाल, हीरे और मोतियों आदि बहुमूल्य रत्नों के ढेर लगे रहते हैं। राजा एक सफेद वस्त्र (अगरखा) धारण करता है जो कमीज की भाँति का बना होता और एक बगल में तनियों से बँधा रहता है, और सिर पर वह छोटा-सा कपडा पहिनता है। हिजडों को छोडकर जो उसकी स्त्रियों की देख रेख करते हैं, अन्य कोई व्यक्ति उसके महल में प्रवेश नहीं कर सकता।"

भारत आने वाला दूसरा अँग्रेज जॉन मिल्डनहॉल अथवा मिडनाल था, वह अकबर के लिये रानी एलिज़ाबैथ का एक पत्र लाया जिसमें अँग्रेजों के लिये उन्हीं शर्तों पर भारत में व्यापार करने की आज्ञा माँगी गई थी जो पुर्तगालियों को

* १५८० में लंडन की जनसख्या १२३,०३४ थी और १५९३-५ में १५२४७८ थी। स्मिथ के अनुसार १५८५ में फतेहपुर सीकरी की जन संख्या २००,००० रही होगी।

मिली हुई थीं। पत्र का मूल पाठ अब उपलब्ध नहीं होता। मिल्डनहॉल एक व्यापारी था; १२ फरवरी १५९९ को उसने लंदन से प्रस्थान किया। स्थल मार्ग से कान्धार होता हुआ वह १६०१ में लाहौर पहुँचा। सम्राट के लिये वह ११ अच्छे घोड़े लाया जिनमें से कुछ तो पचास पचास, साठ साठ पौंड के थे। उसने मंत्रि परिषद् के सामने अपनी प्रार्थना रक्खी और सम्राट से माँग की कि यदि अँग्रेज पुर्तगाली जहाज़ों अथवा उसके तट पर स्थित उनके बन्दरगाहों को हस्तगत कर लें तो वह रुष्ट न हो। कुछ दिनों बाद अकबर ने उसे २०० पौंड के उपहार भेंट किये जिससे 'जेसुइट अत्यधिक क्रुद्ध होगये।' वे अँग्रेजों को चोर तथा भेड़िया कह कर उनकी निन्दा करने लगे। छ महीने के भीतर 'जेसुइटों ने अकबर के दो मुख्य मंत्रियों को पाँच पाँच सौ पौंड की घूस देकर अपने पक्ष में कर लिया और दूत के (मिल्डनहॉल) आर्मीनी दुभाषिये को भी प्रलोभन देकर तोड़ लिया जिससे उसे स्वयं बातचीत कर सकने के योग्य होने के लिये छ महीने फारसी सीखने में कठिन परिश्रम करना पड़ा।" जब अकबर ने जेसुइटों के विरुद्ध शिकायत सुनी तो उसने मिल्डनहॉल को एक फर्मान प्रदान कर दिया। स्मिथ लिखते हैं 'जेसुइटों की हार अकबर तथा सलीम के समझौते तथा सम्राट की बीमारी के आरम्भ होने से पहले अगस्त अथवा सितम्बर १६०२ में हुई होगी सितम्बर के अन्त में वह बीमार पड़ गया।"

मिल्डनहॉल की वार्ता का ही सम्भवतः यह परिणाम था कि कुछ वर्ष उपरान्त जेम्स प्रथम ने सर टामस रो को विधिवत अपना दूत बना कर भेजा। किन्तु पहला अँग्रेज जहाज़ हैक्टर अगस्त १६०८ में सूरत के बन्दरगाह में पहुँच सका। अकबर के समय में जिन अँग्रेजों ने भारत की यात्रा की वे केवल मार्ग तैयार करने वाले थे उन्हें क्या मालुम था कि भविष्य में उनका देश इतना भाग्यशाली सिद्ध होगा?

डच भी भारत में आ चुके थे किन्तु उन्होंने तटवर्ती प्रदेशों तक ही अपनी कार्यवाहियों को सीमित रक्खा और अकबर के दरबार अथवा राजधानी में पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया।

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्	
१५५८–९	अकबर द्वारा ग्वालियर तथा जौनपुर का साम्राज्य में मिलाया जाना। अली आदिलशाह तथा विजयनगर के रामराय का अहमदनगर राज्य पर आक्रमण।
१५६०	कोंकण के तट पर पुर्तगालियों का प्रभुत्व। अकबर बैरामखाँ से स्वतन्त्र हो जाता है। मालवा में आधमखाँ के विद्रोह का दमन।
१५६१	पाटन में बैरामखाँ की हत्या। मालवा में आधमखाँ द्वारा बाज बहादुर की पराजय।

१५६२ बाज बहादुर मालवा पर पुनः अधिकार कर लेता है। वजीर शम्सुद्दीन मुहम्मद अतगा की हत्या के अपराध में आधमखाँ का अकबर द्वारा बध। बीजापुर तथा विजयनगर के बीच युद्ध।

१५६३ मालवा में अब्दुल्ला खाँ का विद्रोह।

१५६४ दिल्ली में अकबर की हत्या का प्रयत्न। शेक्सपियर का जन्म।

१५६५ तालीकोट का युद्ध; दक्खिन की मुस्लिम शक्तियों द्वारा विजयनगर का सर्वनाश। अकबर द्वारा जिज़या का रद्द किया जाना। वीर चामराज वोदेयर की अधीनता में मैसूर का स्वतन्त्र हो जाना। खान जमान का विद्रोह।

१५६६ मिर्जा मुहम्मद हाकिम का विद्रोह। सॉमल में मिर्जाओं का विद्रोह।

१५६७ अकबर द्वारा खान जमान के विद्रोह का दमन। रामराय का भाई वेंकटाद्री चन्द्रगिरि में अपनी शक्ति की स्थापना कर लेता है।

१५६८ अकबर द्वारा चित्तौड़ का घेरा।

१५६९ रणथम्भोर तथा कालिंजर पर अकबर का अधिकार। सलीम का जन्म।

१५७० बाज बहादुर से मालवा का पुनः जीता जाना।

१५७२ अकबर का गुजरात में युद्ध; वह मुजफ्फर शाह तृतीय से मुकुट छीन लेता है। अलीशाह चक काश्मीर में अकबर को सम्राट घोषित करता है। मेवाड़ में राणा प्रतापसिंह उदयसिंह (निर्वासित) का उत्तराधिकारी बनता है।

१५७३ गुजरात में विद्रोह का दमन, अकबर की प्रशासन व्यवस्था का सुनिश्चित संयोजन। बंगाल में दाऊद का राज्यारोहण। मारवाड़ का समर्पण (जोधाबाई का अकबर से विवाह)।

१५७४ अकबर सिन्ध को विजय कर लेता है। गुरु रामदास गुरु अमरदास के उत्तराधिकारी होते हैं; अमृतसर का निर्माण। बंगाल में दाऊद का विद्रोह। तुलसीदास रामचरित-मानस की रचना आरम्भ करते हैं।

१५७५ तुकारोई में दाऊद की पराजय, बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा में अकबर का सम्राट घोषित किया जाना। गुजरात में टोडरमल का बन्दोबस्त।

१५७६ हल्दीघाट (गोगंद) में राणा प्रताप की पराजय। दाऊद की अन्तिम पराजय तथा बध।

१५७९ अकबर का धार्मिक प्रभुत्व तथा नये प्रयोग: दीन इलाही। प्रथम जैसुइट शिष्ट मण्डल।

१५८१ रामदास के बाद गुरु अर्जुन का उत्तराधिकारी होना: ग्रन्थ साहब का संकलन। अकबर के लिये संकट का वर्ष: चारों ओर विद्रोह।

१५८२ बंगाल में टोडरमल की व्यवस्था।

१५८६ बीरबल की मृत्यु। राणा प्रताप मेवाड़ के कुछ भाग को पुनः अधिकृत कर लेता है, उदयपुर की संस्थापना, काश्मीर की विजय।

१५८९ अकबर की काबुल यात्रा। भगवानदास तथा टोडरमल की मृत्यु। राजा मानसिंह बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया जाता है। अंग्रेज़ व्यापारियों की एलिज़ाबेथ से व्यापार की आज्ञा के लिये प्रार्थना।

१५९० दूसरा जैसुइट शिष्ट मण्डल।

१५९१-२ सिन्ध तथा उड़ीसा का मुग़ल साम्राज्य में मिलाया जाना।

१५९४ तीसरा जैसुइट शिष्ट मण्डल।

१५९५-६ कन्धार पर अकबर का अधिकार। चाँदबीबी द्वारा वीरतापूर्वक अहमदनगर की प्रतिरक्षा। फ़ैज़ी तथा बदायूनी की मृत्यु। पुर्तगाली शक्ति का पराभव।

१५९७ राणा प्रताप का देहान्त। अमरसिंह का उत्तराधिकारी होना।

१५९८ अकबर का दक्षिण के लिये प्रस्थान।

१५९९ अहमदनगर में चाँदबीबी की मृत्यु।

१६०० असीरगढ़ (खान देश) का पतन। लन्दन की कम्पनी को एलिज़ाबेथ का आज्ञापत्र।

१६०१-४ राजकुमार सलीम का विद्रोह; अबुलफ़ज़ल की हत्या।

१६०३ आगरा में मिल्डनहॉल का आगमन, जैसुइटों द्वारा अंग्रेज़ों की निन्दा। रानी एलिज़ाबेथ की मृत्यु तथा जेम्स प्रथम का सिंहासनारोहण। सलीम को सिंहासन से वंचित करने का षड्यन्त्र।

१६०४ मलिक अम्बर का समर्पण। दक्षिण भारत में डच व्यापारिक कोठियों की स्थापना।

१६०५ अकबर की मृत्यु; जहाँगीर का राज्यारोहण।

१३

साम्राज्य का पुनः संगठन

तलवार धारण करने का केवल एक ही औचित्य हो सकता है—अपने अधीन प्रजा का हितसाधन, न कि केवल अपनी सत्ता का विस्तार। शेरशाह ने इसी सिद्धान्त के अनुसार शासन करने का प्रयत्न किया था, और यद्यपि दयालु ईश्वर ने उसके काम को जारी रखने के लिये उसे योग्य उत्तराधिकारी नहीं दिया फिर भी उसके अच्छे कार्य उसकी मृत्यु के साथ ही नहीं समाप्त हो गये। अकबर ने अपने वंश के शत्रु द्वारा आरम्भ की गई नीति को और भी अधिक व्यापक रूप दिया। जिन्हें हम उदार स्वेच्छाचारिता के मुख्य उद्देश्य कहते हैं, उन्हें प्राप्त करने का उसने भरसक प्रयत्न किया। अबुल फ़ज़ल के शब्दों में, 'इससे सभी सहमत हैं कि श्रेष्ठतम कार्य वे हैं जिनसे प्रजा के आचरण का सुधार, कृषि की वृद्धि तथा पदाधिकारियों का नियमन होता है और सेना का अनुशासन कायम रहता है। किन्तु इन वांछनीय उद्देश्यों की तब तक पूर्ति नहीं हो सकती जब तक प्रजा को प्रसन्न रखने के उपायों पर विचार न किया जाय, वित्त का समुचित प्रबन्ध न हो और प्रशासन में मितव्ययता से काम लिया जाय। किन्तु जब इन सब बातों का ध्यान रक्खा जाता है तो प्रजा का प्रत्येक वर्ग सुख और समृद्धि का उपभोग करता है।' अकबर ने इन उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयत्न किया, और जैसा कि मोरलैंड ने लिखा है उसका प्रशासन "कठोर रूप से व्यवहारिक" था, इसलिये जब कोई सामन्त अथवा राजा समर्पण कर देता और उचित राजस्व चुकाने का वचन देता तो सामान्यतया उसे अपने पद पर आरूढ़ रहने दिया जाता था। फिर भी उसकी प्रशासन व्यवस्था का मुख्य सिद्धान्त था राज्य तथा किसान के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित करना, राजस्व निर्धारित तथा वसूल करने का कार्य सीधा केन्द्र से ही नियंत्रित होता, और पदाधिकारियों को वसूलियाबी का सविस्तार हिसाब देना पड़ता था। इस व्यवस्था को हम केन्द्रीकृत राजतंत्र कह सकते हैं। इसका कार्य नौकरशाही द्वारा चलता था, और शासन के सभी सूत्र सीधे सम्राट के हाथों में थे और उसी के द्वारा नियंत्रित होते थे। फिर भी प्रशासन की सुविधा के लिये सामान्य विभाग थे: सेना, राजस्व, न्याय और धर्म। प्रोफेसर (सर) जदुनाथ सरकार ने अपनी 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन' नामक पुस्तक में उनका निम्नांकित वर्णन दिया है :—

केन्द्रीय सरकार

'मुग़ल प्रशासन के मुख्य विभाग थे —

१—वित्त तथा राजस्व (उच्च दीवान के अधीन)।
२—शाही परिवार (खाने-सामा के अधीन)।
३—सैनिक वेतन तथा लेखा विभाग (साम्राज्य के बख्शी के अधीन)।
४—न्याय, व्यावहारिक तथा आपराधिक दोनों, (मुख्य क़ाज़ी के अधीन)।
५—धमार्थ तथा दान (मुख्य सद्र के अधीन)।
६—जन आचार निरीक्षण विभाग (मुहतासिब के अधीन)।

'इनसे नीचे किन्तु लगभग विभागों के ही समान थे —

७—तोपख़ाना (मीर आतिश अथवा दरोगा-ए तोपख़ाना के अधीन)।
८—गुप्तचर तथा डाक विभाग (दरोगा ए डाक चौकी के अधीन)।

'इनके अतिरिक्त अगणित कारख़ाने थे और उनमें से प्रत्येक एक दरोगा के अधीन था। किन्तु उन्हें विभाग नहीं कहा जा सकता। उनमें से अधिकतर खाने सामा के अधिकार में थे

१—वज़ीर —सम्राट के बाद सबसे ऊँचा पदाधिकारी वज़ीर अथवा वकील था। वह साम्राज्य का प्रधान मन्त्री था और परवर्ती मुग़लों के समय में अधिनायक अथवा एक शासक बन बैठा, जैसे मध्ययुगीन फ्रांस में महलों के अध्यक्ष अथवा भारत में पेशवा। इसके अतिरिक्त दीवान का काम भी सदैव उसी के सुपुर्द रहता था और इस रूप में वह राजस्व विभाग का अध्यक्ष था। मुग़ल सरकार के प्रत्येक बड़े पदाधिकारी की भाँति वह भी सैन्य संचालन करता और बहुधा छोटी मोटी लड़ाइयों का नेतृत्व करता था। किन्तु उसे सदैव सम्राट की सभा में उपस्थित रहना पड़ता था, इसलिये वह लम्बी लड़ाइयों पर तथा शाही शिविर से अधिक दूर न जा सकता था। इस प्रकार वज़ीर का पद मूलतः असैनिक था और सैन्य सचालन का उत्तम भार सँभालना उसके लिये एक असामान्य बात थी और उससे साम्राज्य की पतनशील स्थिति प्रकट होती थी।'

२—बख्शी —प्रत्येक पद के लगभग सभी पदाधिकारी कम से कम सिद्धान्ततः सेनानायकों के रूप में ही भर्ती किये जाते थे इसलिये उनके वेतन उनके अधीन सैनिक टुकड़ियों के हिसाब से निश्चित किये जाते और सेना के बख्शी द्वारा पारित होते थे। आगे चलकर उसके अधीन तीन और अधिकारी रख दिये गये जो क्रमशः द्वितीय तृतीय तथा चतुर्थ बख्शी कहलाते थे, इसलिये वह स्वयं मीर अथवा प्रथम बख्शी कहलाने लगा। इस विभाग के विषय में अधिक विस्तार से हम आगे लिखेंगे।

३—खाने-सामा —यह महत्वपूर्ण पदाधिकारी शाही परिवार का अध्यक्ष था। मनूची के अनुसार "शाही परिवार के छोटे बड़े सभी व्यय का उत्तरदायित्व

उसी पर था।" सम्राट के निजी सेवक सब उसी के नियन्त्रण में थे और वह सम्राट के दैनिक व्यय (भोजन, तँबुएँ, भंडार आदि) का भी हिसाब रखता था। बहुधा खान-सामाओं में से ही वज़ीर चुना जाता था।

४—काजी-उल कुज़ात अथवा प्रमुख काज़ी—उसे 'शाही शिविर के काज़ी' की उपाधि भी प्राप्त थी, साम्राज्य के विभिन्न भागों में स्थानीय काज़ियों की नियुक्ति वही करता था।

५—सद्र-उस सुदूर अथवा प्रमुख सद्र—यह अधिकारी प्रधान असैनिक न्यायाधीश था और उन भू-धर्मस्वों की देख-रेख करता था जो सम्राट तथा राजकुमारों द्वारा धार्मिक व्यक्तियों, विद्वानों तथा भिक्षुओं को दिये जाते थे। 'इस प्रकार के अनुदानों का ठीक उद्देश्य के लिये उपयोग हो, यह देखना उसका कर्तव्य था; साथ ही साथ वह नये अनुदानों के लिये आये प्रार्थनापत्रों की भी जाँच करता था। ' सम्राट की भिक्षा को बाँटने का भार भी सद्र पर ही था; सम्राट रमज़ान के महीने में तथा अन्य पवित्र अवसरों पर और दरबारी समारोहों पर बाँटने के लिये बहुत-सा धन अलग रख दिया करते थे,– औरंगजेब के समय में यह राशि डेढ़ लाख रुपये के लगभग थी—उस सबको वही व्यय किया करता था। प्रमुख काज़ी की भाँति वह भी स्थानीय सद्र की नियुक्ति करता था। इस पद के लिये अरबी के श्रेष्ठतम विद्वान तथा पवित्र जीवन के लोग चुने जाते थे।

६—मुहतासिब—उसका कर्तव्य इस बात की देखभाल रखना था कि मुसलमान लोग पैगम्बर की आज्ञानुसार जीवन बिताएँ और निषिद्ध चीज़ों का व्यवहार न करें। मुहतासिब को जो आदेश दिये जाते उनका एक अंश इस प्रकार था—'नगरों में मादक द्रव्यों की बिक्री मत होने दो और न तवाइफों (नर्तकियों) को रहने दो, क्योंकि यह धर्म के नियमों के विरुद्ध है। जो लोग कुरान के सिद्धान्तों का उल्लंघन करें उन्हें सदुपदेश तथा चेतावनी दो। (पहले) उनके साथ कठोरता का व्यवहार मत करो नहीं तो वे तुम्हें कष्ट पहुँचायेंगे। पहले उन लोगों के नेताओं को सलाह दो और फिर भी यदि वे तुम्हारी बात न मानें तो सूबेदार को इस विषय की रिपोर्ट कर दो।'

प्रान्तीय प्रशासन

सरकार लिखते हैं, 'मुगल साम्राज्य में प्रान्तीय प्रशासन व्यवस्था केन्द्रीय सरकार का ही यथार्थ लघु रूप थी।' प्रान्तपति सरकारी तौर से निज़ाम किन्तु जनसाधारण की भाषा में सूबेदार कहलाता था। प्रशासन प्रान्तीय राजधानी में केन्द्रित था। गाँवों से सम्पर्क रखने के मुख्य साधन थे, (१) फौजदार, (२) राजस्व वसूल करने वाले अधिकारी, (३) ज़मींदारों का सूबेदार के यहाँ आना-जाना तथा (४) स्वयं सूबेदार के दौरे। किन्तु इस सबके बावजूद गाँवों के निवासी अपनी स्थानीय पंचायतों के प्रशासन के अन्तर्गत शान्तिमय जीवन

दिखाते थे; शेष संसार की घटनाओं से उनके जीवन में अधिक विघ्न नहीं पड़ता था।

प्रान्तीय पदाधिकारियों के काम इस प्रकार थे :—

१—सूबेदार—उसका मुख्य कार्य था प्रान्त में व्यवस्था स्थापित रखना, राजस्व वसूल करने में सहायता देना और अपने पास आये हुए शाही फर्मानों को कार्यान्वित करना। अपने अधिकारक्षेत्र के निकटवर्ती उदण्ड सामन्तों से कर वसूल करना भी उसी का कार्य था। नये सूबेदार को जो आदेश दिये जाते थे अष्ठ उपदेश से मालूम पड़ते थे 'उसको चाहिये कि अपने सद्व्यवहार द्वारा सभी वर्गों के लोगों को प्रसन्न रक्खे और सबलों को निर्बलों का उत्पीड़न करने से रोके। उसे चाहिये कि सभी उत्पीड़कों को दबाकर रक्खे सूबेदार को चाहिये कि पदवृद्धि के लिये केवल योग्य अधिकारियों की ही सिफारिश करे। 'और हर महीने में दो बार अपने प्रान्त की घटनाओं का समाचार डाक चौकी द्वारा दरबार को भेजे।

'जब तुम्हारी नियुक्ति हो जाय तो एक अच्छा दीवान,—जो विश्वसनीय तथा अनुभवी व्यक्ति हो और किसी उच्च वंशी के अमीर की सेवा में रह चुका है,—और एक मुंशी (सचिव) जो उसी की भाँति योग्य तथा अनुभवी हो नियुक्त कर लो। दरबार में भी तुम्हारा एक विश्वसनीय मध्यस्थ अथवा मित्र (वकील) होना चाहिए जो उन प्रान्तीय विषयों की जिनके सम्बन्ध में तुम सम्राट को लिखो तुरन्त ही उसको सूचना दे दे और तत्सम्बन्धी आज्ञा प्राप्त करले।

'रैयत को प्रोत्साहन दो जिससे वे कृषि के क्षेत्र का विस्तार करें और सच्चे हृदय से खेती बाड़ी का काम कर सकें। उनसे सब कुछ एँठने का प्रयत्न मत करो। स्मरण रखो कि रैयत स्थायी हैं (राज्य की आय का स्थायी साधन)। उपहारादि देकर जमींदारों को प्रसन्न रक्खो; सेना द्वारा दमन करने की अपेक्षा इस प्रकार उन्हें हाथ में रखना अधिक सस्ता है।'

२—प्रान्तीय दीवान—वह प्रान्त का दूसरा पदाधिकारी तथा 'सूबेदार का प्रतिद्वन्द्वी' था। दोनों कठोरता से तथा ईर्ष्यापूर्वक एक दूसरे पर निगाह रखते। प्रान्तीय दीवान की नियुक्ति शाही दीवान करता था और वह निरन्तर उससे पत्र व्यवहार करता रहता था। उसके लिए विशेष आदेश था कृषि की उन्नति करना और ईमानदार व्यक्तियों को अमीन के पद पर नियुक्त करना। उसे प्रत्येक महीने में दो बार उच्च दीवान के पास प्रान्त की घटनाओं का विवरण तथा अपने पास नकद रकम का हिसाब भेजना पड़ता था। 'दीवान को विशेष आज्ञा थी कि वह राजस्व वसूल करने के लिए (करोड़ियों तथा तहसीलदारों के पदों पर) व्यवहार कुशल व्यक्तियों को नियुक्त करे जो रैयत को समझा सकें कि वह अपनी इच्छा से सरकारी लगान चुका दे जिससे क्रूर व्यवहार अथवा दण्ड देने की आवश्यकता न पड़े' (नियमावली ११–१२)। नियुक्त की 'सनद' में लिखा रहता

था : 'कृषि का विस्तार तथा गाँवों में निवास स्थान की वृद्धि का प्रयत्न करो। शाही कोष की देख रेख करो जिससे कोई व्यक्ति बिना उचित आज्ञा के रुपया न ले सके। जब फोतदारों द्वारा अथवा अन्य साधनों से शाही कोष में रुपया जमा किया जाय जो उनके एजेण्टों को रसीदें (कुब्ज-उल वसूल) दो। देखो कि कोई पदाधिकारी (आमिल) निषिद्ध कर (अबवाब) न वसूल करने पाये।

"प्रत्येक फसल के अन्त में मूल कागजों से पता लगाओ कि आमिलों ने कितना धन खसोटा है और कितना गबन किया है, और इस हिसाब में उनसे जितना हो सके वसूल करके शाही कोष में जमा कर दो। बुरे तथा बेईमान आमिलों की रिपोर्ट सरकार (उच्च दीवान) के पास भेजो जिससे उनके स्थान पर अच्छे व्यक्ति नियुक्त किये जा सकें।

"यदि किसी आमिल ने कई वर्षों से राजस्व वसूल नहीं किया है और बकाया जमा होने दिया है, तो तुम्हें चाहिये कि गाँव वालों से उस रकम को सरल किश्तों में ५ प्रतिशत प्रति फसल के हिसाब से वसूल कर लो। पिछले वर्ष सरकार ने जो तकावी बाँटी है उसे इस वर्ष की पहली फसल में ही वसूल कर लेना चाहिये। यदि वे चुकता नहीं करते अथवा विलम्ब करते हैं तो सरकार दीवान तथा आमिलों को उस रकम को पूरा करने पर बाध्य करेगी। अपने विभाग के कागज नियमानुसार सरकारी अभिलेख कार्यालय में भेजते रहो।"

३—फौजदार—फौजदार सूबेदार को शान्ति स्थापित रखने तथा कार्य-पालिका सम्बन्धी कार्यों को पूरा करने में सहायता देते थे। प्रत्येक फौजदार पर प्रान्त के एक जिले का भार रहता था। उनको निम्न आदेश दिये जाते थे :—

'युद्ध के अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में, शिकार तथा घुड़सवारी में अपना अभ्यास बनाये रक्खो जिससे तुम्हारी शारीरिक क्षमता कायम रहे और तुम तत्परता के साथ युद्ध में उतर सको (जिस समय तुमसे उपद्रवग्रस्त क्षेत्र में जाने को कहा जाय)। पीड़ितों के साथ न्याय करो। (नियमावली, ३४-३६)।

'उद्दंड लोगों तथा विद्रोही सदस्यों को दंड देने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि उनके किलों को ध्वस्त कर दो। सड़कों को सुरक्षित रक्खो और राजस्व देने वालों की रक्षा करो। लगान वसूल करने के समय जागीरदारों तथा क्रोड़ियों (जहाँ तक खालसा भूमि का सम्बन्ध था) को सहायता दो। और अस्त्र-शस्त्रों से उनकी मदद करो।'

'लुहारों को बन्दूकें मत बनाने दो। थानेदारों (चौकियों अथवा फौजदारों के अधीन उनसे छोटे क्षेत्रों के अध्यक्षों) को जिन्हें तुम अपने अधीन नियुक्त करो, प्रेरणा दो कि वे अपने कार्य-भार को पूर्ण रूप से सँभालें, लोगों को उनकी वैध सम्पत्ति से वंचित न करें और अबवाब (निषिद्ध कर) न वसूल करें।'

४—कोतवाल—स्थानीय पदाधिकारियों में कोतवाल सबसे अधिक महत्व-

शाली था। उसे सभी प्रकार के काम करने पड़ते थे, जैसे मन्दिरों का निरीक्षण करना, इलाही संवत का प्रचार करना और जनता द्वारा विभिन्न उत्सवों का मनाना; सड़कों को सुरक्षित रखना और बाजारों का नियंत्रण करना; घाटों तथा मार्गों का निरीक्षण करना, दुर्व्यसनों को और यहाँ तक कि व्यक्तियों की निजी अपव्ययता को रोकना क्योंकि जब कोई व्यक्ति अपनी आय से अधिक व्यय करता है तो यह निश्चित है कि वह कोई अनुचित काम कर रहा है। इसके अतिरिक्त उसका कर्तव्य था अपने अधिकार क्षेत्र में मकानों तथा निवासियों की गणना करना, आने जाने वाले यात्रियों तथा विदेशियों पर निगाह रखना और भेदियों तथा सम्वाददाताओं का एक दल रखना जिससे प्रति घंटे और प्रति दिन की घटनाओं से सम्पर्क रह सके। इसलिये अबुल फजल का यह लिखना आश्चर्य की बात नहीं है 'इस पद के लिये उपयुक्त व्यक्ति वही हो सकता है जो शक्तिशाली, अनुभवी, क्रियाशील विचारवान धैर्ययुक्त, कुशल तथा उदार हो।' 'आइने अकबरी' में उसके कर्तव्यों का बयान इस प्रकार किया गया है :—

'उसे चाहिये कि जागरूक रहे तथा रात में पहरा दे जिससे जनता सुरक्षापूर्वक विश्राम का उपभोग कर सके और दुष्ट प्रकृति के लोग सक्रिय न हो सकें। उसे चाहिये कि मकानों तथा मार्गों की सूची रक्खे, जनता को पारस्परिक सहायता के लिये प्रतिज्ञाबद्ध करे और सार्वजनिक सुख-दुःख में भाग लेने के लिये उसे एक सूत्र में बाँधे। उसे चाहिये कि निवासियों की कुछ निश्चित संख्या के आधार पर नगर को अलग अलग क्षेत्रों में बाँट दे और अपने अधीन अधिकारियों में जो चतुर हो उसे नामनिर्देशित कर दे जिससे वे प्रत्येक क्षेत्र का निरीक्षण करते रहें, उसमें आने जाने वाले लोगों की तथा जो कुछ घटनाएँ घटें उनकी सूचना देते रहें। उसको चाहिये कि अप्रकाशित लोगों में से एक को भेदिया नियुक्त करे जिससे दूसरों का परिचय न हो और उनकी लिखित रिपोर्ट रक्खे तथा सावधानी से जाँच करवाये। 'उसे विभिन्न वर्गों के लोगों की आय-व्यय पर निगाह रखनी चाहिये और शिष्ट सम्भाषण तथा जागरूकता द्वारा अपने प्रशासन के प्रति जनता के हृदय में सम्मान उत्पन्न करना चाहिये। उसका कर्तव्य है कि प्रत्येक शिल्पि-संघ में से एक व्यक्ति को संघ का अध्यक्ष और एक को दलाल नियुक्त करे जिससे उनकी जानकारी से क्रय-विक्रय का काम होता रहे। इन लोगों से उसे समय-समय पर रिपोर्ट माँगते रहने चाहिये। जब कुछ रात बीत जाय तो उसे चाहिये कि लोगों को न तो नगर के बाहर जाने दे और न भीतर प्रवेश करने दे। उसे चाहिये कि बेकार व्यक्तियों को किसी प्रकार की दस्तकारी में लगा दे।'' 'उसे चोरों का तथा चुराई हुई सम्पत्ति का पता लगाना चाहिये और नहीं तो क्षति के लिए स्वयं उत्तरदायी होना चाहिये। उसे ऐसा आदेश जारी करना चाहिये कि कोई व्यक्ति हथियारों, हाथियों घोड़ों पशुओं, ऊँटों भेड़ों बकरियों तथा व्यापारिक वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु पर कर अथवा अबवाब न माँगे। प्रत्येक प्रान्त में एक नियत स्थान पर थोड़ा-सा आयात-कर लगाया जाय। पुराने सिक्के गला कर ले जाँय अथवा कोष में जमा कर दिये जांय। उसे चाहिये कि राज्यों में सोने तथा चाँदी के सिक्कों के मूल्य में किसी प्रकार का परिवर्तन न होने

दे और प्रचलन से जो घिसावट हो जाय उसे पूरा करदे। उसे चाहिये कि मूल्यों को घटाने में अपने विवेक का प्रयोग करे और नगर के बाहर खरीद न होने दे। धनी व्यक्तियों के उपभोग के लिये जितना आवश्यक है उससे अधिक उन्हें न खरीदने दिया जाय। उसे चाहिये कि बाटों की परीक्षा करे और सेर को ३० दाम से अधिक अथवा कम न होने दे। उसे चाहिये कि गज में कमी अथवा बढ़ती न होने दे और लोगों को मदिरा बनाने, बाटने, खरीदने और बेचने न दे, किन्तु वह जनता के घरेलू जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। उसे चाहिये कि उन मरे हुए तथा लापता लोगों की जिनके कोई उत्तराधिकारी नहीं है, सम्पत्ति की सूची बना ले और अपने निरीक्षण में उसे रक्खे। उसको चाहिये कि पुरुषों तथा स्त्रियों के लिये अलग-अलग घाटों और कुओं की व्यवस्था करे। उसे चाहिये कि सार्वजनिक जलमार्गों के प्रबन्ध के लिये सम्माननीय व्यक्तियों को नियुक्त करे; और स्त्रियों को घुड़सवारी करने से रोके। उसे आदेश जारी करना चाहिये कि बैलों, भैंसों, घोड़ों अथवा ऊटों का वध न किया जाय और किसी की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध न लगाया जाय और न गुलामों को बेचा जाय। उसे चाहिये कि किसी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध न जलाया जाने दे, मृत्यु दंड के अधिकारी अपराधी को शूली पर न चढ़ाया जाने दे और न १२ वर्ष से कम अवस्था के बालकों का खटकना होने दे। इत्यादि।

५—सम्वाददाता—सम्वाददाता चार प्रकार के थे: (१) वाकई-नवीस; (२) सवनिह निगार, (३) खुफिया नवीस; तथा (४) हरकारा। पहले प्रकार के सम्वाददाता नियमित थे और प्रान्तों तथा सभी नगरों में सेना के साथ नियत रहते थे, दूसरे प्रकार के विशेष अवसरों पर अथवा नियमित रूप से नियुक्त किये जाते थे जिससे वाकई-नवीस ठीक समाचार भेजते रहें। समाचार-पत्र दरोगा डाकचौकी के पास भेज दिये जाते थे और वह उन्हें सम्राट के समक्ष उपस्थित किये जाने के लिये बिना खोले वजीर के सुपुर्द कर देता था। 'ये चार प्रकार के सार्वजनिक समाचारदाता दरोगा-डाकचौकी के अधीन कार्य करते थे और वही उनका तात्कालिक उच्च अधिकारी तथा संरक्षक था। कभी-कभी कोई अहंकारी सूबेदार अपने विरुद्ध की गई रिपोर्ट के लिये स्थानीय समाचार लेखक को खुले रूप से पीटता अथवा अपमानित करता, तब दरोगा डाकचौकी ही अपने अधीन कर्मचारी का पक्ष लेता और अपराधी सूबेदार को दण्ड दिलवाता।' व्यवस्था यह थी कि वाकई सप्ताह में एक बार, सवनिह दो बार तथा हरकारों के अखबार एक बार (१ एक महीने में) और नाजिम तथा दीवान के पोंगियों में बन्द समाचार हर महीने में दो बार भेजे जाते थे, इसके अतिरिक्त तात्कालिक महत्व के मामलों की रिपोर्ट तुरन्त ही करनी पड़ती थी।

६—राजस्व वसूल करने वाले—राजस्व वसूल करने वाला वास्तविक पदाधिकारी करोड़ी था। यह व्यवस्था अकबर ने स्थापित की थी। करोड़ी उस जिले के पदाधिकारी को कहते थे जिससे एक करोड़ दाम (२॥ लाख रुपया) की

कोष की आज्ञा होती थी। आगे चलकर राज्य करों को वसूल करने वाले अन्य पदाधिकारियों के लिये भी इस शब्द का प्रयोग होने लगा, जैसे गंज के करोड़ी। नियुक्ति की सनद में लिखा रहता था:—

'हर फसल में आमिल द्वारा निर्धारित राजस्व समय पर वसूल करो और फौजदार के पास जमा कर दो। फौजदार तथा आमिल की सलाह से सावधानी से रुपया शाही कोष में जमा करो और फोतदार को उसकी रसीद दे दो। आय और व्यय का संक्षिप्त लेखा तथा अन्य कागज जैसा कि नियमों में दिया हुआ है सरकारी अभिलेख कार्यालय में भेज दो।' नियम ये थे —

'करोड़ी को चाहिये कि अपने क्षेत्राधिकार के अनुसार एक सैनिक दल रखे और ठीक समय पर तथा सावधानी के साथ राजस्व वसूल करे। उसे चाहिये कि जिन स्थानों की रैयत इसके योग्य नहीं है उनसे मसाहत (नकद अथवा दाम के रूप में राजकर) की माँग न करे, नहीं तो रैयत भाग खड़ी होगी। उसे चाहिये कि अपने अधीन अधिकारियों को ऐसी प्रेरणा दे कि वे नियम निर्धारित कर से अधिक किसी भी रूप में वसूल न करें, नहीं तो अन्त में उनके विरुद्ध तमोजात (गबन का पता लगाने की दृष्टि से हिसाब की जाँच) की कार्यवाही की जायगी। उसे ईमानदार होना चाहिये (नियमावली पृष्ठ ९९)'

आमिल—जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है राजस्व माँगने वाले राज्य तथा उसे चुकाने वाली रैयत के बीच मध्यस्थ का काम करता था। पदाधिकारियों के कर्तव्यों की नियमावली में लिखा रहता था, आमिल का काम है राज्य में खेती करवाना। उसे चाहिये कि फसल के प्रारम्भ होने से पहले कानूनगोओं से पिछले दस वर्ष के राजस्व सम्बन्धी कागज तथा गाँवों के क्षेत्रफल के आँकड़े ले ले, करोड़ियों, चौधरियों कानूनगोओं तथा जमींदारों को साथ लेकर गाँवों में जाय, जुती हुई भूमि तथा हलों की ठीक संख्या के विषय में गाँव की ठीक जाँच करे वास्तविक क्षेत्र की कानूनगो के कागजों में दिये हुये क्षेत्रों से तुलना करे और यदि इन दोनों में अन्तर हो तो कानूनगो से इसका कारण पूछे और गाँव के मुखिया को डाटे फटकारे। फिर यह पूछताछ करे कि गाँव के किसानों के लिये वर्तमान हलों की संख्या पर्याप्त है अथवा नहीं। यदि पर्याप्त न हो तो बैल तथा बीज खरीदने के लिये तकावी बाँटे और मुखियों से करार लिखवा ले कि आगामी वर्ष के राजस्व की पहली किश्त के साथ यह ऋण चुका दिया जायगा और करोड़ियों से करार करा ले कि वे अगले वर्ष की पहली किश्त के साथ ऋण वसूल कर लेंगे।

कानूनगो भूमि-सम्बन्धी कानून का जीवित कोश था। उसके पास रजिस्टर रहते थे जिनमें भूमि के स्वरूप, विस्तार, हस्तान्तरण और पट्टे से सम्बन्धित ब्यौरा तथा राजस्व देने वालों की मृत्यु और उत्तराधिकारी की सूचना दी रहती थी। और आवश्यकता पड़ने पर वह स्थानीय परिपाटियों तथा नियमों की व्याख्या

Delhi
Lahore
Sindh
Gujerat
Malwa
Oudh
Behar
Bengal
Berar
AHMADNAGAR
GOLCONDA
INDEPENDENT NAYAKS
M P I R E
ABIAN
SEA
BAY OF
BENGAL
English Miles

किया करता था। नियमावली में लिखा है, 'सम्राट का काम-काज तुम्हारे कागजों के विश्वास पर चलता है। तुम्हारे कार्यालय में विभाजन तथा तुलना सम्बन्धी कागज रहते हैं ········अभिलेखों की दो-दो प्रतियाँ रक्खो—एक अपने घर में और दूसरी अपने कार्यालय में (अपने गुमाश्तों के अधिकार में) जिससे आग लगने अथवा बाढ़ आने पर कम से कम एक तो बच रहे।'

पन्द्रह सूबे—'आईने अकबरी' में लिखा है, 'इलाही सम्वत के चालीसवें वर्ष में सम्राट के राज्य में १०५ सरकारें (सूबों के विभाग) थीं।·········'जब लगान का दस वर्षीय बन्दोबस्त किया गया तो सम्राट ने साम्राज्य को बारह सूबों में बाँट दिया और उन प्रदेशों अथवा राजधानियों के नामों पर उनके नाम रख दिये। ये थे . इलाहाबाद, आगरा, अवध, अजमेर, अहमदाबाद, बिहार, बंगाल, दिल्ली, काबुल, लाहौर, मुलतान, मालवा; और जब बरार, खानदेश तथा अहमदनगर जीत लिये गये तो उनकी संख्या पन्द्रह हो गई।' इसके बाद प्रान्तों, उनकी सीमाओं, प्रशासन तथा उपज का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है।

अकबर की राजस्व-व्यवस्था

साम्राज्य की आय का मुख्य साधन भू-राजस्व था। वहि.शुल्क, टकसाल एकाधिकार, क्षति-पूर्ति आदि अन्य साधन थे। आइन के अनुसार उसका योग ३६३ करोड़ दाम होता था, केवल भू-राजस्व ही ९०,७४४,००० रु० तक पहुँच जाता था (१५७९–८० में १२ सूबों से)। अकबर की विजय से पहले देश के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रथाएँ प्रचलित थीं। अकबर की नीति थी उन सबको हटाकर एक सर्वसाधारण व्यवस्था की स्थापना करना। यह कार्य अत्यधिक कठिन था। १५७०-७१ में मुज़फ्फर खाँ तुर्बाती तथा राजा टोडरमल को भूराजस्व निर्धारण में संशोधन करने की आज्ञा दी गई, संशोधन के आधार वे आनुमानिक विवरण थे जिन्हें स्थानीय कानूनगोओं ने तैयार किया था और जिनकी सदर स्थानों में दस अधिकारियों ने जाँच की थी। "इस प्रकार मुग़ल साम्राज्य की स्थापना के बाद प्रथम बार राज्य की माँग निर्धारित करने में पुराने पित्रागत राजस्व-पदाधिकारियों की जानकारी का उपयोग किया गया।"

टोडरमल का बन्दोबस्त—१५७३ में टोडरमल ने गुजरात की भूमि की व्यवस्थित ढङ्ग से पड़ताल की। यही पड़ताल आगे चलकर उन सुधारों का आधार बनी जो टोडरमल के बन्दोबस्त के नाम से प्रसिद्ध हैं। लेनपूल लिखते हैं, "मध्य युगीन इतिहास में अन्य कोई नाम ऐसा नहीं है जो भारत में आज तक इतना विख्यात हो जितना टोडरमल का, और इसका कारण यह है अकबर के सुधारों में अन्य कोई चीज़ ऐसी नहीं थी जिसका जनता के हितों से इतना सम्बन्ध रहा हो जितना इस महान् वित्तज्ञ की राजस्व-व्यवस्था के पुनःसङ्गठन का।" दो वर्ष उपरान्त, १५७५-६ में बंगाल, बिहार तथा गुजरात को छोड़कर समस्त साम्राज्य

की पुन पड़ताल की गई और उसे बराबर की १८२ वित्तीय इकाइयों में विभक्त कर दिया गया; प्रत्येक इकाई की आय एक करोड़ टंका (?) अथवा २५००० रु थी। इस प्रकार की इकाइयों का भार करोड़ी नामक पदाधिकारियों को सौंपा गया, जिनका हम पहले उल्लेख कर आये हैं। यह कृत्रिम व्यवस्था गणित के हिसाब से इतनी पूर्ण थी कि व्यवहार में सफल न हो सकी, और शीघ्र ही त्यागनी पड़ी। परिणामस्वरूप १५८५-८० में नये सिरे से पुन सुधार किया गया और साम्राज्य को जैसा कि पहले कहा जा चुका है, १२ सूबों में बाँट दिया गया और दस-वर्षीय बन्दोबस्त लागू कर दिया गया। इन सुधारों का इतिहास 'आइने अकबरी' में इस प्रकार दिया हुआ है :—

'जब ख्वाजा अब्दुल मजीद आसफ खाँ वजीर नियुक्त हुआ उस समय सम्पूर्ण राजस्व अनुमान से निर्धारित किया जाता था और समय की आवश्यकताओं के अनुसार बिना किसी नियम के उसमें वृद्धि कर दी जाती थी। और चूँकि उस समय साम्राज्य का विस्तार कम था और राज कर्मचारियों के पदों में निरन्तर वृद्धि होती रहती थी, इसलिये राजस्व घटाने-बढ़ाने में वे घूस तथा अपने स्वार्थों को ध्यान में रखते थे। जब शासन के पाँचवें वर्ष में यह महान् विभाग मुजफ्फर खाँ तथा राजा टोडरमल के सुपुर्द किया गया तो कानूनगोओं द्वारा भू राजस्व फिर से निर्धारित किया गया और उपज के अनुमान के आधार पर नया बन्दोबस्त कर दिया गया। दस कानूनगो नियुक्त किये गये जिन्होंने प्रान्तीय कानूनगोओं से लेखा एकत्र किया और उसे शाही कार्यालय में जमा कर दिया। यद्यपि इस बार पहले से कुछ कम राजस्व निर्धारित किया गया, किन्तु पहले आनुमानिक विवरण तथा वास्तविक प्राप्ति में बहुत अन्तर रहता था।

'जब सम्राट के बुद्धिमत्तापूर्ण प्रबन्ध के फलस्वरूप साम्राज्य का विस्तार बढ़ गया, तो प्रतिवर्ष प्रचलित मूल्यों का पता लगाना कठिन हो गया और विलम्ब के कारण बहुत असुविधा होने लगी। एक ओर किसानों की शिकायत थी कि इससे अतिशय लगान वसूल किया जाता है, दूसरी ओर वसूल करने वाले बकाया राजस्व के कारण परेशान रहते थे। सम्राट ने इन दोषों को दूर करने के उपाय निकाले'' दस वर्ष के लिए बन्दोबस्त निश्चित कर दिया। इस प्रकार रैयत को बहुत सन्तोष हुआ और उसने अपनी कृतज्ञता का भरपूर परिचय दिया। इलाही सम्वत के १५ वें वर्ष के प्रारम्भ से २४ वें वर्ष तक जिन दरों से राजस्व वसूल किया गया उनका योग कर लिया गया और कुल का दशांश वार्षिक कर के रूप में निर्धारित कर दिया गया; २० वें से २४ वें वर्ष तक की दरों ठीक ठीक पता लगा लिया गया और उससे पहले के पाँच वर्षों की ईमानदार लोगों के कथनानुसार मान ली गई।'

भूमि की इस माप से पहले माप की इकाइयों में सुधार किया गया गज, तनाब तथा बीघा सुनिश्चित कर दिए गए। सम्राट ने '' 'गज, तनाब तथा बीघा निश्चित करने के उपरान्त भूमि का वर्गीकरण किया और प्रत्येक वर्ग की भूमि के लिए अलग अलग राजस्व निर्धारित कर दिया।

'पोलाज वह भूमि है जिस पर प्रति वर्ष हर फसल में खेती होती है और जिसे कभी बंजर नहीं छोड़ा जाता। परौती उस भूमि को कहते हैं जिसे कुछ समय के लिए परती छोड़ दिया जाता है जिससे उसमें पुनः शक्ति आ जाय। चाचर भूमि वह होती है जिसे तीन-चार वर्ष के लिये परती पड़ा रहने दिया जाता है। बंजर भूमि वह है जिस पर पाँच अथवा अधिक वर्ष तक जुताई नहीं होती।

'प्रथम दो वर्गों की भूमि के तीन प्रकार होते हैं, उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट। प्रत्येक प्रकार की भूमि की उपज को जोड़ लिया जाता है, उसके एक तिहाई भाग को मध्यम कोटि की उपज माना जाता है और उसका $\frac{1}{3}$ राजस्व के रूप में वसूल किया जाता है। शेरखाँ ने जो राजस्व निश्चित किया था वह आज सब प्रान्तों में कर-निर्धारण की न्यूनतम दर है, और किसानों तथा सैनिकों की सुविधा के लिये नकद धन के रूप में मूल्य निर्धारित किया जाता था।

'इस प्रकार सम्राट ने उपर्युक्त अनुकूल ढंग से राजस्व का नियमन किया। उसने दस्तकारी की वस्तुओं पर दस से पाँच प्रतिशत तक चुंगी कम कर दी, और दो प्रतिशत को पटवारी तथा कानूनगो के बीच बाँट दिया जाता था।...सम्राट ने सर्वशक्तिमान ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये अनेक कर जिनका मूल्य हिन्दुस्तान की आय के बराबर होता था, हटा दिये। उनमें निम्नांकित सम्मिलित थे :—

प्रति व्यक्ति कर, बन्दरगाह-कर, तीर्थ यात्रियों पर कर, विभिन्न वर्गों के शिल्पियों पर कर, दरोगा के शुल्क, तहसीलदार के शुल्क, हाट-कर, पारपत्र, मकानों के क्रय-विक्रय पर कर, शोरे से बने नमक पर कर... संक्षेप में सब कर जिन्हें हिन्दुस्तान के लोग साइर जिहात में सम्मिलित कर रहे हैं, क्षमा कर दिये गये।

'जब कभी अतिवृष्टि अथवा बाढ़ के कारण भूमि बंजर रह जाती है तो सबसे पहले किसानों को भारी कष्ट भोगना पड़ता है। इसलिए पहले वर्ष राजस्व का केवल $\frac{2}{5}$ वसूल किया जाता है, दूसरे वर्ष $\frac{3}{5}$, तीसरे $\frac{4}{5}$ और पाँचवे वर्ष साधारण राजस्व। परिस्थितियों के अनुसार राजस्व नकद अथवा उपज के रूप में चुका दिया जाता है।...'

सेना तथा जहाज़ी बेड़ा

हम पहले लिख आये हैं कि साम्राज्य के लगभग सभी मुख्य अधिकारियों का वेतन बख्शी बाँटता था। वे सब सैनिक अधिकारियों के रूप में भर्ती किये जाते थे, चाहे उनका वास्तविक काम कुछ भी होता, और उनके वेतन तथा भत्ते उनके अधीन सैनिक टुकड़ियों के आधार पर लगाये जाते थे। प्रोफेसर सरकार लिखते हैं, "यद्यपि हमें अनेक अवसरों पर ऐसे अधिकारियों का उल्लेख मिलता है जिन्हें सिपहसालार की उपाधि प्राप्त थी, किन्तु यह केवल सम्मान की सूचक थी, वे वास्तव में समग्र मुगल सेना का सेनापतित्व नहीं करते थे। सम्राट ही अकेला महासेनापति था।" अबुल फज़ल ने शाही सेना के संगठन का वर्णन इस प्रकार किया है :—

'सम्राट शाही सेना का श्रेष्ठ परामर्श द्वारा पथप्रदर्शन करता है और विभिन्न प्रकार

से आत्मोत्सर्पण की प्रवृत्ति का दमन करता है। सेना को उसने अनेक वर्गों में विभक्त कर दिया है और इस प्रकार देश में शान्ति की स्थापना की है। सेना के अधिकारियों तथा वर्गों की मुख्य श्रेणियाँ ये हैं (१) मनसबदार, (२) अहदी, (३) दाखिली और (४) पैदल।

(१) मनसबदार —अबुल फजल लिखता है कि सम्राट ने दहबाशी (दस का नायक) से लेकर दह हजारी तक मनसबदार नियुक्त किये किन्तु ५००० से ऊपर के सभी पद उसने अपने प्रतापी पुत्रों (अथवा उच्चतम अमीरों) के लिये रख छोड़े थे।"

'मनसबदारों को जो मासिक अनुदान मिलते थे वे उनके अधीन सैनिक दलों की दशा के अनुसार घटते-बढ़ते रहते थे। जिस पदाधिकारी का सैनिक दल उसके मनसब के अनुरूप होता उसे प्रथम श्रेणी में रक्खा जाता यदि उसका दल निश्चित संख्या का आधा अथवा अधिक होता तो उसे द्वितीय श्रेणी में स्थान मिलता; और तीसरी श्रेणी में वे अधिकारी थे जिनके दलों की संख्या इससे भी कम थी।

वेतन इस प्रकार था:—

सैनिकों की संख्या	मासिक वेतन रुपयों में		
	प्रथम श्रेणी	द्वितीय श्रेणी	तृतीय श्रेणी
१०,०००	६०,०००	——	——
५,०००	३०,०००	२९,०००	२८,०००
१,०००	८,२००	८,१००	८,०००
५००	२,५००	२,३००	२,१००
१००	७००	६००	५००
१०	१००	८२½	७५

इस वेतन में मनसबदार के अधीन सैनिक दल का व्यय भी सम्मिलित रहता था। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसे बहुत कम मनसबदार थे जो अपने पदों के अनुरूप पूरे सैनिक रखते हों। १०० के मनसबदार को पूरी संख्या रखने पर ३११ रु०, १००० के को २०२५॥ रु० और ५००० के को १०,६१० रु० व्यय करने पड़ते थे।

उच्चतम मनसबदार बहुधा सूबों के नाजिम हुआ करते थे; अकबर के शासन-काल के अन्त में वे हाकिम, और बाद में साहिब सूबा अथवा सूबादार, और अन्त में केवल सूबा कहलाये। अन्य मनसबदारों को जागीरें मिली रहती थीं जिनका अकबर के बाद बहुधा हस्तान्तरण होता रहता था।

मनसवदारों के दल ही सेना के अधिकाश थे और समय-समय पर उनका निरीक्षण होता रहता था। उन्हे केन्द्रीय अथवा स्थानीय कोषों से वेतन मिलता था। बदायूनी लिखता है : 'मीर बख्शी शाहबाज खाँ ने दागो महल्लो (पशुओं को दागना) की प्रथा चालू की, पहले अलाउद्दीन खलजी और बाद में शेरशाह के समय में यह नियम प्रचलित था। यह निश्चय किया गया कि प्रत्येक अमीर को २० के नायक (बिस्ती) से प्रारम्भ करना चाहिये और अपने सैनिकों के साथ निरीक्षण के लिये तैयार रहना चाहिये.........और जब नियमानुसार वह अपने बीस सैनिकों को दागने के लिये ले आये तो उसको सादी अथवा १०० का मनसबदार बना दिया जाय। इसी प्रकार इस नियम के अनुसार उन्हें अपने मनसब के अनुपात में हाथी, घोडे तथा ऊँट रखने पडते थे। जब वे अपने नये दलों को पूरी-पूरी संख्या में लाकर निरीक्षण के लिये उपस्थित कर देते तो उनकी योग्यताओं तथा परिस्थितियों के अनुसार उनकी पदवृद्धि कर दी जाती और हजारी, दुहजारी और पच हजारी तक बना दिये जाते, पचहजारी मनसब (शाही परिवार के राजकुमारों को छोड कर अन्य सब लोगों के लिये) उच्चतम मनसब था, राजा मानसिंह जिसे ७००० का मनसब मिला हुआ था, इस नियम का अपवाद था; किन्तु यदि वे निरीक्षण के समय खरे न उतरते तो उन्हे नीचे गिरा दिया जाता था।

२—अहदी—अबुल फजल लिखता है, 'अनेक ऐसे भी वीर तथा योग्य पुरुष हैं जिन्हें सम्राट मनसब नहीं प्रदान करता, बल्कि उन्हें दूसरों की अधीनता से मुक्त रखता है। ऐसे लोग सम्राट के निजी सेवक होते हैं और अपनी स्वतन्त्रता के कारण अधिक सम्मानीय समझे जाते हैं। वे विधिवत अपने कर्तव्यों को सीखते हैं और फिर उनके ज्ञान की परीक्षा ली जाती है। ये लोग अहदी कहलाते हैं।

'अहदियों की सुविधा के लिये एक अलग दीवान तथा बख्शी नियुक्त किया जाता है और एक बडा अमीर उनका प्रमुख होता है। बहुत से अहदियों को वास्तव में ५०० रु० मासिक से भी अधिक मिलता है।.........प्रारम्भ में जब इस पद की स्थापना की गई थी कुछ अहदियों के पास आठ-आठ घोडे रहते थे, किन्तु अब पाँच की सीमा निश्चित कर दी गई है।......अहदियों को प्रति चार महीने उपरान्त निरीक्षण के लिये जमा किया जाता है, उस समय दीवान तथा बख्शी अपने हस्ताक्षरों से प्रमाण पत्र देते हैं जो आजकल तचिहा कहलाता है, तब खजाने का लिपिकार एक रसीद लिख देता है जिस पर मुख्य अमीरों के हस्ताक्षर होते हैं। कोषाध्यक्ष उसे अपने पास रख लेता है और रकम चुका देता है।..........भर्ती होने के समय अहदी को सामान्यतया अपना घोडा लाना पडता है; किन्तु बाद में सरकार से मिल जाता है।......जिनके पास घोडे नहीं होते उन्हें श्रीमान सम्राट के सम्मुख उपस्थित किया जाता है, वह उन्हे अनेक घोडे उपहार तथा वेतन के अंश के रूप में दिलवा देता है, आधे को अनुदान समझा जाता है और आधा चार किश्तों में आगे चार निरीक्षणों के समय काट लिया जाता है; और यदि अहदी ऋण-ग्रस्त होता है तो आठ किश्तों में।'

३—दाखिली—'सैनिकों की कुछ निश्चित संख्या मनसबदारों के सुपुर्द कर दी

जाती है किन्तु उनका वेतन राज्य देता है। सम्राट ने आज्ञा दी है कि सैनिकों की सूची में इन पैदल सिपाहियों को अर्ध सैनिक लिखा जाय।

'एक चौथाई दाखिली सैनिक बन्दूकधारी होते हैं शेष धनुषों का प्रयोग करते हैं। 'बढ़ई लुहार, भिश्ती तथा आग तैयार करने वाले इसी वर्ग में सम्मिलित रहते हैं।'

४—पैदल— ये अनेक प्रकार के होते हैं और अद्भुत कार्य करते हैं। श्रीमान सम्राट ने उनकी विभिन्न श्रेणियों के लिये उपयुक्त नियम बना दिये हैं और पूर्णतया सन्तोषजनक ढंग से छोटे बड़ों का नियंत्रण करता है।

'प्रथम श्रेणी को ५०० दाम मिलते हैं द्वितीय को ४०० दाम तृतीय को ३०० दाम चतुर्थ को २० दाम (१ रु०=४० दाम);

'शाही बन्दूकचियों की संख्या १२ है। इस विभाग में एक अनुभवी बितिकची, एक ईमानदार कोषाध्यक्ष और एक क्रियाशील दरोगा सम्बद्ध रहता है। इन पदों के लिये कुछ बन्दूकची चुन लिये जाते हैं; अन्य लोगों के पद निम्न प्रकार के होते हैं:—

'कुछ अपने अनुभव तथा उत्साह के लिये प्रसिद्ध होते हैं वहीं कुछ दूसरों के ऊपर नियुक्त कर दिया जाता है जिससे कि सम्पूर्ण संगठन में एकरूपता कायम रहे और कर्तव्यों का उचित ढंग से तथा समझ-बूझ के साथ पालन किया जा सके। इन पदाधिकारियों के वेतन क्रम के चार प्रकार के होते हैं। पहला ३ दाम दूसरा २८० दाम; तीसरा २७० दाम चौथा २६० दाम।

'सामान्य बन्दूकचियों को पाँच वर्गों में विभक्त किया जाता है, और प्रत्येक वर्ग को तीन उपवर्गों में। प्रथम वर्ग २५०, २४० तथा २२ दाम; दूसरा वर्ग, २२ , २१ ,० दाम तीसरा वर्ग १९ १८० १७० दाम चौथा वर्ग १६० १५०, १४० दाम; पाँचवा वर्ग १३० १२० ११ दाम।

इन नियमित सैनिकों के अतिरिक्त बहुत से अनेक प्रकार के विभिन्न गुट हुआ करते थे जैसे हरकारे पहलवान और पालकी वाले। पालकी वालों के सम्बन्ध में आईन में लिखा है, वे पैदल नौकरों का एक ऐसा वर्ग है जो भारतवर्ष में ही पाये जाते हैं। वे अपने कन्धों पर भारी बोझ लेकर चलते तथा पर्वतों और घाटियों में होकर यात्रा करते हैं। अपनी पालकियों, सिंहासनों चौडोलों तथा डोलियों को लेकर ऐसी सावधानी से चलते हैं कि भीतर बैठे हुये व्यक्ति को दचकों से किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती। इनकी देश में बहुत संख्या है। किन्तु सबसे अच्छे दक्षिण तथा बंगाल के होते हैं मुख्य पालकी वाले को १९२ से १८४ दाम तक वेतन मिलता है। सामान्य लोगों को १९ से १४० दाम तक।'

सेना सम्बन्धी नियम—जब श्रीमान् सम्राट ने सेना के पद निश्चित कर दिये और घोड़ों के सम्बन्ध में जाँच कर ली तो उसने आज्ञा दी कि ईमानदार बितिकचियों को चाहिये कि वे सैनिकों की सूची तैयार कर लें और उनमें उनके विशिष्ट चिह्न लिख लें। उनकी आयु, पिता का नाम, निवास-स्थान तथा नस्ल भी लिखने की आज्ञा दी

गई। एक दरोगा भी नियुक्त किया गया जिसका काम यह देखना था कि लोगों को आवश्यकता से अधिक न रोका जाय। उन्हें बिना घूस लिए तथा बिना पारिश्रमिक माँगे अपने कर्तव्यों का पालन करना पडता था।......

'श्रीमान् सम्राट ने पाँच अनुभवी पदाधिकारी भी नियुक्त किये हैं, जिनका काम सैनिकों की दशा, उनके घोड़ों तथा वेतन के सम्बन्ध में देख-रेख करना है।'

घोड़ों को दागने के लिये विभिन्न प्रकार के चिह्नों का प्रयोग किया जाता था। 'अन्त में अङ्कों का प्रयोग प्रारम्भ किया गया। ठगीपूर्ण कार्यवाहियों को रोकने का यह सबसे अच्छा उपाय है। लोहे के अङ्क बना लिये जाते हैं जिससे किसी प्रकार की अस्पष्टता नहीं आ पाती। इन नये चिह्नों को दायें पुट्ठे पर लगा दिया जाता है।...घोड़ों को दागने का काम बहुत ही सावधानी से किया जाता है, इसलिये दगे हुए घोड़ों के सम्बन्ध में तत्काल ही सच्ची सूचना मिल जाती थी।....जिन घोड़ों की सूची में आकृति लिखी रहती थी उन्हें किराये पर उठाने तथा उनके स्थान पर बूढे घोड़ों को लाकर खडे कर देने की भी प्रथा थी। किन्तु चिह्न के कारण इस प्रकार की ठगी तुरन्त ही पकड जाती और इसलिये सिपाहियों ने ईमानदारी का व्यवहार करना सीख लिया।...

'शाही सेना बारह भागों में बाँट दी गई है और प्रत्येक भाग महीने में एक बार पहरा देता है। इससे सभी सैनिकों को चाहे वे दूर रहते हों अथवा निकट, दरबार में उपस्थित होने और सम्राट की उदारता से लाभ उठाने का अवसर मिल जाता है किन्तु जो सीमाओं पर नियत रहते हैं अथवा जिन्हें किसी महत्वपूर्ण काम पर भेज दिया जाता है वे अपनी ठीक दशा की केवल सूचना भेज देते हैं और श्रीमान् सम्राट की विशेष आज्ञाओं का पालन करते रहते हैं। प्रत्येक सूर्य-मास के पहले दिन सैनिकों को सम्राट का अभिवादन करने के लिये खडा किया जाता है,......और तब सम्राट उन्हें अपने अनुग्रह के चिह्नों से विभूषित करता है।

'शाही सेना के अन्य बारह भाग भी किये गए हैं और उनमें से प्रत्येक को बारी-बारी से दरबार में आने तथा एक वर्ष तक सम्राट की निजी सेवा में रहने के लिये चुना जाता है।

'श्रीमान् सम्राट सामान्यतया स्वयम् सैनिकों का निरीक्षण करता है और सैनिकों की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति को नोट करता है....यदि किन्हीं अधिक महत्वपूर्ण कार्यों के कारण सम्राट स्वयम् उपस्थिति नहीं हो सकता तो राजकुमारों में से किसी एक को भेज दिया जाता है। सैनिकों को कर्तव्य-पालन की शिक्षा देने तथा सामान्य सुयोग्यता बनाये रखने की सम्राट की इच्छा रहती है और इस काम में उसकी बडी रुचि है। इसलिये वह उनकी ओर बडा ध्यान देता है। यदि कोई बिना उचित कारण के अथवा प्रमाद की वजह से अनुपस्थित रहता है तो उसे एक सप्ताह का वेतन जुर्माने के रूप में देना पडता है, अथवा उसे उचित डाँट फटकार मिलती है।'

शिक्षा।।८—'शाही परिवार की सुव्यवस्था, सेना की सुयोग्यता तथा देश की

समृद्धि का इस विभाग को दशा से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है इसलिये सम्राट इसकी ओर हर प्रकार का ध्यान देता है और इसके काम-काज की देख भाल तथा जाँच करता है। वह अनेक प्रकार की नई प्रणालियों को प्रचलित करता तथा उनकी व्यावहारिकता का अध्ययन करता है।

'राज्य के विशाल भवन की रक्षा के लिये तोपें आश्चर्यजनक ताले हैं; और विजय द्वार को खोलने के लिये उपयुक्त कुन्जियाँ। संसार में तुर्कों को छोड़कर शायद ऐसा कोई और देश नहीं है जहाँ सरकार को सुरक्षा के लिये यहाँ से अधिक तोपों के साधन हों। आजकल इतनी बड़ी-बड़ी तोपें बनाई जाती हैं कि उनके गोले बारह-बारह मन के होते हैं एक तोप को ढोने के लिये अनेक हाथियों तथा एक हजार पशुओं की आवश्यकता पड़ती है। इस शाखा की सुयोग्यता के सम्बन्ध में सावधानी बरतने को सम्राट राजा का एक महान कर्तव्य समझता है और इसमें अपना बहुत समय लगाता है। उसका उचित ढङ्ग से संचालन करने के लिये दरोगा तथा चतुर लिपिकार नियुक्त किये जाते हैं।'

'शाही तोपें सावधानी से साम्राज्य के विभिन्न भागों में बाँट दी जाती हैं, और प्रत्येक सूबे में उसी प्रकार की तोपें रहती हैं जैसी कि उसके लिये उपयुक्त होती हैं किलों का घेरा डालने तथा सामुद्रिक युद्धों के लिये सम्राट अलग से तोपें बनवाता है जो विजय अभियानों में उसके साथ ले जायी जाती हैं।

'इस विभाग में अमार तथा अहदी कार्यालय का काम करने के लिये रक्खे जाते हैं। एक पैदल का वेतन १०० से ४० दाम तक होता है।

'बन्दूकें अब इतनी मजबूत बनती हैं कि सिरे तक भर कर दागने पर भी नहीं फटतीं। पहले उन्हें एक चौथाई से अधिक नहीं भरा जा सकता था। इसके अतिरिक्त उनके बनाने की प्रणाली यह थी कि हथौड़े और निहाई से लोहे के टुकड़ों का चपटा करके उनके किनारों को जोड़ दिया जाता था। कुछ (कारीगर) दूरदर्शिता से उन्हें एक ओर खुला छोड़ देते थे किन्तु फिर भी अनेक दुर्घटनायें हुआ करती थीं। श्रीमान सम्राट ने (बन्दूकें) बनाने की अति उत्तम प्रणाली का आविष्कार कर लिया है। लोहे के टुकड़े को चपटा कर लिया जाता है और उसे पोंगी के रूप में लपेट लिया जाता है जिससे हर मोड़ में परत पहले से अधिक लम्बा हो जाता है। फिर परतों को किनारे मिलाकर नहीं बल्कि एक को दूसरे के ऊपर रखकर जोड़ दिया जाता है और फिर उन्हें आग में धीरे-धीरे गरम कर दिया जाता है। वे (कारीगर) लोहे के बेलनाकार टुकड़ों को लेकर गरम करके उन्हें लोहे की कीलों से जोड़ देते हैं। इस प्रकार की तीन-चार टुकड़ों से एक बन्दूक बन जाती है और छोटी दो में ही। बन्दूक बहुधा दो-दो गज की बनाई जाती हैं छोटे प्रकार की सवा गज लम्बी होती हैं। ... गोलियाँ (बन्दूकों की) ऐसी बनती हैं कि वे तलवारों को काट देती हैं— ... 'प्रत्येक बन्दूक पर कई चीजें अङ्कित रहती हैं जैसे कच्चे तथा बने हुये लोहे का भार जिस स्थान से लोहा आता है उसका नाम; कारीगर का नाम बन्दूक बनाने का स्थान; तिथि; उसकी संख्या।'

'पहले बन्दूकों को साफ करने के लिये एक बलिष्ठ आदमी को लोहे के औजारों से

बहुत देर तक कार्य करना पड़ता था। सम्राट ने अपने व्यावहारिक ज्ञान से एक ऐसे पहिये का आविष्कार कर लिया है जिसको घुमाने से बहुत थोड़े समय में सोलह नलियाँ साफ हो जाती हैं। पहिये को एक गाय द्वारा चलाया जाता है।

जहाजी-बेड़ा—'सेना के सफलतापूर्वक कार्य करने तथा सामान्यतया देश की भलाई के लिये इस विभाग का बड़ा मूल्य है, इससे बहुमूल्य वस्तुओं को प्राप्त करने के साधन उपलब्ध होते हैं, कृषि का सामान मिलता है तथा सम्राट के परिवार के लिये आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। शक्ति के साधनों को समुन्नत करने के लिये सम्राट चार चीजों का ध्यान रखता है और इस विभाग की सुयोग्यता को बढ़ाना वह उतना ही पवित्र समझता है जितनी कि ईश्वर की पूजा।

'पहला, मजबूत नावों को तैयार करवाना जो हथियारों को ढो सकें। कुछ इस ढङ्ग से बनाई जाती हैं कि घेरों में तथा शक्तिशाली दुर्गों की विजय में काम दे सकें। अनुभवी पदाधिकारी जहाजों को उतना ही महत्त्व देते हैं जितना कि घोड़ों और ऊँटों को, और उनका विजय के श्रेष्ठ साधन के रूप में प्रयोग करते हैं। तुर्की, जंजीबार और यूरुप में भी विशेषकर ऐसा ही होता है। सम्राट के साम्राज्य के सभी भागों में बड़ी सख्या में जहाज हैं; किन्तु बंगाल, काश्मीर और थट्टा में समस्त वाणिज्य उन्हीं पर निर्भर रहता है।... पश्चिम, पूरब तथा दक्षिण में समुद्र के किनारे बड़े बड़े जहाज बनाये जाते जो यात्राओं के लिये बहुत उपयुक्त होते हैं। बन्दरगाह भी अत्युत्तम दशा में हैं और मल्लाहों का अनुभव बहुत बढ़ गया है। इलाहाबाद तथा लाहौर में भी बड़े जहाज बनते हैं और वहाँ से समुद्र तट को भेज दिये जाते हैं।

'दूसरा, ऐसे अनुभवी मल्लाहों को नियुक्त करना जो ज्वार-भाटाओं, समुद्र की गहराई, विभिन्न हवाओं के चलने के समय तथा लाभों और हानियों से भली भाँति परिचित हैं। उन्हें किनारों तथा उथले स्थानों का भी ज्ञान होना चाहिये। इसके अतिरिक्त मल्लाह को स्वस्थ, बलिष्ठ, अच्छा तैराक, दयालु हृदय, परिश्रमशील, थकान सहने योग्य, धीरजवान होना चाहिये, वास्तव में उसमें सभी अच्छे गुणों का होना आवश्यक है। ऐसे चरित्र के आदमी बड़ी कठिनाई से ही मिल सकते हैं। मलीबार (मालाबार) के मल्लाह सबसे अच्छे होते थे।

'तीसरा, नदियों की देख-भाल करने के लिये एक अनुभवी व्यक्ति नियुक्त कर दिया गया है। ...चूँकि उसे अनुभव होता है इसलिये वह घाटों के सम्बन्ध में प्रत्येक कठिनाई को दूर करता है और इस बात की सावधानी रखता है कि ऐसे स्थानों में अधिक भीड़ जमा न हो पाय, वे अधिक सकीर्ण, ऊँचे-नीचे और कीचड़ से भरे हुये न हों। एक नाव में कितने यात्री बैठ सकते हैं, उसका भी वही निर्णय करता है। यह देखना भी उसका कर्त्तव्य है कि यात्रियों के लिये अधिक विलम्ब न हो और गरीब लोगों को मुफ्त पार उतार दिया जाय। उसे चाहिये कि लोगों को तैर कर पार न जाने दे और न माल को ही घाटों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर जमा होने दे। उसे यह भी चाहिये कि रात में लोगों को नदी पार न करने दे, जब तक कि बहुत आवश्यकता न हो।

चौथा, शुल्कों में छूट। अपनी दयालुता के कारण श्रीमान् सम्राट ने अनेकों शुल्क हटा दिये हैं, यद्यपि उनसे जो आय होती थी वह समस्त देश के राजस्व के बराबर थी। उसकी केवल यही इच्छा है कि नाव वालों को मजदूरी मिलती रहे। राज्य की ओर से बन्दरगाहों पर शुल्क कर वसूल किये जाते हैं किन्तु वे २½ प्रतिशत से कभी अधिक नहीं होते हैं। पहले जो कर लिये जाते थे उनकी तुलना में ये इतने कम हैं कि व्यापारी समझते हैं कि बन्दरगाहों के कर पूर्णतया हट गये हैं।

नदियों पर निम्न कर वसूल किये जाते हैं—प्रत्येक नाव पर १०० मन की दर से एक रुपया प्रति कोस, शर्त यह है कि नाव तथा मल्लाह एक ही स्वामी के हों; किन्तु यदि नाव दूसरे आदमी कि होती है और नाव की प्रत्येक चीज़ उस आदमी की जिसने उसे किराये पर लिया है तो २½ कोस के लिये एक रुपया वसूल किया जाता है। घाटों पर हाथी को पार करने के लिये १० पैस देने पड़ते हैं लदी हुई गाड़ी के लिये ४ पैस; खाली के लिये २ पैस, लदे हुये ऊँट के लिये १ पैस; खाली ऊँटों, घोड़ों तथा चीज़ों समेत बैलों के लिये 1½ पैस; खाली बैलों के लिये ½ पैस। अन्य बोझा ढोने वाले जानवरों पर $\frac{1}{16}$ पैस कर लगता है इसमें वह कर भी सम्मिलित रहता है जो हाँकने वाले से लिया जाता है। बीस आदमियों को पार करने के लिये १ पैस देना पड़ता है; किन्तु बहुधा उन्हें निःशुल्क उतार दिया जाता है।'

'नियम यह है की जितना कर वसूल होता है उसका आधा अथवा एक तिहाई राज्य ले लेता है (शेष मल्लाहों को चला जाता है)।

इसलिये व्यापारियों के साथ अच्छा व्यवहार होता है और दूसरे देशों की वस्तुओं का भारी मात्रा में आयात होता है।'

अकबर की धन सम्पत्ति

यूरपीय लेखक डी लेट (१५९३–१६४९ ई०) लिखता है :—इस राजा की सम्पत्ति का अनुमान इन बातों से लगाया जा सकता है, पहला : उन राज्यों के आकार से जिन पर उसका अधिकार है (इन सबसे मिलकर जो साम्राज्य बना है वह ईरान के से बड़ा है और तुर्की साम्राज्य से यदि बड़ा नहीं तो उसके बराबर अवश्य है); दूसरा साम्राज्य में जिस किसी व्यक्ति के पास जो कुछ है वह राजा की उदारता के कारण ही है और उसके प्रसाद पर्यन्त ही उसका अधिकार रह सकता है और राजा स्वयं मरे हुये अमीरों की ही नहीं बल्कि साधारण लोगों की सम्पत्ति पर भी अधिकार कर लेता है और वे जो कुछ छोड़ जाते हैं उसमें से वह जो कुछ चाहता है ले लेता है; और तीसरा अपार उपहारों से, जो प्रतिदिन उसे उसकी प्रजा तथा विदेशी राजाओं द्वारा भेंट किये जाते हैं। यद्यपि डी लेट ने यह बात जहाँगीर के सम्बन्ध में लिखी थी किन्तु अकबर के विषय में भी यह उतनी ही सही है। वह आगे लिखता है कि इस समय जो राजा शासन कर रहा है (शाहजहाँ) उसके दादा अकबर की मृत्यु के समय उसके खजानों को सावधानी से गिन लिया

गया था और सोना, चाँदी, ताँबा······रत्न तथा सब प्रकार की पारिवारिक वस्तुओं को मिलाकर उनका मूल्य ३४ करोड़, ८२ लाख, तथा २६ हज़ार और ३८६ रुपया (३४,८२,२६,३८६¾ रु०) होता था।' ··· ··· ·········'

इस सम्पत्ति में सुन्दर चीनी बर्तन तथा ईरान, तुर्की, गुजरात और यूरुप के सुनहरी वस्त्र, बंगाल की मलमल और यूरुप, ईरान तथा तातार के ऊनी वस्त्र, तथा महान लेखकों द्वारा रचित सुन्दर पुस्तकें जिनकी अच्छी जिल्दें बँधी हुई थीं तथा जिनकी संख्या २४ हजार और मूल्य ६४,६३,७३१ रुपया था, सम्मिलित थीं।' इस कथन की आलोचना करते हुये प्रोफेसर बनर्जी लिखते हैं, "अकबर के कोष की सूची डी लेट का एक अद्भुत योगदान है। इसका मण्डेल स्लो (१६३८ ई०) और मैनरिक (१६४६ ई०) के परवर्ती लेखों से मेल खाता है।···—सब का योग ४० करोड़ होता है। रुपये का क्रय-मूल्य १६१४ की तुलना में छः गुना था। दूसरे शब्दों में कुल योग २४ करोड़ पौण्ड होता है। हैनरी सप्तम (जिसकी मृत्यु १६०६ में हुई) १८,००,००० पौण्ड सोने-चाँदी के रूप में छोड़ गया था और उसे बहुत धनी माना जाता है। हैनरी अष्टम ने मुद्रा का मूल्य गिरा दिया था और ऐलिजाबैलथ ४,००,००० पौण्ड का ऋण छोड़कर मरी थी······।'

सामाजिक तथा धार्मिक सुधार

यद्यपि अकबर में व्यावहारिक प्रतिभा बहुत थी, फिर भी वह आदर्शवादी तथा स्वप्नों के जगत में रहने वाला था। विजयों तथा प्रशासन संगठन के अतिरिक्त जिनका कि हम ऊपर वर्णन कर आये हैं, उसने अबुल-फजल के शब्दों में 'लोगों के आचरण को सुधारने का भी प्रयत्न किया।' इस प्रकार उसने एक ओर बाल-हत्या, सती, अतिशय मद्यपान तथा गो-वध आदि का निषेध किया और दूसरी ओर विधवा विवाह को प्रोत्साहन दिया, घृणित तीर्थ-यात्री कर तथा जिज़या हटाये और प्रजा के दो मुख्य सम्प्रदायों—हिन्दू तथा मुसलमानों—के पारस्परिक भेद-भावों को दूर करने तथा उनमें एकता स्थापित करने के लिये अन्तर-साम्प्रदायिक विवाहों का उदाहरण रक्खा, उच्च उपाधियों तथा पदों को देने में जाति तथा धर्म का भेद-भाव नहीं रक्खा और इन सबसे बढ़कर एक नये धर्म की स्थापना की जिसको वह नये जगत का अग्रदूत बनाना चाहता था।

अकबर का यह विचार उचित ही था कि 'जिस साम्राज्य का शासक एक व्यक्ति है उसके लिये यह बुरी चीज है कि प्रजा में फूट हो तथा एक दूसरे में कलह हो। ·· ·· इसलिये हमें उनको एक सूत्र में बाँधना चाहिये, किन्तु ऐसे ढङ्ग से कि वे एक भी हो जाँय और एक धर्म में जो अच्छी चीजें हैं उनका लोप न हो तथा दूसरे में जो अच्छी हैं वे भी बनी रहें। इस प्रकार ईश्वर के प्रति सम्मान प्रकट होगा। विभिन्न जातियों के लोगों को शान्ति मिलेगी और साम्राज्य सुरक्षित रहेगा।'

अकबर के इस ज्वलन्त आदर्शवाद के सम्बन्ध में लोगों की गलत धारणायें हैं,

और उसका गलत अर्थ लगाया गया है। मार्टोनी ने इसे अकबर की 'कुराज तथा धूर्ततापूर्ण नीति'-समझा, यहाँ तक कि स्मिथ ने भी लिखा है कि 'सन् १५८२ के प्रारम्भ में अकबर को एक धार्मिक उन्माद न आ घेरा था।'' वह आगे लिखता है, "दीन इलाही अकबर की मूर्खता का स्मारक था न कि उसकी बुद्धिमत्ता का। यह संपूर्ण योजना उपहासास्पद अहंकार का परिणाम और अनियंत्रित स्वेच्छाचारिता की राक्षसी उत्पत्ति थी।' इस असंगत आलोचना को ध्यान में रखते हुये आवश्यक है कि अकबर के धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों की विस्तार से परीक्षा की जाय।

दीन इलाही—अथवा धर्म जो दीने इलाही कहलाता था अकबर की मूर्खता का स्मारक, न होकर सम्राट की राष्ट्रीय आदर्शवादिता की ज्वलन्त अभिव्यक्ति था। कम से कम इस विषय में, केवल जैसुइटों के कथनों से अकबर के सम्बन्ध में निर्णय करना उचित नहीं है। इन यूरपीय धर्मप्रचारकों की आशा थी कि हम सम्राट को ईसाई बना लेंगे, किन्तु अन्त में उन्हें निराश होना पड़ा। इसलिये उनके लिये ऐसी बातों में विश्वास कर लेना स्वाभाविक था जिनसे अकबर की अपकीर्ति होती थी। जैसुइटों ने जो कुछ कहा है उसकी पुष्टि में बदायूनी को उद्धृत करना और भी अधिक अनुचित है, क्योंकि इसका अर्थ होगा एक के स्थान पर दो विरोधी साक्षियों को प्रस्तुत करना। ईमानदार न्यायाधीश का कर्तव्य है कि दण्ड देने से पहले कम से कम इस बात का विश्वास कर ले कि साक्षी स्वयम् सन्देहास्पद नहीं है। इसलिये हम दीने-इलाही के सम्बन्ध में अबुल फजल और बदायूनी दो प्रतिद्वन्द्वी साक्षियों के कथनों को उद्धृत करेंगे और उन दोनों के साक्ष्य के आधार पर सत्य की खोज करने का प्रयत्न करेंगे।

अबुल फज़ल लिखता है, 'जब कभी सौभाग्य से ऐसा समय आ जाता है कि एक राष्ट्र सत्य को समझना तथा उसकी पूजा करना सीख लेता है तो प्रजा के लिये स्वाभाविक है कि वह अपने राजा का भरोसा करे क्योंकि वह उच्च पद पर आसीन है, और इस बात की आशा करे कि वह हमारा आध्यात्मिक नेतृत्व भी करेगा। "इसलिये राजा कभी-कभी अनेक चीज़ों के समूह में समन्वय के तत्व का दर्शन करता है और कभी कभी इसके विपरीत, जो ऊपर से एक है उसमें अनेकता देखता है क्योंकि वह उच्च सिंहासन पर विराजमान होता है और इसलिये सुख और दुःख से परे रहता है। इस युग के सम्राट (अकबर) के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त चरितार्थ होता है। इस समय वह राष्ट्र का आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक है और इस कर्तव्य के पालन को ईश्वर की प्रसन्न करने का साधन मानता है।

यह उस युग का दृष्टि कोण था; और हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि अन्य देशों की भाँति भारतवर्ष में भी लोग प्रजा राजा तथा प्रजा की कहावत में विश्वास करते थे। इंगलैंड के लोग आशा करते थे कि ट्यूडर राजा राष्ट्र की रक्षा करेंगे और ट्यूडरों का विश्वास था कि प्रजा का आचरण उचित होगा।

अकबर के समय में कम से कम धर्म के नाम पर लोगों को जलाया नहीं गया, जैसा कि इंगलैण्ड में मे हुआ ; और न राजा ने राष्ट्र का धर्म केवल इसलिये बदलना चाहा कि वह अपनी बूढ़ी स्त्री को छोड़कर एक दरबारी लड़की से शादी करना चाहता था। यदि हम एक राष्ट्रीय धर्म की आवश्यकता को स्वीकार करलें तो फिर एक नये धार्मिक कर्मकाण्ड की कल्पना उपहासास्पद नहीं रहती। अकबर ने अपने को राज्य का लौकिक ही नहीं बल्कि अध्यात्मिक प्रमुख भी घोषित किया, किन्तु उसने अपनी जनता पर प्रभुत्व अथवा एकरूपता का कोई नियम नहीं लादा (जैसा कि इंगलैण्ड में हैनरी अष्टम ने किया था)।*

अबुल फजल लिखता है, 'अपने हृदय की उदारता के कारण वह अपनी पूर्णता के विषय में नहीं सोचता, यद्यपि वह विश्व का आभूषण है।' ''यद्यपि सम्राट नये लोगों को प्रविष्ट करने का इच्छुक नहीं रहता और इस विषय में कठोरता से काम लेता है फिर भी हर वर्ग के हजारों लोग हैं जिन्होंने नया धर्म स्वीकार कर लिया है और उसे ईश्वर की दया प्राप्त करने का एक साधन समझते हैं।''' ''

'दीन-इलाही के सदस्य जब एक दूसरे से मिलते हैं तो वे इस रस्म का पालन करते हैं ; एक कहता है, "अल्ला हो अकबर", और दुसरा उत्तर देता है, "जल्लो जलालहू"। सम्राट ने अभिवादन करने का यह नियम इसलिये जारी किया है कि लोगों को अपने अस्तित्व के मूल कारण का स्मरण रहे और ईश्वर का ध्यान उनके मस्तिष्क में सदैव ताजा तथा जीवित रहे और वे उसके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करते रहें।

'सम्राट ने यह भी आदेश निकाला है कि मरे हुये व्यक्ति की स्मृति में भोज देने (श्राद्ध करने) की अपेक्षा प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन काल में ही श्राद्ध कर दे और इस प्रकार अपनी अन्तिम यात्रा के लिये भोजन सामग्री एकत्र कर ले।

'प्रत्येक सदस्य को अपने जन्म-दिन के अवसर पर एक दावत देनी पड़ती है और उत्तम भोजन का प्रबन्ध करना पड़ता है। उसे भिक्षा भी बाँटनी पड़ती है जिससे वह अपनी लम्बी यात्रा के लिये भोजन सामग्री जुटा सके।

'सम्राट ने यह भी आज्ञा निकाली है कि सदस्यों को मांस नहीं खाना चाहिये। वे दूसरों को मांस खाने की आज्ञा दे सकते हैं किन्तु स्वयम् उसको न छुयें, किन्तु अपने जन्म के महीने में तो उन्हें मांस के पास भी नहीं जाना चाहिये। और न सदस्यों को यही आज्ञा है कि जिस किसी जीव को उन्होंने स्वयम् मारा है उसके निकट जायें अथवा उसमें से खायें। न उन्हें उन वर्तनों का ही प्रयोग करने की आज्ञा है जिन्हें कसाई, मछुये तथा चिड़ीमार प्रयोग करते हैं।

बदायूनी की आलोचना—बदायूनी अकबर के नये प्रयोगों का कट्टर आलोचक था। वह पूर्ण रूप से अबुल फज़ल का प्रतिवाद था। वह समझता था

* हैनरी अष्टम ने जनता पर अपना धर्म लादने के लिये एक्ट ऑफ सुप्रीमेसी तथा एक्ट ऑफ यूनिफौर्मिटी नाम के दो नियम बनाये थे।

कि अकबर ने इस्लाम को पूर्णतया त्याग दिया है। ब्लोचमन का कथन है, "इसके ऐतिहासिक ग्रन्थ मुन्तखबुत तवारीख का बहुत मूल्य है क्योंकि उसे अकबर के एक शत्रु ने लिखा है, उसमें अकबर के चरित्र के गौरवपूर्ण पहलू का तथा उसकी दुर्बलताओं का स्पष्ट वर्णन है जितना कि 'अकबरनामा' अथवा 'तबकात अकबरी' और 'मआसिरे रहीमी' में भी नहीं मिलता। सम्राट के धार्मिक विचारों को जानने के लिये इसका विशेष महत्व है और उसमें अकबर के समय के प्रसिद्ध व्यक्तियों तथा कवियों के रोचक चरित्र भी दिये हुये हैं।"

बदायूनी लिखता है "इस वर्ष (९८७ हि०) सम्राट को राज्य तथा धर्म दोनों की शक्तियों को अपने हाथों में ग्रहण करने की इच्छा हुई क्योंकि वह किसी का भी अधीन रहना सहन नहीं कर सकता था। चूंकि उसने सुन रक्खा था कि पैगम्बर, उनके वैध उत्तराधिकारियों और कुछ सबसे अधिक शक्तिशाली राजाओं ने जैसे अमीर तिमूर, मिर्जा उलुग बेग तथा अन्य अनेक ने स्वयम् खुतबा पढ़ा था इसलिये उसने भी स्वयम् ऐसा करने का संकल्प किया। ऊपरी तौर से तो वह उनका अनुकरण करना चाहता था किन्तु वास्तव में वह अपने युग के मुजतहिद के रूप में जनता के सामने प्रकट होने का इच्छुक था। तदनुसार शुक्र, प्रथम जुमादल अव्वल ९८७ को फतहपुर की जामी मसजिद में, जिसका सम्राट ने अपने महल के निकट निर्माण कराया था उसने (सम्राट) खुतबा पढ़ना आरम्भ किया। उसका भावार्थ इस प्रकार है —

"ईश्वर ने मुझे साम्राज्य दिया है
और एक बुद्धिमत्तापूर्ण हृदय तथा शक्तिशाली भुजायें,
धर्म तथा न्याय में उसने मेरा पथ प्रदर्शन किया है,
और उसने मेरे विचारों से न्याय को छोड़कर अन्य सभी चीजें हटा दी हैं,
उसकी प्रशंसा करना मनुष्य की बुद्धि के परे है,
उसकी शक्ति महान् है अल्लाहो अकबर।"

"इसी वर्ष (९८७ हि०) एक लेख्य निकला जिस पर मख्दूम उल मुल्क, शेख अब्दुल नबी, "सामाज्य के सद्रो काज़ी काज़ी, इस युग के गम्भीरतम लेखक शेख मुबारक और बदख्शाँ के गाज़ी खाँ जो विभिन्न विद्याओं में अद्वितीय था, के हस्ताक्षर तथा मुहर लगी हुई थीं।"

लेख्य— "चूँकि अब हिन्दुस्तान सुरक्षा तथा शान्ति का केन्द्र और न्याय तथा दयालुता की भूमि बन गया है, इसलिये बहुत से लोग विशेषकर विद्वान तथा विधि विद् यहाँ आ गये हैं और इस देश को अपना घर बना लिया है। अब हम लोगों ने जो प्रमुख उलेमा हैं, जो केवल विधि के अनेक विभागों में और विधि विधान के सिद्धान्तों में ही दक्ष नहीं हैं और बुद्धि तथा शासन पर आधारित आज्ञाओं से ही परिचित नहीं हैं बल्कि अपनी धार्मिकता तथा सद्विचारों के लिये भी प्रसिद्ध हैं, पहले कुरान की इस आयत पर विचार कर लिया है —

"ईश्वर की आज्ञा का पालन करो और पैगम्बर की आज्ञा का पालन करो और अपने में से उन लोगों की आज्ञा मानो जिनके हाथों में सत्ता है' और दूसरे, हमने इस

परम्परा का अर्थ समझ लिया है : 'वास्तव में इमामे आदिल ही वह व्यक्ति है जो ईश्वर
को न्याय के दिन सबसे अधिक प्रिय होता है , जो अमीर की आज्ञा का पालन करता है
वह मेरी आज्ञा का पालन करता है , और जो उसके विरुद्ध विद्रोह करता है वह मेरे
विरुद्ध विद्रोह करता है , और तीसरे, हमने उन प्रमाणों का अर्थ समझ लिया है जो बुद्धि
तथा साक्ष्य पर आधारित है , और हम इस बात से सहमत हैं कि सुल्ताने आदिल
(न्यायप्रिय शासक) का पद ईश्वर की दृष्टि में मुजताहिद के पद से ऊँचा है । आगे
हम घोषणा करते हैं कि इस्लाम का राजा, मुसलमानों का अमीर, संसार में ईश्वर की
छाया, अबुल फतह जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर पादशाह गाजी, जिसके राज्य को ईश्वर
सदैव कायम रक्खे, सबसे अधिक न्यायप्रिय, बुद्धिमान तथा ईश्वर से डरने वाला शासक
है । इसलिये भविष्य में यदि कोई ऐसा धार्मिक प्रश्न उठ खड़ा हो जिसके सम्बन्ध में
मुजताहिदों के मत भिन्न हों और सम्राट अपनी पैनी सूझ-बूझ तथा स्वच्छ बुद्धि से राष्ट्र
की भलाई के लिये तथा राजनैतिक दृष्टि से उचित समझकर उस सम्बन्ध में विभिन्न
विरोधी मतों में से किसी एक को स्वीकार कर ले और उस सम्बन्ध में आज्ञप्ति जारी कर दे
तो हम इस बात की अनुमति देते हैं कि इस प्रकार की आज्ञप्ति हम पर तथा सारे राष्ट्र
पर लागू होगी ।

"आगे हम घोषणा करते हैं कि यदि सम्राट कोई नयी आज्ञा जारी करना उचित
समझे तो वह भी हमें तथा राष्ट्र को मान्य होगी, किन्तु सदैव शर्त यह रहेगी कि ऐसी
आज्ञा कुरान की किसी आज्ञा के अनुकूल ही न हो बल्कि राष्ट्र के लिये वास्तव में लाभ-
कारी भी हो , और आगे हम यह भी घोषणा करते हैं कि जो प्रजाजन सम्राट की इस प्रकार
जारी की गई आज्ञाओं का विरोध करेंगे वे परलोक में नरक के अधिकारी बनेंगे और इस
जीवन में धर्म तथा सम्पत्ति से वंचित होने के ।"

"यह लेख ईश्वर के यश तथा इस्लाम के प्रचार के लिये सद्विचारों से लिखा
गया है और इस पर हम प्रमुख उलेमाओं तथा विधि-विज्ञों के हस्ताक्षर हैं , ९८७ हिज्री
के रजब महीने में ।"

इस पर आलोचना करते हुये बदायूनी लिखता है, 'जैसे ही सम्राट को यह वैध-पत्र
प्राप्त होगया वैसे ही उसके लिये धार्मिक प्रश्नों का निर्णय करने का मार्ग खुल
गया ; इमाम की बुद्धि की श्रेष्ठता स्थापित हो गई और विरोध असम्भव हो गया । उन
चीजों के सम्बन्ध में जिनका हमारे शास्त्र में निषेध अथवा विधान है, सभी आज्ञायें रद
कर दी गई और इमाम की बुद्धि की उच्चता ही कानून बन गई ।'

प्रयोग कर्ताओं के विरुद्ध बदायूनी के आरोप का मुख्य आधार यह था कि
उन्होंने इस्लामी ईश्वरीय-ज्ञान को त्याग दिया था और बुद्धिवाद को अपनाया
था । वह लिखता है, 'सम्राट कुरान की रचना के सम्बन्ध में लोगों की परीक्षा
लेता, ईश्वरीय ज्ञान में उनके विश्वास अथवा अविश्वास को जान लेता और
फिर पैगम्बर तथा इमामों से सम्बन्धित सभी चीजों के विषय में उनके मस्तिष्क में
सन्देह उत्पन्न कर देता । उसने स्पष्ट रूप से, जिनों, देवदूतों (फरिश्तों) तथा

अदृश्य जगत के अन्य जीवों के अस्तित्व को स्वीकार करने से इनकार किया और पैगम्बर तथा फकीरों के चमत्कारों में अविश्वास प्रकट किया ; उसने हमारे धर्म के साथियों के उत्तरोत्तर साक्ष्य का खण्डन किया था और क़ुरान की सत्यता के प्रमाणों को यहीं तक स्वीकार किया जहाँ तक कि उनका मनुष्य की बुद्धि से मेल खाता था।' अकबर ने साहसपूर्वक घोषणा की थी, "मनुष्य के बाहरी विश्वासों का तथा इस्लाम के केवल अक्षरों का हार्दिक श्रद्धा के बिना कोई महत्व नहीं है। —धर्म के शब्दों का जप करना, खतना करवाना अथवा राज-शक्ति के भय से ज़मीन पर सिजदा करना आदि का ईश्वर की दृष्टि में कोई महत्व नहीं है।"*

बदायूनी की दृष्टि में इस प्रकार के आचरण का अर्थ था धर्म से च्युत होना ; और यह एक अक्षम्य अपराध था। इस भय से वह तथा कट्टर मुसलमान धर्म से सम्बन्धित प्रत्येक बात की निन्दा करने लगे। उससे सम्बन्धित लोगों के लिये उनके पास शाप तथा गाली-गलौज के अतिरिक्त और कुछ न था। अशक्त किन्तु कट्टर मुसलमानों ने क्रोध दिखलाया और बड़बड़ाये, १५८१ ई० में उन्होंने विद्रोह का झण्डा भी खड़ा किया, किन्तु धीरे धीरे निरर्थक असन्तोष में उनका अन्त हो गया। 'मुन्तखब' के पृष्ठों में हमें उनकी भावनाओं की झलक मिलती है।

बेचारे शेख जिन्हें हिन्दू अर्थ सचिवों की दया पर छोड़ दिया गया था अपने निर्वासन में अपनी आध्यात्मिकता को भी भूल बैठे और निवास के लिये उनके पास चूहों के बिलों को छोड़कर और कोई स्थान न रह गया था।

इस वर्ष (९८८ हि०) कुछ नीच तथा कमीने लोगों ने, जो विद्वान बनते थे किन्तु जो वास्तव में मूर्ख थे, यह सिद्ध करने के लिये प्रमाण इकट्ठे कर लिये कि सम्राट साहिबे-ज़मा है और वह इस्लाम के बहत्तर सम्प्रदायों में विद्यमान मत-वैषम्य को दूर कर देगा। शिया भी इसी प्रकार की मूर्खतापूर्ण बातें करते थे। —इन सब चीज़ों ने सम्राट को पैगम्बर की प्रतिष्ठा का दावा करने के लिये और भी अधिक प्रोत्साहित किया, शायद पैगम्बर से भी बढ़कर प्रतिष्ठा का।

'इसी समय सम्राट के प्रति भक्ति के चार अंश निर्धारित किये गये। चार अंश ये थे सम्राट के लिये सम्पत्ति, जीवन, सम्मान तथा धर्म को त्यागने के लिये तत्पर रहना। जो इन चार चीज़ों को त्याग देता उसमें भक्ति के चार अंश विद्यमान रहते ; और जो इन चार में से एक चीज़ त्यागता उसमें एक अंश। अब सभी दरबारियों ने अपना नाम सिंहासन के वफादार शिष्यों में लिखवा लिया।'

वास्तव में यहाँ पर बदायूनी ने हँसी उड़ाना आरम्भ कर दिया है। निस्सन्देह वह स्वयं उन 'सच्चे दरबारियों' में से एक न था जिन्होंने सम्राट के लिये अपनी 'सम्पत्ति' जीवन सम्मान तथा धर्म अर्पण कर दिया था, और फिर भी वह अपने जीवन के शेष पन्द्रह वर्ष (९८९ [illegible] हि०) अकबर के दरबार में बना रहा।

* ईलियट तथा डाउसन भाग ५, पृष्ठ ९०-९१।

उसने स्वयं केवल सोलह व्यक्तियों का उल्लेख किया है जिन्होंने दीन-इलाही को अङ्गीकार कर लिया था। अबुल फजल ने उनके अतिरिक्त दो नाम और दिये हैं। ब्लोचमन का कहना है, "बीरबल को छोड़कर वे सब मुसलमान हैं, किन्तु बदायूनी के ही कथन से स्पष्ट है कि जिन्होंने इसे ग्रहण किया उनकी संख्या इससे अधिक रही होगी।" बदायूनी ने स्वयं लिखा है कि राजा भगवानदास तथा मानसिंह ने नये धर्म को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था; फिर भी उन पर अत्याचार नहीं किया गया और वे अपने उच्च पद तथा विशेषाधिकारों का उपभोग करते रहे।

बदायूनी को इससे और भी अधिक बुरा लगा होगा कि अकबर ने योग्य हिन्दुओं के प्रति अनुग्रह दिखाया (अथवा केवल न्याय किया?)। वह लिखता है कि 'जो लोग शिष्य हो गये उनका वास्तविक उद्देश्य पद प्राप्त करना था, और यद्यपि सम्राट ने उनके मस्तिष्क से यह विचार निकालने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु हिन्दुओं के प्रति उसने भिन्न व्यवहार किया, क्योंकि वे उसे पर्याप्त संख्या में न मिल सकते थे (?) और उनके बिना काम भी नहीं चल सकता, आधी सेना तथा आधी भूमि उनके अधिकार मे है। जितने बड़े-बड़े अमीर हिन्दुओं में हैं, उतने न तो हिन्दुस्तानियों में हैं और न मुगलों में। किन्तु यदि हिन्दुओं को छोड़कर अन्य लोग आते और शिष्य बनने के लिये कुछ भी त्याग करने को उद्यत होते, तो सम्राट उन्हें बुरा-भला कहता अथवा दण्ड देता (?) वह उनके उत्साह तथा सम्मान की चिन्ता नहीं करता था और न यही देखता था कि उनके विचार उससे मिलते थे अथवा नहीं।'

बदायूनी ने जो कुछ लिखा है उससे ही उसके कथन का खण्डन होता है, उसके मतानुसार केवल अकबर ही नहीं बल्कि वह प्रत्येक व्यक्ति जो सुन्नी सम्प्रदाय की कट्टरता से तनिक भी विचलित होता, धर्म भ्रष्ट था। इसलिये अकबर तथा अबुलफजल के सम्बन्ध में उसका गर्जन ध्यान देने योग्य है। वह धर्मान्ध था; इसलिये अकबर के 'सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य को सामने रखकर किये गये सुधारों' को देख कर वह बौखला उठा। हमें यहाँ केवल उन सुधारों की प्रकृति पर विचार करना है। अच्छा होगा कि उनके सम्बन्ध में हम स्वयं बदायूनी के वृत्तान्त का ही अनुसरण करें—

'अब (९९० हि०) सम्राट को विश्वास हो गया कि इस्लाम के न्यायपूर्ण शासन का सतयुग आरम्भ होने को है। इसलिये जो योजनायें उसने गुप्त रूप से तैयार करलीं थीं उन्हें जारी करने मे कोई बाधा नहीं रह गई थी। शेख तथा उलेमा जिन्हें 'उनकी हठ-धर्मी तथा अहंकार के कारण हटाना पड़ा था, जा चुके थे, और सम्राट इस्लाम के सिद्धान्तों तथा आदेशों को असत्य सिद्ध करने, राष्ट्र के धर्म का विनाश करने और मूर्खतापूर्ण नये नियमों को जारी करने के लिये स्वतन्त्र था।'

नये नियम—(१) पहला नियम था कि सिक्कों पर इलाही सम्वत अंकित किया

जाय, और एक हजार वर्ष का इतिहास लिखा जाय, किन्तु वह पैगम्बर की मृत्यु से आरम्भ हो।

(२) राजनैतिक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर अन्य असाधारण प्रयोग जारी किये और ऐसे आदेश निकाले गये जिन्हें देखकर लोगों की बुद्धि हैरान हो गई। राजाओं के प्रति सिजदा उचित ठहराया गया और उसको करने की आज्ञा दी गई; किन्तु सिजदा शब्द के स्थान पर जमीबोस शब्द का प्रयोग किया गया।

(३) 'मदिरा का प्रयोग करने की भी आज्ञा दे दी गई, लेकिन केवल शरीर को स्वस्थ रखने के लिये और हकीमों के कहने पर; किन्तु कहा गया कि उसके प्रयोग से किसी प्रकार की उद्दण्डता अथवा अभद्रता न होने पाये और अतिशय मद्यपान मद्यगोष्ठियों तथा हुड़दंग मचाने के लिये कठोर दण्ड निर्धारित किये गये। सब चीजों पर उचित नियन्त्रण रखने के लिये सम्राट ने महल के निकट एक शराब की दुकान खुलवा दी और भ्योढ़ीदार की स्त्री को उसको चलाने का भार सौंप दिया क्योंकि मद्य बेचनेवालों में वह सबसे अधिक पवित्र स्त्री थी। मदिरा का मूल्य निश्चित करने के लिये भी नियम जारी कर दिये गये, और कोई रोगी दुकान के लिपिकार के पास जाकर, अपने पिता और दादा का नाम भेज कर शराब मंगा सकता था।

(४) इसी प्रकार राज्य भर की वेश्याओं के (जो आकर राजधानी में एकत्र होगई थी और जिनकी संख्या इतनी अधिक थी कि उन्हें गिनना कठिन था) रहने के लिये एक अलग स्थान निश्चित कर दिया गया जो शैतानपुरा कहलाता था। उसके लिये एक दरोगा तथा एक लिपिकार भी नियुक्त किये गये जो उन लोगों के नाम रजिस्टर में लिखते जो उनके पास जाते अथवा उनमें से किसी को अपने घर लेजाना चाहते। लोग इस प्रकार का दुराचार कर सकते थे, शर्त केवल यह थी चुंगी वसूल करने वालों को इसकी सूचना होनी चाहिये थी।

(५) गो मांस का निषेध कर दिया गया और उसे छूना भी पाप माना गया। इसका कारण यह था कि सम्राट बाल्यावस्था से ही चापलूस हिन्दुओं की संगत में रहा था और इसलिये गाय को पवित्र मानना सीख गया था—क्योंकि उनका (हिन्दुओं का) मत है कि गाय के कारण ही संसार अब तक टिका हुआ है। इसके अतिरिक्त सम्राट पर रनिवास की अनेक हिन्दू राजकुमारियों का प्रभाव था और उन्होंने उस पर इतना प्रभुत्व पा लिया था कि उनके कहने से उसने गोमांस लहसुन और प्याज खाना तथा दाढ़ी रखना त्याग दिया, और अब तक वह इन चीजों से बचता है।

(६) 'उसने दरबारी समारोहों में हिन्दू परिपाटियों को समाविष्ट कर दिया—यद्यपि अपने विचित्र विचारों के अनुसार उनमें उसने रूपान्तर कर लिया था—और हिन्दुओं तथा उनकी जातियों को प्रसन्न करने और अपने पक्ष में रखने के लिये उनका अब भी पालन करता है वह उस प्रत्येक वस्तु से बचता है जिसे वे अपने स्वभाव के प्रतिकूल समझते हैं और दाढ़ी मुड़ाने को वह उनके प्रति मित्रता तथा स्नेह का सबसे बड़ा चिन्ह मानता है (!) इसलिये यह प्रथा बहुत प्रचलित हो गई है।"

(७) 'घण्टियों का बजना जैसा कि ईसाइयों में प्रचलित है, शूली का चित्र दिखाना ' ' तथा उनकी अन्य चीज़ों का जो बालकों के खिलौनों के सदृश्य थी प्रतिदिन प्रयोग होता था।

(८) 'चचेरी, ममेरी बहिनों तथा अन्य निकट सम्बन्धियों से विवाह करना निषिद्ध कर दिया गया, क्योंकि इस प्रकार के विवाह पारस्परिक प्रेम के लिये घातक होते हैं। लडकों को १६ तथा लडकियों को १४ वर्ष से पहले विवाह करने की आज्ञा नहीं रही, क्योंकि बालविवाह से उत्पन्न सन्तानें दुर्बल होती हैं।' ' किसी को एक से अधिक स्त्री रखने का अधिकार नहीं था केवल पहली स्त्री के बाँझ होने पर वह दूसरा विवाह कर सकता था, किन्तु और सब के लिये नियम था "एक पुरुष, एक स्त्री।" "यदि विधवाएँ चाहतीं तो उन्हें पुनर्विवाह का अधिकार था, यद्यपि यह प्रथा हिन्दू सिद्धान्तों के विरुद्ध था।

(९) 'जिस हिन्दू लडकी के पति की मृत्यु मिलन से पहले ही हो गई हो उसे न जलाया जाय। यदि कोई हिन्दू स्त्री अपने पति के साथ जलना चाहती हो तो उसे ऐसा करने से रोकने की लोगों को आज्ञा नहीं थी, किन्तु उसे जलने पर बाध्य करना भी मना था।

(१०) 'जो हिन्दू अल्पवयस्क थे और जो दबाव के कारण मुसलमान बन गये थे, उन्हें अपने पूर्वजों के धर्म में पुनः लौट जाने की आज्ञा दे दी गई। धर्म के कारण किसी भी व्यक्ति के जीवन मे हस्तक्षेप न किया जाय और प्रत्येक को अपनी इच्छानुसार धर्म परिवर्तन करने की आज्ञा होनी चाहिये। यदि कोई हिन्दू स्त्री मुसलमान से प्रेम करने लगे और अपना धर्म परिवर्तन करले तो उसे बलपूर्वक उससे अलग करके उसके परिवार के सुपुर्द कर दिया जाय। (इसी प्रकार हिन्दू से विवाह करने वाली मुसलमान स्त्री को)। यदि लोग गिरजाघर अथवा पूजागृह, मूर्तिमन्दिर अथवा अग्नि मन्दिर बनवाना चाहें तो उन्हें सताया न जाय।'

बदायूनी के अनुसार इस सब का अर्थ था नास्तिकता तथा धर्मद्रोह। आश्चर्य की बात यह है कि इतना होने पर भी विंसेन्ट स्मिथ बदायूनी को 'सबसे अधिक मूल्यवान' साक्षी मानते हैं। वह लिखते है, "बदायूनी के रोचक ग्रन्थ में अकबर की इतनी शत्रुतापूर्ण आलोचना थी कि उस सम्राट के जीवनकाल में उसे छिपा कर रक्खा गया और जहाँगीर के राज्यारोहण के बाद कहीं उसका प्रकाशन हो सका। पुस्तक एक कट्टर सुन्नी के दृष्टिकोण से लिखी गई है, इसलिये उसका सर्वाधिक मूल्य है, क्योंकि इससे अबुल फजल जैसे उदार विचारों के व्यक्ति द्वारा लिखी गई प्रशस्ति की समीक्षा करने में सहायता मिलती है। इससे अकबर के धार्मिक विचारों के विकास के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है जो अन्य फारसी इतिहासों में उपलब्ध नहीं है, किन्तु जो सामान्यतया जैसुइट लेखकों के साक्ष्य से मेल खाती है।"

इस असहिष्णुता' तथा 'कट्टर सुन्नी साक्षी' के साक्ष्य के आधार पर स्मिथ लिखते हैं, ' सहिष्णुता का सामान्य सिद्धान्त गैरइस्लामी धर्मों के सम्बन्ध में वास्तव में कार्यान्वित किया गया, किन्तु जहाँ तक इस्लाम धर्म तथा व्यवहार का सम्बन्ध था उसका पालन नहीं हुआ। अकबर ने अपने पूर्वजों तथा स्वयं अपने यौवन के धर्म के प्रति कट्टर असहिष्णुता दिखलाई और वास्तव में इस्लाम पर अत्याचार किये।''

अकबर के सुधारों का आधार

जिन सुधारों का हम ऊपर वर्णन कर आये हैं वे केवल किसी एक वर्ष का काम नहीं थे; उनका विभिन्न परिस्थितियों में शनैः शनैः विकास हुआ था। योरोप की भाँति भारत में भी अकबर का युग एक महान् आध्यात्मिक जागृति का युग था।

प्रोफेसर सिनहा लिखते हैं सोलहवीं शताब्दी विश्व के इतिहास में एक धार्मिक पुनरुत्थान की शताब्दी है। योरोप के धर्मसुधार की महान विचारधाराओं की तुलना भारत में नवजीवन की लहर से की जा सकती है। भारत में जागरण की एक लहर आई जिसने उसकी उन्नति की गति को तीव्र कर दिया और राष्ट्रीय जीवन को शक्ति प्रदान की। प्रेम तथा उदारता इस जागरण के मुख्य तत्व थे। प्रेम मानव को ईश्वर से मिलाता है और इसलिये बन्धु मानव से भी; और प्रेम से उत्पन्न उदारता ने जाति धर्म तथा वर्ण के भेद-भाव को मिटाकर मानव जीवन तथा विश्व बन्धुत्व की भावना को जो सभी धर्मों का सार है, प्रतिष्ठित किया। उसने हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों को गौरवपूर्ण आदर्शों से अनुप्राणित किया और कुछ समय के लिये वे अपने धर्मों की तुच्छ बातों को भूल गये। उसने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को एक नवयुग के उदय का सन्देश दिया, मुसलमानों के लिये प्रत्याशित महदी का जन्म तथा हिन्दुओं के लिये ईश्वर की अनन्य भक्ति का साक्षात्कार नवयुग के सूचक थे।

जिस युग में अकबर का जन्म हुआ वह तो शुभ था ही, साथ ही साथ उसका परिवार भी अत्यधिक धार्मिक था। बाबर तथा हुमायूँ दोनों की अपने धर्म में गम्भीर आस्था थी किन्तु धर्म के बाह्य रूपों को उन्होंने अधिक महत्व नहीं दिया। राजनैतिक आवश्यकताओं से उन्होंने अपना धर्म बदल लिया इससे यह बात स्पष्ट है। इस प्रकार अकबर का पालन पोषण अपने देश तथा परिवार के उदार विचारों के वातावरण में हुआ था। उसका अध्यापक अब्दुल लतीफ विद्वत्ता का भण्डार था और उसके जीवन को अनुप्राणित करनेवाला सिद्धान्त था 'सुलहे-कुल'।

स्मिथ ने स्वयं लिखा है ' अकबर को यौवनावस्था से ही मनुष्य तथा ईश्वर के बीच सम्बन्ध के रहस्य में तथा तत्सम्बन्धी सभी प्रश्नों में गम्भीर रुचि थी। वह कहा करता था, दार्शनिक वार्तालाप में मुझे इतना आनन्द आता है कि उसके कारण मैं अन्य सभी चीज़ों से मन हट जाता है और बलपूर्वक मैं अपने को उसके सुनने से रोकता हूँ जिससे कि

आवश्यक कर्तव्यों की अवहेलना न हो।' (आइन, जिल्द ३, पृष्ठ३८६) जब १५७५ के प्रारम्भ में वह अपनी राजधानी को लौट कर आया तो उसे इस बात की चेतना थी कि मैंने लगातार अनेक आश्चर्यजनक तथा निर्णायक सफलताएँ प्राप्त की हैं और अब संसार में (जिससे वह परिचित था) मेरा कोई महत्वशाली शत्रु नहीं रह गया है। कहा जाता है कि उन दिनों वह 'सम्पूर्ण रातें ईश्वर की प्रशंसा में बिता दिया करता था।' ... उसका हृदय ईश्वर के प्रति जो इच्छा देने वाला है, श्रद्धा से ओत-प्रोत था। अनेक दिन प्रातःकाल ऐसा होता कि वह अपने महल के निकट एक पुरानी इमारत के एक चौड़े पत्थर पर मस्तक नीचा करके बैठ जाता तथा ऊषा के प्रथम क्षणों का आनन्द लेता और अपनी पुरानी सफलताओं के लिये कृतज्ञता प्रकट करने के लिये ईश्वर की प्रार्थना तथा चिन्तन करता।"

१५६२ ई० में ही जब उसकी अवस्था केवल बीस वर्ष की थी उसने एक "अद्भुत आध्यात्मिक प्रकाश" का अनुभव किया था। उसने कहा, 'जब मेरा बीसवाँ वर्ष पूरा हो गया तो मैंने एक आत्मिक क्षोभ का अनुभव किया, और चूँकि मेरी अन्तिम यात्रा के लिये आध्यात्मिक सामग्री का अभाव था इसलिये मेरी आत्मा अतिशय दुःख से अभिभूत हो गई।' (आईन, जिल्द ३, पृष्ठ ३८६)

इस पर टिप्पणी करते हुए स्मिथ ने ठीक ही कहा है, "यह कहना असम्भव है कि इस धार्मिक खिन्नता का इससे पहले की सार्वजनिक घटनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं था। ... वह दायित्व के उस भारी बोझ का अनुभव कर रहा था जो उसके कन्धों पर आ पड़ा था और इस परिणाम पर पहुँच चुका था कि इसको वहन करने के लिये मुझे अपनी शक्ति तथा ईश्वर की सहायता पर निर्भर रहना है। इसके उपरान्त फिर उसने कभी किसी सलाहकार का नियन्त्रण स्वीकार नहीं किया, बल्कि अपना मार्ग, गलत अथवा सही, स्वयं निर्धारित किया। जिन वर्षों में वह गम्भीर विषयों को भूल कर ऊपर से खेल कूद में लगा रहता उस समय भी वास्तव में वह विचार किया करता था और अपनी नीति की रूप-रेखा तैयार कर रहा था। उसने युद्धबन्दियों को दास बनाने की प्रथा का अन्त किया, आम्बेर की राजकुमारी से विवाह किया और वित्त-व्यवस्था का पुनः संगठन करवाया, इन सबसे सिद्ध होता है कि उसका चिन्तन निष्फल नहीं हुआ था। किसी मंत्री में इन सुधारों को कार्यान्वित करने की न तो इच्छा ही हो सकती थी और न क्षमता।"

अकबर का दृष्टिकोण विस्तृत था और दिन पर दिन विकसित हो रहा था, उसी के अनुरूप उसने १५६३ में साम्राज्य भर में तीर्थ यात्रियों पर लगने वाले सभी कर हटा दिये और घोषणा की कि 'उन लोगों से कर वसूल करना जो सृष्टि-कर्ता की पूजा करने लिये एकत्र हुए हैं ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध है, चाहे उनकी पूजा के रूप को गलत ही क्यों न माना जाता हो।' दूसरे वर्ष १५६४ में उसने गैर-मुसलमानों पर लगने वाला जिज़या भी हटा दिया, यद्यपि इससे राजस्व की भारी हानि हुई।

अबुल फज़ल का प्रभाव—स्मिथ ने यह कह कर अकबर के साथ महान् न्याय किया है कि 'कुछ लोगों का विश्वास है कि अकबर की नीति पर अबुल फज़ल का अत्यधिक प्रभाव था। ध्यान देने की बात यह है कि अपने प्रसिद्ध सचिव से भेंट करने से दस वर्ष पहले ही उसने जिज़या हटा दिया था। तीर्थयात्रियों पर लगने वाले करों को वह उससे पहले ही दूर कर चुका था। उसकी नीति के मुख्य सिद्धान्त जिनका उद्देश्य हिन्दुओं तथा मुसलमानों के प्रति व्यवहार में भेद भाव को दूर करना था, उस समय ही निर्धारित हो चुके थे जब वह ऊपर से देखने में कट्टर तथा धर्मात्मा मुसलमान था; इस्लाम से उसका सम्बन्ध विच्छेद तो बहुत बाद में हुआ; यह घटना तो १५८२ की है जब कि उसके भाई के भारत का सिंहासन प्राप्त करने के प्रयत्न विफल हो चुके थे। जब हम इस बात का स्मरण करते हैं कि जिस समय अकबर ने अपने मतधर्मियों को मावनाओं तथा अपने पूर्वाधिकारियों की नीति के विरुद्ध तीर्थ यात्री कर तथा जिज़या हटाया उस समय उसकी अवस्था केवल इक्कीस अथवा बाईस वर्ष की थी तो हमें उस युवक की इच्छा शक्ति पर आश्चर्य होता है जो कुछ ही काल पूर्व खेल-कूद के अतिरिक्त और किसी बात की चिन्ता नहीं करता था।"

१५७५ ई० में अकबर ने इबादतखाना बनवाया जहाँ धार्मिक विषयों पर वाद विवाद हुआ करते थे। प्रारम्भ में केवल मुस्लिम शेख, सैयद उलेमा तथा अमीर ही उसका प्रयोग करते थे। किन्तु मुस्लिम उलेमा के पारस्परिक शुष्क विवादों से उसकी वास्तव में प्यासी आत्मा को सन्तोष नहीं हुआ। अकबर ने अपनी प्यास बुझाने के लिये अन्य स्रोतों का सहारा क्यों लिया इस सम्बन्ध में बदायूनी के वर्णन को उद्धृत करना अधिक उपयुक्त होगा।—

"ये वाद विवाद प्रत्येक बृहस्पतिवार को रात को हुआ करते थे और उसके लिये सम्राट सैयदों शेखों उलेमाओं तथा अमीरों को बारी बारी से बुलाया करता था। किन्तु ये आमंत्रित लोग अपने अपने स्थानों के सम्बन्ध में झगड़ा करने लगे इसलिये सम्राट ने आज्ञा दी कि अमीर पूर्व की ओर सैयद पश्चिम की ओर, उलेमा दक्षिण और शेख उत्तर की ओर बैठें। इसके बाद सम्राट स्वयं प्रत्येक ओर बारी बारी से जाता और पूछ-ताछ किया करता। ... एक रात को सहसा एक बूढ़े उलेमा के गले की नस सूज गई और भयकर कोलाहल तथा घबराहट फैल गई। सम्राट को इस अशिष्ट व्यवहार पर बड़ा क्रोध आया और मुझसे (बदायूनी) कहा यदि भविष्य में कोई उलेमा अशिष्ट व्यवहार तथा व्यर्थ की बातें करे तो मुझे सूचना दो, मैं उसे हॉल से बाहर निकाल दूँगा।" मैंने धीरे से आसफखाँ से कहा 'यदि मैं इसकी आज्ञा का पालन किया तो अधिकतर उलेमा को यह स्थान छोड़ना पड़ेगा। सम्राट ने सहसा पूछा कि तुमने क्या कहा था। मेरा उत्तर सुन कर वह बहुत प्रसन्न हुआ और जो लोग उसके निकट बैठे थे उनसे मेरी बात का ज़िक्र किया।

"उलेमा के दोनों पक्षों में गम्भीर मतभेद थे। एक ने जिन विचारों को सत्य घोषित किया, उसका दूसरे ने खंडन किया और उन्हें धर्म के विरुद्ध बतलाया।

इससे अकबर को विश्वास हो गया कि दोनों ही दलों के विचार गलत हैं और सत्य की खोज इनके झगड़ों के बाहर होनी चाहिये।' इसलिये ज्ञान का प्रकाश ढूंढने के लिये अब उसने पारसियों, जैनों, ईसाइयों तथा हिन्दुओं का सहारा लिया। अथवा अबुल फज़ल के शब्दों में : 'शहंशाह का दरबार 'सातों दिशाओं' के जिज्ञासुओं तथा सभी धर्मों और सम्प्रदायों के विद्वानों का घर बन गया।'

पारसी—स्मिथ का मत है कि अकबर ने जिन अनेक धर्मों की विलग भाव से समीक्षा की उनमें से पारसियों के धर्म में ही उसे सबसे अधिक आत्मिक सन्तोष मिला। १५७८-७९ में नौसारी के दस्तूर महरजी राना ने अकबर को अपने धर्म के रहस्यों में दीक्षित किया। पहले-पहले १५७३ में गुजरात युद्ध के दौरान में खाँकरा खाड़ी के निकट अकबर की उससे भेंट हुई थी। १५९१ में उसकी मृत्यु हो गई; तब उसके प्रसिद्ध पुत्र ने अकबर के दरबार में उसका स्थान ग्रहण किया। उसे २०० बीघा भूमि जागीर के रूप में प्रदान की गई, और आगे चल कर उसमें सौ बीघे और जोड़ दिये गये। १५८० के बाद अकबर ने सूर्य तथा अग्नि के सम्मुख सार्वजनिक रूप से साष्टांग दण्डवत करना आरम्भ कर दिया, और सन्ध्या समय जब दीपक जलाये जाते तो सम्पूर्ण दरबार को सम्मानपूर्वक खड़ा होना पड़ता। बदायूनी लिखता है कि उसने आज्ञा जारी कि मृतकों को पूर्व की ओर (उदीयमान सूर्य की ओर) सिर करके दफनाया जाय। 'यहाँ तक कि सम्राट ने इसी स्थिति में सोना भी प्रारम्भ कर दिया।'

जैन—डाक्टर हीरानन्द शास्त्री लिखते हैं, "उपलब्ध साक्ष्य से स्पष्ट है कि अकबर ने अपने एक जैन आचार्य से सूर्य-सहस्र नाम सीखे थे।...... अबुल फज़ल ने जो सूची दी है उसमें तीन जैन गुरुओं के नाम आते हैं जिनके लिये उस महान् मुगल के हृदय में भारी श्रद्धा थी। 'हीराविजय काव्यम्' से पता लगता है है कि हीराविजय सूरी के प्रभाव के कारण ही अकबर ने पशु बध बन्द करवाया था, और उसको जगद्गुरु की उपाधि से विभूषित किया था। काठियावाड़ में पलितान के निकट शत्रुंजय पहाड़ी पर आदिश्वर का जो मन्दिर है उसकी दीवालों पर संस्कृत का एक लम्बा लेख उत्कीर्ण है जिसमें इस जैन भिक्षु तथा अकबर की साथ-साथ प्रशंसा की गई है, उससे हमें पता लगता है कि जैन सन्तों के प्रभाव के कारण अकबर ने क्या-क्या कार्य किये। स्मिथ का यह कथन सत्य ही है कि "अकबर ने मांस खाना पूर्णतया त्याग दिया था और इस सम्बन्ध में कठोर आज्ञाएं जारी की थीं, इस विषय में उसकी तुलना अशोक से की जा सकती है जिसने तुच्छ से तुच्छ रूप में जीव हत्या का निषेध किया था। यह निश्चय है कि उसका यह कार्य उसके जैन गुरुओं के सिद्धान्त के अनुसार किया गया था।" कादम्बरी की टीका के अन्त में जो लेख दिया हुआ है उससे ज्ञात होता है कि अकबर ने भानुचन्द्र से जिसे हीराविजय सूरी अपने पीछे उसके दरबार में छोड़ आया था, सूर्य-सहस्र नाम सीखे थे। पूर्वोक्त टीका का संयुक्त लेखक तथा भानुचन्द्र का शिष्य सिद्धिचन्द्र महान् मुगल का एक अन्य गुरु था।"

ईसाई—पिछले अध्याय में हम लिख आये हैं कि अकबर के जेसुइटों से जिनसे वह ईसाइयत को समझना चाहता था, क्या सम्बन्ध थे। बदायूनी ने आरोप लगाया है कि अकबर ने सूली तथा उनके 'अन्य बच्चों के खिलौने' अपना लिये थे। स्मिथ लिखते हैं, "ईसाइयों ने धार्मिक वाद विवाद में जो योग दिया उसका उन तत्वों में एक महत्वपूर्ण स्थान था जिसके कारण अकबर ने मुस्लिम धर्म का परित्याग (?) किया।' किन्तु यदि पादरियों को यह आशा थी कि अकबर ईसाई धर्म अंगीकार कर लेगा और इस प्रकार एक सम्राट हमारे प्रभाव में आ जायगा, तो उनकी भारी भूल थी। फिर भी हम स्मिथ के इस कथन से सहमत नहीं हो सकते कि, "ऐसा प्रतीत होता है कि जब अकबर ने ऐसे शब्द कहे जिनसे ईसाई धर्म में उसकी आस्था प्रकट होती थी तो उस समय उसके हृदय में सचाई नहीं थी। यह हो सकता है कि सब बातों को देखते हुए वह इस धर्म को औरों से अच्छा समझता था किन्तु उसकी मुख्य रुचि तुलनात्मक धर्म' के अध्ययन में थी, और इस सम्बन्ध में उसे मानसिक उत्सुकता से प्रेरणा मिली थी न कि जाग्रत चेतना से।" स्मिथ का यह कथन सत्य के अधिक निकट प्रतीत होता है कि "प्रत्येक धर्म के सम्बन्ध में उसने इतनी रुचि दिखलाई कि विभिन्न लोगों का यह समझना युक्ति संगत था कि वह पारसी, हिन्दू, जैन अथवा ईसाई हो गया है। फिर भी वह स्पष्ट रूप से इन चार धर्मों में से किसी को भी स्वीकार नहीं कर सकता था, चाहे उसने इनके सिद्धान्तों की कितनी ही प्रशंसा की हो और चाहे इन सबके कुछ कर्मकाण्डों पर अमल करना भी आरम्भ कर दिया हो।'

धर्म में अकबर की रुचि 'तुलनात्मक धर्म' के विद्यार्थी की मानसिक उत्सुकता' से कहीं अधिक गम्भीर थी। १५७८ ई० (मई) में जब कि अकबर अपनी आयु के छत्तीसवें वर्ष में था एक बार वह सहसा झेलम के किनारे आखेट खेल कर जिसके लिये विस्तृत आयोजन किया गया था, लौटा उस समय जैसा कि अबुल फ़ज़ल ने लिखा है उसका शरीर एक स्वर्गीय आनन्द से ओत प्रोत हो गया, ईश्वर के साक्षात्कार की किरण ने उसे आकृष्ट किया। बदायूनी ने भी इस विचित्र अनुभव का उल्लेख किया है; वह लिखता है 'सम्राट सहसा एक प्रबल उन्माद के वशी भूत हो गया और उसके व्यवहार में एक ऐसा असाधारण परिवर्तन दिखाई देने लगा कि उसका कारण नहीं बताया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति ने इसका कुछ न कुछ कारण बतलाया; किन्तु वास्तविक रहस्य केवल ईश्वर को ही विदित है। उस समय उसने आखेट बन्द करने की आज्ञा दी सावधान रहो क्योंकि ईश्वर की अनुकम्पा सहसा प्रकट होती है। वह सहसा आती और बुद्धिमान व्यक्तियों के मस्तिष्क को प्रकाशित कर देती है।'

इस विचित्र घटना के सम्बन्ध में स्मिथ की आलोचना अविश्वासपूर्ण (भ्रमपूर्ण) है :

"उसने (अकबर ने) अपने धार्मिक सवेग की विचित्र प्रकार से अभिव्यक्ति की, उसने फतहपुर सीकरी के महल में अनूपतलाव नामक जलाशय को सिक्कों की विशाल राशि से भरवा दिया, जिनका मूल्य, कहा जाता है, एक करोड रुपया रहा होगा, बाद में उसने उन सब को बटवा दिया।

"उस रहस्यपूर्ण घटना के सम्बन्ध में हमे केवल इतना ही ज्ञात है। यह जानकारी इतनी कम है कि इससे और अधिक जानने का प्रलोभन बढता है, किन्तु ऐसा लगता है कि जब वह पेड के नीचे बैठा अथवा लेटा हुआ था, उस समय जिस आध्यात्मिक लहर ने उसे झकझोर दिया उसका उसने कभी पूरा तथा स्पष्ट वृत्तान्त किसी को नही बतलाया। शायद वह सो गया था और एक स्वप्न देखा, अथवा जैसा कि अधिक सम्भव प्रतीत होता है, उसे मिरगी का दौडा होगया होगा।" उनका (स्मिथ) यह कथन शायद सत्य के अधिक निकट है कि "कोई भी व्यक्ति ठीक-ठीक नहीं बता सकता कि क्या हुआ" ' जब वह दान्ते की भाँति जीवन के मार्ग के बीचो-बीच खडा था उस समय उस कवि की भाँति उसने स्वप्न में, ऐसी चीजें देखीं जिनका बखान नहीं हो सकता।'

"अकबर स्वभाव से ही रहस्यवादी था और अपने सूफी मित्रों की भाँति सच्चे हृदय से उस अनिर्वचनीय आनन्द की खोज में रहता था जो दैवी सत्ता के सम्पर्क में आने से प्राप्त होता है।" "वह एक साधारण व्यक्ति नहीं था, सन्त पाल, मुहम्मद, दान्ते तथा अन्य महापुरुषों की भाँति जो जन्म से ही रहस्यवादी होते हैं, उसकी भी प्रकृति जटिल थी और एक भ्रम में डालने वाली समस्या है।"

हिन्दू—इस प्रकार की प्रकृति का व्यक्ति उन हिन्दुओं के उदार आदर्शवाद से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता था जो उसे उसी प्रकार घेरे रहते थे जैसे वायु जिसमें वह साँस लेता था। हिन्दुओं के सर्वाधिक युद्ध प्रिय वर्ग राजपूतों के प्रति उसकी जो नीति थी उस पर हम पहले ही अपने विचार प्रकट कर आये हैं। वह अपनी प्रजा के दो सबसे बड़े सम्प्रदायों के बीच घनिष्ट सम्पर्क स्थापित करने का इच्छुक था और इसी के प्रतीक स्वरूप उसने हिन्दू स्त्रियों से विवाह किया। उसने राजा मानसिंह, राजा भगवानदास, बीरबल और टोडरमल को उच्चतम पद प्रदान किये जो राज्य के किसी भी अमीर को दिये गये थे' उसने इस सीमा तक हिन्दुओं की पोशाक तक धार्मिक प्रतीक अपना लिये कि बदायूनी जैस कट्टर मुसलमान ईर्ष्या करने लगे और उससे उनके हृदय को बहुत चोट लगी। बदायूनी को उसने महाभारत आदि हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों को फारसी में अनूदित करने का भार सौंपा जिससे उसे बहुत कुढ़न हुई।

"कुछ दिनों पशुवध का निषेध कर दिया गया जैसे रविवार को, क्योंकि वह सूर्य का दिन है।"" "हिन्दुओं को प्रसन्न करने के लिये उसने' धार्मिक प्रायश्चित के रूप में मास खाना पूर्णतया त्याग दिया, फिर धीरे-धीरे उसने वर्ष में छ. महीने तथा उससे भी अधिक व्रत धारण किये जिससे कि आगे चल कर मास खाना पूर्णरूप से छूट जाय। ......श्रीमान् सम्राट ने सूर्य के एक सहस्त्र सस्कृत नाम एकत्र किये, वह प्रतिदिन

उसका जप करता तथा भक्तिपूर्वक सूर्य को नमस्कार करता (जिस प्रकार हिन्दू गायत्री का जप करते हैं)। 'उसने सूर्य पूजा से सम्बन्धित अनेक अन्य अनुष्ठान भी अपना लिये। वह माथे पर हिन्दुओं की भाँति तिलक लगाता था, और आधी रात के समय तथा प्रातःकाल नगाड़े बजाने की आज्ञा दे रक्खी थी। ...वर्ष में एक रात को जो शिव रात कहलाती थी, साम्राज्य भर के योगियों का एक महासम्मेलन हुआ करता था; उस समय सम्राट मुख्य योगियों के साथ बैठकर भोजन किया करता था; उन्होंने उसे आशा दिलाई थी कि सामान्य लोगों की अपेक्षा आपकी आयु तीन अथवा चार गुनी होगी।" ठग तथा चोर ब्राह्मणों ने सम्राट से कहा कि आप राम, कृष्ण तथा अन्य हिन्दू राजाओं की भाँति अवतार हैं।" "उसकी चापलूसी करने के लिये वे कुछ संस्कृत के श्लोक ले आये और कहा कि ये प्राचीन ऋषियों के वाक्य हैं और इनमें भविष्यवाणी की गई है कि भारत में एक महान विजेता का अवतार होगा जो ब्राह्मणों तथा गायों का सम्मान करेगा और न्यायपूर्वक पृथ्वी पर शासन करेगा। उन्होंने इन मूर्खतापूर्ण बातों को एक कागज पर लिख दिया जो देखने में पुराना लगता था और सम्राट को दिखलाया और उसने उसके प्रत्येक शब्द को सत्य मान लिया।

अकबर के सम्बन्ध में कुछ मत

अकबर के इस संक्षिप्त अध्ययन को समाप्त करने से पहले उसके चरित्र तथा सफलताओं के सम्बन्ध में कुछ प्रसिद्ध विद्वानों के मतों को उद्धृत कर देना लाभप्रद होगा।

जहाँगीर के संस्मरण—'मेरे पिता सदैव प्रत्येक धर्म तथा सम्प्रदाय के विद्वानों का सत्संग किया करते थे; विशेषकर भारत के पण्डितों तथा विद्वानों का; और यद्यपि वे निरक्षर थे, किन्तु विद्वानों तथा बुद्धिमान लोगों के निरन्तर सम्पर्क में रहने और वार्तालाप करने के कारण उन्हें इतना ज्ञान हो गया था कि कोई उन्हें निरक्षर नहीं समझता था; और पद्य तथा गद्य रचनाओं के सौन्दर्य की उन्हें इतनी परख थी कि उनकी इस कमी का किसी को ध्यान भी न होता था। यद्यपि वह सम्राट थे उनके कोष तथा गड़ा हुआ धन अतुल था और उनके पास अनेक लड़ाकू हाथी तथा अरबी घोड़े थे फिर भी उन्होंने कभी ईश्वर के सिंहासन के समक्ष नम्रता की मर्यादा के बाहर पैर नहीं रक्खा और न कभी क्षण भर के लिये भी उसका विस्मरण किया। वह प्रत्येक मत, धर्म तथा विचारों के सत्पुरुषों से मिलते जुलते तथा उनकी स्थिति तथा बुद्धि के अनुसार उन पर अनुग्रह किया करते थे। वह रातें जागते हुए बिताते और दिन में भी बहुत कम सोते थे; पूरे दिन-रात में उनके सोने का समय डेढ़ पहर से अधिक न होता था। रात के जागने को वह जीवन में उतनी ही वृद्धि समझते थे।'

कर्नल मैलीसन—'अकबर का महान् आदर्श था समस्त भारत को एक छत्र के अन्तर्गत संयुक्त करना।" "उसका विधि संग्रह एक शासक के लिये, एक

साम्राज्य के संस्थापक के लिये, सर्वश्रेष्ठ था। उसके सिद्धान्तों को स्वीकार करके ही उसके पाश्चात्य उत्तराधिकारी आज साम्राज्य को कायम रक्खे हुए हैं। निश्चय ही उसके योरोपीय समसामयिक अपने-अपने देशों के महानतम शासक थे (इंगलैण्ड में एलिज़ाबेथ तथा फ्रान्स में हैनरी चतुर्थ), फिर भी इन से उसकी तुलना निःसकोच की जा सकती है।'' 'उसका यश उन कार्यों पर अवलम्बित है जो उसके बाद भी जीवित हैं।'' उसने जो नींव खोदी वह इतनी गहरी थी कि उसका पुत्र उस साम्राज्य को जिसे उसके पिता के सिद्धान्तों ने एक सूत्र में पिरोया था, कायम रख सका, यद्यपि वह अपने पिता से बहुत भिन्न था। जब हम उसके कार्यों पर, उस युग पर जिसमें उसने वे कार्य किये तथा उन तरीकों पर जिनसे उसने उन्हें सम्पादित किया, विचार करते हैं तो हमें मानना पडता है कि अकबर उन प्रतापी पुरुषों में से था जिन्हें ईश्वर किसी राष्ट्र की संकटापन्न अवस्था में इसलिये भेजता है कि वे उसे शान्ति तथा सहिष्णुता के उस मार्ग पर अग्रसर करें जिस पर करोड़ों लोगों का वास्तविक सुख निर्भर रहता है।''*

स्टेनली लेनपूल—''भारत में जितने शासक हुए हैं उनमें सर्वश्रेष्ठ'' (पृष्ठ २८८)। ''साम्राज्य का सच्चा संस्थापक तथा संगठनकर्ता।'' ''मुगल साम्राज्य के स्वर्णयुग का प्रतिनिधि।'' (पृष्ठ २३८) ''हिन्दू सामन्तों को आत्मसात करना अकबर के शासन-काल की मुख्य विशेषता थी।''...''इस प्रसार के सम्बन्ध में विलक्षण बातें यह थीं.. पहली, हिन्दू राजाओं ने इच्छा-पूर्वक इसमें सहायता दी थी, और दूसरी, प्रसार के साथ-साथ सुव्यवस्थित प्रशासन की नींव पडती गई। भारतीय शासन में यह एक नई चीज़ थी, क्योंकि उस समय तक तुच्छ स्थानीय पदाधिकारी मनमानी किया करते थे और केन्द्रीय सत्ता तब तक उनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करती थी जब तक उसके राजस्व को क्षति नहीं पहुँचती थी। अकबर को यदि पता लग जाता तो वह कभी अपने पदाधिकारियों को उत्पीड़न नहीं करने देता था और उसने कई चढ़ाइयाँ केवल उन सूबेदारों को दण्ड देने के लिये कीं जो स्वार्थी थे तथा जिन्होंने गबन किया था। प्रशासन में जो कुछ उन्नति हुई उसका बहुत कुछ श्रेय उन हिन्दुओं को था जिन्हें उसने अपने यहाँ नौकर रक्खा था। मुसलमान आक्रमणकारियों में अधिकतर अशिक्षित तथा किराये के टट्टू साहसिक थे, उनकी अपेक्षा हिन्दू राज-काल में कहीं अधिक कुशल थे (पृष्ठ २५९-६०)।

''मध्ययुगीन इतिहास में ऐसा अन्य कोई व्यक्ति नहीं हुआ है जो भारत में आज तक टोडरमल से अधिक विख्यात हो। कारण यह था कि अकबर का अन्य कोई सुधार ऐसा नहीं था जिसका जन-हित से इतना सीधा सम्पर्क रहा हो जितना उस वित्त विशेषज्ञ के राजस्व-व्यवस्था के पुनः संगठन का (पृष्ठ २६१)।
''टोडरमल ने आज्ञा निकाली कि सब लेखा फारसी में रक्खा जाय, और अकबर

* Akbar पृष्ठ १९९-२०० ।

ने उदार नीति का अनुसरण करते हुए हिन्दुओं को उच्चतम पदों के लिये प्रतिस्पर्धा करने का अवसर दिया,—मानसिंह पहला सप्तहज़ारी मनसबदार था, इन सब बातों के दो परिणाम हुए। पहला अठारहवीं शताब्दी के समाप्त होने से पहले हिन्दू लोग मुसलमानों के फारसी अध्यापक बन गए, दूसरा भारत में उर्दू नाम की एक नई बोली का जन्म हुआ जो हिन्दुओं के माध्यम के बिना सम्भव नहीं हो सकता था।"*

एडवर्ड्स और गेरेट—"अकबर ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी योग्यता सिद्ध करदी। वह एक निर्भीक योद्धा, बुद्धिमान प्रशासक उदार शासक तथा मानव चरित्र का अच्छा पारखी था। उसमें जन्म से ही नेता के गुण विद्यमान थे और उसकी गणना इतिहास के सर्वाधिक शक्तिशाली सम्राटों में की जा सकती है। अपने लगभग पचास वर्ष के शासनकाल में उसने एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना की जो बलशाली से बलशाली साम्राज्यों से प्रतिस्पर्धा कर सकता और एक वंश की नींव डाली जिसे चिनौती देनेवाला लगभग एक शताब्दी तक भारत में कोई नहीं हुआ। उसके शासन काल में मुगलों का अन्तिम रूप से रूपान्तरण हो गया और वे केवल सैनिक आक्रमणकारी न रह कर भ रत का एक स्थायी राजवंश बन गये।"†

विंसेंट स्मिथ—'अकबर ने योद्धा, सेनानायक, प्रशासक कूटनीतिज्ञ तथा उच्चतम शासक के रूप में जिस रूप सहारिक योग्यता का परिचय दिया यह उसके सम्पूर्ण इतिहास से भलीभाँति स्पष्ट है इस पर यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। उसके चरित्र की निजी शक्ति आज भी साफ-साफ दृष्टिगोचर होती है, उसके समसामयिक लोग तो उससे आक्रान्त हो गये थे। 'वह उत्पन्न ही मनुष्यों का शासक बनने के लिये हुआ था और उसका यह अधिकार है कि उसकी गणना इतिहास ने सर्वाधिक शक्तिशाली सम्राटों में की जाय। इस अधिकार का आधार है उसकी असाधारण स्वाभाविक प्रतिभायें, उसके मौलिक विचार तथा उसकी गौरवपूर्ण सफलतायें।'‡

ईश्वरी प्रसाद—"डा० विन्सैण्ट स्मिथ ने जेसुइटों के लेखों का सहारा लेकर लिखा है कि राज-काज में अकबर का व्यवहार कपट तथा दुरंगपूर्ण था और उसकी कूटनीति कुटिल तथा कार्य नीचतापूर्ण थे। किन्तु डा० स्मिथ भूल जाते हैं कि अकबर की सम-सामयिक ऐलिज़ाबेथ निःसंकोचतापूर्वक झूठ बोला करती थी और ग्रीन ने तो यहाँ तक कहा है कि अन्धा धुन्ध तथा सफेद झूठ बोलने में ईसाई जगत में उसकी कोई तुलना नहीं कर सकता था। फ्रान्स, स्पेन तथा अन्य देशों के शासकों के नीचतापूर्ण तरीके तथा कुचक्र सर्वविदित हैं, इसलिये उनका

* Medieval India पृष्ठ २६५—६६।

† Mughal Rule in India, पृष्ठ ५१।

‡ Akbar the Great Mughal, पृष्ठ २५२—५१।

यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि अकबर बुद्धि तथा चरित्र दोनों में अपने सम-सामयिक शासकों से बहुत ऊँचा था और उसकी नीति उनसे कहीं अधिक दयालुतापूर्ण थी। डा० स्मिथ ने उसके थोड़े से अमानुषिक कार्यों तथा विश्वासघात का उल्लेख किया है, किन्तु उनके साथ-साथ उसके सैकड़ों दयालु तथा उदारतापूर्ण कार्य गिनाये जा सकते हैं। जो भी व्यक्ति सही तथा निष्पक्ष अनुसन्धान करेगा उसे स्पष्ट हो जावेगा कि अकबर अपने यूरोपीय सम-सामयिकों से कहीं अधिक महान व्यक्ति था।"*

लारेंस विनियन—"शासक के रूप में उसकी सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उसने विभिन्न राज्यों, विभिन्न नस्लों तथा विभिन्न धर्मों के लोगों को एक सूत्र में पिरो दिया। विस्तृत सगठन द्वारा यह कार्य पूरा किया गया था,—ब्यौरे की चीज़ों के लिये अकबर में असाधारण प्रतिभा थी—और उससे भी अधिक उस निश्चित नीति द्वारा, जिससे प्रजा को अपने शासक की न्यायप्रियता में विश्वास हो गया। विदेशी होने पर भी उसने अपने को विजित भारत के साथ एकाकार कर दिया। और उसकी व्यवस्था बहुत कुछ स्थायी सिद्ध हुई। वे सिद्धान्त तथा कार्य जिन्हें अकबर तथा उसके मन्त्रियों ने आरम्भ किया था अंग्रेज़ों द्वारा अपनी शासन-व्यवस्था में अपना लिये गये हैं। (पृष्ठ ८-९) अकबर के दोष तथा दुर्बलतायें भी आकर्षक थीं, क्योंकि वे तुच्छ नहीं थीं, बल्कि उन चीज़ों का ही अङ्ग थी जिनके कारण वह महान् हुआ। सबसे बड़ी बात यह थी कि वह मानव था।"† विनियन का यह भी मत है कि स्मिथ ने अकबर के साथ न्याय नहीं किया है। ९ जून १९३२ ई० के 'दी टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेण्ट' ने अकबर पर विनियन की पुस्तक की समालोचना करते हुये लिखा, 'अकबर की धार्मिक नीति पर ही हमारा उसके चरित्र का मूल्यांकन बहुत कुछ निर्भर है।'—"इस सम्बन्ध में विशेषकर मिस्टर विनियन सचमुच सत्य के निकट पहुँच गये हैं। उन्होंने दिखाया है कि सम्राट समय-समय पर जीवन की निस्सारता से विक्षुब्ध हो उठता था और निश्चित शान्ति तथा विश्राम की खोज करने लगता था, किन्तु उसके प्रयत्न विफल रहे। अशान्त चित्त से उसने, जिस धर्म में उसका पालन पोषण हुआ था उसके प्रत्येक सम्प्रदाय का अध्ययन किया किन्तु उनके तर्क से उसे शान्ति नहीं मिलती; इसलिये उसने अन्य धर्मों के आचार्यों को जो उसे मिल सके, आमन्त्रित किया। जैन तथा पारसी, जैसुइट तथा ब्राह्मण, प्रत्येक की बात उसने सम्मानपूर्वक सुनी; किन्तु किसी न किसी कारण से वे सम्राट को प्रभावित करने में असफल रहे। ब्राह्मणों के तर्क इतने सूक्ष्म थे कि उसकी व्यावहारिक बुद्धि उन्हें ग्रहण न कर सकी। जैसुइटों ने भक्ति की माँग की जिसे वह न दे सका; पारसियों ने उसे सबसे अधिक आकृष्ट किया और उनके कर्म-काण्ड में उसे सन्तोष की कुछ छाया मिली।

* A Short History of Muslim Rule, पृष्ठ ४३६-३७।

† Akbar, पृष्ठ २३।

जिन लोगों का विचार है कि अकबर के धार्मिक अनुसन्धानों का उद्देश्य राजनैतिक था और वह एक ऐसा धर्म ढूंढना चाहता था जो उसकी प्रजा को एक सूत्र में बाँध सकता, उन्होंने वास्तव में सत्य की सतह को ही देख पाया है और वे अकबर के वास्तविक व्यक्तित्व तक नहीं पहुँच पाये हैं, जैसा कि विनियम ने किया है।"

के० टी० शाह—"अकबर महानतम मुगल सम्राट था; और यदि अशोक और मौर्यों के समय से नहीं तो कम से कम पिछले एक एक हजार वर्ष में महान भारतीय सम्राट हुआ है। किन्तु उसकी प्रतिभा तथा उसके जन्मजात गुणों के महत्व को कम किये बिना हम कह सकते हैं कि अकबर इतना महान इसलिये हो सका कि वह पूर्णरूप से भारतीय हो गया था। अपनी प्रतिभा के कारण वह इस बात को समझ सका कि दो सम्प्रदायों को सब साधारण की सेवा के विश्व-व्यापी बन्धन द्वारा तथा दोनों को वैभवशाली साम्राज्य में समान नागरिकता का अधिकार देकर एक राष्ट्र के रूप में परिणत किया जा सकता है; और स इस के साथ उसने इस कार्य को पूरा करने का प्रयत्न भी किया। अकबर जन्म से ही राजा था और निरंकुशवाद के उस युग में एक स्वेच्छाचारी शासक के रूप में उसका पालन पोषण हुआ था, इसलिये अन्य किसी युग के सिद्धान्तों के आधार पर अथवा आदर्शों को लेकर उसकी आलोचना करना अन्यायपूर्ण होगा। यदि हम स्वयं छान-बीन कर तथा उचित मर्यादाओं के भीतर रह कर उसकी आलोचना करें तो उसके जीवन, दृष्टि-कोण तथा सफलताओं में बहुत कुछ ऐसा मिलेगा जिसके कारण हमें उसकी विशुद्ध प्रशंसा करनी चाहिये और हम ऐसी बहुत कम चीजें पायेंगे जिनके लिये उसकी निन्दा करना न्याय संगत हो।*"

ई० वी० हेग—"अकबर का भी वही भाग्य हुआ है जो महान् सुधारकों का होता है। उसके व्यक्तिगत चरित्र पर अन्यायपूर्वक आक्रमण किया गया है, उसके उद्देश्यों पर सन्देह प्रकट किया गया है और उसके कार्यों का तोड़-मरोड़ा गया है, और यह सब कुछ उस साक्ष्य के आधार पर जो न्यायपूर्ण परीक्षण के सामने टिक नहीं सकता। वह न तो सन्यासी था और न सन्त, किन्तु संसार में ऐसे कम महान् शासक हुये हैं जिनके पुण्य कार्यों का अभिलेख उससे अच्छा हो अथवा जिन्होंने अधिक सम्मान तथा दृढ़ता के साथ धार्मिक आदर्शों का पालन करते हुये मानवता की सेवा की हो। पारस्परिक अर्थ में उसका उद्देश्य राजनैतिक था न कि धार्मिक; किन्तु उसने धर्म के उच्चतम सिद्धान्तों को राज्य नीति की प्रेरक शक्ति बनाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार भारतीय इतिहास में अपनी कीर्ति अमर कर दी। उसने इस्लाम के राजनैतिक दीवाचार का जिस उच्च धरातल पर पहुँचा दिया उस पर वह पहले कभी न पहुँच सका था यह ठीक है कि उसकी सफलतायें उसके आदर्शों को न पा सकीं—दीन इलाही शासक वर्ग का व्यापक पुनरुत्थान नहीं हुआ, राज्य से पिछले शताब्दियों के

* The Splendour that was Ind, पृष्ठ ३।

कुशासन के चिन्ह न मिटाये जा सके, और उसकी योजनाओं में प्राचीन आर्यों की उस स्थानीय-स्वराज्य की व्यवस्था को पूर्ण स्थान न था जिस पर दीर्घकाल से भारत की आर्थिक तथा राजनैतिक महानता टिकी हुई थी, फिर भी इस सबसे व्यक्ति तथा शासक के रूप में उसकी महानता कम नहीं होती। किन्तु अकबर ने आर्यों के आदर्शों को प्राप्त करने के जो प्रयत्न किये वे इस योग्य हैं कि भारत के अँग्रेज शासक तथा वे राजनीतिज्ञ जिनके लिये राजनीति छल-कपट का खेल न होकर धर्म है, उनका अनुकरण करें।*

---

* Aryan Rule in India, पृष्ठ ४३६-७।

१४

साम्राज्य का फलान्वित होना

अकबर ने अपने अभागे पिता द्वारा छोड़े क्षीण साधनों से जिस साम्राज्य का इतने परिश्रम से पुनर्निर्माण किया था वह आकर जहाँगीर के शासन-काल (१६०५-२७ ई०) में फलान्वित हुआ। पिछली आधी शताब्दी के पुनर्निर्माण के कार्य ने साम्राज्य को इतनी सुदृढ़ नींवों पर खड़ा कर दिया था कि आगामी एक शताब्दी भर वे अडिग बनी रहीं यद्यपि इस काल में अनेक विद्रोह तथा उत्तराधिकार-युद्ध हुए। अकबर ने आम्बेर की राजकुमारी से विवाह करके संराधना तथा ऐक्य की जिस नीति का आरम्भ किया उसके फलस्वरूप डा० बेनीप्रसाद के शब्दों में "भारतीय राजनीति में एक नये युग का उदय हुआ; उसने देश को असाधारण सम्राटों की एक परम्परा प्रदान की, और उसी के कारण मुगल सम्राटों की चार पीढ़ियों को मध्ययुगीन भारत के कुछ महानतम सेनानायकों और कूटनीतिज्ञों की सेवाएँ उपलब्ध हुईं।' इसमें शान्ति तथा सम्पत्ति की उस विरासत को जोड़ दीजिये जिसे अकबर अपने तात्कालिक उत्तराधिकारी के लिये छोड़ गया था, तो हमें उन शुभ तथा अनुकूल परिस्थितियों का पूर्ण चित्र उपलब्ध हो जायगा जिनमें जहाँगीर ने अपना समृद्धिशाली जीवन आरम्भ किया।

जहाँगीर का प्रारम्भिक जीवन

पिछले अध्याय में हम अकबर की मृत्यु तक राजकुमार सलीम के प्रारम्भिक जीवन का वर्णन कर आये हैं; यहाँ पर उसे संक्षेप में फिर दुहरा दिया जाय। सलीम का जन्म ३० अगस्त १५६९ को अकबर के शासन के तेरहवें वर्ष,में हुआ था। उस समय अकबर की अवस्था सत्ताईस वर्ष की थी। सलीम की माता आम्बेर के राजा भारमल की पुत्री थी जिससे अकबर ने १५६२ में विवाह किया था। इससे पहले सम्राट के जितने बच्चे हुए थे वे सब शैशव में ही मर गये थे इसलिये उसने शेख सलीम चिश्ती से आशीर्वाद माँगा और उन्हीं के नाम पर नये बालक का नाम मुहम्मद सुल्तान सलीम रक्खा गया। यद्यपि अकबर स्वयं निरक्षर था किन्तु अपने पुत्र की शिक्षा में उसने असावधानी नहीं की। बैरामखाँ के पुत्र अब्दुर्रहीम खाँ को जो एक सुसंस्कृत विद्वान था उसने सलीम का अभिभावक नियुक्त

जहाँगीर

किया; उससे राजकुमार ने तुर्की भाषा सीखी, जिसके द्वारा आगे चल कर उसे जॉन हाकिन्स से बातचीत करने में सहायता मिली और जब महाबत खाँ ने उसे बन्दी बना लिया तो उसी भाषा के द्वारा वह अपने एक नौकर से गुप्त मंत्रणा कर ... । हिन्दी का भी उसे अच्छा ज्ञान हो गया। और हिन्दी के गानों में उसे आनन्द आता था। उसने काव्य में कुछ रुचि उत्पन्न करली थी और अपनी छन्द बनाने की चतुराई का प्रदर्शन किया करता तथा बातचीत में कविताओं का पुट लगाया करता था। जन्म तथा पालन-पोषण दोनों से उसे हृष्ट-पुष्ट शरीर मिला था किन्तु आगे चलकर अतिशय मद्यपान तथा स्त्रीगमन से उसने उसे खोखला कर लिया। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में अम्बेर के राजा भगवानदास की पुत्री मानबाई से सलीम की सगाई पक्की हो गई। १३ फरवरी १५८५ को विवाह संस्कार सम्पादित हुआ; दो करोड़ टंका दहेज में मिला। विवाह की रस्म हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों ही रीतियों से पूरी की गई। सलीम की इसी स्त्री से ६ अगस्त १५८७ को राजकुमार खुसरू उत्पन्न हुआ जिसने इतिहास में महत्वपूर्ण किन्तु दुःखद पार्ट अदा किया। इसके बाद मानबाई शाह बेगम कहलाने लगी। १६०४ में उसने आत्महत्या कर ली। इस बीच में सलीम के रनिवास में बहुत वृद्धि हो गई थी। १५८६ में उसने उदयसिंह की पुत्री जगत गोसाईं अथवा जोधाबाई से विवाह कर लिया था। फादर जेवियर के अनुसार १५६७ में जहाँगीर के बीस से कम 'वैध स्त्रियाँ'' नहीं थीं। मिहरुन्निसा से उसके विवाह का उल्लेख आगे किया जायगा। "रखैल स्त्रियों को मिला कर रनिवास की सख्या ३०० तक पहुँच गई।' साहिबे जमाल से २ अक्टूबर १५८६ को राजकुमार परवेज का जन्म हुआ। खुर्रम (शाब्दिक अर्थ प्रसन्न) का जन्म ५ जनवरी को जगत गोसाईं (जोधाबाई) से हुआ। शहरयार १६०५ में उत्पन्न हुआ, उसकी माता एक रखैल थी।

१५७७ ई० में सलीम को दस हजार का मनसब प्रदान कर दिया गया, जबकि उसके भाइयों मुराद तथा दानियाल को केवल सात हजार तथा ६ हजार (क्रमशः) के पद मिले हुए थे। १५८५ में उन्हें अन्य चिन्हों से विभूषित किया गया और और क्रमशः १२०००, ६००० और ७००० के मनसब दे दिये गये। आगामी तेरह वर्षों में यद्यपि सलीम अकबर के निकट सम्पर्क में रहा, किन्तु "प्रचलित राजनैतिक कुचक्रों और छल ने धीरे-धीरे उनके सम्बन्ध कड़ुऐ कर दिये, उनके दिल फट गये और अन्त में वे एक भीषण संघर्ष में फँस गये।"

सलीम का विद्रोह—सलीम के विद्रोह की कहानी हम पहले ही विस्तार से लिख आये हैं। १५६१ में उसने अपने पिता का पद तथा शक्ति उत्तराधिकार में पाने के लिये अनुचित तथा अशिष्टतापूर्ण जल्दी की। बदायूनी ने उस पर अकबर को विष देने का आरोप लगाया है; किन्तु डा० बेनीप्रसाद कहते हैं कि "यह सन्देह अन्यायपूर्ण था; किन्तु अकबर की बीमारी सचमुच चिन्ताजनक थी।" जब अकबर ने दक्खिन को कूच किया तो सलीम को वह उत्तर का भार सौंप

गया और विशेषकर मेवाड़ पर आक्रमण करने का आदेश दे गया। किन्तु उसने इस विश्वास का दुरुपयोग किया और विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। उसके विद्रोह के कारण पाँच वर्ष तक साम्राज्य डगमगाता रहा, किन्तु उससे सरकार की सुरक्षा पर कभी आँच नहीं आई। अकबर के व्यक्तित्व तथा उसकी गौरवपूर्ण सफलताओं के कारण उसकी प्रजा उत्साहपूर्वक उसकी सराहना तथा उससे स्नेह करती थी। उसके अपार साधन—जन, धन तथा सामग्री—किसी भी विद्रोह को शीघ्र ही कुचल देने के लिये पर्याप्त थे। किन्तु अपनी पितृ सुलभ कोमलता के कारण उसने सलीम को तुरन्त ही समाप्त करने का प्रयास नहीं किया। उधर राजकुमार भी अपनी स्थिति की दुर्बलता को भली भाँति समझता था, इसलिये उसने भी मामले को हद तक नहीं पहुँचने दिया। उसने हिचकिचाहट तथा ढील दिखलाई और कभी-कभी अपने प्रिय जनों के प्रभाव से मुक्त होकर पिता के सामने समर्पण भी कर दिया। फिर भी १६०१ में वह स्वतंत्र बन बैठा, इलाहाबाद में दरबार कायम कर लिया, बिहार के कोष से ३० लाख रुपया हड़प लिया और अपने समर्थकों में जागीरें तथा उपाधियाँ बाँट दी। उसने केवल अपने पिता का अभिवादन करने के उद्देश्य से ३०,००० का एक दल एकत्र कर लिया। किन्तु अकबर के गौरवपूर्ण आत्मविश्वास के कारण उसकी बुद्धि ठिकाने आ गई और अन्त में उसने बंगाल तथा बिहार की सूबेदारी लेकर समझौता कर लिया। इनायतुल्ला लिखता है :—

जब सम्राट अकबराबाद (आगरा) में था उस समय राजकुमार ने उससे भेंट करने के लिये प्रार्थना की, और इस उद्देश्य से चलकर इटावा तक पहुँच गया किन्तु वहाँ उसके कुछ दुष्ट प्रकृति के सलाहकारों ने उसके मन में सन्देह उत्पन्न कर दिया, इससे वह आगे बढ़ने से डर गया। जैसे ही सम्राट को इसका पता लगा वैसे ही उसने राजकुमार को लिख भेजा 'यदि वह अपने हृदय से आकर अभिवादन करना चाहता है तो उसे चाहिये कि अकेला आकर अपना विश्वास प्रकट करे और अपने सेवकों को उनकी जागीरों को भेज दे; किन्तु इसके विपरीत यदि उसके मन में सन्देह है तो अच्छा हो कि इलाहाबाद लौट जाय और वहाँ अपने हृदय को पक्का करले और जब उसे पूरा आश्वासन तथा विश्वास हो जाय तब आकर दरबार में उपस्थित हो।' इस दयापूर्ण किन्तु चेतावनीयुक्त सन्देश को पाकर राजकुमार घबड़ा गया और तुरन्त ही उसने मीर सद्रे जहाँ को जो साम्राज्य का मुख्य न्यायाधीश था और राजकुमार के पास सम्राट के अभिकर्ता के रूप में आया हुआ था अपने पिता की सेवा में भेजा और कहा कि मेरी ओर से सम्राट से विनम्र क्षमा याचना करना और मेरी कर्तव्यपरायणता तथा राजभक्ति के सम्बन्ध में उन्हें विश्वास दिलाना। इसके बाद उसने इलाहाबाद की ओर प्रस्थान कर दिया इसी बीच में एक शाही फर्मान जारी हुआ जिसके अनुसार उसे बंगाल तथा उड़ीसा की सूबेदारी सौंप दी गई और आदेश दिया गया कि अपने पदाधिकारियों को उन प्रान्तों पर अधिकार करने के लिये भेज दे। उसी समय राजा मानसिंह को आज्ञा मिली कि प्रान्तों को उसके सुपुर्द कर दे और स्वयं दरबार में लौट आवे।'

इतना सब कुछ होने पर भी सलीम ने फिर विद्रोह का मार्ग अपनाया। इसी कारण अबुल फजल को दक्षिण से बुलाया गया और विद्रोही राजकुमार के अभिकर्ता ने निर्लज्जतापूर्वक उसकी हत्या कर दी। तत्सम्बन्धी ब्योरे की बातों का हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं। यह दुःखद घटना अगस्त १६०२ में हुई। यद्यपि इस अपराध के लिये सलीम को कठोर दण्ड मिलना चाहिये था, किन्तु "पिता तथा राजनीतिज्ञ अकबर ने न्यायाधीश अकबर पर विजय पाई।" दानियाल अपने ही दुर्व्यसनों के कारण तेज़ी से मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहा था। सलीम के पुत्रों की आयु इतनी कम थी कि उनमें से किसी को उसके स्थान पर सिंहासन नहीं सौंपा जा सकता था। इसलिये, जैसा कि इनायतुल्ला ने लिखा है, 'सुल्ताना सलीमाबेगम ने सम्राट तथा राजकुमार सलीम के बीच मध्यस्थता की जिसके फलस्वरूप अन्त में सम्राट ने पुत्र के प्रति अपने स्वाभाविक स्नेह के सामने हार मान ली; और उधर अकबर की सम्माननीय माता ने भी सलीम को क्षमा कर दिया।'

सलीम को अपदस्थ करने का षड़यंत्र—१६०३ ई० में दूसरी बार सलीम से मेवाड़ पर चढ़ाई करने को कहा गया, किन्तु इस बार फिर उसने ढील दिखलाई और समय नष्ट किया। अन्त में वह अपनी सेना एकत्र करने के बहाने इलाहाबाद चला गया; और शीघ्र ही फिर विद्रोहात्मक कार्यवाहियाँ आरम्भ कर दीं। स्पष्ट है कि अपने अन्तिम दिनों में अकबर को अपार दुःख भोगने पड़े। उसके महान् दरबारी तथा मित्र एक के बाद एक चल बसे थे: १५८६ में बीरबल की मृत्यु हुई और उसके बाद शीघ्र टोडरमल तथा भगवानदास भी कूच कर गये; १५९३ में शेख मुबारक (अबुल फज़ल तथा फैज़ी का पिता), १५९५ में फैज़ी और १६०२ अबुल फज़ल का देहान्त होगया। इस प्रकार जब वह अकेला रह गया था, उसके मन को अपने युवराज के द्रोह तथा कृतघ्नता पूर्ण आचरण के कारण घोर यातना हुई। ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविक था कि महत्वाकांक्षी लोगों का ध्यान राजकुमार खुसरू (जहाँगीर का ज्येष्ठ पुत्र) की ओर जाता। वह राजा मानसिंह का भानजा तथा मिर्ज़ा अज़ीज कोका का दामाद थ, वे दोनों साम्राज्य के सर्वाधिक शक्तिशाली अमीर थे। खुसरू की आयु उस समय सत्रह वर्ष की थी, उसकी आकृति सुन्दर तथा निर्दोष और मनमोहक थी, और अब उसे ऐसे महान् समर्थक मिल गये। यह कहना असम्भव है कि अकबर ने इस षड्यन्त्र का जिसका उद्देश्य उसके प्रिय पुत्र को अपदस्थ करना था, कहाँ तक सामना किया। १६०५ में उसने अन्तिम बार उसे आतंकित करने तथा बलपूर्वक उससे समर्पण कराने का प्रयत्न किया। किन्तु इसी बीच में दैव ने हस्तक्षेप किया। प्राकृतिक कठिनाइयों के कारण उसकी सेनायें अधिक प्रगति न कर सकीं। उधर उसकी बूढ़ी माता मरियम मकानी मृत्यु शैया पर पड़ी हुई थी, इस समय उसका तुरन्त ही आगरा लौटना आवश्यक हो गया। राजकुमार सलीम ने भी अपने ऊपर आने वाले सङ्कट को शीघ्रही भाँप लिया और पिता के पीछे-पीछे राजधानी पहुँचना तथा परिवार के शोक में सम्मिलित होना ही उचित समझा। शिष्टाचार की रस्में पूरी हो जाने पर अकबर ने उसे

अबुल द्वारा फटकारा और हकीमों की देख-रेख में नजरबन्द करवा दिया। मदिरा तथा कुसंगति ने उसका मस्तिष्क फेर दिया था, इसलिये कुछ समय के लिये उसे इन दोनों से ही वंचित कर दिया गया। सलीम ने दस दिन अपमान तथा पश्चात्ताप में बिताये। इन घटनाओं के पीछे ही अकबर की अन्तिम बीमारी लगी चली आई और अन्त में १६०५ में उसकी मृत्यु हो गई। अकबर के मृत्यु शैया पर पड़े होने के समय जो षड्यन्त्र रचा गया, उसका हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं। केवल मुख्य घटनाओं की ओर संकेत कर देना ही यहाँ पर्याप्त है। अन्त में सलीम को अपदस्थ करने का षड्यन्त्र विफल रहा।

सिंहासनारोहण तथा दृष्टिकोण

डा० बेनीप्रसाद के अनुसार सलीम १५ अक्टूबर १६०५ को आगरे के किले में अपने पिता के सिंहासन पर बैठा; उस समय उसकी अवस्था छत्तीस वर्ष की हो चुकी थी। किन्तु 'वाकिआते जहाँगीरी' में लिखा हुआ है। '१०१४ हि० में ८ जुमादिउस्सानी बृहस्पतिवार को (२४ अक्टूबर १६०५) मैं अपनी आयु के अड़तीसवें वर्ष में आगरा में सिंहासन पर बैठा।' उसने नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर बादशाह गाज़ी का नाम तथा उपाधि धारण की और असदबेग के शब्दों में लोगों के हृदयों को जीतने तथा मुरझाये हुए चमन का फिर से संगठन करने लगा।

'उसने अनेक सर्वश्रेष्ठ अमीरों शक्तिशाली मंत्रियों तथा वीर युवकों को सम्मानजनक उपाधियाँ तथा स्वीकार करने योग्य पद देकर सम्मानित किया। प्रजा के हृदय को सान्त्वना देने के लिये उसने सोने की घंटियों सहित न्याय की जंजीर लटकवा दी और लोगों के हृदयों से उत्पीड़न की काई हटा दी।—— पहले ही थोड़े दिनों में उसने तमगा शुल्क, हिन्दुओं पर से जिज़्या तथा अमानों की सम्पत्ति पर से कर हटा दिये। अपने सम्पूर्ण पितृगत राज्य में उसने इन करों को माफ़ कर दिया। उसने समुद्र तथा थानों की सड़क पर लगने वाले शुल्क तथा आबकारी कर जड़ से हटा दिये, परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तान भर में जहाँ तक सम्राट का क्षेत्राधिकार था, कोई उनका नाम भी न जानता था।'

ऊपर जिन सम्माननीय उपाधियों तथा स्वीकार्य पदों का उल्लेख किया गया है उनकी आलोचना के रूप में दो शब्द कहना आवश्यक है। जिन परिस्थितियों में नया शासन प्रारम्भ हुआ उनमें सम्राट के अन्धाधुन्ध समर्थन के कारण कुछ अवांछनीय लोगों का आगे आ जाना अनिवार्य था। इनमें सबसे बुरा उदाहरण अबुल फ़ज़ल के हत्यारे वीरसिंह बुन्देला का था। उसकी पद वृद्धि करके ३००० का मनसबदार बना दिया गया। दूसरी ओर बैरमखाँ के पुत्र अब्दुर रहीम खानखाना को भी उच्च पद पर नियुक्त किया गया, यद्यपि प्रारम्भ में उसे केवल २००० का ही मनसब मिला; वह अपने पद के सर्वथा योग्य भी था। तीसरा उल्लेखनीय व्यक्ति जिसे अमीर बनाया गया नूरजहाँ का पिता ईरानी साहसिक

मिर्ज़ा गियासबेग था जो आगे चल इतमादुद्दौला के नाम से विख्यात हुआ। प्रारम्भ में उसे केवल १५०० का मनसब मिला। खानजमान, अजीज़ कोका तथा राजा मानसिंह का प्रभाव घट जाना अनिवार्य था।

बारह अध्यादेश

शासक के रूप में जहाँगीर के दृष्टिकोण को निम्नांकित बातों से पता लग सकता है।

'सम्राट अपनी 'वाकियाते जहाँगीरी' में लिखता है, 'मैंने बारह अध्यादेश जारी किये और आज्ञा दी कि मेरे साम्राज्य भर में सभी लोग उन पर अमल करें।'

१—ज़कात का निषेध—'मैंने आज्ञा दी कि तमगा तथा मीर बहरी नाम से प्रचलित चुंगियाँ न वसूल की जायँ और न वे कर उगाहे जायँ जिन्हें प्रत्येक सूबा तथा सरकार के जागीरदार अपने लाभ के लिये वसूल करते आये हैं।

२—राहजनी तथा चोरी के सम्बन्ध में नियम—उन सड़कों पर जहाँ डकैती तथा चोरी हुआ करती थी और सड़कों के उन भागों पर जो आबादी से दूर थे, पड़ोस के जागीरदारों को एक सराय अथवा मस्जिद बनवानी पड़ती तथा एक कुआ खुदवाना पड़ता था जिससे कृषि को प्रोत्साहन मिले और लोगों को वहाँ बसने की प्रेरणा मिले। यदि वे स्थान खालसा भूमि के निकट होते तो सरकारी पदाधिकारियों को ये काम करवाने पड़ते थे।

३—मृतकों की सम्पत्ति निःशुल्क उत्तराधिकार में पाना—पहला, कोई व्यक्ति मार्ग में व्यापारियों की पोटरियाँ उनकी अनुमति के बिना नहीं खोल सकता था। दूसरे, जब मेरे राज्य के किसी भाग में कोई हिन्दू अथवा मुसलमान मर जाता, तो उसके उचित उत्तराधिकारियों को बिना किसी के हस्तक्षेप के उसकी सम्पत्ति तथा सामान पर अधिकार करने दिया जाता था। यदि उसके कोई उत्तराधिकारी न होता तो उसकी सम्पत्ति को सँभालने के लिये पदाधिकारी नियुक्त किये जाते जो इस्लाम के नियमों के अनुसार सराएँ और मस्जिदें बनवाने, टूटे हुए पुलों की मरम्मत कराने तथा तालाब और कुँये खुदवाने में उसे व्यय करते

४—शराब तथा मादक द्रव्यों के सम्बन्ध में—शराब तथा हर प्रकार के मादक द्रव्य का निषेध है, वह न बनाया जाय और न बेचा जाय, यद्यपि मुझे स्वयं मद्यपान की आदत पड़ गई है और अठारह वर्ष की अवस्था से आज अड़तीस वर्ष की आयु तक मैं नियमपूर्वक उसका सेवन करता आया हूँ।

५—मकानों पर अधिकार करने तथा अपराधियों के नाक-कान काटने का निषेध—कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे के मकान में नहीं बस सकता था। मैंने आज्ञा जारी की किसी भी अपराधी के नाक-कान न काटे जायँ और मैंने ईश्वर के समक्ष शपथ ली कि कभी किसी को यह दण्ड नहीं दूँगा।

६—दस्ती का निषेध—खालसा भूमि के पदाधिकारी तथा जागीरदार रैयत की भूमि बलपूर्वक नहीं छीन सकते और न उस पर अपनी ओर से खेती कर सकते हैं। खालसा भूमि के राजस्व वसूल करनेवाले तथा जागीरदार बिना आज्ञा के अपने जिले की जनता से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते।

७—अस्पतालों का बनवाना तथा रोगियों की सेवा के लिये हकीमों का नियुक्त करना—बड़े बड़े नगरों में अस्पताल बनवाये गये और रोगियों की सेवा के लिये चिकित्सक नियुक्त किये। उनका व्यय शाही कोष से दिया जाता था।

८—कुछ निश्चित दिनों पशु वध का निषेध—अपने सम्माननीय पिता का अनुकरण करते हुए मैंने आदेश दिया कि मेरे जन्म दिन १८ रबीउल अव्वल से लेकर मेरी आयु के जितने वर्ष हो गये हों उतने दिनों तक पशुओं का वध न किया जाय। प्रत्येक सप्ताह में भी दो दिन ऐसे निश्चित किये गये जब कि पशु वध नहीं होता था; बृहस्पतिवार जो मेरे राज्यारोहण का दिन है और रविवार जिस दिन मेरे पिता का जन्म हुआ था।

९—रविवार का सम्मान—मेरे पिता रविवार को शुभ मानते थे और उसका बहुत आदर करते थे क्योंकि यह महान सूर्य का दिन है और इस दिन ही सृष्टि की रचना आरम्भ हुई थी। मेरे साम्राज्य भर में यह दिन ऐसा था जब कि पशुओं का मारना निषिद्ध था।

१०—मनसबों तथा जागीरों का स्थायीकरण—मैंने एक सामान्य आज्ञा जारी करदी कि मेरे पिता के समय के मनसब तथा जागीरें स्थायी कर दी जायें, और बाद में मैंने प्रत्येक व्यक्ति को योग्यता के अनुसार मनसबों में वृद्धि कर दी।

११—आइमा भूमि का स्थायीकरण—मेरे साम्राज्य भर में जितनी भी आइमा तथा मददमाश भूमि थी और जो प्रार्थना तथा पूजा के लिये दी गई थी, मैंने उस सब को अनुदान की शर्तों के अनुसार ही प्रत्येक अनुदानी के अधिकार में स्थायी कर दिया। मीरन सद्र-जहाँ को जो हिन्दुस्तान के सैयदों में सबसे अधिक शुद्ध कुल का है और जो मेरे पिता के समय में सद्र के पद पर काम करता था, प्रतिदिन गरीब लोगों की देख रेख करने की आज्ञा दी गई।

१२—किलों तथा अन्य सभी प्रकार के कारागारों में बन्द सभी कैदियों को मुक्तिदान—मैंने आदेश दिया कि किलों अथवा कारागारों में जो बन्दी दीर्घकाल से बन्द हैं उन सबको मुक्त कर दिया जाय।

सर हेनरी इलियट ने इन आज्ञापत्रों की जो आलोचना की है उससे जहाँगीर तथा मुगलों का पूर्णतया विकृत चित्र प्रस्तुत होता है। जो शासन इतनी भली प्रकार आरम्भ हुआ उसकी प्रत्याशा सम्राट के सबसे बड़े पुत्र राजकुमार खुसरू के विद्रोह के कारण धूमिल पड़ गई।

खुसरू का विद्रोह—खुसरू बहुत ही सर्वप्रिय व्यक्ति था। टैरी ने उसके सम्बन्ध में लिखा है, 'उस सज्जन की आकृति बहुत ही मनमोहक तथा चाल-ढाल बहुत ही सुन्दर थी, सामान्य लोगों का उस पर अतिशय स्नेह था।' — ... उसने एक ही स्त्री से सन्तोष कर लिया था जिसने बड़े प्रेम तथा चिन्ता के साथ सभी सङ्कटों में उसका अनुगमन किया, इसलिये उसके अतिरिक्त उसने किसी दूसरी स्त्री को नहीं ग्रहण किया, यद्यपि अपने धर्म के अनुसार उसे अनेक पत्नियाँ रखने की स्वतन्त्रता थी। डा० बैनीप्रसाद लिखते हैं, "अपने आकर्षक व्यक्तित्व, स्वाभाविक प्रतिभाएँ, सुन्दर शिक्षा तथा निर्दोष चरित्र के बावजूद खुसरू अपरिपक्व तथा उग्र स्वभाव का युवक था और उसकी निर्णय-बुद्धि दुर्बल थी—एक तो उसका मस्तिष्क ही ऐसा था, फिर उसकी सर्वप्रियता तथा उच्च स्थिति; इन सबके कारण वह सरलता से कुचक्रों तथा षडयन्त्रों का केन्द्र बन गया।"

१६ अप्रैल १६०६ की सन्ध्या को वह अपने दादा के मकबरे के दर्शन करने के बहाने भाग निकला; वास्तव में उसने पंजाब की ओर कूच किया और मिर्ज़ा हसन (शक्तिशाली अमीर मिर्ज़ा शाह रुख का पुत्र) की सहायता से सेनाएँ इकट्ठी करने लगा। यद्यपि विद्रोही राजकुमार अपने पिता के ही चरण चिन्हों पर चल रहा था, फिर भी उसकी विद्रोहात्मक कार्यवाहियों के सम्बन्ध में जहाँगीर के विचार ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि वे कम से कम उन आरोपों के उदाहरण हैं जो सत्ताधारी अन्य व्यक्तियों के चरित्र तथा दृष्टिकोण के सम्बन्ध में लगाया करते हैं:—

वह लिखता है, 'मेरे राज्यारोहण के बाद पहले ही वर्ष में खुसरू के मस्तिष्क मे यौवन के अहकार तथा उद्दण्डता, अनुभव तथा बुद्धि के अभाव और दुष्ट साथियों के भड़काने के कारण, कुछ मूर्खतापूर्ण विचार उत्पन्न हो गये। ... वे कभी यह नहीं सोचते कि सीमित बुद्धि के लोग प्रभुत्व तथा सरकार का भार नहीं सभाल सकते। उच्चतम न्यायकर्ता ईश्वर यह कार्य उन्हीं को सौंपता है जिन्हें वह इसके योग्य समझता है, प्रत्येक व्यक्ति इस योग्य नहीं होता कि राजत्व के वस्त्र धारण करना उसे शोभा दे सके। खुसरू तथा उसके मूर्ख साथियों के इन मिथ्या स्वप्नों का सङ्कट तथा अपमान की अपेक्षा और कोई परिणाम नहीं हो सकता। यह सोच कर मुझे बहुत दुःख हुआ कि मेरा पुत्र ही बिना किसी कारण के मेरा शत्रु बन जाय, और यदि मैंने उसे पकड़ने का प्रयत्न न किया होता तो असन्तुष्ट तथा उद्दण्ड लोग उसका समर्थन करते अथवा वह स्वयं उजबेगों अथवा कजिलबाशों के यहाँ चला जाता और इस प्रकार मेरे सिंहासन को कलंक लगता।'

युद्ध के ब्यौरे का अधिक महत्व नहीं है। वह तीन सप्ताह (६-२७ अप्रैल १६०६) में ही समाप्त हो गया। लाहौर के सूबेदार ने विद्रोही राजकुमार के

लिये फाटक खोलने से इन्कार कर दिया। चिनाब को पार करते समय वह पकड़ा गया।

'खुसरू की पराजय से पहले पंजाब के सभी जागीरदारों, मार्ग रक्षकों और घाट वालों को फर्मान भेजा गया और जो कुछ हो चुका था उसकी सूचना दी गई तथा सावधान रहने को कहा गया। ३ मुहर्रम १०१५ हि० को मिर्जा कामरान के बाग में खुसरू को मेरे समक्ष उपस्थित किया गया, उसके हाथ बंधे हुए थे और एक टाँग में जंजीर पड़ी थी, और चिनगिजखाँ के नियम के अनुसार उसे बायीं ओर से लाया गया था। इस युद्ध में मुझे जो सफलता मिली उसका श्रेय मैंने शेख फरीद को दिया और मुर्तजाखाँ की उपाधि देकर उसे प्रतिष्ठित किया। अपने शासन को दृढ़ करने तथा स्थायी बनाने के लिये मैंने आज्ञा दी कि बाग से लेकर नगर तक खूँटों की दुहरी पंक्तियाँ गड़वाई जाँय और विद्रोहियों को उन पर ठोंक दिया जाय और इस प्रकार उन्हें अत्यन्त यातनापूर्ण दंड मिले। चिनाब तथा बिहार के बीच के जिन जमींदारों ने राजभक्ति का परिचय दिया था उन्हें मैंने मददमाश के रूप में कुछ भूमि देकर पुरस्कृत किया।

सिक्ख सम्प्रदाय के प्रमुख गुरु अर्जुन को विद्रोही राजकुमार का साथ देने के अपराध में मृत्यु दंड दिया गया और विरासत समेत उनकी समग्र सम्पत्ति जब्त कर ली गई। उनका अपराध यह था कि उन्होंने खुसरू को ५००० रुपये दिये थे। अपने इस कार्य को गुरु ने अपने धर्म के नाम पर उचित ठहराया और कहा कि अकबर ने मेरे साथ जो दयालुता का व्यवहार किया था उसके लिये कृतज्ञता प्रकट करने के लिये मैंने ऐसा किया, न कि इसलिये कि मैं 'सिंहासन के विरुद्ध था।' पहले जहाँगीर ने उन पर केवल दो लाख रुपया जुर्माना किया था और आज्ञा दी थी कि ग्रन्थ साहब से वे अंश निकाल दो जो हिन्दुओं तथा मुसलमानों के विरुद्ध हैं। इसका गुरु ने उत्तर दिया।

'मेरे पास जो कुछ धन है वह दरिद्रों असहायों तथा अपरिचितों के लिये है। यदि तू धन चाहता है तो मेरे पास जो कुछ है ले ले किन्तु यदि तू जुर्माने के रूप में माँगता है तो मैं तुझे एक कौड़ी भी नहीं दूँगा, क्योंकि जुर्माना दुष्ट सांसारिक लोगों पर किया जाता है न कि महन्तों और सन्यासियों पर। और तूने ग्रन्थ साहब में से पद निकाल देने की जो बात कही है, न उसमें से एक शब्द भी नहीं हटा सकता।— इसमें जो पद हैं वे किसी हिन्दू अवतार अथवा मुसलमान पैगम्बर के प्रति असम्मान नहीं प्रकट करते। बल्कि उनमें निश्चयपूर्वक यह कहा गया है कि पैगम्बर महन्त तथा अवतार उस अविनाशी ईश्वर की कृति हैं जिसका कोई पार नहीं पा सकता। मेरा मुख्य उद्देश्य सत्य का प्रचार तथा असत्य का नाश करना है और यदि इस प्रयत्न में मेरा यह नाशवान शरीर चला जाय तो मैं इसे अपना महान सौभाग्य समझूँगा।

इसकी आलोचना करते हुये डा० बेनीप्रसाद लिखते हैं, "इस दुखद घटना के सम्बन्ध में सिक्ख परम्परा में यह धारणा चली आ रही है कि खालसा को मुगल सम्राटों के हाथों जो धार्मिक अत्याचार सहने पड़े उनका आरम्भ इसी से

हुआ। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं थी। जहाँगीर ने भयंकर भूल की, इसमें सन्देह नहीं, और इस चीज को छोटा करके दिखाने की भी आवश्यकता नहीं, किन्तु यह स्वीकार करना भी न्यायसंगत होगा कि इस पूरे मामले में केवल एक व्यक्ति का बध किया गया और वह भी मुख्यतया राजनैतिक कारणों से। अन्य सिक्खों को किसी प्रकार से नहीं सताया गया। सिक्ख धर्म पर किसी भाँति का प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। गुरु अर्जुन के दिन भी शान्ति से बीत गये होते, यदि उन्होंने एक विद्रोही का साथ न दिया होता।" वी० ए० स्मिथ भी लिखते हैं, "ध्यान देने की बात यह है कि यह दण्ड राज-द्रोह तथा आज्ञोल्लंघन के लिये दिया गया था, और मूलत: धार्मिक अत्याचार का कार्य नहीं था।"

खुसरू को भी अन्धा करके कारागार में डाल दिया गया। बाद में उसकी आँखें तो कुछ ठीक हो गईं किन्तु उसे स्वतन्त्रता न मिल सकी।* वह राजनैतिक खेल का मोहरा बनने के लिए जीवित रहा, और अन्त में दु:खद तथा सन्देहास्पद परिस्थितियों में उसका वध कर दिया गया।

* खुसरू को अन्धा करने का कारण एक दूसरा विद्रोह था जो उसके पक्ष में किया गया। जिस समय जहाँगीर काबुल गया हुआ था, उसी अवसर पर एक दिन शिकार के दौरान में उसकी हत्या करने और खुसरू को सिंहासन पर बिठलाने के लिये षडयन्त्र रचा गया। किन्तु षडयन्त्रकारियों की संख्या अधिक थी इसलिये जहाँगीर को उसका पता लग गया। उनके नेता पकड़ कर फाँसी पर लटका दिये गये। राजकुमार के शुभ-चिन्तकों ने उसकी भलाई के लिये अतिशय उत्साह दिखाया, इसलिये उसे और भी अधिक दण्ड भोगना पड़ा। 'इन्तिखबे जहाँगीर-शाही' में उसके अन्धे किए जाने का अधोलिखित वृत्तान्त दिया हुआ है—

'श्रीमान् सम्राट ने आज्ञा दी कि राजकुमार खुसरू को अन्धा कर दिया जाय। जब उसके नेत्रों में तार छुआया गया तो उसे इतनी तीव्र वेदना हुई कि उसका वर्णन करना असम्भव है। अन्धा किये जाने के बाद राजकुमार को फिर आगरा लाया गया, और पितृ स्नेह पुन: उमड़ पड़ा। अत्यधिक अनुभवी हकीमों को आज्ञा दी गई कि राजकुमार की आँखों को अच्छा करने के उपाय किये जाँय जिससे वे पुन वैसी ही स्वस्थ हो जायँ जैसी कि पहले थीं। ईरान के एक हकीम ने जिसका नाम हाकिम सद्र था, छ: महीने के भीतर राजकुमार को अच्छा करने का बीड़ा उठाया। उसके कौशल से राजकुमार की एक आँख की दृष्टि पूर्ववत हो गई किन्तु दूसरी में थोड़ी सी कसर बनी रही और पहले से कुछ छोटी भी हो गई। जो समय दिया गया गया था उसके उपरान्त राजकुमार को सम्राट के सम्मुख उपस्थित किया गया, उसने हकीम के प्रति बहुत अनुग्रह प्रकट किया और मसीहुज्जमाँ की उपाधि देकर सम्मानित किया।'—ईलियट तथा डाउसन

विजय-युद्ध

जहाँगीर के शासन-काल के प्रमुख युद्ध वे थे जिनके परिणामस्वरूप १६१४ में मेवाड़ का दमन हुआ, १६१६ में अहमदनगर और १६२० में काँगड़ा पर अधिकार हुआ और १६२२ में कान्धार हाथ से निकल गया। इनके अतिरिक्त कुछ और भी छोटी-मोटी विजयें की गईं तथा विद्रोह हुए जिनका यथास्थान उल्लेख किया जायगा।

मेवाड़—डा० बेनीप्रसाद लिखते हैं :—"संसार में जितनी भी जातियाँ हुई हैं उनमें से ऐसी कोई नहीं हुई जिसका इतिहास इतना रोमाँचकारी, कार्य इतने वीरतापूर्ण और मान तथा आत्म-सम्मान की भावना इतनी अभिमानपूर्ण रही हो जितनी कि मध्ययुगीन भारत के राजपूतों की।" जैसे ही हम राजपूत इतिहास के पन्ने पलटते हैं वैसे ही यह देख-कर कि मनुष्य पराक्रम भक्ति तथा परोपकार को किस ऊँचाई तक पहुँच सकता है हमारा मस्तिष्क चकराने लगता है। राजपूती भावना का सार मेवाड़ के रंगीन इतिहास में प्रकट हुआ है। "वे (सीसोदिया) अपने देश की चट्टानों और घाटियों संकीर्ण अगाध दर्रों और छिपी हुई तथा रहस्यमय पगडण्डियों से भली भाँति परिचित थे संकट के समय में उनका यह ज्ञान अत्यधिक मूल्यवान् सिद्ध हुआ। उनके बिना मेवाड़ का इतिहास कुछ और ही होता।

'मेवाड़ के बीच से अथवा उसकी सीमा के निकट से गंगा के उर्वरा मैदानों तथा पश्चिमी समुद्रतट के व्यापारिक केन्द्रों को सम्बद्ध करने वाले राजमार्ग जाते थे। मेवाड़ के स्वतन्त्र रहते हुये दिल्ली साम्राज्य के व्यापारी इन मार्गों पर अपने जान माल की समुचित सुरक्षा की आशा नहीं कर सकते थे और न ही अत्यधिक करों से ही मुक्ति मिल सकती थी। यह एक मुख्य कारण था जिससे मुगल सम्राट मेवाड़ की स्वाधीनता को कभी सहन नहीं कर सकते थे। इसमें सन्देह नहीं कि इसके अतिरिक्त राजपूतों की बची खुची स्वतन्त्रता का नाश करने की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा भी विद्यमान थी, किन्तु मुगलों के प्रति न्याय करने की दृष्टि से इस आर्थिक कारण पर बल देना आवश्यक है जिसकी इतिहासकारों ने सामान्यतया उपेक्षा की है।'

अकबर के समय में राजपूतों के इतिहास का हम पहले ही वर्णन कर आये हैं। फिर भी यहाँ पर कर्नल टॉड की इस बहु उद्धृत प्रशस्ति को दुहरा देना अप्रासंगिक न होगा —

"यदि मेवाड़ में भी थ्यूसीडाइड्स अथवा जेनोफन (जैसा इतिहासकार) होता तो इतिहास की देनों को न तो पेलोपोनेसस के युद्धों में और न 'दस हजार के पलायन' में ही वर्णन करने के लिये इतनी विभिन्न घटनायें मिलतीं जितनी कि मेवाड़ के उत्थान पतन के बीच इस (प्रताप के) गौरवमय शासन के कार्यों में। एक ओर था दुर्दमनीय साहस, अडिग धैर्य जिससे यश कान्तिमान होता है और ऐसा भक्तिपूर्ण अध्यवसाय जिसका उदाहरण संसार के अन्य किसी देश में नहीं मिल सकता, और दूसरे पक्ष में भी अधीन

महत्त्वाकांक्षा, सैनिक प्रतिभा, अपरिमित साधन तथा धार्मिक उत्साह का उन्माद; किन्तु ये सब भी एक अजेय मस्तिष्क से टक्कर लेने के लिये पर्याप्त न थे। अरावली में कोई ऐसा दर्रा नहीं है जो प्रताप के किसी न किसी कार्य से—किसी जाज्वल्यमान विजय अथवा उससे भी गौरवपूर्ण पराजय से—पुनीत न हो चुका हो। हल्दीघाट मेवाड़ की थर्मापली है, और दवीर का रणक्षेत्र उसका मेराथन।'

किन्तु जहाँगीर के शासन-काल में इस सब पर पानी फिर गया। जिस प्रकार हैमिलकर ने हैनीबाल को शपथ दिलाई थी वैसे ही मरते समय प्रताप ने पिशोला के तट पर अपने पुत्र तथा सरदारों को 'बप्पा रावल के सिंहासन' की सौगन्द खिलाई और मुगलों से निरन्तर शत्रुता कायम रखने का आदेश दिया। किन्तु अमरसिंह को, यद्यपि निस्सन्देह वह अनेक प्रकार से महान था, खुर्रम के सामने शीश नवाना पड़ा।

सिंहासन पर बैठने के बाद जहाँगीर ने तुरन्त ही २०,००० अश्वारोहियों की एक सेना राजकुमार परवेज तथा आसफखाँ (जफरबेग—नूरजहाँ का प्रसिद्ध भाई आसफखाँ नहीं) के नेतृत्व में मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिये भेजी, मानो वह अपने कर्तव्य की उस अवहेलना के लिये प्रायश्चित करना चाहता था जो उसने अपने पिता के शासन-काल में की थी। दवीर के स्थान पर दोनों सेनाओं में मुठभेड़ हुई, युद्ध का परिणाम विवादग्रस्त है। दोनों ही पक्षों ने विजय का दावा किया। किन्तु सच्चाई कुछ भी रही हो, खुसरू के विद्रोह के कारण परवेज तथा उसकी सेना वापस बुला ली गई। जहाँगीर लिखता है, "खुसरू के दुःखद विद्रोह के कारण सब कुछ बन्द हो गया, मुझे पंजाब की ओर उसका पीछा करना पड़ा और राजधानी तथा देश के भीतर सेनाओं का अभाव हो गया। मुझे परवेज को लिखना पड़ा कि वह तुरन्त लौट आये, आगरा तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश की रक्षा करे और वहीं रहे। इसलिये राजा के विरुद्ध युद्ध स्थगित कर दिया गया।'[२] दो वर्ष उपरान्त (१६०८ में) महाबत के अधिक आशाजनक नेतृत्व में दूसरा आक्रमण किया गया। इस बार सम्पूर्ण दल में १२०००, घुड़सवार, ५०० तहदी, और २००० बन्दूकची, ६० हाथी और ८० ऊँटों तथा हाथियों पर चढ़ी हुई छोटी तोपें सम्मिलित थी। खर्च के लिये बीस लाख रुपया निश्चित किया गया। फिर भी मुगलों को छोटी-मोटी विजयें प्राप्त हुई, किन्तु शत्रु के देश में वे अधिक प्रगति न कर सके। दूसरे वर्ष महावतखाँ को हटा कर अब्दुल्लाखाँ को सैन्य संचालन का भार सौंपा गया। अब्दुल्लाखाँ का 'एक पराक्रमी योद्धा, निर्भीक सेनानायक और क्रूर तथा निर्मम ढंग के व्यक्ति के रूप में वर्णन किया गया है। कुम्भलनेर के पहाड़ी किले से जिसका निर्माण राणा कुम्भा (१४४३-५८) ने किया था, उसने अमरसिंह पर ऐसा झपट्टा मारा कि मेवाड़ नरेश को प्राणों के लाले पड़ गये। दोनों पक्षों में भाग्य के उतार चढ़ाव के साथ कई वर्षों तक युद्ध चलता रहा; किन्तु अन्त में दक्खिन-युद्ध की संकटमय परीस्थितियों के कारण अब्दुल्ला को वापस बुला लिया गया। थोड़े समय के लिये प्रयोग के रूप में राजा बसू से काम

लिया गया, किन्तु आखिर में (१६१३) युद्ध संचालन का भार खुसरू के ससुर खाने आज़म अज़ीज़ कोका को जिसे जहाँगीर ने 'कपटी तथा साम्राज्य का एक पुराना भेड़िया' कहा है, और राजकुमार खुर्रम को सौंपा गया। दोनों में परस्पर झगड़ा हो गया जैसा कि अनिवार्य था; और खाने-आज़म को वापस बुला कर ग्वालियर के किले में बन्द कर दिया गया (अप्रैल १६१४)। खुर्रम ने उस पर आरोप लगाया था कि 'उसका खुसरू के लोगों से सम्बन्ध है, इसलिये वह काम को बिगाड़ रहा है' और उसकी उपस्थिति '*किसी भी प्रकार से उचित नहीं*' है। किन्तु उसे शीघ्र मुक्त कर दिया गया।

अब सेनापतित्व का पूरा भार खुर्रम पर ही रह गया, उसने अनुभवपूर्ण योग्यता के साथ युद्ध का संचालन किया। उसने देश को उजाड़ दिया और रसद के आने के मार्ग काट दिये, इससे राणा घोर संकट में फँस गया। वास्तव में अमरसिंह की भी वही दशा हो गई जो १५७६ ई० में उसके पिता की हो गई थी। जहाँगीर लिखता है।

विवश होकर उसने समर्पण करने तथा अभिवादन करने का संकल्प किया। उसने अपने मामा शुभकरण तथा अपने एक अत्यधिक विश्वसनीय और बुद्धिमान सेवक हरदास झाला को भेजा और मेरे पुत्र से प्रार्थना की कि मेरे अपराध क्षमा कर दिये जायें और सम्राट की ओर से मुझे सुरक्षा का आश्वासन दिया जाय। तब मैं स्वयं आकर अभिवादन करूँगा और अपने पुत्र तथा युवराज को शाही दरबार में भेज दूँगा जिससे अन्य राजाओं की भाँति उसकी भी सिंहासन के समर्थकों में गिनती होने लगे। उसने यह भी विनती की कि वृद्धावस्था के कारण मुझे स्वयं दरबार में उपस्थित होने से क्षमा किया जाय।—मेरे पुत्र ने यह सब बातें मुझे एक पत्र में लिख भेजीं। राणा अमरसिंह तथा उसके पूर्वजों को अपने पहाड़ों तथा देश की सुरक्षा पर भरोसा था इसलिये उन्होंने हिन्दुस्तान के किसी राजा से कभी भेंट नहीं की थी और न अधीनता स्वीकार की थी किन्तु अब मेरे सौभाग्यपूर्ण शासन-काल में उसे बाध्य होकर समर्पण करना पड़ा।'

जहाँगीर ने कृपालुतापूर्वक राणा के समर्पण को स्वीकार कर लिया और यहाँ तक कि चित्तौड़ भी उसे लौटा दिया, *किन्तु इस शर्त पर कि उसकी किलेबन्दी नहीं* की जायगी और न मरम्मत ही। कुछ समय उपरान्त अमरसिंह ने घोर लज्जा के कारण अपने पुत्र कर्णसिंह के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया। इसके बाद औरंगजेब के समय तक मेवाड़ के राणा सदैव मुगलों के भक्त बने रहे। अन्त में उसकी कट्टर धर्मान्धता ने फिर एक बार राणा राजसिंह को विद्रोह का झण्डा खड़ा करने पर बाध्य किया। *जहाँगीर ने कर्णसिंह को दरबार में दाईं ओर स्थान* दिया और उसे अत्यन्त उच्च कोटि की सम्मान सूचक पोशाक तथा एक रत्नजटित तलवार भेंट की। मार्च १६१५ में नौरोज़ के उत्सव पर उसे ५००० जात तथा सवार का पद प्रदान किया गया; और इससे भी अधिक महत्व की बात यह थी कि अमरसिंह तथा कर्णसिंह की वीरता की सराहना के रूप में उनकी मनुष्याकार मूर्तियाँ तैयार करवाई गईं और आगरा में महलों के बाग में झरोखा के सामने रखवा दी गईं।

जब कर्णसिंह लौटकर अपने घर को जाने लगा तो उसे विदाई के रूप में एक घोड़ा, एक विशेष हाथी, एक सम्मानसूचक पोशाक, एक ५०,००० रुपये के मूल्य का मोतियों का हार और एक २००० रुपये की कीमत की रत्नजटित कटार भेंट की गई। जहाँगीर ने हिसाब लगाया कि 'जब से वह मेरी सेवा में उपस्थित हुआ तब से लेकर विदाई के समय तक उसे जो कुछ प्राप्त हुआ उसका मूल्य २००००० रुपये था, इसके अतिरिक्त ११० घोड़े तथा पाँच हाथी और मिले और मेरे पुत्र खुर्रम ने उसे समय-समय पर जो कुछ भेंट किया था वह अलग।' किन्तु स्वाधीनता और प्रतिष्ठा की जो हानि हुई थी उसका प्रतिफल राणा को कभी नहीं मिल सकता था।

अहमदनगर—पाठकों को स्मरण होगा कि अकबर ने उत्तर में सलीम के विद्रोह के कारण असीरगढ़ के घेरे के उपरान्त (१६०१) शीघ्र ही दक्खिन के युद्ध को बन्द कर दिया था। इसके बाद मलिक अम्बर नामक एक हबशी ने जो अहमदनगर के सुलतान के यहाँ नौकर था, दक्खिन में निजामशाही वंश की स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये बहुत कुछ कर लिया था। उसमें सैनिक तथा प्रशासनीय दोनों ही प्रकार की प्रतिभा विद्यमान थी, उसने टोडरमल के सिद्धान्तों के आधार पर राज्य की राजस्व व्यवस्था का पुनःसंगठन किया। वह मराठा रणनीति में दक्ष था; उसने राजनीतिक स्थिति तथा अपने देश के विशिष्ट सामरिक साधनों और जनशक्ति का भरपूर लाभ उठाया। इसके उपरान्त वह उस प्रदेश को पुनः प्राप्त करने के प्रयत्न में जुट गया जिन पर मुगलों ने अधिकार कर लिया था।

दक्खिन में बुरहानपुर मुगलों का सदर मुकाम था। वहीं पर राजकुमार परवेज़ जो दूसरों के हाथों की कठपुतली बना हुआ था, अपना तुच्छ दरबार किया करता था; अथवा जैसा कि सर टॉमस रो ने लिखा है, 'राजकुमार का नाम तथा प्रतिष्ठा है किन्तु वास्तव में खान (खाना) सब पर शासन करता है।' १६०८ से १६१५ तक निरर्थक युद्ध चलता रहा। एक के बाद एक अनेक अमीरों ने सैन्य संचालन किया किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। युद्ध के वास्तव में दो मोर्चे थे: एक शत्रु के विरुद्ध और दूसरा स्वयं मुगल शिविर में (अमीरों का पारस्परिक कलह)। १६०८ से १६१० तक खानखाना ने युद्ध का संचालन किया और १६१० से १६१२ तक खानजमाँ, मानसिंह और अब्दुल्ला खाँ की सहायता से खानजहाँ लोदी ने। इसके बाद अन्त में खानखाना को फिर दक्षिण का सेनापतित्व सौंपा गया। इस बार उसने अपनी प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना करली और इसका मुख्य कारण था शत्रु-शिविर में एकता का अभाव। वह १६१६ तक अपने पद पर कार्य करता रहा; फिर विजयाभिलाषी खुर्रम को उसके स्थान पर नियुक्त किया गया।

१६१६ में अक्टूबर के अन्त में खुर्रम के डेरे अजमेर से दक्खिन की ओर रवाना होगये। दूसरे महीने राजकुमार को शाह की उपाधि से सम्मानित किया गया, "इससे पहले तिमूर के वंश में यह उपाधि किसी भी राजकुमार को नहीं प्राप्त हुई थी," उपहारों से लदा हुआ राजकुमार महान युद्ध के लिये चल दिया। सर टॉमसरो के अनुमान से

उसे भी एक तलवार तथा एक कटार मिली उनका मूल्य क्रमशः १०० ००० तथा ४०,००० रुपये था। मंगलवार, १० नवम्बर १६१६ को जहाँगीर भी दक्षिण की ओर जाने के लिये तैयार हो गया। रो तथा उसके साथी टैरी ने उसके अभियान की तड़क भड़क का अच्छा वर्णन किया है; इन दोनों ने स्वयं उसे देखा था। रो लिखता है, 'मेरा चाल ढाल ठीक नहीं थी और अपने सामान पर मुझे लज्जा आती थी मेरे पाँच वर्ष के भत्ते में एक साधारण सी पोशाक बनती जो दूसरों के समान होती। इसलिये मैं अपने दरिद्र घर को लौट आया।'' शाही शिविर के सम्बन्ध में टैरी लिखता है, यह बहुत ही शानदार है, और जिन्होंने असंख्य तंबुए अथवा शामियाने पास-पास गड़े देखे हैं वे इसे स्वीकार करेंगे मैदान में यह एक अत्यन्त शानदार और विस्तृत नगर के समान जगमगाता है। मैं कहता हूँ कि जब ये तंबुए पास पास गड़े होते हैं तो एक ओर से दूसरे तक इतनी भूमि ढक जाती है कि यह कम से कम पाँच अंग्रेजी मीलों के बराबर होगी और यदि कहीं एक पहाड़ी पर से देखा जाय जहाँ से ये सब एक साथ दिखाई दें तो ये बहुत ही सुन्दर लगते हैं।'' चार महीने के उपरान्त ६ मार्च १६१७ को शाही शिविर मांडू पहुँचा जहाँ स्वागत के लिये ३० ० ० रुपये की लागत से एक शानदार निवास स्थान तैयार किया गया था।

राजकुमार खुर्रम आगे आगे कूच कर रहा था, और मेवाड़ का जगसिंह १५०० घुड़सवार लेकर उसके साथ हो लिया था। ६ मार्च १६१७ को वे बुरहानपुर पहुँच गये। किन्तु तड़क-भड़क पूर्ण सामान के होने पर भी अथवा यों कहिये कि उसी के कारण मुगलों को बिना एक भी प्रहार किये ही विजय प्राप्त हो गई। बालाघाट का प्रदेश जिसे कुछ समय पहले मलिक अम्बर ने छीन लिया था, और अहमदनगर तथा अन्य किलों की कुंजियां मुगलों के सुपुर्द कर दी गईं और दक्षिणी अमीरों ने कर चुका दिया; इस पर दोनों पक्षों में सन्धि हो गई।

१२ अक्टूबर १६१७ को शाह खुर्रम माँडू में स्थित शाही शिविर में लौट आया; और अपने साथ वह इतना धन तथा उपहार लाया जितने कि इससे पहले किसी भी समय अथवा शासन काल में नहीं आये थे। ''सब मिलाकर उपहारों का मूल्य अनुमान से २२६० ०० रुपये था।' जहाँगीर लिखता है, 'जब वह सिजदा तथा पैबोस की रस्म पूरी कर चुका तो मैंने उसे झरोखे में बुलाया और अत्यधिक दयालुता तथा प्रसन्नता के साथ अपने स्थान से उठकर उसे प्रेम पूर्वक हृदय से लगा लिया। उसने जितना ही नम्र और शिष्ट होने का प्रयत्न किया मैंने उसके प्रति उतना ही अधिक अनुग्रह तथा दयालुता दिखलाई और अपने निकट बिठला लिया।'' इसके अतिरिक्त बढ़ाकर उसे ३० ०० जात तथा सवार का पद दिया गया और शाहजहाँ की उपाधि से विभूषित किया गया, इससे पहले यह पद तथा सम्मान अन्य किसी राजकुमार को नहीं प्राप्त हुआ था। -

अब्दुर्रहीम खानखाना को बरार, खानदेश तथा अहमदनगर का सूबेदार नियुक्त किया गया और उसके सबसे बड़े पुत्र शाहनवाजखाँ को नये प्रान्त में १२०००

घुड़सवारों का भार सौंप गया। सब मिला कर दक्खिन में ३०००० घुड़सवार तथा ७००० बन्दूकची विश्वसनीय पदाधिकारियों की अधीनता में छोड़ दिये गये और इन प्रान्तों की प्रतिरक्षा तथा प्रशासन का समुचित प्रबन्ध किया गया।

किन्तु यह एक विराम सन्धि मात्र थी, स्थायी रूप से दक्खिन का दमन न किया जा सका। जब तक चतुर तथा निर्भीक मलिक अम्बर जीवित था तब तक स्थायी शान्ति की आशा नहीं की जा सकती थी। जैसे ही शाही सेना का कुछ भाग हटा लिया गया अथवा राजनीतिक स्थिति अनुकूल हो गई उसने पुनः अपनी शक्ति की स्थापना करली। १६२० ई० तक उसने लगभग वे सब प्रदेश जीत लिये जो पिछली सन्धि के कारण हाथ से निकल गये थे। ऐसी स्थिति में शाहजहाँ को एक बार फिर भेजना आवश्यक हो गया। इस बार भी पहले ही जैसा परिणाम हुआ। (१६२१)। जहाँगीर लिखता है, 'विद्रोहियों के बहुत अनुनय-विनय करने पर यह तै हुआ कि पहले शाही पदाधिकारियों के अधीन जो प्रदेश था उसके अतिरिक्त चौदह कोस आगे की पट्टी और दे दी जाय और ५० लाख रुपये की रकम शाही खजाने में जमा कर दी जाय।' आगे चल कर १६२३ में बीजापुर तथा अहमदनगर दोनों ने एक दूसरे के विरुद्ध शाही सहायता की प्रार्थना की। महाबतखाँ ने बीजापुर का साथ देना पसन्द किया जिसके कारण अहमदनगर से युद्ध अनिवार्य हो गया। अन्त में १६२६ में मलिक अम्बर की मृत्यु हो गई और दक्खिन की समस्या पूर्ववत बिना सुलझी रह गई। मलिक अम्बर के शत्रु भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे थे। मुग़ल दरबारी लेखक मुतामदखाँ ने निम्न शब्दों में उसकी प्रशंसा की है :—

'अब समाचार मिला कि ३१ उर्दिविहिश्त को ८१ वर्ष की अवस्था में मलिक अम्बर हबशी की मृत्यु हो गई है। यह अम्बर गुलाम था, किन्तु योग्य व्यक्ति था। युद्ध, सैन्य संचालन, ठोस निर्णय-बुद्धि तथा प्रशासन में वह बेजोड़ था। वह छापामार युद्ध प्रणाली (कज्जाकी) को जिसे दक्खिन की भाषा में बर्गीगोरी कहते हैं, भलीभाँति समझता था। उसने जीवनपर्यन्त उस देश के उद्दण्ड लोगों पर नियन्त्रण रक्खा, अपनी उच्च प्रतिष्ठा कायम रक्खी तथा सम्मान के साथ संसार से बिदा हुआ। इतिहास में अन्य किसी ऐसे हबशी गुलाम का उदाहरण नहीं है जो इतनी उच्चता पर पहुँच सका हो।'

काँगड़ा—इस दुर्ग को राजा विक्रमाजीत ने खुर्रम के नेतृत्व में युद्ध करके हस्तगत किया। जहाँगीर लिखता है, 'सोमवार, ५ मुहर्रम को काँगड़ा की विजय का आनन्ददायक समाचार मिला। जिस समय यह तुच्छ व्यक्ति सिंहासन पर बैठा तो सबसे पहले उसने इस किले को जीतने का संकल्प किया। उसने पंजाब के सूबेदार मुर्तजाखाँ को एक विशाल दल के साथ उस पर आक्रमण करने भेजा, किन्तु उसको जीतने से पहले ही मुर्तजा की मृत्यु हो गई। इसके बाद राजा बसु के पुत्र सूरजमल को उसके विरुद्ध भेजा गया, किन्तु उस गद्दार ने विद्रोह कर दिया, और उसकी सेना छिन्न-भिन्न हो गई तथा किले की विजय का कार्य स्थगित होगया। किन्तु शीघ्र ही गद्दार को बन्दी बना लिया गया और उसे

फाँसी देकर नरक भेज दिया गया। इसके बाद राजकुमार खुर्रम को उसके विरुद्ध भेजा गया और अनेक अमीरों को उसकी सहायता के लिये जाने का आदेश दिया गया। १०२९ हि० में रमजान के महीने में उसकी सेना ने किले को घेर लिया खाइयाँ खोद ली गईं और रसद का भीतर आना पूर्णतया बन्द कर दिया गया। कुछ ही समय में दुर्गरक्षक संकट में पड़ गये उनके पास अन्न अथवा भोजन न बचा, किन्तु चार चार महीने तक लोगों ने सूखे चारे तथा इसी प्रकार की अन्य चीजों पर जीवन निर्वाह किया और कई उबाल-उबाल कर खाया; किन्तु जब मौत उनके सिर पर मँडराने लगी और मुक्ति की कोई आशा न रही, तब सोमवार, मुहर्रम १ १०३१ को उन्होंने समर्पण कर दिया (१६ नवम्बर १६२०)।

'आगरा की अतिशय गर्मी मेरे स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं थी,' — और चूँकि मेरी काँगड़ा की वायु का सेवन करने की बड़ी इच्छा थी— 'इसलिये मैं उस किले को देखने गया।'— लगभग आधा कोस चलकर (बरसूम से) हम किले पर चढ़ गये और तब ईश्वर की कृपा से नमाज पढ़ी गई, खुतबा पढ़ा गया, एक गाय काटी गई और अन्य ऐसे काम किये गये जो किले की नींव पड़ने के समय से अब तक न किये गये थे। यह सब कुछ मेरी उपस्थिति में किया गया, और मैंने इस महान् विजय के लिये जिसे कोई पूर्व राजा सम्पादित न कर सका था, झुककर सर्व शक्तिमान ईश्वर को धन्यवाद दिया। मैंने किले में एक विशाल मस्जिद के निर्माण की आज्ञा दी।

कान्धार—कान्धार अपनी स्थिति तथा व्यापारिक और सामरिक महत्व के कारण सदैव मुगलों और ईरानियों के बीच संघर्ष का कारण बना रहा। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं पहले-पहल इसे बाबर ने १५२२ में जीता था और उसके पुत्रों हुमायूँ तथा कामरान ने उस पर अधिकार रक्खा। १५५८ में यह मुगलों के हाथ से निकल गया किन्तु १५९४ में अकबर ने इसे पुनः जीत लिया। जहाँगीर के शासनकाल के प्रारम्भ में खुसरू का जो विद्रोह हुआ उससे ईरानियों को अवसर मिल गया और शाह अब्बास ने खुरासानी तथा अन्य सरदारों को कान्धार पर आक्रमण करने के लिये प्रोत्साहित किया। किन्तु मुगल किलेदार शाहबेगखाँ ईरानियों से अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त भारत से शीघ्र ही (१६०७) कुमुक पहुँच गई और शत्रु को पूर्ण पराजय भुगतनी पड़ी। इस असफल प्रयत्न में असफल होने पर शाह अब्बास ने अपने प्रजाजनों के इन उद्दण्डतापूर्ण कार्यों पर क्रुद्ध होने का बहाना किया, घोषणा की कि आक्रमण अनधिकृत था जहाँगीर के प्रति सच्ची मित्रता प्रदर्शित की और आशा प्रकट की कि इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना से किसी प्रकार का मनमुटाव न रहेगा। जहाँगीर ने सरलतापूर्वक अपने चतुर पड़ोसी के इन कूटनीतिक आश्वासनों को मान लिया, स्वयं काबुल गया, बंगश की लुटेरी वनवासियों के विरुद्ध निष्फल युद्ध चलाया, कान्धार तथा गज़नी के बीच की सड़क की मरम्मत कराई और कुछ आमदायक कार्य किये, काबुल में कुछ अधिशुल्क हटा दिये, पेड़ लगवाये तथा बागों की मरम्मत करवाई और अगस्त १६०७ में ग्यारह

सप्ताह की यात्रा के उपरान्त लाहौर को प्रस्थान कर दिया। ये घटनाएँ खुसरू के विद्रोह तथा जहाँगीर के हत्या के षडयन्त्र के बीच के समय में हुई थीं जिसका हम पहले उल्लेख कर आये हैं।

इसी बीच में शाह अब्बास ने, जिसने कान्धार को जीतने का संकल्प नहीं त्यागा था, अपनी कुटिल योजनाओं को छिपाने के लिये कूटनीतिक दूतमण्डलों, उपहारों आदि का आदान-प्रदान किया। १६११,१६१५,१६१६ और १६२० में उसने बहुमूल्य उपहार तथा चाटुकारितापूर्ण पत्र देकर ईरानी राजदूत मुगल दरबार में भेजे।

इस प्रकार की चाटुकारिता एक आवरण मात्र थी, सुन्दर शब्दवली के पर्दे के पीछे शाह अपनी उद्दण्डतापूर्ण योजनाएँ तैयार कर रहा था। जब उसने देखा कि भारत की आन्तरिक स्थिति के कारण उपयुक्त अवसर आ गया है तो वह प्रभावयुक्त प्रहार करने से न चूका। १६२१ में एक बार फिर कान्धार को घेर लिया गया और अन्त में १६२२ में ईरानियों ने उसे हस्तगत कर लिया। जहाँगीर ने युद्ध की विस्तृत तैयारियाँ करने का विचार किया और ईरानी राजधानी तक युद्ध करने की आशा प्रकट की, किन्तु शाहजहाँ के विद्रोह के कारण उसकी सब योजनाएँ निष्फल सिद्ध हुईं। कान्धार पर अधिकार करने के उपरान्त शाह ने जहाँगीर को एक पत्र लिखा और कहा कि कान्धार तो न्यायानुसार ईरानियों का ही है और आपको (जहाँगीर को) अपने आप ही उसे मेरे सुपुर्द कर देना चाहिये था; साथ ही साथ उसने विश्वास दिलाया कि 'दोनों सम्राटों के बीच एकता तथा मित्रता की नींव को सुदृढ करने का प्रत्येक प्रयत्न किया जायगा।'

छोटी-मोटी विजयें—इससे पहले कि हम शाहजहाँ के विद्रोह की परिस्थितियों तथा उसके ब्योरे का वर्णन करें, यह उचित होगा कि हम जहाँगीर के शासन-काल की अन्य छोटी-मोटी विजयों का उल्लेख कर दें।

१६१० में कुतुब नामक मुसलमान युवक ने अपने को राजकुमार खुसरू घोषित किया और पाटन में उपद्रव खडा कर दिया। शीघ्र ही उसका बध कर दिया गया और मामला शान्त हो गया। किन्तु उससे आगे पूर्व में इससे भी अधिक भयंकर उपद्रव हुआ। बंगाल के उद्दण्ड अफगानों को पूर्णरूप से कभी भी न दबाया जा सकता था। १५९९ में उन्होंने अपने नेता उस्मान खाँ के नेतृत्व में मानसिंह के नाती महासिंह के विरुद्ध विद्रोह किया था। मानसिंह कुछ समय के लिये उस प्रान्त में गया और उनका दमन कर दिया, किन्तु फिर भी वे जहाँगीर के शासन के प्रारम्भिक दिनों में साम्राज्य को कष्ट पहुँचाते रहे। सूबेदारों के बार बार बदले जाने से विद्रोहियों को पर्याप्त अवसर मिल गया। अन्त में १६०८ में इस्लाम खाँ को पूर्वी प्रान्तों का सूबेदार नियुक्त किया गया, उसने राजमहल को छोड़ कर ढाका को राजधानी बनाया जिससे कि विद्रोहियों का अधिक सफलतापूर्वक सामना कर सके। शान्तिपूर्ण सन्धि वार्ता का कोई परिणाम नहीं निकला, तब सुज्जात खाँ की

प्रयोग्ता में आक्रमण की तैयारियाँ की गईं। अफगानों ने वीरतापूर्वक तथा जान हथेली पर रख कर युद्ध किया किन्तु अन्त में उनकी पराजय हुई। १ अप्रैल १६१२ को जहाँगीर को विजय का शुभ समाचार मिला और प्रमाण के रूप में उसके सामने उस्मान का जो 'अन्तिम वीर अफगान था' सिर उपस्थित किया गया। इसके बाद जहाँगीर ने अफगानों के साथ दयापूर्ण व्यवहार किया और उनमें से कुछ को उच्च करके शाही सभा में उच्चतम पदों पर नियुक्त किया।

उड़ीसा में स्थित खुर्दा पर जहाँ प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर है, राजा पुरुषोत्तमदास राज्य करता था; उसने डट कर मुगलों का प्रतिरोध किया, किन्तु अन्त में उसे भी हथियार डालने पड़े और अपनी एक पुत्री शाही हरम में भेजनी पड़ी। यह विजय टोडरमल के पुत्र कल्याणसिंह ने १६११ में सम्पादित की। १६१२ में बिहार के जंगलों में स्थित खोखर को भी उसके शासक दुर्जनसाल से छीन लिया गया। वहाँ पर हीरे की बहुमूल्य खानें थीं, उन पर राज्य का एकाधिकार घोषित कर दिया गया। इस विजय का श्रेय नूरजहाँ के भाई इब्राहीमखाँ को था; उसे फीरोज जंग की उपाधि तथा ४०० का मनसब देकर सम्मानित किया गया। १६१० में खुर्दा के पुरुषोत्तमदेव ने विद्रोह किया; इसलिये उड़ीसा के सूबेदार मुकर्रमखाँ ने उसका प्रदेश छीन कर अन्तिम रूप से साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इससे उस दिशा में मुगल साम्राज्य की सीमाएँ गोलकुण्डा तक पहुँच गईं। उसी वर्ष राजा विक्रमाजीत ने पछ की खास तथा मारा जनजातियों का दमन किया; राजा के सम्बन्ध में 'शाह फतेह काँगड़ा' में लिखा है कि वह एक 'पुराना वीर तथा अनुभवी सरदार था और सिंहासन के प्रति उसकी भक्ति अविचल थी।— शाहजादे (शाहजहाँ) ने उसकी उन्नति के लिये प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया था और उसकी मित्रता का सोना जब कसौटी पर परखा गया तो शुद्ध और खरा निकला।' १६२१ में काश्मीर के दक्षिण में स्थित किश्तवार को जो फलों तथा केसर के लिये प्रसिद्ध था उसके राजा से छीन लिया गया; राजा ने फिर विद्रोह किया किन्तु १६२२ में उसे पूर्णतया कुचल दिया गया। यद्यपि यह राज्य बहुत छोटा था किन्तु उससे १०० रुपये की आय होती थी।

नूरजहाँ की कहानी

अब हम जहाँगीर की कहानी के सबसे अधिक रोचक भाग का वर्णन करेंगे। शेष सभी घटनाओं का तथा पूर्व वर्णित घटनाओं में से भी अनेक का सम्बन्ध नूरजहाँ के आगमन से है जहाँगीर के शेष शासन काल का इतिहास उसी के आस-पास केन्द्रित है। शाहजहाँ तथा महाबत खाँ के विद्रोह मूलतः उसी के प्रभाव के विरुद्ध प्रतिक्रिया थे। बेनीप्रसाद लिखते हैं, 'मध्ययुगीन इतिहास में अन्य कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसका जीवन इतना रोमांचकारी हो जितना कि नूरजहाँ का। जहाँगीर के शासन काल की कोई घटना ऐसी नहीं है जो इतनी रोचक हो जितना कि नूरजहाँ से उसका विवाह। पूरे पन्द्रह वर्ष तक यह महिला मुगल साम्राज्य में

नूरजहाँ बेगम।

सबसे अधिक आकर्षक तथा प्रभावशाली व्यक्ति थी।" किन्तु उसके विषय में जो अनेक रोमांचकारी कहानियाँ प्रचलित हैं उनके सम्बन्ध में बेनीप्रसाद का कहना है, "यह सब कुछ बहुत आकर्षक है किन्तु इसे हम इतिहास नहीं कह सकते। गम्भीर इतिहास को जिस कहानी का पता है वह इतनी रंगीन तथा रोमांचकारी नहीं, किन्तु फिर भी उसमें मानवीय रोचकता बहुत है।"

नूरजहाँ के इतिहास का सबसे अधिक विश्वसनीय तथा संक्षिप्त वर्णन मुतामदखाँ के 'इकबालनामाए जहाँगीरी' में इस प्रकार दिया हुआ है :—

'इस बीच में (शासन के छठवें वर्ष में) जितनी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं उनमें सम्राट जहाँगीर का नूरजहाँ बेगम से विवाह सबसे अधिक उल्लेखनीय है। इस विषय को यदि विस्तार से लिखा जाय तो अनेक जिल्दें भर जाँयगी। किन्तु भाग्य के इस विचित्र विधान का वर्णन करने में हमें बाध्य होकर संक्षिप्त होना पड़ेगा। ख्वाजा मुहम्मद शरीफ का पुत्र मिर्जा गियास तेहरान का निवासी था। ख्वाजा मुहम्मद सबसे पहले खुरासान के सूबेदार मुहम्मद खाँ तकलू का वजीर था। मुहम्मद खाँ की मृत्यु के उपरान्त उसने प्रसिद्ध शाह तहमास्प सफवी के यहाँ नौकरी कर ली, और उसे यज्द की विजारत सौंप दी गई। ख्वाजा के दो पुत्र थे, अका ताहिर तथा मिर्जा गियास बेग। अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त (१५७७) में मिर्जा गियास बेग अपने दो पुत्रों तथा एक पुत्री को लेकर हिन्दुस्तान चला आया। जब वह कान्धार में होकर गुजर रहा था तो ईश्वर की कृपा से सड़क पर उसके एक और पुत्री उत्पन्न हुई। सौभाग्य से उसे फतहपुर के नगर में सम्राट अकबर के सम्मुख उपस्थित किया गया। भक्तिपूर्ण सेवा तथा तीव्र बुद्धि के कारण उसे कुछ ही दिनों में दीवान अथवा गृह-निरीक्षक के पद पर नियुक्त कर दिया गया। लिखने तथा काम-काज दोनों में ही उसे अत्यधिक कुशल तथा चतुर समझा जाता था। उसने पुराने कवियों का अध्ययन कर रखा था और शब्दों के अर्थ का उसे बहुत अच्छा ज्ञान था, और वह मोटे तथा सुन्दर ढङ्ग से शिकस्त लिखता था। अपने अवकाश के क्षण वह कविता तथा शैली के अध्ययन में बिताया करता था, और वह इतना उदार तथा दानशील था कि उसके द्वार से कभी कोई व्यक्ति निराश न लौटता था। किन्तु घूस लेने में वह बहुत ही साहसी था। जिस समय सम्राट अकबर लाहौर में ठहरा हुआ था, अली कुली बेग स्तैलू, जिसका पालन-पोषण शाह इस्माइल द्वितीय ने किया था, इराक के राज्य से आया और शाही नौकरों में सम्मिलित हो गया और मिर्जा गियासुद्दीन बेग की उस पुत्री से विवाह कर लिया जो कान्धार में उत्पन्न हुई थी। बाद में जहाँगीर के शासन-काल में उसे समुचित मसब मिल गया और शेर अफगान की उपाधि प्रदान की गई। बंगाल में उसे एक जागीर मिल गई और उस पर अधिकार करने के लिये वह वहाँ चला गया। उसके द्वारा कुतुबुद्दीनखाँ की हत्या तथा स्वयं उसकी मृत्यु का हम पहले उल्लेख कर आये हैं। कुतुबुद्दीन की मृत्यु के बाद बंगाल के पदाधिकारियों ने सम्राट की आज्ञा के अनुसार गियासबेग की पुत्री को दरबार में भेज दिया, गियास को इतिमादुद्दौला की उपाधि मिल चुकी थी। सम्राट को कुतुबुद्दीन की मृत्यु से बहुत दुःख हुआ। उसने गियास की पुत्री को स्वयम् अपनी माता के संरक्षण में रख दिया। वहाँ वह कुछ समय तक बनी रही और किसी ने

उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। किन्तु भाग्य का विधान था कि वह सम्राट की रानी बने इसलिये सम्राट के शासन के छठे वर्ष में (मार्च १६११) नौरोज़ के उत्सव पर एक बार सम्राट की दूरदर्शी दृष्टि उस पर पड़ी वह उस पर इतना मोहित होगया कि उसने उसे अपने अन्तःपुर की चुनी हुई रानियों में सम्मिलित कर लिया (मई १६११)। दिन प्रति दिन उसका प्रभाव तथा प्रतिष्ठा बढ़ती गई। सबसे पहले उसे नूर महल की उपाधि मिली किन्तु बाद में उसे नूरजहाँ बेगम की उपाधि से विभूषित किया गया। उसके सभी सम्बन्धियों को सम्मान तथा धन से प्रतिष्ठित किया गया।" "उसकी मुहर लगे बिना किसी को भूमि जागीर के रूप में नहीं प्रदान की जाती थी। सम्राट ने उसे उपाधियाँ प्रदान करने के अतिरिक्त प्रभुत्व तथा शासन के अधिकार भी सौंप दिये। कभी-कभी वह महल के झरोखे में बैठती और अमीर उपस्थित होते तथा उसकी आज्ञायें सुनते। उसके नाम के सिक्के ढाले गये जिन पर ये शब्द अंकित रहते थे, "सम्राट जहाँगीर की आज्ञा से बेगम नूरजहाँ का नाम अंकित होने से सोने की कान्ति सौ गुनी बढ़ गई है" अन्य सब फर्मानों पर भी जिन पर शाही हस्ताक्षर रहते, नूरजहाँ बेगम का नाम साथ-साथ जुड़ा रहता था। अन्त में उसकी सत्ता इतनी बढ़ गई कि सम्राट केवल नाम मात्र को रह गया। बार बार उसने घोषणा की कि मैंने प्रभुत्व नूरजहाँ को सौंप दिया है और कहा कि मुझे सेर भर शराब और आधा सेर गोश्त के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिये। रानी के सौन्दर्य तथा बुद्धि का बखान करना असम्भव है। उसके सम्मुख जो समस्यायें उपस्थित की जातीं उनमें यदि कोई कठिनाई होती तो उसे वह तुरन्त हल कर देती। जो कोई भी उसकी शरण में आता उसकी अत्याचार तथा उत्पीड़न से रक्षा की जाती; और यदि कभी वह सुन लेती कि कोई अनाथ कन्या अकिंचन तथा असहाय है तो वह उसका विवाह करवा देती और दहेज देती। सम्भवतः उसके शासन काल में ५०० अनाथ कन्याओं का विवाह हुआ और उन्हें दहेज मिला।"

यह समाचार मिला कि शेर अफगान आज्ञाओं का उल्लंघन कर रहा है और विद्रोह करने पर उतारू है। जब कुतुबुद्दीन को बंगाल भेजा गया (१६०६) तो उससे शेर अफगान पर निगाह रखने को कहा गया; और आज्ञा दी गई कि यदि उसका आचरण भक्तिपूर्ण हो और वह अपने कर्तव्यों का पालन करे तो उसकी जागीर उसके पास रहने दी जाय; नहीं तो उसे दरबार में भेज दिया जाय; और यदि वह आने में देर करे तो उसे उचित दण्ड दिया जाय। कुतुबुद्दीन ने उसके कार्यों तथा आचरण के सम्बन्ध में बुरी राय कायम की। जब उसे सूबेदार के सामने बुलाया गया तो उसने अनुचित बहाने बनाये और धृष्टतापूर्ण विचार प्रकट किये। कुतुबुद्दीन ने सम्राट को उसके आचरण की सूचना दे दी, और शाही आज्ञा हुई कि उसे दरबार में भेज दिया जाय। सूबेदार को यह भी आदेश दिया गया कि जो आज्ञायें उसे मिली हैं उनका पालन करे और यदि शेर अफगान का आचरण द्रोहपूर्ण हो तो उसे दण्ड दे। यह आदेश पाने पर कुतुबुद्दीन तुरन्त ही बर्दवान को चल दिया (मार्च १६०७) जो शेर अफगान की जागीर में स्थित था।' शेर अफगन को सन्देह हुआ कि मेरे विरुद्ध कार्यवाही की जा रही है इसलिये बात चीत के दौरान में उसने सूबेदार के पेट में तलवार घुसेड़ दी और मार डाला। अन्य कोई व्यक्ति इसमें हस्तक्षेप न कर पाया।

'पीरखाँ काश्मीरी' नामक एक बहादुर पदाधिकारीने शेर अफगन के पीछे घोडा दौडाया और तलवार से उसके सिर पर प्रहार किया किन्तु शेर अफगन ने लौटकर इतना भयकर प्रहार किया कि उसके आक्रमणकारी का एक ही हाथ में काम तमाम हो गया। तब बाकी सेवक बहुत सी संख्या में आगे बढे और अपनी तलवारों से उन्होंने शेर अफगन को समाप्त कर दिया।'*

विवाद—यह कहानी सरल तथा स्पष्ट है, फिर भी जहाँगीर के तथाकथित अपराध के सम्बन्ध में गम्भीर विवाद चला आया है। उस पर आरोप लगाया गया है कि उसने मिहरुन्निसा से विवाह करने के लिये शेर अफगान की हत्या करवाई थी। इस कथन का आधार बहुत सी किंवदन्तियाँ है जिनमें दी लेयट का कथन भी सम्मिलित है; वह लिखता है कि "जब मिहरुन्निसा क्वारी थी तभी से जहाँगीर उस पर आसक्त था, किन्तु अकबर के जीवन-काल में ही उसकी तुर्क वीर अफेगन (शेर अफगन) से सगाई कर दी गई थी, इसलिये उसके पिता ने उसे उससे विवाह करने की आज्ञा नहीं दी, परन्तु उसने उसके प्रति अपना प्रेम पूर्णरूप से कभी नहीं त्यागा।" किन्तु डा० बेनीप्रसाद ने योग्यतापूर्ण तर्क उपस्थित करके जहाँगीर को इस आरोप से मुक्त कर दिया है और उनके तर्क युक्तिसंगत प्रतीत होते हैं। उनका कथन है, "तत्कालीन ग्रन्थों तथा सुसस्थापित तथ्यों का ध्यान से अध्ययन करने पर इस रोमांचकारी कहानी का पूर्णरूप से भण्डाफोड़ हो जाता है और जहांगीर तथा नूरजहाँ का चरित्र सच्चे तथा अधिक ग्राह्य रूप में प्रकट होता है।" उनके मुख्य तर्क इस प्रकार हैं.—

(क) किसी तत्कालीन इतिहासकार ने सम्राट पर यह आरोप नहीं लगाया।

(ख) शाहजहाँ के समय के लेखकों ने भी जिन्हें नूरजहाँ से द्वेष था, इसका उल्लेख तक नहीं किया है।

(ग) तत्कालीन यूरोपीय लेखकों ने दरबार के अन्य अनेक प्रवादों का जिक्र किया है, किन्तु उन्होंने भी जहाँगीर को इस सम्बन्ध में अपराधी नहीं ठहराया है।

(घ) यदि जहांगीर पहले से ही मिहरुन्निसा पर आसक्त होता तो अकबर शेर अफगान को उसकी (सलीम) सेवा में नियुक्त न करता और न जहांगीर ही इन परिस्थितियों में अपने प्रेम-प्रतिद्वन्द्वी को उच्च पद पर नियुक्त करता।

(ङ) नूरजहाँ का जैसा चरित्र था उसको ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि वह अपने पति के हत्यारे के सामने कभी भी आत्मसमर्पण न करती, इसके विपरीत यह विश्वास करने के लिए भी प्रमाण मिलते हैं कि वह सच्चे हृदय से जहाँगीर से प्रेम करती थी।

डा० ईश्वरी प्रसाद ने इन तर्कों का जो खण्डन किया है वह लचर है और उसे स्वीकार करना कठिन है: वह लिखते हैं "जिन बातों पर उन्होंने (बेनीप्रसाद ने) इतना

* 'इकबालनामए जहाँगीरी' ईलियट और डाउसन, जिल्द ६, पृष्ठ ४०२-३।

ओर किया है और जिनके आधार पर उन्होंने कहानी को असम्भव सिद्ध करने का प्रयत्न किया है उनसे सही निर्णय पर पहुँचने में सहायता नहीं मिलती। डा० बेनीप्रसाद ने सम्राट को निर्दोष सिद्ध करने के लिये जो साक्ष्य ढूँढ निकाला है, वह नकारात्मक है; उसके आधार पर हम परवर्ती इतिहासकारों के भावात्मक कथन की अवहेलना नहीं कर सकते, क्योंकि इस सम्बन्ध में सही निर्णय पर पहुँचने के लिये उनकी स्थिति अपने पूर्वाधिकारियों से कहीं अधिक अच्छी थी। इसके अतिरिक्त अन्य बातें भी हैं जो सम्राट के निर्दोष होने के सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं।" उनके अनुसार वे ये हैं —

(क) केवल सन्देह पर कुतुबुद्दीन को शेर अफगान को दंड देने का अधिकार देना सम्राट के लिये उचित नहीं था 'सम्राट की अप्रसन्नता का कारण तक उसे नहीं बताया गया था।"

(ख) जहाँगीर 'जो सामान्यतया बहुत ही स्पष्टवादी है" इस घटना के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं लिखता "कारण स्पष्ट है कोई भी व्यक्ति अपने विषय में प्रचलित अपवादों का वर्णन नहीं करेगा।"

(ग) जहाँगीर अपने विवाह के सम्बन्ध में "जो उसके जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी मौन है; यह बात समझ में नहीं आती।'

(घ) 'उसने शेर अफगान की मृत्यु का जो वृत्तान्त दिया है उसमें नूरजहाँ का उल्लेख तक नहीं है।'

(ङ) मिहरुन्निसा तथा उसकी पुत्री को उसके पिता इतिमादुद्दौला के सुपुर्द क्यों नहीं किया गया? उन्हें दरबार में क्यों रक्खा गया?

(च) अन्त में, यह प्रश्न किया जा सकता है कि चिरकालीन प्रेमी ने तुरन्त ही विवाह क्यों नहीं कर लिया? चार वर्ष तक प्रतीक्षा क्यों की? इसका उत्तर यह है कि जहाँगीर तुरन्त विवाह कर ही नहीं सकता था क्योंकि एक विधवा को इस बात में स्वाभाविक अरुचि रही होगी और दूसरे, जहाँगीर लोगों के सन्देह को शान्त करना चाहता था।

किन्तु अन्त में वह (डा० ईश्वरी प्रसाद) लिखते हैं कि "तत्कालीन लेखकों के ग्रन्थों का ध्यान से निरीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि जिन परिस्थितियों में शेर अफगान की मृत्यु हुई वे अत्यधिक सन्देहास्पद थीं, किन्तु ऐसा निश्चयात्मक साक्ष्य भी नहीं मिलता जिससे सम्राट का अपराध पूर्णतया सिद्ध हो जाय।'

नूरजहाँ का गुट—नूरजहाँ के उत्थान से साम्राज्य के राजनैतिक सन्तुलन में बहुत कुछ हेर फेर हो गया। उसके सम्बन्धियों विशेषकर उसके पिता इतिमादुद्दौला तथा भाई आसफखाँ की शक्ति बहुत बढ़ गई। इसका कारण उसका प्रभाव तो था ही किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि वे स्वयं भी बहुत योग्य थे। इतिमादुद्दौला की योग्यताओं के सम्बन्ध में हम पहले ही लिख आये हैं। १६११ में नूरजहाँ का विवाह हुआ, तब से लेकर १६१६ तक उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा

बढ़ती ही गई और अन्त में केवल राजकुमार खुर्रम ही रह गया जिसका पद उससे ऊँचा था। १६११ में उसका पद २०००+५०० था, १६१६ में ७०००+५००० और १६१८ में ७०००+७००० हो गया। इसी प्रकार आसफखाँ की भी उन्नति हुई। १६११ में उसका पद ५००+१०० था, १६१६ में ५०००+३००० और १६२२ में ६०००+६००० पर पहुँच गया। वह कुशल साहित्यकार था और साथ ही साथ उसमें राजनैतिक तथा प्रशासनीय योग्यता भी विद्यमान थी। डा० बैनीप्रसाद लिखते हैं, "वित्त-विशेषज्ञ के रूप में साम्राज्य भर में उसकी टक्कर लेने वाला कोई न था।" १६१२ में उसकी पुत्री अर्जुमन्द बानू बेगम का विवाह राजकुमार खुर्रम से हो गया, इससे उसकी प्रतिष्ठा तथा शक्ति और भी अधिक बढ़ गई। खुर्रम ही युवराज होने को था, क्योंकि उसकी योग्यता तथा परिस्थितियाँ दोनों ही उसके अनुकूल थीं। १६२१ में कान्धार के युद्ध के प्रारम्भ में उसने विद्रोह किया, उससे पहले उसने साम्राज्य की जो सेवाएँ की थी, उनका हम पहले ही वर्णन कर आये हैं। मेवाड़, अहमदनगर तथा काँगड़ा की विजय से उसका यश साम्राज्य के चारों कोनों में फैल गया थो। अब उसे ३०,००० जात तथा २०,००० सवार का पद मिल गया जो उससे पहले किसी को नहीं प्राप्त हुआ था; इसके अतिरिक्त उसे शाहजहाँ की उपाधि तथा हिसार फीरोज़ा की जागीर भी प्रदान की गई थी।

नूरजहाँ की भतीजी के राजकुमार खुर्रम से विवाह के महत्व के सम्बन्ध में डा० बैनीप्रसाद ने लिखा है, "इससे नूरजहाँ, इतिमादुद्दौला और आसफखाँ का युवराज से गठबन्धन हो गया। अगले दस वर्षों में अत्यधिक योग्य चार व्यक्तियों के इस गुट ने ही वास्तव में साम्राज्य पर शासन किया। जिसे नूरजहाँ का प्रभुत्व कहा गया है वह वास्तव में इन चार व्यक्तियों का आधिपत्य था।"

नूरजहाँ के प्रभाव के काल को बहुधा दो भागों में विभक्त किया जाता है—(१) १६११-२२, जब उसके माता पिता जीवित थे और उसकी महत्वाकांक्षाओं पर उचित नियन्त्रण रखते थे; और १६२२-२७ जब जहाँगीर लगभग अशक्त हो चुका था और गुटबन्दी तथा दलों के पारस्परिक संघर्ष का बोलबाला था। पहले काल में नूरजहाँ और खुर्रम एक ही गुट में थे; दूसरे में वे एक दूसरे के शत्रु हो गये। १६२० में शेरअफगन से उत्पन्न नूरजहाँ की पुत्री लाडली बेगम का शहरियार से विवाह हो गया, इससे स्थिति और भी अधिक पेचीदा हो गई।

इन परिस्थितियों में दरबार का दो दलों में विभक्त हो जाना अनिवार्य था। पहले केवल दो ही दल थे—नूरजहाँ का गुट और उसके विरोधी, किन्तु बाद में जब वह टूट गया तो अनेक नये दल उठ खड़े हुए। इस सम्पूर्ण काल में महाबतखाँ ने नूरजहाँ के सम्बन्धियों का डट कर विरोध किया, क्योंकि वह उन्हें नीच तथा घमण्डी समझता था। दूसरे शब्दों में, उसने पुराने अमीरों का समर्थन किया और एक बार जहाँगीर को शक्ति-भोगी दल के विरुद्ध कार्यवाही करने की सलाह दी। 'इन्तिखावे जहाँगीर शाही' का लेखक लिखता है:—

'इस समय नूरजहाँ बेगम का प्रभुत्व इतना बढ़ गया था कि साम्राज्य का सम्पूर्ण प्रबन्ध उसी को सौंप दिया गया। इसलिये महाबतखाँ ने कहा : सम्राट को तथा समस्त संसार को विदित है कि महाबतखाँ का पालन पोषण केवल श्रीमान सम्राट ने ही किया था, और उस समय किसी व्यक्ति से कोई प्रयोजन नहीं। प्रत्येक व्यक्ति यह भी जानता है कि महाबतखाँ को सम्राट की दया पर बहुत भरोसा है; इसलिये अब वह अपनी राजभक्ति से प्रेरित होकर तथा सम्राट के नाम की रक्षा के लिये जो कुछ उचित समझता है सच्चे हृदय से निवेदन करता है। ... —सारा संसार यह देख कर आश्चर्य चकित रह गया है कि जहाँगीर जैसे बुद्धिमान सम्राट ने अपने ऊपर एक स्त्री का इतना अधिक प्रभाव स्थापित हो जाने दिया है। ... उसने यह भी कहा कि मेरी राय में यह अच्छा होगा कि राजकुमार खुसरू को कारागार से मुक्त कर दिया जाय और उसे किसी विश्वसनीय सेवक के सुपुर्द कर दिया जाय। ... सम्राट को सोचना चाहिये कि अब स्थिति बदल गई है, इसलिये स्वयं सम्राट की सुरक्षा तथा देश की शान्ति और व्यवस्था राजकुमार के जीवन पर ही निर्भर है।'

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि महाबतखाँ ने सद्गुण सम्पन्न तथा वयस्क राजकुमार का पक्ष लिया, और इस प्रकार दरबार में दल-संघर्ष की जो आग सुलग रही थी, उसमें एक उम्मीदवार और जोड़ दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट ने इस साहसपूर्ण सलाह को अच्छी भावनाओं से स्वीकार किया, किन्तु इसका परिणाम स्थायी नहीं हुआ। जिस लेखक का हम ऊपर उद्धरण दे चुके हैं वह लिखता है कि 'काश्मीर पहुँचने के समय तक सम्राट ने कुछ सीमा तक महाबतखाँ की सलाह के अनुसार कार्य किया; किन्तु उसके मस्तिष्क पर नूरजहाँ का इतना गम्भीर प्रभाव था कि यदि महाबतखाँ जैसे २०० व्यक्ति भी एक साथ उसे सलाह देते तो भी उनके शब्दों का उस पर स्थायी प्रभाव न पड़ता।

महाबतखाँ इस प्रकार स्पष्ट रूप से अपनी राय प्रकट करके और नूरजहाँ के गुट का विरोध करके दरबार में भली भाँति टिके रहने की आशा नहीं कर सकता था। १६०२ से १६१० तक वह उन्नति करके १२०० से ४०००+१२०० के पद पर पहुँच गया था। उसके बाद नूरजहाँ आ गई। १६२२ तक उसे किसी प्रकार की तरक्की नहीं मिली। बल्कि उसे दक्षिण से हटाकर अफगानिस्तान की सीमाओं पर नियुक्त कर दिया गया, जहाँ सेवा कार्य अत्यधिक कठोर था। इस प्रकार के व्यक्ति के लिये अभागे राजकुमार खुसरू का पक्ष लेने का अर्थ था अपना काम बिगाड़ना। यद्यपि जहाँगीर ने कुछ समय के लिये अपने ज्येष्ठ पुत्र के प्रति दया दिखलाई और उसे कुछ स्वतन्त्रता भी दे दी, किन्तु नूरजहाँ के गुट ने उसका विनाश करने का षड्यन्त्र रचा। उस समय शाहजहाँ पर नूरजहाँ का अनुग्रह था। इस डर से कि कहीं सम्राट के प्रेम में परिवर्तन न हो जाय और सहसा शाहजहाँ को भविष्य लड़ाई में न पड़ जाय उन्होंने तिकड़म लगा कर बन्दी (खुसरू) को पहले आसफखाँ और फिर शाहजहाँ की हिरासत में रखवा दिया। शाहजहाँ

ने सम्पूर्ण मानवीय भावनाओं की अवहेलना करके अपने बड़े भाई को उस ढंग से अपने मार्ग से हटा दिया जिसमें मुगल राजकुमार अब दिन प्रति दिन दक्ष होते जाते थे। १६२० में उसने दक्खिन जाने से पहले अपने अभागे भाई को साथ ले जाने का हठ किया। जनवरी १६२२ में शाहजहाँ ने बुरहानपुर से जहाँगीर को समाचार भेजा कि वायुगोले की पीड़ा से खुसरू का देहान्त हो गया है। डी लेट ने इस विचित्र पीड़ा का वर्णन इस प्रकार किया है :—

"शाहजहाँ बुरहानपुर में था और अपने भाई खुसरू को अपनी हिरासत में रक्खे हुआ था, वह एक ऐसा षड्यन्त्र रचने लगा कि अपने भाई से भी पिंड छुड़ा ले और उस पर हत्या का सन्देह भी न हो। उसने खानखाना तथा अपने सबसे अधिक स्वामिभक्त अमीरों को भी षड्यन्त्र में सम्मिलित कर लिया और फिर आखेट के लिये चला गया। उसके गुलाम रजा ने जिसे यह पाप कार्य सौंपा गया था, आधी रात के समय खुसरू के शयन-गृह का द्वारा खटखटाया और बहाना किया कि मैं तथा मेरे ये साथी उन पोशाकों तथा पत्रों को लाये हैं जिन्हें सम्राट ने भेजा है और हमें आज्ञा दी गई है कि हम राजकुमार को मुक्त कर दें। राजकुमार ने इस कहानी में विश्वास नहीं किया। किन्तु रजा ने दरवाजा तोड़ दिया और निहत्थे राजकुमार को मार गिराया तथा उसका गला घोंट दिया और उसका शव उसके पलंग पर रख कर फिर दरवाजा बन्द कर दिया।......

"शाहजहाँ लौटकर नगर में आया और अपने भाई की मृत्यु का समाचार लिख कर पिता के पास पत्र भेज दिये।...... यह समाचार सुनकर सम्राट ने अपने पुत्र की मृत्यु पर घोर विलाप किया।"..."उसने खुसरू के श्वसुर खानेआजम को बुलाया, उसके प्रति संवेदना प्रकट की और अपने नाती सुल्तान बुलाकी को, जिसे दस हजार घुड़सवारों का मंसब दे दिया गया था, उसके सुपुर्द कर दिया जिससे वह उसकी शिक्षा का प्रबन्ध कर सके।"

खुसरू के शव को शीघ्रता से बुरहानपुर में दफना दिया गया (मई १६२२)। जून १६२२ में जहाँगीर की इच्छा से उसे आगरा लाया गया और वहाँ से फिर इलाहाबाद भेज दिया गया और खुल्दाबाद (खुसरूबाद) में उसकी माता की कब्र के पास दफना दिया गया। वी० ए० स्मिथ लिखते हैं, "यद्यपि उसका व्यक्तित्व अन्धकारमय था, फिर भी वह भारत के इतिहास का एक अत्यधिक रोचक तथा दयनीय पात्र है।"

जहाँगीर की बीमारी—इसी बीच में जहाँगीर का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा था। बार-बार उसने काश्मीर तथा अन्य स्वास्थ्यप्रद स्थानों की यात्रा की, प्रसिद्ध हकीमों से चिकित्सा कराई और नूरजहाँ ने स्नेहपूर्वक तथा सुचारू रूप से उसकी सेवा-सुश्रूषा की, किन्तु कुछ भी लाभ न हुआ। यद्यपि वह १६२७ ई० तक जीवित रहा, किन्तु यह बहुत पहले निश्चित हो चुका था कि उसका कार्य समाप्त हो चुका है। वास्तविक शक्ति अब दूसरों के हाथों में जानी चाहिये। सबसे अधिक नूरजहाँ तथा शाहजहाँ को भावी घटना-चक्र की चिन्ता थी, और

जैसा कि डाक्टर बेनीप्रसाद ने लिखा है "एक साम्राज्य में नूरजहाँ तथा शाहजहाँ जैसा दो प्रबल आत्माओं के लिये स्थान नहीं था।" इसलिये उसने अपना उद्देश्य पूरा करने के लिये एक अधिक उपयोगी साधन की खोज की, और शहरियार नाशुदनी (निकम्मा) उसे ऐसा व्यक्ति मिल गया। 'उसकी अवस्था कम स्वभाव दब्बू, मस्तिष्क दुर्बल तथा चरित्र निम्नकोटि का था, इसलिये वह सरल। से उस दबंग स्त्री के हाथ की कठपुतली बन गया। नूरजहाँ की पुत्री से उसके विवाह का हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं। उसी समय एक के बाद एक नूरजहाँ के माता (१६२१ ई०) और पिता (१६२२ ई०) दोनों का देहान्त हो गया जिससे उस पर जो नियन्त्रण और प्रभाव था, वह जाता रहा। स्वच्छतया अब राजनैतिक अखाड़े में हेर फेर करने का समय आ गया था।

महत्वाकांक्षी तथा उत्साही शाहजहाँ को स्पष्ट विदित हो गया कि शक्ति पूर्वक कार्य करने से ही मेरा भाग्य बन सकता है। इसलिये १६२१ ई० में उसने अफगानिस्तान के निरर्थक युद्ध में जाने से इन्कार कर दिया। और यही कारण था कि १६२२ ई० में उसने अपने सम्भावित प्रतिद्वन्द्वी, खुसरू न विवश खुसरू लिया। और अन्त में इसी कारण से उसने सहसा दक्षिण में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। यह साफ प्रकट हो गया था कि जहाँगीर को खुसरू के प्रति उसके कुत्सित आचरण का पता लग गया है; यह भी सम्भव था कि नूरजहाँ शहरियार का पक्ष लेगी। जब शाहजहाँ ने सीमान्त प्रदेश को जाने से इनकार किया तो नूरजहाँ को उसे सम्राट से भिड़ा देने का अच्छा अवसर मिल गया। उसने शहरियार को युद्ध सञ्चालन का भार सुपुर्द करवा दिया और जब उसे सफलता न मिली तो उसने जहाँगीर के दूसरे पुत्र सुलतान परवेज़ को जो बिहार का सूबेदार था, बुलवा लिया। गृह युद्ध अनिवार्य हो गया।

गृह-युद्ध

विद्रोह की ब्यौरे की बातें पाठकों को रुचिकर न होंगी। किन्तु जहाँगीर ने उस पर जो विलाप किया वह पढ़ने योग्य है

'मुझे समाचार मिला कि खुर्रम ने नूरजहाँ बेगम तथा राजकुमार शहरियार की कुछ जागीरों पर अधिकार कर लिया है। उसने माण्डू के किले में विलम्ब किया था और अपने पत्रों में अनुचित तथा मूर्खतापूर्ण बातें लिखी थीं इस सबसे मैं बहुत अप्रसन्न था और उसकी धृष्टता से मैं समझ गया था कि उसका मस्तिष्क फिर गया है। बाद में जब यह समाचार और मिला तो मुझे विश्वास हो गया कि मेरे उसके प्रति इतना अनुग्रह तथा दयालुता दिखाने पर भी उसका मस्तिष्क विकृत हो गया है। इसलिये उसके दुस्साहस तथा झूठे दावों की जाँच करने के लिये मैंने अपने एक बहुत पुराने सेवक राजा रोज अफ़्ज़ून को भेजा। इसके अतिरिक्त मैंने उसको एक फर्मान भी भेजा और आदेश भी दिया कि वह अपने काम काज में ध्यान दे और अपने कर्तव्य की अवहेलना न करे। उसे अपनी

उन जागीरों से सन्तुष्ट रहना चाहिये था जो शाही वित्त-विभाग द्वारा उसे प्रदान की गई' थीं। मैंने उसे यह भी चेतावनी दी कि वह मेरे पास न आये और जितने सैनिक उससे माँगे गये थे उन सबको कांधार के युद्ध के लिये भेज दे। यदि उसने मेरी आज्ञाओं के विरुद्ध कार्य किया तो बाद में उसे पश्चाताप करना पडेगा।...... इतिबारखाँ तथा मेरे अन्य पदाधिकारियों ने, जिन्हें मैं आगरा छोड आया था मुझे पत्र लिखे और कहा कि खुर्रम अपनी हठ पर अब भी डटा हुआ है और कर्तव्य का मार्ग छोड कर अवज्ञा करने लगा है तथा उसने आगरा पर आक्रमण करके विनाश के मार्ग पर चलने का निश्चय कर लिया है।......आसफखाँ का भी एक पत्र आया जिसमें लिखा था कि आपके इस कृतघ्न पुत्र ने शिष्टता का आवरण भी उतार फेंका है और खुला विद्रोह कर दिया है; आसफखाँ ने यह भी लिखा कि मैं उसकी (खुर्रम की) गति-विधि से भली-भाँति परिचित नहीं हूँ, इसलिये मैंने कोष हटना उचित नहीं समझा और अकेला आपसे मिलने के लिये चल पडा हूँ।

'यह समाचार पाकर मैंने सुल्तानपुर के निकट नदी पार की और इस अभागे पुत्र को दण्ड देने के लिये चल पडा। मैंने एक फर्मान जारी किया कि इस समय से उसको बेदौलत कह कर पुकारा जाय।' ...... मैंने उसके लिये जो कुछ किया है उसका वर्णन करने की लेखनी में सामर्थ्य नहीं है, और न मैं अपनी वेदना को ही प्रकट कर सकता हूँ, और न मेरे लिये उस सन्ताप तथा दुर्बलता का उल्लेख करना ही सम्भव है जो मुझे इस गर्म जलवायु मे इतना पीडित कर रही हैं तथा मेरे स्वास्थ्य के लिये इतनी घातक है, विशेषकर इन यात्राओं तथा अभियानों के बीच, जो मुझे उस व्यक्ति का पीछा करने के लिये करने पड रहे हैं जो अब मेरा पुत्र नहीं रहा है। अनेक अमीर जो दीर्घकाल से मेरे अनुशासन में रहते आये थे और जो अब उजबेगों तथा कज़िलबासियों के विरुद्ध मेरी सहायता करते, उसकी नीचता के कारण उचित दण्ड पा चुके हैं। दयालु ईश्वर मुझे इन आपत्तियों का सामना करने की सामर्थ्य दे। इस समय मुझे सबसे अधिक दु:ख इस बात का है कि यह वह समय है जब कि मेरे पुत्रों तथा अमीरों को कंधार तथा खुरासान की पुनर्विजय के लिये एक दूसरे से स्पर्धा करनी चाहिये थी, इन स्थानों के हाथ से निकल जाने से साम्राज्य के सम्मान को गहरी चोट लगी है और उनको पुनः जीतने के मार्ग में केवल यह दुष्ट ही बाधा सिद्ध हो रहा है, और उसी के कारण कान्धार का आक्रमण अनिश्चित काल के लिये स्थगित करना पड रहा है। मुझे ईश्वर पर विश्वास है कि शीघ्र ही मुझे इन चिन्ताओं से छुटकारा मिल जायगा।

मुझे इनबारखाँ का पत्र मिला जिसमें लिखा था कि विद्रोही द्रुत गति से आगरा के निकट आ धमका है और आशा करता है कि उसकी रक्षा की तैयारियाँ होने से पहले ही उस पर अधिकार कर लूँगा। फतेहपुर पहुँच कर उसने देखा कि मेरी आशायें व्यर्थ हैं, इसलिये वह वहीं ठहर गया। खानखाना (मिर्जा अब्दुर्रहीमखाँ) तथा उसका पुत्र भी उसके साथ थे, और अन्य अनेक अमीर जो दक्खिन तथा गुजरात में नियुक्त थे विद्रोह तथा विश्वासघात का मार्ग अपना कर उससे जा मिले थे। विद्रोहियों ने लश्करखाँ के घर से नौ लाख रुपया ले लिया और प्रत्येक स्थान पर मेरे समर्थकों के यहाँ उन्हें जो

महाबतखाँ जैसा व्यक्ति इस प्रकार के अपमान को सहन न कर सकता था। सम्राट उस समय काश्मीर से लौटा था, और नूरजहाँ, आसफखाँ तथा पूरे दरबार के साथ काबुल के लिये प्रस्थान करने वाला था। सम्राट का निवास स्थान बीहट नदी के किनारे था। यद्यपि महाबतखाँ जैसा वीर तथा साहसी शत्रु पास ही में था, फिर भी आसफखाँ ने सम्राट की सुरक्षा के विषय में इतनी असावधानी की कि उस नदी के उसी किनारे पर छोड़ दिया और स्वयं बच्चों, स्त्रियों, सेवकों तथा पदाधिकारियों के साथ पुल पार करके दूसरे तट पर चला गया। इतना ही नहीं, तोप, अस्त्र-शस्त्र और यहाँ तक कि घर-गृहस्थी का सामान भी उस पार भिजवा दिया।

'महाबतखाँ ने देखा कि मेरा जीवन तथा सम्मान संकट में है और मेरे पास कोई साधन नहीं है, क्योंकि सम्राट के निकट मेरा कोई मित्र नहीं रह गया है। ४०० अथवा ५००० राजपूतों के साथ जिन्होंने उसके प्रति वफादार रहने की शपथ खाई थी, वह पुल की ओर बढ़ा। २०० सैनिक उसने पुल की रक्षा के लिये नियुक्त कर दिये और उन्हें आदेश दिया कि किसी को पार मत होने देना चाहे इसमें जान ही देना पड़े। महाबतखाँ स्वयं शाही शिविर की ओर बढ़ा। मुतामदखाँ इस समय जहाँगीर के तम्बू में उपस्थित था, उसने अनेक ब्यौरे की चीजों का वर्णन किया है। महाबतखाँ सम्राट को अपने अधिकार में करने के लिये आगे चला, इस पूरे अवसर पर उसने इतना तथा सावधानी से कार्य किया किन्तु जहाँगीर के प्रति कभी असम्मान नहीं प्रदर्शित किया। मुतामदखाँ लिखता है :—

जो नौकर सम्राट की सेवा में उपस्थित थे उन्होंने उसे इस साहसपूर्ण कार्य की सूचना दी। सम्राट बाहर निकला और पास ही रक्खी हुई पालकी में बैठ गया। महाबतखाँ सम्मान पूर्वक पालकी के द्वार पर पहुँचा और बोला ' मुझे विश्वास हो गया है कि आसफखाँ की ईर्षा तथा घृणा से छुटकारा पाना असम्भव है, और मुझे लज्जा तथा अपमान की मौत मरना पड़ेगा। इसलिए मैंने धृष्टतापूर्वक अपने को आपकी शरण में छोड़ दिया है। यदि आप समझते हों कि मैं मृत्यु अथवा दण्ड का अधिकारी हूँ, तो आज्ञा कीजिये जिससे मैं उसे आपके सम्मुख ही भुगत लूँ।''

'अब सशस्त्र राजपूत चारों ओर से उमड़ पड़े और शाही कक्ष को घेर लिया। सम्राट के पास उस समय अरब दस्तगैब तथा कुछ अन्य सेवकों को छोड़ कर और कोई न था। उस स्वामिद्रोही कुत्ते (महाबत खाँ) के बल पूर्वक घुस आने से सम्राट भयभीत हुआ तथा आगबबूला हो गया और उस गन्दे कुत्ते का अस्तित्व संसार से समाप्त करने के लिये उसने दो बार तलवार पर हाथ रक्खा किन्तु हर बार मंसूर बदख्शी ने कहा, यह समय धीरज का है इस दुष्ट स्वामिद्रोही को दण्ड देना दयालु ईश्वर पर छोड़ दीजिये। एक दिन आयेगा जब इसे इसका दण्ड भोगना पड़ेगा। उसके शब्द बुद्धिमत्तापूर्ण जान पड़े, इसलिये सम्राट ने अपने को रोक लिया। थोड़े ही समय में राजपूतों ने शिविर के भीतर-बाहर अधिकार कर लिया, और सेवकों को छोड़ कर सम्राट के पास और कोई न पहुँच सका।

सम्राट को इस प्रकार अपने अधिकार में करके महाबतखाँ ने सोचा कि अपने शक्तिशाली शत्रुओं को निकल जाने देना ठीक नहीं है। नूरजहाँ ने पहले तो समझा कि जहाँगीर शिकार को चला गया है, किन्तु जब उसे वास्तविक स्थिति का पता लगा तो मुख्य अमीरों तथा अपने भाई आसफखाँ को बुलाया और तिरस्कारपूर्ण शब्दों में बोली, "यह सब कुछ तुम लोगों की असावधानी तथा मूर्खतापूर्ण प्रबन्ध के कारण हुआ है। जिस बात की किसी को कल्पना भी न हो सकती थी वह हो गई है और अब तुम ईश्वर तथा मनुष्य जाति के सामने लज्जा के भाजन बन गये हो। इस बुराई का प्रतिकार करने के लिये तुम्हें भरसक प्रयत्न करना चाहिये और सलाह दो कि इस विषय में क्या नीति अपनाई जाय।" उन सबने एक मत होकर तथा एक स्वर से कहा कि प्रातःकाल होते ही सेनाएँ तैयार कर ली जाय और विद्रोही को परास्त करने तथा सम्राट को मुक्त करने के लिये नदी पार की जाय। नूरजहाँ ने बड़ी वीरता का परिचय दिया, किन्तु प्रयत्न असफल रहा। मुतामदखाँ ने उस दृश्य का इस प्रकार विशद वर्णन किया है :—

'घुड़सवार, पैदल, घोड़े, ऊँट और गाड़ियाँ नदी के बीच में थे और दूसरे किनारे पर पहुँचने के लिये एक दूसरे से धक्कमधक्का कर रहे थे। ' ' दूसरे किनारे पर सात-आठ हज़ार राजपूत दृढ़ता से डटे हुए थे और उनके सामने लड़ाकू हाथियों की पाँत खड़ी हुई थी। हमारे कुछ आदमी, घुड़सवार तथा पैदल अव्यवस्थित ढंग से किनारे पर पहुँच गये। शत्रु ने अपने हाथी आगे बढ़ाये, पीछे से घुड़सवार झपटे और पानी में कूद कर तलवारें चलाने लगे। हमारे आदमी मुट्ठी भर थे और उनका नेतृत्व करने वाला कोई न था, इसलिये वे पीछे मुड़ कर भाग खड़े हुए और शत्रु ने उनके रक्त से जल रंग दिया। नूरजहाँ बेगम की पालकी में शहरयार की पुत्री थी जिसकी अंकी (धाय) शाहनवाज़ खाँ की पुत्री थी। धाय की बाँह में एक बाण लगा, और बेगम ने स्वयं उसे अपने हाथों से निकाला जिससे उसके वस्त्र रक्त में सन गये। जिस हाथी पर बेगम सवार थी उसकी सूँड में तलवार के दो घाव लगे, और जब वह पीछे मुड़ा तो पीछे तीन स्थानों पर उसे भालों की चोटें सहनी पड़ीं। राजपूत लोग नंगी तलवारें लेकर उसके पीछे झपटे, तब महावतों ने उसे हाँक कर गहरे पानी में डाल दिया। घुड़सवारों को तैरना पड़ा, इसलिये अन्त में डूबने के डर से वे पीछे लौट गये। हाथी तैर कर किनारे पर पहुँच गया और बेगम शाही खेमे में चली गई।' ' इस सम्पूर्ण विनाश का कारण आसफखाँ था और उसी की मूर्खता तथा असावधानी के कारण यह स्थिति उत्पन्न हो गई थी। जब उसने देखा कि अधिक समय तक महाबत खाँ का प्रतिरोध करना सम्भव नहीं है तो वह अपने पुत्र अबू तालिब, दो-तीन सौ घुड़सवारों, बर्गीरों और सेवकों को लेकर अटक के किले में चला गया और किला बन्द कर लिया; अटक उसकी जागीर में था।' ' महाबतखाँ ने शाही अहदियों (अंगरक्षकों) का एक दल, कुछ अपने अनुयायी तथा पड़ौस के ज़मींदार एकत्र किये और अपने पुत्र तथा एक राजपूत के नेतृत्व में उन्हें अटक का घेरा डालने के लिये भेज दिया। उन्होंने किले को विजय कर लिया, और आसफखाँ ने दैव के सामने शीश झुका दिया और महाबतखाँ का समर्थन करने की शपथ खाई।'

इस साहसपूर्ण चाल के द्वारा महावतखाँ ने साम्राज्य भर के सभी महत्त्वशाली व्यक्तियों को अपने अधिकार में कर लिया और अधिनायक बन बैठा। किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि कुछ ही समय में उसका तख्ता उलट दिया गया। इसका मुख्य श्रेय नूरजहाँ की चतुराई तथा कूटनीति को था। इतिहासकार लिखता है 'नूरजहाँ बेगम ने छिपकर तथा खुले रूप में, दोनों ही तरीकों से उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचे। उसने बहुत से अनुयायी एकत्र किये और धन देकर तथा वायदे करके अपने से संलग्न रक्खा। उसने अपने ख्वाजा हुशियारखाँ को पत्र लिखे ; ख्वाजा ने लाहौर में २० ० आदमी जमा कर लिये और उसके मिलने के लिये चल दिया। शाही अफसरों के पास काफी बड़ी संख्या में लोग एकत्र हो गए थे।' महावतखाँ की पराजय के सम्बन्ध में निश्चित ब्यौरे की चीजों का पता नहीं है।

इतिहासकार लिखता है, सम्राट ने घुड़सवार सेना का निरीक्षण करने का संकल्प किया। उसने आदेश दिया कि नये तथा पुराने सभी सैनिक शाही शिविर से लगाकर दो पंक्तियों में जितनी दूर तक हो खड़े हो जाँय। इसके बाद उसने बुलन्दखाँ नामक अपने एक चाकर को आज्ञा दी कि महावतखाँ से जाकर कह दो कि आज सम्राट बेगम की सेना का निरीक्षण कर रहा है। अच्छा होगा कि पहले दिन की नियमित परेड स्थगित करदी जाय नहीं तो दोनों दलों में कहा सुनी हो जाने तथा झगड़ा उठ खड़े होने का डर है। अपनी इच्छा को अधिक दृढ़ता से कार्यान्वित करने के लिये उसने बुलन्दखाँ के बाद ख्वाजा अबुल हसन को भेजा और महावतखाँ से कहलाया कि वह एक पड़ाव आगे चला जाय। अन्त में ख्वाजा महावतखाँ को समझाने में सफल हुआ महावतखाँ अपनी अशिष्टता तथा अनधिकार सत्ता के उपयोग को छोड़कर आगे चला गया। सम्राट ठीक उसके पीछे चलता गया और पहली मंजिल पर न ठहर कर एक साथ दो मंजिलें पूरी की और नदी पार करके रोहतास को चला गया, जहाँ उसका स्वागत करने के लिये दरबार लगा हुआ था।

महावतखाँ ऐसा भोलाभाला नहीं था कि इतनी सरलता से झाँसे में आ जाता। सत्य यह प्रतीत होता है कि उसने अपने शाही बन्दियों के साथ प्रारम्भ से ही अत्यधिक सम्मानपूर्ण व्यवहार किया था, इसलिये उन्हें अपनी शाही प्रतिष्ठा का अधिक से अधिक लाभ उठाने का अवसर मिल गया। इसके अतिरिक्त महावतखाँ की सहसा तथा अप्रत्याशित सफलता के कारण अन्य सभी अमीरों के हृदयों में ईर्ष्या की ज्वाला धधकने लगी थी, इसलिये उसके अधिक दिनों तक टिके रहने की सम्भावना नहीं थी। यदि उसके निकट शाही परिवार का कोई राजकुमार होता तो वह उसके आस पास इन दलों को इकट्ठा कर लेता जिनकी सहायता पाने की अब उसे कोई आशा नहीं थी। वास्तव में उसका विद्रोह सहसा मनोवेग का परिणाम था और क्षणिक आवेश में आकर तथा आत्मरक्षा की दृष्टि से वह ऐसा कर बैठा था। उसके पास न तो साधन थे और

गई तो वह उसे निगल न सका। रात में उसकी दशा बिगड़ गई, और दूसरे दिन, ६८ सफर १०३७ को प्रातःकाल अपने शासन के बाईसवें वर्ष में, मर गया।

योरोपीय जातियों से जहाँगीर का सम्बन्ध

जहाँगीर के शासन तथा उसके चरित्र की समीक्षा करने से पहले आवश्यक है कि हम संक्षेप में योरोपीय लोगों से उसके सम्बन्धों की विवेचना करलें, क्योंकि उनसे उसके शासन तथा चरित्र दोनों पर ही अच्छा प्रकाश पड़ता है। सुविधा की दृष्टि से हम तीन पृथक श्रेणियों के अन्तर्गत इस पर विचार करेंगे। (क) पुर्तगाली; (ख) जैसुइट; तथा (ग) अंग्रेज।

पुर्तगाली—भारत में पुर्तगालियों की शक्ति का निश्चित रूप से पतन हो रहा था, और इसके कई कारण थे। सम्भवतः दो महत्वपूर्ण कारण थे उनकी धर्मान्धता तथा १५८० और १६४० के बीच स्पेन द्वारा पुर्तगाल को आत्मसात कर लेना। डच तथा अंग्रेज आदि अन्य योरोपीय जातियाँ पूर्व में उनसे आगे बढ़ रही थीं। उनकी सामुद्रिक लूटमार के कारण मुगल साम्राज्य से भी उनकी टक्कर हो गई। जहाँगीर उनसे मित्रतापूर्ण सम्बन्ध कायम रखना चाहता था, इसलिये १६०७ तथा १६१० में उन्होंने गोआ से उसके दरबार में दूतमंडल भी भेजे थे (फादर पिनहीरो तथ मुकर्रबखाँ के नेतृत्व में), फिर भी उनकी एकता असफल हो गई। १६११ में सूरत के निकट पुर्तगालियों ने तीन शाही जहाज़ पकड़ लिये जिनमें लगभग १२ लाख का सामान था। उनका सूबेदार कोई भी तर्क सुनने को तैयार नहीं था इसलिये सूरत के सूबेदार ने डौंटन नामक एक अंग्रेज जहाजी कप्तान की सहायता से उन्हें एक सामुद्रिक युद्ध में परास्त किया। इसके बाद साम्राज्य में बसे हुए पुर्तगालियों के विरुद्ध बड़ी कठोर कार्यवाहियाँ की गई और जो विशेषाधिकार उन्हें पहले से मिले हुये थे छीन लिये गये। जहाँ कहीं भी पुर्तगाली मिले उन्हें पकड़ कर कारागार में डाल दिया गया, और यहाँ तक कि फादर जेरोम ज़ेवियर को भी मुकर्रबखाँ की हिरासत में रख दिया गया। आगरा तथा लाहौर के गिरजे बलपूर्वक बन्द कर दिये गये। इससे पुर्तगालियों की बुद्धि ठिकाने आ गई और उन्होंने सम्राट से संधि की बात चीत आरम्भ कर दी। संधि की शर्तों को तै करने के लिये फादर ज़ेवियर को छोड़ दिया गया, किन्तु पुर्तगालियों के प्रस्ताव सम्राट को पूर्ण रूप से स्वीकार न थे। उन्होंने शर्तें रक्खीं कि बन्दी छोड़ दिये जाँय, पुर्तगालियों की जो सम्पत्ति छीन ली गई है उसी को क्षति पूर्ति के रूप में लेकर सम्राट सन्तुष्ट हो जाय और डचों तथा अंग्रेजों को किसी प्रकार के विशेषाधिकार न दिये जाँय। अन्त में जैसुइटों के प्रयास से सितम्बर १६१५ में साम्राज्य तथा पुर्तगालियों के बीच किसी प्रकार शान्ति स्थापित हो गई। १६२१ ई० में शाहजहाँ ने अपने विद्रोह के दौरान में हुगली के पुर्तगा-

चियों से सहायता माँगी, किन्तु उन्होंने इनकार कर दिया और उलटे इब्राहीमखाँ के नेतृत्व में शाही सेना में तोपचियों का काम किया।

जैसुइट—जैसा कि हम पहले देख चुके हैं जहाँगीर को अपने पिता के समय में जैसुइटों के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला था। अकबर के दरबार में आये प्रथम जैसुइट शिष्ट मण्डल के नेता फादर रिडोल्फ एकुआविवा से उसकी घनिष्ठ मित्रता हो गई थी। अपने पिता के विरुद्ध जब उसने विद्रोह किया और इलाहाबाद में दरबार स्थापित कर लिया, उस समय उसने गोआ से एक शिष्ट-मण्डल बुलाने का प्रयत्न किया, किन्तु विफल रहा। उसने जैसुइटों के प्रति बहुत अनुग्रह दिखलाया था और उनके गिरजाघर को अनेक उपहार भेंट किये थे जिनमें शिशु ईसा मसीह की एक चाँदी की मूर्ति भी थी। वह अपने गले में एक तावीज पहना करता था जिसमें मसीह तथा कुमारी के चित्र रहते थे, और ईसाई चिन्हों से अपने पत्रों को अङ्कित किया करता था। गिरजाघरों के निर्माण के लिये उसने बहुत सा धन दान दिया और ईसाई धर्म के प्रति उच्च कोटि का भक्ति-भाव प्रकट किया। लाहौर में जैसुइट मठ के लिये एक विशाल तथा भव्य गिरजाघर तथा पादरियों के रहने के लिये एक भवन बना दिये गये थे, "वह भवन बहुत ही आराम का था, उसमें बरामदे तथा ऊपरी और निचली मञ्जिल में कमरे थे जो गर्मी तथा जाड़े की ऋतुओं के लिये सभी दृष्टि से उपयुक्त थे। संघ के काम-काज के प्रत्येक विभाग के लिये अलग अलग उपयुक्त तथा आराम देने वाले कक्ष थे जैसे कि योरुपीय भवनों में हुआ करते हैं। आगरा में १६०६ ई० में कम से कम बीस लोगों ने ईसाई धर्म की दीक्षा (बपतिस्मा) ली, और काबुल जाते समय मार्ग में जहाँगीर ने अञ्जील का एक फारसी अनुवाद ग्रहण किया और पादरियों को सार्वजनिक रूप से कार्य करने की उतनी ही स्वतन्त्रता दे दी जितनी कि उन्हे योरुप में प्राप्त थी। जब सम्राट आगरा लौटा तो अपने साथ दो पादरी लाया और एक को लाहौर में वहाँ के संघ की देख-भाल करने के लिये छोड़ आया। गिरजाघरों को कैथोलिक रीति-रिवाजों के अनुसार सड़कों पर जुलूस निकालने की पूरी स्वतन्त्रता थी, और राज-कोष से गिरजा के व्यय तथा धर्म परिवर्तित लोगों की सहायता के लिये नकद भत्ते दिये जाते थे।"

जैसुइटों में जहाँगीर की रुचि का सबसे अद्भुत प्रमाण यह था कि उसने अपने भतीजों को (स्वर्गीय राजकुमार दानियाल के पुत्रों को) बपतिस्मा लेने की आज्ञा दे दी थी।

"राजकुमारों ने पुर्तगाली वस्त्र धारण किये गये, गले में सोने की सूली (ईसाइयों का चिन्ह) पहनीं और हाथियों पर सवार होकर सड़कों पर होते हुये महल से गिरजा घर तक गये; मार्ग में दर्शकों की भारी भीड़ जमा थी। अनेक दरबारी भी उनके साथ थे और लगभग ६० ईसाई जिनमें पोलैण्ड, वैनिस तथा आर्मीनिया के निवासी सम्मिलित थे, घोड़ों पर बैठ कर जुलूस में सम्मिलित हुये। हॉकिन्स नाम का अंग्रेज उस समय

आगरा में हो या, वह उस दिन के लिये अपने प्रोटेस्टेण्ट विचारों को भूल गया और सेण्ट जॉर्ज का झण्डा लेकर जुलूस के आगे आगे चला जिससे 'अंग्रेजी राष्ट्र का सम्मान बढ़ा।' गिरजाघर में अत्यन्त प्रसन्नता के साथ राजकुमारों का स्वागत किया गया और घण्टा इतनी जोर से बजाया गया कि टूट गया। दीक्षा की रस्म बहुत ही प्रभावोत्पादक ढङ्ग से पूरी की गई और राजकुमारों के व्यवहार को देख कर दर्शकों के नेत्रों में आँसू भर आये। जब उन्हें दीक्षा मिल गई तो प्रचलित परिपाटी के अनुसार उनके अंग्रेज़ीय ढङ्ग के नाम रखे गये।" स्पेन के राजा फिलिप तृतीय ने बड़े उत्साह के साथ इस शुभ समाचार का स्वागत किया और जहाँगीर को स्वयम् एक पत्र लिखा और ईसाइयों के प्रति उसके मित्रतापूर्ण व्यवहार के लिये धन्यवाद दिया। किन्तु यह सब दिखावा समाप्त हो जाने पर राजकुमारों ने 'सूलियों जैसुइटों को लौटा दीं' अर्थात् ईसाई धर्म त्याग दिया और एक जेसुइट लेखक के शब्दों में 'प्रकाश को छोड़ कर फिर अँधेरे में चले गये'।

१६१७ ई० में फादर ज़ेवियर और दूसरे वप पिनहीरो की मृत्यु हो गई और उनके स्थान पर फादर कोर्सी तथा फादर जोजफ डी कैस्ट्रो नियुक्त हुये। धर्म प्रचार के अतिरिक्त ये पुर्तगाल के अभिकर्ता (एजेण्ट) के रूप में भी कार्य करते थे। फादर कोर्सी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह 'मिशन का महान स्तम्भ' या और दोनों को सम्राट के निकट सम्पर्क में आने का विशेष अवसर मिला। कोर्सी १६०४ ई० में पहले आगरा आया, और कैस्ट्रो एक वर्ष उपरान्त। पहले की १६३५ ई० में राजधानी में और दूसरे की १६४६ ई० में लाहौर में मृत्यु हो गई। यद्यपि ये दोनों इटली के निवासी थे, किन्तु दरबार में उनके राजनैतिक कार्यों का उद्देश्य अँग्रेजों के विरुद्ध पुर्तगालियों का हित साधन करना था। सर टॉमस रो सितम्बर १६१५ में भारत आया, एक वर्ष उपरान्त उसने एक पत्र लिखा जिसमें कहा कि 'किस प्रकार पुर्तगाली राज्य में घुस आये थे और किन लोगों से उन्होंने प्रवेश किया था; जैसुइटों का आना, उनका सत्कार, विशेषाधिकार, उनके कार्य, उनके गिरजाघर का उद्देश्य तथा वृद्धि, जिनके सम्बन्ध में वे योरुप में इतने गीत गाते तथा सफलता का ढिंढोरा पीटते हैं। यद्यपि रो प्रोटेस्टेण्ट था और उसके राजनैतिक हित पुर्तगालियों के विरुद्ध थे फिर भी जैसा कि सर एडवर्ड मैक्लेगन ने लिखा है, उसके तथा कोर्सी के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे तथा दोनों ही के लिये श्रेयस्कर थे।

अँग्रेज—कैप्टिन विलियम हॉकिन्स पहला अँग्रेज था जो जहाँगीर की सेवा में उपस्थित हुआ; वह अगस्त १६०८ में आकर (अपने जहाज़ हैक्टर में) सूरत में उतरा; अपने साथ वह ब्रिटेन के राजा जेम्स प्रथम का एक पत्र लाया जिसमें व्यापारिक सुविधाओं की माँग की गई थी। सम्राट के लिये वह २५,००० सोने की मुहरें भेंट स्वरूप लाया था; जहाँगीर ने उसका अच्छी भाँति स्वागत किया (अप्रैल १६०९), यद्यपि मुगल दरबार में पुर्तगाली हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले जैसुइट फादर पिनहीरो ने उसका बहुत विरोध किया। हॉकिन्स तुर्की तथा फारसी भाषायें बोल सकता था, इसलिये उसे दुभाषिये की आवश्यकता नहीं थी।

जहाँगीर के दरबार में पुर्तगालियों तथा अँग्रेजों में प्रतिस्पर्धा रहती थी, इसलिये उनमें आपस में भारी शत्रुता होगई। हॉकिन्स के लेख में यह चीज़ स्पष्ट दिखाई देती है। वह लिखता है कि फादर पिन्हीरो ने मुकर्रबखाँ को इसलिये घूस दी कि वह मुझे चुरा ले जाय और उसने यह भी कहा कि इङ्गलैण्ड पुर्तगाल का एक अधीन राज्य है। वह आगरा से लिखता है (१६०९ ई०), 'यहाँ जैसुइट लोग अपनी पूजा तथा गिरजाघर की ओर बहुत कम ध्यान देते हैं और इस सोच-विचार में लगे रहते हैं कि मेरा कार्य कैसे बिगाड़ें'।' अन्त में हॉकिन्स लिखता है कि 'ये पागल कुत्ते मुझे इस संसार से हटाने का प्रयत्न कर रहे हैं'; और सम्राट को उन्हें चेतावनी देनी पड़ी थी कि यदि हॉकिन्स को कुछ हो गया तो उसके लिये तुम्हें उत्तरदायी ठहराया जायगा। जब आगरा में हॉकिन्स का एक प्रोटैस्टैण्ट साथी मर गया तो जैसुइटों ने उसे ईसाई कब्रिस्तान में दफनाने की आज्ञा नहीं दी। जब हॉकिन्स ने 'विष दिये जाने से बचने के लिये' आरमीनियाँ की एक ईसाई स्त्री से विवाह कर लिया तो जैसुइटों ने कहा कि हम तब तक तुम्हारे विवाह की रस्म पूरी नहीं कर सकते जब तक कि तुम पोप का प्रभुत्व स्वीकार नहीं कर लेते। किन्तु बाद में उनके सम्बन्ध कुछ अच्छे हो गये। अन्त में १६११ में हॉकिंस निराश होकर भारत से चला गया; जैसुइटों के कारण उसका शिष्ट मण्डल पूर्णरूप से बदनाम हो गया था। फादर ज़ेवियर ने कहा कि कुछ स्वार्थी धर्मद्रोहियों ने मुगल दरबार में कैथोलिक धर्म की सुन्दर प्रगति में बाधा डालने का प्रयत्न किया, किन्तु जब सम्राट को उनके कुकर्मों का पता लगा तो उसने उन्हें देश से निर्वासित कर दिया।'

पॉल केनिंग दूसरा उल्लेखनीय अँग्रेज़ था जो जहाँगीर के दरबार में आया; वह भी सम्भवतः राजा जेम्स का पत्र लाया था और १६१२ में आगरा पहुँचा। उसका अनुभव अपने पूर्वाधिकारियों से अच्छा न था। जैसुइटों का अब भी दरबार में बहुत प्रभाव था। 'झूठे जैसुइट प्रतिदिन सम्राट को उपहार तथा विचित्र खिलोने भेंट करते' तथा अँग्रेजों के विरुद्ध उसके कान भरा करते थे। किन्तु मुगल साम्राज्य तथा पुर्तगालियों के सम्बन्ध बिगड़ जाने से कुछ समय के लिये स्थिति बिलकुल बदल गई (१६१३-१५)। पुर्तगालियों के साथ साथ जैसुइट भी पूर्णरूप से बदनाम हो गये। इसी समय जब कि वे 'राजा तथा प्रजा की दृष्टि में बुरी भाँति गिर चुके थे,' विलियम एडवर्ड्स नाम का तीसरा अँग्रेज 'राजदूत' सूरत आया (१६१५) और अपने साथ राजा जेम्स का पत्र भी लाया। किन्तु सबसे अधिक महत्वशाली तथा प्रसिद्ध अँग्रेज़ प्रतिनिधि सर टॉमस रो* था। स्मिथ

---

* 'रो उस काम को पूरा करने आया था जिसमें हॉकिन्स को केवल आंशिक सफलता मिली थी। अंग्रेज अभिकर्ता तथा व्यापारी एक ही अपमानजनक स्थिति में थे, सब प्रकार से उनका तिरस्कार होता था, उन्हें कोई [illegible] अधिकार नहीं [illegible] थे और साधारण सी सुविधाओं के लिये भी उन्हें घूस देनी और अनुनय विनय करनी पड़ती थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के एजेंटों ने जो उनके प्रमुख थे, अपने [illegible] द्वारा अपने [illegible] को

लिखते हैं कि 'वह सुशिक्षित शिष्ट दरबारी और अनुभवी कूटनीतिज्ञ था, तथा इंग्लैण्ड के व्यापार की सुरक्षा के लिये सन्धि की बातचीत करने का जो काम उसे सौंपा गया था, उसके लिये सर्वथा योग्य था।' उसके साथ उसका पादरी टैरी भी आया था। 'टैरी ने देश तथा सरकार का जो बयान किया है वह रो के वर्णन से कहीं अच्छा है।' रो के सामने भी वे ही कठिनाइयाँ आई जिनका उसके पूर्वाधिकारियों को सामना करना पड़ा था; "जब रो को आशा होती कि मेरी प्रार्थना पर शीघ्र ही निर्णय होने वाला है तभी अन्तिम समय आपत्ति उठा दी जाती; 'रात भर में जैसुइट घास फूस खड़ा कर देते।"

उसने स्वयं सन्धि का जो प्रारूप (मसविदा) तैयार किया था उसकी शर्तें थीं कि अंग्रेजों को मुगल सम्राट के सभी बन्दरगाहों में—बंगाल तथा सिन्ध के बन्दरों में भी—स्वतन्त्रतापूर्वक आने की आज्ञा होगी और उनका माल भी स्वतन्त्रता से आ जा सकेगा तथा उस पर सामान्य चुङ्गी को छोड़ कर अन्य किसी प्रकार का शुल्क नहीं लगेगा उन्हें इच्छानुसार बेचने तथा खरीदने की गोदामें किराये पर लेने, नावें तथा गाड़ियाँ भाड़े पर करने और प्रचलित दर पर रसद खरीदने का अधिकार होगा; अन्य शर्तें थीं कि मरे हुए व्यापारियों की सम्पत्ति जब्त न की जायगी तट पर आने वाले व्यापारियों की तलाशी न ली जायगी, सम्राट के लिये आने वाले उपहार खोल कर न देखे जायगे चुङ्गी के कार्यालयों में विलम्ब न किया जायगा तथा इसी प्रकार की अन्य बुराइयाँ दूर कर दी जायँगी। अंग्रेजों की ओर से रो यह वचन देने को तैयार था कि वे अंग्रेजों के शत्रुओं तथा अन्य लोगों को जो उन्हें क्षति पहुँचायेंगे, छोड़ कर और किसी राष्ट्र के जहाजों को न सतायेंगे, तथा उनके व्यापारी जब तक तट पर रहेंगे 'शान्ति तथा शिष्टता का व्यवहार करेंगे,' वे मुगल सम्राट के लिये दुर्लभ वस्तुएँ प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे, वे उसे युद्ध का सामान, जो वह चाहेगा देंगे (कीमत पर) और वे 'साम्राज्य शान्ति के शत्रुओं के विरुद्ध उसकी सहायता करेंगे। पुर्तगालियों को इस सन्धि तथा संघ में सम्मिलित होने का अधिकार होगा किन्तु यदि छः महीने के भीतर उन्होंने ऐसा न किया तो अंग्रेजों को इस बात की आज्ञा होगी कि वे उन्हें अपना शत्रु समझें और समुद्र पर उनके विरुद्ध युद्ध छेड़ दें और 'भारत का महान सम्राट इस बात से अप्रसन्न न होगा।'

पूर्णतया बना दिया था; वे मुगल पदाधिकारियों की चाटुकारी करते और अपमान के सामने सिर झुका देते और अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये तनिक भी प्रयत्न न करते, "उन्होंने कुलियों तथा नीच भारतवासियों तक के जूते सहे और उनके द्वारा वे घृणापूर्वक गर्दन पकड़ कर निकाल दिये जाते, फिर भी वे इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की शिकायत न करते थे।" अंग्रेजों को छेड़ा, लूटा तथा तिरस्कार किया जाता और यहाँ तक कि सड़कों पर उनके कोड़े लगाये जाते थे। अब स्पष्ट हो गया था कि हॉकिंस तथा एडवर्ड्स से भिन्न प्रकार के व्यक्ति की आवश्यकता थी जो हमारे नाम तथा सम्मान को जो धक्का लगा था उसका बदला ले सकता।'—लेनपूल पृष्ठ १०१-२; ईस्ट इंडिया कम्पनी के संचालकों के अनुसार सर टॉमस रो 'गहरी सूझ-बूझ का व्यक्ति, बात-चीत में ... ... शिक्षा परिश्रमी तथा देखने में सुन्दर था।'

टॉमस रो भारत में लगभग तीन वर्ष तक ठहरा और दक्षिण की यात्रा में (मांडू और अहमदाबाद) जहाँगीर के साथ गया, किन्तु अपने काम में उसे सफलता न मिली और अन्त में १७ फरवरी १६१९ को भारत से चला गया। वह सूरत में १८ सितम्बर १६१५ में आकर उतरा था। यद्यपि उसका उद्देश्य पूरा नहीं हुआ किन्तु उसने मुगल सम्राट द्वारा अपने स्वागत तथा उससे अपनी विदाई का लालित्यपूर्ण ढङ्ग से वर्णन किया है।

वह लिखता है, "जाने से पहले मैंने प्रार्थना की थी कि मुझे अपने देश की रूढ़ियों का पालन करने दिया जाय, मेरी प्रार्थना स्वीकार करली गई और इसलिये मैं नियत समय पर उनका पालन करता। जैसे ही मैं पहले घेरे में पहुँचा, मैंने अभिवादन किया; भीतर के घेरे में पहुँच कर फिर, और राजा के निकट पहुँच कर तीसरी बार। स्थान बहुत बड़ा दरबार है जहां हर प्रकार के लोग एकत्र होते हैं। राजा ऊपर एक कक्ष में बैठता है, राजदूत, महापुरुष तथा समान स्थिति के विदेशी लोग उसके नीचे सबसे भीतर के घेरे में बैठते हैं जो पृथ्वी से उठा हुआ है और जो ऊपर से रेशम तथा मखमल की छतरियों से ढका है और जिस पर नीचे सुनहरी कालीन बिछे हुए हैं, उनसे नीची श्रेणी के लोग,'' ''''''पहले घेरे में, और प्रजा बाहर चौक में बैठती है, किन्तु सब लोग राजा को देख सकते हैं। यह दृश्य एक नाटकघर से इतना मिलता जुलता है—राजा ऊपर कक्ष में बैठा हुआ, महापुरुष रंगमंच पर अभिनेताओं की भांति, तथा साधारण लोग टकटकी लगाये हुये—कि साधारण वर्णन से ही स्थान तथा उसके रंग-ढंग का अनुमान हो जायगा।' ''''''मैंने श्रीमान राजा का अनूदित पत्र प्रस्तुत किया, और फिर अपना सन्देश कहा जिस पर उसने विचित्र ढंग से मेरी ओर देखा, फिर मैंने उपहार भेंट किये, और उन सब को प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया गया। उसने कुछ प्रश्न पूछे; और मेरे स्वास्थ्य की चिन्ता करते हुए (रो हाल ही में बीमारी से अच्छा हुआ था) कहा कि मेरे वैद्य आपकी सेवा के लिये प्रस्तुत हैं और सलाह दी कि जब तक आप पूर्ण स्वस्थ न हो जायँ, घर से बाहर न निकलें, और यदि इस बीच में किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो इच्छानुसार मँगा कर अपनी तुष्टि कीजिये। विदा करने से पहले जितना अनुग्रह तथा दया उसने मेरे प्रति दिखलाई उतनी उसने तुर्क, ईरानी अथवा अन्य किसी भी राजदूत के प्रति नहीं दिखलाई थी।'

रो ने यह भी लिखा है: 'यह मोटा हाथी (मुगल सम्राट) न तो कोई शर्त मानने को तैयार था और न किसी राजा से समानता के आधार पर सन्धि करने के लिये ही सहमत था, किन्तु अनुग्रह के रूप में हमें ठहरने की आज्ञा देने को तैयार था।' जहाँगीर ने उसे केवल इतना आश्वासन दिलाया कि 'आप निश्चिन्त रहें कि जितने विशेषाधिकार और किसी विदेशी को मिलेंगे उतने आपको भी दिये जायँगे।' मुगल पदाधिकारियों के सम्बन्ध में राजदूत लिखता है, 'सामान्यतया विदेशियों के प्रति उनका न्याय अच्छा है; प्रमोद की वस्तुओं को ढूँढने के अतिरिक्त अन्य किसी बात में वे कठोर नहीं हैं, और हमें जो कष्ट होते हैं''''' ''उनका कारण हमारी ही अव्यवस्था है।' उसने कम्पनी को चेतावनी दी: 'युद्ध तथा व्यापार, ये दोनों चीजें साथ-साथ नहीं चल सकतीं। मेरी

राय है कि समुद्र को छोड़ कर आप अन्य किसी प्रकार से युद्ध न करें। सामुद्रिक युद्ध में आपको जितनी हानि हो सकती है उतना लाभ भी। पुर्तगाल वालों के पास अनेक निवास-स्थान तथा बहुत-सी भूमि है किन्तु उनको दरिद्रता का कारण यह है कि वे सैनिक रखते हैं जो उसे खर्च कर डालते हैं, फिर भी उनके दुर्ग रक्षक निम्न कोटि के हैं। जबसे उन्होंने भारतीय बस्तियों की प्रतिरक्षा आरम्भ की है तबसे कभी उनसे कोई लाभ नहीं हुआ है। इस बात को भली भाँति ध्यान में रखिये। डच लोगों की भी यह भूल रही है। वे यहाँ तलवार के बल पर उपनिवेश स्थापित करना चाहते हैं। उनके पास आश्चर्यजनक भंडार है उनकी सब स्थानों में पहुँच है और कुछ सबसे अच्छे स्थान उनके अधिकार में है, किन्तु दाई का कुछ लाभ होता है वह वेतनों में चला जाता है। इसे एक नियम बना लीजिये कि यदि आपको लाभ कमाना है तो समुद्र पर तथा शान्तिमय व्यापार में ही मिल सकता है; बिना किसी झगड़े के भारत में सेनाएँ ले जाना और युद्ध करना भूल होगी।'

जहाँगीर का चरित्र

जहाँगीर के पूर्वाधिकारियों अथवा उत्तराधिकारियों की तुलना में स्वयम् उसके चरित्र तथा सफलताओं का वर्णन करना कहीं अधिक कठिन है। जैसा कि स्मिथ ने लिखा है, वह वास्तव में 'कोमलता तथा क्रूरता न्याय तथा सनक शिष्टता अथवा बर्बरता, सद् बुद्धि तथा बालकों की सी मूर्खता का विचित्र मिश्रण था।' किन्तु यदि उसके जीवन का लेखा तैयार किया जाय तो उसमें अच्छी बातें अधिक पायेंगे और बुरी बहुत कम। विस्तार से इस विषय की विवेचना करना स्थाना भाव से यहाँ सम्भव नहीं हो सकता। किन्तु उसके सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा चुका है और जो कुछ आगे के पृष्ठों में लिखा जायगा उससे उसके सम्बन्ध में निर्णय करने के लिये पर्याप्त सामग्री मिल सकती है। जहाँगीर अपने प्रमाद, मद्यपान तथा विलासिता सनक तथा क्रूरता अन्ध विश्वास तथा मक्कारी के लिये बदनाम था; किन्तु उसका न्याय प्रेम धार्मिक सहिष्णुता आवश्यकता पड़ने पर शक्ति का प्रदर्शन, गुणों की परख ललित कलाओं के क्षेत्र में हो अथवा राजनीति में, उसकी ये सब विशेषताएँ सराहना तथा प्रशंसा के योग्य हैं। उसके यौवन के दोष कुछ भी रहे हों, और वे जीवन भर उसके साथ रहे, किन्तु सम्राट के रूप में अपने शासन-काल में उसने अपने पिता के सिद्धान्तों तथा साम्राज्य को बनाये रखने और विस्तृत करने का सच्चे हृदय से प्रयत्न किया; कोई भी शासक इससे अधिक नहीं कर सकता था, और यदि हम जहाँगीर को तनिक भी समझना चाहते हैं तो इसी दृष्टि से समझ सकते हैं। हमारे कथन की पुष्टि तत्कालीन तथा आधुनिक आलोचकों के कथन से होती है।

लेनपूल—"जब वह (जहाँगीर) १६०५ में ३६ वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा, उस समय तक उसका चरित्र बहुत कुछ कोमल हो चुका था—प्रमादपूर्ण अच्छे स्वभाव का उसमें कमी अभाव नहीं था। उसकी बर्बरता कम

हो गई थी और पहले से अधिक गम्भीर हो गया था; दिन में वह संयम की मूर्ति बन जाता और रात में अत्यधिक 'उन्मत्त'।*...... दिन में वह मद्यपान से इतना चिढ़ता कि उसके विरुद्ध एक अध्यादेश भी जारी कर दिया, और अपने कहीं अधिक घृणास्पद 'भाई' ब्रिटेन के जेम्स का अनुकरण करते हुए तम्बाखू के विरुद्ध फारसी में एक लेख लिखा।† इन सब दुर्व्यसनों के होते हुए भी उसका स्वभाव इतना अच्छा था कि साठ वर्ष की अवस्था तक उसको किसी प्रकार का विकार नहीं प्रतीत हुआ। यद्यपि जहाँगीर में इतने दुर्गुण थे फिर भी यह कहना अनुचित होगा कि वह मूर्ख था। उसकी बुद्धि सूक्ष्म थी और शासन का काम-काज चलाने तथा अकबर द्वारा प्रतिपादित सहिष्णुता के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने में उसने अच्छी सूझ-बूझ का परिचय दिया। यदि युद्ध आ खड़ा होता तो उसमें शक्ति का अभाव न रहता; सम्भवतः वह न्यायप्रिय था, यदि उसके मनोवेगों की अवहेलना न की जाती; और उसने एक उदासीन भाव से धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त का पालन किया, और वास्तव में यह प्रमादपूर्ण उदासीनता ही उसके चरित्र का मुख्य तत्त्व थी। उसका पिता समन्वयवादी दार्शनिक और माता एक राजपूत राजकुमारी थी, किन्तु वह इस्लाम को मानता था, अकबर ने सिक्कों पर जिन मुस्लिम सूत्रों को अङ्कित करवाना छोड़ दिया था उनको उसने पुनः प्रचलित किया और हिज्री सम्वत फिर से चालू किया, किन्तु शासन के महीनों तथा वर्षों को बनाये रखने के लिये उसने सौर जन्त्री से ही कार्य लिया। इतना होने पर भी उसने हिन्दुओं के प्रति अपने पिता की नीति का अनुसरण किया और ईसाइयों के प्रति समान रूप से सहिष्णुता बरती।"§

एलफिंस्टन—"जहाँगीर के प्रारम्भिक सुधार आशा से अधिक उदार तथा न्यायपूर्ण थे। उसने अपने पिता के अधिकतर पुराने अधिकारियों को उनके

* जहाँगीर लिखता है, 'मुझे स्वयं मद्यपान का व्यसन है, और अपनी आयु के अठारहवें वर्ष से आज तक जब कि मैं अड़तीस वर्ष का हो गया हूँ, शराब पीता आया हूँ। अपने प्रारम्भिक जीवन में जब कभी मेरी पीने की हुड़क (उत्कण्ठा) होती तो मैं बीस-बीस प्याले पी जाता। कालान्तर में मेरे ऊपर उसका गहरा प्रभाव पड़ा और मैंने मात्रा कम करना आरम्भ कर दिया। सात वर्ष के भीतर घटाते-घटाते मैं पाँच-छः प्यालों पर आ गया। मेरे पीने का समय निश्चित न था। कभी-कभी मैं दो-तीन घटा दिन रहे ही आरम्भ कर देता और कभी-कभी रात में पीता तथा थोड़ी-सी दिन में। अन्त में तीसवें वर्ष में आकर मैंने केवल रात में पीने का निश्चय किया, और आजकल मैं केवल भोजन पचाने के लिये पीता हूँ। वाकियात, ईलियट और डाउसन, ६, पृष्ठ २८५।

† चूँकि तम्बाकू पीने से मेरे लोगों के शरीर तथा मस्तिष्क पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा था, इसलिये मैंने आज्ञा जारी की कि कोई व्यक्ति इसका प्रयोग न करे। मेरा भाई शाह अब्बास भी इसके दुर्गुणों को जानता था इसलिये उसने भी ईरान में इसके प्रयोग के विरुद्ध एक अध्यादेश जारी कर दिया था' जहांगीर: 'वाकियात, ईलियट और डाउसन ६, पृष्ठ ३५१।

§ Mediaævl India, पृष्ठ २९८-९९।

पदों पर स्थायी कर दिया, और अध्यादेश जारी करके कुछ ऐसे कष्टप्रद कर हटा दिये जो अकबर के सुधारों के बाद भी चले आये थे; आज्ञा दी कि व्यापारियों की पेटियाँ उनकी स्वतन्त्र इच्छा के बिना अधिकारी गण न खोलें; राज्य के सैनिक अथवा सेवक नागरिकों के निजी घरों में न ठहरे। इसके अतिरिक्त उसने नाक-कान काटने का दण्ड हटा दिया और अन्य अनेक लाभप्रद उपनियम जारी किये। यद्यपि वह स्वयम् मद्यपान के दुर्व्यसन के लिये बहुत बदनाम था फिर भी उसने शराब के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाया और अफीम के व्यवहार पर भी नियन्त्रण कायम किया; इन नियमों का उल्लंघन करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था।''

जहाँगीर पर नूरजहाँ के प्रभाव के सम्बन्ध में एलफिन्स्टन लिखते हैं, ''यद्यपि उसके (नूरजहाँ) आधिपत्य के अन्त में बुरे परिणाम हुये, किन्तु समग्र दृष्टि से देखते हुये वह *हितकारी था*। उसका पिता बुद्धिमान तथा न्याय प्रिय मन्त्री था, और शासन के कुछ प्रारम्भिक वर्षों के उपरान्त जहाँगीर के आचरण में जो महान् सुधार हो गया उसका कारण कम से कम आंशिक रूप में उसी का (नूरजहाँ का) प्रभाव रहा होगा। इसके बाद भी वह सनकी तथा अत्याचारी बना रहा किन्तु उसने ऐसे बर्बर अत्याचार नहीं किये जैसे कि पहले किया करता था; और यद्यपि वह इतनी अधिक शराब पीता कि असंयम की निम्न सीढ़ी पर पहुँच जाता, किन्तु यह सब कुछ वह रात में करता और अपने निजी कमरों में। जो काम काज उसे दिन भर अपनी प्रजा के सामने करने पड़ते उनके दौरान में वह पर्याप्त प्रतिष्ठा के के साथ अपने चरित्र को साधे रहता और शिष्टाचार के नियमों का उल्लंघन न करता। नूरजहाँ की योग्यता उसके लालित्य तथा सौन्दर्य से कम न थी और उसका प्रदर्शन उसने स्त्री सुलभ विषयों में ही नहीं बल्कि राज-काज में भी किया। उसकी सुरुचि के कारण सम्राट के दरबार की शान-शौकत में वृद्धि हो गई और उसके सुप्रबन्ध से व्यय कम हो गया। उसने महलों के फर्नीचर में सुधार किये, स्त्रियों के लिये पहले से कहीं अधिक सुन्दर वस्त्रों का प्रचलन किया; और भारत में अभी यह प्रश्न विवादग्रस्त है कि गुलाब के इत्र का आविष्कार उसने किया था अथवा उसकी माता ने। वह बिना किसी तैयारी के छन्द बना लेती थी, और कहा जाता है कि उसके इस गुण ने ही जहाँगीर को मोहित कर लिया था।

विंसेंट स्मिथ 'टैरी ने ठीक ही कहा है, जहाँ तक उस राजा (जहाँगीर) के स्वभाव का सम्बन्ध है, मुझे ऐसा लगा कि इसमें सभी तत्व अतिशय मात्रा में विद्यमान थे। कभी कभी उसकी क्रूरता बर्बरता की सीमाओं पर पहुँच जाती और कभी-कभी वह अत्यधिक न्याय-प्रिय तथा कोमल हो जाता।' अपने एक छोटे नाती की मृत्यु पर उसने अत्यधिक तीव्र वेदना का अनुभव किया; और दया तथा दानशीलता के छोटे-छोटे कार्यों के करने में उसे आनन्द मिलता था। उसकी रचनाओं में प्राकृतिक दृश्यों के सूक्ष्म चित्रण भरे पड़े हैं वह ग्रीष्म ऋतु में काश्मीर जाया करता था और उस देश का बहुत सुन्दर वर्णन छोड़ गया है जिसमें बड़ी सावधानी

से उन भारतीय पक्षियों की सूची दी हुई है जो उस सुन्दर घाटी में नहीं पाये जाते। सुन्दर दृश्यों से उसे प्रेम था और जल प्रपातों को देख कर आनन्दोन्मत्त हो जाया करता था। उसका विचार था कि ढाक अथवा पलास के पुष्प 'इतने सुन्दर होते हैं कि उन पर से दृष्टि हटाना कठिन हो जाता है।' काश्मीर के जंगली फूलों को देख कर तो वह आनन्द विभोर हो जाता था।"

जहाँगीर के कला प्रेम * की इस प्रकार विवेचना करके स्मिथ ने सम्राट की

* जहाँगीर लिखता है, 'आज अब्दुल हसन नाम के एक चित्रकार ने जिसे नदीरुज्ज़मान की उपाधि प्राप्त थी, मेरे दरबार का एक चित्र खींचा और मेरे सामने प्रस्तुत किया। उसने उसे 'जहाँगीर-नामा' के प्रथम पृष्ठ पर चिपका दिया था। चूँकि चित्र बहुत ही प्रशंसा के योग्य था, इसलिये मैंने चित्रकार को अनुग्रहों से लाद दिया' '—। यदि प्रसिद्ध कलाकार अबुल हैल और विहाजीद जीवित होते तो वे उसकी सुरुचि के लिये उसकी भरपूर प्रशंसा करते। जब मैं राजकुमार था तो उसका पिता अका रज़ा सदैव मेरे साथ रहता और उसका पुत्र मेरे ही घर में उत्पन्न हुआ था। किन्तु पुत्र पिता से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। मैंने उसे अच्छी शिक्षा दी और बड़ी सावधानी से उसके मस्तिष्क को विकसित करने का प्रयत्न किया और इसीलिये वह अपने युग का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति बन गया। उसने जो चित्र बनाये वे बहुत ही सुन्दर थे। मसूर भी चित्रकला में दक्ष है और उसे नदीरुल् असली की उपाधि मिली हुई है। मेरे पिता के तथा मेरे समय में इन दो कलाकारों के जोड़ का कोई नहीं हुआ। मुझे चित्रों से बहुत प्रेम है और उनकी इतनी अच्छी परख है कि मैं जीवित अथवा मृत कलाकार की कृति देखकर उसका नाम बतला सकता हूँ। यदि अनेक कलाकार एक ही प्रकार के चित्र बनाते तो भी मैं उनके चित्रों को अलग-अलग बता देता।' 'वाकियात', ईलियट और डाउसन, ६, पृष्ठ ३५९ ६०। सम्पादक ने कैट्रू (Catrou) की हिस्ट्री ऑफ दी मुगल डाइनैस्टी से निम्न उद्धरण दिया है—'इस समय ऐसे देशी चित्रकार थे जो योरुप के सुन्दरतम चित्रों की ऐसी प्रतिलिपियाँ तैयार कर लेते जो कि मूल चित्रों से होड़ करतीं। योरुपीय ज्ञान विज्ञान में उसे रुचि थी और यही कारण था कि जैसुइटों से उसने सम्पर्क रक्खा।'

सर टामस रो भी इस कथन की पुष्टि करता है (रो) ने जहाँगीर को एक चित्र भेंट किया; उसने कहा कि मेरे चित्रकार इसकी ठीक ऐसी ही प्रतिलिपि तैयार कर सकते हैं: 'रात को उसने मुझे बुलाया और अपने कलाकार की सफलता प्रकट करने के लिये बड़ी शीघ्रता की, उसने मुझे छः चित्र दिखलाये जिनमें से पाँच उसके कलाकार के बनाये हुये थे, वे सब एक मेज पर चिपके हुये थे और एक दूसरे से इतने मिलते-जुलते थे कि दीपक के प्रकाश में मुझे यह पहचानने में कठिनाई हुई कि कौन कौनसा है; मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे इतनी आशा नहीं थी फिर भी मैंने अपना चित्र पहचान लिया और अन्तर भी बतला दिया, कला की दृष्टि से वह अन्तर स्पष्ट था, किन्तु साधारण आँखें उसे नहीं देख सकतीं थीं। पहली ही दृष्टि में जब मैं उसे न पहचान सका तो वह बहुत प्रसन्न हुआ और ज़ोर से हँस पड़ा।' लेनपूल: Contemporary sources, पृष्ठ ९८।

न्यायप्रियता के सम्बन्ध में उसके संस्मरणों से उद्धरण दिये हैं, और फिर लिखा है: "यह कहना सरल नहीं है कि उसका धर्म क्या था। प्रथम सर टॉमस रो ने नास्तिक कह कर उसकी निन्दा की, किन्तु वास्तव में वह ऐसा नहीं था। वह सच्चे हृदय से ईश्वर में विश्वास करता था, यद्यपि किसी धर्म विशेष के इल्हाम को स्वीकार नहीं करता और न किसी निश्चित सम्प्रदाय का ही अनुयायी था। ..."धर्म के नाम पर किसी पर अत्याचार करने की उसकी तनिक भी इच्छा नहीं थी। यह सत्य है कि उसने गुजरात के जैन लोगों के विरुद्ध, जिनकी उसके पिता ने इतनी प्रशंसा की थी, कठोर आज्ञायें जारी कीं, किन्तु इसका कारण कुछ और ही था और वह उन्हें राजद्रोही समझता था। जहाँ तक उसके निजी धर्म का सम्बन्ध था वह ईश्वर को तो मानता था किन्तु किसी प्रचलित धर्म में उसका विश्वास नहीं था सम्भवतः मुसलमान सूफियों अथवा इसी प्रकार के हिन्दू सन्तों * का उस पर

---

*जहाँगीर की धार्मिक नीति—कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़ कर जहाँगीर ने मूलतः अपने पिता अकबर की धार्मिक नीति को ही जारी रक्खा, यह नीति सहिष्णुता के उदार सिद्धान्तों पर आधारित थी। अपवादों का कारण था जीवन में धर्म तथा राजनीति का अटूट सम्बन्ध। सिक्खों के गुरु अर्जुन तथा अहमदाबाद के श्वेताम्बर जैन नेता मानसिंह (जिसने खुसरू के विद्रोह के समय घोषणा की थी कि जहाँगीर के साम्राज्य का दो वर्ष के भीतर अन्त हो जायगा) पर किये गये अत्याचार उसकी सामान्य नीति के द्योतक नहीं हैं। जहाँगीर ने सिक्ख सम्प्रदाय पर अत्याचार नहीं किये जैनों के विरुद्ध अध्यादेश बाद में वापस ले लिये गये थे।। इसी प्रकार ईसाइयों पर भी पुर्तगालियों की मूर्खता के कारण अत्याचार किये गये किन्तु जैसे ही शान्ति स्थापित होगई वैसे ही फिर उन पर सम्राट का अनुग्रह होने लगा। टेरी लिखता है, 'सभी धर्मों के साथ सहिष्णुता का व्यवहार होता है और उनके पुरोहितों का आदर किया जाता है। मुझको भी मुगल ने स्वयं फादर कह कर पुकारा और अनेक कृपापूर्ण शब्दों का प्रयोग किया तथा उच्चतम अमीरों में स्थान दिया। पीट्रो डेला वैले (१६२३-२४) लिखता है कि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों मेल-जोल से तथा शान्तिपूर्वक रहते हैं, क्योंकि महान मुगल अपने साम्राज्य में किसी के साथ भेद-भाव नहीं करता और दरबार तथा सेना दोनों में उनका बराबर स्थान तथा महत्व है।'

फिर भी यदि जहाँगीर को विश्वास हो जाता कि किसी धार्मिक गुरु के उपदेशों का साम्राज्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है तो वह हस्तक्षेप करने में न हिचकिचाता। दो उदाहरण मिलते हैं और दोनों मुसलमानों के। अफगान शेख इब्राहीम बाबा चुनार में बन्दी बना लिया गया था (१६०६) क्योंकि उसके काम 'अनीतिकर तथा मूर्खतापूर्ण' थे, और उसने लाहौर में अपने आस-पास अफगानों का एक विशाल दल एकत्र कर लिया था। इसी प्रकार १६१९ में शेख अहमद नाम का सरहिन्द का एक प्रसिद्ध मुसलमान मौलवी जिसने मेंहदी होने का दावा किया था ग्वालियर में कैद कर लिया गया तथा एक राजपूत की हिरासत में रख दिया गया था। शेख अहमद ने मक्तूबात' नाम

प्रभाव पड़ा था। जहाँगीर के रोचक व्यक्तित्व के सम्बन्ध में इतनी सामग्री उपलब्ध है कि उस पर बड़े विस्तार से लिखा जा सकता है।"

ईश्वरीप्रसाद—"मुगल इतिहास में जहाँगीर का व्यक्तित्व अत्यधिक रोचक है। सामान्य मत कि वह इन्द्रिय भोगों में लिप्त रहने वाला तथा हृदय-हीन अत्याचारी था, उसके साथ न्याय नहीं करता। इस बात से सभी लेखक

ने एक पुस्तक लिखी थी जिसमें अनेक व्यर्थ की बातें थीं और उनका उद्देश्य लोगों को 'कुफ्र तथा पाप' के मार्ग पर घसीटना था। दो वर्ष उपरान्त शेख ने पश्चाताप प्रकट किया और उसे मुक्त कर दिया गया; उसे स्वतन्त्र ही नहीं कर दिया गया बल्कि एक सम्मान सूचक पोशाक तथा कई बार बहुत सा धन भेंट किया गया।' (बेनीप्रसाद, पृष्ठ ४३३)।

जहाँगीर की श्रद्धा साधुओं तथा फकीरों में गहरी श्रद्धा थी। १६१८-१९ में उसने जदरूप के सम्बन्ध में लिखा: 'शनिश्चर के दिन दूसरी बार मेरी जदरूप से मिलने की इच्छा हुई। दोपहर की नमाज पढ़ने के उपरान्त मैं ओट कर गया और उनकी कुटिया के एकान्त में उनका सत्संग किया। मैंने धार्मिक कार्यों तथा ईश्वरी ज्ञान के सम्बन्ध में अनेक श्रेष्ठ शब्द सुने। वह बिना अतिशयोक्ति के सूफी मत के सिद्धान्तों की सुन्दर तथा स्पष्ट व्याख्या करते हैं, और उनके सत्संग में बहुत आनन्द आता है। जिस समय उनकी अवस्था २२ वर्ष की थी उन्होंने सांसारिक ममता त्याग दी और दृढ़ संकल्प के साथ सन्यास के मार्ग में चरण रखा और ३८ वर्ष तक उन्होंने दिगम्बर का जीवन बिताया। सर्वशक्तिमान ईश्वर ने उन्हें असाधारण दयाभाव, ऊँची सूझ बूझ, उच्च स्वभाव तथा सूक्ष्म बुद्धि दी है।—……बुधवार को मैं फिर उनके पास गया और बिदा माँगी। इसमें सन्देह नहीं कि बिदाई के समय मेरा मन जो सत्य का इच्छुक रहता है, बहुत भारी हो गया।' सर टामस रो ने जहाँगीर के एक फकीर से मिलने का दूसरा उदाहरण दिया है: 'यह दयनीय तथा अभागा व्यक्ति चिथड़े लपेटे हुये, सिर पर पत्ते लगाये तथा भभूत मले हुये था, किन्तु श्रीमान सम्राट ने उससे लगभग एक घण्टा बात की और इतनी आत्मीयता तथा दया दिखलायी……जितनी कि राजाओं में सरलता से नहीं पायी जाती। भिखारी वहाँ बैठा जहाँ उसका (जहाँगीर का) पुत्र भी बैठने का साहस नहीं कर सकता,… …उसने (जहाँगीर ने) उसे अपने हाथों में उठा लिया, वह इतना गन्दा था कि कोई स्वच्छ व्यक्ति उसे छूने का साहस नहीं कर सकता। उसका आलिंगन किया और तीन बार उसके हृदय पर हाथ रखा और उसे पिता कह कर पुकारा। फिर वह उसे छोड़ कर चला आया और हम सब लोग एक गैर-ईसाई राजा के ऐसे गुणों की सराहना करते रह गये। मुझे बड़े दुःख तथा ईर्ष्या के साथ कहना पड़ता है कि हमारे पास सच्चा ज्ञान है फिर भी हम इतने गन्दे विचार लेकर आते हैं, या तो ईसाई राजाओं में इतनी भक्ति होती अथवा इसका उत्साह अंजील के सच्चे प्रकाश से नियन्त्रित होता।'

हॉकिंस जहाँगीर के सम्बन्ध में लिखता है, 'अब यहाँ मैं थोड़ा सा उसके दरबारी शिष्टाचार तथा रूढ़ियों का वर्णन कर देना चाहता हूँ। सबसे पहले अरुणोदय के समय वह पश्चिम की ओर मुँह करके माला जपता है। जब वह आगरे में होता है तो एक

सहमत हैं कि वह समझदार और चतुर था तथा बिना किसी कठिनाई के राज्य की अधिक से अधिक पेचीदा समस्याओं को समझ सकता था।' "उसके चरित्र में अनेक निन्दनीय तत्व थे, किन्तु उसमें अनेक ऐसे गुण भी थे जिनसे वह भारतीय इतिहास के अत्यधिक आकर्षक व्यक्तियों में स्थान पाने योग्य है।"

बेनीप्रसाद—"जहाँगीर को एक कठोरहृदय तथा चंचलमति अत्याचारी और शराब में चूर रहने वाला व्यभिचारी कह कर टाल देना, जैसा कि अनेक आधुनिक इतिहासकारों ने किया है, अवैज्ञानिक तथा अन्यायपूर्ण होगा। उसकी कीर्ति

सुन्दर एकान्त कमरे में इराकी भेड़ की खाल के आसन से ढके हुये एक सुन्दर पत्थर की शिला पर बैठकर नमाज पढ़ता है। इस शिला के ऊपरी कोने पर एक पत्थर में खुदे हुये मरियम और ईसा के चित्र रक्खे रहते हैं। वह अपनी माला फेरता और गुरियों की सख्या के अनुसार तीन सौ बीस शब्दों का जप करता है और तब उसकी प्रार्थना समाप्त हो जाती है। इस कार्य से निवृत होकर वह झरोखे से लोगों को दर्शन देता है। प्रतिदिन प्रातःकाल उसके दर्शन के लिये एक भीड़ जमा हो जाती और उसका अभिवादन करती। इसके बाद वह दो घण्टे और सोता है और फिर भोजन करता तथा अपनी स्त्रियों के साथ समय बिताता है। दोपहर के समय वह फिर जनता को दर्शन देता और तीन बजे तक बैठा रहता और खेल तमाशे देखता रहता है जिनमें आदमी तथा अनेक प्रकार के पशु भाग लेते हैं।

'फिर तीन बजे सभी अमीर जो आगरा में उपस्थित तथा स्वस्थ होते दरबार में एकत्र होते हैं, राजा खुले दरबार में शाही सिंहासन पर बैठता है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी श्रेणी के अनुसार उसके सामने खड़ा रहता, उसके सबसे मुख्य अमीर लाल घेरे के भीतर तथा शेष बाहर खड़े होते हैं।' इस स्थान पर राजा सभी विषयों की सुनवाई करता है और लगभग दो घण्टे तक बैठा रहता है।

'फिर वह अपने निजी प्रार्थना-गृह में चला जाता है प्रार्थना समाप्त होने पर चार-पाँच प्रकार का भुना हुआ माँस उसके सामने लाया जाता है और उसमें से अपनी भूख बुझाने के लिये इच्छानुसार थोड़ा सा खा लेता है और एक बार फिर डट कर शराब पीता है। इसके बाद फिर वह एक निजी कमरे में जाता है जिसमें उसके द्वारा नाम निर्देशित व्यक्ति को छोड़ कर अन्य कोई आदमी प्रवेश नहीं कर सकता (यहाँ पर मैं दो वर्ष तक उसकी सेवा में उपस्थित रहा), यहाँ पर वह तीन प्याले फिर पीता है, वैद्यों ने उसके लिये यही मात्रा निश्चित कर रक्खी है। इसके बाद वह अफीम खाता है और फिर खूब नशे में होकर वह उठता और जाकर सो जाता है और अन्य सब लोग अपने घरों को चले जाते हैं। जब वह दो घण्टे सो चुकता है तो लोग उसे जगाते हैं और व्यालू (रात का भोजन) उसके सामने रखते हैं इस समय वह स्वयम् नहीं खा सकता और दूसरे लोग भोजन उसके मुँह में ठूँसते हैं और इस प्रकार एक बज जाता है, और फिर वह रात भर सोता रहता है।' — Relations, लेनपूल : Contemporary sources, पृष्ठ ८८-८९।

उसके पिता के सीमापारी यश तथा पुत्र के चकाचौंध करने वाले वैभव से आच्छादित हो गई है। ऐतिहासिक कूटकर्म (जालसाज़ी) तथा पर्यटकों के किस्सों में विश्वास करने के कारण उसकी स्मृति को बहुत आघात पहुँचा है। उसके जीवन की असम्बद्ध घटनाओं को लेकर उसके चरित्र का निरीक्षण तथा विवेचना की गई है। यदि हम उसके सम्पूर्ण जीवन का पुनर्विलोकन करें तो ज्ञात होगा कि वह एक समझदार तथा दयालु व्यक्ति था, उसके हृदय में अपने परिवार के प्रति गम्भीर स्नेह तथा सब के प्रति अविचल उदारता और उत्पीड़न से तीव्र घृणा तथा न्याय के लिये उत्कट अभिलाषा विद्यमान थी। राजकुमार तथा सम्राट के रूप में कुछ अवसरों पर उसने क्रोध के आवेश में—जो अकारण न था—एक दो व्यक्तियों पर बर्बरता पूर्ण अत्याचार किये। किन्तु शासक के रूप में उसने कोमलता, मिलनसारी तथा दानशीलता का परिचय दिया। ...

"जहाँगीर के शासन-काल में साम्राज्य में शान्ति तथा समृद्धि का राज्य रहा। उसके संरक्षण में उद्योग तथा व्यापार की उन्नति हुई; स्थापत्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सफलतायें प्राप्त हुईं, चित्रकला उच्च सीमा पर पहुँच गई, साहित्य अभूतपूर्व रूप में फला फूला : तुलसीदास ने रामायण की रचना की जो उत्तरी भारत के करोड़ों नर नारियों के लिये होमर, शेक्सपियर तथा मिल्टन के ग्रन्थों और बाइबिल के सदृश प्रेरणा देने वाली है। सम्पूर्ण देश में फारसी तथा देशी भाषाओं के अनेक कवियों ने उस युग को मध्यकालीन साहित्य का आगस्टन युग बना दिया। जहाँगीर के इतिहास का राजनैतिक पक्ष भी काफी रोचक है किन्तु उसका वास्तविक सौरभ सांस्कृतिक विकास में अन्तर्निहित है।"

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्

१६०६	राजकुमार खुसरू का विद्रोह, गुरु अर्जुन का वध। हरगोविन्द का उत्तराधिकारी होना। नूरजहाँ के पहले पति शेर अफगन की मृत्यु।
१६०८	दवीर में राणा अमरसिंह द्वारा एक मुगल सेना की पराजय। हॉकिंस का सूरत पहुँचना। सन्त तुकाराम का जन्म।
१६०९	मलिक अम्बर का दक्खिन पर प्रभुत्व। हॉकिंस का आगरा में पहुँचना (१६११ तक ठहरता है)।
१६११	जहाँगीर का नूरजहाँ से विवाह। बंगाल में उस्मान का विद्रोह।
१६१२	जहाँगीर अँग्रेजों को सूरत, अहमदाबाद और खम्भात में कोठियाँ बनाने की आज्ञा दे देता है। डेनिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना।
१६१४	राणा अमरसिंह खुर्रम के सामने समर्पण कर देता है। अम्बेर के राजा मानसिंह की मृत्यु। फरिश्ता अपना प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ लिखता है।

१६१५	जहाँगीर का एडवर्ड्स को मुगल साम्राज्य में व्यापार करने के लिये स्थायी फरमान देना। सर टामस रो का दूतमण्डल भारत पहुँचता है।
१६१६	राजकुमार खुर्रम द्वारा अहमदनगर की विजय।
१६१९	सर टॉमस रो का भारत छोड़ कर चला जाना।
१६२०	खुर्रम द्वारा कांगड़ा की विजय।
१६२२	कन्धार का हाथ से निकल जाना। खुर्रम का विद्रोह।
१६२३	तुलसीदास का देहोत्सर्ग।
१६२६	महाबतखाँ नूरजहाँ तथा जहाँगीर को बन्दी बना लेता है। मलिक अम्बर की मृत्यु।
१६२७	जहाँगीर की मृत्यु। शिवाजी का जन्म।

१५

साम्राज्य का स्वर्णयुग

शाहजहाँ के तीस वर्ष के शासन-काल में मुगल साम्राज्य विस्तार की नहीं, किन्तु समृद्धि की चरम सीमा पर अवश्य पहुँच गया। ये वर्ष शान्ति तथा प्राचुर्य का काल थे, केवल दो एक ऐसे आन्तरिक उपद्रव हुए जिनका रूप भीषण कहा जा सकता है। युद्ध, सफल रहे हों अथवा असफल, केवल आक्रामक थे और साम्राज्य की सीमाएँ बढ़ाने के लिये लड़े गये थे। जब तक शाहजहाँ की बीमारी के बाद उत्तराधिकार-युद्ध ने साम्राज्य को झकझोर नहीं दिया तब तक ऐसा लगता था कि उसका शासन-काल भारत के इतिहास में एक सर्वाधिक गौरवपूर्ण युग सिद्ध होगा। किन्तु शीघ्र ही ऐसी घटनाएँ घटी जिन्होंने सिद्ध कर दिया कि उस बाहरी तड़क-भड़क के भीतर विनाश के कीटाणु छिपे हुए थे और ऊपरी चमक-दमक बहुत कुछ कृत्रिम थी। उत्तर-पश्चिमी सीमा पर शाही शस्त्रों की विफलता, शाहजहाँ द्वारा मन्दिरों का विध्वंस तथा गृह-कलह जो भीतर ही भीतर धधक रही थी—ये सब साम्राज्य के भावी संकटों की द्योतक थी। शाहजहाँ के शासन-काल का आरम्भ अपराध से हुआ था, और उसका अन्त भी उसके बिना होने को नहीं था। यद्यपि शाहजहाँ का चरित्र अधिक गम्भीर था, फिर भी उसके शासन में विरोधी तत्वों का अभाव न था; एक ओर तो वह वैभव का युग था, और दूसरी ओर उसमें पतन के लक्षण प्रकट होने लग गये थे। वह गौरवपूर्ण भी था और साथ ही साथ भावी विनाश का द्योतक भी।

प्रारम्भिक जीवन तथा राज्यारोहण

शाहजहाँ १५

गया,. औरछले अध्याय में हम शाहजहाँ के प्रारम्भिक जीवन का बहुत ही स्पष्ट चित्रण हम पिर आये हैं, यहाँ उसे फिर दुहराने की आवश्यकता नहीं; फिर भी ब्यौरे की कुछ बन महत्वपूर्ण बातों की ओर संकेत कर देना लाभप्रद होगा। उसका जन्म ५ जनवरी ज १५९२ को लाहौर में हुआ था। उसकी माता मारवाड़ के राजपूत राजा उदयसिंह की पुत्री थी जिससे सलीम ने १५८६ में विवाह किया था; उसका अनेक नामों से उल्लेख किया गया है—जगत गोसाईं, जोधबाई और मानमती। उसका नाम

खुर्रम रक्खा गया, और अकबर की स्त्री रुक़ैया बेगम की देख-रेख में उसका पालन-पोषण हुआ; रुक़ैया के स्वयं कोई सन्तान न थी। यद्यपि राजकुमार के लिये साहित्यिक अध्यापकों का अभाव न था, किन्तु उसने प्रारम्भ से ही अधिक व्यावहारिक विषयों में निश्चित रुचि दिखलाई। उसकी बुद्धि कुशाग्र तथा स्मरण शक्ति तीव्र थी, फिर भी उसने फारसी तथा तुर्की की अपेक्षा धनुष बाण, तलवार तथा अश्वारोहण में अधिक ध्यान दिया। अपनी आयु के छठवें वर्ष में उसे चेचक से पीड़ित होना पड़ा; उसके अच्छा हो जाने पर अकबर को इतनी प्रसन्नता हुई कि उसके उपलक्ष में एक उत्सव मनाया गया, दान दिया गया और कुछ बन्दी मुक्त किये गये। १६०६ में जब जहाँगीर विद्रोही राजकुमार खुसरू का पीछा करने गया तो राजधानी का भार मामनाथ के लिये खुर्रम को सौंप गया; यह पहला अवसर था जब इस राजकुमार को सार्वजनिक कार्यों का भार संभालना पड़ा। १६०७ में उसे ८००० ज़ात तथा ५००० सवार का पद प्रदान किया गया और पताका तथा नगाड़े भेंट किये गये; उसी वर्ष आसफखाँ की पुत्री अर्जुमन्द बानू से जो आगे चलकर मुमताजमहल के नाम से प्रसिद्ध हुई, उसकी सगाई कर दी गई। इसके बाद ही उसे हिसार फीरोज़ा की सरकार का मुख्य पदाधिकारी नाम निर्देशित किया गया; जिसका वास्तविक अर्थ था उसे सिंहासन का उत्तराधिकारी घोषित करना। दो वर्ष उपरान्त उसकी दूसरी सगाई हुई इस बार मिर्ज़ा मुज़फ्फर हुसैन सफवी की पुत्री से; यह मिर्ज़ा ईरान के शाह इस्माइल के वंश का था। विचित्र बात यह थी कि यह विवाह १६१० में हुआ और अर्जुमन्द बानू से दो वर्ष उपरान्त १६१२ में। इसके अतिरिक्त खुर्रम ने तीसरा विवाह शाहनवाज़ खाँ (बैरमखाँ का नाती) की पुत्री से १६१७ में किया।

खुर्रम के सभी उल्लेखनीय बच्चे उसकी दूसरी तथा सबसे अधिक प्रसिद्ध स्त्री मुमताज़ बेगम से उत्पन्न हुए थे। उनकी संख्या चौदह थी; किन्तु उनमें से केवल सात जीवित रहे, (१) जहाँनारा का जन्म १६१४ में अजमेर में हुआ, (२) दाराशिकोह का उसी नगर में १६१५ में, (३) शाहशुजा का भी वहीं १६१६ में, (४) रोशनारा बेगम का १६१७ में बुरहानपुर में (५) औरङ्गज़ेब का दौहता-बाद में २४ अक्टूबर १६१८ को, (६) मुरादबख्श का १६२४ में रोहतास में, और (७) गौहरारा बेगम का बुरहानपुर में १६३१ में।

डाक्टर सक्सेना लिखते हैं, "जहाँगीर का शासन-काल मुख्यतया खुर्रम द्वारा प्राप्त ओजस्वी विजयों का इतिहास है।" "उसका आदर्श आचरण के कठोर नियम, कर्तव्य परायणता तथा दुर्दमनीय साहस गुणों के कारण उसे जीवन में सफलता मिलना निश्चित था। अपने प्रतिद्वन्द्वियों की तुलना में वह कहीं अधिक प्रतिभाशाली था और उनकी। से उसके पक्ष में और भी अधिक वृद्धि हुई। उसे कभी अवसर की प्रतीक्षा करनी पड़ी, वह स्वयं उसके पास आयगा।"

खुर्रम को पहली महान् विजय १६१४ में मेवाड़ के विरुद्ध प्राप्त हुई। इससे उसके साहस और समरनीति का परिचय मिला। जहाँ अन्य अनुभवी सेनानायक विफल हो चुके थे, वहाँ उसे असाधारण सफलता मिली। आश्चर्य की बात यह है कि फिर भी स्मिथ ने लिखा है कि 'सेनानायक के रूप में उसमें कौशल का अभाव था।' डा० सक्सैना का कथन सत्य के अधिक निकट है; उनका कहना है कि मेवाड की विजय से मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और खुर्रम की एक 'परिपक्व, कुशल तथा योग्य सेनानायक के रूप में निर्विवाद ख्याति स्थापित हो गई, और वह एक उदीयमान नक्षत्र समझा जाने लगा।'

खुर्रम को जीवन का दूसरा महान् अवसर उस समय मिला जब १६१६-१७ में उसके बड़े भाई परवेज़ तथा अन्य प्रसिद्ध सेनानायकों को हटा कर उसे दक्खिन में युद्ध-संचालन का भार सौंपा गया। उसे पहले ही २०,००० ज़ात तथा १०,००० सवार का पद मिल चुका था, अब उसे शाह की उपाधि प्रदान की गई जो किसी भी मुगल राजकुमार को कभी भी नहीं दी गई थी, और दक्खिन का पूरा भार उसी के सुपुर्द कर दिया गया। 'मेवाड के युद्ध में उसने अपने को कुशल सेनानायक सिद्ध किया था और अब दक्खिन में चतुर राजनीतिज्ञ।' उसे फिर ३०,००० ज़ात तथा २०,००० सवार का पद तथा शाहजहाँ की उपाधि से विभूषित किया गया; इतनी प्रतिष्ठा कभी किसी को नहीं मिली थी। इसके बाद इतने उपहार जमा हुये 'जितने कि कभी किसी समय अथवा किसी शासन काल में नहीं आये थे' (रु० २२,६०,००० के मूल्य के)। अन्त में १६१८ ई० में इन प्रशंसनीय सेवाओं के उपलक्ष में उसे गुजरात का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया।

कांगडा के विरुद्ध १६१५ से असफल युद्ध चल रहा था; इससे शाहजहाँ को तीसरा महान् अवसर मिला। यहाँ भी उसे १६१८ के अन्त में ओजस्वी विजय प्राप्त हुई।

दक्खिन में शाहजहाँ की पहली विजय उसके लिये एक भाग्य की बात थी, किन्तु उससे साम्राज्य को स्थायी शान्ति न मिली। एक ओर मुगल पदाधिकारियों का भ्रष्टाचार तथा पारस्परिक झगडे और दूसरी ओर मलिक अम्बर का साहस तथा चतुराई, इनके कारण शीघ्र ही दक्खिन में साम्राज्य का तख्ता लौट गया। शाहजहाँ १६१७ में दक्खिन से चला आया था, अब १६२१ में उसे दुबारा वहाँ भेजा गया, और इस बार फिर उसका साहस तथा चालें सफल हुईं। किन्तु जैसा कि हम पिछले अध्याय में लिख आये हैं, उसकी सफलता ही उसके पराभव का कारण बन गई। नूरजहाँ की ईर्ष्या ने उसे अविवेक का मार्ग अपनाने पर बाध्य किया। जब उसे कांधार के विरुद्ध युद्ध-संचालन के लिये बुलाया गया तो उसने विद्रोह करने में ही बुद्धिमानी समझी। जैसा कि डा० सक्सैना ने लिखा है, 'उसका विद्रोह दो शक्तिशाली महत्वाकांक्षाओं के बीच संघर्ष था। और वे दोनों एक दूसरे पर

विजय पाने का प्रयत्न कर रही थी। यह शाहजहाँ की एक महान् भूल थी, क्योंकि अपने दुस्साहस के कारण वह अपने शत्रुओं के हाथ की कठपुतली बन गया। यद्यपि उसने अपने अनुचित कार्यों को क्षमा याचना के आवरण से ढकना चाहा, किन्तु अपने दुराचरण के फलस्वरूप उसे उस अद्वितीय स्थिति से हाथ धोना पड़ा जो उसने साम्राज्य में प्राप्त कर ली थी। यद्यपि उसे घोर विपत्तियों का सामना करना पड़ा लेकिन अन्त में भाग्य ने फिर उसका साथ दिया और उसकी स्थिति संभल गई। २८ अक्टूबर १६२७ को राजौरी में जहाँगीर की मृत्यु शाहजहाँ के लिये एक वरदान सिद्ध हुई। उस समय वह सुदूर दक्षिण में था, किन्तु शीघ्र ही उसने सिंहासन पर अधिकार कर लिया।

शाही राजधानी में स्थिति में शीघ्र ही उलट फेर होगया। 'बादशाहनामा' के रचयिता अब्दुल हामिद लाहौरी लिखता है —

'नूरमहल के कारण ही इतनी कलह तथा संघर्ष हुआ था। अब भी उसने व्यर्थ इस बात का प्रयत्न किया कि शासन की बाग डोर उसके हाथों में बनी रहे जैसे कि स्वर्गीय सम्राट के शासन काल में रही थी। उसने नाशुदनी (शहरयार) को पत्र लिखा और सलाह दी कि जितनी भी सेना हो सके इकट्ठी कर लो और शीघ्र ही पास आ जाओ। दूसरी ओर नूरजहाँ का भाई आसफखाँ भी अपना ही उद्देश था। उस समय शाहजहाँ (उसका दामाद) आगरा से बहुत दूर था इसलिये उसने सोचा कि नगर में उपद्रवों को रोकने के लिये उपाय करना तथा मुहम्मद दाराशिकोह, शाहशुजा और औरङ्गजेब को—जो उस समय नूरमहल के महलों में थे—अधिकार में करना आवश्यक है। इसलिये उसने संकल्प किया कि कुछ दिनों के लिये खुसरू के पुत्र बुलाकी (दावर बख्श) को—जिसे नूरजहाँ ने अपनी तिकड़म से नाशुदनी के साथ रख लिया था—सिंहासन पर बिठला दिया जाय।'

मुतामदखाँ ने भी इन घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया है। 'नूरजहाँ ने अपने भाई आसफखाँ को बुलाने के लिये कई आदमी भेजे, किन्तु उसने बहाने बना दिये और गया नहीं। आसफखाँ ने बनारसी नामक एक हरकारे को जहाँगीर की मृत्यु का समाचार शाहजहाँ के पास पहुँचाने के लिये भेजा। चूँकि उस समय पत्र लिखने के लिये सामान न था इसलिए विश्वास दिलाने के लिए उसने अपनी एक अंगूठी भेज दी। दूसरे दिन शाही नौकर जाकर पहाड़ों से उतर कर भीमबार आये। वहीं पर अन्त्येष्टि क्रिया की गई और शव रक्षकों के साथ लाहौर भेजा गया और वहाँ पर नूरजहाँ द्वारा बनवाये एक बाग में दफना दिया गया।'

'जब राज्य के अमीरों तथा पदाधिकारियों को पता चला कि आसफखाँ ने शाहजहाँ के लिये सिंहासन सुरक्षित रखने के लिये ही दावरबख्श को सम्राट घोषित करने की चाल चली है और दावर केवल एक बलि बकरा है, तो वे आसफखाँ का समर्थन करने लगे और जो कुछ उसने कहा, पूरा किया। इसलिये भीमबार के निकट दावरबख्श के नाम का खुतबा पढ़ा गया'।

इसी बीच में शहरियार ने लाहौर में शाही उपाधि धारण करली थी। 'उसने शाही कोष तथा लाहौर में जो कुछ राज्य की सम्पत्ति थी उस पर अधिकार कर लिया। सैनिक तथा समर्थक एकत्र करने के लिये उसने प्रत्येक व्यक्ति को मुँह मागा दिया, और अपनी स्थिति सुदृढ करने की आशा से एक सप्ताह में नये तथा पुराने अमीरों में ७० लाख रुपये बाट दिये।' ऐसी दशा में संघर्ष अनिवार्य हो गया। लाहौर से तीन कोस की दूरी पर दोनों पक्षों के दलों में टक्कर हो गई, और शहरियार के किराये के टट्टू राज्य के पुराने तथा स्वामिभक्त नौकरों के सामने न टिक सके और तितर-बितर होकर भाग खड़े हुये। ...... शहरियार अपनी स्थिति तथा सकट को न समझ सका और पीछे लौट कर फिर किले में घुस गया और इस प्रकार उसने स्वयम् अपना पैर जाल में फँसा दिया। दूसरे दिन अमीर आ गये, ...शहरियार ने भाग कर स्वर्गीय सम्राट के रनिवास में शरण ली। एक खोजा उसे बाहर निकाल लाया और बाध कर उसे दावर बख्श के सम्मुख उपस्थित किया गया। उसने नियमपूर्वक झुक कर अभिवादन किया और फिर कारागार में डाल दिया गया, इसके दो तीन दिन बाद उसे अन्धा कर दिया गया। ...... राजकुमार दानियाल के पुत्र तहीमुरस तथा हुशग भी कारागार में डाल दिये गये। आसफखाँ ने शाहजहाँ को विजय की सूचना लिख भेजी। ....

'शाहजहाँ ने यमीनुद्दौला आसफखा को फर्मान भेजा कि यदि खुसरू के पुत्र दावर बख्श तथा निकम्मे भाई नाशुधानी और राजकुमार दानियाल के पुत्रों को इस ससार से हटा दिया जाय तो बहुत अच्छा होगा .... ।' ७ जुमद-उल्-अव्वल १०३७ हिज्री को सर्वसम्मति से शाहजहाँ को लाहौर में सम्राट घोषित कर दिया गया और उसके नाम से खुतबा पढ़ा गया। दावरबख्श को जिसे शाहजहाँ के समर्थकों ने उपद्रवों को रोकने के लिये सिंहासन पर बैठा दिया था, अब कारागार में डाल दिया गया। २६ जुमद-उल्-अव्वल को दावर, उसका भाई गर्शस, शहरियार और स्वर्गीय दानियाल के पुत्र तहीमुरस तथा हुशग—सबका वध कर दिया।'

१८ जुमदस्सनी १०३७ हिज्री को (४ फरवरी १६२८) को शाहजहाँ आगरा में सिंहासन पर बैठा और अबुल मुजफ्फर शिहाबुद्दीन मुहम्मद साहब किराने-सानी की उपाधि धारण की।

राज्याभिषेक के समय सम्राट ने अपने स्वभाव के अनुरूप अन्धाधुन्ध धन खर्च किया; आज तक भी उसका स्मरण 'वैभवशाली' शाहजहा के नाम से किया जाता है। शाही दरबारियों ने राज्याभिषेक का समाचार साम्राज्य के दूर-दूर कोनों में पहुँचा दिया। कवियों, विद्वानों, ज्योतिषियों तथा धार्मिक पुरुषों को समुचित पुरस्कार दिये गये। स्वयम् सम्राज्ञी मुमताजमहल को २,००,००० अशर्फिया तथा ६,००,००० रुपये भेंट स्वरूप मिले और १,००,००० अशर्फियाँ वार्षिक निश्चित कर दी गईं, जहाँनारा बेगम को १,००,००० अशर्फियाँ और ४,००,००० रुपये की भेंट तथा ६,००,००० रुपये वार्षिक का भत्ता मिला। शाही परिवार के राजकुमार तथा राजकुमारियों में ८,००,००० रुपये बाँटे गये। स्वामिभक्त पदाधिकारियों तथा अमीरों को भी इसी प्रकार पुरस्कृत किया

गया और जिन्होंने द्रोह किया था वे अपमनत कर दिये गये। महाबत खाँ को-उच्च करके ७,००० जात और ७००० सवार का पद दिया गया और खानखाना बना दिया गया। इन सबसे ऊपर आसफखाँ था जिसे ८००० जात और सवारों का पद मिला, 'चाचा' कह कर पुकारा गया, सम्राट के चरण चूमने का अधिकार मिला, सम्राट की नामांकित मुद्रा उसके सुपुर्द की गई और साम्राज्य का वकील बना दिया गया। —

विद्रोह तथा साधारण विजयें

शाहजहाँ के शासन के प्रारम्भ में दो बड़े विद्रोह हुये, एक हिन्दुओं का और दूसरा मुसलमानों का। पहले का नेता प्रसिद्ध वीरसिंह बुन्देला का पुत्र जुझारसिंह था और दूसरे का जहाँगीर के समय का पदाधिकारी खानजहाँ लोदी जिसका पहले उल्लेख हो चुका है। पहला विद्रोह शाहजहाँ के शासन के पहले वर्ष (१६२८) में आरम्भ हुआ और बीच में कुछ समय रुक कर १६३५ तक सम्राट को चिन्तौती देता रहा, अन्त में जुझारसिंह को भी वही दण्ड मिला जो विद्रोहियों को सामान्य तया भोगना पड़ता है। दूसरा विद्रोह शासन के दूसरे वर्ष (१६२६) में उठ खड़ा हुआ और कुछ समय उपरान्त १६३१ में दबा दिया गया। खानजहाँ परास्त हुआ और उसका सिर काट लिया गया। पुर्तगालियों ने भी पूर्वी प्रान्तों में कुछ उपद्रव खड़ा किया, किन्तु वे भी निर्दयतापूर्वक कुचल दिए गए। इन तथा अन्य विद्रोहों और विजयों का हम यथास्थान वर्णन करेंगे। सैनिक कार्यवाहियों का विस्तार से वर्णन करना आवश्यक नहीं है। राजकुमार औरंगजेब ने उन १०,००० सैनिकों का, जिन्हें विद्रोहियों को दबाने का काम सौंपा गया था, नाममात्र के लिये नेतृत्व किया। जुझारसिंह का एक प्रतिद्वन्द्वी राजा देव सिंह शाही सेना के साथ रहा।

'यद्यपि जुझारसिंह के राज्य के वन बहुत घने तथा दुरूह थे किन्तु शाही सेनाओं की प्रगति से वह भयभीत होगया और अपना परिवार पशु तथा धन धन्देरा से उठा कर धमुनी के किले में, जिसे उसके पिता ने बनवाया था, ले गया।" जुझार का पुत्र दुर्गा भान और विक्रमाजीत का पुत्र दुर्जन साल सम्राट की आज्ञानुसार बन्दी बना लिये गये, बाद में उन दोनों को इस्लामकुली तथा अलीकुली के नाम से मुसलमान बना कर फीरोज खाँ नाजिर के सुपुर्द कर दिया गया। रानी पार्वती बुरी तरह घायल हो गई थी, इसलिये छोड़ दी गई; अन्य स्त्रियाँ शाही महल में बेगमों की सेवा करने के लिये भेज दी गई। उदयभान, जुझार का पुत्र तथा उसका छोटा भाई श्यामदेव जो गोलकुण्डा भाग गये थे, कुतुबुलमुल्क द्वारा बन्दी बना कर सम्राट के पास भेज दिये गये। ७ सफ़र को वे आ पहुँचे। छोटे बालक को मुसलमान बनाने की आज्ञा दी गई और विक्रमाजीत के पुत्र के साथ फीरोजजाह नाजिर के सुपुर्द कर दिया गया। उदयभान तथा श्यामदेव पूरी आयु के थे, इसलिये उनसे इस्लाम और मृत्यु में से एक चीज को चुनने के लिये कहा गया। उन्होंने मृत्यु को पसन्द किया और दोज़ख भेज दिये गये। इसके बाद शाही सेना नर्मदा के किनारे डेरा डाला।" जिस समय वे वहाँ विश्राम कर रहे थे, उसी समय समाचार

मिला कि जुझार और विक्रमाजीत......युद्ध से भाग कर जंगलों में छिपने के लिये चले गये थे, उस देश में रहने वाले गोंडों द्वारा निर्दयता पूर्वक मार डाले गये हैं । खानखाना उनके शवों को ढूंढने के लिये घोडे पर चढ़ कर निकला और जब वे मिल गये तो उनके सिर काट कर दरबार में भेज दिये ।......जब वे सम्राट के सामने उपस्थित किये गये तो उसने आज्ञा दी कि उन्हें सिहूर के फाटक पर लटका दिया जाय ।'

किन्तु दुर्दमनीय बुन्देले कुचले न जा सके। महोवा के चम्पतराय ने आगे चल कर उनका नेतृत्व किया । १६३६ में उसने मुगलों के राज्य में इतनी लूट मार मचा दी कि दक्षिणी-सड़क सुरक्षित न रही । शाहजहाँ ने विद्रोहियों को पकडने के लिए अब्दुल्ला खाँ को भेजा किन्तु चम्पतराय ने रॉबिनहुड की भाँति आचरण किया । उसे अपनी जनता का पूर्ण समर्थन प्राप्त था । १६४२ ई० में वीरसिंह देव के एक पुत्र पहाडसिंह के द्वारा उसे कुछ समय के लिये शाही नियन्त्रण में बाँध लिया गया, किन्तु आगे चल कर औरङ्गजेब के समय में उसके उससे भी अधिक प्रसिद्ध पुत्र राजा छत्रसाल ने शाही सत्ता को पुनः चुनौती दी ।

दूसरा ठीक इसी प्रकार का विद्रोह १६३६ ई० मऊनूरपुर में हुआ । वहाँ का जमींदार जगतसिंह साम्राज्य का स्वामिभक्त सेवक था, किन्तु उसका पुत्र राजरूप उद्दण्ड सिद्ध हुआ । गुप्त रूप से जगतसिंह ने अपने विद्रोही पुत्र के साथ सहानुभूति दिखलाई जिसके फलस्वरूप उसे शाही अधिकारियों से युद्ध में फँसना पड़ा, किन्तु अन्त में समझौता हो गया और विद्रोह शान्त हो गया । लगभग तीन वर्ष की शत्रुता के उपरान्त मार्च १६४२ में जगतसिंह ने समर्पण कर दिया है और सम्राट के स्वामिभक्त नौकर के रूप में अपना जीवन बिताया ।

खानजहाँ का विद्रोह—खानजहाँ लोदी अकबर के एक पदाधिकारी दौलतखाँ लोदी का पुत्र था । उसे ५,००० का पद मिला हुआ था और जहाँगीर के समय में पहले गुजरात फिर दक्खिन का सूबेदार रह चुका था, किन्तु मुगलों के प्रभुत्व में रहने वाले अनेक अफगानों की भाँति वह भी स्वतन्त्र होने के स्वप्न देखा करता था । दुर्भाग्य से उससे गबन का भी अपराध हो गया था । मुगल सम्राट का वह हृदय से कभी भक्त नहीं रहा था, और बालाघाट को उसने तीस हजार रुपये की तुच्छ रकम के लिये निजामशाह को समर्पित कर दिया था । जहाँगीर की सहसा मृत्यु के बाद जब उत्तराधिकार का प्रश्न कुछ समय के लिये अनिश्चित सा दिखाई दिया, तो उसने समझा कि मेरे लिये दक्खिन में अपनी शक्ति की स्थापना करने के लिये अच्छा अवसर आ गया है । सिंहासन पर बैठने के उपरान्त शाहजहाँ ने उसे बुलाया और कुछ समय के लिये दोनों में मेल हो गया, किन्तु असन्तुष्ट अमीर का हृदय बदलना असम्भव था । उसे महावतखाँ से ईर्ष्या थी, क्योंकि उसे खानखाना बना दिया गया था, और वह (खानजहाँ) समझता कि ऐसा करके सम्राट ने मेरे साथ अन्याय किया है । उसका दरबार में अच्छा स्वागत नहीं हुआ था, इसलिये वह और भी अधिक निराश था । शीघ्र ही उसे

अपने जीवन रक्षा के सम्बन्ध में भी सन्देह होने लगा और वह डरने लगा कि कहीं मैंने जो गबन किया है उसका हिसाब मुझसे न माँगा जाय। ऐसी परिस्थितियों में उसने भागने में ही अपनी सुरक्षा समझी और २ अक्टूबर १६२९ की रात को वह भाग निकला।

'जैसे ही सम्राट को इसकी सूचना मिली उसने ख्वाजा अबुल हसन को भगोड़े का पीछा करने के लिये भेजा। पीछा करने वालों की संख्या कम थी और अफगानों की बहुत अधिक। फिर भी वे आगे बढ़ते ही गये और अन्त में धौलपुर के निकट उन्हें घेर लिया।' किन्तु विद्रोही ने वीरतापूर्वक युद्ध किया और फिर निकल भागा। अब विद्रोही ने जुझारसिंह बुन्देला के राज्य में प्रवेश किया उस समय वह राजा दक्खिन गया हुआ था किन्तु उसका सबसे बड़ा पुत्र विक्रमादित्य घर पर ही था। उसने गुप्त मार्गों से विद्रोही को अपने राज्य के बाहर पहुँचवा दिया। यदि विक्रमादित्य ने उसे इस प्रकार बाहर निकलने में सहायता न दी होती तो वह बन्दी बना लिया गया होता अथवा मारा गया होता। वह गोंडवाना पहुँचा और वहाँ निराशा तथा दरिद्रता में कुछ दिन बिताये और फिर बरार के मार्ग से बुरहान निजामुलमुल्क के देश को चला गया।

इसके बाद उसके भागने तथा पीछा किये जाने की कहानी जारी रखना व्यर्थ है; केवल एक घटना स्मरणीय है—शिवाजी के पिता शाहजी भोंसले का कार्य।

'इस समय निजामशाह की सेना के हिन्दू सेनापति जादूराव का दामाद शाहजी भोंसला आया और आजमखाँ (मुगल सेनापति) से मिल गया। जादूराव की हत्या के बाद शाहजी ने निजामशाह से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और पूना तथा चाकन के जिलों में जाकर रहने लगा; आजमखाँ को उसने एक पत्र लिखा कि सुरक्षा का वचन मिलने पर मैं समर्पण करने के लिये तैयार हूँ। आजमखाँ ने दरबार को लिखा यहीं की ओर आज्ञा पहुँची कि प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाय। तब शाहजी २,००० घुड़सवारों के साथ आकर उससे मिल गया। उसे एक खिलत, ५,०० का मंसब और २ लाख रुपये तथा अन्य उपहार मिले। उसके भाई मीनाजी को एक पोशाक तथा ३००० जात और १,५०० सवार का पद मिला। शाहजी के पुत्र सम्भाजी को भी एक पोशाक तथा २,००० जात तथा १,०० सवार का पद दिया गया। उनके अनेक सम्बन्धियों तथा आश्रितों को भी बहुत से उपहार तथा सम्मान प्राप्त हुये।'

अन्त में, 'खानजहाँ को अपने पुत्रों तथा साथियों की हानि से बहुत दुःख हुआ। (वे या तो मारे गये थे अथवा शाही सेना द्वारा बन्दी बना लिये गये थे)। भाग निकलने की कोई आशा न रह गई थी इसलिये उसने अपने साथियों से कहा कि मैं जीवन से ऊब गया हूँ, अब मेरे जीवन का अन्त आ पहुँचा है और अब मेरे लिये मुक्ति का कोई मार्ग शेष नहीं है इसलिये मेरी इच्छा है कि आप में से प्रत्येक व्यक्ति जैसे हो भाग निकले। उनमें से कुछ ने अन्त तक उसके साथ डटे रहने का सङ्कल्प किया, किन्तु बहुत से भाग गये।' —युद्ध के दौरान में माधोसिंह ने उसे भाले से घायल कर दिया और इससे पहले कि मुजफ्फरखाँ सहायता के लिये आ

सका, वीर सैनिकों ने खानजहाँ तथा उसके पुत्र अजीज को काट कर टुकडे-टुकडे कर डाला। उसके लगभग सौ साथी खेत रहे और उनके सिर काट लिये गये।'''' '''खान-जहाँ तथा उसके पुत्र के सिर शाही दरबार में पहुँचा दिये गये।'' ' (उसके अन्य पुत्रों को बन्दी बना लिया गया था)। विद्रोहियों के सिर किले के फाटक पर लटका दिये गये। विजय के उपरान्त अब्दुल्लाखाँ तथा सैयद मुजफ्फरखाँ दरबार में उपस्थित हुये और उन्हें अनुग्रह के अनेक चिन्हों से विभूषित किया गया। अब्दुल्लाखाँ को ६,००० जात तथा ६,००० सवार का पद तथा फीरोज जंग की उपाधि मिली। सैयद मुजफ्फरखाँ को भी ५,००० जात तथा ५,००० सवारों का मंसब दिया गया। उसे खानजहाँ की उपाधि भी मिली।'

पुर्तगालियों की सामुद्रिक लूटमार का दमन—पुर्तगाली लोग बंगाल के पूर्वी भागों में बहुत पहले से बसे हुए थे, और जब तक उन्होंने आपत्ति-जनक कार्य नहीं किये, मुगल सम्राटों ने उनके जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। सरकार से उन्हें नमक का एकाधिकार मिला हुआ था और वे प्रति वर्ष शाही कोष मे १०,००० टंका जमा करते थे। किन्तु अपने कुकर्मों के कारण उन्होंने शीघ्र ही अपने लिये सङ्कट मोल ले लिया। उन्हे केवल व्यापार से ही सन्तोष नहीं हुआ; उन्होंने बंगाल की जनता को ईसाई बनाने के कार्य में भी बहुत उत्साह दिखलाया जिससे लोग उनके शत्रु हो गये। सामुद्रिक लूटमार करके उन्होंने स्थिति और भी अधिक बिगाड़ ली। बहुधा वे नदी के मुहाने से चालीस-चालीस, पचास-पचास कोस ऊपर तक धावा मारते, 'और हाट के दिनों अथवा जब लोग विवाह अथवा अन्य कोई उत्सव मनाने के लिये जमा होते तो वे गाँवों की सम्पूर्ण जनता को उठा ले जाते।' बर्नियर लिखता है कि बूढ़े लोगों को वे उन्ही के निवास स्थानों पर बेचने लग जाते और जवान लोग धन देकर अपने माता-पिता को छुडाते; यह दृश्य बहुत ही दयनीय होता था।'

इन कार्यवाहियों से उत्तेजित होकर शाहजहाँ ने इन विदेशियों के विरुद्ध एक निर्मम संघर्ष छेड़ दिया (१६३२)। पुर्तगालियों पर इस आक्रमण के अनेक कारण बतलाये गये हैं; किन्तु वह न तो व्यापक था और न अधिक समय तक चला ही, इससे स्पष्ट है कि स्थानीय उत्तेजना ही इसका एक मात्र कारण थी। सर एडवर्ड मैक्लेगन का यह कथन सर्वथा सत्य है —

"हुगली के उपद्रव का मूल कारण धार्मिक झगडा नहीं था। स्थानीय सूबेदार ने धर्म-प्रचार में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली थी, बल्कि वह कैथोलिक पादरियों का सम्मान करता था '''''' सूबेदार ने मुल्लों तथा पीरों के आक्रमण से उनकी रक्षा की थी। मुगलों ने हुगली में पुर्तगालियों के विरुद्ध जो युद्ध आरम्भ किया उसका कारण राजनैतिक था; पुर्तगालियों ने चटगाँव के फिरंगियों को जो डाकू थे और जो मुगलों के विरुद्ध अराकान के राजा की सेवा करने के लिये तैयार रहते थे, प्रोत्साहन दिया था। यह ठीक है कि शाहजहाँ ने इस झगडे को धार्मिक रूप दे दिया था, किन्तु सम्भवतः यह

एक राजनैतिक चाल भी। ......फर्रंगियों ने मुगल सम्राट के अनेक प्रजाजनों को दास बना लिया था और फिर उन दासों को ईसाई कर लिया था। बर्नियर कहता है कि, उन्होंने शेखी मारी थी कि हमने बारह महीने में इतने ईसाई बना लिये हैं जितने कि मिशनरी लोग दस वर्ष में भी नहीं बना पाते। 'मुगलों तथा पुर्तगालियों के बीच सम्बन्ध का धार्मिक रूप गौण था और धर्म को छोड़ कर भी ऐसे कारण थे जिनसे हुगली के पुर्तगालियों को दण्ड देना उचित ठहराया जा सकता था।

युद्ध के ब्यौरे का वर्णन करना अनावश्यक है। पुर्तगालियों ने वीरतापूर्वक तथा जान हथेली पर रख कर अपनी रक्षा की, किन्तु साम्राज्य की संगठित शक्ति के सामने उनका टिक सकना असम्भव था। लाहौरी के 'बादशाहनामा' में लिखा है:—

'शाही सेना साढ़े तीन महीने तक इस स्थान (हुगली) का घेरा डाले रही। काफिरों ने कभी युद्ध किया और कभी सन्धि की बातचीत चलाई अपने देशवासियों से सहायता पाने की आशा में वे समय टालते रहे। नीचतापूर्ण विश्वासघात के साथ उन्होंने सन्धि प्रस्तावों का बहाना किया और लगभग एक लाख रुपया कर के रूप में भेज दिये किन्तु उसी समय उन्होंने ७०० बन्दूकचियों को जो उनके यहाँ नौकर थे, गोली चलाने की आज्ञा दे दी। किन्तु अन्त में उन सब की पराजय हुई। पानी और आग से जो भी बच पाया उसे बन्दी बना लिया गया। घेरे के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक स्त्रियाँ तथा पुरुष, बूढ़े तथा जवान सब मिलाकर १०,००० शत्रु मारे गये, कुछ बारूद से उड़ा दिये गये, कुछ पानी में डूब गये और बहुत से आग में जल गये। शाही सेना के लगभग १००० योद्धा वीर गति को प्राप्त हुये। ४४०० ईसाई स्त्रियाँ तथा पुरुष बन्दी बनाये गये और निकटवर्ती प्रदेश के लगभग १०,००० व्यक्ति, जिन्हें इन अत्याचारियों ने कैद कर रक्खा था मुक्त कर दिये गये।

हो सकता है कि ये संख्यायें पूर्णतया ठीक न हों। इतिहासकार आगे लिखता है, ११ मुहर्रम (१०४२ हिज्री) को कासिमखाँ और बहादुर कम्बू ने ४०० ईसाई बन्दियों को जिनमें पुरुष, स्त्रियाँ जवान तथा बूढ़े सम्मिलित थे ......लाकर धर्म रक्षक सम्राट के सम्मुख उपस्थित किया। उसने आज्ञा दी कि मुस्लिम धर्म के सिद्धान्त इन्हें समझाये जायें और इनसे इस धर्म को अंगीकार करने के लिये कहा जाय।...... ...जो इन्कार करें उन्हें कारागार में डाल दिया जाय। और ऐसा हुआ कि उनमें से बहुत से कारागार से दोज़ख को चले गये। उनकी वे मूर्तियाँ, जो पैगम्बरों से मिलती जुलती थीं यमुना में फेंक दी गईं और शेष को तोड़ कर टुकड़े टुकड़े कर दिया गया।'

साधारण विजयें—शाहजहाँ के शासन काल की मुख्य राजनैतिक घटनाओं का वर्णन करने से पहले उसकी कुछ साधारण विजयों का उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा। इनमें से अधिकतर का सम्बन्ध छोटे विद्रोही राजाओं तथा जमींदारों के दमन से था जैसे मालवा में भागीरथ भील (१६३२) और गढ़ी गोंड (१६४४) छोटा नागपुर में पालामऊ का राजा प्रताप (१६४२), और सीमान्त प्रदेशों की

रहनेवाद जातियाँ । किन्तु सबसे महत्वपूर्ण मामले छोटी तिब्बत और आसाम के थे । १६३४ ई० में छोटी तिब्बत के राजा ने मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार करली थी और शाहजहाँ के नाम से खुतबा पढ़वाया था । किन्तु वह अधिक दिनों तक मुगल सम्राट के प्रति अपनी इस भक्ति भावना को न बनाये रख सका । इसलिये १६३७-३८ में जफर खाँ के नेतृत्व में २००० घुड सवारों तथा १०,००० पैदलों की एक सेना छोटी तिब्बत पर आक्रमण करने के लिये भेजी गई । साम्राज्य की प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना हुई । शाहजहाँ के नाम से खुतबा पढ़ा गया और तिब्बत के शासक अब्दाल ने १० लाख रुपया युद्ध-क्षति पूर्ति के रूप में शाही कोष में जमा किया ।

बंगाल की विजय से मुगल साम्राज्य की सीमायें भारत के उत्तर-पूर्व में स्थित मंगोल राज्यों से मिलने लगी थी । अकबर ने कूच-विहार तथा कामरूप के राजाओं के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध कायम रक्खे थे, किन्तु जहाँगीर के शासन-काल में इस दिशा में मुगलों की नीति ने "अदृश्य रूप से एक आक्रमणकारी रूप धारण कर लिया" । इसके दो कारण थे—स्वयम् उन राज्यों की आन्तरिक दुर्बलता और मुगल पदाधिकारी इस्लाम खाँ की महत्वाकांक्षा । कुछ ही समय में कूच-विहार तथा कामरूप मुगल साम्राज्य में मिला लिये गये । इसके बाद आसाम को मुगल साम्राज्यवाद का शिकार होना पड़ा, किन्तु यह काम शाहजहाँ के शासन काल में सफलतापूर्वक पूरा किया गया । १६२८ से १६३९ तक साम्राज्य तथा आसाम के बीच खुला युद्ध चलता रहा जिसके परिणाम स्वरूप सीमायें निश्चित कर दीं गईं और शान्तिपूर्ण व्यापारिक सम्बन्ध कायम होगये, शाहजहाँ के शेष शासन काल (१६३९-५७) में मुगलों की कूटनीति का चक्र चलता रहा किन्तु गृह-युद्ध के कारण सभी योजनायें स्थगित करनी पड़ी ।

बदख्शाँ तथा कांधार

अपने पूर्वजों के राज्य समरकन्द तथा बुखारा को जीतने और उन पर शासन करने की बाबर की बलवती महत्वाकांक्षा रही थी, किन्तु वह उसे पूरा न कर पाया था; ऐसा प्रतीत होता है कि पित्रगति के सिद्धान्त के अनुसार वह महत्वकांक्षा शाहजहाँ के शासन काल तक सक्रिय रही । साम्राज्य का भाग्य नक्षत्र स्पष्टरूप से ऊंचा उठ रहा था; शाहजहाँ सिंहासन पर बैठने से पहले ही एक विजेता के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुका था, अब उसकी लोभपूर्ण दृष्टि हिन्दूकुश के उस ओर स्थित ट्रान्स ऑक्सियाना, बलख और बदख्शाँ पर पड़ी । उसने इन दूरस्थ प्रदेशों की तथा कांधार की जो १६२२ में हाथ से निकल गया था, पुनर्विजय के कार्य में साम्राज्य की विजयी सेनायें जुटा दी, किन्तु दुर्भाग्य से दोनों ही युद्धों का परिणाम विनाशकारी हुआ ।

बुखारा के शासक नज़र मुहम्मद खाँ तथा उसके पुत्र अब्दुल अज़ीज़ में झगड़ा

हो गया, इससे शाहजहाँ को हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। जून १६४६ में उसने राजकुमार मुराद तथा अलीमर्दानखाँ के नेतृत्व में ५०,००० घुड़सवारों तथा १ लाख पैदलों की विशाल सेना बलख में भेज दी। जुलाई के महीने में उन्होंने नगर में प्रवेश किया और १२ लाख रुपये का कोष १२ हजार घोड़े तथा १०० ऊँट उनके हाथ लगे। नज़र मुहम्मद ने भाग कर ईरान में शरण ली। राजकुमार मुराद की इन उपद्रव ग्रस्त क्षेत्रों में अधिक समय तक रहने की इच्छा नहीं थी और वह भारत लौटने की तीव्र उत्कंठा प्रकट करने लगा। इन परिस्थितियों में सम्राट के लिये यह आवश्यक होगया कि बलख की अव्यवस्था को शान्त करने के लिये किसी योग्य तथा विश्वसनीय व्यक्ति को भेजा जाय। उसने अपने प्रधान मंत्री सादुल्लाखाँ को इसके लिये चुना। सादुल्लाखाँ ने बलख की समस्याओं को तय किया, सैनिकों तथा जनता में व्यवस्था और शान्ति स्थापित की और देश को दुर्दशा से मुक्त किया और और फिर २ शवन १६४७ को भारत लौट आया। उसने सम्राट की आज्ञाओं को बहुत ही भली-भाँति पालन किया था इसलिये उसे एक खिलअत प्रदान की गई और उसके मंसब में १०० की वृद्धि कर दी गई। २२ जिल हिज्ज १०५६ को सम्राट ने बलख तथा बदख्शाँ के देश औरंगजेब को सौंप दिये और उसका मंसब बढ़ा कर १५,००० जात तथा १०,००० सवार कर दिया।

'औरङ्गजेब ने महान पराक्रम का परिचय दिया जिससे बदख्शाँ वाले बहुत प्रभावित हुये, किन्तु वह भी अधिक दिनों तक देश पर अधिकार न रख सका।'* उस प्रदेश में मुगल सत्ता स्थापित रखना था ही असम्भव इसलिये पीछे लौटना अनिवार्य हो गया।

औरङ्गजेब ने अपने आदमियों से कहा, 'देश कमज़ोर हो गया है। जाड़ा आ पहुँचा है। अन्न का अभाव है और समय बहुत कम रह गया है, इसलिये शीतकाल के लिये प्रबन्ध करना तथा ऐसी कठोर ऋतु में इस राज्य में ठहरना कठिन हो जायगा।" राजकुमार ने देश नज़र मुहम्मदखाँ के सुपुर्द कर दिया तथा बलख का नगर और किला मुहम्मद कासिम और कच्छ काश्मक को सौंप कर अपनी सेनाओं को लेकर दररगज़ से चल दिया।

बलख और बदख्शाँ के आक्रमण के प्रारम्भ से (१६४५) अन्त तक जब कि ये राज्य

* औरङ्गजेब की निर्भीकता तथा दृढ़ संकल्प को देख कर शत्रु के हृदय में आतंक छा गया; — 'एक दिन जब कि युद्ध अत्यधिक घमासान हो रहा था, नमाज़ का समय आ गया; औरङ्गजेब ने युद्ध क्षेत्र में ही अपना कालीन बिछाया घुटनों के बल झुका और शान्तिपूर्वक नमाज़ पढ़ी, उसके चारों ओर जो मार काट तथा कोलाहल हो रहा था उसकी उसने चिन्ता नहीं की। उस समय भी सदैव की भाँति वह बिना कवच तथा ढाल के था। इस दृश्य को देख कर बुखारा की सेना आश्चर्य चकित रह गई, और अब्दुल अज़ीज़ ने उदारतापूर्वक सराहना करते हुये युद्ध बन्द कर दिया और चिल्लाया। ऐसे व्यक्ति से लड़ने का अर्थ है स्वयम् अपना विनाश करना।' डा० सक्सेना पृष्ठ १०७।

फिर नजर मुहम्मदखाँ को लौटा दिये गये, (अक्टूबर १६४७) शाही कोष का.........
२ करोड रुपया व्यय हुआ जो इराक में प्रचलित ७ लाख तुमनों के बराबर होता है।'

१६४७ में मुगल सेना की बलख से काबुल तक की यात्रा उतनी ही विनाशकारी सिद्ध हुई जितना कि १८४२ में अँग्रेज सेना का काबुल से वापिस लौटना। इनायत खाँ लिखता है, 'जिस समय सेना ने उस देश में प्रवेश किया तब से लेकर अन्त तक ५००० आदमी और लगभग इतने ही घोड़े, हाथी और ऊँट नष्ट होगये और बहुत सी सम्पत्ति बर्फ में दबी रह गई।'

अपने सामरिक तथा व्यापारिक महत्व के कारण कान्धार सदैव से ईरान के शाह तथा हिन्दुस्तान के सम्राट के बीच संघर्ष का कारण बना हुआ था। सबसे पहले उसे बाबर ने १५२२ में जीता था, बीच में कुछ समय के लिये वह मुगलों के हाथ से निकल गया और १५४५ में हुमायूँ ने उसे फिर जीत लिया। अकबर के शासन के प्रारम्भिक काल में एक बार मुगलों को फिर कान्धार से हाथ धोने पड़े, किन्तु आगे चल कर १५६५ ई० में उस पर फिर अधिकार होगया। जहाँगीर ने फिर १६२२ में उसे खो दिया परन्तु शाहजहाँ ने १६३८ में उसे पुन जीता। दस वर्ष उपरान्त १६४८ में ईरानियों ने अन्तिम बार कान्धार पर अधिकार कर लिया और लगातार (१६४८-४९ और १६५२-५३) प्रयत्न करने पर भी मुगल उसे फिर कभी उनके हाथ से न छीन सके। इस बीच में दोनों सम्राटों ने एक दूसरे के यहाँ कूटनीतिक दूत-मण्डल तथा बहुमूल्य उपहार भेजे, किन्तु इस सबका उद्देश्य एक-दूसरे की राजनैतिक शक्ति तथा दुर्बलता का पता लगाना तथा अपने प्रतिद्वन्दी को झाँसा देना था। अन्त में कान्धार के लिये इस दौड़ में ईरान का शाह हिन्दुस्तान के सम्राट पर विजयी हुआ।

कांधार का ईरानी किलेदार अलीमर्दानखाँ था। उसने उस प्रान्त के राजस्व की एक बड़ी रकम गबन कर ली थी; १६३८ ई० में इस डर से कि कहीं शाह मुझसे हिसाब न माँगे, उसने मुगलों को किले पर अधिकार करने के लिये आमंत्रित किया। लाहौरी लिखता है, 'शाही सेनाओं के पहुचने पर अलीमर्दानखाँ उन्हें किले के भीतर ले गया और उसे उनके सुपुर्द कर दिया।.........काबुल के सूबेदार को कांधार पहुंचने और अलीमर्दानखा को १ लाख रुपया भेंट करने की आज्ञा हुई, और कहा गया है कि खान को काबुल ले जाओ और वहाँ से उसे उसके समस्त परिवार तथा आश्रितों सहित सुरक्षापूर्वक शाही दरबार में भेज दो।.....कांधार का समस्त देश तथा किला शाही साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।' किन्तु यह विजय क्षणिक सिद्ध हुई।

१६४२ ई० में शाह अब्बास द्वितीय ईरान के सिंहासन पर बैठा। उसने कांधार को पुनः जीतने का संकल्प किया, किन्तु १६४८ तक वास्तविक आक्रमण नहीं किया गया।

तब 'कांधार के शासक दौलतखाँ और बुस्त के सूबेदार पुर्दिलखाँ के द्वारा मार्ट

(शाहजहाँ) के कान में यह बात पहुँची कि शाह अब्बास द्वितीय कंधार के राज्य को जीतने के विचार से युद्ध के पवित्र नगर में आया और अपने बन्दूकचियों तथा आग तैयार करने वालों को साथ लेकर खुरासान की सीमाओं की ओर चल दिया है। इसके अतिरिक्त यह भी समाचार मिला कि उसने अन्न इकट्ठा करने के लिये फरह, सीस्तान तथा अन्य स्थानों में अपने आदमी भेज दिये हैं और अपनी एक अग्रगामी टुकड़ी को हिरात भेज कर उस ओर से मार्ग को बन्द करने का भरसक प्रयत्न कर रहा है वह यह भी जानता है कि जाड़े की ऋतु में पर्वतों पर अत्यधिक बर्फ जम जाने के कारण हिन्दुस्तान से काबुल तथा मुल्तान के मार्ग से कुमुक आना असम्भव है, इसीलिये इस कठोर ऋतु में वह इस दिशा में बढ़ रहा है और अपने वजीर मसूद बेग के पुत्र कासिमअली बेग को एक पत्र देकर अत्यधिक शीघ्रता से दरबार भेज दिया है,……

जब मोमाज सम्राट ने यह समाचार सुना तो उसने राजधानी से सादुल्लाखाँ को बुलाया और उसे आज्ञा दी कि अमीरों तथा मनसबदारों को जो अपनी अपनी जागीरों में हैं और जागीरदारों को जो अपने घरों पर हैं, फर्मान लिख कर भेजो कि वे जितनी जल्दी हो सके दरबार में उपस्थित हों। साथ ही साथ यह भी आज्ञा दी गई कि ज्योतिषी लोग उचित मुहूर्त निश्चित करें जिसमें शिविर राजधानी से लाहौर तथा काबुल को प्रस्थान करे।

'जैसे ही सम्राट के कानों में यह समाचार पहुँचा,— कि"—शाह कंधार के किले के बाहर आ पहुँचा है और घेरा डाल दिया है वैसे ही उसने सदा विजयी राजकुमार मुहम्मद औरङ्गजेब बहादुर को सादुल्लाखाँ तथा बहादुरखाँ, मिर्जा राजा जयसिंह रुस्तमखाँ राजा विट्ठलदास कलिचखाँ आदि राज्य के कुछ अन्य पदाधिकारियों के साथ उस ओर प्रस्थान करने की आज्ञा दी। इसके अतिरिक्त अमीरों में से ५ से अधिक व्यक्ति, मंसबदारों की एक विशाल संख्या, अहदी और धनुर्धारी तथा बन्दूकची थे—एक नियम के अनुसार उन्हें अपने सैनिकों का पाँचवाँ भाग युद्ध में भेजना पड़ता था, इस हिसाब से उनकी पूरी संख्या ५०००० घुड़सवार रही होगी दूसरे नियम के अनुसार उन्हें चौथाई आदमी भेजने पड़ते थे, इस हिसाब से उनकी संख्या ६०,०० तक पहुँचती थी—इनके अतिरिक्त १०,००० पैदल, बन्दूकची तथा गोले फेंकने वाले इत्यादि भी थे। यह आज्ञा दी गई कि जिन अमीरों और मंसबदारों को जागीरें मिली हुई हैं उनमें से जिन्हें इस युद्ध के लिये नियुक्त किया गया है उन्हें शाही कोष से १०० रुपया प्रति घुड़सवार के हिसाब से सहायक अनुदान दे दिये जाँय — जिन लोगों को जागीरों के स्थान पर नकद मिलते हैं उन्हें ३ महीने का वेतन अग्रिम के रूप में दे दिया जाय; और इसी प्रकार अहदियों तथा बन्दूकचियों को भी जिनकी संख्या ५,००० घुड़सवार है इसी प्रकार के अग्रिम प्रदान किये जाँय; जिससे इन लोगों को युद्ध के दौरान में व्यय के लिये धन की कमी के कारण कष्ट न हो।" इसके अतिरिक्त यह आदेश दिया गया कि सदा विजयी सेना काबुल को बंगश बाला तथा बंगश पाईन होकर जाय, क्योंकि ये मार्ग सबसे छोटे हैं, और वहाँ से अजमी होकर कंधार को प्रस्थान करे।

इन लम्बी चौडी तैयारियों के किये जाने पर भी बहादुर ईरानियों के हाथ से कांधार न छीना जा सका।

'कांधार के किले का घेरा लगभग साढे तीन महीने तक चलता रहा जिससे अन्त में अन्न और चारे का अभाव होने लगा, सम्राट के स्वामिभक्त सेवकों ने प्रशंसनीय उद्योग किया, किन्तु न तो उनके पास घेरा चलाने तथा दीवारें तोडने के लिये तोपें ही थीं और न कुशल तोपची ही। इसलिये किले पर अधिकार करना उतना ही कठिन था जितना पहले। इन कारणों से तथा शीतकाल के निकट आ जाने से प्रतापी राजकुमार औरंगजेब को फर्मान भेजा गया कि चूंकि भारी तोपों के बिना किले को जीतना व्यावहारिक नहीं है और उनके आने के लिये पर्याप्त समय नहीं रह गया है, इसलिये किले को जीतने का काम अधिक उपयुक्त अवसर आने तक स्थगित कर दो और "विजयी" सैनिकों के साथ हिन्दुस्तान को प्रस्थान करदो। ''""राजकुमार ने अधिक विलम्ब करना उचित नहीं समझा और सभी प्रकार से ध्यान देने योग्य (सम्राट के) आदेश के अनुसार ८ रमजान को विजयी सेनाओं के साथ कांधार से हिन्दुस्तान के लिये चल पडा।' (३ सितम्बर १६४९)

मई १६५२ में कांधार को जीतने का दूसरी बार प्रयत्न किया गया, किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला।

'चूंकि यह निश्चित किया गया था कि औरंगजेब के कांधार पहुँचते ही किले का घेरा आरम्भ कर दिया जाय, इसलिये भाग्यशाली राजकुमार ने सैनिक दलों को उनके स्थानों पर नियुक्त करके उसी दिन किले का घेरा डाल दिया।" "दो महीने और ८ दिन तक युद्ध की भयंकर लपटें जलतीं रहीं और दोनों पक्ष के अनेक व्यक्ति हताहत हुये।""" संक्षेप में, शाही सैनिकों ने अधिक से अधिक कठिन परिश्रम किया और सामने से तथा टेढे-मेढे मार्गों से आक्रमण करने में तथा किले की मुंडेरों और बुर्जों को तोडने में निरन्तर उत्साह तथा अध्यवसाय का परिचय दिया। किन्तु किला अत्यधिक सुदृढ था और प्रभावपूर्ण प्रतिरक्षा के लिये आवश्यक सैनिक अस्त्र-शस्त्रों तथा रसद से भरा हुआ था। इसलिये उनके भरसक प्रयत्नों का भी कोई प्रभाव नहीं हुआ, और उन पर किले के भीतर से वर्षा की झडी की भाँति गोलों तथा गोलियों की बौछार हो रही थी, इसलिये वे जहाँ पहुँच चुके थे वहाँ से आगे अपनी खाइयाँ न बढा सके (तोपखाना व्यर्थ सिद्ध हुआ)। जैसे ही" —सम्राट को इन सब बातों का पता लगा और समाचार मिला कि इस समय किले पर अधिकार करना असम्भव है, और यह बात भी उसके कानों में पहुँची कि उजबेग और अमन लोग गजनी के निकट तक बढ आये हैं और उत्पात खडे कर दिये हैं—' 'वैसे ही प्रतापी राजकुमार (औरंगजेब) के नाम ४ शबन को फर्मान जारी किया गया कि वह किले के चारों ओर से अपनी सेनायें हटा ले और उसे जीतने का काम आगे के लिये स्थगित करदे और घेरा डालने वाली सेना तथा सामान को लेकर दरबार के लिये रवाना हो जाय।' (९ जुलाई १६५२)।

दो बार असफल होने पर भी शाहजहाँ ने १६५३ में एक और प्रयत्न करने का

संकल्प किया किन्तु इस बार युद्ध संचालन का भार औरंगज़ेब के बजाय दारा शिकोह को सौंपा गया। इनायतख़ाँ लिखता है :

'चूँकि सेना के कंधार से लौटने के बाद राजकुमार बुलन्द इकबाल (दारा शिकोह) ने उस राज्य को जीतने का आश्वासन दिया था और इसीलिये काबुल तथा मुल्तान उसके सुपुर्द कर दिये गये थे, इसलिये राजधानी में वापिस आने पर सम्राट युद्ध की आवश्यक तैयारियों में जुट गया। वह लाहौर में १ महीने तथा कुछ दिन ठहरा। इस बीच में उसने इतना कठिन परिश्रम किया कि जो काम एक वर्ष में भी पूरा न होता वह इतने कम समय में हो गया।'

दारा ने ११ फरवरी १६५३ को लाहौर से प्रस्थान किया और २८ अप्रैल को कंधार जा पहुँचा। किन्तु ५ महीने के घेरे के उपरान्त सिद्ध हो गया कि दारा के इस लम्बे-चौड़े साज-समान के होने पर भी कंधार को जीतना असम्भव है। कुछ छोटे-मोटे किलों पर अवश्य अधिकार हो गया, किन्तु मुख्य उद्देश्य पूरा न हो सका। वही पुरानी कहानी फिर दुहराई गई :

'जाड़े की ऋतु आरम्भ हो गई सीसा बारूद और गोले सब समाप्त हो गये, और न मैदानों में घास रही और न सेना के लिये रसद ही बची। इसलिये फर्मान जारी किया गया कि चूँकि जाड़ा आरम्भ हो गया है और कंधार में वहाँ बैठे ही बहुत समय लग गया है यदि इस समय किले पर अधिकार करना सम्भव न हो सके, तो, यदि आवश्यक हो तो वे कुछ समय तक और डटे रहें, अन्यथा शीघ्र ही लौट आयें।' — एक भी ऐसा स्वामिभक्त सेनानायक न निकला जिसने आगे ठहरने का प्रस्ताव किया होता इसलिये १५ जिलकदा को राजकुमार बुलन्द इकबाल ने कंधार से हिन्दुस्तान के लिये प्रस्थान कर दिया।' (२७ सितम्बर १६५३)।

इस भयंकर पराजय के होने पर भी शाहजहाँ ने दारा का बड़े ठाठ-बाट से स्वागत किया। एक विशेष उत्सव मनाया गया और राजकुमार को अनेक बहुमूल्य उपहार भेंट किये गये तथा शाह बुलन्द इकबाल की उपाधि प्रदान की गई।

स्मिथ लिखते हैं, "विश्वसनीय आँकड़ों से पता लगता है कि कन्धार के तीन घेरा (१६४६, १६५२, १६५३) में १२ 'करोड़' अथवा ११० मिलियन रुपया व्यय हुआ था जो साम्राज्य की वार्षिक आय के आधे से अधिक था—१६४८ में साम्राज्य की आय २२ 'करोड़' अथवा २२० मिलियन रुपये थी। शाहजहाँ के शासनकाल में अँग्रेज़ी सिक्के में रुपये का मूल्य २ शि० ३ पें० था। इस हिसाब से शाही राजस्व २४¾ मिलियन पौं० अथवा पूरे अंकों में २५ मिलियन रही होगी।"

दक्खिन के युद्ध

शाहजहाँ के शासन काल के आरम्भ तक मुगल-साम्राज्य तथा दक्खिन के सम्बन्धों का इतिहास हम पहले ही लिख आये हैं। अकबर ने १६०० में खानदेश तथा १६०१ में असीरगढ़ पर अधिकार कर लिया था, उसके बाद सलीम के विद्रोह

के कारण उसे तुरन्त ही उत्तर को लौटना पड़ा। उसने बरार को भी जो उस समय अहमदनगर के निजामशाही राज्य का एक भाग था, हस्तगत कर लिया था। जहाँगीर ने लम्बी चौड़ी तैयारियों के बाद दीर्घ काल तक दक्खिन में युद्ध चलाया किन्तु वह अधिक प्रगति न कर सका। इसके दो मुख्य कारण थे—एक तो मुगल सेनापतियों के पारस्परिक झगड़े और दूसरे अहमदनगर के हबशी मंत्री मलिक अम्बर का वीरतापूर्ण प्रतिरोध। फिर भी शाहजहाँ की योग्यता तथा प्रतिष्ठा के कारण स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही। दक्खिन ने साम्राज्य के अनेक विद्रोहियों को भी शरण दी थी। शाहजहाँ ने स्वयं अपने विद्रोह के दौरान में मलिक अम्बर तथा गोलकुंडा के सुलतान से शरण माँगी थी। उसके शासन के प्रारम्भ में जुझार तथा खानजहाँ लोदी ने भी अपने विद्रोहों के बीच इसी कहानी को दुहराया था। भविष्य में इस प्रकार की चीजों को रोकने तथा अपने पूर्वजों की नीति को अन्तिम परिणाम तक पहुँचाने के लिये शाहजहाँ ने दक्खिन के तीन राज्यों, अहमदनगर, बीजापुर तथा गोलकुंडा का दमन करना आवश्यक समझा।

अहमदनगर—अहमदनगर के पदाधिकारियों ने अपने सुलतान के साथ विश्वासघात किया, विशेषकर मलिक अम्बर के कुपुत्र फतेहखाँ ने, इसलिये उस राज्य को जीतना शाहजहाँ के लिये सरल हो गया। जब १६२६ में मलिक अम्बर की मृत्यु हुई, उस समय दक्खिन में खानदेश, बरार, बालाघाट का कुछ भाग तथा अहमदनगर का किला मुगलों के अधिकार में थे। किन्तु जहाँगीर के शासन-काल के अन्तिम दिनों में साम्राज्य में कुछ अशान्ति रही, इसलिये निजामशाह मुर्तजा द्वितीय ने अपना खोया हुआ बहुत-सा राज्य पुनः जीत लिया, मुगल सूबेदार खानजहाँ उसकी ओर से आँख बचाता रहा। जब शाहजहाँ के शासन के प्रारम्भ में खानजहाँ ने विद्रोह करके स्थिति और भी अधिक बिगाड़ दी तब अहमदनगर के विरुद्ध वास्तविक रूप में युद्ध छेड़ दिया गया, उस समय उस राज्य में औरंगाबाद, जलना, नासिक, बागलना और कल्याण सम्मिलित थे। मुगल सूबेदार आजमखाँ ने धरूर और कन्दहार जीत लिये, और यद्यपि बीजापुर और अहमदनगर की सेनाओं के मिल जाने, उनकी छापामार समरनीति और रसद की कमी के कारण वह परेंदा को जीतने में असफल रहा, फिर भी उसने सम्पूर्ण निजामशाही राज्य उजाड़ दिया और ऐसा लगा कि उसका सर्वनाश निकट है। सल्तनत की आन्तरिक दुर्बलता से मुगलों को बिना अधिक कठिनाई के अपना उद्देश्य पूरा करने में सफलता मिल गई।

मुर्तज़ा द्वितीय ने फतेहखाँ को उसके द्रोहपूर्ण आचरण के कारण दुबारा कारागार में डाल दिया था। किन्तु वर्तमान संकट के कारण तथा मुर्तजा की पत्नी के जो फतेहखाँ की बहिन थी, अनुनय-विनय करने पर उसे फिर मुक्ति मिल गई और वकील तथा पेशवा के पद पर नियुक्त कर दिया गया। इससे मुकर्रबखाँ नाम का पदाधिकारी अप्रसन्न होकर शत्रु से जा मिला और उससे रुस्तमखाँ की उपाधि

प्राप्त कर ली। फतेहखाँ ने अपने स्वामी को ही बन्दी बनाकर अपनी कृतज्ञता तथा देश भक्ति का परिचय दिया और आसफखाँ को लिख भेजा कि 'मैंने निज़ामशाह को उसके बुरे चरित्र तथा शाही सिंहासन के प्रति उसकी शत्रुता के कारण कारागार में डाल दिया है, और मुझे आशा है कि मेरी इस सेवा के उपलक्ष में आप मेरे लिये कुछ अनुग्रह चिह्न भेज देंगे। उसे उत्तर मिला कि यदि तुम अपनी सच्चाई सिद्ध करना चाहते हो तो संसार का ऐसे दुष्ट से पिण्ड छुटा दो। यह सन्देश पाकर फतेहखाँ ने गुप्त रूप से निज़ामशाह का अन्त करवा दिया और उड़ा दिया कि वह स्वाभाविक मृत्यु से मर गया है। इसके बाद उसने निज़ामशाह के एक दस वर्षीय पुत्र हुसैन को सिंहासन पर बिठला दिया। इन सब बातों की सूचना उसने शाही दरबार में भेजी जिस पर उसे आज्ञा मिली कि स्वर्गीय सुल्तान के रत्न तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ तथा अपने सबसे बड़े पुत्र को बन्धक के रूप में भेज दो। कुछ समय तक फतेहखाँ ने इसे पूरा करने में टालमटूल की किन्तु अन्त में १० हाथी, ९ घोड़े तथा ८,००,००० रुपये के मूल्य के जवाहिरात सम्राट के पास भेज दिये।' उसने शाहजहाँ के नाम से खुतबा भी पढ़वाया और सिक्के ढलवाये; इस पर ६ मार्च १६३१ को शाहजहाँ ने बुरहानपुर छोड़ दिया और राजधानी को लौट गया।

"शाहजहाँ के उत्तर को लौट जाने से अहमदनगर की विजय का प्रथम चरण समाप्त हो गया। शाहजहाँ के उत्तर को लौट जाने के दो मुख्य कारण थे: पहला, दक्खिन में एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ गया था जिससे उसके साधन समाप्त हो गये थे और सैनिकों को भारी असुविधा हुई थी; और दूसरा, उसकी प्रिय पत्नी मुमताज़महल की मृत्यु जिससे उसके हृदय को गहरी चोट पहुँची।* वह दक्खिन से ऊब गया था और वहाँ रहने की उसकी इच्छा नहीं थी। यह मनुष्योचित दुर्बलता थी जिसने इस अवसर पर उसे अभिभूत कर लिया था, अन्यथा उसने कभी किसी काम को अधूरा नहीं छोड़ा।"

---

* पाठकों को स्मरण होगा कि मुमताज़महल आसफखाँ की पुत्री और नूरजहाँ की भतीजी थी। मृत्यु के समय उसकी अवस्था लगभग ४० वर्ष की थी और उसके आठ पुत्र तथा छ पुत्रियाँ थीं। शाहजहाँ तथा मुमताज़महल ने—का १९ वर्ष का विवाहित जीवन अत्यधिक आनन्द से बीता था। पति का पत्नी पर अपार स्नेह था और वह उसकी सच्ची मित्र, पथ प्रदर्शक तथा प्रेरणा का स्रोत थी। चौदहवें बच्चे के जन्म के समय प्रसव वेदना से बुरहानपुर में उसका सहसा देहान्त हो गया, इससे शाहजहाँ अत्यधिक दुःख से चेतना शून्य सा हो गया। एक सप्ताह तक उसने झरोखे से दर्शन नहीं दिये और दो वर्ष तक भोग विलास की वस्तुयें नहीं छुईं। 'हिमक के बन्दी' की भाँति उसके केश भी सहसा श्वेत हो गये। अपनी पत्नी के लिये विलाप करने के लिये शाहजहाँ ३५ वर्ष और जीवित रहा। उसने कहा "साम्राज्य में मेरे लिये कोई मिठास नहीं है और न जीवन में ही कोई आनन्द है। ताजमहल उसके प्रेम का अमर स्मारक है, संसार में सम्भवतः अभी तक किसी प्रेमी का हृदय ऐसे मन्दिर में प्रतिष्ठित नहीं हुआ है।

मुमताज़महल बेगम ।

किन्तु शीघ्र ही दौलताबाद एक नये संघर्ष का केन्द्र बन गया। फतेहखां तथा शाहू मे, जो मुगलों का भक्त था, कुछ जागीरों के ऊपर जिन्हें दोनों ही अपना बतलाते थे, झगड़ा छिड़ गया। परिणामस्वरूप शाहू ने बीजापुरियों की सहायता से फतेहखां को दौलताबाद में घेरने की तैयारियाँ आरम्भ करदीं।

फतेहखां निजामशाहियों से बहुत अप्रसन्न था और उनमें उसका विश्वास नहीं था, इसलिये उसने खानखाना महाबतखाँ को पत्र लिखा और सन्देश भेजा कि शाहू मेरे विरुद्ध बीजापुर से एक सेना लाने की तैयारी कर रहा है और किले में रसद का अभाव है, इसलिये यदि आप मेरी सहायता के लिये न आयें तो सम्भव है कि उसका पतन हो जाय। यदि आप शीघ्रता से आ पहुँचें तो मैं किला आपको समर्पित कर दूँगा और स्वयं शाही दरबार को चला जाऊँगा। तदनुसार खानखाना ने अपने पुत्र खान-जमान को एक अग्रगामी दल के साथ भेज दिया और ९ जुमदस्सनी को स्वयं पीछे-पीछे चल दिया। १ मार्च १६३३ को वह दौलताबाद पहुँच गया। इसी बीच में बीजापुरी सेना को खान-जमान ने परास्त कर दिया और 'इसीलिये उन्होंने फतेहखाँ से सन्धि का प्रस्ताव किया, और किले को फतेहखां के अधिकार में छोड़ने, उसे तीन लाख पैगोड़ा नकद देने तथा किले में रसद भर देने के लिये तैयार हो गये। इन शर्तों के प्रलोभन में आकर उस अभागे मूर्ख ने जो पहले सन्धि (मुगलों से) की थी, तोड़ दी और उनसे मित्रता कर ली। खानखाना उस समय जफरनगर में था, जब उसे इस कार्यवाही की सूचना मिली तो उसने खान-जमान को लिखा कि 'किले को हस्तगत करने तथा इस विश्वासघातक और बीजापुरियों को दण्ड देने के लिये हर सम्भव उपाय किया जाय।' जब खानखाना ने अपने पुत्र के पास दौलताबाद पहुँचकर गोला-बारूद से किले पर आक्रमण आरम्भ कर दिया। तब फतेहखाँ 'अपनी असावधानी तथा सुरक्षा की नींद से जगा।' उसने देखा कि शाही अस्त्र-शस्त्रों तथा शाही सेनापति की शक्ति के सामने दौलताबाद टिक नहीं सकता। तब उसने अपनी तथा निजामशाह की स्त्रियों के सम्मान की रक्षा के लिये अपने बड़े पुत्र अब्दुलरसूल को खानखाना की सेवा में भेजा (और अपने आचरण का दोष शाहूजी तथा आदिलखानियों के सिर मँढ़ा)। उसने क्षमा प्रार्थना की और अपने तथा निजामशाह के परिवार को किले से हटाने के लिये एक सप्ताह का समय माँगा, और उसका पुत्र खानखाना के अधिकार में बन्धक के रूप में बना रहा।

'१९ ज़िलहिज्ज को फतेहखाँ किले के बाहर निकला और उसका समर्पण कर दिया (१७ जून १६३३)। खानखाना ने किले में प्रवेश किया और सम्राट के नाम से खुतबा पढ़वाया। बालक सुलतान निज़ामशाह को बन्दी बना कर ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया। 'फतेहखाँ के अपराध दयापूर्वक क्षमा कर दिये गये, उसे शाही सेवा में भर्ती कर लिया गया और एक खिलत तथा दो लाख रुपया वार्षिक का अनुदान प्रदान किया गया। उसकी सम्पत्ति भी उसे लौटा दी गई, किन्तु निज़ामशाह की ज़ब्त कर ली गई' (२१ सितम्बर १६३३)।

यद्यपि इस घटना से निज़ामशाही वंश का सदैव के लिये सर्वनाश होगया,

फिर भी अहमदनगर का पूर्ण रूप से दमन न किया जा सका। कुछ चौकियों पर निज़ामशाही तथा आदिलशाही पदाधिकारियों का अभी तक अधिकार था और वे बिना संघर्ष के हथियार डालने को तैयार न थे। उनमें सबसे अधिक शक्तिशाली शाहू निकला। जुनार, पूना तथा नासिक के गढ़ उसके अधिकार में थे; वह भी उतना ही निर्भीक तथा साधनसम्पन्न सिद्ध हुआ जितना कि पिछले शासन-काल में मलिक अम्बर हुआ था। उसने एक कठपुतली सुल्तान खड़ा कर लिया और उसी के आसपास दक्खिन के निज़ामशाही तथा आदिलशाही सभी दलों को एकत्र करने का प्रयत्न किया और किन्तु मुगलों की शक्ति के सामने ठहरना उसके लिये कठिन होगया; और उसके हाथ से एक के बाद एक किले निकलते गये। दौलताबाद के सूबेदार मुर्तज़ाखाँ, पैनघाट के सूबेदार अल्लाहवर्दीखाँ, ख़ानज़मा, ख़ानदौरान, आदि मुग़ल सेनापतियों ने शाहू को खदेड़ा और कहीं उसके पैर न जमने दिये। अन्त में शाहजहाँ ने स्वयम् युद्ध का संचालन करने के लिये २१ सितम्बर १६३५ को आगरा से प्रस्थान किया और जनवरी १६३६ में बुरहानपुर जा पहुँचा। घूस तथा धमकियों के कारण शाहू के समर्थक एक-एक करके या तो मुगलों से जा मिले अथवा तटस्थ हो गये। उदगीर, औसा, माहुली तथा अन्य किले शीघ्र ही मुगलों के अधिकार में आगये।

'जब गोलकुण्डा स्थित राजदूत अब्दुल लतीफ नगर में पहुँचा तो कुतुबुलमुल्क उसका स्वागत करने के लिये पाँच कोस तक चल कर आया और बड़े सम्मान के साथ उसे नगर में लेगया।'— 'उसने ओर से सम्राट के नाम में खुतबा पढ़वाया; जब खुतबा पढ़ा जा रहा था तो वह कई बार उपस्थित हुआ और पढ़ने वाले को उपहार भेंट किये, उसने सम्राट के नाम के सिक्के ढलवाये और उनके नमूने दरबार में भेज दिये।

जब आदिलखाँ ने देखा कि मुगल सेनाओं ने मेरा राज्य उजाड़ दिया है तो उसने भी समर्पण कर दिया। उसने रत्नों तथा हाथियों के रूप में २० लाख कर देना स्वीकार कर लिया और वचन दिया कि यदि शाहू लौट कर आया और जुनार तथा निज़ामशाही राज्य में स्थित अन्य किले शाही पदाधिकारियों के सुपुर्द कर दिये तो मैं उसे अपने यहाँ नौकर रख लूँगा किन्तु यदि शाहू ने ऐसा न किया तो मैं किलों को जीतने तथा शाहू को दण्ड देने में शाही सेना की सहायता करूँगा।'— इसलिए सम्राट के यहाँ अधिक दिनों तक ठहरने की आवश्यकता नहीं है और यदि वह अपनी राजधानी को लौट जायें तो बड़ी कृपा होगी; इससे बीजापुर की रैयत तथा जनता शान्तिपूर्वक अपने अपने कार्यों में लग जायगी। सम्राट ने बीजापुर का राज्य उसके अधिकार में रहने दिया और परिन्दा का भी जो पहले निज़ामुलमुल्क के अधिकार में था किन्तु जिसे किलेदार ने घूस लेकर आदिलखाँ को समर्पित कर दिया था उसे दे दिया। उसने स्नुन्दर पर स्थित कोंकण का समस्त प्रदेश जो पहले आधा उसके तथा आधा निज़ामुलमुल्क के अधिकार में था, उसको सौंप दिया। (६ मई १६३६ ई०)।

औरंगजेब की पहली सूबेदारी—'सम्राट ने राजकुमार औरंगजेब को

—

दक्खिन का सूबेदार नियुक्त किया। इस देश में ६४ किले हैं जिनमें से ५३ पहाड़ियों पर स्थित हैं और शेष ११ मैदान में। यह देश ४ सूबों में विभक्त है—(१) दौलताबाद, जिसमें अहमदनगर तथा अन्य जिले सम्मिलित हैं और जो दक्खिन का सूबा कहलाता है। यह सूबा पहले निजामुलमुल्क के अधिकार में था और इसकी राजधानी अहमदनगर थी, किन्तु बाद में दौलताबाद हो गई। (२) तैलिंगाना—...—यह बालाघाट के सूबे में स्थित है। (३) खान देश, इसका किला असीर और राजधानी असीर से ४ कोस की दूरी पर स्थित बुरहानपुर है। (४) बरार, इस सूबे की राजधानी एलिचपुर है और इसका प्रसिद्ध किला गाविल कहलाता है। यह एक पहाडी की चोटी पर स्थित है और शक्ति तथा सुरक्षा की दृष्टि से देश के सभी किलों से अधिक प्रसिद्ध है। तीसरा सूबा पूरा और चौथे का एक भाग पईन-घाट में स्थित है। चार सूबों की पूरी आय २ अरब दाम है जो ५ करोड रुपये के बराबर होती है।' औरंगजेब की नियुक्ति सैनिक तथा प्रशासनीय, दोनों ही दृष्टि से साम्राज्य के लिये बहुत हितकर सिद्ध हुई।

गोलकुण्डा—शाहजहाँ के सामने कुतुबशाह के इस विनम्र समर्पण के अनेक कारण थे। पहली बात यह थी कि कुतुबशाही वंश को मुगलों के शस्त्रों की शक्ति का अनुभव १६२६ में ही होगया था, जब उडीसा के शाही सूबेदार बकीरखाँ ने राज्य के उत्तरी भाग में स्थित मंसूरगढ़ के सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण किले पर अधिकार कर लिया था। इसके एक वर्ष उपरान्त नसीरीखाँ ने तैलिंगाना पर आक्रमण किया, कंदहार को जीत लिया और प्रान्त के लगभग एक तिहाई भाग को अधिकृत कर लिया। दूसरे, आन्तरिक झगडों के कारण गोलकुण्डा की शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो चुकी थी। मीर जुमला नामक अर्दिस्तान के निवासी एक ईरानी साहसिक ने जिसने एक जौहरी के रूप में जीवन आरम्भ किया था, कुतुबशाह के यहाँ नौकरी थी और प्रधान मंत्री के पद पर पहुँच गया था। वह योग्य सेनानायक भी था, इसलिये अन्त में उसने सिंहासन ही हड़पने का प्रयत्न किया। 'शाहजहाँ-नामा' में लिखा है कि कुतुबुलमुल्क के राज्य का सम्पूर्ण प्रशासन मीर जुमला के हाथ में था, उसने कर्नाटकियों के विरुद्ध घोर संघर्ष किया और एक शक्तिशाली किले तथा १५० कोस लम्बे और बीस अथवा तीस कोस चौड़े भू-भाग पर जिसका वार्षिक राजस्व ४० लाख रुपया था, अधिकार कर लिया। यह प्रदेश हीरे की खानों से भरा हुआ था और कुतबुलमुल्क के पूर्वजों में से कोई भी इसके किसी भी भाग पर अधिकार नहीं कर पाया था। कर्नाटकियों द्वारा निर्मित अनेक किलों को नष्ट करके उसने इस देश पर अपना अधिपत्य स्थापित कर लिया था।' उसकी बढ़ती हुई शक्ति से डर कर उसके ईर्षालु स्वामी ने उसके पुत्र को बन्दी बना लिया। इसलिये मीर जुमला ने मुगल दरबार से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की।

औरङ्गजेब की दूसरी सूबेदारी—महत्वाकांक्षी तथा विजयाभिलाषी औरङ्गजेब जो आठ वर्ष तक (१६३६ से ४४) दक्खिन का सूबेदार रह चुका

था, इस बार वह फिर वहाँ भेजा गया। १६३७ में वह शाहनवाज़खाँ की पुत्री दिलरसबानू बेगम से विवाह करने के लिए राजधानी गया था। १६४४ ई० में उसकी बहन जहाँनारा दुर्घटनावश आग से जल गई और बहुत बीमार हो गई। उसे देखने के लिये वह फिर आगरा गया। "चार महीने तक वह जीवन तथा मृत्यु के बीच लटकी रही और नवम्बर से पहले पूर्णरूप से अच्छी नहीं हुई।" यह एक रहस्यपूर्ण बात थी कि जिस समय औरंगज़ेब आगरे में था, उसके स्थान पर दक्षिण में दूसरा व्यक्ति नियुक्त कर दिया गया और स्वयं उसे आठ महीने बाद (६ फरवरी १६४५) गुजरात भेज दिया गया। जनवरी १६४७ में उसे बलख-बदख्शाँ तथा कान्धार भेजा गया; वहाँ से पराजित होकर उसे १६५२ में लौटना पड़ा, किन्तु इसमें उसका कोई दोष नहीं था। औरंगज़ेब के सम्मान को आघात पहुँचा था, इसलिये अपने नाम के कलंक को धोने के लिये वह उत्तर पश्चिम के निरर्थक युद्धों में जुटा रहना चाहता था। किन्तु शाहजहाँ को उस पर भरोसा न रहा था उसने कहा 'यदि मुझे विश्वास होता कि तुम कंधार जीत सकोगे तो मैं तुम्हारी सेनाओं को वापिस न बुलाता।' फिर भी जैसा कि लेनपूल ने लिखा है, अफगानिस्तान तथा हिन्दूकुश के उस पार के युद्ध "औरंगज़ेब के लिये सबसे अधिक लाभदायक सिद्ध हुए। उनसे उसका शाही सेना से सम्पर्क हो गया और वह देश के सबसे अच्छे सैनिकों के सामने अपने साहस तथा रणनीति का परिचय दे सका। उसके वास्तविक गुणों के लिये सेना नायक उसकी सराहना करने लगे और सैनिकों को विश्वास हो गया कि धैर्य तथा दृढ़ता में हमारा राजकुमार देश के सर्वोत्तम पदाधिकारियों से होड़ कर सकता है। जब वह पर्वतों को लाँघ कर गया था, उस समय वह केवल एक भक्त के रूप में प्रसिद्ध था, उसने कोई सैनिक विजय नहीं प्राप्त की थी जिससे प्रतिष्ठा मिल सकती। जब वह लौट कर आया तो सेनानायक के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुका था; और उसकी बुद्धि धैर्य सहन शक्ति तथा संकल्प की तीन विकट युद्धों में परीक्षा हो चुकी थी और सबने उसकी प्रशंसा की थी। पश्चिमोत्तर सीमा के युद्ध समाप्त हो गये थे, जैसे कि इस प्रकार के युद्ध सब से होते आये हैं, किन्तु उनसे औरंगज़ेब को उतना ही लाभ हुआ था जितना कि स्टीवर्ट तथा रौबर्ट स को; उनसे उनके नेता की गणना भारत के प्रमुख सेना नायकों में होने लगी।"

औरंगज़ेब की यह स्थिति थी जबकि उसने दूसरी बार १६५३ में दक्षिण की सूबेदारी का भार सँभाला। यद्यपि वह हीराबाई उपनाम ज़ैनाबादी महाल नामक स्त्री के सौन्दर्य से मोहित होकर नौ महीने तक बुरहानपुर में ही पड़ा रहा, किन्तु इसके बाद उसने शीघ्र आकर दौलताबाद में डेरे डाल दिये और अपने नये प्रान्त की आर्थिक दशा सुधारने में जुट गया। उसके बुद्धिमत्तापूर्ण सुधारों से उसके आर्थिक साधनों में बहुत उन्नति हो गई। वह एक नये अवसर की प्रतीक्षा में था जिससे नई विजयों द्वारा पिता की दृष्टि में अपनी प्रतिष्ठा पुनः स्थापित

कर सकता। इसलिये जब मीर जुमला के नियन्त्रण से उसे दक्खिन के धर्मद्रोही शिया सुलतानों पर प्रहार करने की आशा दिखाई दी तो बड़ी तत्परता तथा उत्साह के साथ उसने उसे स्वीकार कर लिया। दृढ़ सकल्प तथा आक्रामक साम्राज्यवादियों को बहानों का कभी अभाव नहीं रहा है।

गोलकुण्डा पर कर बकाया चला आ रहा था। अब्दुल्ला कुतुबशाह को शीघ्र ही रकम चुका देने की आज्ञा दी गई। उससे यह भी कहा गया कि मीर जुमला के बन्दी परिवार को शीघ्र मुक्त कर दो। किन्तु औरंगजेब की वास्तविक नीति तथा इरादों का पता उसके उस स्पष्ट आदेश से चलता है जो उसने अपने पुत्र मुहम्मद सुलतान को दिया :

'कुतुबुलमुल्क कायर है और सम्भवतः प्रतिरोध नहीं करेगा। अपने तोपखाने से उसका महल घेर लो और एक टुकड़ी भेज कर उसके गोलकुण्डा को भागने के मार्ग को रोक दो। किन्तु ऐसा करने से पहले सावधानी से एक दूत चुन कर उसके पास भेजो और कहलवा दो कि 'मैं बहुत पहले से आशा कर रहा था कि आप मुझसे आकर मिलेंगे और अपने साथ रहने के लिये सत्कारपूर्वक आमन्त्रित करेंगे। किन्तु चूँकि आपने ऐसा नहीं किया, इसलिये मैं स्वयं आ गया हूँ।" इस सन्देश को भेज कर तुरन्त ही धुँआधार आक्रमण कर दो और यदि बन सके तो उसका सिर धड़ से उड़ा दो। इस योजना को पूरा करने के सर्वोत्तम साधन हैं चतुराई, तत्परता तथा हाथ की सफाई।'

कुतबशाह का सिर तो धड़ से अलग नहीं किया गया, किन्तु हुआ वैसा ही जैसा कि आशा थी। गोलकुण्डा की अपार धन-राशि लूट ली गई। औरंगजेब भी ६ फरवरी १६५६ को अपने बेटे के पास जा पहुँचा ; उसने राज्य को पूर्ण रूप से साम्राज्य में मिला लिया होता यदि उसी बीच में शाहजहाँ का फर्मान न पहुँच जाता। सम्राट की आज्ञानुसार ३० मार्च को घेरा उठा लिया गया। कुतुबशाह से सन्धि हो गई ; उसकी पुत्री का विवाह औरंगजेब के पुत्र मुहम्मद सुलतान से कर दिया गया, और एक गुप्त समझौते के अनुसार निश्चित किया गया कि अब्दुल्ला के बाद वही गोलकुण्डा के सिंहासन पर बैठेगा, कुतबशाह पर जो कर बकाया था उसमें पर्याप्त छूट दे दी गई, रंगीर (मानिकदुर्ग और चिनूर) का जिला साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया, मीर जुमला को शाही नौकरी में भर्ती कर लिया गया और मुअज्ज़म खाँ की उपाधि तथा ६००० का पद प्रदान किया गया तथा सादुल्ला खाँ की मृत्यु के बाद साम्राज्य का प्रधान मन्त्री बना दिया गया। सादुल्ला खाँ के सम्बन्ध में स्मिथ लिखते हैं, "यद्यपि स्वर्गीय मन्त्री अपने सैनिक कार्यों में अधिक भाग्यशाली नहीं था, फिर भी उसकी गणना भारतीय इतिहास के सर्वोत्तम प्रशासकों में है।"

बीजापुर—१६३६ की सन्धि के बाद लगभग बीस वर्ष तक योग्य सुलतान मुहम्मद आदिलशाह के शासन में बीजापुर ने पर्याप्त सुख और समृद्धि का उप-

योग किया था। किन्तु दुर्भाग्य से ४ नवम्बर १६५६ को इस महान शासक की मृत्यु हो गई और उसका अठारह वर्ष का पुत्र सिंहासन पर बैठा किन्तु राज्य की वास्तविक शक्ति राजनैतिक गुटों के हाथों में चली गई। औरंगजेब सदैव अवसर की ताक में रहता था; उसने शाहजहाँ से 'अपनी इच्छानुसार बीजापुर के मामलों को तै करने की' आज्ञा प्राप्त कर ली। यद्यपि बीजापुर अधीन राज्य नहीं था, फिर भी उसने घोषणा की मुझे उत्तराधिकार प्रश्न हल करने का अधिकार है, और बहाना यह किया कि बालक सुल्तान अपने पूर्वाधिकारी का पुत्र नहीं बल्कि एक साधारण स्थिति का छलिया है।

मुगल सेनाएँ एक बार फिर आदिलशाही राज्य पर छा गई। मीर जुमला को उत्तर से औरंगजेब की सहायता के लिये बुला लिया गया। सबसे पहले बीदर के महत्वपूर्ण किले का (जिस पर बीजापुरियों ने १६०१ में अधिकार कर लिया था) घेरा डाला गया। मार्च १६५७ के अन्त में वीरतापूर्ण प्रतिरोध के बाद बीदर ने समर्पण कर दिया।

'किलेदार ने बड़ी नम्रता से क्षमा याचना की और चूँकि उसके प्राणान्तक घाव लगा था और चलने फिरने के योग्य नहीं था इसलिये उसने अपने पुत्रों को किले की कुञ्जियाँ देकर भेज दिया। राजकुमार ने दयापूर्वक उनका स्वागत किया, खिलत भेंट की और शाही अनुग्रह का वचन दिया। कुञ्जियाँ मिलने के दूसरे दिन राजकुमार ने नगर में प्रवेश किया और एक मस्जिद में जिसका निर्माण २०० वर्ष पूर्व बहमनी सुल्तानों के समय में हुआ था, पहुँचकर सम्राट के नाम से खुतबा पढ़वाया।' इस सुदृढ़ किले को लेने में २७ दिन लगे थे। बारह लाख रुपया नकद २३० तोपें तथा आठ लाख रुपये का सीसा गोला-बारूद तथा रसद विजेताओं के हाथ लगी।

इसके बाद 'राजकुमार को समाचार मिला कि आदिलखाँ की सेना के विशाल दल गुलबर्गा में एकत्र हो रहे हैं तथा युद्ध की तैयारियाँ कर रहे हैं। इसलिये इन दलों को कुचलने के लिये उसने महाबतखाँ को १५० युद्धसवारों के साथ भेजा और आज्ञा दी कि इस देश में फसल का एक तिनका भी न खड़ा रहने पावे। प्रत्येक मकान या इमारत गिरा दी जाय और देश वस्तुओं तथा जीवों के रहने योग्य बना दिया जाय।' महाबतखाँ (द्वितीय) ने कल्याणी को उजाड़ दिया और आगे बढ़ा गया। प्रतिदिन काले वस्त्र पहने शत्रु दल दूर पर दिखाई देते किन्तु वे अपने पीछे लौटना जारी रखा।

कल्याणी—चालुक्यों की प्राचीन राजधानी—का (बीदर से १० मील पश्चिम को) मुगलों ने मई १६५७ में घेर लिया; वीरतापूर्ण प्रतिरक्षा के उपरान्त १ अगस्त को नगर रक्षकों ने हथियार डाल दिये। अब आक्रमणकारियों के लिये बीजापुर का मार्ग भी खुल गया। किन्तु गोलकुण्डा की भाँति इस बार भी अन्तिम क्षण शाहजहाँ ने युद्ध बन्द करवा दिया। किन्तु सन्धि के अनुसार बीदर, कल्याणी तथा परेन्दा मुगलों के अधिकार में बने रहे। सुल्तान ने १½ करोड़ युद्ध क्षति पूर्ति के रूप में देने का वचन दिया। शाहजहाँ ने इसका एक तिहाई क्षमा

कर दिया। शाहजहाँ की बीमारी तथा तज्जनित अव्यवस्था ने सम्पूर्ण परिस्थिति बदल दी।

उत्तराधिकार का युद्ध

यहाँ पर उत्तराधिकार के लिये हुए इस गृह-युद्ध का जिसमें भाइयों ने भाइयों का रक्त बहाया, विस्तार से वर्णन करना अनावश्यक है। युद्ध एक वर्ष से भी कुछ कम ही चला—सितम्बर १६५७ में शाहजहाँ की बीमारी के समय से जुलाई १६५८ में औरंगज़ेब के राज्याभिषेक तक। किन्तु इसके दौरान में जो घृणित अपराध किये गये उनका कुप्रभाव साम्राज्य के भविष्य पर भी पड़े बिना न रहा। कामरान, अस्करी, हिन्दाल, हाकिम, सलीम, खुसरू और खुर्रम सभी ने अपने शासक-वंश के विरुद्ध विद्रोह किया था। हुमायूँ स्वभाव से दयालु था, किन्तु अपने भाइयों के विश्वासघात के कारण उसे भी भ्रातृघाती युद्ध में फँसना पड़ा था, जहाँगीर ने केवल अधैर्य के कारण मुगल साम्राज्य में एक काला अध्याय आरम्भ किया जिसका उसके अधिकारियों ने अनुकरण किया, और शाहजहाँ ने अपने भाइयों, खुसरू, परवेज और शहरियार तथा अन्य सम्बन्धियों का बध करके सिंहासन प्राप्त किया था। औरंगज़ेब केवल अपने पूर्वाधिकारियों का ही अनुसरण कर रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्भाग्यवश मुगलवंश का आदर्श था कि 'राजत्व रक्त सम्बन्ध का आदर नहीं करता,' और सम्भवतः उन भाइयों का जो इस समय एक दूसरे के विरुद्ध घातक संघर्ष में रत थे, नारा था . 'तख्त या तख्ता'।

राजकुमार दाराशिकोह, शुजा, औरंगज़ेब और मुराद सहोदर भाई थे। गृह युद्ध के समय उनकी आयु क्रमशः ४३, ४१, ३९ और ३३ वर्ष थी। सबसे बड़े भाई पर पिता का अनुग्रह था और सामान्य परिस्थितियों में सिंहासन उसी को मिलता। यद्यपि उसने अपना अधिकांश समय राजधानी में पिता के साथ ही बिताया, किन्तु नाम के लिये वह पंजाब तथा पश्चिमोत्तर प्रान्तों का सूबेदार था। शुजा बंगाल और उड़ीसा का सूबेदार था, औरंगज़ेब दक्षिण का और मुराद गुजरात का। चारों ही प्रसिद्ध योद्धा थे, किन्तु दृढ़ता, चरित्र-बल चतुराई तथा सेनानायकत्व में वे औरङ्गज़ेब से हेटे थे। धार्मिक विषयों में भी औरङ्गज़ेब कट्टर सुन्नी इस्लाम का समर्थक था। उसके भाई स्वतन्त्र विचारों के अथवा भावुक थे। दारा अकबर की भाँति समन्वयवादी था; शुजा शिया और मुराद कम से कम राजनैतिक उद्देश्य से, धर्मद्रोहियों से घृणा करने वाला। यही कारण था कि दो छोटे भाइयों का दोनों बड़ों के विरुद्ध मोर्चा बन गया। किन्तु औरङ्गज़ेब ने अन्त में सबके ही साथ एक सा व्यवहार किया। दिखाने के लिये दारा का धर्मद्रोह के और मुराद का हत्या के अपराध में बध किया गया। शुजा उत्तर पूर्वी सीमाओं के पार भाग गया और वहाँ अराकानियों ने उसे मार डाला। औरंगजेब ने दारा के पुत्र सुलेमान शिकोह के साथ जैसा कठोर और क्रूर व्यवहार किया वैसा ही अपने पुत्र मुहम्मद सुल्तान के साथ भी, क्योंकि उस

धर्मान्ध की दृष्टि में दोनों का अपराध एक सा ही था। पहले ने युद्ध में अपने पिता का साथ दिया था और दूसरे ने अपने ससुर (चाचा) शुजा का, इसलिये उन दोनों को कारागार में डाल दिया गया और फिर वे 'नरक को भेज दिये गये।' किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी यह कहना कि औरंगजेब रक्तपिपासु राक्षस था अनुचित होगा। सिंहासन प्राप्त करने के लिये वह अधिक से अधिक निर्दयतापूर्ण कार्य करने को तैयार था, किन्तु व्यर्थ में रक्तपात करने में उसे आनन्द न आता था। उसने अपने वंश के सभी सदस्यों की हत्या नहीं कर डाली, बल्कि यहाँ तक किया कि अपनी एक पुत्री का विवाह दारा के छोटे पुत्र सिपीर शिकोह से और दूसरी का मुराद के पुत्र इजीदबख्श से कर दिया।

साम्राज्य के अध्ययन की दृष्टि से इस युद्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन करने से विशेष लाभ न होगा। सब कुछ कह चुकने पर यह निष्कर्ष निकलता है—(क) मुगल व्यवस्था में आधारभूत दुर्बलता थी तभी तो सम्राट की बीमारी मात्र से वह उलट पलट होगई (ख) तिमूर के वंशजों की यह परम्परा थी कि वे शक्ति तथा वैभव को ही सर्वोपरि समझते थे; और (ग) औरंगजेब युद्ध तथा कूटनीति दोनों में ही परिपक्व तथा कुशल था और उसकी तुलना में उसके भाई थे नितान्त अयोग्य। औरंगजेब की विजय तथा उसके दुर्बल भाइयों की पराजय की कहानी संक्षेप में इस प्रकार है :—

(१) जब शाहजहाँ सितम्बर १६५७ में बीमार पड़ा तो औपचारिक रूप से उसने दारा को अपना उत्तराधिकारी नामनिर्देशित कर दिया जिससे सिंहासन के लिये गृह-युद्ध की सम्भावना टल जाय।

(२) ऐसा होने पर भी मुराद ने ५ दिसम्बर को अहमदाबाद में अपने को सम्राट घोषित कर दिया, अपने नाम के सिक्के चलाये और खुतबा पढ़वाया।

(३) शुजा ने भी राजमहल में ऐसा किया और सेना तथा जहाजी बेड़ा लेकर बनारस की ओर चल पड़ा और २४ जनवरी १६५८ को वहाँ आ पहुँचा।

(४) औरंगजेब कहीं अधिक चतुर था उसने स्थिति की गम्भीरता को तो शीघ्र ही ताड़ लिया किन्तु शीघ्रता करके मामले को बिगाड़ना उचित नहीं समझा। उसने स्वयं अपने नाम से कार्य नहीं किया बल्कि इस्लाम तथा छोटे भाई मुराद के नाम को आगे रक्खा। साम्राज्य को दारा तथा शुजा के धर्मद्रोह से बचाना था, इसलिये निश्चय किया गया कि मुराद को एक तिहाई सम्पत्ति तथा पंजाब, अफगानिस्तान काश्मीर और सिन्ध के प्रान्त मिलेंगे, शेष साम्राज्य पर औरंगजेब का अधिकार रहेगा।

(५) मीर जुमला को शाहजहाँ की आज्ञा से उत्तर में बुलाया गया था, किन्तु औरंगजेब ने उसे दक्षिण से चलने ही नहीं दिया। उसे बन्दी बना लिया गया और उसकी सेना औरंगजेब के अधिकार में आ गई। स्मिथ का कथन है "परिस्थितयों से ज्ञात होता है कि मीर जुमला स्वयं अपनी ही इच्छा से गिरफ्तार हो गया था। कम से कम अपनी गिरफ्तारी का उसने बुरा नहीं माना और मुक्त हो जाने पर अपने मित्र को बहुमूल्य

सहायता देता रहा। ...... मीर जुमला का बढ़िया तोपखाना अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ।"

(६) १६५८ में फरवरी के प्रारम्भ में औरङ्गजेब ने भी शाही उपाधियाँ धारण कर लीं। ३ अप्रैल को उसने नर्मदा पार की और उज्जैन के निकट मुराद की सेनाओं से जा मिला।

(७) १५ अप्रैल १६५८ को शाही सेना ने कासिम खाँ तथा जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह के नेतृत्व में धर्मात के स्थान पर (उज्जैन से १४ मील दक्षिण-पश्चिम में) विद्रोही राजकुमारों का सामना किया, किन्तु परास्त हुई। जसवन्तसिंह युद्ध-क्षेत्र से भाग गया, किन्तु जब उसकी स्त्री ने उसके ऐसे कायरतापूर्ण आचरण का समाचार पाया तो उसे महलों में प्रवेश नहीं करने दिया।

(८) इसके बाद दारा ने २९ मई १६५८ को सामूगढ के स्थान पर (आगरा किला से आठ मील पूर्व में) विद्रोहियों से युद्ध किया। युद्ध घमासान हुआ और राजपूतों ने 'अपनी जाति की परम्पराओं की लाज रक्खी,' किन्तु एक दुर्घटना से युद्ध का निर्णय औरंगजेब के पक्ष में हो गया। स्मिथ लिखते हैं, "इस लड़ाई ने (सामूगढ की) उत्तराधिकार युद्ध का निर्णय कर दिया। उसके बाद इसमें हारे हुए पक्ष की विजय के लिये दारा शिकोह, उसके पुत्र सुलैमान शिकोह अथवा शुजा और मुराद ने जो प्रयत्न किये वे विफल रहे। युद्ध मई १६६० से पहले समाप्त नहीं हुआ—उसी वर्ष शुजा का दयनीय अन्त होगया—, इसमें औरंगजेब अपने सभी भाइयों से कहीं अधिक योग्य सिद्ध हुआ।"

औरंगजेब की सफलता के दो मुख्य कारण थे—उसकी अधिक अच्छी युद्ध सामग्री और सेनानायकत्व। मनूची लिखता है कि यद्यपि दारा की सेना ने 'वीरता तथा पराक्रम का परिचय दिया,' किन्तु उनमें से अधिकतर युद्ध प्रिय नहीं थे, उनमें कसाइयों, नाइयों, लुहारों, बढइयों, दर्जियों आदि की संख्या अधिक थी। यह ठीक है कि निरीक्षण के समय घोड़ों पर सवार तथा अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुये वे अच्छे लगते थे, किन्तु उनमें साहस का अभाव था और युद्ध कला से वे अपरिचित थे।'* वह आगे लिखता है कि 'दारा का पालन-पोषण अपने पिता की नर्तकियों और भाण्डों के बीच हुआ था, इसलिये उसे युद्ध का पर्याप्त अनुभव नहीं था, और वह विश्वासघातकों की बातों पर आवश्यकता से अधिक भरोसा करता था।'

(९) ८ जून १६५८ को औरंगजेब ने आगरा के किले पर अधिकार अधिकार कर लिया और शाहजहाँ को आजीवन वन्दी बनाकर कारागार में डाल दिया। २२ जनवरी १६६६ को वहीं पर शाहजहाँ ने अपनी प्रियतमा की समाधि के अन्तिम दर्शन करते हुये प्राण त्याग दिये और उसी के साथ दफना दिया गया।

(१०) २५ जून १६५८ को मुराद वन्दी बना कर कारागार में डाल दिया गया और अन्त में दिसम्बर १६६१ में ग्वालियर के किले में उसका वध कर दिया गया। मुराद के

* पेपीज पृष्ठ ५३।

एक पुराने दीवान अली नक़ी के पुत्र ने उस पर हत्या का अभियोग लगाया था। एक क़ाज़ी ने 'विधि पूर्वक' राजकुमार का अभियोग सुना और मृत्यु-दण्ड दिया।

(११) २१ जून १६५८ को औरंगज़ेब ने मुकुट धारण किया किन्तु जून १६५९ से पहले वह औपचारिक ढंग से सिंहासन पर नहीं बैठा।

(१२) सुलेमान शिकोह ने फरवरी १६५८ में बहादुरपुर (बनारस के निकट) के युद्ध में शुजा को परास्त किया। औरंगज़ेब ने ५ जनवरी १६५९ को उसे पुन खजुवा (फतहपुर ज़िले में) के युद्ध में खदेड़ दिया। वहाँ से वह भाग कर अराकान चला गया और वहीं मई १६६० में मारा गया।

(१३) दारा का पीछा किया गया और वह मुल्तान सिन्ध, काठियावाड़ तथा गुजरात में होता हुआ जगह जगह मारा-मारा फिरा। एक बार अजमेर के निकट जोधपुर के जसवन्त सिंह ने उसके साथ विश्वासघात किया। अन्त में जब वह ईरान को भागने का प्रयत्न कर रहा था उस समय ९ जून १६५९ को धांधर (बोलन के दर्रे के निकट) के अफ़गान सरदार मलिक जीवन ने उसे धोखा देकर पकड़वा दिया। अपनी प्रिय पत्नी नादिराबेगम (परवेज़ की पुत्री) की मृत्यु से दारा बहुत विक्षिप्त हो गया था। 'मृत्यु उसके सामने नाचती थी। सर्वत्र उसे विनाश ही दिखाई देता और चेतना शून्य होकर वह अपने मामलों में पूर्णतया असावधान हो गया।' ख़ाफ़ी ख़ाँ के शब्दों में, इस प्रकार दारा के हृदय पर एक के बाद एक विपदाओं के पहाड़ टूट पड़े और एक के बाद एक वेदनाओं तथा दु खों ने उसे अभिभूत कर लिया, परिणामस्वरूप उसके मस्तिष्क का सन्तुलन जाता रहा। ज़िल हिज्ज १ ६९ के अन्त में (सितम्बर १६५) विधि-विदों की राय से दारा को मृत्यु-दण्ड दिया गया क्योंकि उसने इस्लाम को त्याग दिया था धर्म की निन्दा की थी और धर्म-द्रोह तथा कुफ़्र का साथ दिया था। वध के बाद उसका शव हौदा में रख कर नगर में चारों ओर घुमाया गया (एक बार पहले जीवित भी वह इसी प्रकार घुमाया गया था)। इस प्रकार एक बार जीवित और एक बार मृत्यु के बाद उसे सब लोगों के सामने दिखाया गया और अनेक लोगों ने उसके भाग्य पर आँसू बहाये। हुमायूँ के मक़बरे में उसे दफ़ना दिया गया।

* ख़ुसरू की भाँति दारा भी प्रबुद्ध तथा सर्वप्रिय राजकुमार था। बर्नियर जिसने इन दु खद घटनाओं को अपनी आँखों से देखा था, लिखता है सर्वत्र मैने लोगों को रोते तथा अत्यधिक हृदयस्पर्शी भाषा में दारा के भाग्य पर विलाप करते देखा ... चारों ओर से मैने हृदय विदारक तथा सन्तापकारी शोरगुल सुना स्त्री-पुरुष और बच्चे ऐसे क्रन्दन कर रहे थे मानो स्वयं उन पर कोई भयङ्कर विपत्ति टूट पड़ी हो।

दारा शिकोह के लिखे हुये कई ग्रन्थ बतलाये जाते हैं (१) 'सीर उल असरार', ५० उपनिषदों का अनुवाद; (२) 'मजमुआ उल बहारैं' सूफ़ी पर्यायवाची शब्दों सहित हिन्दू वेदान्त के पारिभाषिक शब्दों पर एक ग्रन्थ; (३) 'बाबा लाल से सम्भाषण; (४) 'सफ़ीनत उल औलिया' मुसलमान सन्तों की जीवनियों का संग्रह; (५) राह सालार-इ-अरजुमा; और (६) अथर्व वेद का

फारसी अनुवाद। उसके विरुद्ध अभियोग थे (क) वह ब्राह्मणों, योगियों और सन्यासियों से वार्तालाप किया करता था, (ख) वह हिन्दू वेदों को ईश्वरीय मानता था, (ग) वह अंगूठियाँ तथा आभूषण पहना करता था जिन पर 'प्रभु' शब्द अङ्कित रहता था; और (घ) वह रमजान के रोजा आदि के सम्बन्ध में इस्लामी आज्ञाओं का उल्लंघन करता था।

बर्नियर लिखता है, 'दारा में अच्छे गुणों का अभाव नहीं था। वह वार्तालाप में नम्र, व्यंग में प्रत्युत्पन्नमति, शिष्ट तथा अत्यधिक उदार था, किन्तु अपने विषय में उसके विचार अत्यधिक ऊँचे थे; उसका विश्वास था कि मैं अपने मस्तिष्क की शक्तियों द्वारा प्रत्येक कार्य कर सकता हूँ और समझता था कि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसके परामर्श से मुझे कोई लाभ हो सके। जो लोग उसे सलाह देने का साहस करते उनके सम्बन्ध में वह घृणासूचक शब्दों में बात करता और इसीलिये उसके सच्चे से सच्चे मित्र उसके भाइयों की कुचालों की सूचना उसे देने से डरते। उसका स्वभाव बहुत क्रोधी था, उसमें धमकी देने की आदत थी, बड़े से बड़े अमीरों को गाली दे देना और उनका अपमान कर बैठना, किन्तु उसका क्रोध क्षणिक होता था। जन्म से वह मुसलमान था और अपने धर्म की रीतियों का पालन करता रहा, किन्तु यद्यपि इस प्रकार वह सार्वजनिक रूप से अपने धर्म को मानता था, लेकिन निजी जीवन में वह हिन्दुओं के साथ हिन्दू और ईसाइयों के साथ ईसाई था। उसके निकट सदैव कुछ हिन्दू पण्डित रहते जिन्हें उसने बड़ी-बड़ी निर्वाह-वृत्तियाँ दे रक्खी थीं। इसके अतिरिक्त एक बार उसने बुसी नामक एक जैसुइट की भी बातें सुनीं और उनकी सच्चाई तथा औचित्य को स्वीकार करने लगा।'

साम्राज्य का स्वर्णयुग

जिस साम्राज्य के लिये शाहजहाँ के पुत्रों ने इतना निर्मम संघर्ष किया उसका चरम विस्तार आगे चल कर औरगजेब के शासन-काल हुआ, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि उसकी जितनी समृद्धि शाहजहाँ के शासन के तीस वर्षों (१६२७–५७) में हुई उतनी फिर कभी न हो सकी। यद्यपि शाहजहाँ के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में कई विद्रोह हुए जिन्हे कुचल दिया गया; यद्यपि साम्राज्य की सीमाओं के बाहर आक्रामक युद्ध लड़े गये जिनमें अपार धन व्यय हुआ किन्तु जिनसे परिणाम कुछ भी न निकला; यद्यपि दक्खिन तथा गुजरात में दुर्भिक्ष पड़े जिनसे देश का एक भाग ऊजड़ हो गया; और यद्यपि दक्खिन में निरन्तर युद्ध चलते रहे जिनके फलस्वरूप अहमदनगर, गोलकुण्डा और बीजापुर तो अधीन हो गये किन्तु जिन्होंने साम्राज्य के साधन भी बहुत कुछ चूस लिये, फिर भी उसके युग में हमें वैभव तथा समृद्धि के स्पष्ट लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं जिनके कारण उसे साम्राज्य का स्वर्णयुग कहना सर्वथा उचित है। राय भारमल अपनी 'लुब अत तवारीख' में सराहना करते हुए लिखता है:—

सम्राट (शाहजहाँ) ने इन सुखमय दिनों में अपनी प्रजा का पालन पोषण करने के लिये सभी साधनों का प्रयोग किया वह भली भाँति जानता था कि प्रजा का हित किस में है, उसका प्रशासन चतुर तथा ईमानदार पदाधिकारियों के हाथ में था हिसाब की उचित जाँच की जाती थी, राजकीय (खालसा) भूमि तथा उसके किसानों की वह चिन्ता रखता और कृषि को प्रोत्साहन देता था, राजस्व ठीक प्रकार से वसूल किया जाता, अपराधियों, उत्पीड़कों आदि को उचित दण्ड तथा प्रताड़णा दी जाती, इन सबसे साम्राज्य की बहुत समृद्धि हुई। जिस परगने से अकबर के शासन काल में तीन लाख की आय होती उससे अब दस लाख वसूल होता, यद्यपि कुछ परगनों की आय कम भी हो गई और जो लोग सावधानी से खेती करके राजस्व में वृद्धि करते उन्हें उचित पुरस्कार दिया जाता और जो हानि पहुँचाते उन्हें दण्ड। पूर्व सम्राटों के समय में राज्य का व्यय इस समय का चतुर्थांश भी न था फिर भी सम्राट ने जितना कोष जमा कर लिया उतना इकट्ठा करने में उसके पूर्वाधिकारियों को अनेक वर्ष लगते।

योरुपीय आलोचक जो आधुनिक माप दण्ड का प्रयोग करते हैं, उपर्युक्त कथन की सत्यता को बिना हिचकिचाहट के स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं होते। यही कारण है कि हमें इस प्रकार के कथन सुनने को मिलते हैं:—

'शाहजहाँ का ३० वर्ष का (१६२७-१६५८) शासन काल बहुधा मुगल शासन का स्वर्ण-युग माना जाता है। बाहर से देखने पर वह महान् समृद्धि का काल था। वैदेशिक युद्ध बहुत कम हुए और वे भी महत्वहीन ; देश में शान्ति तथा देखने में प्राचुर्य था और शाही-कोष लबालब भरा हुआ था। किन्तु, यद्यपि शाहजहाँ को अपने पिता तथा दादा से विशाल कोष उत्तराधिकार में मिला था यद्यपि ईरान में सुदृढ़ सरकार के होने के कारण भारत तथा पश्चिमी एशिया के बीच व्यापार में खूब वृद्धि हुई यद्यपि योरुप के साथ निर्यात व्यापार होने लगा जिससे निश्चय ही मुगल साम्राज्य को कुछ लाभ हुआ, और यद्यपि अन्य प्रत्यक्ष लाभ थे, फिर भी शाहजहाँ के शासन काल ने साम्राज्य तथा उसकी आर्थिक व्यवस्था के सर्वनाश का मार्ग प्रशस्त किया।' लेखक आगे कहता है "शाहजहाँ की नौकरशाही का व्यय अत्यधिक था क्योंकि वह अन्धाधुन्ध खर्च करने की अभ्यस्त थी इसके अतिरिक्त उसने अनेक वैभवशाली कलापूर्ण भवनों का निर्माण कराया जिन्होंने तो केवल उसके शासन काल को चिरस्मरणीय बना दिया है किन्तु उस सबसे खेतिहर तथा औद्योगिक जनता के ऊपर इतना भारी आर्थिक बोझ पड़ा कि वह उसे सह न सकी, और अन्त में उसी जनता पर साम्राज्य का जीवन निर्भर था। इसी से राष्ट्रीय दिवालियापन की नींव पड़ी जो उसके उत्तराधिकारी के समय में और भी अधिक गहरी हो गई और अन्त में इस विशाल साम्राज्य के जो उसे अकबर तथा जहाँगीर से उत्तराधिकार में मिला था छिन्न भिन्न होने का एक सर्वाधिक शक्तिशाली कारण सिद्ध हुई।'

हमें शाहजहाँ के शासन के अपराधों और दोषों पर आवरण डालने की आवश्यकता नहीं, किन्तु इस युग की समृद्धि के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता और उसे स्वीकार न करना निरर्थक है। 'अपव्ययी नौकर

शाही' 'खेतिहर तथा औद्योगिक जनता के असह्य बोझों' और 'राष्ट्रीय दिवालिया-पन' की उत्पत्ति आदि की यदि हम विवेचना करने लगे तो हम ऐसे वाद-विवाद में फँस जायँगे जिसके लिये यहाँ स्थान नहीं है; किन्तु यह किसी भी प्रकार से उचित नहीं है कि शाहजहाँ को उसके उत्तराधिकारियों के पापों के लिये उत्तर-दायी ठहराया जाय। पहली बात तो यह थी कि औरंगजेब ने जो कट्टर सुन्नी था, शाहजहाँ की शानदार 'अपव्ययता' का अनुकरण नहीं किया, यही नहीं, बल्कि उसने खेतिहर जनता के हितों का पूर्ववत् ध्यान रक्खा, उसके उद्देश्य कुछ भी रहे हों, और अन्त में हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि औरंगजेब को अपने कामों के लिये अपने पिता से प्रेरणा नहीं मिली थी, उससे तो वह घृणा करता था और इसीलिए अपदस्थ करके कारागार में डाल दिया था। जिन कारणों से मुगल साम्राज्य का महान् संगठन छिन्न-भिन्न हुआ उनकी विवेचना हम आगे उपयुक्त स्थान पर करेंगे। इसी प्रकार की अनुचित तथा कटु आलोचना का एक उदाहरण और लीजिये। स्मिथ लिखते हैं :

"अधिकतर आधुनिक इतिहासकारों ने, और विशेषकर एलफिंस्टन ने, शाहजहाँ के साथ आवश्यकता से अधिक पक्षपात किया है। उसके दरबार का वैभव, उसके साम्राज्य का विस्तार तथा सम्पत्ति, उसके शासनकाल की अपेक्षाकृत शान्ति तथा उसकी महान् कलाकृति ताज का विचित्र सौन्दर्य, इन सबने मिल कर आधुनिक लेखकों की दृष्टि चकाचौंध कर दी है, और इसीलिये उनमें से अधिकतर ने उसके अपराधों पर पर्दा डाला और उसके गुणों का अतिरंजित वर्णन किया है।"

शाहजहाँ के इस 'अत्यन्त पक्षपातपूर्ण' चित्र को शुद्ध करने के उत्साह में स्मिथ ने अपनी मर्यादा का भी उल्लघन कर दिया है; और उसके अनेक गुणों पर पर्दा डाला तथा उसके अपराधों का अतिरंजित वर्णन किया है। उसका कहना है कि पुत्र, भाई, पिता और अन्त में विधुर के रूप में ही उसका चरित्र दोषपूर्ण न था, बल्कि "राज-काज में भी वह क्रूर, विश्वासघाती और सिद्धान्तहीन था," किन्तु स्मिथ को यह भी मानना पड़ा है कि "कदाचित वह अपने समय के अन्य राजाओं से अधिक बुरा नहीं था, किन्तु निसन्देह उनसे अच्छा न था।" इसके अतिरिक्त "सेनानायक के रूप में उसमें कौशल का नितान्त अभाव था," और उसकी सेना का संगठन तथा संचालन अयोग्यतापूर्ण था। शाहजहाँ का 'न्याय' भी एशिया के साधारण निरंकुश शासकों की भाँति "बर्बर, निर्मम तथा क्रूर था, न तो व्यक्तियों का ही ध्यान रक्खा जाता था और न उसमें लेशमात्र भी दया थी।" पीटर मुण्डी तथा "अन्य पर्यटक भी इसी प्रकार से देश के कुशासन का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।" बर्नियर "एक अत्यधिक चतुर निरीक्षक" था; और "एक विद्यार्थी की भाँति प्रत्येक वस्तु में जो उसने देखी, उसकी गम्भीर रुचि थी," "व्यक्तिगत रूप से उसके हृदय में शाहजहाँ अथवा औरंगजेब, किसी के प्रति न पक्षपात था और न द्वेषभाव, इसलिये "एक शत्रुतापूर्ण योरुपीय साक्षी" कह कर हम "उसकी अवहेलना नहीं कर सकते।" "उसने उस समय की देश का वास्त-

सिक दशा का वर्णन किया है जबकि मुगल साम्राज्य वैभव की चरम सीमा पर पहुँच चुका था, जब राजवंश की नींव भलीभाँति जम चुकी थी, देश में प्रचुर धन था और किसी प्रकार के बाहरी आक्रमणों का भय न था।" इतना सब कुछ कहने के उपरान्त स्मिथ महोदय ने बर्नियर के वृत्तान्त से "उत्तरी प्रान्तों की दशा के सम्बन्ध में" 'निराशाजनक' उद्धरण दिये हैं : इस प्रकार देश नष्ट तथा तबाह हो रहा है।* "दक्खिन को भी १६४४ १६५३ के युग में—औरंगजेब की पहली तथा दूसरी सूबेदारी के बीच—इसी प्रकार का सर्वनाश तथा अत्याचार भुगतने पड़े थे" इसी काल में गुजरात तथा दक्खिन दुर्भिक्ष के कारण उजड़ हो गये थे। "शाहजहाँ के शासन के प्रचलित इतिहासों में उसके दरबार के अत्यधिकतापूर्ण व्यय तथा अतुलनीय वैभव के वर्णन मिलते हैं, किन्तु वास्तव में उसकी पृष्ठभूमि में जनता के अपार कष्ट तथा विपदाएँ छिपी हुई थीं जिनका शायद ही कभी उल्लेख किया जाता हो।" इसके बाद सरकारी इतिहासकार अब्दुल हमीद के ग्रन्थ से कुछ वाक्य उद्धृत कर दिये गये हैं क्योंकि स्मिथ के मतानुसार वह इस प्रकार के अन्य लेखकों की भाँति विपत्तियों की गम्भीरता को छिपाने का प्रयत्न नहीं करता।'

किन्तु उसी लेखक ने शाहजहाँ की दयालुता तथा दानशीलता का भी वर्णन किया है स्मिथ उसका उल्लेख नहीं करते क्योंकि उनका कहना है कि "जहाँ तक मुण्डी ने देखा था दुःखी लोगों की सहायता के लिये सरकार द्वारा कुछ भी नहीं किया गया था; यद्यपि उस समय बुरहानपुर में शाहजहाँ का शिविर सब प्रकार की रसद से भरा हुआ था।" यह ठीक है कि 'इस सम्बन्ध में कोई आँकड़े नहीं मिलते" किन्तु हम में कल्पना शक्ति का तो अभाव नहीं है। यद्यपि "इसके परिणामस्वरूप जो महामारी फैली उसके वास्तविक रूप का उल्लेख नहीं मिलता।' किन्तु "इतना निश्चित है कि हैजा से अगणित लोग मृत्यु के के मुँह में चले गये होंगे।' "मुण्डी की पुस्तक के सम्पादक सर रिचार्ड टैम्पिल का यह कहना पूर्णतया उचित है कि 'इस दुर्भिक्ष के सम्बन्ध में मुण्डी के भावुकता हीन तथा नीरस वर्णन को पढ़ना आवश्यक है, क्योंकि इससे पाठकों को पता लग जायगा कि आधुनिक ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतियों का जो जीवन है वह मुगल शासन के चरम वैभव के काल के भी जीवन से कितना अधिक अच्छा है।'"†

स्मिथ के विचार कुछ भी हों एल्फिन्स्टन का यह कथन सर्वथा उचित है कि शाहजहाँ का शासन काल "भारत के इतिहास में एक सबसे अधिक समृद्ध युग था,"‌ उस समय देश में सुशासन की जितनी मात्रा थी उतनी पहिले कभी नहीं थी (अन्य

* Bernier s Travels पृष्ठ २३१।
† Oxford History of India पृ० ३०१ ५४।

को बहुधा प्राप्त नहीं होती। यद्यपि शाहजहाँ आरामपसन्द तथा आमोदप्रिय था—"फिर भी उसने आन्तरिक शासन के प्रति अपनी जागरूकता कम नहीं होने दी, इसके अतिरिक्त उसने अपने मन्त्रियों को चुनने में भी सदैव बुद्धिमानी से काम लिया और इस प्रकार शासनव्यवस्था को किसी रूप में शिथिल नहीं होने दिया, बल्कि उसमें कुछ सुधार भी किये—जैसे दक्खिन में भूमि की पड़ताल।*

* "उसके मन्त्री अत्यधिक योग्य व्यक्ति थे। सादुल्ला 'अलामी जो धर्म परिवर्तित हिन्दू था, अपने युग का सबसे अधिक ईमानदार राजनीतिज्ञ माना जाता था; और अली मर्दान तथा आसफखाँ की ईमानदारी तथा कर्मशीलता भी सर्वमान्य थी। (लेनपूल. Aurangzeb, पृष्ठ १५)।

दक्खिन में प्रशासनीय सुधार औरंगजेब तथा मुर्शिद कुली खाँ का काम था। उस समय औरंगजेब दक्खिन का सूबेदार था। मुर्शिद कुली खुरासान का निवासी था और कान्धार के ईरानी किलेदार अलीमर्दानखाँ के साथ भारत आया था। कहा जाता है कि उसमें 'एक सैनिक का पराक्रम और असैनिक पदाधिकारी की प्रशासन-सम्बन्धी योग्यता विद्यमान थी।'

औरंगजेब के पूर्वाधिकारियों के कुशासन के कारण कोष तथा राजस्व में भारी कमी हो गई थी। "इस समय दक्खिन के सैनिक तथा असैनिक व्यय में प्रति वर्ष २०,३६,००० रुपये का घाटा पड़ता था; इसमें वह वेतन नहीं सम्मिलित था जो पदाधिकारियों को अपनी जागीरों से मिलता था, इस घाटे की पूर्ति दक्खिन के कोषों में जमा धन से की जाती थी।......—शाहजहाँ ने औरंगजेब को दक्खिन का सूबेदार नियुक्त करते समय किसानों की उन्नति तथा कृषि के विस्तार की ओर विशेष ध्यान देने का आदेश दिया था। औरंगजेब ने इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिये भरसक प्रयत्न करने का वचन दिया था।... नये दीवान ने दक्खिन में टोडरमल का बन्दोबस्त प्रचलित किया। सबसे पहले उसने बिखरी हुई रैयत को एकत्र करने तथा गाँवों में शान्तिमय और सुव्यवस्थित जीवन पुन: स्थापित करने के लिए कठिन परिश्रम किया, और इसके लिये रैयत को बसाया तथा पदाधिकारी नियुक्त किये। प्रत्येक स्थान पर बुद्धिमान अमीन तथा ईमानदार पड़ताल करने वाले भेजे गये, उनका काम था भूमि की नाप करना, खेतों के क्षेत्रफल (रकबा) का अभिलेख तैयार करना और उपजाऊ भूमि को पथरीली भूमि तथा जलमार्गों से पृथक दिखलाना। जिस गाँव में मुकद्दम नहीं था उसमें उसने ऐसे व्यक्तियों में से नया मुकद्दम नियुक्त किया, जिनके चरित्र को देखते हुए आशा की जाती थी कि वे तत्परता के साथ कृषि की उन्नति में योग देंगे और रैयत की सहानुभूतिपूर्वक रक्षा करेंगे। गरीब रैयत को पशु, बीज तथा कृषि सम्बन्धी अन्य आवश्यक सामग्री खरीदने के लिये राजकोष से तकावी बाँटी गई, और वह धन उनसे फसल पर किश्तों में वसूल किया गया।"

बन्दोबस्त को प्रत्येक स्थान की आवश्यकताओं के अनुकूल ढालना, उसका दूसरा

एलफिंस्टन आगे लिखते हैं, "खाफी खाँ का जो इस युग का सबसे अच्छा इतिहासकार है मत है कि विजेता तथा व्यवस्थापक के रूप में अकबर सर्वश्रेष्ठ था, किन्तु जहाँ तक राज्य की व्यवस्था तथा सुप्रबन्ध, वित्त, तथा प्रत्येक विभाग के सुप्रशासन का सम्बन्ध है, भारत में कभी कोई ऐसा शासक नहीं हुआ जिसकी तुलना शाहजहाँ से की जा सके।

"आगरा का वर्णन करते हुए मडलस्लो लिखता है कि नगर इस्फहान (जो उस समय वैभव की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था) से दुगना बड़ा है और सुन्दर सड़कों, अच्छी दूकानों और अनेक स्नानागारों तथा कारवाँ सरायों से सुशोभित है पर समृद्धि राजमहलों तक ही नहीं सीमित थी सभी पर्यटक नगरों के वैभव की—दूरस्थ प्रान्तों में भी—तथा उर्वरा और उपजाऊ प्रदेशों की जिनमें वे स्थित थे, प्रशंसा करते हैं।

"जो लोग आज के भारत की दशा देखते हैं उन्हें सन्देह हो सकता है कि ऐसा लेखकों ने पूर्व समृद्धि की जो प्रशंसा की है वह अतिरंजित है; किन्तु ध्वस्त नगर, विनष्ट महल, अवरुद्ध जलमार्ग जो अभी तक देखने को मिलते हैं, जंगलों के भीतर विशाल जलाशय तथा बाँध, पानी और दलदलों के ऊपर से जाने वाली सड़कें, कुएँ, राजमार्गों पर स्थित कारवाँसराएँ—ये वस्तुएँ तथा तत्कालीन पर्यटकों के वर्णन हमें विश्वास दिलाते हैं कि इतिहासकारों की प्रशंसा का उचित आधार था।"

'भारत में जितने राजा हुए हैं उनमें शाहजहाँ सबसे अधिक वैभवशाली था। उसके नौकर चाकर, उसके राजकीय संस्थापन, उसके दान पारितोषिक और उसके दरबार की सजधज उस के पूर्वाधिकारियों के समय से कहीं अधिक बढ़ गई थी। उसके इन विभागों में जो व्यय होता था उसके पक्ष में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसके कारण न तो उसे करों में ही वृद्धि करनी पड़ी और न उसे किसी प्रकार की आर्थिक उलझनें ही उसके सामने उपस्थित हुई।

"यद्यपि यौवन में शाहजहाँ का चरित्र मिलनसार नहीं था, फिर भी सिंहासन पर बैठने के बाद उसका आचरण दोषरहित रहा। अपनी प्रजा के प्रति उसका व्यवहार दयापूर्ण तथा पितृवत था, और उसके संपर्क रहने वालों के प्रति उसकी भावनाएँ उदार थीं, इसका सबसे बड़ा प्रमाण है अपने पुत्र में उसका अटूट विश्वास (जैसा कि पूर्वीय राजाओं में बहुधा नहीं पाया जाता है)।' (एलफिंस्टन—पृष्ठ ६०१)।

सुधार था। तीसरे "प्रति बीघा निश्चित रकमों के रूप में राजस्व निर्धारित कर दिया गया और वसूल करने से पहले यह देख लिया जाता था कि बोने के समय से कटने तक फसल कितनी और किस प्रकार की हुई है बाजार-मूल्य क्या है और बोई हुई भूमि का वास्तविक क्षेत्रफल कितना है। मुगल दक्खिन के सूबों में यही व्यवस्था प्रचलित हो गई और बाद में शताब्दियों तक मुर्शिद कुली की धारा के नाम से प्रसिद्ध रही। उसकी उत्कृष्ट व्यवस्था, निरन्तर जागरूकता तथा निजी देख रेख के परिणामस्वरूप कृषि में उन्नति हुई और कुछ ही वर्षों में राजस्व में वृद्धि हो गई।" (सरकार : A Short History of Aurangzeb पृष्ठ ३६ ३९)।

निष्पक्ष दर्शकों के सर्वसम्मत निर्णय तथा तथ्यों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि शाहजहाँ का उपर्युक्त चित्र अतिरञ्जित अथवा "अत्यन्त पक्षपात-पूर्ण" है। टैवर्नियर जिसने भारत के अधिकतर भागों का बारम्बार पर्यटन किया था, लिखता है कि शाहजहाँ ने 'ऐसे शासन नही किया जैसे कि एक राजा अपनी प्रजा पर करता है, वल्कि जैसे पिता अपने परिवार तथा पुत्रों पर करता है।' आगे वह उसकी कठोर प्रशासन-व्यवस्था की तथा उसके अन्तर्गत जनता को प्राप्त सुरक्षा की प्रशंसा करता है। पीट्रो डैला वैली जिसने जहाँगीर के अन्तिम वर्षों में लिखा था (१६२३) जब कि देश की दशा उसके पुत्र के समय से कहीं अधिक शोचनीय थी, लिखता है—'इसलिये सभी लोग सामान्यतया भली-भाँति रहते हैं; और वे निश्चिन्त होकर ऐसा करते हैं, क्योंकि राजा झूठे अभियोग लगा कर प्रजा पर अत्याचार नहीं करता और न उन्हे ठाट-वाट से तथा धनिकों की भाँति रहते देख कर उनकी किसी वस्तु का ही अपहरण करता है, (जैसा कि अन्य मुस्लिम देशों में बहुधा होता है)।'

यहाँ तक कि बर्नियर ने भी शाहजहाँ के शासन-काल में बंगाल की समृद्धि के विषय में लिखा है —

बंगाल में जीवन की आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु का बाहुल्य है, और इसी बाहुल्य के कारण पुर्तगालियों, वर्णशंकरों तथा अन्य ईसाइयों ने जिन्हें डच लोगों ने अपने विभिन्न उपनिवेशों से मार भगाया है, आकर इस राज्य में शरण ली है। जैसुइटों तथा ऑगस्टाइन के अनुयायियों ने जिनके बडे-बडे गिरजे हैं और जिन्हे निर्विघ्न अपने धार्मिक नियमों का पालन करने की स्वतन्त्रता है, मुझे विश्वास दिलाया कि केवल हुगली में ही आठ-नौ हजार ईसाई हैं और राज्य के अन्य भागों में उनकी संख्या पच्चीस हजार से भी अधिक है। देश की समृद्धि तथा सम्पन्नता और यहाँ की स्त्रियों के सौन्दर्य तथा सुशील स्वभाव के कारण पुर्तगालियों, अँग्रेजों और डचों में एक कहावत प्रचलित हो गई है कि इस देश में प्रवेश करने के सौ द्वार हैं और बाहर निकलने का एक भी नहीं।

जहाँ तक विदेशी व्यापारियों को आकृष्ट करने वाली बहुमूल्य व्यापारिक वस्तुओं का सम्बन्ध है, मैंने ऐसा कोई देश नहीं देखा है जहाँ इतने प्रकार की चीजें मिल सकें। चीनी के अतिरिक्त······बंगाल मे रेशम तथा रुई इतनी अधिक मात्रा में मिलती है कि इस राज्य को हिन्दुस्तान अथवा मुगल साम्राज्य की ही नहीं वल्कि निकटवर्ती देशों और यहाँ तक योरुप के लिये भी इन दो वस्तुओं की मण्डी कहा जा सकता है। केवल हालैंड वाले ही इस देश मे विभिन्न स्थानों को और विशेषकर जापान तथा योरुप को इतना हर प्रकार का सूती कपडा—मोटा तथा बढिया, सफेद तथा रंगीन—भेजते हैं कि कभी-कभी मुझे यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। अँग्रेज, पुर्तगाली तथा देशी व्यापारी भी इन वस्तुओं का पर्याप्त व्यापार करते हैं। यही बात रेशम तथा रेशमी वस्त्रों के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। यह अनुमान लगाना असम्भव है कि बंगाल से सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य के लिये, यहाँ तक कि लाहौर और काबुल तक, तथा विदेशी

राष्ट्रों को प्रति वर्ष कितनी मात्रा में सूती वस्त्र जाते हैं। कासिमबाज़ार में डचों का जो रेशमी कपड़े का कारखाना है उसमें कभी-कभी सात-आठ सौ देशी कारीगर काम पर लगाये जाते हैं और इसी प्रकार अँग्रेजों तथा अन्य व्यापारियों के कारखानों में भी उसी अनुपात से।

बंगाल शोरे की भी मुख्य मन्डी है। गंगा द्वारा उसे बड़ी सुविधा से ले जाया जाता है और अँग्रेज तथा डच भारी मात्रा में उसे पूर्वी द्वीप समूह के अनेक भागों तथा योरप को भेजते हैं।

अन्त में, लाख अफीम, मोम, सुगन्धित पदार्थ पीपल तथा अन्य वस्तुएँ भी इसी सम्पन्न राज्य में मिलती हैं और मक्खन का यहाँ इतना प्राचुर्य है कि यद्यपि वह बाहर भेजने के लिये बहुत भारी पड़ता है, फिर भी समुद्र द्वारा उसे अगणित स्थानों को भेजा जाता है।*

शाहजहाँ का न्याय—मनूची ने लिखा है कि जब उसका स्वामी वेलामोंट (जो मुगल दरबार में निर्वासित चार्ल्स द्वितीय का राजदूत था) मर गया तो दो अंग्रेज छोकरियों ने शाही पदाधिकारी होने का बहाना किया और साम्राज्य में आये हुए उस परदेशी का सब सामान हड़पना चाहा। जब शाहजहाँ को इस बात का पता लगा तो उसने आज्ञा दी कि मृत राजदूत की सम्पूर्ण सम्पत्ति उसके उचित अधिकारी को सौंप दी जाय; केवल अरबी घोड़ा उसने 'स्वयं अपने लिये रख लिया और उस पूर्वोक्त जॉन (युंग) को एक हजार पटका (१००० रु०) दिलवा दिये; यही मूल्य उसका कूता गया था। इसको (घोड़े को) छोड़ कर जो उसके भाग्य में बदा था, उसने और कुछ नहीं लिया।' एक अज्ञात विदेशी के प्रति इस प्रकार के आचरण से तो यही प्रकट होता है कि सम्राट के हृदय में सभी लोगों के प्रति न्याय तथा ईमानदारी की भावना थी। बर्नियर ने भी लिखा है कि 'हिन्दुस्तान में प्रत्येक एकड़ भूमि राजा की सम्पत्ति समझी जाती है और एक किसान को लूटने का अर्थ होता है राजा के राज्य पर डाका डालना।' निष्पक्ष योरुपियों के इन कथनों को ध्यान में रखते हुए शाह आलम ने शाहजहाँ के न्याय प्रशासन की जो प्रशंसा की है उसे समझना कठिन नहीं:—

यद्यपि यह देश इतना बड़ा है फिर भी फरियादें इतनी कम थीं कि सप्ताह में केवल एक दिन—बुधवार—न्याय के लिये रक्खा गया था तब भी ऐसा बहुत कम होता था कि बीस फरियादी भी मुकद्दमे दायर करते सामान्यतया संख्या इससे बहुत कम रहती थी। इस ऐतिहासिक वृत्तान्त के लेखक को अनेक बार सम्राट से मिलने का सम्मान प्राप्त हुआ और जब जब वह दरबार में उपस्थित हुआ तो उसने सम्राट को दरबार के दरोगा को बुरा भला कहते सुना कि फरियादियों को बुलाने के लिये इतने गुप्तचर नियुक्त किये गये हैं और सप्ताह में एक दिन पूरा न्याय करने के लिये दो

---

* Travels, पृष्ठ ४१८-४०।

निश्चित कर दिया गया है, फिर भी दरबार में बीस फरियादी तक नहीं उपस्थित होते।... संक्षेप में, राजा राष्ट्रीय सुख तथा सार्वजनिक शान्ति का इतना ध्यान रखता था कि लोग एक दूसरे के विरुद्ध अपराध करने तथा समाज की शान्ति भग करने से डरते थे। किन्तु यदि अपराधियों का पता चल जाता तो स्थानीय पदाधिकारी जहाँ अपराध होता वहीं कानून के अनुसार और न्यायाधिकारियों की अनुमति से उन पर मुकदमा चलाते और निर्णय देते, और यदि कोई व्यक्ति अपने मुकदमे के फैसले से सन्तुष्ट न होता तो वह सूबेदार, अथवा दीवान अथवा सूबे के काजी के यहाँ अपील करता, और मामले को पुनः जाँच की जाती तथा फैसला बड़ी सावधानी और विवेक से किया जाता जिससे कहीं ऐसा न हो कि कोई सम्राट के सामने जिक्र कर दे कि न्याय नहीं हुआ है। यदि दोनों पक्षों को इन निर्णयों से भी सन्तोष न होता तो वे कानूनी प्रश्न पर मुख्य दीवान अथवा मुख्य काजी के यहाँ अपील करते। ये पदाधिकारी पूरी सावधानी के साथ फिर छान-बीन करवाते और देखते कि रक्त तथा धर्म सम्बन्धी विषयों को छोड़ कर ऐसे कौन से मुकदमे हो सकते हैं जिन्हें सम्राट के सम्मुख उपस्थित करना आवश्यक है।'

मोरलैण्ड ने लिखा है कि शाहजहाँ का शासन-काल (कृषकों) के लिये 'शान्ति का युग' था, यद्यपि उसके उत्तराधिकारी के शासन के प्रारम्भिक दिनों में किसानों की दशा बिगड़ गई थी। शाहजहाँ के समय में इस समृद्धि का कारण उसका "सावधानीपूर्ण प्रशासन" था जिससे राज्य की आय में अपूर्व वृद्धि हो गई थी। कुछ लेखकों ने राय भारमल के साक्ष्य की इस आधार पर उपेक्षा की है कि जिन मामलों का उसने उल्लेख किया है उनके सम्बन्ध में शाहजहाँ के वास्तविक अध्यादेश कहीं ढूँढ़े नहीं मिलते। मोरलैण्ड ने 'लुब्बुतवारीख' के रचयिता को "परवर्ती लेखक" कह कर टाल दिया है, किन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि राय भारमल स्वयं लिखता है कि 'इस ऐतिहासिक वृत्तान्त के लेखक को अनेक बार राजा (शाहजहाँ) से भेंट करने का सम्मान प्राप्त हुआ था।' इसलिये हमें दुहराना पड़ता है कि उसके वृत्तान्त से शाहजहाँ के प्रशासन की सुयोग्यता, उदारता तथा साम्राज्य की समृद्धि का स्पष्ट प्रमाण मिलता है।

इस समृद्धि की सीमा का सही अनुमान लगाना असम्भव है। इसलिये नीचे हम उसके कुछ स्पष्ट लक्षणों का उल्लेख करेंगे जिससे पाठक स्वयं अपने निर्णय पर पहुँच सकेंगे :—

(१) १६४७ ई० में शाहजहाँ ने पैगम्बर के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के हेतु एक रत्नजटित दीवट उसकी पुण्य समाधि के लिये भेजा, जिसका वृतान्त यहाँ दिया जाता है।... उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति में जितने भी दीवट थे उनमें से उसने एक सबसे बड़ा छाटा जिसका भार ७०० तोला और मूल्य १०,००० रुपया था, और आज्ञा दी कि इसे सुनहरी जाली से ढक कर चारों ओर पुष्पों से अलकृत कर दिया जाय और रत्न जड़ दिये जायँ और वह बहुमूल्य हीरा भी उसमें लगा दिया जाय।* संक्षेप में उस

* यह हीरा कर के अश के रूप में गोलकुण्डा से प्राप्त हुआ था और उसका भार

अद्वितीय दीवट का मूल्य २,५०,००० रुपये था जिसमें से १,५०,००० रुपये का तो वह हीरा ही था और शेष एक लाख रत्नों, सोने तथा मूल दीवट की कीमत थी। मीर सैयद अहमद सैयद बहारी को जो एक बार पहले दो पवित्र नगरों के लिये उपहार ले गया था, इस भेंट को ले जाने का भार सौंपा गया और एक आदेश जारी किया गया कि गुजरात प्रान्त के राजस्व वसूल करने वाले १,६० ००० रुपये की सामग्री उस पवित्र समाधि के लिये खरीद कर उसे दे दें जिससे वह उसे अपने साथ वहाँ ले जा सके। उसे आज्ञा दी गई कि उसमें से ५ ,० ० रुपये के मूल्य का सामान मक्का के काजी को भेंट करे ६० ००० के मूल्य का सामान बेच दे और उससे जो धन तथा लाभ प्राप्त हो उसको मक्का के दरिद्र लोगों में बाँट दे और इसी प्रकार शेष ५ रुपया पवित्र मदीना के लोगों में बाँट दे। पूर्वोक्त सैयद को केवल एक दैनिक निर्वाह वृत्ति मिलती थी, अब उसे उपयुक्त मंसब प्रदान कर दिया गया और एक सम्मानसूचक वस्त्र तथा १२ ००० रुपये नकद भेंट देकर विदा किया गया।

(२) यद्यपि उसके शासन काल में राज्य के व्यय में अपेक्षाकृत वृद्धि हो गई थी, फिर भी सार्वजनिक इमारतों तथा अन्य निर्माण कार्यों पर और वैतनिक सैनिक सेवा तथा संस्थापनों पर जैसे बलख बदख्शाँ और कन्धार में, केवल एक बार में जो धन व्यय किया गया वह १४ करोड़ रुपये था और केवल इमारतों के लिये जो अग्रिम दिये गये थे मिला कर २,५० ०,००० रुपये थे। खर्च के केवल इसी एक उदाहरण से अनुमान लगाया जा सकता है कि अन्य कार्यों पर कितना व्यय होता होगा।'

(३) 'अनेक वर्षों में शाही रत्नागारों में बहुत से बहुमूल्य रत्न एकत्र होगये थे, उनमें से प्रत्येक शुक्रगृह का कर्णफूल बनने अथवा सूर्य की मेखला को सुशोभित करने योग्य था। राज्याभिषेक के समय सम्राट के मन में विचार उठा कि दूरदर्शी पुरुषों के मतानुसार ऐसे अनमोल रत्नों को प्राप्त करने और ऐसे आश्चर्यजनक हीरों को रखने से केवल एक लाभ हो सकता है—उनसे साम्राज्य के सिंहासन को सुशोभित किया जाय। इसलिये उनका ऐसा उपयोग किया जाय कि दर्शक भी उनकी कान्ति से आनन्द उठा सकें और सम्राट को आभा और भी अधिक देदीप्यमान हो सके। तदनुसार आज्ञा दी गई कि शाही रत्नागार में जो रत्न हैं उनके अतिरिक्त २० लाख रुपये के मूल्य के लाल, रुकमखियाँ हीरे मोती तथा नीलम सम्राट के समक्ष निरीक्षण के लिये प्रस्तुत किये जायें, और फिर वे तथा उत्तम कोटि के कुछ अन्य भारी रत्न जिनका भार ५०,००० मिस्काल से अधिक हो और १४ लाख रुपये सावधानी से छाँटकर स्वर्णकार विभाग के अध्यक्ष बेबदलखाँ के सुपुर्द कर दिये जायें। उसे एक लाख तोला शुद्ध सोना जिसका भार २ ५०,००० मिस्काल तथा मूल्य १४ लाख रुपया था और दिया गया। सिंहासन (जिसके

१८० रत्ती था। 'जब सम्राट के जौहरियों ने उसके सौन्दर्य को पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष करने के लिये उसके बाहरी धरातल की बहुत कुछ काँट छाँट करदी, तब भी वह १ ० रत्ती का एक अनमोल रत्न बच रहा और जौहरियों ने उसका मूल्य १,५०,००० रुपये आँका।' इनायतखाँरचित 'शाहजहाँनामा', इलियट और डाउसन, ७ पृष्ठ ८४।

बनाने की आज्ञा दी गई) की लम्बाई ३ गज, चौड़ाई २½ गज और ऊँचाई ५ गज निश्चित की गई और उपर्युक्त रत्नों को उसमें जड़ने का आदेश दिया गया। छत्र के बाहरी भाग को मीने का बनाने तथा उसमें बीच-बीच में रत्न जड़ने और भीतरी भाग को लालों, रक्त-मणियों तथा अन्य रत्नों से गूँथ कर सजाने को तथा उसमें बारह नीलम के खम्भे लगाने को कहा गया। यह निश्चय किया गया कि प्रत्येक खम्भे के सिरे पर दो सघन रत्नजटित मयूर हों और दो मयूरों के नीचे एक वृक्ष बनाया जाय जिसमें लाल, हीरे, नीलम और मोती जड़े हों, चढ़ने के लिये तीन सीढ़ियाँ बनी हों जिनमें सुन्दर कान्ति के रत्न जड़े हों। यह सिंहासन सात वर्ष में बन कर तैयार हुआ और उसके निर्माण में १०० लाख रुपये लगे।'

(४) 'दिल्ली के निकट यमुना नदी के किनारे पर पूर्वोक्त राजधानी में जो शानदार किला बनाया गया और जिसमें स्वर्ग जैसे सुन्दर भवन थे, उसके शिलान्यास का ठीक-ठीक वृतान्त नीचे दिया हुआ है ... इसके बाद नींव खोदने के लिये परिश्रमी मजदूर लग गये और शुक्रवार ९ मुहर्रम १०४९ हिज्री को (१६३९ ई०) उस महान् दुर्ग का शिलान्यास किया गया। शाही राज्य भर में जहाँ कहीं भी कारीगर—सादा पत्थर काटने वाले, पत्थर पर नक्काशी करने वाले, राज, बढ़ई आदि—मिले उन सबको शिरोधार्य आज्ञा देकर एकत्र किया गया और साधारण मजदूरों की एक विशाल संख्या भर्ती की गई। अन्त में उसके शासन के इक्कीसवें वर्ष मे, १४ रबी उल-अव्वल १०५८ हिज्री को वह पूरा हुआ, उसमें ६० लाख रुपये व्यय हुये और ९ वर्ष, ३ महीने तथा कुछ दिन बनने में लगे।'

(५) ताजमहल सर्वसम्मति से संसार का सबसे अधिक प्रशंसनीय स्मारक है, उसमें शाहजहाँ की प्रिय रानी मुमताज महल के जिसकी मृत्यु बुरहानपुर में मंगलवार, ७ जून १६३१ (१७ जिलकदा, १०४० हिज्री) को हुई थी, अस्थि-अवशेष प्रतिष्ठित हैं, उसका निर्माण आगरा नगर के दक्षिण में राजा जयसिंह से खरीदी हुई भूमि पर किया गया था, और 'दीवाने-अफ्रीदी' के अनुसार उसके बनने में ९ करोड़ और १७ लाख रुपये व्यय हुये थे। मुकर्रमतखाँ और मीर अब्दुल करीम की देख-रेख में १६३२ के आरम्भ में उसकी नींव रक्खी गई थी और जनवरी १६४३ मे वह पूरा हुआ था। 'दीवाने-अफ्रीदी' में उन शिल्पियों के नाम भी दिये हुये हैं जिन्होंने उसके निर्माण में काम किया था:—

"कान्धार का अमानतखाँ शीराजी जिसने तुम्र के उत्कीर्ण लेख लिखे थे, आगरा का राज उस्ताद ईसाखाँ, दिल्ली निवासी बढ़ई उस्ताद पीरा, दिल्ली के संगतराश बानुहर, झाटमल और जोरावर, गुम्बद तथा उसको साधने वाले ढाँचे का बनाने वाला इस्माइलखाँ रूमी, और माली राममल काशमीरी।'

मानरिक और डी कैस्ट्रो नामक दो तत्कालीन जैसुइट पादरियों के साक्ष्य के आधार पर स्मिथ ने इटली निवासी जैरोनिमो विरोनियो को ताज का निर्माणकर्ता बतलाया था, हाल में फादर हैरास ने भी इसी मत की पुष्टि की है। विरोनियो वैनिस का एक जौहरी था और लाहौर में २ अगस्त १६४० को उसकी मृत्यु होगई

थी। ऐसा प्रतीत होता है कि फादर मानरिक को यह सूचना फ़ो बैस्ट्रो (आगरा के जैसुइट कॉलिज का रैक्टर) से मिली थी जिसने विरोनियो का अन्तिम संस्कार किया था। मानरिक लिखता है—

इस भवन को बनाने वाला शिल्पी जैरोनिमो विरोनियो नामक एक वैनिस निवासी था जो एक पुर्तगाली जहाज़ में इस देश में आया था, और मेरे पहुँचने से ठीक पहले उसकी मृत्यु होगई थी।

सम्राट उसे भारी वेतन देता था। ख्याति के कारण जो अच्छे तथा बुरे समाचार को शीघ्रता से फैला देती है यह कहानी प्रचलित होगई थी कि सम्राट ने उसे बुलाया और कहा कि मैं अपनी स्वर्गीय पत्नी के लिये एक सुन्दर स्मारक बनवाना चाहता हूँ, तुम इसके लिये नक्शे तैयार करो और निरीक्षण के लिये मेरे सामने उपस्थित करो।

'शिल्पी विरोनियो ने इस आज्ञा का पालन किया और कुछ ही दिनों में स्थापत्य के कई अत्यन्त सुन्दर नमूने तैयार करके इस कला में अपनी कुशलता दिखला दी। उसके नक्शों को देख कर सम्राट प्रसन्न हुआ। किन्तु उसने व्यय का जो अनुमानिक विवरण दिया था वह बहुत कम था, उसे देख कर सम्राट अपने बर्बरतापूर्ण अहंकार तथा अज्ञान के कारण बहुत अप्रसन्न हुआ, और कहा जाता है कि क्रुद्ध होकर उसने विरोनियो को तीन करोड़ रुपया अथवा ३ लाख व्यय करने की आज्ञा दी और कहा कि जब यह धन खर्च हो जाय तब मुझे सूचना दो। यह रकम इतनी भारी है कि कोई भी व्यक्ति इससे घबरा जायगा। किन्तु जैसा कि लोग कहा करते थे, मक़बरे को सोने की चादरों से ढकने का निश्चय किया गया था जैसे कि वह पात्र ढका गया था जिसमें सम्राज्ञी के अस्थि अवशेष रखे थे उस दशा में यह खर्च आश्चर्यजनक नहीं था।'

स्लीमैन* ने एक दूसरे योरुपीय निर्माणकर्त्ता का नाम बतलाया है। उसका कहना है कि फ्रान्सीसी इन्जीनियर ऑस्टिन दी बोर्डो ही दस्तकार ईसाई था।

सर जॉन मार्शल तथा ई० बी० हैविल ने इन मतों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि जिस ऐतिहासिक साक्ष्य पर ये मत आधारित हैं वह विश्वसनीय नहीं है, इसके अतिरिक्त भवन की शैली में ऐसे आन्तरिक प्रमाण विद्यमान हैं जिनसे उपर्युक्त मतों का खण्डन होता है। आर्थर यू० पोप ने स्थिति स्पष्ट कर दी है—"यह विश्वास कि ताजमहल एक इटली निवासी ने बनाया था, बच्चों की कहानी मात्र है।"

(६) अमीरों ने कितना धन एकत्र कर लिया था इसका अनुमान आसफ़ख़ाँ की सम्पत्ति से लगाया जा सकता है जो उसने १६४१ ई० में अपनी मृत्यु के समय छोड़ी थी, किन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि आसफ़ख़ाँ सम्राट का सम्बन्धी था इसलिये साम्राज्य में उसकी अद्वितीय स्थिति थी। 'बादशाह नामा' में लिखा है—

* Rambles and Recollections

'जिस उच्चपद तथा प्रतिष्ठा पर वह पहुँच गया था वह उससे पहले राज्य के किसी अन्य सेवक को नहीं उपलब्ध हुई थी। सम्राट के महान् अनुग्रह के फलस्वरूप उसे [illegible] जात तथा ९,००० सवार—दो अस्पा तथा सिह अस्पा—संसब मिला हुआ था जिनका वेतन होता था २६ करोड़ तथा २० लाख दाम। इन सबका वेतन चुका देने पर उसके पास ५० लाख रुपया अपने व्यय के लिये बच रहता था।'........'लाहौर में उसने अपने लिये २० लाख रुपये की लागत का एक महल बनवाया था, इसके अतिरिक्त उसने २ करोड़ ५० लाख रुपये के मूल्य की अन्य सम्पत्ति छोड़ी थी—तीस लाख रुपये के रत्न, ३ लाख अशर्फियाँ जिनका मूल्य ४२ लाख रुपया होता था, १ करोड़ २५ लाख रुपये नकद, ३० लाख के सोने और चाँदी के बर्तन तथा २३ लाख की अन्य वस्तुयें।'

सम्राट तथा अमीरों की यह विशाल धन-राशि जिसे वे युद्ध तथा भोग-विलास में व्यय किया करते थे, दरिद्र किसानों को लूट-खसोट कर नहीं एकत्र की गई होगी। शाहजहाँ के शासन में जो विद्रोह हुये वे केन्द्रीय अथवा स्थानीय शासकों के तथाकथित उत्पीड़न के विरुद्ध प्रतिक्रिया नहीं थे, उनका मुख्य कारण तो उस युग के अमीरों की स्वाभाविक महत्वाकांक्षायें थीं। हुगली में पुर्तगालियों का द्रोहपूर्ण आचरण ही केवल इसका प्रतिवाद था, किन्तु उन्होंने तो स्वयम् उत्पीड़न तथा लूट खसोट करके साम्राज्य से युद्ध मोल ले लिया था।

मनूसी ने अनेक स्थानों पर लिखा है कि उसे धन तथा सुरक्षा साम्राज्य के भीतर ही मिल सकती थी, इसके विपरीत योरोपीय बस्तियों में उसे सदैव ठगी तथा जीवन के लिये संकट का सामना करना पड़ता था। एक स्थान पर वह लिखता है, 'इस मामले से ओरस [illegible] नामक पुर्तगाली बहुत क्रुद्ध हुआ (एक शाही न्यायालय ने मनूसी को कुछ धन दिलवा दिया था जो न्याय की दृष्टि से उसे मिलना चाहिये था) और खेद प्रकट करने की अपेक्षा मेरी हत्या करने का प्रयत्न किया। वह सफल नहीं हुआ, इसका कारण यह था कि गोआ में मैं टिका नहीं और फिर लौट कर मुगल राजा के यहाँ नौकरी कर ली।' पुर्तगालियों के बारे में वह लिखता है, 'ये नीच लोग बिना किसी हिचकिचाहट के विदेशियों को ठगते और प्रसन्न होते हैं।' दरिद्रों तथा असहाय लोगों की सहायता के पुण्य कार्य के लिये भी उसे पुर्तगाली बस्तियों में इतनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता न मिल सकी जितनी कि मुगल साम्राज्य में।

इसमें सन्देह नहीं कि आज की तुलना में मध्य युग समस्त संसार में अव्यवस्था का काल था, मार्ग सुरक्षित न थे और बहुधा डकैतियाँ होती रहती थीं। किन्तु शाहजहाँ ने साम्राज्य के भीतर यातायात को सुरक्षित बनाने के लिये सामर्थ्य भर प्रयत्न किया, इसके लिये एक उपाय यह किया गया कि साम्राज्य भर की सरायों में सभी प्रकार की आवश्यक सामग्री एकत्र कर दी गई।

मनूसी लिखता है, 'सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य में यात्रियों की सुविधा के लिये प्रत्येक मार्ग पर सरायें बनी हुई हैं। रक्षा के लिये उनमें बुर्ज हैं और सुदृढ फाटक लगे रहते हैं, इसलिये देखने में वे किलों के समान लगती हैं, उनमें से अधिकतर पत्थर अथवा ईंट की

बनी हुई हैं। प्रत्येक सराय में एक पदाधिकारी रहता है, जिसका काम है सूर्यास्त होने पर फाटक बन्द कर देना। फाटक बन्द करने के उपरान्त वह चिल्ला कर कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सामान के विषय में सावधान रहे घोड़ों की दुर्भाग—निगाह लगा दे और विशेषकर कुत्तों से बचें क्योंकि हिन्दुस्तान के कुत्ते बहुत ही चतुर तथा बड़े तेज़ होते हैं।

'प्रात काल ६ बजे फाटक खुलने से पहले चौकीदार ज़ोर से चिल्लाकर यात्रियों को तीन बार चेतावनी देता है कि वे अपने सामान को सम्भाल लें। इसके बाद यदि किसी को सन्देह होता है कि उसकी कोई चीज़ खो गई है तो जब तक वह मिल नहीं जाती, फाटक नहीं खुलते। इस प्रकार से वे निश्चय ही चोर को पकड़ लेते हैं और वह सराय के सामने लटका दिया जाता है। इसलिये जब चोरों को पता लगता है कि शिकायत कर दी गई है तो वे सामान को कहीं डाल देते हैं ताकि पकड़े न जाँय।

ये सरायें केवल यात्रियों के लिये हैं। (सैनिक उनमें प्रवेश नहीं करते)। उनमें से प्रत्येक इतनी बड़ी है कि उसमें ८०० से १, ●०० आदमी तथा उनके घोड़े ऊँट गाड़ियाँ ठहर सकती हैं और उनमें से कुछ तो इससे भी बड़ी हैं। उनमें अलग अलग कमरे, हाल और बरामदे बने हुए हैं भीतर आँगन में वृक्ष लगे हैं भोजन-सामग्री की दूकाने हैं और भटियारे तथा भटियारिनों के रहने के लिये अलग अलग घर बने हैं वे लोग यात्रियों के लिये कमरे तथा चारपाइयाँ ठीक करते हैं।'

दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता—शाहजहाँ के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में शाही-कोष में इतना धन न था जितना कि बाद में जमा होगया, फिर भी दुर्भिक्ष पीड़ितों की सहायता के लिये उसने अनेक कार्य किये; यहाँ उनका उल्लेख कर देना आवश्यक है। लाहौरी लिखता है:—

"परम दयालु तथा दानशील सम्राट ने बुरहानपुर, अहमदाबाद तथा सूरत प्रदेश के अधिकारियों को आज्ञा दी कि दरिद्र तथा असहाय लोगों की सहायता के लिये भोजनालय खोले जायें हिन्दुस्तान की भाषा में वे लंगर कहलाते हैं। प्रतिदिन भूखों को खिलाने के लिये बहुत सा शोरबा तथा रोटियाँ तैयार की जाती थीं। इसके अतिरिक्त यह भी आदेश दिया गया कि जब तक सम्राट बुरहानपुर में ठहरा हुआ है, प्रति सोमवार को ५●● रुपये दरिद्रों में बाँटे जायँ सोमवार का विशेष महत्व इसलिये था कि उस दिन सम्राट सिंहासन पर बैठा था। इस प्रकार बीस सोमवारों को एक लाख रुपया दान दे दिया गया। अन्य स्थानों की अपेक्षा अहमदाबाद के लोगों को अधिक कष्ट भोगना पड़ा था, इसलिये सम्राट ने अधिकारियों को ५०, ●●● रुपया दुर्भिक्ष पीड़ितों में बाँटने को आज्ञा दी। अनावृष्टि तथा अन्न की महगाई के कारण अन्य कई जिलों में भी लोगों को बहुत कष्ट था। इसलिये दयालु तथा बुद्धिमान सम्राट के आदेश से राजस्व पदाधिकारियों ने लगभग ७० लाख रुपये के कर माफ कर दिये—यह रकम लगभग ८ करोड़ दाम के बराबर थी और सम्पूर्ण राजस्व का ग्यारहवाँ भाग। जब शाही विद विभाग ने ही इतनी छूट दी तो अमीरों ने जिन्हें जागीरें तथा मंसब मिले हुये थे, कितनी छूट दी होगी इसका सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है।

इसी प्रकार १६४१ में काश्मीर में और १६४६ में पंजाब में भारी वर्षा के कारण दुर्भिक्ष पड़ा, उस समय भी दुःखी किसानों की सहायता के लिये इसी प्रकार के कार्य किये गये। काश्मीर के दुर्भिक्ष के समय ५०,००० व्यक्तियों ने शाहजहाँ से सहायता की प्रार्थना की; उसने १,००,००० रुपया उन लोगों में बँटवा दिये; इसके अतिरिक्त २०० रुपये प्रतिदिन पका हुआ भोजन बाँटने में खर्च किये गये; और जनता को इससे अधिक सहायता देने के लिये ३०,००० रुपया तर्बियात खाँ के पास भेज दिये गये और आदेश दिया गया कि शोरबा तथा रोटी बाँटने के लिये पाँच भोजनालय खोल दिये जायँ। यह पदाधिकारी स्थिति को संभालने में असफल रहा इसलिये उसके स्थान पर सम्राट ने जफ़रखाँ को नियुक्त किया और २०,००० रुपये और दिये। इसी प्रकार पंजाब में शाहजहाँ ने दस भोजनालय खुलवाये और सैयद जलाल द्वारा दरिद्रों तथा असहाय लोगों में १०,००० रुपये बँटवाये। "जिन बच्चों को उनके माता पिता ने बेच दिया था, उन्हें सरकार ने अपनी ओर से धन देकर वापिस लिया और वे उनके माता-पिता को लौटा दिये गये। फरवरी १६४७, में शाहजहाँ ने पंजाब के दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिये ३०,००० रुपये और खर्च करने की अनुमति दी।"

इतने पर भी विन्सेंट स्मिथ लिखते हैं कि जब लोग भूख से मर रहे थे, उस समय बुरहानपुर में "शाहजहाँ की शिविर में हर प्रकार की रसद भरी पड़ी थी" और "जहाँ तक मुण्डी ने देखा, दुःखी लोगों की सहायता के लिये सरकार द्वारा कुछ भी नहीं किया गया था।" करों की छूट के सम्बन्ध में जिसका हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं, स्मिथ लिखते हैं, "इतिहासकार ने शाहजहाँ की 'परम दयालुता और दानशीलता' की जो प्रशंसा की है वह तथ्यों से नहीं प्रमाणित होती। भू-राजस्व का ग्यारहवाँ भाग माफ कर दिया गया, इसका अर्थ है कि शेष $\frac{10}{11}$ भाग वसूल करने का प्रयत्न किया गया होगा, जब देश में 'घोर-विपत्ति' फैली हुई थी और नाम मात्र को भी उपज नहीं हुई थी, उस समय इतना भारी बोझ सहन करना रैयत के लिये असम्भव था।"

शाहजहाँ ने कृषि की उन्नति के लिये नहरें खुदवायीं, इसके कम से कम दो उदाहरण उपलब्ध हैं। 'बादशाहनामा' में लिखा है:

(१) 'अली मर्दानखाँ ने सम्राट से निवेदन किया कि मेरा एक अनुयायी नहरें बनाने के कार्य में दक्ष है और वह जहाँ रावी पहाड़ियों से मैदान में उतरती है, उस स्थान से लाहौर तक एक नहर बनाने के लिये तैयार है, देश के जिस भाग में होकर वह जायगी वहाँ कृषि को बहुत लाभ होगा। विशेषज्ञों ने अनुमान लगाया कि नहर के बनाने में एक लाख रुपया व्यय होगा, सम्राट ने ‥ उतना रुपया खाँन को दे दिया और खाँन ने अपने एक विश्वसनीय नौकर को यह काम सौंप दिया।' नहर आज तक विद्यमान है। (२) 'जब सुलतान फीरोजशाह खिलजी दिल्ली में शासन करता था उस समय उसने जमुना से एक नहर निकाली थी जो खिज्राबाद परगने के निकट से निकल

कर तीस शाही कोस चल कर सफीदून के परगने तक जहाँ सुल्तान का आखेट-गृह (शिकारगाह) था, पहुँचती थी; उसमें पानी बहुत कम था और सुल्तान की मृत्यु के बाद यह नष्ट-भ्रष्ट हो गई थी। जब सम्राट अकबर के शासन काल में शहाबुद्दीन अहमदखाँ दिल्ली में शासन करता था उस समय उसने अपनी जागीर के प्रदेशों को उपजाऊ बनाने के लिये इसका जीर्णोद्धार कराया और वह फिर बहने लगी उसी के नाम से यह नहरे शाह कहलाती थी किन्तु मरम्मत की कमी के कारण उसका बहना फिर बन्द हो गया। जब (शाहजहाँ का) ध्यान इस किले तथा इस स्थान (शाहजहाँबाद) को बनवाने की ओर गया तो आज्ञा दी गई कि ख़िज़ाबाद से सफीदून तक इस नहर की पुनः मरम्मत करवाई जाय और सफीदून से लेकर शाही निवास स्थान तक एक नई नहर खोदी जाय; उसकी भी लम्बाई तीस शाही कोस है। इस प्रकार बढ़ाये जाने के बाद उसका नाम नहरे बिहिश्त रक्खा गया।

किसानों के प्रति शाहजहाँ की उदार भावनाओं का एक अन्य उदाहरण इसी लेखक ने इस प्रकार दिया है :—

'सम्राट से निवेदन किया गया कि विजयी सेना के कांधार की ओर जाते समय (१६४९) गजनी तथा उसके अधीन प्रदेशों में बहुत सी फसल सेना के पैरों से कुचल गई थी इस पर दयालु तथा प्रजा-पालक सम्राट ने एक विश्वसनीय व्यक्ति को १००० सोने की अशर्फियाँ देकर भेजा और आदेश दिया कि किसानों को जो क्षति पहुँची है उसकी जाँच करके तदनुसार यह रकम उनमें बाँट दी जाय।

शाहजहाँ के समय में कला का उत्कर्ष—मुगल साम्राज्य के स्वर्ण युग के इस वृत्तान्त को समाप्त करने से पहले यह आवश्यक है कि कम से कम संक्षेप में उस काल में ललित कलाओं की प्रगति का उल्लेख कर दिया जाय। इस युग की अनेक कृतियों में तख्त-ताऊस तथा ताजमहल सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं, उनके बनाने में कई वर्ष लगे थे और देश भर के दूर से दूर शिल्पियों को उनके निर्माण में जुटाया गया था। स्थानाभाव से यहाँ हम शाहजहाँ-युग के सांस्कृतिक जीवन के सभी पक्षों पर विस्तार से नहीं लिख सकते; किन्तु जैसा कि डा० सक्सेना ने अपनी उत्कृष्ट रचना में लिखा है, "देश में व्याप्त शान्ति तथा सम्राट की व्यक्तिगत रुचि से कला तथा साहित्य के विकास को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। आश्रय तथा संरक्षण की खोज में कवि, दार्शनिक, विद्वान तथा कलाकार दरबार में एकत्र होगये और प्रतिभाशाली व्यक्तियों को शायद ही कभी निराश होकर लौटना पड़ा हो। गुणों को परखने तथा उनके अनुसार लोगों का पुरस्कृत करने में शाहजहाँ ने कभी विलम्ब नहीं किया। उसका अनुकरण करते हुये उसके दरबारी भी वास्तव में योग्य व्यक्तियों का संरक्षण देने में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते थे।"

आगरा में मोती मसजिद का निर्माण सात वर्ष (१६४८-५३) में हुआ था, और उसमें ३,००,००० रुपये खर्च हुये थे। सन्त निहालसिंह लिखते हैं 'इसकी
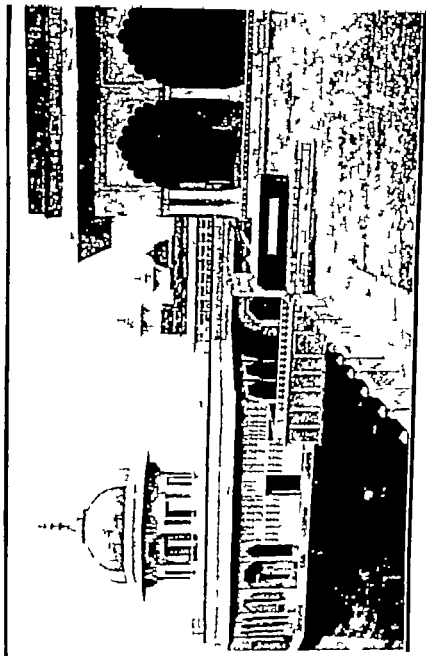
सम्मन बुर्ज (क़िला) आगरा ।

योजना उन कलाकारों ने बनाई थी जिनमें पत्थर के द्वारा आत्मा के उस संघर्ष को व्यक्त करने की शक्ति थी जो वह भौतिक बन्धनों से ऊपर उठने के लिये किया करती है। यह ऊँची तथा समतल भूमि पर बनी हुई है; भीतर संगमरमर का एक विस्तृत चौक है जो चारों ओर उसी पत्थर के बरामदों तथा स्तम्भों से घिरा हुआ है, उसके सफेद तथा लालित्यपूर्ण आकृति के गुम्मद, लाल तथा ठोस मुंडेरों से ऊपर उठे हुये हैं और बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से उस विचार की अभिव्यक्ति करते हैं।" एक अन्य लेखक ने इस मसजिद को 'भावपूर्ण पत्थर की एक कविता' कहा है और लिखता है: 'इसकी दाँतदार महरावों और सफेद तथा नीली नेत्रदशाओं में जो रहस्यमय भाव हैं उसमें गौथिक लम्बों के भाव से भी कहीं अधिक तीव्रता और गम्भीरता प्रकट होती है।"""यूनानी मंदिरों की शान्तिमय गम्भीरता में भी भावावेश की इतनी सुन्दर अभिव्यक्ति नहीं होती। """यह पुण्य स्थान जीवन से ओत-प्रोत है, यहाँ एक रहस्यमयी आत्मा परमानन्द तथा हर्षोन्माद के बीच नृत्य करती है।'

ताजमहल के निर्माण से सम्बन्धित ब्यौरे का वर्णन पहले किया जा चुका है। आगरा किले में स्थित सम्मन बुर्ज (जहाँ से अपने कारागार की खिडकी में से शाहजहाँ ने उस पर अन्तिम बार टकटकी लगा कर देखा था) से देखने पर 'उद्यान की हरियाली तथा भारतीय आकाश की गम्भीर नीलिमा की पृष्ठभूमि में स्थित उसका दूधिया (मोतियों जैसा) संगमरमर ऐसा प्रस्फुटित होता है कि जिसे उसका देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वह उसके आकर्षण को कभी भूल नहीं सकता।'

"कदाचित सबसे अधिक सम्मोहक दृश्य रात्रि की शान्ति में देखने को मिलता है, जब पूर्णेन्दु ऊपर आकाश में इठलाता और समाधि को स्वर्गीय शान्ति से आलोकित करता है और जब स्मारक का प्रतिबिम्ब यमुना जल में नृत्य करता है। कोई व्यक्ति ताजमहल का जितनी सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करता है उतना ही उसे उसकी अधिक सराहना करनी पड़ती है। सूक्ष्म से सूक्ष्म चीजों को सावधानी से निश्चित करके अथवा धैर्य के साथ उन्हें पूरा किया गया है। ऊँचे-ऊँचे दरवाजों के किनारों पर कुरान की आयतें खुदी हुई हैं; उन्हें देखने से प्रकट होता है कि कलाकारों को नेत्रदृशा पर पूर्ण अधिकार था, तीस फुट; अथवा उससे भी ऊपर के अक्षर देखने में ठीक उतने ही बडे प्रतीत होते हैं जितने भूमि से एक फुट ऊपर के। पच्चीकारी में गोमेदक, सूर्यकान्ति, """वैदूर्य आदि बहुमूल्य पत्थरों का प्रयोग किया गया है।"

आज भी विश्व भर के पर्यटक ताज के दर्शन करने आते हैं, संसार में इतना प्रशसनीय अन्य स्मारक मानव ने कदाचित कभी नहीं बनाया। मनुष्य की भाषा इसके उत्कृष्ट सौन्दर्य का वर्णन करने में सर्वथा असमर्थ है। फिर भी कलामर्मज्ञों ने विभिन्न प्रकार से इसका वर्णन किया है: 'संगमरमर के रूप में एक स्वप्न'; 'सौन्दर्य के अनेक रूपों का समन्वय' इत्यादि। ग्लैडस्टन सौलोमन लिखते हैं, "ताज का निर्माण स्वेच्छाचारी शाहजहाँ ने किया था, इस चीज़ का विशेष महत्त्व

नहीं। जिस क्षण से उस महान मुगल के सौन्दर्य विभोर मस्तिष्क में इसका विचार उत्पन्न हुआ तभी से वह सारे विश्व की सम्पत्ति बन गया।" इस दृष्टि से पूर्ण रूप निरंकुश सम्राट शाहजहाँ भावना के अनेक उच्च सुधारकों से भी कहीं बड़ा समाजवादी था। उसका विश्वास था कि कला सम्पूर्ण मानवता की सम्पत्ति होती है।" "इसीलिये ताज का अमर सन्देश आज भी मुखरित हो रहा है।"

एक लेखक का कथन है : 'यदि सम्पूर्ण ऐतिहासिक साहित्य नष्ट होगया होता और केवल यही भवन शाहजहाँ के शासन-काल की कथा सुनाने को बच रहते, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि उसे विश्व इतिहास का सबसे अधिक वैभव सम्पन्न युग कहा गया होता है।" फिर भी शाहजहाँ का कला प्रेम केवल स्थापत्य तक ही सीमित नहीं था। उसके शासन काल में फारसी तथा हिन्दी, गद्य तथा काव्य, संगीत और चित्र-कला, नृत्य कला ज्योतिष, गणित और चिकित्सा-शास्त्र सभी समान रूप से फले फूले। हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों ही जातियों ने लेखक, विद्वान तथा कलाकार उत्पन्न किये। संस्कृत के अनेक महान ग्रन्थों का अनुवाद किया गया। दारा शिकोह द्वारा अनूदित ग्रन्थों के अतिरिक्त मुंशी बनवलीदास ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' का और इब्न हरकरन ने 'रामायण' का फारसी में अनुवाद किया। उस युग के महानतम ज्योतिषी मुल्ला फरीद मुनज्जिम ने, जिसे शाहजहाँनी नाम की जन्त्री तैयार की, अताउल्ला ने बीजगणित में मापिका और अङ्कगणित पर एक ग्रन्थ लिखा और सम्राट तथा दारा को समर्पित किया और कपूर राठौड़ ने संस्कृत से 'बीजगणित' का अनुवाद किया।

. लेखक लिखते हैं कि शाहजहाँ के शासनकाल में हिन्दी भाषा तथा साहित्य का चरमोत्कर्ष हुआ। सम्राट पर उसका प्रभाव पड़े बिना न रह सका। वह हिन्दी बोलता था, हिन्दी से उसे प्रेम था और हिन्दी कवियों को उसने आश्रय दिया। सुन्दरदास, चिन्तामणि, कवीन्द्र आचार्य आदि हिन्दी के कवियों का उसके दरबार से सम्बन्ध था। शाहजहाँ तानसेन के दामाद लालखाँ गुण-समुद्र द्वारा गाये गये ध्रुपद राग में विशेष आनन्द लिया करता था। उस युग के सर्वोत्कृष्ट हिन्दू संगीतज्ञ जगन्नाथ पर शाहजहाँ का विशेष अनुग्रह था और उसने उसे महान् कविराय की उपाधि प्रदान की थी। सुखसैन वीणा और सूरसैन बीन बजाने में दक्ष थे।

शाहजहाँ के चरित्र का अन्तर्विरोध

इतना सब कुछ होने पर भी कई दृष्टि से शाहजहाँ के चरित्र में अन्तर्विरोध था। उसकी दिनचर्या से विदित होता है कि उसे कठिन परिश्रम का अभ्यास था और साथ ही साथ आत्म संयम की मात्रा भी उसमें पर्याप्त थी, किन्तु कुछ लेखकों के आधार पर, कहा जाता है कि वह अत्यधिक विलासी था और यहाँ तक कि निम्नकोटि के निन्दनीय व्यभिचार में लिप्त रहता था, लेकिन यह सब

निराधार प्रतीत होता है। उसकी न्याय-प्रियता तथा निष्पक्षता अत्यधिक सराहनीय थी, किन्तु कभी-कभी वह घोर निर्दयता का भी आचरण कर बैठता था, यद्यपि हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि यह उस युग की सामान्य दुर्बलता थी। अपने दरबार तथा सेवा में उसने अनेक हिन्दू रक्खे, और जैसा कि बर्नियर ने लिखा है, ईसाइयों के प्रति भी साधारणतया उसका व्यवहार सहिष्णुतापूर्ण था; फिर भी कई बार उसने असहिष्णुता का परिचय दिया, विशेषकर पुर्तगालियों के सम्बन्ध में, यद्यपि उनका व्यवहार उत्तेजक रहा था। किन्तु उसने हिन्दू मन्दिरों का जो विध्वंस किया उसे समझना कठिन है। 'बादशाहनामा' का रचयिता लिखता है—

'सम्राट का इस ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है कि पिछले शासन काल में कुफ्र के महान् गढ़ बनारस में अनेक मूर्ति-मन्दिरों का निर्माण आरम्भ हुआ था किन्तु वे पूरे न हो सके। अब काफिरों ने उन्हें पूरा करना चाहा। धर्म-रक्षक सम्राट ने आज्ञा दी कि बनारस में तथा साम्राज्य भर में प्रत्येक स्थान पर जिन मन्दिरों का बनना प्रारम्भ होगया था, गिरा दिये जायँ। अब इलाहाबाद के प्रान्त से समाचार मिला कि बनारस जिले में ७६ मन्दिर नष्ट कर दिये गये हैं।'

यह घटना १६३२ की है। यह भी कहा जाता है कि "हिन्दुओं को मुस्लिम ढंग के वस्त्र पहनने, सार्वजनिक रूप से अथवा एकान्त में शराब बेचने अथवा पीने, मुस्लिम कब्रिस्तानों के पास मृतकों की दाह-क्रिया करने अथवा सतियों को जलाने, तथा मुसलमान युद्ध-बन्दियों को दासों के रूप में खरीदने आदि की आज्ञा नहीं थी।" इन तथा अन्य धार्मिक अत्याचारों से प्रकट होता है कि शाहजहाँ के शासन काल में उदारता की उस नीति को जिसे अकबर ने आरम्भ किया था, धक्का लगा। फिर भी डेला वैले ने खम्भात में गो-वध के निषेध का, और मानरिक ने हिन्दू जिलों में पशु-हत्या के विरुद्ध कठोर आज्ञाओं का उल्लेख किया है।

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्	
१६२८	शाहजहाँ का सिंहासनारोहण।
१६२९	खानजहाँ का विद्रोह। सूरत के अंग्रेजों को मुगल साम्राज्य में पुर्तगालियों के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के लिये फर्मान।
१६३०	दक्खिन में दुर्भिक्ष तथा महामारी।
१६३१-३२	हुगली के पुर्तगाली लुटेरों का मूलोच्छेदन बुरहानपुर में मुमताजमहल की मृत्यु। गुजरात में महान दुर्भिक्ष। हिन्दू मन्दिरों का विध्वंस। अहमदनगर का साम्राज्य में मिलाया जाना।
१६३३	दौलताबाद का घेरा ; फतेहखाँ का समर्पण।

१६२८	जुझारसिंह के नेतृत्व में बुन्देलों का विद्रोह। तख्त ताऊस का बनना—सात वर्ष में तथा एक करोड़ की लागत में। अंग्रेजों को बंगाल में व्यापार करने की आज्ञा।
१६३१	अहमदनगर तथा गोलकुण्डा के विरुद्ध सफल युद्ध। बीजापुर को जीतने का प्रयत्न विफल। दक्खिन में टोडरमल का बन्दोबस्त।
१६३६-४४	औरंगजेब की दक्खिन में पहली सूबेदारी।
१६३८	अलीमर्दान खाँ द्वारा कांधार का मुगलों को समर्पण। गुरु हरगोविन्द के बाद हरराय का गद्दी पर बैठना।
१६३९	चन्द्रगिरी के राजा ने फ्रांसिस डे को मद्रास में किला बनाने की आज्ञा दी।
१६४५	अंग्रेज डाक्टर बाउटन ने जहाँनारा की चिकित्सा की व्यापारिक सुविधाओं द्वारा पुरस्कृत। ताजमहल का पूरा होना।
१६४६	शिवाजी द्वारा तोर्णा पर अधिकार। राजकुमार मुराद का बल्ख विजय को भेजा जाना।
१६४७	औरंगजेब का बल्ख तथा बदख्शाँ को भेजा जाना।
१६४८-४९	ईरान के शाह अब्बास द्वितीय का कांधार पर पुनः अधिकार। औरंगजेब उसे जीतने में विफल। आगरा में मनूची का आगमन। इङ्गलैंड में चार्ल्स प्रथम का वध।
१६५१	हुगली में अंग्रेजों की कोठी की स्थापना।
१६५२	औरंगजेब का कांधार जीतने का दूसरा प्रयत्न भी विफल।
१६५३	दारा शिकोह का कांधार के विरुद्ध भेजा जाना। दक्खिन में औरंगजेब की दूसरी सूबेदारी।
१६५५	कौव कारमक बंगाल में।
१६५६	*औरंगजेब द्वारा गोलकुण्डा का घेरा। चिनसुरा में डच कोठी की* स्थापना। मीरजुमला द्वारा कोहिनूर हीरे की शाहजहाँ को भेंट।
१६५७	बीजापुर से औरंगजेब का युद्ध। औरंगजेब के पक्ष में उत्तराधिकार युद्ध का अन्त।
१६५८	शाहजहाँ का बन्दी बनाया जाना और औरंगजेब का राज्यारोहण।

१६

साम्राज्य का मध्याह्नोत्तर काल

यह कहना कठिन है कि सूर्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचने के उपरान्त कितनी देर तक अत्यधिक प्रखरता के साथ चमकता है, किन्तु यह सर्वसाधारण का अनुभव है कि मध्याह्न काल की चमक दीर्घकाल तक बनी रहती है और बहुत देर बाद हमें ज्ञात होता है कि तीसरा पहर आ गया और अब सूर्य अस्त होने वाला है। यही बात शाहजहाँ के शासन के अन्त में मुगल साम्राज्य के सम्बन्ध में कही जा सकती है, स्वर्णयुग अभी पूर्णतया समाप्त नहीं हो गया था, किन्तु औरंगजेब के दीर्घ शासन में वह धूमिल पड गया और उस अन्तिम महान् मुगल सम्राट की मृत्यु के समय उसके भीतर छिपा हुआ लोहा दिखाई पड़ने लगा। कहा जाता है कि स्वर्णजटित कब्र के भीतर कीड़े-मकोडे निवास करते हैं और प्रत्येक चमकीली वस्तु सोना नहीं होती। यही बात मुगल साम्राज्य के सम्बन्ध में चरितार्थ हुई। जैसा कि एक आधुनिक इतिहासकार ने लिखा है, औरंगजेब के पचास वर्ष के शासन में 'भाग्य लक्ष्मी ने करवट बदली।'

राजकुमार के रूप में औरंगजेब ने प्रशासक तथा सेनानायक के गुणों का अच्छा परिचय दिया था। सिंहासन पर भी वह उतने ही लम्बे काल तक बैठा जितना कि उसका परदादा अकबर। दोनों ने लगभग आधी-आधी शताब्दी तक राज्य किया और अपने शासन-काल में वे निरन्तर कार्यरत रहे। किन्तु सिंहासन पर बैठते समय अकबर की अपेक्षा औरंगजेब की स्थिति बहुत अच्छी थी। हुमायूँ की मृत्यु के समय अकबर एक अनुभवहीन बालक था और विरासत में उसे जो कुछ मिला था, उस पर भी संकटों के बादल मंडरा रहे थे। उसके साधन बहुत कम और कठिनाइयाँ अधिक थीं। औरंगजेब की स्थिति इससे भिन्न थी। राज्यारोहण के समय वह चालीस वर्ष का था। राज्य पर उसका अधिकार सुदृढ़ और सुनिश्चित था, उसकी सम्पत्ति अपार और सेना बडी तथा भली-भाँति सुसज्जित थी। आन्तरिक दृष्टि से साम्राज्य में शान्ति विराज रही थी। सरकार के ढाँचे को काम करते हुये तीन पीढ़ियों से भी अधिक बीत चुके थे। फिर भी औरंगजेब विफल रहा। इसके लिये उसका चरित्र ही उत्तरदायी था। इतिहास का अनुभव है कि साम्राज्यों का भाग्य सम्राटों के चरित्र और व्यक्तित्व पर अवलम्बित रहता

है। औरङ्गजेब के उदाहरण से इस अनुभव की एक बार पुनः पुष्टि हुई। अकबर जितना उदार था, औरङ्गजेब उतना ही धर्मान्ध निकला, किन्तु अपने आदर्शों की प्राप्ति के लिये दोनों ने ही समान उत्साह के साथ काम किया। औरङ्गजेब ने अकबर के किये कराये पर पानी फेरने का संकल्प किया और अपने इस उद्देश्य में उसे यथेष्ट सफलता मिली। उसके शासन काल में राष्ट्र की जीवन-रस्सी उलटी भूमि दी गई।

कुछ लेखकों ने औरंगजेब को एक 'राजनैतिक विरोधाभास' कहा है। इसे समझने के लिये आवश्यक है कि हम उसके राज्य-काल की घटनाओं से भली भाँति परिचित हों। हमारे मत में उसका अध्ययन यदि तिथि-क्रम के अनुसार न करके वैज्ञानिक ढंग से किया जाय तो अधिक अच्छा होगा। इसलिये इस अध्याय का इस प्रकार आयोजन किया गया है —

(१) प्रारम्भिक जीवन; (२) सीमान्त युद्ध (३) उत्तर भारत; (४) दक्षिण भारत; (५) योरुपीय जातियों से सम्बन्ध; और (६) औरंगजेब का पहेली।

औरंगजेब का प्रारम्भिक जीवन

खाफीखाँ के अनुसार 'औरङ्गजेब का जन्म १०२८ हि (१६१६ ई०) में धूद नामक स्थान पर जो अहमदाबाद और मालवा के सूबे की सीमाओं पर स्थित है, हुआ था; उस समय उसका पिता शाहजहाँ दक्खिन का सूबेदार था। सर जदुनाथ सरकार ने इससे भी अधिक सही तिथि निश्चित की है– '१५ ज़िलक़दा १०२७ हि० की रात (२४ अक्टूबर १६१८ ई०,प्राचीन प्रणाली)।" शाहजहाँ और मुमताज महल के चौदह बालक उत्पन्न हुये, उनमें मुहीउद्दीन मुहम्मद औरङ्गजेब छठवाँ था। प्रथम बार वह १ली ज़िलक़दा १०६८ हि० (३१ जुलाई १६५८ ई०) को अपने पिता के सिंहासन पर बैठा; किन्तु उसका विधिवत राज्याभिषेक २४ रमज़ान १०६९ (५ जून १६५९) को हुआ; उस समय उसने अब्दुल मुज़फ्फर मुहीउद्दीन मुहम्मद औरंगजेब बहादुर 'आलमगीर पादशाहे गाज़ी' की ऊँची उपाधि धारण की। सामान्यतया वह आलमगीर के नाम से ही अधिक विख्यात था। यह उपाधि सम्भवतः उसे शाहजहाँ से मिली एक तलवार पर उत्कीर्ण लेख को देख कर सूझी थी। यह उपाधि सम्राट की भावनाओं की सच्ची प्रतीक थी और इसी से उसकी महत्वाकांक्षाओं और शासन नीति को मुख्य प्रेरणा मिली।

शाहजहाँ के विद्रोह के दौरान में जून १६२६ में औरङ्गजेब को दारा के साथ जहाँगीर के पास लाहौर को बंधक के रूप में भेजा गया। उस समय उसकी अवस्था केवल आठ वर्ष की थी। वहाँ से उसे फरवरी १६२८ में मुक्ति मिली, जबकि जहाँगीर की मृत्यु के बाद शाहजहाँ सिंहासन पर बैठा। उसी वर्ष से उसकी विधिवत शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ हुई। उसके अनेक अध्यापकों में गिलान का मीर मुहम्मद हाशिम प्रमुख था। राजकुमार ने शीघ्र ही कुरान और हदीस से अच्छा परिचय प्राप्त कर लिया और नस्ख़ लेखन शैली में सिद्ध हस्त हो गया। 'उसके-

उसे कविता भी बहुत अच्छी थी।' उसे कविता
लिखने की नस्तलीक और शिकस्त शैलियाँ भी बहुत अच्छी थी।' उसे कविता
से ... थी, किन्तु उपदेशात्मक ढंग की कविता की उसने उपेक्षा नहीं की।
संगीत, चित्रकारी तथा ललित-कलाओं से उसे घृणा थी। इस सम्बन्ध में एक
रोचक घटना प्रसिद्ध है। सम्राट होने पर उसने गायकों को अपने दरबार से
निर्वासित कर दिया। एक शुक्रवार को जब वह नमाज पढ़ने जामी मस्जिद को
जा रहा था, तो गायकों ने एक अर्थी निकाली। सम्राट ने उनके रोने-पीटने का
कारण पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि सम्राट की आज्ञाओं ने संगीत का वध कर
दिया है। हम उसे दफनाने ले जा रहे हैं। औरंगजेब ने उत्तर दिया कि "उन्हें
चाहिये कि संगीत की आत्मा की शान्ति के लिये प्रार्थना करें और उसे खूब गहरा
दफनायें जिससे कि वह फिर न उठ सके।" औरंगजेब के चरित्र की ये विशेषतायें
उसके प्रारम्भिक जीवन तथा शिक्षा काल में ही प्रकट होने लग गई थीं।

प्रौढ़ावस्था में औरंगजेब के चरित्र की मुख्य विशेषताएँ थीं धैर्यपूर्ण साहस
और दार्शनिक प्रवृत्ति; इनका भी उसके बाल्यकाल की एक घटना में आभास
मिलता है। एक बार मई १६३३ में राजकुमार हाथियों की कुश्ती देख रहा था,
एक क्रोधोन्मत्त हाथी उस पर झपटा। किन्तु वह बालक जो अभी पूरे पन्द्रह वर्ष
का भी नहीं हुआ था अपने स्थान से एक इंच भी नहीं हटा; बल्कि भाले से
उसने हाथी को घायल कर दिया। उपस्थित लोगों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की।
जब शाहजहाँ ने उसे उसके दुःसाहस के लिये डाँटा तो उसने उत्तर दिया, "यदि
इस लड़ाई में मैं मारा जाता तो कोई लज्जा की बात न होती। मृत्यु सम्राटों पर
भी आवरण डालती है, इसमें कोई अपमान नहीं।"

१३ दिसम्बर, १६३४ को औरंगजेब को दस हजार सवार का मंसब प्रदान किया
गया, प्रशासन की सीढ़ी पर यह उसका कदम था। दूसरे वर्ष सितम्बर के महीने
में उसे बुन्देलों के विद्रोह का दमन करने भेजा गया और तीन सेनाएँ उसके साथ
गईं। इस चढ़ाई के परिणामों ने भी औरंगजेब के चरित्र की विशेषताओं को प्रकट
किया। जौहर के बाद जो स्त्रियाँ बच रहीं उन्हें घसीट कर मुगल रनिवास में रख
दिया गया; जुझार के दो पुत्र और एक नाती मुसलमान बना लिये गये, राजा
के एक अन्य पुत्र तथा मन्त्री ने इस्लाम अंगीकार करने से इन्कार किया, इस पर
उनका निर्दयतापूर्वक वध कर दिया गया। "ओरछा में वीरसिंह बुन्देल द्वारा
बनवाया हुआ एक विशाल मन्दिर था; उसको तोड़ कर उसके स्थान पर एक मस्जिद
खड़ी कर दी गई। झाँसी का दुर्ग अधिकृत कर लिया गया (अक्टूबर के अन्त
में)। लूट में जो सामान मिला उसमें वीरसिंह बुन्देल का गढ़ा हुआ कोष भी
सम्मिलित था, उस सब का मूल्य एक करोड़ रुपया कूता गया।"

१६३६ में औरंगजेब को सीधा दक्खिन के सूबेदार के पद पर नियुक्त किया
गया। औरंगाबाद में राजधानी निश्चित की गई। इस काल में (१६३६-४४)

उदगीर, औसा, नगाखाना आदि के किले जीते गये और वीर मराठा सरदार शाहजी भोंसले और खेलोजी भोंसले का दमन किया गया। १६४४ में औरंगज़ेब की बहिन जहाँनारा बीमार पड़ गई, इसलिये उसको दक्खिन छोड़ कर आना पड़ा। आने के तीन सप्ताह के भीतर ही उसे दक्खिन की सूबेदारी, अपने पद तथा वेतन से वंचित कर दिया गया। कहा जाता है कि इसका कारण दारा की कट्टर शत्रुता थी। बाद में जहाँनारा के अनुरोध से उसे १६ फरवरी १६४५ को गुजरात की सूबेदारी मिल गई। वहाँ से १६४७ में उसे बलख की लड़ाई का संचालन करने को भेजा गया। गुजरात में दो वर्ष के अल्पकाल में औरंगज़ेब ने अपनी प्रशासनीय योग्यता और दृढ़ता का अच्छा परिचय दिया।

यद्यपि यह लड़ाई निरर्थक सिद्ध हुई और अन्त में बलख नाज़िर मुहम्मद को लौटा दिया गया, किन्तु इसमें औरंगज़ेब ने अपने धैर्य तथा दृढ़ विश्वास के कारण विशेष ख्याति पाई। एक बार युद्ध के घमासान में ही वह नमाज़ पढ़ने के लिये घुटनों पर बैठ गया। शत्रु ने उदारतापूर्वक उसके इस साहस की सराहना की और युद्ध बन्द करते हुए कहा ; "ऐसे व्यक्ति से लड़ना अपना ही सत्यानाश करना है।" फिर भी युद्ध में भारतीय कोष का चार करोड़ रुपया व्यय हुआ और उसके परिणामस्वरूप एक इंच भूमि पर भी अधिकार न हो सका।

मार्च १६४८ से जुलाई १६५२ तक औरंगज़ेब मुलतान और सिन्ध का सूबेदार रहा; इस बीच में उसे दो बार कान्धार के घेरे का संचालन करने के लिये जाना पड़ा, बलख की भाँति इसमें भी विफलता ही उसके हाथ लगी। लेकिन इसके लिये उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता। थट्टा रेत से भर गया था; उसके स्थान पर औरंगज़ेब ने एक नया बन्दरगाह बनवाया, यह उसके शान्तिमय कामों का एक उदाहरण था।

१६५२ में औरंगज़ेब को फिर दक्खिन भेजा गया। मार्ग में उसने नौ महीने बुरहानपुर में बिताये; उसके कठोर तथा कट्टर जीवन को देखते हुए यह एक विचित्र बात थी। नवम्बर १६५३ में वह औरंगाबाद पहुँचा। १६४४ के बाद उसकी अनुपस्थिति में प्रान्त की दशा अच्छी नहीं रही थी। एक के बाद एक अयोग्य सूबेदारों ने उस पर शासन किया था, जिसके परिणाम स्वरूप सर्वत्र बर्बादी छा गई थी। अब औरंगज़ेब तथा उसके राजस्व मन्त्री मुर्शिद कुली खाँ के प्रयत्नों के कारण प्रान्त की खोई हुई समृद्धि पुनः लौट आई। प्रशासन तथा सेना दोनों की कार्यक्षमता में सुधार हुआ; अयोग्य व्यक्ति निकाल दिये गये भंडारों तथा शस्त्रागारों को भरा गया तथा उनके निरीक्षण की समुचित व्यवस्था की गई और उचित ढंग के प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया गया। साथ ही साथ राजस्व में २०००० रुपया वार्षिक की बचत भी होने लगी। गोलकुण्डा पर चढ़ाई की गई और उसका पतन सन्निकट ही था, किन्तु तब तक शाहजहाँ ने युद्ध बन्द करने और पीछे लौटने की आज्ञा भेज दी (१६५६)। मीर जुमला को शाही सवा

में भर्ती कर लिया गया; आगे चल कर सादुल्ला खाँ की मृत्यु के बाद वह प्रधान मन्त्री नियुक्त हुआ। १६५७ में बीजापुर का घेरा डाला गया, किन्तु बीजापुर के सुल्तान के वकील शाही राजधानी में बचाव के प्रयत्न कर रहे थे। इसलिये जिस समय औरंगज़ेब को सफलता मिलने ही वाली थी, उसी समय शाहजहाँ ने आदिलशाह की शर्तें स्वीकार कर लीं। बीदर, कल्याणी और परिन्दा के किले मुगलों के सुपुर्द कर दिये गये और सुल्तान ने एक करोड़ रुपया युद्ध की क्षति-पूर्ति के रूप में दिया।

इस प्रकार शाहजहाँ के हस्तक्षेप के कारण बीजापुर तथा गोलकुण्डा पूर्णरूप से मुगल साम्राज्य में न मिलाये जा सके। दक्खिन के सूबेदार की इस प्रकार उपेक्षा करना अनुचित था। शीघ्र ही सम्राट स्वयम् बीमार पड़ गया (सितम्बर १६५७) और साम्राज्य गृह-युद्ध की भट्टी में जलने लगा।

दारा शिकोह मनोनीत युवराज था और इस पूरे काल में सम्राट का उस पर विशेष अनुग्रह रहा। उसी के प्रभाव के कारण शाहजहाँ ने औरंगज़ेब के साथ बुरा बर्ताव किया था; कम से कम औरंगज़ेब का यही विश्वास था। दारा के धार्मिक विचारों ने औरंगज़ेब को और भी अधिक शंकित कर दिया। औरंगज़ेब स्वयम् इस्लाम का प्रतिरक्षक बनने के स्वप्न देखा करता था। शाहजहाँ ने उसका बार बार स्थानान्तरण किया, उसकी निन्दा की और उसके कार्यों में हस्तक्षेप किया। इसलिये वह झुँझलाया और धीरज खो बैठा। स्वभाव से ही अविश्वासी होने के कारण वह समझता था कि मेरा बड़ा भाई ही सब कठिनाइयों और परेशानियों की जड़ है। शाहजहाँ की बीमारी के काल में दारा ने राजधानी से जाने वाले समाचारों पर नियन्त्रण लगा दिया, इससे स्थिति और भी अधिक बिगड़ गई। नाना प्रकार की अफवाहें चारों ओर फैलने लगीं। ईर्ष्यालु भाइयों ने इससे यही समझा कि दारा के उद्देश्य कुत्सित हैं। वह सिंहासन हड़पने के लिये सम्राट को बन्दी बनाना अथवा मार डालना चाहता है। वे सोचने लगे कि हम सबका जो इतनी दूर पड़े हैं, क्या भाग्य होगा। औरंगज़ेब को इससे भी अधिक चिन्ता इस बात की हुई होगी कि अब भारत में इस्लाम का क्या होगा।

मुराद ने गुजरात में ५ दिसम्बर के दिन अपने को सम्राट घोषित कर दिया, और इस प्रकार दूसरे भाइयों के सम्मुख उदाहरण उपस्थित किया। उसने अत्यधिक आतुरता और आवेश का परिचय दिया, किन्तु औरंगज़ेब सावधानी की मूर्ति था। उन दोनों ने मिल कर योजनायें बनाईं और अन्त में १६५८ के प्रारम्भ में सेनायें लेकर चल पड़े। इसी बीच में औरंगज़ेब ने अपनी कूटनीति का जाल बिछाना आरम्भ कर दिया था। दक्खिन से प्रस्थान करने से पहले उसने गोलकुण्डा तथा बीजापुर दोनों को शान्त करने का प्रयत्न किया। इसमें सन्देह नहीं कि उसने कुतुबशाह पर क्षति-पूर्ति का शेष धन चुकाने के लिये दबाव डाला; किन्तु साथ ही साथ उसने मुगल सेना को आज्ञा दी कि कोई ऐसा काम न किया जाय जिससे

मुगलों के हितों के लिये किसी प्रकार का संकट उपस्थित हो जाय। बीजापुर के आदिलशाह को भी उसने अपना मित्र बनाये रखने के लिये प्रलोभन दिया।

उसने लिखा, 'स्वामिभक्त बने रहो और अपने वचनों का पालन करो। मैं इस बात से सहमत हूँ कि परिन्दा का किला और उसके आधीन भूमि कोंकण और वाङ्गी का महाल जो साम्राज्य में मिला लिया गया है, और कर्नाटक का वह भाग जो स्वर्गीय आदिलशाह को दिया गया था, पूर्ववत् तुम्हारे अधिकार में बना रहे और तुमने युद्ध क्षति-पूर्ति के रूप में जो एक करोड़ रुपया देने का वचन दिया है, उसमें से तीस लाख क्षमा किया जाता है। इस देश की रक्षा करो और इसके प्रशासन को सुधारो। शिवा को जिसने देश के कुछ किलों पर अधिकार कर लिया है, निकाल बाहर करो। मेरे पास कम से कम १,०००
घुड़सवार अवश्य भेज दो। मैं तुम्हें बाणगंगा के किनारे तक का समस्त प्रदेश दे दूँगा।'

उधर औरंगज़ेब साम्राज्य के बड़े बड़े अमीरों को भी अपने पक्ष में मिलाने के लिये सक्रिय षड्यन्त्र रच रहा था; जहाँ तक अमीरों का सम्बन्ध था उन्हें अपने हितों की रक्षा करना भली भाँति आता था क्योंकि वह सभी जानते थे कि औरंगज़ेब अपने भाइयों में सब से अधिक अनुभवी और योग्य है। इस प्रकार जो उत्तराधिकार युद्ध प्रारम्भ हुआ उसमें औरंगज़ेब को किस प्रकार विजय प्राप्त हुई, इसको हम पहले ही सविस्तार बयान कर आये हैं। पराजित भाइयों के दुर्भाग्य की कहानी को भी यहाँ दुहराना आवश्यक नहीं है। औरंगज़ेब की सफलता ने उसकी कूटनीतिक और सैनिक प्रतिभा का ढिंढोरा पीट दिया।

सीमान्त युद्ध

औरंगज़ेब के शासन काल के मुख्य युद्ध हिन्दुओं का जिन्होंने उसकी धार्मिक उत्पीड़न की नीति के विरुद्ध झण्डा उठाया था दमन करने के लिये लड़े गये। इनके अतिरिक्त कुछ लड़ाइयाँ साम्राज्य विस्तार के उद्देश्य से भी लड़ी गईं। उत्तर पूर्वी तथा उत्तर पश्चिमी सीमाओं के युद्धों का मुख्य उद्देश्य था इन प्रदेशों के उपद्रवी तत्वों को दबा देना।

आसाम—१६३९ की शान्ति के बाद साम्राज्य के पूर्वोत्तरी भागों में कोई उपद्रव नहीं हुआ था। किन्तु बंगाल में शुजा का शासन दुर्बल सिद्ध हुआ, और फिर साम्राज्य में उत्तराधिकार युद्ध छिड़ गया। इसलिये अहोम लोगों को अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता की पुनः स्थापना करने के लिये अवसर मिल गया। १६५८ में कूच बिहार के राजा प्रेमनारायण ने एक सेना मुगल प्रदेशों में भेज दी। दिखाने के लिये बहाना यह किया गया कि सेना एक विद्रोही सामन्त का पीछा करने के लिये जा रही है। दूसरे वर्ष अहोमों ने कामरूप की राजधानी गोहाटी को लूटा और उस पर अधिकार कर लिया। मुगल सरकार गृह युद्ध समाप्त होने (१६६०) से पहले इस प्रदेश में शान्ति स्थापित करने के लिये कोई सफल कार्यवाही न कर सकी। १६६० में औरंगज़ेब ने अपने वीर तथा साहसी सेनानायक मीर जुमला को

बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया और उसे उस प्रान्त के, विशेषकर आसाम और माघ (अराकान) के, 'विद्रोही जमींदारों को' कुचलने की आज्ञा दी।

१ली नवम्बर १६६१ को मीर जुमला ने ढाका से युद्ध के लिये प्रस्थान किया। उसकी सेना मे १२,००० घुड़सवार, ३०,००० पैदल और ३०० लड़ाकू जहाजों का बेड़ा सम्मिलित था। छः दिन के भीतर ही कूच-विहार की राजधानी पर अधिकार कर लिया गया और उसका नाम आलमगीर नगर रक्खा गया ; उसका मन्दिर तोड़ डाला गया और उसके स्थान पर एक मसजिद बना दी गई और सम्पूर्ण राज्य को मुगल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। शीघ्र ही मुगलों को अन्य विजयें भी प्राप्त हुई। शत्रु का तीन सौ जहाजों का बेड़ा पकड़ लिया गया और गढ़गाँव के राजा जयध्वज को खदेड़ दिया गया। लूट में अपार धन मिला.—"८२ हाथी, ३,००,००० रुपये नकद, ६७५ तोपें, १३४५ ऊँट, १२ ००० रमचगियाँ, ६७५० बन्दूकें, ३४० मन बारूद, १००० से ऊपर नावें और १७३ धान की खत्तियाँ जिनमें से प्रत्येक में १० से १००० मन तक अनाज था।" किन्तु अगस्त के महीने में ज्वर की महामारी फैल गई जिससे जनता तथा सेना के लोग भारी सख्या में मर गये। एक मुगल सैनिक टुकड़ी में जो दलीलखाँ के आधीन थी, १५०० में से केवल ४५० सैनिक बच सके। पूरे आसाम में एक वर्ष में २,३०,००० व्यक्ति नष्ट हो गये। "मुगलों की शिविर में बीमारों के लिये समुचित भोजन और आराम की व्यवस्था न हो सकी, सब लोगों को घटिया चावल खाकर दिन काटने पड़े, न गेहूँ मिलता था और न दाल, न घी, न शकर और न अफीम अथवा तम्बाकू, और यदि कहीं मिल भी जाती तो अन्धाधुन्ध मूल्य पर। एक हुक्का भर तम्बाकू का मूल्य तीन रुपया था, १ तोला अफीम का एक सोने की मुहर, १ सेर मूँग की दाल का दस रुपया और वही १ सेर नमक का। हिन्दुस्तानी तथा तुर्की सिपाही गेहूँ की रोटी के अभाव में तड़प-तड़प कर मर गये, और घोड़े चावल खाने के कारण नष्ट हो गये।"

इन तमाम कठिनाइयों और आपत्तियों के बीच भी मीरजुमला ने अपना धैर्य तथा सन्तुलन नहीं खोया, और उसने सामान्य सिपाहियों की भाँति जीवन बिताया और भोजन किया। वर्षा समाप्त होते ही उसने फिर आक्रमण आरम्भ कर दिया, किन्तु उसके भाग्य में विजय का कार्य पूरा करना नहीं लिखा था। स्वयं उसे भी ज्वर ने आ घेरा और शीघ्र ही उसकी दशा चिन्ताजनक होगई। इसलिये दिलीरखाँ की मध्यस्थता से दिसम्बर १६६२ में अहोम राजा से सन्धि कर ली गई। खाफीखाँ लिखता है कि 'राजा ने १२०,००० तोला चाँदी तथा २००० तोला सोना देने और पचास हाथी और अपनी एक कुरूप पुत्री सम्राट को भेंट करने का वचन दिया। इसके अतिरिक्त उसने खानखाना को भी अपनी एक अन्य पुत्री, पन्द्रह हाथी तथा कुछ नकद धन और सामान देना स्वीकार कर लिया। यह भी निश्चय हुआ कि विजित प्रदेशों के कुछ किले और नगर जो बंगाल की सीमा पर स्थित थे, शाही राज्य में मिला लिये जायँ।' मीर जुमला की कूचविहार की सीमा पर स्थित खिज्रपुर में ३१ मार्च १६६३ को मृत्यु हो गई।

सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं, "उस युग के किसी भी सेनानायक ने इतनी उदारता और न्याय के साथ युद्ध का संचालन नहीं किया, और न किसी ने साधारण सैनिकों और पदाधिकारियों को ऐसे अनुशासन में रक्खा, अन्य कोई सेनानायक ऐसा न था जो ऐसे भयंकर कष्टों और विपत्तियों के बीच भी अन्त तक अपने अधीन लोगों के विश्वास और प्रेम का पात्र बना रहता। तीस मन हीरों का स्वामी और बंगाल के समृद्ध प्रान्त का सूबेदार होने पर भी मीर जुमला ने साधारण से साधारण सिपाही की भाँति भाग के कष्ट भोगे आमोद प्रमोद से उसने घृणा की और अपने दिन कठिन परिश्रम में बिताये। यही कारण था कि उसे समय से पहले ही मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा। जनता की लूट, बलात्कार और उत्पीड़न रोकने के लिये उसने कठोर आज्ञायें जारी कीं और यत्न पूर्वक उन्हें कार्यान्वित कराया। प्रारम्भ में आज्ञोल्लंघन करने वाले कुछ अपराधियों को उसने कठिन दण्ड दिया जिससे दूसरों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। अन्य लोगों के साथ तुलना करके हम मीर जुमला की श्रेष्ठता को भली भाँति समझ सकते हैं। ऐसे मीर की इतिहासकार तालिश ने जो काव्यात्मक भाषा में प्रशंसा की है वह अतिरंजित नहीं है और न उसे हम चाटुकारिता ही कह सकते हैं। वह तो मनुष्यों के एक जन्मजात नेता के प्रति श्रद्धाञ्जलि है जिसका वह पूर्णरूप से अधिकारी था।' चढ़ाई का वर्णन करते हुये प्रो० भट्टाचार्य ने लिखा है।" साम्राज्यवादी कार्यवाहियों में यह काम अत्यधिक साहसपूर्ण और दुर्धर्ष था। मुगल भारत के इतिहास में ऐसा अन्य उदाहरण नहीं मिलता, और सम्भवतः आधुनिक युग में भी उससे बढ़ कर कोई कार्य नहीं हुआ है।'

यद्यपि मीर जुमला ने ऐसे वीरतापूर्ण काम किये, फिर भी अगले चार वर्षों में मुगलों को बहुत कुछ खोना पड़ा। नवम्बर १६६३ में चक्रध्वज सिंहासन पर बैठा। वह अत्याधिक महत्वाकांक्षी था। उसके नेतृत्व में अहोमों ने अपने प्रदेश पुनः जीत लिये। नवम्बर १६६७ में गोहाटी का पतन हो गया; और मुगलों ने उसको पुनः जीतने के जितने प्रयत्न किये वे सब विफल रहे। इसके बाद अहोमों को दुर्दिनों ने आ घेरा और कामरूप में गृह-युद्ध आरम्भ होगया। ग्यारह वर्षों में (१६७०-८१) सात राजा सिंहासन पर बैठे और उनमें से एक भी स्वाभाविक मृत्यु से नहीं मरा। मुगलों ने "उससे लाभ उठाया, और आधुनिक रंगपुर और पश्चिमी कामरूप के जिलों को जीत कर राज्य के दक्षिणी और पूर्वी भागों पर अधिकार कर लिया (१७११)में राजा ने बाध्य होकर सन्धि कर ली और मुगलों की इन विजयों को स्वीकार कर लिया।'

अफ़गान—पश्चिमोत्तर सीमाओं पर निवास करने वाली पठान जातियाँ भारतीय सरकारों के लिये सदैव ही सिर-दर्द का कारण बनी रही हैं। उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता को सदैव बनाये रक्खा है, किन्तु उनमें एकता कभी भी स्थापित नहीं हो पाई। उनकी इस दोहरी विरासत से हमको लाभ भी हुआ है और हानियाँ भी। मानसून के घनीभूत बादलों की भाँति वे कभी-कभी एकत्र होकर पंजाब के मैदानों पर टूट पड़े हैं; किन्तु फिर शीघ्र ही अन्तर्जनजातीय ईर्ष्या की प्रचण्ड हवाओं ने उन्हें तितर बितर कर दिया है। यदि दिल्ली की सरकार शक्तिशाली

रही है, तो उसने उन्हें बखेरने के लिये ग्रीष्म कालीन सूर्य की चमक का काम किया है।

(१) १६६७ के प्रारम्भ में इस प्रकार की विपत्तियों का एक तूफान आया। यूसुफ-जाइयों के नेता भागू ने राज-पद धारण कर लिया और ५,००० कबीलाइयों के साथ अटक के उत्तर में सिन्ध को पार कर लिया; मुल्ला चलक ने जो अपने सन्त स्वभाव के लिये प्रसिद्ध था, उसको आशीर्वाद दिया। उनके पीछे-पीछे लुटेरों के दूसरे झुण्ड चले आये और टिड्डियों के दलों की भाँति पेशावर और अटक पर छा गये। किन्तु सम्राट ने कठोर कार्यवाही की और अक्टूबर के महीने तक वे भारी क्षति उठाकर तितर-बितर हो गये। मीर जुमला के पुत्र मुहम्मद अमीन खाँ ने पाँच वर्ष तक पश्चिमोत्तरी सीमान्त प्रदेश में शान्ति स्थापित रक्खी।

इसके बाद अफ्रीदियों की बारी आई। १६७२ ई० में उन्होंने अपने नेता अकमलखाँ के नेतृत्व में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया; "अकमल जन्मजात सेनानायक था। उसने अपने को राजा घोषित किया, अपने नाम के सिक्के जारी किये, मुगलों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदी, खैबर के दर्रे को बन्द कर दिया और पठान जातियों को इस राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित होने के लिये आमंत्रित किया।" मुहम्मद अमीनखाँ इस समय भी अफगानिस्तान का शासन भार सँभाले हुये था, वह पिछली सफलताओं के नशे में चूर था, इसलिये इस विद्रोह की शक्ति को न समझ सका। परिणाम विनाशकारी हुआ जैसा कि अनेक बार हो चुका है। "शत्रुओं ने १०,००० मुगल सैनिकों को काटकर युद्ध-क्षेत्र में बखेर दिया और २ करोड़ रुपये नकद तथा सामान के रूप में लूट कर ले गये। उन्होंने २०,००० स्त्री पुरुष को बन्दी बना कर बेचने के लिये मध्य-ऐशिया में भेज दिया।" यहाँ तक कि अमीनखाँ का परिवार भी पकड़ा गया और बहुत-सा रुपया देकर उसे मुक्त कराया गया। इस विजय ने कबीलाइयों के उत्साह को प्रज्ज्वलित कर दिया और वे बड़ी संख्या में अकमलखाँ के झण्डे के नीचे एकत्रित होने लगे। खटक कबीले के कवि-सरदार खुशहाल खाँ ने भी विद्रोहियों का साथ दिया और 'अपनी लेखनी तथा तलवार दोनों से ही उन्हें अनुप्राणित किया।'

"साम्राज्य पर आने वाला यह संकट बड़ा भयंकर था। विद्रोह ने राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया और 'कान्धार से लेकर अटक तक' के सभी पठान इससे प्रभावित हुये। इसके नेता ऐसे व्यक्ति थे जो हिन्दुस्तान तथा दक्खिन के क्षेत्रों में मुगल सेना में कार्य कर चुके थे और उसके संगठन, योग्यता तथा सामरिक चालों से भली-भाँति परिचित थे।" किन्तु औरंगजेब इस संकट से घबड़ाने अथवा हतोत्साह होने वाला व्यक्ति न था। उसने तुरन्त ही मुहम्मद अमीनखाँ के स्थान पर महाबतखाँ को नियुक्त किया। नवम्बर १६७३ में सुजातखाँ और राजा जसवन्त-सिंह को कुमुक के साथ भेजा गया। चूँकि इन सेनानायकों में परस्पर सहयोग का अभाव था, इसलिए १६७४ में मुगलों को फिर एक भारी विनाश का सामना करना

पड़ा, किन्तु उनकी प्रतिष्ठा शीघ्र ही फिर स्थापित हो गई। जून १६७४ में औरंगजेब स्वयम् हसन अब्दाल (रावल पिंडी और पेशावर के बीच में) आ पहुँचा और वहाँ से स्वयम् डेढ़ वर्ष तक सैनिक कार्यवाहियों का संचालन करता रहा। शाही सेनाओं को बहुत युद्ध करना पड़ा और बीच बीच में क्षय तथा पराजय भुगतनी पड़ीं। किन्तु अन्त में वे विजयी हुई।

"इस विजय का जितना श्रेय बल और सामरिक चालों को था, उतना ही कूट-नीति और कुचक्रों को भी। अनेक कबीलों को उपहार पेंशनें, जागीरें तथा उनके सरदारों को मुगल सेना में पद देकर अपनी ओर मिला लिया गया।" मार्च १६७७ में अमीरखाँ को काबुल का सूबेदार नियुक्त किया गया और उसी समय से शान्ति और समृद्धि का काल आरम्भ हुआ। यह योग्य पदाधिकारी अलीमर्दानखाँ का दामाद था। प्रशासन में उसे अपनी स्त्री साहिबी से जो बहुत ही क्रियाशील, चतुर और बुद्धिमान थी बड़ी सहायता मिली। उसने औरंगजेब की 'दो हड्डियों को आपस में मारकर तोड़ने की नीति' (कबीलों को एक दूसरे के विरुद्ध भड़का कर नष्ट भ्रष्ट करने की नीति) को जारी रक्खा। अमीरखाँ की वित्तीय सफलता का प्रमाण उसके उस पत्र से मिलता है जो उसने २१ अक्टूबर १६८१ को औरंगजेब को लिखा, 'सरकार की ओर से अफगानों को सड़कों की रक्षा करने के लिये छः लाख रुपया देने का निश्चय किया गया था मैंने केवल १½ लाख रुपया व्यय किया है और शेष राज्य के लिये बचा लिया है।'

किन्तु सरहद लोगों ने इसके बाद भी युद्ध जारी रक्खा जिसके कारण मुगलों के लिये राजपूतों के विरुद्ध अफगानों का प्रयोग करना असम्भव हो गया; यही नहीं, बल्कि औरंगजेब को दक्षिण से बहुत सी सेना खटकों का दमन करने के लिये भेजनी पड़ी; इससे शिवाजी को अपेक्षाकृत अधिक अवसर मिल गया और १६७२-७४ के बीच वह अपनी शक्ति की पराकाष्ठा को पहुँच गया।

सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं "औरंगजेब का शासन काल २५ २५ वर्ष के दो समान कालों में विभक्त था; उनमें से उसने पहला उत्तरी भारत में और दूसरा दक्षिण में बिताया। पहले काल में उत्तर आकर्षण का केन्द्र रहा, इसलिये नहीं कि सम्राट वहाँ रहता था, बल्कि इसलिये कि महत्वपूर्ण सैनिक तथा धर्मैतिक घटनायें वहीं घटीं और दूरस्थ दक्षिण का विशेष महत्व नहीं रहा। शासन काल के दूसरे अर्ध भाग में स्थिति उलटी हो गई। साम्राज्य के सभी साधन दक्षिण में जुटा दिये गये सम्राट उसका दरबार और कुटुम्ब, उसकी सेना का बड़ा भाग और उसके श्रेष्ठतम पदाधिकारी एक चौथाई शताब्दी तक वहीं रहे, और हिन्दुस्तान का महत्व गौण हो गया।

उत्तर-भारत

ऊपर हम जिन दो सीमान्त युद्धों का वर्णन कर आये हैं उनके अतिरिक्त उत्तर भारत में दो प्रकार के उपद्रव हुये: (क) औरंगजेब की 'धार्मिक नीति के

विरुद्ध विद्रोह; (ख) छलियों, दुर्दमनीय सामन्तों अथवा डाकुओं के साधारण उपद्रव। पहले प्रकार के विद्रोहों का वर्णन करने से पहले दूसरी कोटि के उपद्रवों को दो शब्दों में समाप्त कर देना अधिक उपयुक्त होगा।

साधारण उपद्रव—औरंगज़ेब के सम्पूर्ण शासन काल में साम्राज्य के विभिन्न भागों में अनेक छलियों ने समय-समय पर क्षणिक गड़बड़ी उत्पन्न की। १६६३ में गुजरात में एक व्यक्ति ने दारा होने का दावा किया; १६६९ में मुरंग (पश्चिमी कूच-बिहार) में एक व्यक्ति ने अपने को शुजा घोषित किया; १६७४ में यूसुफज़ाइयों में एक ऐसा ही छलिया उठ खड़ा हुआ और इसी प्रकार १७०७ में एक तीसरा व्यक्ति काश्मीर में। इलाहबाद में (१६९९) एक झूठे ने कहा कि कि मैं शुजा का पुत्र हूँ, और दक्खिन में एक व्यक्ति अकबर बन गया (१६९९)।

अनेक सामन्तों अथवा राजाओं ने भी विद्रोह किये और उनके विरुद्ध सैनिक कार्यवाहियाँ करनी पड़ीं। उनमें मुख्य थे: (१) बीकानेर का राव करन जिसने १६६० के अन्त में समर्पण कर दिया, (२) चम्पतराइ बुन्देल (वीरसिंह बुन्देल का एक वंशज) जिसने दीर्घ काल की लड़ाई के बाद मुगलों के सामने हथियार डालने की अपेक्षा आत्महत्या करना अधिक अच्छा समझा (१६६१) और उसकी रानी काली कुमारी ने भी उसका अनुसरण किया; (३) पालामऊ का चेरो राजा, उसका राज्य १६६१ में बिहार के सूबे में मिला दिया गया; (४) मोरंग का विद्रोही राजकुमार जिसे पहले १६६४ में और फिर १६७६ में समर्पण करना पड़ा; और कमाऊँ का राजा बहादुरचन्द्र जिसने लम्बी लड़ाई (१६६५-७३) के उपरान्त हथियार डाल दिये। १६६५ में काश्मीर से तिब्बत के बौद्ध शासक पर चढ़ाई की गई, अन्त में उसने भी मुगल सम्राट का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। चटगाँव के समुद्री डाकुओं का हम आगे यूरोपीय जातियों के सम्बन्ध में लिखते समय उल्लेख करेंगे। यहाँ अब हम उत्तर भारत के उन प्रमुख विद्रोहों का वर्णन करेंगे जो औरंगजेब के हिन्दुओं पर किये गये बर्बर अत्याचारों का परिणाम थे।

हिन्दुओं पर अत्याचार—औरंगजेब की धार्मिक नीति तथा गैर-मुसलमानों के प्रति उसके व्यवहार का हम आगे जिक्र करेंगे। हिन्दुओं का उत्पीड़न उसके शासन-काल की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी। यदि वह यह न करता तो उसकी आचरण सम्बन्धी कट्टरता के बावजूद उसका राज्यकाल अत्यधिक उज्ज्वल सिद्ध हुआ होता और मुगल साम्राज्य को वे दुर्दिन न देखने पड़ते। यद्यपि औरंगजेब में हिन्दू रक्त भी लगभग उतना ही था जितना कि मुस्लिम, फिर भी उसे हिन्दुओं से तीव्र घृणा थी। उसकी दादी (शाहजहाँ की माता) हिन्दू थी। शाहजहाँ का पिता भी केवल आधा मुसलमान था, क्योंकि वह भी हिन्दू माता से ही उत्पन्न था। स्वयं औरंगजेब की एक प्रमुख रानी (उसके उत्तराधिकारी बहादुरशाह की माता नबाबबाई) हिन्दू थी, क्योंकि वह काश्मीर में स्थित राजौरी के राजा राजू की पुत्री थी। उसकी प्रेयसी हीराबाई

भी जिस पर वह दूसरी बार दक्षिण जाते समय बुरहानपुर में अन्धा होकर आसक्त हो गया था, हिन्दू माता पिता से उत्पन्न थी। उसकी अन्य स्त्रियों में से एक (दिलरस बानू बेगम) ईरान के राजवंश से सम्बन्धित शाहनवाजखाँ की पुत्री थी—शाहनवाज शिया सम्प्रदाय का समर्थक था। कामबख्श की माता उदीपुरी महाल के सम्बन्ध में वेनिस का पर्यटक मनूची लिखता है कि वह एक जॉर्जियाई बाँदी थी जिसे दाराशिकोह के रनिवास में से पकड़ लिया गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि औरंगजेब अनेक ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में आया जिनका उस पर प्रभाव पड़ सकता था। किन्तु उसकी धर्मान्धता अन्तःपुर में नहीं उत्पन्न हुई थी, जैसा कि कुछ लेखकों के मतानुसार अकबर का समन्वयवाद हुआ था।

औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता की यह नीति क्षणिक आवेश का परिणाम न थी, जैसा कि शाहजहाँ के मन्दिरों को विध्वंस करने के बारे में कहा जाता है। उसने जानबूझ कर और निर्भय होकर इस नीति का अनुसरण किया। नीचे के तथ्यों से यह बात स्पष्ट प्रकट होती है—

(१) सर्वत्र हिन्दू मन्दिरों का विध्वंस।
(२) घृणित जिज़या का पुनः लगाना।
(३) हिन्दुओं से मुसलमानों की अपेक्षा अधिक वहिःशुल्क वसूल करना।
(४) शाही नौकरियों से हिन्दुओं को हटाना।
(५) होली दिवाली आदि त्यौहारों तथा धार्मिक उत्सवों के खुल कर मनाने पर प्रतिबन्ध।
(६) हिन्दू मेलों को बन्द करना।
(७) हिन्दुओं को अस्त्र-शस्त्र धारण करने, अच्छे वस्त्र पहिनने और घोड़ों पर चढ़ने से रोकना।
(८) हिन्दू शिक्षा और विद्यालयों पर प्रतिबन्ध।

मन्दिरों का विध्वन्स—प्रोफ़ेसर सरकार लिखते हैं, 'औरंगजेब ने बड़े नीच ढंग से हिन्दुत्व पर आक्रमण किया।' पहले उसने केवल काफ़िरों को नये मन्दिर बनाने से रोकने का बहाना किया।* अपने शासन के प्रारम्भिक दिनों में ही

* यह बात औरंगजेब के बनारस वाले फ़रमान से सिद्ध होती है जो उसने अबुल हसन के पास २८ फरवरी १६५९ को भेजा। उसमें कहा गया—'हमारे धार्मिक नियमों के आधार पर यह निश्चय किया गया है कि बहुत पहले के बने हुये मन्दिरों को न तोड़ा जाय, किन्तु किसी नये मन्दिर के बनाने की आज्ञा न दी जाय। ... हमारे दरबार में समाचार पहुँचा है कि कुछ लोगों ने बनारस में तथा उसके आस पास रहने वाले हिन्दुओं को और उन ब्राह्मणों को जिनका पुराने मन्दिरों का भार संभालने का अधिकार है, तंग किया है और यह भी सुना गया है कि वे इन पुराने ब्राह्मणों को उनके पुराने पदों से हटाना चाहते हैं, इसलिये बादशाह की ओर से तुमको आज्ञा दी जाती है कि तुम घोषणा कर दो कि कोई व्यक्ति ब्राह्मणों के कार्यों में हस्तक्षेप न करे और न इन प्रदेशों में रहने वाले हिन्दुओं को कष्ट पहुँचाये।'

उड़ीसा में कटक से मेदनीपुर तक के गाँवों और नगरों के सभी पदाधिकारियों को आज्ञा भेजी कि पिछले १०-१२ वर्षों में बनाये गये छोटे बड़े सभी मन्दिर गिरा दिये जायँ और किसी पुराने मन्दिर का जीर्णोद्धार करने की आज्ञा न दी जाय। इस दिशा में उसने अन्तिम कदम १६६९ में उठाया और एक सामान्य आज्ञा जारी की।

'१७ जिलकदा १०७९ को धर्मरक्षक श्रीमान सम्राट के कानों में समाचार पहुँचा कि थट्टा, मुल्तान और बनारस के प्रान्तों में, विशेषकर बनारस में, मूर्ख ब्राह्मण अपनी पाठशालाओं में मूर्खतापूर्ण पुस्तकें पढ़ाया करते हैं और उनके दुष्टतापूर्ण विज्ञानों से परिचय प्राप्त करने की इच्छा से दूर-दूर से हिन्दू तथा मुसलमान विद्यार्थी तथा जिज्ञासु वहाँ जाते हैं, इसलिये धर्मरक्षक सम्राट ने प्रान्तीय सूबेदारों को आज्ञा भेजी कि काफिरों के पाठशाला तथा मन्दिर यत्नपूर्वक ध्वस कर दिये जायँ; और उन्हें यह भी आज्ञा दी गई कि मूर्ति-पूजा तथा उससे सम्बन्धित शिक्षा का प्रचार पूर्णतया बन्द कर दिया जाय।'

सभी थानों के फौजदारों, व्यावहारिक अधिकारियों, जागीरदारों के गुमाश्तों, करोडियों और आमिलों के नाम फरमान जारी किया गया—'पिछले १०-१२ वर्षों में जितने भी मन्दिर बने हैं, चाहे वे पक्की ईंट के हों और चाहे कच्ची ईंट के, सबके सब तुरन्त ही ध्वस कर दिये जायँ। इसके अतिरिक्त अभागे हिन्दुओं और घृणित काफिरों को अपने पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार मत करने दो। मन्दिरों के तोडे जाने की सूचना दरबार में भेजी जाय और उस पर काजी की मुहर तथा धर्मात्मा शेखों के हस्ताक्षर हों।'

मूर्ति-भंजन का उत्साह औरंगजेब के हृदय पर युवावस्था में ही अधिकार कर चुका था। १६४५ में जब वह गुजरात का सूबेदार था, उसने चिन्तामणि के मन्दिर को एक मसजिद के रूप में परिणत कर दिया और उसका नाम 'कुव्वत-उल-इस्लाम' रक्खा। उस मन्दिर में उसने एक गाय का भी बध करवाया, किन्तु बाद में शाहजहाँ की आज्ञा से वह मन्दिर हिन्दुओं को लौटा दिया गया। किन्तु जब औरंगजेब के हाथ में राजसत्ता आई तो उसने २० नवम्बर १६६५ में निम्न फरमान जारी किया:—'मेरे राज्यारोहण से पहले अहमदाबाद तथा गुजरात के अन्य परगनों में मेरी आज्ञा से अनेक मन्दिर तोड़ डाले गये थे। अब उनका जीर्णोद्धार हो गया है और मूर्ति-पूजा फिर होने लगी है। मेरी पहली आज्ञा का पालन करो।' धार्मिक कट्टरता के इस उन्माद में जिन प्रसिद्ध मन्दिरों का नाश हुआ उनमें सोमनाथ (काठियावाड), तथा विश्वनाथ (बनारस) के मन्दिर और मथुरा का केशवराय का देहरा (वीरसिंह देव बुन्देल द्वारा ३३ लाख की लागत से बनवाया) मुख्य थे। कूच-बिहार, उज्जैन, उदयपुर, जोधपुर, गोलकुण्डा, बीजापुर और महाराष्ट्र में भी लगभग सभी मन्दिर तोड़ डाले गये। १६७४ में गुजरात में हिन्दुओं को धर्मस्व के रूप में मिली हुई भूमि भी जब्त कर ली गई।

जिजया—इस्लाम के पैगम्बर ने कहा, 'जो सच्चे धर्म (इस्लाम) में

विश्वास नहीं करते उनसे तब तक लड़ते रहो जब तक कि वे नम्रतापूर्वक अपने हाथ से जिज़या अदा न कर दें, फिर भी अकबर ने इस भेद भावपूर्ण कर को हटा दिया था और तब से यह मुगल शासन के भीतर कभी नहीं लगाया गया। आलमगीर औरंगजेब ने उसे पुन वसूल किया। राजकीय कागजों के आधार पर तैयार किये गये सरकारी इतिहास में लिखा है— धार्मिक सम्राट के सभी कामों का एक ही उद्देश्य था इस्लामी नियमों का प्रचार करना और कुफ्र का दमन करना। इसलिये उसने फरमान जारी किया कि सभी जगह से (२ अप्रैल १६७६) जिम्मियों से कुरान के नियमानुसार जिज़या वसूल किया जाय।' सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं, "कुछ आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि जिज़या उन लोगों को देना पड़ता था जो सैनिक सेवा से बचना चाहते थे, किन्तु इतिहास से इस मत की पुष्टि नहीं होती।" वह आगे लिखते हैं, 'यह कहना गलत न होगा कि हिन्दुओं के लिये जिज़या का अर्थ था अन्य लोगों की अपेक्षा राज्य को एक तिहाई अधिक कर देना।"

धर्मान्ध पदाधिकारियों ने बड़े उत्साह के साथ यह कर वसूल किया। इस सम्बन्ध में बुरहानपुर के मीर अब्दुल करीम का उदाहरण उल्लेखनीय है। "पूरे नगर से एक वर्ष में इस कर से २६ हजार रुपये की आय होती थी, उसने तीन महीने में केवल आधे शहर से इसका चौगुना धन वसूल किया (१६८२)।" इस विशेष कर के सम्बन्ध में सम्राट का कहना था— अन्य सभी प्रकार के करों में छूट देने की तुम्हें पूरी स्वतन्त्रता है, किन्तु जिज़या को इन काफिरों से प्राप्त करने में मैं बड़ी कठिनाई से सफल हुआ हूँ इसलिये यदि इसमें तुमने किसी प्रकार की छूट दी तो यह कार्य धर्म-विरुद्ध होगा और कर वसूल करने की सम्पूर्ण व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जायगी।' इसलिये जब हजारों हिन्दू इस कर का विरोध करने के लिये सम्राट के सामने इकट्ठे हुये तो उसने उन्हें तितर बितर हो जाने के लिये १ घण्टे का समय दिया और फिर अपना हाथी उनकी भीड़ में हाँक दिया।

(३) चुंगी शुल्क—दुर्भाग्यवश जिज़या ही ऐसा कर न था जो हिन्दुओं को मुसलमान न होने के दण्डस्वरूप देना पड़ता था।

खाफीखाँ लिखता है, 'एक फरमान जारी किया गया, जिसके अनुसार हिन्दुस्तान के सम्पूर्ण राज्य में मुसलमानों के व्यापारिक माल को चुंगी से मुक्त कर दिया गया। तब राजस्व अधिकारियों ने सूचना दी कि मुसलमानों ने एक नया ढंग निकाल लिया है। वे शुल्क से बचने के लिये अपने माल को छोटी छोटी पोटलियों में बाँध लेते हैं, और वे हिन्दुओं के माल को अपने नाम से निकाल लेते हैं और इस प्रकार वे विधि विहित जकात कर से बच जाते हैं। इसलिये आज्ञा जारी की गई कि कानून के अनुसार मुसलमानों से २½% और हिन्दुओं से ५% शुल्क वसूल किया जाय।' सरकार ने इस भेद भाव का कुछ भिन्न विवरण दिया है किन्तु मूल तथ्य यह है कि धर्म के आधार पर

प्रजा में भेद-भाव किया जाता था। हिन्दू होने के कारण ही लोगों को कठिनाइयाँ भुगतनी पड़ती थीं।

अन्य हिन्दू विरोधी कार्य—नवम्बर १६६५ में औरंगजेब ने गुजरात में निम्न उद्घोषणा की :—

'अहमदाबाद के नगर तथा परगनों में हिन्दू लोग अन्ध-विश्वासपूर्ण रूढ़ियों का पालन करते हुये दिवाली की रात को दीपक जलाते हैं और होली के दिन में अश्लील बातें बकते और चकलों तथा बाजारों मे होली जलाते हैं; वे लोगों का ईंधन चुरा कर अथवा बलपूर्वक छीन कर आग मे फेंक देते हैं। आज्ञा दी जाती है कि बाजारों में दिवाली के अवसर पर प्रकाश न किया जाय, किसी का ईंधन बलपूर्वक छीन कर अथवा चुरा कर होली की आग में न फेंका जाय और न अश्लील भाषा का प्रयोग किया जाय।' यद्यपि होली सम्बन्धी प्रतिबन्ध अच्छा था, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु दिवाली के अवसर पर दीपक जलाने पर जो प्रतिबन्ध लगाया गया उससे साधारण हिन्दुओं में बहुत रोष फैला। इसी प्रकार १६६८ में औरंगजेब ने १४वीं शताब्दी के फीरोज तुगलक का अनुकरण करते हुये हिन्दू-यात्राओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यद्यपि ऐसे समय पर जैसा कि स.फोर्स्टर लिखता है, 'लाखों रुपये का क्रय-विक्रय होता है और प्रान्तीय खजानों में बहुत-सा धन जमा हो जाता है।' १६७१ में नियम बनाया कि खालसा भूमि के सभी राजस्व वसूल करने वाले मुसलमान होने चाहिये। प्रान्तीय सूबेदारों और ताल्लुकदारों को आज्ञा दी गई कि वे अपने हिन्दू प्रमुख लिपिकारों और मुनीमों को हटादें और उनके स्थान पर मुसलमानों को नियुक्त करें। और अन्त मे इस सबसे बढ़ कर मार्च १६९५ में फरमान जारी किया गया कि राजपूतों को छोड़कर अन्य हिन्दू अच्छी नस्ल के घोड़ों, हाथियों और पालकियों में सवार न हों और न हथियार ही धारण करें। इस स्वेच्छाचारी नियम के कारण निम्न से निम्न कोटि के हिन्दू भी विद्रोह करने को बाध्य हुये और राज्य में चारों ओर अनेक उपद्रव उठ खड़े हुये।

हिन्दू-प्रतिक्रिया

जाटों के विद्रोह—इस नीति का विरोध सबसे पहले मथुरा के निकटवर्ती प्रदेश में हुआ। वहाँ किसानों ने अनेक विद्रोह किये। "कुछ लोगों ने सम्राट की हत्या करने के लिये घोर प्रयत्न किये, किन्तु वे मूर्खतापूर्ण थे, इस लिये विफल हुए।" जून १६६९ में उद्धव वैरागी नामक एक साधू के चेलों ने काज़ी अब्दुल मुकर्रम का बध कर दिया, कारण यह था कि साधू को 'लोगों में झूठा ज्ञान फैलाने के लिये' कारागार में डाला गया था। परिणाम यह हुआ कि औरंगजेब की आज्ञा से साधू को तथा हत्यारों को मृत्यु-दण्ड दिया गया।

१६६१-६२ में मथुरा के फौजदार अब्दुन नबी ने एक हिन्दू मन्दिर को तोड़ डाला और उसके स्थान पर मसजिद खड़ी कर दी, इससे लोगों में क्रोध की ज्वाला धधकने लगी। १६६६ ई० में औरंगजेब की आज्ञा से फौजदार ने केशवराय के

मन्दिर से वह वेष्टणी जिसे दारा शिकोह ने भेंट किया, बलपूर्वक हटा दी। ऐसे कार्यों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती गई। फलस्वरूप १६६६ में जाट किसानों ने विद्रोह किया। अब्दुन नबी ने तिलपट के गोकुला के नेतृत्व में हुए विद्रोह को दमन करने का प्रयत्न किया, किन्तु गोली का शिकार हुआ। इसके बाद मथुरा प्रदेश के लोगों को दण्ड देने का कार्य आरम्भ किया गया। उसी वर्ष के अन्त में अथवा १६७० के प्रारम्भ में केशवराय का मन्दिर भूमि में मिला दिया गया और उसके स्थान पर एक मसजिद बना दी गई सकी मुस्तैदइक्खाँ लिखता है 'इस प्रकार अन्याय के गढ़ का नाश हुआ। इसका निर्माण नर (बीर १) सिंह बुन्देला ने कराया था, जो एक अज्ञानी तथा कुत्सित व्यक्ति था। इस पर तेंतीस लाख रुपये व्यय किये गये थे।' अराजकता बढ़ने लगी और आगरा तक फैल गई। गोकुला जाट के अनुयायियों की संख्या २०००० तक पहुँच गई। अन्त में एक भयंकर युद्ध हुआ जिसमें विद्रोही नेता पकड़ा गया और टुकड़े-टुकड़े कर डाला गया। विजेताओं के ४००० और विद्रोहियों के ५ ०० व्यक्ति मारे गये; इनमें गोकुल के परिवार के सदस्य भी सम्मिलित थे। इन सबको बलपूर्वक मुसलमान बना दिया गया; केवल वे लोग जो पूर्णतया निर्दोष सिद्ध हुए, छोड़ दिए गये। युद्ध के दौरान में सम्राट ने "उदारतापूर्वक २०० घुड़सवार गाँवों की फसलों की रक्षा के लिए भेजे और आदेश किया कि सैनिक जनता को किसी प्रकार से न सतायें, और न बच्चों को बन्दी बनायें।" ऐसा व्यवहार वास्तव में उसके स्वभाव के प्रतिकूल किन्तु सराहनीय था। इतना सब कुछ होने पर भी विद्रोह शान्त नहीं हुआ। मार्च १६७० में हसन अलीखाँ ने "विद्रोहियों को पकड़ा और उनका वध किया, उनके घरों को लूटा परिवारों को नष्ट किया और उनके (मिट्टी के) गढ़ों को भूमिसात किया।" १६८८ की जून में आगरा के निकट एक फौजदार को जाटों पर चढ़ाई करनी पड़ी, किन्तु उसमें वह स्वयं मारा गया। १६८८ तक दुर्दमनीय जाटों के उपद्रव चलते रहे, और उन्होंने पहले राजाराम, और उसकी मृत्यु के उपरान्त चूड़ामन जाट के नेतृत्व में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। छुट पुट युद्ध तो वे औरंगजेब के अन्तिम दिनों तक चलाते रहे' और उस सम्राट के पतनशील उत्तराधिकारी उनका दमन न कर सके।'

सतनामियों का विद्रोह—सतनामियों (सत्य नाम के उपासक) का एक विचित्र सम्प्रदाय था। दिल्ली से दक्षिण पश्चिम की ओर ७५ मील की दूरी पर स्थित नारनौल नामक स्थान उनका गढ़ था। खाफीखाँ लिखता है:—

'इस वर्ष की (मई १६७२) एक उल्लेखनीय घटना सतनामी कहलाने वाले हिन्दू उपासकों का विद्रोह थी; वे मुण्डिक भी कहलाते हैं। उनकी संख्या लगभग चार पाँच हजार थी और वे नारनौल तथा मेवात के परगनों में गृहस्थों की भाँति रहते थे। ये लोग साधुओं जैसे कपड़े पहनते हैं, फिर भी वे खेती बाड़ी और व्यापार आदि करते हैं, यद्यपि उनका व्यापार बहुत छोटे पैमाने पर चलता है। अपने धर्म के अनुसार उन्होंने

अपना नाम सतनामी रख रखा है। उन्हें सुन्दर पेशों को छोड़ कर अन्य किसी साधन से धन कमाने की आशा नहीं है। यदि कोई उनके साथ अन्याय करने का अथवा बलपूर्वक उनका उत्पीडन करने का प्रयत्न करता है अथवा अपनी सत्ता उन पर जमाना चाहता है तो वे इसे सहन नहीं कर सकते। उनमें से अनेक हथियारों से सुसज्जित हैं।

'इस समय औरंगजेब हसन अब्दाल से लौट रहा था। एक दिन नारनौल के निकट इस सम्प्रदाय के एक व्यक्ति का जो खेती का काम करता था, एक फसल की रखवाली करने वाले पहरेदार से भारी झगड़ा हो गया। पहरेदार ने अपने डण्डे से सतनामी का सिर तोड़ दिया। यह देखकर अनेक सतनामी इकट्ठे हो गये, उन्होंने पहरेदार को पीटा और उसे मरा हुआ समझकर छोड़ गये। जब शिकदार को यह समाचार मिला तो उसने अपने आदमी इकट्ठे किये और उन्हें सतनामियों को गिरफ्तार करने के लिये भेज दिया। इस बीच में सतनामी भी भारी संख्या में जमा हो गये। उन्होंने शिकदार के आदमियों पर आक्रमण किया और उनको धर दबाया तथा उनमें से कई एक को घायल करके उनके हथियार छीन लिये। उनकी संख्या बढ़ती ही गई और अन्त में नारनौल के फौजदार करतलबखाँ के पास यह समाचार पहुँचा।······संक्षेप में यह कहना पर्याप्त होगा कि कई लड़ाइयों के बाद फौजदार मारा गया और नारनौल पर सतनामियों का अधिकार हो गया। वे गाँवों से कर वसूल करने चल दिये और स्थान स्थान पर अपनी चौकियाँ कायम कर दीं। जब सम्राट दिल्ली पहुँचा तो उसे इस उपद्रव की सूचना दी गई; और उसने इसको दबाने के लिये एक के बाद एक दल भेजे, किन्तु वे सब हार कर तितर-बितर हो गये। कहा गया कि इन लोगों पर तलवारों, बाणों और गोलियों का कोई प्रभाव नहीं होता और वे शाही सेना पर जो बाण और गोलियाँ छोड़ते हैं उनमें से प्रत्येक से दो-तीन सैनिक गिर जाते हैं। इस प्रकार लोगों को विश्वास हो गया कि उन्हें जादू-टोना सिद्ध है, और उनके बारे में अनेक कहानियाँ फैल गई, किन्तु वे सब अविश्वसनीय थीं। यह भी कहा गया था कि उनके पास लकड़ी के जादू के घोड़े हैं जो जीवित घोड़ों की भाँति हैं और उन पर सवार होकर उनकी स्त्रियाँ आगे-आगे चलती हैं।

'बड़े बड़े राजा और अनुभवी अमीर शक्तिशाली सेनाओं के साथ उनके विरुद्ध भेजे गये, किन्तु विद्रोही लड़ने के लिये इच्छुक थे और वे दिल्ली से सोलह-सत्रह कोस की दूरी तक बढ़ आये। शाही सेना ने निकल कर वीरतापूर्वक उन पर आक्रमण किया, किन्तु पड़ौस के जमींदारों और कुछ कायर राजाओं ने इस अवसर से लाभ उठा कर प्रभुत्व का जुआ उतार फेंका और सरकारी कर देने से इनकार किया। यहाँ तक कि वे खुल कर मार-काट करने पर उतारू हो गये और विद्रोह की लपटें दिन-प्रति-दिन बढ़ने लगीं। तब सम्राट ने आज्ञा दी कि मेरे तँबूये निकाल कर लाये जायँ। फिर उसने अपने हाथों से कुछ प्रार्थनायें और मन्त्र लिखे और आज्ञा दी कि इन्हें शाही झण्डों में सीं दिया जाय और विद्रोहियों के विरुद्ध भेज दिया जाय। अन्त में राजा बिशनसिंह, हमीदखाँ तथा अन्य लोगों के उद्यम से कई हजार विद्रोही मारे गये और शेष खदेड़ दिये गये, और इस प्रकार विद्रोह शान्त हो गया।'

सिक्ख—सिक्ख धर्म के प्रवर्तक बाबा नानक (१४६९–१५३९ ई० लगभग) थे। हिन्दुत्व पर इस्लाम का जो प्रभाव पड़ा, उसी ने इस धर्म को जन्म दिया। भाई गुरुदास के शब्दों में 'सत्य हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों से ही छिपा हुआ है; दोनों ही सम्प्रदाय पथ-भ्रष्ट हो गये हैं। किन्तु जब वे अन्ध विश्वासों को त्याग देते हैं तो उनसे मिल कर सिक्ख समुदाय बन जाता है। इस धर्म के संस्थापक बाबा नानक से लेकर अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह तक सिक्खों के दस नेता हुये। उन सबने मिल कर १४६९ से १७०८ तक शासन किया; यही काल बाबर से लेकर औरंगजेब तक महान मुगलों का शासन-काल था।

दूसरे गुरु अंगद (१५३९–५२) हुमायूँ (१५३०–५६) के सम-सामयिक थे। पाँचवें गुरु अर्जुन (१५८१–१६०६) बहुत महत्वशाली होगये। एक तत्कालीन लेखक लिखता है कि 'सम्राट (अकबर) और राजा लोग उनके सामने अपना शीश नवाते हैं। धन सदैव उनके पास जमा होता रहता है।' जहाँगीर के समय में इस गुरु का जो भाग्य हुआ उसका हम पहले उल्लेख कर आये हैं उन्होंने विद्रोही राजकुमार खुसरू के प्रति सहानुभूति दिखलाई जिसके परिणाम-स्वरूप उन्हें मृत्यु दण्ड मिला। उनके पुत्र तथा उत्तराधिकारी हरगोविन्द सैनिक प्रवृत्ति के थे। उन्होंने कहा, "मैं दो तलवारें धारण करता हूँ एक आध्यात्मिक, और दूसरी लौकिक सत्ता की प्रतीक है। गुरु के घर में धर्म तथा सांसारिक भोगों का समन्वय होगा।" जहाँगीर ने उनके पिता पर जो जुर्माना किया था, वह उन्होंने अदा नहीं किया, इसलिये उन्हें ग्वालियर के किले में बारह वर्ष बन्दी के रूप में काटने पड़े। शाहजहाँ के शासन के प्रारम्भिक दिनों में (१६२८) एक बार हरगोविन्द के नौकर चाकरों की एक शाही शिकारी दल से भिड़न्त होगई। दण्ड देने के लिये गुरु के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की गई, किन्तु अमृतसर के निकट संग्राम के स्थान पर साम्राज्यवादियों को भारी क्षति उठानी पड़ी और वे खदेड़ दिये गये। किन्तु अन्त में विद्रोही गुरु को भाग कर काश्मीर की पहाड़ियों में स्थित कीरतपुर में शरण लेनी पड़ी और वहीं १६४५ में उनकी मृत्यु होगई। सातवें गुरु हर राय (१६४५-६१) हुये। दारा शिकोह बहुधा उनके दर्शन करने आया करता था, और उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया था।

जब औरंगजेब सिंहासन पर बैठा तो उसने हरराय से इसका उत्तर माँगा; किन्तु हरराय ने केवल अपने सब से बड़े पुत्र रामराय को शाही दरबार में भेजा। रामराय शाही कुचक्रों के जाल में फँस गया, इसलिये पिता ने उसे उत्तराधिकार से वंचित कर दिया और अन्त में मृत्यु के समय (१६६१) अपने दूसरे पुत्र हरकिशन को अपना उत्तराधिकारी नाम निर्देशित किया। तब रामराय ने औरंगजेब की सहायता से स्वयम् गद्दी प्राप्त करने का प्रयत्न किया। हरकिशन को बुलाया गया किन्तु इसी बीच में १६६४ में मृत्यु ने उसे उठा लिया। किन्तु सिक्ख समुदाय ने हरगोविन्द के सब से छोटे पुत्र तेग बहादुर को गुरु चुना। तेग बहादुर १६६८ में मिर्जा राजा जयसिंह के पुत्र रामराजा के नेतृत्व में मुगलों की ओर से आसाम के युद्ध में जा चुके थे। किन्तु पंजाब लौटने पर "वे विद्रोह के उस बवंडर में फँस

गये जो औरंगजेब की धार्मिक अत्याचारों की नीति के कारण उठ खड़ा हुआ था। एक सैनिक तथा धार्मिक नेता ऐसी स्थिति में उदासीन नहीं रह सकता था, जबकि उसके धर्म पर बर्बरतापूर्ण आक्रमण हो रहा था और उसके पवित्र स्थानों को अपवित्र किया जा रहा था।" उस समय काश्मीर तथा अन्य स्थानों में बलपूर्वक लोगों को मुसलमान बनाया जा रहा था, गुरु अपने पूरे हृदय से इसके विरुद्ध आन्दोलन में कूद पड़े। इस प्रकार के आचरण से सम्राट का क्रोध भड़क उठना अनिवार्य था, और जब ऐसा समय आया तो गुरु ने एक शहीद की भाँति अपने जीवन का अन्त किया।

दिल्ली जाते समय तेगबहादुर को विश्वास हो गया था कि अब मेरा अन्त निकट है। इसलिये उन्होंने घृणा की मशाल अपने पुत्र तथा उत्तराधिकारी गोविन्दसिंह को सौंप दी। "उन्होंने हरगोविन्द की तलवार, उनकी (गोविन्दसिंह की) कमर में बाँधी और सिक्खों के गुरु के रूप में उनका अभिनन्दन किया। उन्होंने कहा कि मैं तो मृत्यु के मुख में जा रहा हूँ, किन्तु मेरे मृत शरीर को कुत्तों के लिये मत छोड़ देना। स्मरण रहे कि शत्रु से बदला लेना एक आवश्यक और पुण्य कार्य है।" इन घटनाओं के समय गोविन्दसिंह की अवस्था १५ वर्ष की थी। "शहीद गुरु की अस्वाभाविक मृत्यु और उनकी अन्तिम आज्ञा का गोविन्दसिंह के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा, अपनी निजी हानि तथा देश की गिरी हुई दशा पर मनन करते हुये वे मुसलमान नाम के कट्टर और दुर्दमनीय शत्रु बन गये; उन्होंने पराजित हिन्दुओं को एक नई और महत्वाकांक्षी जाति के रूप में संगठित करने के महान विचार को जन्म दिया।"

यहाँ पर गुरु गोविन्द के व्यक्तिगत इतिहास और प्रशिक्षण के विषय में हमें विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने जो उद्देश्य अपने सामने रक्खा, उसका उल्लेख करना पर्याप्त होगा :—

"एक शक्तिशाली साम्राज्य के बीच में रह कर उन्होंने उसे लौटने का संकल्प किया, सामाजिक पतन और धार्मिक भ्रष्टाचार के बीच उन्होंने रहन-सहन की सरलता, उद्देश्य की अनन्यता और कामनाओं के उत्साह पर बल दिया। गोविन्दसिंह का उद्देश्य जितना महान था उतने ही वे निर्भीक, नियम-बद्ध और युद्ध-प्रिय थे, किन्तु यह समझना गलत होगा कि वे एक सिद्धान्तहीन ठग अथवा आत्म-प्रवञ्चना में पड़े हुए उत्साही व्यक्ति थे। उनका विचार था कि लोगों के मस्तिष्क को महान उद्देश्य की ओर मोड़ा जा सकता है,...... .. उनका यह भी विश्वास था कि अब समय आ गया है कि एक नया गुरु मानव इच्छा-शक्ति की सुसुप्त शक्तियों को जागृत करे। उनका मस्तिष्क आदि ऋषियों और वीरों के कार्यों की कहानियों से ओत-प्रोत था, वे उन महापुरुषों के सम्बन्ध में सोचा करते थे, जिन्हें ईश्वर समय-समय पर शिक्षा देने के उद्देश्य से भेजा करता है, और सम्भवतः उनका यह भी अन्ध-विश्वास था कि इस पृथ्वी पर मुझे एक विशेष कार्य के लिये भेजा गया है, और शायद इससे उनके मस्तिष्क का सन्तुलन कुछ बिगड़ गया था।"

संक्षेप में, सिक्खों के दसवें तथा अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह (१६७५-१७०८) ऐसे व्यक्ति थे जिनके विषय में कहा जाता था कि 'वे चमारों को चीता और गौरैयों को बाज बना सकते थे।' उन्होंने अपने अनुयायियों में विश्वास भर दिया कि 'जहाँ दो सिक्ख रहते हैं, वहाँ सन्तों का समाज होता है, और जहाँ पाँच सिक्ख होते हैं वहाँ स्वयम् ईश्वर निवास करता है।' उन्होंने जाति पाँति के भेद-भाव को दूर करके सिक्खों में एकता स्थापित की और 'खास पाम में उन्हें उसी भाँति स्वतन्त्र कर दिया जैसे कि मुसलमान थे।' वे कहा करते थे, 'मैं चारों जातियों के लोगों को सिंह बना दूँगा और मुगलों का सत्यानाश कर दूँगा।' उन्होंने अपने अनुयायियों को कठोर अनुशासन में रक्खा और लौह पुरुषों के संगठन में परिवर्तित कर दिया। प्रोफेसर सरकार लिखते हैं ' यदि औरंगजेब के लौह पुरुषों में नैतिक और आध्यात्मिक विषयों में अपने नेता के निर्णय को शिरोधार्य करने की वैसी ही भावना और उत्साह होता जैसा कि तैमूर लोगों में था तो वे उतने ही अच्छे सैनिक सिद्ध हुए होते जितने कि गुरु गोविन्दसिंह के सिक्ख थे।"

मुगल साम्राज्यवाद का विरोध करने के लिए उन्होंने स्वयं उसके वैभव के बाहरी प्रतीक धारण कर लिये। वे राजाओं की भाँति रहते "उनके दरबार में कवियों का समुदाय रहता था। उन्होंने अपने तथा अपने परिवार के लिये बहुत-से सोने के आभूषण बनवाये। उनके अंग-रक्षकों को जो बाण दिये जाते थे उनमें से प्रत्येक में सोलह रुपये के मूल्य की सोने की नोंक लगी रहती थी मुगलों का अनुकरण करते हुए उन्होंने अपने लिए भी एक भारी नगाड़ा बनवा लिया।' किन्तु अपने सिक्ख अनुयायियों के साथ वे पूर्ण समानता का बर्ताव करते थे। जब उन्होंने अपने साथियों के लिये नई दीक्षा प्रचलित की तो उन्होंने स्वयम् उसे उनके हाथों से ग्रहण किया और इसे देख कर उनके शिष्यों को बहुत विस्मय हुआ। जब उन्होंने सिक्ख समुदाय को खालसा (गुरु अथवा ईश्वर के निजी लोग) के रूप में संगठित किया तो उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को सिंह का नाम दिया। उन्हें सदैव पाँच चीजें अपने शरीर पर धारण करनी पड़ती थी—केश, कंघा, कृपाण, कच्छ और कड़ा। गुरु ने अपने शिष्यों के सामने जो पहला भाषण दिया उससे इस रूपान्तर का महत्व स्पष्ट हो जाता है, उन्होंने कहा कि बाबा नानक के समय से चरण पाहुल की प्रथा चली आई है लोग उस जल को पीते थे जिसमें गुरु के चरण धोये जाते थे, यह प्रथा लोगों को बहुत नम्र बनाती थी किन्तु अब खालसा एक राष्ट्र के रूप में वीरता और युद्ध कौशल के आधार पर ही जीवित रह सकता है। इसलिये मैंने कटारी के पानी द्वारा दीक्षा देने की प्रथा चलाई है और अपने अनुयायियों को सिक्खों (शिष्यों) से सिंहों में बदल दिया है।" शीघ्र ही गुरु ने लगभग ८,०००० अनुयायियों का एक विशाल दल एकत्र कर लिया।

दीर्घकाल तक गुरु गोविन्द को काश्मीर और पंजाब के स्थानीय सामन्तों और राजाओं से युद्ध करना पड़ा और फिर भारत में साम्राज्य की संगठित शक्ति से उनकी टक्कर हुई। इन संघर्षों के दौरान में उन्होंने अनेक कष्ट और विपत्तियाँ झेलीं और धैर्य, साहस तथा दृढ़ता का परिचय दिया, जिनको देख सुन कर राणा प्रताप का स्मरण हो आता है। उनके दो पुत्र युद्ध में मारे गये और अन्य दो

को इसलिये अपना सिर देना पड़ा कि उन्होंने इस्लाम स्वीकार करने से इनकार किया। इस घोर विपत्ति का समाचार सुन कर गुरु ने पास में खड़ा हुआ एक घास का तिनका उखाड़ा और चाणक्य की भाँति बोले, "जिस प्रकार मैंने इस घास को जड़ से उखाड़ दिया है उसी प्रकार तुर्कों का समूल नाश हो जायगा।" यह ठीक है कि गुरु को अपने जीवन में इस महत्वाकांक्षा को पूरा करने का अवसर न मिला, किन्तु जैसा कि कनिंघम ने लिखा है, किसी व्यक्ति का बड़प्पन उसकी सफलता से नहीं नापा जा सकता। "सिक्खों के अन्तिम गुरु अपने जीवन-काल में अपने महान उद्देश्यों को पूरा न कर सके, किन्तु उन्होंने एक पराजित जाति की सुसुप्त शक्तियों को भली-भाँति जगा दिया और उनमें एक सामाजिक स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय उत्थान की महती कामना भर दी।"

गुरु गोविन्द ने औरंगजेब के नाम एक पत्र लिखा जो 'जफरनामा' के नाम से विख्यात है, यह मुगल सम्राट को चितौनी के रूप में उनका अन्तिम कार्य था। जब औरंगजेब ने उन्हें दरबार में उपस्थित होने को कहा तो उन्होंने लिखा भेजा :—

'मुझे तुझमें रत्ती-भर विश्वास नहीं है। मुझे बाध्य होकर तुमसे उलझना पड़ा और मैंने यथासामर्थ्य युद्ध चलाया। जब कोई मामला कूटनीति की परिधि से बाहर निकल जाता है तो फिर उसके लिये तलवार का सहारा लेना वैध हो जाता है। यदि तू कगर के गाँव में आये, तो वहाँ हम दोनों की भेंट हो जायगी। मार्ग में तुझ पर तनिक भी संकट नहीं आयगा, क्योंकि बैरारों की पूरी जन-जाति मेरे अधीन है। मैं सम्राटों के सम्राट ईश्वर का दास और चाकर हूँ और अपना जीवन देकर भी मैं उसकी आज्ञाओं का पालन करने के लिये तैयार रहता हूँ। यदि तुझे ईश्वर में तनिक भी विश्वास है, तो तू इस विषय में तनिक भी विलम्ब मत कर। ईश्वर को पहचानना तेरा कर्तव्य है। उसने तुझे दूसरों को सताने की कभी आज्ञा नहीं दी। तू एक सम्राट के सिंहासन पर बैठा हुआ है। फिर भी तेरा न्याय कितना विचित्र है! तेरे गुण और धर्म के प्रति तेरी श्रद्धा कितनी विचित्र है! तेरे प्रभुत्व को धिक्कार है! सौ बार धिक्कार है! तेरे आदेश विचित्र हैं, बड़े विचित्र हैं! तू निर्दयतापूर्वक किसी पर अपनी तलवार का प्रहार मत कर और नहीं तो ऊपर से आने वाली तलवार का तुझ पर प्रहार होगा। हे मनुज, दुस्साहस मत कर, ईश्वर से डर। वह पृथ्वी तथा स्वर्ग का सम्राट है। वह तुच्छ जीवों से लेकर हाथियों तक सभी प्राणियों का रचयिता है। वह दीन दुखियों का संरक्षक और आततायियों का संहारक है। क्या हुआ यदि मेरे चार पुत्र मारे गये? मैं समिटे हुये साँप की भाँति अभी जीवित हूँ। जीवन की कुछ चिनगारियों को बुझा देने में क्या पौरुष है? तू केवल धधकती हुई आग को प्रज्ज्वलित कर रहा है। मैं तेरे समक्ष कभी नहीं आऊँगा और न कभी तेरे साथ एक मार्ग पर ही चलूँगा, किन्तु यदि ईश्वर ने चाहा तो मैं सदैव तेरे विरुद्ध चलूँगा। तू अपनी सेना और धन की ओर देखता है, और मैं ईश्वर की अनुकम्पा का सहारा लेता हूँ। तुझे अपने साम्राज्य का घमण्ड है, मुझे अनन्त ईश्वर के राज्य पर अभिमान है। असावधान मत हो, यह कारवाँ-सराय थोड़े ही दिन की है। लोग सदैव

उसे छोड़ते रहते हैं। यद्यपि तू शक्तिशाली है, फिर भी दुबलों को मत सता। अपने ही राज्य पर कुठाराघात मत कर।'

गुरु की भविष्यवाणी पूरी हुई और सम्राट सचमुच थोड़े ही दिनों में इस कारवाँ सराय से चल बसा; वे स्वयं कुछ दिन और जीवित रहे। जिस समय राजकुमार मुअज्जम औरंगजेब के सिंहासन पर अधिकार करने जा रहा था, उसी समय मार्ग में गुरु ने उससे भेंट की। खालसा फौज ने बहादुरशाह की जो सेवा की उसके बदले में उसने गोविन्दसिंह को ५ हजार घुड़सवार का मंसब प्रदान किया। नये सम्राट के साथ गुरु गोविन्द दक्खिन की चढ़ाई में गये, जहाँ एक पठान ने जिसकी उनसे पुरानी शत्रुता चली आरही थी, उनका वध कर दिया। ये घटना १७०८ में गोदावरी नदी के किनारे स्थित नादिर नामक स्थान पर (हैदराबाद से १२० मील पश्चिमोत्तर में) घटी। गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के साथ-साथ सिक्खों के दस गुरुओं की परम्परा का भी अन्त होगया। गुरु की सदैव यही कामना रही थी—

हे ईश्वर! मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ, प्रसन्न होकर मुझे ऐसा वरदान दे कि जब मेरे जीवन का अन्त आये तो एक महान युद्ध में लड़ता हुआ मैं वीर गति को प्राप्त करूं।

अपने अनुयायियों को उनका अन्तिम सन्देश था —' मैंने तुम्हें अनन्त ईश्वर के सुपुर्द कर दिया है। सदैव उसी के संरक्षण में रहो और किसी का भरोसा मत करो। जहाँ कहीं भी गुरु की शिक्षाओं का अनुसरण करने वाले पाँच सिक्ख जमा हों, विश्वास रखो कि वहाँ मैं उनके बीच उपस्थित रहूँगा। मैंने खालसा और ग्रन्थसाहब में अपनी आत्मा फूँक दी है। ग्रन्थ-साहब के अनुसार चलो। वह गुरु का मूर्त शरीर है। अत: जो कोई मुझसे मिलने की इच्छा रखता हो वह यत्नपूर्वक उसके मन्त्रों (पदों) का मनन करे।"

राजपूतों का प्रतिरोध

चित्तौड़—शाहजहाँ के शासन के अन्तिम दिनों में उदयपुर के राणा जगतसिंह ने चित्तौड़ की दीवारों की मरम्मत कराने का प्रयत्न किया। स्मरण रहे कि अकबर ने उनका विध्वंस किया था और जहाँगीर तथा अमरसिंह के बीच हुई सन्धि की यह एक शर्त थी कि उनका कभी जीर्णोद्धार नहीं कराया जायगा।

जब शाहजहाँ को इसका पता लगा तो उसने 'अल्लामी को अनेक अमीरों, मनसबदारों और १,५०० बन्दूकचियों के साथ चित्तौड़ भेजा; इन सब की संख्या ३०,००० रही होगी उसे आज्ञा दी गई कि उस दिशा में शीघ्रता से जाय और किले का ध्वंस कर दे। इस तरह ५ जिल हिज्ज को वह चित्तौड़ के निकट पहुँचा और उसने मजदूरों की टुकड़ियों को कुदालियों और फावड़ों से इस शक्तिशाली दुर्ग को खोद डालने का आदेश दिया। तदनुसार चौदह पन्द्रह दिन के भीतर उन्होंने बुर्जों और दीवालों को गिरा दिया,

नई और पुरानी सभी दीवालें तोड डालीं गईं और सम्पूर्ण किला भूमिसात कर दिया गया। जब शाही सेना के विजयी झंडे और दुर्दमनीय दल अजमेर पहुँच गये, और जब किसानों में भगदड मच गई और देश बरबाद हो गया, तब राणा असावधानी की नींद से जागा, उसने दरबार को एक पत्र और अपने छः वर्षीय पुत्र को भेजा तथा बहुत ही नम्रतापूर्वक क्षमा-याचना की, तब एक फरमान जारी किया गया कि चूँकि किला ढा दिया गया है और राणा ने अपना पुत्र दरबार मे भेज दिया है, इसलिये राजकुमार बुलन्द इकबाल के अनुरोध से उसके अपराधों की पजी पर क्षमा का कलम फेर दिया गया है।'

तूफान से पहले की स्तब्धता—इस घटना के बाद लगभग २५ वर्ष तक राजपूताना के साम्राज्य के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बने रहे। जैसा कि हम इसी अध्याय के अगले भाग में देखेंगे, जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह और अम्बेर (जयपुर) के जयसिंह ने मराठों के विरुद्ध मुगल सेनाओं का संचालन किया। उत्तराधिकार-युद्ध के दौरान में जसवन्तसिंह धर्मात की लड़ाई में औरंगजेब के विरुद्ध लडा था और खजवाहा में उसे धोखा दिया था। किन्तु औरंगजेब अन्त में उसे अपनी ओर मिलाने में सफल हुआ। टॉड लिखते हैं, कुटिल सम्राट, 'युद्ध की अपेक्षा कूटनीतिक चालों को सदैव अच्छा समझता था,' इसलिये उसने 'जसवन्तसिंह को एक पत्र लिखा और विश्वास दिलाया कि मैंने तुम्हे पूर्णतया क्षमा कर दिया है और यह भी कहा कि यदि तुम दारा का साथ छोड़ दो और युद्ध में तटस्थ रहो तो मैं तुम्हे गुजरात का सूबेदार बना दूंगा।' खजवाहा के बाद, और देवराई से पहले (५ जनवरी–१३ मार्च १६५६) मिर्जा राजा जयसिंह के बीच में पड़ने से जसवन्तसिंह और औरंगजेब में संधि हो गई। यद्यपि दोनों राजाओं ने सम्राट की अच्छी सेवायें कीं, फिर भी उन दोनों को समान रूप से भयंकर दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा। उन दोनों के बारे में औरंगजेब को सन्देह था कि वे शिवाजी से मि[illegible] हुये हैं, इसलिये उसने अन्त में दोनों से अपना पिंड छुड़ाया, एक को विष देकर और दूसरे को "अटक के उस पार मरने के लिये" भेज कर।

कहा जाता है कि जब तक जसवन्तसिंह जीवित रहा औरंगजेब के दिल की आह कभी ठण्डी नहीं हुई। राजस्थान के अमर इतिहासकार का कथन है.—

"राजपूताना के इतिहास में जसवन्तसिंह का जीवन अत्यन्त असाधारण है। जब औरंगजेब से उसका पहली बार संघर्ष हुआ, तब से लेकर अफगानों से युद्ध के समय तक उसने ४२ वर्ष मुगल सम्राट की सेवा की। इस काल में उसके जीवन में एक के बाद एक अनेक महान घटनायें घटीं। यद्यपि वह राठौर शाहजहाँ के पुत्रों में स्पष्टवादी तथा सरल स्वभाव दारा को कुटिल औरंगजेब की अपेक्षा अधिक अच्छा समझता था, किन्तु वास्तव में उसे उस सम्पूर्ण नस्ल से घृणा थी और वह उन्हें अपने धर्म और स्वाधीनता का शत्रु समझता था; साम्राज्य के लिये युद्ध में उसने किसी एक भाई का साथ दिया, तो इस आशा से कि वे सब आपस में लडकर नष्ट हो जायंगे।"

मारवाड़ पर आक्रमण—इसलिये चित्तौड़ के विध्वंस के बाद के राजपूतों की अधीनता के पचीस वर्ष [वास्तव में तूफान से पहले की स्तब्धता के समान थे। १० दिसम्बर १६७८] को जमरूद में जसवन्तसिंह का देहावसान हो गया और लगभग तभी से युद्ध का श्रीगणेश हो गया। वीर राजपूत को औरंगजेब ने अफगानों से लड़ने के लिये इस आशा से भेजा था कि वह लौटकर न आ सकेगा। जसवन्तसिंह की अनुपस्थिति में उसके उत्तराधिकारी पृथ्वीसिंह ने 'मारु' (मारवाड़) का शासन भार सँभाला। औरंगजेब ने पृथ्वीसिंह को अपने दरबार में बुलाया और खूब चाटुकारितापूर्ण सत्कार किया और अन्त में उसे एक विषयुक्त 'सम्मान सूचक पोशाक' भेंट की—'वह उसका अन्तिम दिन सिद्ध हुआ।' जसवन्तसिंह अफगान-युद्ध की कठिनाइयों से ही जर्जरित हो गया था। उधर काबुल में उसके दो पुत्रों की मृत्यु हो गई। इधर पृथ्वीसिंह का वियोग, इन सबने उसके जीवन का शीघ्र ही अन्त कर दिया। तीन सप्ताह भी न बीतने पाये थे कि औरंगजेब जोधपुर के सम्बन्ध में अपनी योजनायें कार्यान्वित करने लगा।

राज्य में कोई राजा न था और जसवन्तसिंह के सब उत्तम सैनिक अफगानिस्तान में पड़े हुए थे, इसलिये मुगलों के लिए अब कुछ बहुत सरल हो गया। जोधपुर में फौजदार, किलेदार, कोतवाल और अमीन के पदों पर तुरन्त ही मुसलमान नियुक्त कर दिये गए। सम्भावित विद्रोह को अपने आतंक से दमन करने के लिये औरंगजेब ने स्वयम् ६ जनवरी १६७९ को अजमेर के लिये प्रस्थान किया। ७ फरवरी को खानेजहाँ बहादुर को उच्चाधिकारियों की एक टुकड़ी के साथ भेजा और आदेश दिया कि "देश पर अधिकार कर लो, मन्दिरों को तोड़ डालो और स्वर्गीय महाराजा की सारी सम्पत्ति जब्त कर लो।" २ अप्रैल को औरंगजेब दिल्ली लौट गया और जिजया को फिर से लगाने का महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। जोधपुर संघर्षशील हिन्दुत्व का केन्द्र था। उसका सफलतापूर्वक दमन करके औरंगजेब फूला न समाया। दूसरे महीने खानेजहाँ लौट कर दरबार में उपस्थित हुआ और अपने साथ जोधपुर से गाड़ियों भर कर मूर्तियाँ लाया जिससे कि राजधानी में पवित्र मुसलमान उन्हें अपने पैरों के नीचे कुचल सकें। मारवाड़ को नीचा दिखाने का काम पूरा करने के लिए जसवन्तसिंह का सिंहासन नागौर के सरदार को ३६ लाख रुपये में बेच दिया गया; उस सरदार ने २६ मई १६७९ को शाही सेना की सहायता से उस पर अधिकार कर लिया।

अजीतसिंह और दुर्गादास—किन्तु शीघ्र ही क्षितिज पर बादल घिर आये। फरवरी के महीने में महाराजा की दो विधवाओं से लाहौर में दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें से एक तो कुछ ही सप्ताह के भीतर मर गया, किन्तु दूसरे का जीवन बहुत रोमांचकारी सिद्ध हुआ और वह अपने पिता के सिंहासन पर बैठने के लिए जीवित रहा। यह बालक अजीतसिंह था जिसका वीरदुर्गादास ने संरक्षण किया। टॉड ने दुर्गादास को राठौरों का यूलीसिस कहा है। राजपूत लोग

आज भी उसको अपने शूरत्व का अवतार कह कर स्मरण करते हैं। "यह आदर्श राजपूत जैसा वीर था वैसा ही अपने देश का मुक्तिदाता सिद्ध हुआ। उसी के सुझाव से उसके राजकुमार की रक्षा हुई और उसी के वीरतापूर्ण कार्यों से अन्त में (देश की) मुक्ति का कठिन कार्य सम्पादित हुआ।"

जब औरंगजेब ने जसवन्तसिंह के पुत्रों के जन्म का समाचार सुना तो शीघ्र ही उसने उन्हें पकड़वाने का संकल्प किया। वे दिल्ली लाये गए, किन्तु दुर्गादास की चाल से मारवाड़ के हेतु अजीतसिंह बच गया। इस घटना का वर्णन खाफीखाँ ने इस प्रकार किया है :—

'सम्राट के हृदय में जसवन्तसिंह के कर के सम्बन्ध में एक पुरानी शिकायत चली आ रही थी, उसके मरने के बाद राजपूतों की इन कार्यवाहियों ने उस शिकायत को और भी गहरा कर दिया। उसने कोतवाल को आज्ञा दी कि अपने आदमियों को साथ लो और मसबदारों से कुछ सैनिक तथा बन्दूकें ले लो और जाकर राजपूतों की शिविर को घेर लो और उसका पहरा दो। इस बीच में राजपूतों को दो लड़के मिल गये जिनकी अवस्था उतनी ही थी जितनी कि राजा के बालकों की। उन्होंने कुछ नौकरानियों को रानियों के वस्त्र पहना दिये और अपनी चाल को सावधानी से छिपाने के लिये इन स्त्रियों और लड़कों को शिविर में पहरे के छोड़ दिया। असली रानियाँ पुरुषों का वेश धारण कर दो विश्वसनीय नौकरों और एक स्वामिभक्त राजपूतों के दल के साथ रात को निकल भागीं और पूरी रफ्तार से अपने देश के लिये चल पड़ीं। वे वीर और क्रियाशील सरदार जो उन्हें रोकते या पकड़ लेते, शिविर का पहरा दे रहे थे, जिसमें राजा के छलिया बालक बन्द थे। दो-तीन पहर के उपरान्त जब इस बात की सूचना मिली तो कुछ अधिकारी जाँच करने के लिये भेजे गये, किन्तु उन्होंने बार-बार आकर यही कहा कि रानियाँ और बच्चे अब भी यहीं हैं। तब राजा के सब अनुयायियों को किले में ले जाने की आज्ञा ली गई। राजपूत तथा छद्म-वेशधारी स्त्रियाँ अपने राजा के सम्मान के लिये लड़ने के लिये तैयार हुईं और उन्होंने डट कर सामना किया। उनमें से अनेक मारे गये, किन्तु वह दल सफलतापूर्वक निकल भागा।,

इस पूरी चाल की योजना दुर्गादास ने बनाई थी और उसी ने इसे कार्यान्वित किया; वह जसवन्तसिंह के मन्त्री और धुनेरा के सरदार असकरन का पुत्र था। "उसे भयंकर विपत्तियों का सामना करना पड़ा, उसके चारों ओर शत्रु मड़रा रहे थे, उसके अपने देशवासियों में विश्वास और दृढ़ता का अभाव था, फिर भी उसने अपने राजा का झंडा ऊँचा रक्खा। मुगलों का सोना उस स्वामिभक्त हृदय को जीत न सका और न मुगलों की सेनायें उसको आतंकित कर सकीं। राठौरों में लगभग वही एक ऐसा व्यक्ति था, जिसमें राजपूत सैनिक के दुर्दमनीय साहस और शूरत्व और मुगल राज-मन्त्री की चाल, कूटनीति और संगठन-शक्ति का समन्वय था।" रघुनाथ भट्टी और रणछोरदास जोधा अन्य 'मृत्यु-प्रिय' राजपूत थे, जिन्होंने अपना जीवन देकर भागती हुई रानियों और बालकों की पग-पग पर मुगलों से

रक्षा की और इस प्रकार अपने लिये अमरत्व प्राप्त किया। दिल्ली से लेकर मार वाड़ तक का मार्ग वीर राजपूतों के रक्त से रंग गया, किन्तु अजीतसिंह के संरक्षक उसे लेकर जोधपुर तक पहुँचने में सफल हुये (२३ जुलाई १६७९)। समस्त मारवाड़ शीघ्र ही अपने बालक राजा के झंडे के नीचे एकत्रित हो गया।

किन्तु औरङ्गजेब राजनैतिक चालबाजियों में सिद्धहस्त था उसने अजीतसिंह को छलिया घोषित कर दिया और स्वयं उसके अधिकार में अजीतसिंह की आयु का एक ग्वाले का जो लड़का था, उसे जसवन्तसिंह का वास्तविक उत्तराधिकारी बतलाया। इस लड़के का मुगल रनिवास में अजीतसिंह के प्रतिद्वन्दी के रूप में पालन पोषण हुआ और उसका नाम मुहम्मदीराज रक्खा गया। (इस नाम के पीछे कितनी कुत्सित भावनायें छिपी हुई हैं!)। उसी समय मुसलमानों का एक शक्तिशाली दल मारवाड़ को पुनः जीतने के लिये भेज दिया गया। "उस अभागे प्रान्त में सर्वत्र अराजकता और नर-संहार का नृत्य होने लगा।"

२५ सितम्बर को औरंगजेब ने पुनः अजमेर को अपना मुख्य निवास स्थान बनाया। राजकुमार मुहम्मद अकबर को जो आगे चलकर नियति के हाथ की कठ पुतली बना, इस लड़ाई का भार सौंपा गया और अजमेर के फौजदार तहव्वुरखाँ को उसके अधीन सेनानायक नियुक्त किया गया। इस दुखान्त नाटक का पहला दृश्य पुष्कर के निकट पवित्र वाराह मन्दिर में खेला गया, जबकि मेड़ता के वीर, राजपूतों की एक टुकड़ी जो राजसिंह के नेतृत्व में लड़ रही थी, काट डाली गई— राजसिंह इस धर्मोपली का त्यूनिडास सिद्ध हुआ। इसके बाद मारवाड़ का प्रत्येक पग एक दुर्ग और प्रत्येक राठौर एक दुर्दमनीय 'होरावस दी येक' बन गया। 'मारू' रक्तपात लूट और सम्पातमाश के एक विनाश अखाड़े में परिवर्तित हो गया। हिन्दुओं के इस मैदानजम में इस्लाम की विजय की घोषणा करने के लिये मन्दिरों के स्थान पर वर्षाकालीन घास की भाँति मसजिदें उठ खड़ी हुई। जाल फैला दिया गया, यद्यपि चिड़ियाँ उड़ चुकी थी।

'जिस प्रकार मेघ पृथ्वी पर जल बरसाते हैं, उसी भाँति औरंगजेब ने उस भूमि पर अपने बर्बर सैनिकों की बौछार कर दी।' वास्तव में यह केवल मारवाड़ के ही लिये संकट काल न था बल्कि मेवाड़ तथा अन्य राज्यों के लिये भी इसने संकट उपस्थित हो गया। "मारवाड़ की विजय मेवाड़ की सरल विजय के मार्ग में पहला कदम थी।" इसके अतिरिक्त इस बात की आशा नहीं की जा सकती थी कि अरावली की पहाड़ियाँ मन्दिर-विध्वंस के तूफान को रोक सकेंगी। इससे पहले भी मेवाड़ के महाराणा से जिजया की माँग की जा चुकी थी। इसलिये सीसौदियों के लिये इस अवसर पर राजपूतों से मिल जाना स्वाभाविक था। चूँकि अजीतसिंह की माता मेवाड़ की राजकुमारी थी, इसलिये यह मेल और भी अधिक सरल हो गया।

तदनुसार महाराणा राजसिंह ने मेवाड़ की रक्षा की तैयारियाँ आरम्भ कर दीं। उसने चित्तौड़ की पुनः किलेबन्दी की और राजधानी के मार्ग में स्थित देबारी के

दर्रे को रोक दिया। किन्तु औरंगजेब जैसा अनुभवी सेनानायक आगे की घटनाओं की प्रतीक्षा नहीं कर सकता था। ३० नवम्बर १६७६ को वह अजमेर से उदयपुर को चल पड़ा। ४ जनवरी १६८० को देबारी पर अधिकार हो गया। राजपूतों ने देखा कि हम निचली भूमि पर शत्रु का सामना नहीं कर सकते, इसलिये उन्होंने पहाड़ों की शरण ली और अपनी राजधानी को भी छोड़ दिया। इसलिये बिना अधिक संघर्ष के उदयपुर पर मुगलों का अधिकार हो गया। विशाल मन्दिर के लोग ही उसके एक मात्र रक्षक थे—वह मन्दिर 'उस युग की एक विस्मयकारक वस्तु था और उसके निर्माण में काफिरों ने बहुत धन व्यय किया था; किन्तु मुसलमानों ने शीघ्र ही सबका काम तमाम कर दिया।' उदयसागर के तीन मन्दिरों की भी यही दशा हुई। मुगल सेनानायक हसन अली खाँ ने जी जान से भगोड़ों को ढूंढ़ने का प्रयत्न किया, किन्तु वह स्वयं ही कुछ समय के लिये भँवर में फंस गया। अन्त में २२ जनवरी को राणा की पराजय हुई। १७३ मन्दिर उदयपुर के निकट और ६३ चित्तौड़ में शत्रु के प्रहारों से भूमिसात हो गये। अपना काम पूरा करके २२ मार्च को औरंगजेब अजमेर लौट गया। शेष भार राजकुमार अकबर ने सँभाला, चित्तौड़ को उसने अपना आधार निश्चित किया। सम्राट के इस प्रकार शीघ्रता से लौट जाने का मुगलों को भारी मूल्य चुकाना पड़ा। अकबर या तो स्थिति का सामना करने के अयोग्य था अथवा उसके पास युद्ध साधनों की कमी थी। सीसोदियों ने छापामार रणनीति से काम लिया और लुक-छिप कर शत्रु को तंग करने लगे। मई तक राणा ने मुगलों को भारी क्षति पहुँचाई। "कुछ दिनों बाद राजपूतों ने बजारों का वह काफिला लूट लिया जो अकबर की सेना के लिये मारवाड़ से १०,००० बैलों पर लाद कर ला रहा था।" राणा के पुत्र भीमसिंह ने अप्रत्याशित स्थलों पर शीघ्र तथा सहसा प्रहार किये। अकबर ने शिकायत की कि 'डर के मारे हमारी सेना निश्चल हो गई है!"

अकबर ने जब इस प्रकार अपनी हार स्वीकार करली, तो उसे मारवाड़ को स्थानान्तरित कर दिया गया। मेवाड़ में युद्ध-संचालन का भार अब राजकुमार आज़म को सौंपा गया (२३जून); शेष दोनों राजकुमारों को आज्ञा हुई कि वे उसकी सहायता करें और तीन ओर से प्रहार किया जाय। आजम चित्तौड़ से, मुअज्जम राज-समुद से और अकबर देव सूर से। किन्तु यह योजना भी विफल रही। अकबर १८ जुलाई १६८० को अपने मुख्य निवास-स्थान सोजत (मारवाड़ में) में जा पहुँचा, किन्तु परिस्थिति इतनी गम्भीर थी कि राजकुमार ने वास्तविक लड़ाई लड़ने की अपेक्षा केवल सैनिक हल-चल का दिखावा किया। सितम्बर के अन्त में उसने अपने डेरे हटा कर नाडौल में डाले और १६ नवम्बर को औरंगजेब की आतुरतापूर्ण आज्ञाओं के अनुसार देवसूरी की ओर बढ़ा; इस समय राजकुमार की दशा एक स्कूल के बच्चे की भाँति थी जो अनिच्छा से बड़बड़ाता हुआ स्कूल की ओर जाता है। ऐसी असम्भव स्थिति में इस दबाव का जो परिणाम हुआ उसका औरंगजेब को स्वप्न में भी डर न था। १६८१ का वर्ष विश्वासघात के साथ प्रारम्भ हुआ।

अकबर का विद्रोह—१ जनवरी को राजकुमार मुहम्मद अकबर ने शाही पोशाक पहनी ; ४ मुल्लाओं ने उसे आशीर्वाद दिया और घोषणा की कि 'इस्लामी धारा का उल्लंघन करने के कारण' औरंगजेब को सिंहासन से हटा दिया गया है।

दुर्गादास के नेतृत्व में १०,००० राजपूत अकबर से आ मिले। हर डेरे में यह समाचार फैल गया और बूढ़े जवान सभी इसकी चर्चा करने लगे। कहा गया कि राजकुमार सिंहासन पर बैठ गया है और उसने नाम के सिक्के जारी कर दिये हैं ; तहव्वुर खाँ को हफ्त हजारी बना दिया गया है और उसे अमीर उल् उमरा की उपाधि प्रदान की गई है ; मुजाहिद खाँ तथा राज्य के अन्य बड़े अधिकारियों को जो अकबर के साथ हैं सम्मान प्राप्त हुये हैं, उनमें से कुछ ने उन्हें बाध्य होकर स्वीकार किया है। राजकुमार ने सभी लोगों का स्नेह भाजन बनने का भरसक प्रयत्न किया, और इस बात की अफवाह फैल गई कि वह औरंगजेब पर चढ़ाई करने वाला है।

इसी बीच में विद्रोही राजकुमार की शिविर में फूट पड़ गई और कुछ लोग उसका साथ छोड़ने लगे। शिहाबुद्दीन खाँ (प्रथम निज़ाम का पिता) पहला मुगल सेनानायक था, जो दो दिन में ११० मील की कठिन यात्रा करके अपने भाई मुहाफ़िज़ खाँ को अकबर के पास से औरंगजेब के दरबार में ले आया। तहव्वुर खाँ अकबर का दायाँ हाथ था; उसको उसके ससुर इनायत खाँ (औरंगजेब का सचिव) ने पत्र लिख कर धमकी दी और कहा कि तुम्हें तुम्हारे अविवेक के लिये क्षमा कर दिया जायगा किन्तु यदि तुमने यह बात न मानी तो तुम्हारी स्त्रियों के साथ खुले आम बलात्कार किया जायगा और तुम्हारे पुत्रों को दास बना कर कुत्तों के मूल्य पर बेच दिया जायगा। (इसकी तुलना हमें दुर्गादास के आचरण से करनी चाहिये जिसने अकबर के परिवार को शरण दी और उसके बच्चों की शिक्षा के लिये मुस्लिम अध्यापक रख दिये)। तहव्वुर राजकुमार का साथ छोड़ कर चला गया, किन्तु उसे अपने आचरण का भयंकर प्रतिफल भोगना पड़ा। जब वह औरंगजेब की शिविर में पहुँचा तो उसने मुगल-दरबारी की प्रतिष्ठा के अनुरूप सशस्त्र ही सम्राट के समक्ष उपस्थित होने का हठ किया। उसके इस हठ से लोगों को संदेह हुआ कि सम्भवतः वह सम्राट की हत्या करना चाहता है। शब्दों से वह हाथा पाई पर आ गया। 'एक भीड़ उसके ऊपर टूट पड़ी, और वह शीघ्र ही मार डाला गया और उसका सिर काट लिया गया।'

राफोर्स लिखता है 'इस घटना का कुछ भी रूप रहा हो उसकी हत्या से राजकुमार की सेना में और राजपूतों में फूट पड़ गई और वे बहुत हतोत्साह होगये।' कहा जाता है कि इस अवसर पर औरंगजेब ने एक चाल रची जैसी कि जोधपुर के मालदेव से युद्ध के समय शेरशाह ने रची थी। 'इस बात की सामान्य चर्चा थी कि औरंगजेब ने कुटिलता से राजकुमार मुहम्मद अकबर को एक पत्र लिखा और ऐसी चाल चली कि वह राजपूतों के हाथों में पड़ गया। इस पत्र में उसने राजकुमार की प्रशंसा की कि

तुमने हमारी आज्ञानुसार राजपूतों को अपनी ओर मिला कर बहुत अच्छा किया है, और अब तुम अपनी सेवा को अधिक उज्ज्वल बनाने के लिये उन्हें ऐसी स्थिति में पहुँचा दो कि वे दोनों सेनाओं की भाग (अकबर और औरंगजेब की) के बीच में आ जायँ। इस पत्र से उनमें बहुत फूट पड़ गई। वास्तव में यह चाल बहुत सफल हुई, और एक दिन अकबर ने देखा कि उसके साथी उसे छोड़ कर चले गये हैं। राजपूतों को वास्तविकता का पता लग गया, किन्तु बहुत देर में। 'यद्यपि अकबर ने अपने पिता के विरुद्ध एक विशाल सेना खड़ी की, किन्तु एक भी तलवार नहीं खींची गई और न युद्ध ही हुआ और उसकी सेना तितर-बितर होगई। शीघ्र ही राजकुमार को समाचार मिला कि राजपूतों ने साथ छोड़ दिया है। उसके साथ केवल दुर्गादास, राणा के दो-तीन विश्वसनीय पदाधिकारी और दो-तीन हजार घुड़सवारों की एक छोटी सी टुकड़ी रह गई। उसके पुराने नौकरों और आदमियों में से केवल यही बच रहे। वह अपना सम्पूर्ण साहस, आत्म-विश्वास और आशा खो बैठा और पूर्णतया भग्न-हृदय होकर भाग खड़ा हुआ।·········
राजकुमार मुहम्मद मुअज्जम को उसका पीछा करने की आज्ञा दी गई।'

अकबर की शेष कहानी संक्षेप में इस प्रकार है यद्यपि उसका बुरी तरह पीछा किया गया, फिर भी अन्त में वह भाग कर दक्षिण पहुँचा और रायगढ में शम्भाजी जी के दरबार में शरण ली। वहाँ उसका अच्छा स्वागत हुआ। शम्भु जी स्वयं 'उसका स्वागत करने आया और उसे रहरी के किले से तीन कोस पर अपना एक निजी मकान रहने के लिये दे दिया और उसके निर्वाह के लिये भत्ता निश्चित कर दिया।' किन्तु औरंगजेब ने 'दक्खिन के सूबेदार खानजहाँ बहादुर तथा सब फौजदारों को फरमान भेजे और आदेश दिया कि वह (अकबर) जहाँ कहीं भी मिले उसे रोक दो और यदि हो सके तो जीवित बन्दी बना लो अन्यथा मार दो।' जब 'यह समाचार भी आगया कि एक सेना इक्तादखाँ के अधीन रहरी की विजय के लिये भेज दी गई है तो राजकुमार मुहम्मद अकबर ने······ सोचा कि यहाँ से जितनी जल्दी हो सके ईरान को चला जाय, इसी में भला है।' वहाँ पर उसने ईरान की सहायता से भारत पर आक्रमण करने का विचार किया जैसा कि हुमायूँ ने किया था। किन्तु 'औरंगजेब के शासन के अन्तिम दिनों में' खुरासान में स्थित गर्मसीर में उसका देहावसान हो गया।

मेवाड़ से सन्धि—जैसा कि प्रो० सरकार ने लिखा है, "अकबर का विद्रोह दिल्ली के सम्राट को बदलने में असफल रहा, किन्तु इससे महाराणा को अप्रत्याशित लाभ हुआ। इससे मुगलों की युद्ध-योजना उस समय छिन्न-भिन्न हो गई जब कि उसका राज्य बुरी तरह जाल में फँस चुका था और जब उसका पहाड़ी शरण-स्थान भी अजेय न रहा था। अकबर के विद्रोह ने जाल को तोड़ दिया; सभी ऐसे शाही सैनिक जो विद्रोह की भावना से अछूते थे, मारवाड़ भेज दिये गये, इसलिये मेवाड़ पर से अपने आप दबाव उठ गया।" इसी बीच में वीर राणा राजसिंह की मृत्यु हो चुकी थी (२२ अक्टूबर १६८०); उसका उत्तराधिकारी जयसिंह इस योग्य न था कि संघर्ष को जारी रख सकता। औरंगजेब

भी अब अपनी शक्ति दक्षिण में जुटाना चाहता था। अप्रैल १६८०में शिवाजी की मृत्यु हो जाने से उस दिशा में नई आशाएँ उत्पन्न हो गईं। भागते हुए अकबर का पीछा करने के लिये दक्खिन में नई शाही सेनाएँ भेजने की आवश्यकता पड़ गई। इसके अतिरिक्त शम्भाजी ने भगोड़े राजकुमार को शरण देकर औरंगजेब की क्रोधाग्नि को और भी अधिक प्रज्वलित कर दिया था। इन बातों को ध्यान में रखते हुए उत्तर में शान्ति कायम करना ही समयानुकूल समझा गया। उधर बीकानेर के श्यामसिंह ने दोनों पक्षों के बीच मध्यस्थता करना स्वीकार कर लिया, जिससे मामला सरल हो गया।

१४ जून १६८१ को राजकुमार मुहम्मद आजम ने स्वयं जाकर राजसमुद्र के निकट महाराणा से भेंट की, और मेवाड़ तथा साम्राज्य के बीच निम्न शर्तें तय होगईं

(१) उदयपुर से जो जिजया माँगा गया था उसके बदले में मण्डल, पुर और बेदनौर के परगने स्थायी रूप से साम्राज्य में मिला दिये जायँगे।

(२) मुगल लोग मेवाड़ की भूमि से अपनी सम्पूर्ण सेनाएँ हटा लेंगे।

जयसिंह को राणा स्वीकार कर लिया गया और मुगल सेना में उसे ५००० का मंसब प्रदान किया गया। दो महीने बाद मेवाड़ का वीर भीमसिंह मुगलों की नौकरी में भर्ती हुआ उसे राजा की उपाधि से विभूषित करके अजमेर में नियुक्त किया गया, क्योंकि राठौरों से अगस्त १७०९ तक युद्ध चलता रहा।

मारवाड़ ने युद्ध जारी रक्खा—इस प्रकार मित्र के पीठ दिखा जाने पर भी मारवाड़ ने मुगल साम्राज्य के प्रति अपनी शत्रुतापूर्ण नीति नहीं त्यागी; क्योंकि राठौर तब तक शान्त नहीं हो सकते थे जब तक अजीतसिंह को अपने पूर्वजों का सिंहासन नहीं मिल जाता। औरंगजेब दक्षिण के लिये कूच कर गया था, किन्तु राज्य अब भी मुगल अधिकारियों के अधीन था; मुगल अधिकार सेना मारू की आँखों में अब भी खटकती थी। इसलिये औरंगजेब की मृत्यु तक, जब तक अजीतसिंह को सिंहासन नहीं मिल गया, मारवाड़ का स्वतन्त्रता संग्राम जारी रहा। इस दीर्घकालीन संघर्ष को हम तीन युगों में बाँट सकते हैं: (१) १६८१ से १६८७ तक यह पूर्णरूप से जन-संग्राम था—न राजा था न नेता और न निश्चित युद्ध योजना, (२) १६८७ से १७०१ तक दुर्गादास और अजीतसिंह ने युद्ध का नेतृत्व और संचालन किया; उन्हें विजयें प्राप्त हुईं, किन्तु फिर भी वे मुसलमानों को पवित्र भूमि से न निकाल सके; और (३) १७०१ से १७०७ तक के युग में भयंकर युद्ध और रक्तपात हुआ और दोनों ही पक्षों को क्षति उठानी पड़ी, किन्तु अन्त में मुगलों की आक्रमणकारी और लोभपूर्ण नीति का दिवाला निकल गया और मारवाड़ को अपने राष्ट्र का राजवंश पुनः मिल गया।

अजीतसिंह अभी शिशु ही था और छिपा कर रक्खा गया था और दुर्गादास दूर दक्षिण को चला गया था, किन्तु राठौरों ने साम्राज्यवादियों के विरुद्ध संघर्ष जारी रक्खा,

उसी प्रकार जिस प्रकार कि नैदरलैण्टज वासियों ने स्पेन वालों के विरुद्ध और शम्भाजी की मृत्यु के बाद मराठों ने मुगलों के विरुद्ध। उन्होंने पहाड़ियों में और मार्ग से दूर के स्थानों में शरण ली, और जैसा कि स्वयं उनके एक चारण ने कहा है, 'सूर्यास्त से एक घंटे पहले ही मारू का प्रत्येक फाटक बन्द हो जाता था। किले मुसलमानों के हाथों में थे किन्तु मैदानों में राठौर की आज्ञा का पालन होता था। ' अब सड़कों पर चलना असम्भव था।' अपनी छापामार नीति के कारण वे दुर्दमनीय थे और साथ ही साथ शत्रु सेना के लिये अत्यन्त विनाशकारी। उनकी सबसे घातक चालें थीं मुगलों के रसद के मार्गों को काट देना। १६८७ में दुर्गादास महाराष्ट्र से लौट आया और उसने राठौरों स्वतन्त्रता संग्राम में एक नया जीवन फूँक दिया। इसी समय बूंदी का दुर्जनसाल हाड़ा राठौरों का मित्र बन गया और उसने १००० घुड़सवार देकर राष्ट्रीय सेना को बहुत शक्ति प्रदान की, यद्यपि महान् हाड़ा सरदार की इसके बाद शीघ्र ही मृत्यु हो गई, फिर भी बूँदी और मारवाड़ की संयुक्त सेनाओं ने मुगलों की अधिकतर चौकियों पर अधिकार कर लिया, और अब वे दिल्ली के फाटकों तक शाही भूमि पर धावे मारने लगे। १६९० ई० में दुर्गादास को अजमेर के सूबेदार सफी खाँ पर एक महत्वपूर्ण विजय प्राप्त हुई। इसके बाद गुजरात के सूबेदार सुजातखां को मारवाड़ का भार सौंपा गया। राजपूतों के लिये वह कहीं अधिक कठोर और कुटिल सिद्ध हुआ। सुजात खां ने इतिहासकार ईश्वरदास की सहायता से जो नागर ब्राह्मण था और जोधपुर में राजस्व पदाधिकारी के रूप में कार्य कर चुका था, दुर्गादास को अकबर की पुत्री को (जो उसके संरक्षण में थी) शाही दरबार में भेजने के लिये राजी कर लिया (१६९४)। तब धर्मान्ध औरंगजेब को राजपूतों के शूरत्व की भावना का परिचय मिला, क्योंकि दुर्गादास ने अकबर की पुत्री की शिक्षा की भी उपेक्षा नहीं थी—काफिरों के गढ़ में उसे मुस्लिम धर्म-शास्त्रों का अध्ययन करने का अवसर मिल गया था। किन्तु अकबर का पुत्र बुलन्द अख्तर अब भी दुर्गादास की हिरासत में था और उसे १६९८ में लौटाया गया, जबकि औरङ्गजेब ने अजीतसिंह को जालौर, सचोद और सिवाना के परगने जागीर के रूप में दे दिये और शाही सेना में एक मंसब प्रदान किया। यह समझौता असम्मानपूर्ण भले ही प्रतीत हो किन्तु उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल था और दोनों राजपूत नेताओं ने आगे की प्रगति के लिये इससे बहुत लाभ उठाया। स्वयम् दुर्गादास को पाटन की फौजदारी और तीन हजार का मंसब मिल गया। उसको उसने १७०१-२ तक बनाये रक्खा, और तब फिर विद्रोह कर दिया। जब राजकुमार मुहम्मद आजम गुजरात का सूबेदार नियुक्त हुआ, तो उस समय दुर्गादास को फिर अवसर मिला। उसने अपनी शिविर और सामान में आग लगादी और अपने साथियों के साथ तेजी से और मार्ग में बिना अधिक विश्राम किये मारवाड़ की ओर कूच किया।

इस घटना के साथ-साथ राठौरों के संघर्ष की तीसरी और अन्तिम मंजिल प्रारम्भ हुई। दुर्गादास को एक बात का बड़ा दुःख था। अजीतसिंह उसकी सलाह नहीं मानता था, उसका स्वभाव उग्र था और वह उससे इसलिये ईर्ष्या करता था कि दरबार और जाति-बिरादरी के लोगों में वह बहुत लोक प्रिय था। आर्थिक दृष्टि से भी मारवाड़ की पूरी बरबादी

हो चुकी थी और एक चौथाई शताब्दी तक निरन्तर युद्ध करते करते राठौर लोग थक गये थे। इसलिये १७०४-५ में अजीतसिंह और दुर्गादास को सम्राट के सामने सिर झुकाना पड़ा। किन्तु औरङ्गजेब की मृत्यु से पहले उन्हें फिर एक अवसर मिला। जैसे ही सम्राट की मृत्यु का समाचार उनके कानों में पहुँचा, उन्होंने विद्रोह कर दिया। ७ मार्च १७०७ को अजीतसिंह ने फिर अपने पूर्वजों की राजधानी की ओर कूच किया। जोधपुर के नायक फौजदार जफरकुली को मार भगाया गया और आखिरकार जसवन्तसिंह का पुत्र अपने पिता के सिंहासन पर बैठा। दुर्गादास के सभी व प्रयत्न व्यर्थ नहीं सिद्ध हुये।

दक्षिण भारत

जब औरंगजेब ने अपने सगोत्रे पुत्र अकबर का पीछा करने के लिये दक्षिण को प्रस्थान किया, तो वास्तव में वह अपने सर्वनाश की ओर बढ़ा। दक्षिण उसके लिये कब्रस्थान सिद्ध हुआ। और सन १७०७ में उसे यहीं दफनाया गया तो एक सम्राट की काया ही नहीं बल्कि अन्य अनेक चीजें भी कब्र के नीचे दब गईं। किन्तु इससे पहले कि हम औरंगजेब के जीवन नाटक के अन्तिम दृश्य का वर्णन करें हमारे लिये आवश्यक है कि दक्षिण भारत के इतिहास की गुत्थी को हम वहीं से फिर सुलझायें जहाँ हम उसे छोड़ आए थे (१६५० में गृह-युद्ध प्रारम्भ होने के समय तक)।

आदिलशाही वंश का पतन—१ अक्टूबर १६५० को औरंगजेब उन घटनाओं के कारण जिनका हम पहले वर्णन कर आये हैं, अपनी से वापिस लौटा। उस समय बीजापुर की विजय को स्थगित करने के कारण अत्यन्त गम्भीर थे। आदिलशाह और मुगलों के बीच सन्धि द्वारा और शाहजहाँ के बीच में पड़ने से हुई थी, इसलिये वह दीर्घकाल तक न टिक सकती थी। बीजापुर के शासक ने एक करोड़ रुपया युद्ध क्षतिपूर्ति के रूप में देने और बीदर, कल्याणी तथा परिन्दा के किले मुगलों के सुपुर्द करने का वचन दिया था, किन्तु जैसे ही औरंगजेब ने दक्षिण से पीठ फेरी वैसे ही यह स्पष्ट हो गया कि आदिल शाह बिना लड़े झुकने वाला नहीं है। मीर जुमला ने सन्धि की शर्तों को पूरा कराने का प्रयत्न किया किन्तु सफल न हो सका और १ जनवरी १६५८ को औरंगाबाद लौट गया। इसके बाद औरंगजेब उत्तरी भारत की समस्याओं में उलझ गया। इस बीच का बीजापुर का इतिहास मराठों के इतिहास से गुथा हुआ है और हमारे प्रसंग से बाहर है। इसलिये उपयुक्त होगा कि हम दक्षिण की मुस्लिम रियासतों, बीजापुर और गोलकुण्डा की दुखान्त कहानी का वर्णन करें, क्योंकि उनसे निपटने के उपरान्त हम फिर निश्चिन्त होकर औरंगजेब के मराठों से अन्तिम तथा घातक संघर्ष की कहानी सुना सकेंगे। जयसिंह ने जिसको औरंगजेब ने शिवाजी (उसके विषय में हम आगे लिखेंगे) के विरुद्ध भेजा था, जून १६६५ में पुरन्धर की संधि करली, जिसके

अनुसार मराठों ने बीजापुर का साथ छोड़ दिया ; यही नहीं बल्कि शिवाजी ने बीजापुर के विरुद्ध आने वाले युद्ध में ७००० पैदल और २००० घुड़सवार अपने पुत्र शम्भाजी के नेतृत्व में भेज कर मुगलों की सहायता करने का वचन दिया। इसके अतिरिक्त आदिलशाह के अनेक अमीरों को भारी घूस देकर तोड़ लिया गया (उदाहरण के लिये मुल्ला अहमद जिसका बीजापुरी अमीरों में दूसरा स्थान था।); इससे सुल्तान की स्थिति बहुत दुर्बल हो गई। कुतुबशाह को भी आने वाले युद्ध से अलग रखने के लिये प्रयत्न किये गये, किन्तु गोलकुण्डा ने ४०,००० पैदल और १२,००० घुड़सवार बीजापुर के पक्ष में युद्ध करने के लिये भेज दिये। जयसिंह के अधीन ४०,००० शाही सैनिक थे, और २,००० मराठा घुड़सवार तथा ७००० पैदल नेताजी पालकर के नेतृत्व में उसकी सहायता के लिये आ गये थे। पालकर ने दोनों ही पक्षों को फाँसा दिया और दोनों से घूस ले ली। इसलिये जयसिंह को पीछे लौटना पड़ा, यद्यपि वह अनेक लड़ाइयाँ लड़ते हुये बीजापुर से १२ मील दूर तक पहुँच गया था (दिसम्बर १६६५)।

अली आदिलशाह द्वितीय ने अपनी प्रतिरक्षा की डट कर तैयारियाँ की थीं। नियमित दुर्ग-रक्षकों की सहायता के लिये ३०,००० दुर्धर्ष करनाटकी सैनिक बुला लिये गये थे और चारों ओर छः मील तक सारे देश को उजाड़ दिया गया था, जिससे शत्रु को न शरण मिल सके और न रसद। परिणाम यह हुआ कि जयसिंह को पीछे लौटना पड़ा। सैनिक दृष्टि से चढ़ाई पूर्णतया विफल रही। "न एक भी इंच भूमि मिली, और न एक भी किले का पत्थर, और न एक भी पैसा युद्ध-क्षति के रूप में। आर्थिक दृष्टि से युद्ध और भी अधिक विनाशकारी सिद्ध हुआ। शाही कोष से जो ३० लाख रुपये मिले थे उनके अतिरिक्त जयसिंह ने एक करोड़ रुपये अपने पास से खर्च कर दिये थे। जयसिंह ने खुले हाथों धन बाँटा, किन्तु जितना उसने अपने स्वामी की ओर से देने का वचन दिया था, उससे वह बहुत कम था।" (सरकार।) अक्टूबर १६६६ में उसे औरंगाबाद लौटने का आदेश दिया गया; अगले मार्च में उसे दरबार में बुलाया गया। मई १६६७ में उसने दक्षिण का भार राजकुमार मुअज्जम और जसवन्तसिंह को सौंप दिया। २ जुलाई १६६७ को बुरहानपुर में उस भग्न-हृदय सेनानायक का देहावसान हो गया; कहा जाता है कि सम्राट की आज्ञा से उसे विष दे दिया गया था।

इसमें सन्देह नहीं कि बीजापुर कुछ समय के लिये बच गया, किन्तु वह अभागा नगर निरन्तर प्रतिद्वन्दी गुटों के कुचक्रों का शिकार बना रहा। अफगान, हबशी और दक्खिनी मुसलमान राज्य में अराजकता कायम रखने के लिये मराठों से होड़ कर रहे थे। अगले दस वर्षों तक मुगल लोग आदिलशाही राज्य में लूट-मार करते रहे।

प्रोफेसर सरकार लिखते हैं, "यदि हम यह जानना चाहें कि औरंगजेब के शासन के पहले बीस वर्षों में दक्खिन में मुगलों को क्या मिला, तो हम देखेंगे कि १६५७ में उसने

बीजापुर राज्य के पूर्वोत्तरी कोने में स्थित कल्याणी और बीदर पर अधिकार कर लिया था, १६६० में घूस देकर उत्तरी छोर पर स्थित परिन्दा का जिला और दुर्ग हथिया लिये गये थे; १६६८ में एक सन्धि के आधार पर शोलापुर ले लिया गया था और अब नालदुर्ग और गुलबर्गा साम्राज्य में मिला लिये गये। इस प्रकार वह विशाल भूखण्ड जो पूर्व में भीमा तथा मजीरा से घिरा हुआ है और कुलबर्गा तथा बीदर को जोड़ने वाली काल्पनिक रेखा तक फैला हुआ है, मुगलों के हाथों में आ गया था, और दक्षिण में शाही सीमा हलसंगी के सामने भीमा के किनारे तक पहुँच गई थी, जहाँ से बीजापुर पर सीधा प्रहार किया जा सकता था—और दक्षिण पूर्व में वह गोलकुण्डा राज्य की पश्चिमी सीमा पर स्थित मालखेड़ के दुर्ग को छूती थी।'

२४ नवम्बर १६७२ को अली आदिलशाह द्वितीय की मृत्यु हो गई और उसके साथ बीजापुर के वैभव का सूर्य भी डूब गया। उसके बाद उसका चार वर्षीय पुत्र सिकन्दर सिंहासन पर बैठा और अराजकता का एक युग आरम्भ हुआ जो १६८६ में तभी समाप्त हुआ जब कि राज्य के शासक वंश और स्वतन्त्रता दोनों का अन्त हो गया। इस काल में बीजापुर की दुर्बलता तथा हीन दशा का इसी से पता लग सकता है कि १० हजार बीजापुरी (अफगान, दक्खिनी मुसलमान और मराठे) जाकर मुगलों से मिल गये और सुल्तान की बहन शहरबानू (पादिशाह बीबी) को बलपूर्वक मुगल अन्तःपुर में रख लिया गया। यह राजकुमारी अपने परिवार तथा जनता दोनों की ही आँखों का तारा थी; १ली जुलाई १६७२ को उसने अपने मित्रों और सम्बन्धियों के करुण क्रन्दन के बीच अपनी जन्म भूमि को छोड़ा और घृणित मुगलों के अन्तःपुर में प्रवेश करने के लिये चल पड़ी।

शिवाजी १०,००० घुड़सवार और रसद लेकर 'दुःखी बीजापुर की सहायता के लिये पहुँचा। उसने भीमा तथा नमदा के बीच स्थित शाही भूमि पर धावे मारे और चारों ओर अग्नि, हत्या और लूट का ताण्डव मचा दिया। मुगल सेनापति दिलेर खाँ अनेक कठिनाइयों में फँसा हुआ था, फिर भी उसने बदला लिया और आदिलशाही राज्य में उससे भी अधिक भयंकर ताण्डव रचा। किन्तु उसको अपने पूर्वगामी जयसिंह से अधिक सफलता न मिल सकती थी। उस भी बुरी तरह पराजय भुगतनी पड़ी और २१ फरवरी १६८० को वापिस बुला लिया गया।

राजकुमार मुअज्जम को अपनी सूबेदारी में सफलता नहीं मिली। इसका स्थान राजकुमार आज़म ने लिया जिसके साथ बीजापुर की पूर्वोक्त राजकुमारी का विवाह कर दिया गया था। औरंगज़ेब ने सुल्तान सिकन्दर को धमकी के पत्र लिखे और समर्पण करने तथा अपने राज्य में होकर मुगल फौजों को मराठों के विरुद्ध जाने देने की माँग की। किन्तु बीजापुर के सुल्तान ने इन माँगों का उसी प्रकार उत्तर दिया जिस प्रकार १९१४ के विश्व-युद्ध के प्रारम्भ में बेल्जियम वासियों ने कैसर को दिया था। परिणाम यह हुआ कि बीजापुर का पूर्णरूप से सत्या-नाश हो गया।

देश चारों ओर ऊजड़ पड़ा था और रसद की कमी थी, इसलिये प्रारम्भ में ऐसा लगा कि मुगल फौज भूखों मर जायगी। एक बार तो ऐसा हुआ कि नाज का मूल्य १६ रुपया प्रति सेर तक पहुँच गया। सेना निराश हो गई, किन्तु राजकुमार आज़म के साहस और दृढ़ संकल्प ने उनके उत्साह को कायम रक्खा। उसने अपने पदाधिकारियों से कहा, "तुम अपनी बात कह चुके हो, अब मेरी सुनो। मुहम्मद आज़म अपने दो पुत्रों और बेग़म के साथ इस संकट के स्थान को छोड़ कर तब तक पीछे नहीं हटेगा जब तक कि उसके शरीर में प्राण हैं। मेरी मृत्यु के उपरान्त श्रीमान् सम्राट स्वयं आकर दफनाने के लिये मेरे शव को भले ही हटवा दें। मेरे अनुयायियो! तुम चाहो तो ठहरो अन्यथा चले जाओ।" इस पर युद्ध-समिति ने वैसा ही उत्तर दिया जैसा कि कानुआ के युद्ध से पहले बाबर के आदमियों ने दिया था।

१ अप्रैल १६८५ को बीजापुर का घेरा आरम्भ हुआ और पन्द्रह महीने तक चलता रहा। जून १६८६ में औरंगजेब स्वयं वहाँ जा पहुँचा। १२ सितम्बर १६८६ को रविवार के दिन आदिलशाहियों ने हथियार डाल दिये। दोपहर के बाद एक बजे अन्तिम आदिलशाही सुलतान अभिमानी सिकन्दरशाह ने रसूलपुर में अपने शिविर में बैठे हुये औरंगजेब के सामने समर्पण कर दिया। जब उसकी सवारी निकली तो आँखों में आँसू भरे और प्रलाप करते हुये प्रजा-जन सड़कों के दोनों ओर खड़े हो गये। उसका अच्छा स्वागत हुआ, किन्तु उसे राज प्रतिष्ठा से वंचित कर दिया गया। औरंगजेब ने उसे ख़ान की उपाधि दी, एक लाख रुपया वार्षिक पेंशन निश्चित की और उसे अपने अमीरों में सम्मिलित कर लिया। विजयी औरंगजेब ने कुछ घण्टे सुलतान के महल में आराम किया, विजय के लिये ईश्वर को धन्यवाद दिया और दावालों पर से कुरान की आज्ञा के विरुद्ध खींचे गये चित्र मिटवा दिये (कुरान में लिखा है कि जीवन का चित्रण करने में ईश्वर से होड़ मत करो)। प्रसिद्ध तोप 'मलिके-मैदान' पर एक विजय-अभिलेख उत्कीर्ण करवा दिया गया। इसके बाद बीजापुर नगर की बरबादी आरम्भ हुई। झरनों का पानी तक सूखने लगा। युद्ध के बाद ताऊन की महामारी आई जिसमें लगभग आधी जन-संख्या स्वाहा हो गई। पराजित और अपदस्थ सुलतान सिकन्दर की बन्दी के रूप में सतारा के निकट ३ अप्रैल १७०० को मृत्यु हो गई, उस समय उसकी अवस्था पूरी बत्तीस वर्ष की भी न हो पाई थी। उसकी अन्तिम इच्छा के अनुसार "उसकी अस्थियाँ बीजपुर ले जायी गईं और वहाँ उसके आध्यात्मिक गुरु शेख़ 'फ़तीमुल्ला की समाधि के चरणों पर एक खुले हुये बाड़े में दफना दी गईं।'

कुतुबशाही वंश का पतन—यद्यपि गोलकुण्डा के कुतुबशाही राज्य की आन्तरिक दशा बीजापुर से अच्छी नहीं थी, फिर भी उसने संकट के समय अनेक बार बीजापुर की सहायता की थी। औरंगजेब जिस समय आदिलशाही का नाश करने में लगा हुआ था, उस समय उसने कुतुब-उल-मुल्क को छेड़ना उचित भी

अच्छा नहीं समझा ; किन्तु बीजापुर की विजय से उसकी शक्ति बढ़ गई, और जैसे ही उसे उधर से अवकाश मिला, वैसे ही उसने दक्षिण के दूसरे शिया राज्य की विजय में अपनी पूरी शक्ति जुटा दी। औरंगज़ेब की निगाह में कुतुबशाह का सबसे बड़ा अपराध यह था कि उसने काफ़िरों के साथ भाई चारे का बर्ताव किया था। १६६६ में आगरा से लौटने के उपरान्त जब शिवाजी ने मुगलों से अपने किले छीनना आरम्भ किये तो उस समय गोलकुण्डा से उसे महत्वपूर्ण सहायता मिली। १६७१ में फिर सुल्तान ने हैदराबाद में उसका बड़ी प्रसन्नता से स्वागत किया और उसके राज्य की प्रतिरक्षा के लिये एक लाख हूण वार्षिक देने का वचन दिया ; और इस सबसे बढ़ कर उसने मादन्न और अकन्न नाम के न्राह्मणों को सम्पूर्ण प्रशासन पर अपना प्रभुत्व जमा लेने दिया था। औरंगज़ेब ने राजकुमार मुअज्जम (शाहआलम) को कुतुबशाह (अबुल हसन) के विरुद्ध भेजा ; राजकुमार ने शक्ति और कूटनीति के बल पर सुल्तान से निम्न शर्तें स्वीकार कराली —

'नियमित वार्षिक कर के अतिरिक्त १ करोड़ २० लाख रुपये और कर के रूप में चुकाये जायेंगे।' — 'मादन्न और अकन्न बन्धु जो युद्ध का मुख्य कारण थे, अपनी सत्ता से वंचित करके बन्दी बना लिये जायेंगे। सोरम का किला और खेर का परगना जिन्हें जीत लिया गया था शाही अधिकार में रहेंगे, और अबुल हसन अपने अपराधों के लिये औरंगज़ेब से क्षमा याचना करेगा।'

जब यह संधि वार्ता चल रही थी उसी समय 'रनिवास की कुछ प्रभावशाली स्त्रियों ने अबुल हसन के बिना जाने मादन्न और अकन्न की हत्या का षड्यन्त्र रचा। जिस समय दोनों अभागे भाई दरबार से अपने घरों को जा रहे थे, गुलामों के एक दल ने उन पर आक्रमण किया और मार डाला।' — 'उस दिन अनेक ब्राह्मणों को अपने जीवन और सम्पत्ति से हाथ धोने पड़े। दोनों भाइयों के सिर काट कर एक व्यक्ति द्वारा राजकुमार शाह आलम के पास भिजवा दिये गये।'

७ जून १६८६ को शाह आलम लौट कर शोलापुर में औरंगज़ेब की शिविर में पहुँचा। १२ सितम्बर को बीजापुर का पतन हो गया, और २८ जनवरी (१६८७) को सम्राट गोलकुण्डा से दो मील की दूरी पर पर आ धमका।

किला चारों ओर से एक बहुत मोटी चार मील लम्बी पत्थर की दीवार से घिरा हुआ था, और इसके अतिरिक्त उसकी रक्षा के लिये ८७ अर्धगुम्बाकार बुर्ज बने हुये थे, 'जिनमें से प्रत्येक ५०.६ फीट ऊँचा था और सीमेंट से जुड़ी ठोस पत्थर की शिलाओं से बना हुआ था ; कुछ शिलायें तो एक टन से भी अधिक भारी थीं। इसके भीतर अमीरों के महल, बाज़ार, मन्दिर, मस्जिदें, सिपाहियों की बैरकें, बारूद की गोदामें, अस्तबल और हरे भरे खेत थे ; और इतना स्थान था कि संकट के समय हैदराबाद की सम्पूर्ण जनता उसमें शरण ले सकती थी। इस सबके चारों ओर एक पचास फीट चौड़ी गहरी खाई बनी हुई थी।

७ फरवरी १६८७ को घेरे की कार्यवाही आरम्भ हुई। औरंगजेब ने गोलकुण्डा के सुलतान पर निम्नलिखित आरोप लगाये :—

'इस दुष्ट आदमी के कुकर्मों को लेखबद्ध करना असम्भव है, किन्तु सौ मे से एक और बहुत में से थोडे का उल्लेख करके हम उसका अनुमान लगा सकते हैं। पहला, सरकार तथा सत्ता की बागडोर अत्याचारी काफिरों के हाथों में थमाना, सैयदों, शेखों तथा अन्य धार्मिक लोगों का उत्पीडन करना, स्वयम् खुल कर अतिशय व्यभिचार और नीच कर्मों में लिप्त होना, रात दिन मद्यपान और दुराचार में रत रहना, कुफ्र और इस्लाम, अत्याचार और अन्याय, पापाचार और भक्ति में भेद न करना, ईश्वरीय आज्ञाओं तथा निषेधों की अवज्ञा करना, विशेषकर उस आज्ञा का जिसके अनुसार शत्रु के देश को सहायता देना मना है, और जिसको न मानने से ईश्वर तथा मनुष्य दोनों की निगाह में पवित्र ग्रन्थ (कुरान) का निरादर हुआ है। इस सम्बन्ध में मित्रतापूर्ण सलाह और चेतावनी देते हुए कई पत्र बार-बार लिखे और विशिष्ट लोगों के द्वारा भेजे गये हैं। किन्तु उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया, इसके अतिरिक्त अभी हाल में हमें ज्ञात हुआ है कि एक लाख पगोडा दुष्ट शम्भा को भेज दिये गये हैं। अपनी अयोग्यता तथा धृष्टता के कारण उसने अपने कुकर्मों से होने वाली अकीर्ति का कोई विचार नहीं किया और न इस लोक में अथवा परलोक मे मुक्ति की आशा दिखलाई है।'

बहाना कुछ भी रहा हो, औरंगजेब गोलकुण्डा का अन्त करने का संकल्प कर चुका था। इसलिये जब राजकुमार शाह आलम ने अबुल हसन के साथ कुछ दया-भाव दिखलाया और उसकी शिफारिश की तो सम्राट ने उसे अपने सम्मुख बुलाया और उसके मंसब तथा जागीरें जब्त कर लीं और उसे कारागार में डलवा दिया। सात वर्ष बाद कहीं राजकुमार को मुक्ति मिली।

'प्रतिदिन और प्रति सप्ताह गाजी-उद्दीन फीरोज जंग की देख-रेख में किले की ओर बढना जारी रहा, किन्तु घिरे हुये लोगों ने शेख निज़ाम, मुस्तफा खाँ लारी (अब्दुर्रज़्ज़ाक) तथा अन्य लोगों के नेतृत्व में बड़े साहस के साथ उनका सामना किया। लड़ाई डट कर हुई और दोनों पक्षों के अनेक व्यक्ति मारे गये। '........एक करारी झपट के उपरान्त दुर्ग रक्षक भारी क्षति के साथ पीछे धकेल दिये गये, शेख मिनहाज, शेख निजाम तथा अन्य लोग अबुल हसन का साथ छोडकर घेरा डालने वालों से आकर मिल गये और औरंगजेब ने उन्हें समुचित मसब तथा उपाधियाँ प्रदान कीं।'

घेरा आठ महीने तक चलता रहा और मुगलों को भारी क्षति उठानी पड़ी। अन्त में २१ सितम्बर १६८७ के दिन तीन बजे प्रातःकाल किले का पतन हो गया और शाही सेना ने उसमें प्रवेश किया। किन्तु अबुल हसन के भाग्य का निर्णय विश्वासघात के कारण हुआ, न कि मुगलों की सैनिक श्रेष्ठता की वजह से। खाफी खाँ लिखता है, 'आक्रमणकारियों के पराक्रम ने उन्हें अनेक बार दीवालों की चोटी तक पहुँचा दिया, किन्तु घिरे हुओं की जागरूकता के कारण उनके प्रयत्न विफल रहे; इसलिये उन्होंने व्यर्थ में ही अपने प्राण गँवाये और किले पर

अधिकार न हो सका। किन्तु अन्त में आलमगीर के भाग्य की विजय हुई; ८ महीने और १० दिन के घेरे के बाद किला उसके अधिकार में आ गया; किन्तु यह सब कुछ भाग्य से हुआ, न कि तलवार और भाले के बल पर।'[1]

यदि खाफीखाँ का वृत्तान्त सही है तो गोलकुण्डा के सुल्तान की कुछ भी दुर्बलतायें रही हों, इतना स्पष्ट है कि उसने अन्तिम महान विपत्ति के समय बड़े धीरज और आत्म सम्मान का परिचय दिया।

'वह अपने अन्तःपुर में स्त्रियों को सान्त्वना देने, उनसे क्षमा माँगने और विदा लेने के लिये गया। यद्यपि उसका हृदय बहुत दुःखी था, फिर भी उसने अपने को बहुत सँभाला और अपने स्वागत गृह में गया और वहाँ पर मसनद पर बैठ गया और बिना बुलाये आने वाले मेहमानों की प्रतीक्षा करने लगा। जब भोजन का समय आया तो उसने भोजन परोसने की आज्ञा दी। जब रुहुल्लाखाँ और दूसरे लोग आये तो उसने उनका अभिवादन किया और एक क्षण के लिये भी अपनी प्रतिष्ठा कम न होने दी। पूर्ण आत्म संयम के साथ उसने नम्रता से उनका स्वागत किया और प्रेम तथा सम्मानपूर्वक उनसे बातचीत की। 'जब अबुलहसन ने अपना घोड़ा मँगाया और उस पर बहुत-सा धन तथा मोती लादे और अमीरों के पीछे पीछे चल दिया। जब उसे राजकुमार मुहम्मद आजमशाह के सामने उपस्थित किया गया तो उसने अपना मोतियों का हार उतारा और बड़ी शिष्टता के साथ राजकुमार को भेंट कर दिया। राजकुमार ने उसे स्वीकार कर लिया और उसकी पीठ पर अपना हाथ रखते हुये उसे धीरज बँधाया और ढाढ़स दिया, फिर वह उसे औरंगजेब के सामने लेगया। वहाँ भी उसका शिष्टतापूर्वक स्वागत किया गया। कुछ दिनों बाद सम्राट ने उसे दौलताबाद के किले में भेज दिया और उसके भोजन वस्त्र तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समुचित भत्ता निश्चित कर दिया। जब अबुलहसन की सब सम्पत्ति एकत्र की गई तो वह ८ लाख ५१ हजार हूण और दो करोड़ तीन लाख रुपये की हुई कुल मिलाकर ४ करोड़ ८ लाख और १० हजार रुपये की, और जवाहिरात पच्चीकारी की हुई चीजें और सोने तथा चाँदी के बरतन अलग' वालों में वह कुल मिला कर २ अरब, १५ करोड़, ११ लाख की हुई; यही रकम सरकारी कागजों में लिखी गई।

मराठों से संघर्ष

बीजापुर तथा गोलकुण्डा के पतन की कहानी लिखते समय हम लगभग आधी शताब्दी आगे का इतिहास बतला आये हैं। इस काल में एक ऐसी महान् शक्ति के बीज बोये गये जो आगे चल कर मुगल साम्राज्य के लिये घातक सिद्ध हुई। १६३६ में शाहजी ने शाही अधिकारी खान जमान और बीजापुरी सेनानायक रणदौला खाँ के सामने समर्पण कर दिया था; किन्तु वास्तव में यह एक समयानुकूल चाल थी। मुगल साम्राज्य तथा आदिलशाही का यह मेल जैसा कि हम पहले देख आये हैं, अधिक काल तक कायम न रह सका। इन दोनों शक्तियों के बीच में

जिस मराठाशाही का प्रादुर्भाव हुआ उसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि वह दोनों से ही सफलतापूर्वक सौदा कर सकती और अन्त में दोनों को हरा सकती थी। शिवाजी इस नयी शक्ति का मूर्तिमान रूप था। यद्यपि वह बीजापुर और गोलकुण्डा का नाश देखने के लिये जीवित न रहा, फिर भी उसने मुगलों के विरुद्ध उन दोनों को प्रयोग करते हुये उन्हें इतनी हानि पहुँचाई कि उनका पतन कुछ ही दिनों की बात रह गई थी। इस काल का इतिहास बहुत ही पेचीदा और कुचक्रों से भरा हुआ है, किन्तु यहाँ पर हम उसके उन्हीं पहलुओं पर प्रकाश डालेंगे जिनका हमारी मुख्य कथा-वस्तु से सीधा सम्बन्ध है। हम मराठा नेतृत्व के दृष्टिकोण से ही मुगल-मराठा सम्बन्धों का अध्ययन करेंगे, उलझनों से बचने का यही एक मार्ग है, शेष मराठा इतिहास हमारे प्रसंग के बाहर है।

शाहजी—शिवाजी के पिता शाहजी भोंसला के व्यक्तिगत इतिहास का विस्तार से यहाँ वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। अब्दुल हमीद लाहौरी हमें निम्न शब्दों में उसका परिचय देता है :—

'निजामुल-मुल्क ग्वालियर के किले में बन्द था, किन्तु दुरात्मा शाहू तथा अन्य उद्दण्ड निजामुल-मुल्कियों ने निजाम के परिवार का एक लड़का ढूँढ लिया और उसे निजामुल-मुल्क की उपाधि दे दी। उनके अधिकार में निज़ाम के राज्य (अहमदनगर) की कुछ भूमि आ गई थी और वे शाही सरकार के विरुद्ध कार्यवाही करने लगे थे। चूँकि इस समय सम्राट (शाहजहाँ) दौलताबाद के निकट था, इसलिये उसने इन विद्रोहियों को दण्ड देने के लिये ख़ान-दौरान, ख़ान-ज़मान और शायिस्ता ख़ाँ को तीन अलग-अलग सैनिक दलों के साथ भेजने का संकल्प किया ......।' इन सम्पूर्ण सैनिक कार्यवाहियों का परिणाम यह निकला कि अन्त में शाहू ने अल्प वयस्क निजाम सहित समर्पण कर दिया। 'वह आदिल खाँ तथा शाही सेनानायक की नौकरी करने के लिये राजी होगया।... ...तदनुसार जुन्नर, त्रिम्बक, त्रिगलवाडी, हरिश, जुधन, जूँध और हरसियार के किले ख़ान-ज़मान के सुपुर्द कर दिये गये।......आदिलखाँ की आज्ञा से रन्दौला ने निजाम को ख़ान-ज़मान के हाथों में सौंप दिया और फिर शाहू के साथ बीजापुर चला गया।'

शिवाजी—इस समय शाहजी के अधिकार में आदिल की दी हुई जो जागीर थी उसमें पूना ज़िले का वह भाग सम्मिलित था जो "चकन से इन्दापुर, सूपा, शिरवल, वाई, और जदगीर तक फैला हुआ था, अथवा वह प्रदेश जो पश्चिम में घाटों से, उत्तर में घोद नदी से, पूर्व में भीमा और दक्खिन में नीरा नदी से घिरा हुआ है।" यही वह स्थल था जहाँ शिवाजी की भावी शक्ति और महत्ता का बीज बोया गया।

१६४६ का वर्ष बीजापुर के इतिहास में एक महान् संकट का काल था, किन्तु शिवाजी के लिये एक महान् अवसर था। उसने तोर्णा का किला और उसका दो लाख हूण का कोष छीन लिया, और उसके पाँच मील पूर्व में राजगढ़ नाम के नये क़िले का निर्माण कराया। इसके बाद उसने बीजापुर राज्य के अनेक प्रदेशों

को मोल लिया जिसके फलस्वरूप शाहजी को बन्धक के रूप में कारागार में डाल दिया गया। इससे शिवाजी भारी दुविधा में पड़ गया और अपने पिता को मुक्त कराने के लिये मुगल राजकुमार मुरादबख्श से सहायता माँगी। १६४९ में इस विषय पर शिवाजी और मुराद में कूटनीतिक पत्र-व्यवहार हुआ। किसी के भी प्रभाव से हुआ हो, शाहजी को उस वर्ष के अन्त में मुक्त कर दिया गया और १६५५ तक शिवाजी चुपचाप बैठा रहा। फिर उसी वर्ष उसने मोरे से जावली का राज्य छीन लिया, जिससे उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई। प्रोफेसर सरकार लिखते हैं, "जावली पर अधिकार हो जाने से शिवाजी के लिये दक्षिण तथा पश्चिम की ओर विजय का द्वार ही नहीं खुल गया, बल्कि उसकी शक्ति में भी बहुत वृद्धि हो गई क्योंकि चन्द्रराव के सैनिकों और प्रजा जनों में जो कई हजार मावली पैदल थे, वे उससे आकर मिल गये। संक्षेप में उसके लिये सहियाद्री प्र खला के सहारे रहने वाले इन उत्कृष्ट योद्धाओं की भर्ती का क्षेत्र दूना होगया। मोरे शासकों ने आठ पीढ़ी के निष्कण्टक तथा फैलते हुये शासन में भारी कोष जमा कर लिया था, वह सब शिवाजी को मिल गया।'

शिवाजी से शत्रुता रखने वाले इतिहासकार खाफी खाँ ने उसकी कार्यवाहियों का इस प्रकार उल्लेख किया है

'अपनी जाति में वह साहस तथा बुद्धि के लिये प्रसिद्ध था और कुटिलता तथा कुचाल में वह शैतान का बच्चा समझा जाता था वही ठगी का पुतला कहना अनुचित न होगा। उस देश में जहाँ पहाड़ियाँ आकाश छूती को है और जंगल पेड़ तथा झाड़ियों से ढके हुये है, उसका दुगम निवास स्थान था।" बीजापुर का आदिल खाँ रोग ग्रस्त होगया और दीर्घकाल तक कष्ट भोगा। इस बीच में राज्य में बड़ी गड़बड़ फैल गई।" जब शिवाजी ने देखा कि उसका देश शासकहीन है तो उसने साहस तथा दृढ़ता से आगे बढ़ कर उस पर अधिकार कर लिया और कुछ अन्य जागीरें भी छीन लीं। यहीं से उस हिंसात्मक व्यवस्था का आरम्भ हुआ जिसे उसने तथा उसके वंशजों ने कुप कोंकण पर तथा दक्खिन की समस्त भूमि पर फैला रक्खा है।"" उसने मराठा लुटेरों तथा डाकुओं का एक विशाल दल एकत्र किया और किलों पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया।" 'सिकन्दर अली आदिलखाँ द्वितीय के समय में बीजापुर राज्य के दुर्दिन आगये सिकन्दर की वैधता में लो ों को सन्देह था और वह अपने पिता के समय में ही जब अल्पवयस्क था शासन करने लगा था। जिस समय अपने पिता के शासन-काल में वह युवराज था, उस समय उसके देश पर औरंगजेब ने आक्रमण किया जिससे उस पर बड़ी आपत्तियाँ आई और साथ ही साथ अन्य विपदाएँ भी उठ खड़ी हुईं। शिवाजी दिन प्रतिदिन अपनी शक्ति बढ़ाता गया और देश के सभी किलों पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार धीरे धीरे वह शक्ति तथा साधन सम्पन्न हो गया। उन भागों में उसने कई नये किले भी बनवाये; सब मिला कर उसके पास पचास किले थे और वे रसद तथा युद्ध के सामान से भरे-पूरे थे। निर्भय होकर उसने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और दक्खिन के विद्रोहियों में सबसे अधिक विख्यात होगया।'

किन्तु वही कटु आलोचक यह भी लिखता है, 'उसने यह नियम बनाया कि जब उसके सैनिक लूट-मार के लिये जायें तो वे मसजिदों को, कुरान को अथवा दूसरों की स्त्रियों को हानि न पहुँचायें। जब कभी पवित्र कुरान की कोई प्रति उसके हाथ में पड जाती तो वह उसका सम्मान करता और अपने किसी मुसलमान अनुयायी को दे देता। जब उसके आदमी किसी हिन्दू अथवा मुसलमान की स्त्रियों को बन्दी बना लेते और उनकी रक्षा करने के लिये उनका कोई मित्र न होता तो वह स्वयम् तब तक उनकी देख रेख करता जब तक कि उनके सम्बन्धी उन्हे मुक्त कराने के लिये धन लेकर न आ जाते।'

शिवाजी ने बहुत समय तक मुगलों से शान्ति कायम रक्खी, या तो इसलिये कि वह साम्राज्य तथा बीजापुर से एक ही साथ शत्रुता मोल लेना उचित न समझता था, अथवा इसलिये कि दक्खिन में औरंगजेब की सूबेदारी के काल में मुगल बहुत सावधान रहे। किन्तु जब मुहम्मद आदिलशाह की मृत्यु (४ नवम्बर १६५६) के बाद औरंगजेब ने बीजापुर पर आक्रमण करने की तैयारियाँ प्रारम्भ कीं तो शिवाजी ने इस शर्त पर मुगलों का साथ देना स्वीकार कर लिया कि मैंने बीजापुर के जो प्रदेश छीन लिये हैं, उन पर मेरा वैध अधिकार मान लिया जाय। किन्तु औरंगजेब ने ढील-ढाल दिखलाई, इसलिये जब युद्ध आरम्भ हुआ तो बीजापुर ने शिवाजी को अपने पक्ष में मिला लिया।

मार्च १६५७ में शिवाजी के दो मराठा पदाधिकारियों ने मुगलों की भूमि पर धावा मारा और अहमदनगर के फाटक तक, जो मुगल दक्खिन का सबसे विख्यात नगर था, सत्यानाश और आतंक फैला दिया। उसी समय शिवाजी छिपकर जुन्नर के नगर में घुस गया, रक्षकों को मार डाला और ३००,००० हूण, २०० घोड़े तथा जवाहिरात और बहुमूल्य वस्त्र लूट ले गया। औरंगजेब ने नसीरीखाँ को शिवाजी का पीछा करने भेजा और आज्ञा दी कि 'मराठों को खदेड़ दो और उनका नाश कर दो।' किन्तु तब तक वर्षा आरम्भ हो गई और फिर सितम्बर १६५७ में शाहजहाँ के बीमार हो जाने से उत्तराधिकार-युद्ध छिड़ गया, इसलिये मराठों के विरुद्ध कठोर कार्यवाही बन्द कर देनी पड़ी। औरंगजेब के उत्तर को प्रस्थान करने से पहले बीजापुर ने उससे सन्धि करली और शीघ्र ही शिवाजी ने भी उसका अनुकरण किया। शिवाजी के सन्देश का उत्तर देते हुये औरंगजेब ने कूटनीतिक, भाषा में लिखा : "यद्यपि तुम्हारे अपराध क्षम्य नहीं हैं, किन्तु तुमने पश्चाताप प्रकट किया है, इसलिये मैं तुम्हे क्षमा करता हूँ। तुमने प्रस्ताव किया है कि यदि निजामशाही राजा पर जो इस समय आदिलशाह के अधीन है, शाही अधिकार हो जाने के बाद मेरे घर की जागीर (शाहजी की पुरानी जागीर) के गाँव तथा कोंकण की भूमि तथा उसके किले मुझे दे दिये जाँय तो मै अपने दूत सोना पण्डित को दरबार में भेज दूँगा; आपकी सेवा के लिये अपने अधिकारियों के आधीन ५०० घोड़े भेजूँगा और शाही सीमाओं की रक्षा करूँगा। तुम सोना जी को भेज

दो और तुम्हारी प्रार्थनाएँ स्वीकार कर ली जायेंगी।" उसी समय उसने मीर जुमला और शाइस्ताखाँ को भी लिख भेजा, "इसकी ओर ध्यान दो, क्योंकि वह कुत्ते का बच्चा (शिवाजी) अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है।" पूना के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिये पेडगाँव को आधार बनाया गया और उसकी किले बन्दी की गई, किन्तु १६५८-५६ के उत्तराधिकार युद्ध ने मुगलों की ओर से शिवाजी को साँस लेने का अवसर दिया। इसी काल में बीजापुरी सेनानायक अफ़ज़लखाँ का जिसे शिवाजी के विरुद्ध भेजा गया था, प्रतापगढ़ में वध कर दिया गया। इस घटना के सम्बन्ध में जो विवाद चला करता है उसमें हम यहाँ नहीं पड़ना चाहते। इसके बाद की घटना शाइस्ताखाँ की पराजय थी।

अफ़ज़लखाँ पर विजय पाने से शिवाजी का साहस बहुत बढ़ गया और उसने चारों ओर अपनी कार्यवाहियाँ आरम्भ कर दीं। औरंगजेब ने अपने दूसरे राज्याभिषेक (जुलाई १६५६) के उपरान्त अपने मामा शाइस्ता खाँ को दक्खिन का सूबेदार नियुक्त किया था। अब उसको शिवाजी को दण्ड देने तथा उसका दमन करने की आज्ञा दी गई। ख़ाफ़ी ख़ाँ लिखता है, 'अमीर उल् उमरा (शाइस्ता ख़ाँ) ने इन आज्ञाओं के अनुसार १६६१ की जनवरी के अन्त में औरंगाबाद से प्रस्थान किया और पूना तथा चाकन की ओर चल पड़ा जो उन दिनों शिवाजी के निवास तथा सुरक्षा के स्थान थे।' उसी समय सिद्दी जौहार ने (जिसे अब सलाबत खाँ की उपाधि मिल गई थी) बीजापुर के पक्ष में दक्खिन की ओर से आक्रमण किया और पन्हाला को घेर लिया (मई १६६०)। जौहार मूर्ख तथा विश्वासघाती सिद्ध हुआ और उसने शिवाजी को पन्हाला से निकल जाने दिया, किन्तु बीजापुर की दूसरी सेना ने आगे बढ़ कर 'पलक मारते ही पन्हाला पर अधिकार कर लिया। इसी लड़ाई के दौरान में जब शिवाजी पन्हाला से भाग कर विशालगढ़ जा रहा था, वीर बाजीप्रभु ने अत्यन्त वीरता पूर्वक पीछे मुड़ कर आक्रमणकारियों से भयंकर युद्ध किया और महाराष्ट्र की इस थर्मोपली में अपने वीर सौ साथियों के साथ सदैव के लिये सो गया।

शाइस्ताखाँ ने भी पूरे रोष के साथ चढ़ाई जारी रक्खी किन्तु बहादुर लुटेरे शिवाजी ने अपने अनुयायियों को आज्ञा दी कि जहाँ कहीं मिले अमीर उल् उमरा की सेना का सामान लूट लो। जब अमीर को यह समाचार मिला तो उसने अनुभवी अधिकारियों की अधीनता में ४०० घुड़सवार सामान की रक्षा के लिये नियुक्त किये। किन्तु प्रतिदिन और हर कूच के दौरान में शिवाजी के दक्खिनी सामान को घेर लेते और बज्जाकों की भाँति सहसा दल पर झपट्टा मार कर घोड़े, ऊँट, आदमी तथा और जो कुछ हथिया पाते लेकर भाग जाते। शाही दल उनका पीछा करते और उन्हें इतना तंग करते कि उनका साहस टूट जाता और लड़ना छोड़ कर वे भाग खड़े होते और तितर बितर हो जाते। अन्त में वे पूना तथा शिवपुर पहुँच गये वे दो स्थान उस कुत्ते (शिवाजी) ने बनवाये थे। शाही सेना ने इन दोनों स्थानों को जीत लिया और उन पर अपना अधिकार रक्खा।'

इसके बाद मुगलों ने भारी संघर्ष के बाद अगस्त १६६० में चाकन के किले पर अधिकार कर लिया। मुगलों के लिये यह किला सामरिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि इससे अहमदनगर के मार्ग की रक्षा होती थी। इसके बाद १६६१–६३ में छुट-पुट युद्ध चलता रहा और अन्त में ५ अप्रैल १६६३ को शिवाजी ने सहसा शाइस्ताखाँ की शिविर पर झपट्टा मारा। यह घटना इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। प्रोफेसर सरकार लिखते हैं, 'इस अवसर पर शिवाजी ने मुगलों पर एक कौशलपूर्ण प्रहार किया,—इस प्रहार की चतुर योजना, सफाई से उसका कार्यान्वित होना, उसकी पूर्ण सफलता, इन सब चीज़ों ने मुगल दरबार और शिविर में उसी प्रकार शिवाजी के शूरत्व का आतंक जमा दिया तथा उसकी चमत्कारिक शक्तियों में विश्वास उत्पन्न कर दिया जैसा कि अफज़लखाँ की हत्या से बीजापुरियों के हृदय में बैठ गया था। उसने दक्खिन के मुगल सूबेदार को सहसा घेर लिया और उसी की शिविर के बीच में, बल्कि उसके शयन-कक्ष में ही जहाँ वह अपने अंग-रक्षकों और बाँदियों से घिरा हुआ था, उसे घायल कर दिया। यहाँ हमारे लिये इस घटना के ब्यौरे का अधिक महत्व नहीं है। जिन पाठकों को उत्सुकता हो वे खाफी खाँ के इतिहास में मुसलमानों का दिया हुआ वृत्तान्त पढ़ लें और सभासद अथवा चिटनिस बखर में मराठों के दृष्टिकोण से लिखा हुआ विवरण मिल जायगा। किन्तु इस घटना का एक पहलू ऐसा है जिस पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक है, वह है राजा जसवन्तसिंह का आचरण।

कॉस्मेडा गुआर्डा नामक पुर्तगाली जिसने १६९५ में शिवाजी की जीवनी लिखी थी, कहता है: 'जसवन्तसिंह हिन्दू था। शिवाजी ने इस (चीज) से लाभ उठाया, क्योंकि वह भी एक (हिन्दू) था, और एक रात को उसने बहुमूल्य रत्न बहुत-सा सोना चाँदी और अनेक बहुमूल्य जवाहिरात उपहारस्वरूप भेजे। शिवाजी ने इन आश्चर्यजनक तोपों से युद्ध लड़ा और किले को जीत लिया। सन्देश इस प्रकार था: "यद्यपि श्रीमान जी को एक प्रभुत्व सपन्न राजा होने का बड़प्पन प्राप्त है और (इस समय) आप एक इतने शक्तिशाली सम्राट के सेनानायक हैं, फिर भी यदि आप सोचें कि मैं भी आप की भाँति एक हिन्दू हूँ, और जो कुछ मैंने किया है उस पर विचार करें, तो आपको पता लगेगा कि मैंने जो कुछ किया है वह आपके उन देवताओं के सम्मान और पूजा के उत्साह से किया है जिनके मन्दिर मुसलमानों ने सर्वत्र तोड़ डाले हैं। यदि धर्म का कार्य संसार की सभी वस्तुओं से और यहाँ तक कि जीवन से भी अधिक महत्वपूर्ण है, तो उसी कार्य के लिये मैं अनेक बार अपने (जीवन) को संकट में डाल चुका हूँ।...... देवताओं के नाम पर ही ये तुच्छ वस्तुएँ मैं आपको भेंट करता हूँ। मैं इस बात की उपेक्षा नहीं करता कि आप जैसे उच्च जाति के व्यक्ति को सम्मान और राज-भक्ति के हेतु उनकी रक्षा करनी है जिनका आपने नमक पानी खाया है। इसके अतिरिक्त मैं यह भी जानता हूँ कि आप महान मुगल की दी हुई जागीर का उपभोग कर रहे हैं और इसलिये आप दूसरे व्यक्ति का पक्ष नहीं ले सकते, किन्तु आप इस ढंग से कार्य कर सकते हैं कि आपके यशस्वी वंश की राजभक्ति को कलंक न लगे और न आपके देवताओं के प्रति असम्मान प्रकट हो,

और साथ ही साथ मैं (शायिस्ता खाँ के) लोगों से मिल सकूँ और मुसलमानों के जाने बिना उसके विरुद्ध जो कुछ कर सकूँ, कर लूँ।'

'जसवन्तसिंह जितना महत्वाकांक्षी था उतना धर्मात्मा नहीं था, इसलिये उसने इन शिकायतों की ओर ध्यान नहीं दिया; उसने उन उपहारों के लिये अधिक कृतज्ञता प्रकट की और उससे भी अधिक भविष्य के वायदों के लिये, और इसलिये वह शिवाजी से मिल गया और वचन दिया कि मैं तुम्हारे काम में बाधा न डालूँगा और यदि तुम मुसलमानों के विरुद्ध कुछ करना चाहो तो मैं उनकी ओर से भी आँख बचा लूँगा।'

खाफी खाँ लिखता है, 'जब सम्राट को इस घटना की सूचना मिली तो उसने अमीर तथा राजा जसवन्तसिंह दोनों की निन्दा की। दक्खिन की सूबेदारी और शिवाजी के विरुद्ध लड़ने वाली सेनाओं का नायकत्व राजकुमार मुहम्मद मुअज्जम को सौंपा गया। अमीर उल उमरा वापिस बुला लिया गया, किन्तु बाद की एक आज्ञा से उसे बंगाल का सूबेदार नियुक्त करके भेज दिया गया। महाराजा जसवन्तसिंह पहले की भाँति राजकुमार के अधीन सहायक दलों में काम करता रहा।' क्या इसका यह अर्थ है कि औरंगजेब ने जसवन्तसिंह को निर्दोष मान लिया था?

जिस काल में मुगल सूबेदारों और सेनानायकों का स्थानान्तरण होता रहा उस बीच में शिवाजी ने सूरत पर आक्रमण करके एक और महान साहसिक कार्य किया। सूरत 'पूर्व का सबसे बड़ा व्यापार केन्द्र और मुगल का सबसे मूल्यवान रत्न था।' डा गुआर्दा लिखता है कि ऐसा करने में उसका उद्देश्य था सबसे धनी नगर को लूटना और शायिस्ता खाँ तथा मुगल को दिखाना कि उनकी शक्ति तथा सेना की तनिक भी चिन्ता न करता हूँ।' वही लेखक आगे कहता है, उसके इरादे का कुछ अनिश्चित समाचार सूरत पहुँचा जिसे सुन कर लोग बहुत हँसे, क्योंकि जिस प्रदेश पर शिवाजी ने अधिकार कर लिया था उसी में एक खान अस्सी हजार घुड़सवार डेरे डाले हुये थे।' किन्तु मराठा इसी भाँति घुस आया जैसे 'गायों के झुण्ड में एक क्रोधोन्मत्त चीता।'

'शहर के मुसलमानों, बनियों गुजरातियों तथा सभी हिन्दुओं में ऐसी घबराहट फैली कि उसका वर्णन करना कठिन है। पुरुष स्त्रियाँ और बच्चे बिना इस बात का विचार किये हुये कि कहाँ और किसके पास जाँय, नंगे इधर-उधर दौड़ने लगे। किन्तु किसी का भी जीवन संकट में नहीं था, क्योंकि शिवाजी की कठोर आज्ञा थी कि जब तक विरोध न किया जाय किसी को मारा न जाय, और चूँकि किसी ने उसका सामना नहीं किया, इसलिये कोई मारा नहीं गया। तब शिवाजी के आदमियों ने मकानों में प्रवेश किया और बढ़िया से बढ़िया रेशम तथा चाँदी के सिक्कों को तुच्छ समझ कर छोड़ दिया और केवल सोने के रुपये लिये जिनमें से प्रत्येक चाँदी के सोलह रुपयों के बराबर था।" "जितना धन उसे मिला और जिस रफ्तार से वह उसे ९० बैलों पर लाद कर ले गया, ये दोनों ही बातें अविश्वसनीय हैं।

किन्तु एम० डी० थीवनौट लिखता है, 'शिवाजी के आदमियों ने नगर में प्रवेश किया और चार दिन तक उसे लूटा तथा अनेक मकान जला दिये।' सूरत के मुगल सूबेदार इनायत खाँ ने अपने को किले में बन्द कर लिया; और 'सूबेदार के आदमी रात-भर गोलियाँ चलाते रहे किन्तु उससे शत्रु को उतनी हानि नहीं पहुँची जितनी कि नगर-वासियों को। ...सूरत में जितनी भी सुन्दर चीजें थीं वे सब उस दिन जल कर राख होगईं और बहुत से व्यापारियों का वह सामान जिसे शत्रु लूटकर नहीं लेगया था, इस अग्नि में जलकर स्वाहा हो गया और वे स्वयम् बड़ी कठिनाई से अपने प्राण लेकर भाग सके। दो-तीन बनिया व्यापारियों को कई मिलियन की हानि उठानी पड़ी और सब मिला कर अनुमान से तीन करोड़ की हानि हुई।......(शिवाजी) प्रातः काल होते ही चला गया,... ...।

'सूरत के सूबेदार ने पूर्वोक्त घटना का समाचार महान मुगल के पास इस प्रकार लिख कर भेजा कि पढ़ने में वह वास्तव में जो कुछ हुआ था, उससे भी अधिक बुरा लगा। महान मुगल को सूरत से भारी लाभ होता था, और सूबेदार ने उसको सूचना दी थी कि सब कुछ नष्ट हो चुका है, और चूँकि सूरत में तनिक भी सुरक्षा नहीं है, इसलिये व्यापारी लोग स्थान बदलने का प्रबन्ध कर रहे हैं, यह सुन कर उसने पूर्ण व्यवस्था करने का संकल्प किया और शिवाजी को नष्ट करने तथा व्यापारियों को रोकने के लिये एक सेना भेज दी। उसने आदेश दिया कि तीन वर्ष तक उनसे चुंगी न वसूल की जाय और इन तीन वर्षों में आयात अथवा निर्यात के लिये किसी को कुछ भी न देना पड़े। इससे सबको प्रसन्नता हुई और उनका बोझ बहुत हल्का होगया, क्योंकि इस बात को ध्यान में रखते हुये कि हिन्दुओं ने व्यापार में बहुत पूँजी लगा रक्खी थी, यह एक बहुत बड़ी रियायत थी। इन लोगों के पास धन इतना अधिक है कि जब महान् मुगल ने बनिया दूरचन्द वोहरे * से चार लाख का ऋण माँगा तो उसने उत्तर दिया कि श्रीमान् जी सिक्के का नाम ले दें, और यह रकम तुरन्त ही उस सिक्के में अदा करदी जायगी। सूरत में निम्न प्रकार के सिक्के चलते हैं: रुपया, सोने की अठन्नी और चवन्नी, और चाँदी के इसी नाम के सिक्के। इनके अतिरिक्त सोने के पगोडा और चाँदी के लरेन (Larins) भी चलते हैं, इन आठ सिक्कों में से किसी में भी वह चालीस लाख की रकम देने को तैयार था। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि बनियों की पूँजी का अधिकांश सूरत में लगा हुआ था, और यह प्रस्ताव शिवाजी द्वारा सूरत के लूटे जाने के चार ही वर्ष बाद किया गया था। इतना धन पहले से इकट्ठा था, और उन तीन वर्ष में जब कोई कर न देना पड़ा तो उनको इतना अधिक लाभ हुआ। मुगल सामान्यतया ऐसे ऋणों को करों के साथ चुका देता है, और चुकता इतने ठीक समय पर होता है कि उसे जितने भी धन की आवश्यकता होती है, माँगने पर तुरन्त मिल जाता है, क्योंकि प्रजा-जनों को राजाओं से जितना ही अधिक सन्तोष मिलता है उतनी ही अधिक प्रसन्नता से वे अपनी थैलियाँ उसके सामने खोल देते हैं।'

* अंग्रेजी में यह नाम इस प्रकार दिया हुआ है: Baneane Duracandas Vorase.

जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के गवर्नर-जनरल ने अपने संचालक को ४ अगस्त १६६ के एक पत्र में लिखा 'राजा औरंगजेब ने आज्ञा दी है कि सूरत के नगर के चारों ओर एक पत्थर की दीवार खड़ी कर दी जाय, और उसने व्यापारियों को एक वर्ष के कर तथा चुंगी की छूट दे दी है। कम्पनी और अंग्रेज भी उसमें सम्मिलित हैं। यह छूट १६ मार्च १६६१ से आरम्भ होने को थी, और हमने हिसाब लगाया कि कम्पनी को पचास हजार (४२०० पौं) का लाभ हो जायगा। इस प्रकार यह महान् विपत्ति हमारे लिये लाभदायक सिद्ध हुई है।'

इनायतखाँ के स्थान पर गियासुद्दीन को सूबेदार नियुक्त किया गया। शिवाजी ने ६ जनवरी १६६४ बुधवार को ११ बजे सूरत में प्रवेश किया और रविवार ९ जनवरी को १ बजे वह वहाँ से चला गया। एक वृत्तान्त के अनुसार 'बृहस्पति और शुक्र की रातें आग के कारण सबसे अधिक भयंकर थीं। आग ने रात को दिन में बदल दिया, और दिन धुएँ के कारण रात में परिवर्तित हो गया था। धुआँ इतना घना था कि उसने एक बादल की भाँति सूरज को घेर लिया।

पुरन्धर की सन्धि—शिवाजी की इन कार्यवाहियों से औरंगजेब बहुत चिन्तित हुआ और उसने तुरन्त ही अपने योग्य सेनानायकों को उनसे निपटने के लिये भेजा। खाफी खाँ लिखता है, 'राजकुमार मुअज्जम ने अपने पत्रों में लिखा कि शिवाजी का साहस बराबर बढ़ता जा रहा है और वह प्रति दिन शाही प्रदेशों और काफिलों पर आक्रमण करने और उन्हें लूटने लगा है। उसने सूरत के निकट स्थित जावल तथा पवल के बन्दरगाहों पर अधिकार कर लिया था और मक्का को जाने वाले यात्रियों पर आक्रमण किया था। उसने समुद्र के किनारे अनेक किले बना लिये थे और सामुद्रिक यातायात को लगभग पूर्णतया बन्द कर दिया था। उसने राजगढ़ के किले में ताँबे के सिक्के (सिकायेपुल) और हूण भी जारी कर दिये थे। महाराज जसवन्तसिंह ने उसका दमन करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उसे सफलता न मिली थी। तब राजा जयसिंह और दिलेरखाँ को उन सेनाओं की सहायता के लिये भेजा गया जो उससे पहले से लड़ रही थीं।

शिवाजी के लिये यह समय महान संकट का था, क्योंकि जयसिंह और दिलेर खाँ दोनों ही अनुभवी सेनानायक थे, और वे उसका दमन करने के लिए दृढ़ संकल्प करके गये थे। जयसिंह ने शिवाजी को चारों ओर से घेरने के लिए धुआँधार चढ़ाइयाँ कीं। इस कार्य में उसने आदिलशाह का, पश्चिमी तट के पुर्तगालियों और छोटे-मोटे राजाओं, जमींदारों और सिद्दियों का सहयोग प्राप्त करने, तथा शिवाजी के समर्थकों को घूस देकर अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। इस महान योजना का सबसे महत्वपूर्ण अंग था पुरन्धर पर अधिकार करना क्योंकि उस समय शिवाजी वहीं पर डटा हुआ था।

कॉस्मे डो गुआर्दा लिखता है, 'जब वह (जयसिंह) आया तो शिवाजी भी बिना डरे न रह सका, क्योंकि उसके अधिकार में ४,००,००० घुड़सवार थे और इन (मुगल)

सेनाओं के पीछे जो आदमियों और पशुओं की संख्या चल रही थी, उस पर न तो विश्वास ही किया जा सकता है और न उसका हिसाब ही लगाया जा सकता है। उसके साथ ५०० हाथी, २० लाख ऊँट और एक करोड़ सामान ढोने वाले बैल थे। व्यर्थ की सेवाएँ करनेवाले लोगों और व्यापारियों की संख्या तो अगणित थी। शिवाजी का पहला काम यह था कि उसने इस सेनानायक को भी वैसा ही प्रलोभन दिया जैसा कि वह औरों को दे चुका था। उसने उसके पास बहुत बड़ा और बहुमूल्य भेंट भेजी, और उससे मित्रता कायम करना चाही। राजा ने दोनों ही चीज़ें ठुकरा दीं और शिवाजी को कहला भेजा कि मैं यहाँ उपहार स्वीकार करने नहीं, बल्कि तुम्हारा दमन करने आया हूँ, और यदि तुम अपना भला चाहते हो और अनेक लोगों को मृत्यु से बचाना चाहते हो तो समर्पण कर दो, नहीं तो तुमसे बलपूर्वक समर्पण करा लिया जायगा। (जयसिंह के) इस संकल्प से शिवाजी चिन्तित हो उठा।' घेरा चलता रहा, और गुआर्डा आगे लिखता है, 'राजा अपने साथ एक भारी तोपखाना लाया था, और एक-एक तोप इतनी भारी थी कि उन्हें खींचने के लिये चालीस-चालीस जोड़ी बैल जोतने पड़ते थे, किन्तु इस प्रकार के किले पर गोलाबारी करने में वे व्यर्थ सिद्ध हुईं, क्योंकि यह मनुष्य के हाथ का काम नहीं था, बल्कि प्रकृति (ईश्वर) का बनाया हुआ था और (क्योंकि) उसकी बुनियादें इतनी सुदृढ़ और किलेबन्दी इतनी मजबूत थी कि वह गोलों, तूफानों और यहाँ तक कि वज्रों का भी उपहास करता था। चोटी पर का मैदान जहाँ बैठकर लोग नक्षत्रों से बातें करते थे, आधे कोस से भी ज्यादा चौड़ा था। वहाँ पर कई वर्ष के लिये भोजन जमा था और पानी का अत्यधिक बाहुल्य था, आदमियों को सन्तुष्ट करने के बाद पानी पहाड़ी पर से नीचे की ओर बहता और उन पेड़-पौधों को सींचता जिनसे वह ढका हुआ था।'

इस किले की प्रतिरक्षा में शिवाजी के एक अन्य वीर सेनानायक मुरार बाजी ने बाजीप्रभु और तानाजी मालसुरे की भाँति, अपने तीन सौ सिंह हृदय मावलों के साथ प्राण दे दिये। सरकार लिखते हैं, "दुर्ग-रक्षकों ने स्पार्टा के ब्रेसीडर्स की माता के से साहस के साथ युद्ध जारी रक्खा; अपने नेता के गिर जाने पर भी वे निराश नहीं हुये और बोले, 'क्या हुआ यदि एक व्यक्ति मुरारजी मर गया? हम उतने ही वीर हैं जितना कि वह था और हम उसी साहस के साथ लड़ते रहेंगे!—'

किन्तु संघर्ष व्यर्थ सिद्ध हुआ। खाफी खाँ ने लिखा है:—

शिवाजी ने 'कुछ बुद्धिमान लोगों को राजा जयसिंह के पास भेजा, अपने अपराधों के लिये क्षमा माँगी, अनेक किलों को जो अभी तक उसके अधिकार में थे, समर्पित करने का वचन दिया तथा राजा से स्वयं जाकर मिलने का प्रस्ताव किया। किन्तु राजा उसकी कुटिलता और असत्यता से परिचित था, इसलिये उसने आदेश दिया कि आक्रमण इससे भी अधिक शक्ति के साथ जारी रक्खा जाय, जब तक कि इस बात की सूचना न मिल जाय कि शिवाजी किले से बाहर निकल आया है। इसके बाद कुछ विश्वसनीय ब्राह्मण

उसके पास से आये और कहा कि शिवाजी सचमुच समर्पण के लिये तैयार है और बड़ी कठोर शपथें खाकर पश्चाताप कर रहा है। अन्त में यह तय हुआ कि पैंतीस किलों में से जो उसके अधिकार में थे, तेईस को मुग़लों सुपुर्द करदी जाय और साथ ही साथ उनका राजस्व जो १० लाख हूण अथवा ४० लाख रुपये होता था, दे दिया जाय। बारह छोटे किले जिनकी आय साधारण थी, शिवाजी के ही लोगों के अधिकार में रहने दिये गये। यह भी निश्चय हुआ कि शिवाजी का पुत्र शम्भा जिसकी आयु ८ वर्ष की थी और जिसको राजा जयसिंह के सुझाव से ५००० का मंसब मिल गया था, समुचित सेना लेकर राजा के साथ दरबार में जायगा। शिवाजी स्वयं अपने परिवार के साथ पहाड़ियों में रहेगा और अपने उजड़े हुए देश की समृद्धि को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करेगा। जब कभी उसे शाही सेवा के लिये बुलाया जायगा, वह उपस्थित होगा। जब उसे जाने की आज्ञा मिल गई, तो उसे पोशाक घोड़ा इत्यादि दिये गये।

इन शर्तों के अतिरिक्त शिवाजी ने यह भी वचन दिया कि यदि कोंकण की निचले भागों की भूमि जिसकी आय ४ लाख हूण वार्षिक है और ऊपरी भागों (बालाघाट बीजापुरी) का प्रदेश जिसकी आय ५ लाख हूण वार्षिक है, मुझे सम्राट की ओर से दे दिये जायँ और मुझे इस बात का विश्वास दिलाया जाय कि मुगलों द्वारा बीजापुर की प्रत्याशित विजय के उपरान्त एक शाही फर्मान द्वारा इन प्रदेशों पर मेरा अधिकार स्वीकृत कर लिया जायगा तो मैं सम्राट को ४० लाख हूण १३ वार्षिक किस्तों में देने के लिये तैयार हूँ।' यह प्रदेश शिवाजी को ही बीजापुर से छीनने थे। इस सम्बन्ध में सरकार लिखते हैं "यहाँ पर हमें जयसिंह की नीति की चतुराई स्पष्ट दीख पड़ती है, उसने शिव जी तथा बीजापुर के सुल्तानों के बीच निरन्तर झगड़े का बीज बो दिया। जैसा कि उसने सम्राट को लिखा, इस नीति से तीन लाभ होंगे: पहला, हमें ४० लाख हूण अथवा दो करोड़ रुपये मिल जायगे; दूसरा शिवाजी की बीजापुर से शत्रुता हो जायगी; तीसरा शाही सेना को इन जंगली और ऊबड़-खाबड़ प्रदेशों में सैनिक कार्यवाहियाँ नहीं करनी पड़ेंगी, क्योंकि शिवाजी स्वयम् अपने ऊपर बीजापुरी सैनिकों को इन भागों से निकालने का उत्तरदायित्व ले लेगा।' इसके बदले में शिवाजी ने बीजापुर के आक्रमण में मुगलों को अपने पुत्र शम्भाजी के मंसब के २००० घुड़सवारों से और स्वयम् अपने नायकत्व में ७,००० कुशल पैदलों से सहायता देने का वचन दिया।"

जयसिंह ने यह महान कार्य केवल तीन महीने में सम्पादित कर लिया। जब उसने बीजापुर पर चढ़ाई की, जिसका हम पहले वर्णन कर आये हैं तो शिवाजी ने ईमानदारी के साथ अपने वायदों को पूरा किया। किन्तु जयसिंह को कुटिल मराठा सरदार का विश्वास नहीं था। इसलिये उसने सम्राट को लिखा, 'चूँकि अब आदिलशाह और कुतुबशाह दोनों मिलकर षड्यन्त्र करने पर उतारू हैं, इसलिये यह आवश्यक है कि हर प्रकार से शिवाजी का हृदय जीत लिया जाय और उसे श्रीमान जी के दर्शन करने के लिये उत्तर भारत भेज दिया जाय।'

संक्षेप में, लम्बे कूटनीतिक वार्तालाप और जयसिंह द्वारा शिवाजी की सुरक्षा और सम्मान के सम्बन्ध में शपथपूर्वक विश्वास दिलाये जाने के बाद शिवाजी ने शाही दरबार में उपस्थित होने के लिये आगरा को प्रस्थान किया। किस प्रकार वहाँ उसे निराश होना पडा और फिर किस प्रकार वह वहाँ से भाग निकला, इससे भारतवर्ष की पाठशालाओं के सभी विद्यार्थी परिचित हैं। तत्सम्बन्धित ब्यौरे का वर्णन विभिन्न प्रकार से किया गया है। यहाँ पर खाफी खाँ के शब्दों को उद्धृत करने से हमारा उद्देश्य पूरा हो जायगा:—

'जयसिंह ने शिवाजी को हर प्रकार से विश्वास दिलाया कि तुम्हारा दयालुतापूर्वक और सम्मान के साथ स्वागत होगा, और फिर उसने उसकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया और उसे दरबार में भेज दिया। जब राज्यारोहण-दिवस (शासन का नवाँ वर्ष, १६६६) का उत्सव मनाया जा रहा था, उसी समय शिवाजी के पहुँचने का समाचार मिला। आदेश दिया गया कि राजा जयसिंह का पुत्र कुँवर रामसिंह मुखलिस-खाँ के साथ उससे मिलने जाय और उस दुष्ट ईर्ष्यालु व्यक्ति को आगरा ले आय। १८ ज़िलकदा १०७६ को शिवाजी तथा उसके नव वर्षीय पुत्र को सम्राट के सम्मुख उपस्थित होने का सम्मान प्राप्त हुआ। उसने ५०० अशर्फियाँ और ६००० रुपये—सब मिलाकर ३०,००० रुपये भेंट किये। शाही आज्ञा से उसे पच हजारियों में खडा किया गया। राजा जयसिंह ने वायदे करके शिवाजी को फुसला लिया था, किन्तु राजा जानता था कि शिवाजी के सम्बन्ध में सम्राट की भावनाएँ बहुत बुरी हैं, इसलिये उसने कुटिलतापूर्वक उन आशाओं को अप्रकाशित रक्खा था, जो उसने उसे दिलाई थीं। शिवाजी का इस्तिकबाल अथवा स्वागत वैसा नहीं हुआ जैसी कि उसको आशा थी, इसलिये उसे बुरा लगा, और इससे पहले कि पोशाक, रत्न और हाथी जो उसकी भेंट के लिये तैयार थे, उसे दिये जाते, उसने रामसिंह से शिकायत की कि मुझे बडी निराशा हुई है। कुँवर ने उसे शान्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु कोई प्रभाव न हुआ। जब उसके असम्मानपूर्ण व्यवहार का पता सम्राट को लगा तो उसे बिना किसी शिष्टाचार के विदा कर दिया गया, उसे सम्राट के अनुग्रह का कोई चिन्ह प्राप्त नहीं हुआ और नगर के बाहर राजा जयसिंह के भवन में जहाँ कुँवर रामसिंह ने सब प्रबन्ध कर रक्खा था, पहुँचा दिया गया। राजा जयसिंह को एक पत्र लिख कर जो कुछ हुआ था उसकी सूचना दे दी गई, और शिवाजी को तब तक सम्राट के सामने उपस्थित होने से मना कर दिया गया जब तक कि राजा का उत्तर और सलाह न आ जाय। उसके पुत्र को रामसिंह के साथ दरबार में उपस्थित होने का आदेश दिया गया।..'

इसके बाद शिवाजी निकल भागा और अनेक कठिनाइयों का सामना करता हुआ मथुरा, इलाहाबाद, बनारस और तेलिंगाना होता हुआ दक्षिण पहुँच गया। आगरा में बहुत देर से लोगों को उसके भाग निकलने की सूचना मिली और उसके बाद भी शाही सन्तरियों ने सुस्ती से काम किया। 'कोतवाल और कुँवर रामसिंह की निन्दा की गई, और चूंकि औरंगजेब को सन्देह था कि इसमें रामसिंह का हाथ है, इसलिये उसका मंसब छीन लिया गया और उससे दरबार में उपस्थित

होने के लिये मना कर दिया गया। चारों ओर प्रान्तीय सूबेदारों और अधिकारियों को आदेश भेजे गये कि शिवाजी को ढूँढो और उसे पकड़ कर सम्राट के सम्मुख भेज दो। ठीक इसी समय राजा जयसिंह बीजापुर से लौट कर औरंगाबाद आ गया था, उसे आज्ञा मिली कि— 'चिड़िया पर जो पिंजड़े से निकल गई है सावधानी से निगाह रक्खो और उसे अपने पुराने घोंसले में फिर से न बैठने दो और न उसे अपने अनुयायियों को अपने आस पास एकत्र करने दो।' किन्तु वृद्ध राजपूत को बहुत निराशा और विस्मय हुआ; मई १६६७ में उसे वापिस बुला लिया गया और राजधानी को आते समय मार्ग में २ जुलाई को बुरहानपुर में उसका देहान्त होगया।

राजकुमार मुअज़्ज़म दक्खिन का सूबेदार होकर लौटा और जसवन्तसिंह भी उसके साथ गया; इसस शिवाजी को आवश्यक अवसर मिल गया। यद्यपि अक्टूबर १६६७ में दिलीरखाँ के पहुँच जाने से मुगल सेना की शक्ति बढ़ गई फिर भी शिवाजी ने अपनी खोई हुई स्थिति पुनः स्थापित कर ली। उसी समय उत्तर पश्चिम की ओर से साम्राज्य पर संकट आगया था और उधर दक्खिन में शाही पदाधिकारी परस्पर झगड़ा कर रहे थे, इसलिये ६ मार्च १६६८ को मुगलों और मराठों में संधि हो गई जो दो वर्ष तक कायम रही। शिवाजी की राजा की उपाधि स्वीकार कर ली गई। अंग्रेज कोठी के अभिलेख में 'महान् शान्ति'' का उल्लेख है ''शिवाजी बहुत शान्त रहा और राजा के देश को उसने किसी प्रकार से सताया नहीं।'' शम्भाजी को फिर ५००० का मंसबदार बना दिया गया और वह १००० घुड़सवारों के साथ सूबेदार के दरबार में औरंगाबाद पहुँच गया। इसी काल में (१६६७-६९) शिवाजी ने अपनी प्रशासन-व्यवस्था की गहरी और चौड़ी नींव डाली जिसकी युगों तक प्रशंसा होती रहेगी।

१६६९ में औरंगजेब ने मन्दिरों के विध्वंस का कार्य बड़े पैमाने पर शुरू किया, इसी बहाने को लेकर शिवाजी ने उसी वर्ष के अन्त अथवा दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में पुनः आक्रमण प्रारम्भ कर दिये। इस लड़ाई में सबसे वीरतापूर्ण कार्य था वीर तानाजी मालसुरे द्वारा कोंढन पर अधिकार, जिसका नाम बदल कर सिंहगढ़ रख दिया गया। इस प्रकार जब शिवाजी नये दुर्गों को जीतने, खोये दुर्गों को पुनर्विजय करने और उनका सपिण्डीकरण करने में लगा हुआ था, उसी समय मुअज़्ज़म और दिलीरखाँ आपस में लड़ रहे और एक दूसरे को बुरा भला कह रहे थे। मार्च १६७० में सूरत की अंग्रेज कोठी के लोगों ने लिखा 'अब शिवाजी चोर की भाँति नहीं चलता (जैसा कि पहले किया करता था) बल्कि अब वह ३०,००० आदमियों के साथ कूच करता है और विजय करता हुआ आगे बढ़ता है, और यद्यपि राजकुमार उसके पास ही डेरे डाले हुये है, फिर भी वह विचलित नहीं होता।'

३ अक्टूबर १६७० को शिवाजी ने दूसरी बार सूरत को लूटा। इस बार भी तीन दिन के भीतर पहली लूट का नाटक दुहराया गया। मराठे लगभग ६६

लाख की सम्पत्ति लूट ले गये, और १७७९ तक सूरत पर निरन्तर मराठों का आतंक छाया रहा। सरकार लिखते है, "किन्तु सूरत की वास्तविक क्षति का अनुमान उस सम्पत्ति से नही लगाया जा सकता जिसे मराठे लूट कर ले गये। भारत के सबसे समृद्ध बन्दरगाह का व्यापार लगभग पूर्णतया नष्ट हो गया। सूरत का व्यवसाय पूर्णतया चौपट होगया और देश के आन्तरिक भागों के उत्पादक अपना माल पश्चिमी भारत के इस महानतम व्यापार-केन्द्र को भेजने में हिचकने लगे।"

शिवाजी के मुगलों से शेष सम्बन्धों का यहाँ संक्षेप में उल्लेख भर कर देना पर्याप्त होगा। १६७१-७२ में शिवाजी ने पुरन्धर की सन्धि से जो प्रदेश मुगलों के सुपुर्द कर दिये थे उनका अधिकांश पुनः जीत लिया। इसके अतिरिक्त उसने बगलाना (नासिक जिले के उत्तर में) और सूरत तथा थाना के बीच स्थित कोली देश पर भी अधिकार कर लिया। १६७३ में पन्हाला और १६७५ में कोल्हापुर तथा पोंडा भी हस्तगत कर लिये गये। इसी बीच में १६७४ में शिवाजी ने रायगढ़ में अपना राज्याभिषेक करवाया और अब वह एक दम विद्रोही अथवा लुटेरे से मुकुटधारी राजा बन गया।

अपने जीवन के अन्तिम छः वर्षों (१६७४-८०) में शिवाजी ने पूर्वोक्त सीमाओं के दक्षिण के प्रदेशों में अपना विजय-कार्य सीमित रक्खा। विजित प्रदेश इस प्रकार थे: शिवाजी के स्वराज्य का दक्षिणी भाग जिसमें बम्बई के दक्षिण में कोंकण का भाग, सावन्तवाड़ी तथा उत्तर कनारा-तट, तुङ्गभद्रा नदी के पश्चिम में बेलगाँव तथा धारवाल से लेकर कोपाल तक कर्नाटक के जिले, और अन्त में वैलोर तथा जिञ्जी तक मैसूर, बैलरी, चित्तूर तथा अर्काट जिलों के भाग सम्मिलित थे, उत्तरी भाग जिसमें डाँग और बगलाना, सूरत के दक्षिण में कोली देश, बम्बई के उत्तर में कोंकण और दक्खिन का पठार अथवा पूना के दक्षिण की ओर देश और सतारा तथा कोल्हापुर के जिले। "उसके राज्य के इन व्यवस्थित अथवा अर्ध व्यवस्थित भागों के अतिरिक्त एक चौडी पट्टी थी जो घटती बढ़ती रहती थी और जिस पर उसकी शक्ति का प्रभाव था किन्तु जो उसके प्रभुत्व में नहीं थी। वे मुगल साम्राज्य (मुगलाई) के पड़ोसी भाग थे जो मराठा घुडसवारों के लिये लूट मार के अच्छे क्षेत्र थे" और जहाँ से वह चौथ वसूल करता था।

शम्भाजी—४ अप्रैल १६८० को शिवाजी की मृत्यु होगई।* इसी घटना के

* उस समय उसकी अवस्था केवल ५३ वर्ष की थी। सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं, "शिवाजी का वास्तविक बड़प्पन उसके चरित्र और योग्यता में था, न कि विचारों की मौलिकता और राजनैतिक दूरदर्शिता में। दूसरों के चरित्र को पहचानने की अचूक दृष्टि, योजनाओं की सुयोग्यता और किन्हीं परिस्थितियों में कौन सी बात व्यावहारिक तथा लाभदायक है, इसको समझने की जन्मजात क्षमता—शिवाजी के जीवन की सफलता के ये ही मुख्य कारण थे। उसने बिखरे हुये मराठों को एक राष्ट्र के रूप में

बाद विद्रोही राजकुमार अकबर भाग कर दक्खिन में पहुँचा और उसका पीछा करते हुए औरंगजेब भी वहाँ गया और अपने जीवन के शेष २७ वर्ष वहीं बिताये। शिवाजी का उत्तराधिकारी उसका विवेकहीन पुत्र शम्भाजी हुआ। यद्यपि वह अपने पिता की भाँति वीर था किन्तु वह कुछ अंश में विलासी था। उसने भी महान् मराठा की समर नीति को अपनाया और दक्खिन के मुगल प्रान्तों को लूटा तथा उजाड़ा।

१—खाफी खाँ लिखता है, 'जब शिवाजी मर गया तो उसके दुरात्मा पुत्र शम्भा ने अपने पिता से भी बाजी मारने की इच्छा की। उसने विद्रोह का झंडा खड़ा किया और शासन के तेईसवें वर्ष में, २० मुहर्रम १०९१ हिजरी (२५ फरवरी १६८०) को कफरखाँ पर जो दक्खिन के सूबेदार खानजहान के अधीन जिजया वसूल करने का काम करता था आक्रमण कर दिया। "वह बुरहानपुर से डेढ़ कोस पर स्थित बहादुरपुर पर टूट पड़ा। स्थान धनी था और वहाँ पर अनेक साहूकार तथा व्यापारी रहते थे। जवाहिरात धन तथा संसार के सभी देशों की वस्तुओं का वहाँ बाहुल्य था। उसने इस स्थान को घेर लिया और फिर धावा बोल दिया, उसका आक्रमण इतना अप्रत्याशित और सहसा हुआ " कि कोई भी आदमी अपनी सम्पत्ति में से एक दाम अथवा दिरम भी न बचा सका और न अपनी किसी स्त्री और बच्चे की ही रक्षा कर सका। सात अन्य प्रसिद्ध स्थान, जैसे नगर के पड़ोस में स्थित हसनपुरा इत्यादि जो सब धनी और सम्पन्न थे, लूटे और जलाये गए।

२—जब राजकुमार मुहम्मद अकबर ने दक्खिन में शरण ली (१६८०) तो वह शम्भा जी की राजधानी राहिरी (रायगढ़) में पहुँचा। खाफी खाँ लिखता है, वह सरदार उसका स्वागत करने आया, राहिरी के किले से तीन कोस पर अपना एक भवन उसे रहने को दे दिया, और उसके निर्वाह के लिए भत्ता निश्चित कर दिया। पैशाचि

सम्पन्न किया यह उसकी अमर असफलता थी। और उसकी सबसे मूल्यवान विरासत थी वह आशा जो उसने अपनी जनता में फूँक दी थी। और इससे भी बड़ी बात यह थी कि उसने यह सब कुछ चार महान शक्तियों से संघर्ष करके प्राप्त किया—मुगल साम्राज्य, बीजापुर, पुर्तगाली भारत और जंजीरा के हबशी। आधुनिक युग में किसी भी हिन्दू ने ऐसी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय नहीं दिया है। अपने उदाहरण से उसने सिद्ध कर दिया है कि हिन्दू जाति एक राष्ट्र का निर्माण कर सकती है एक राज्य की नींव डाल सकती है, शत्रुओं को परास्त कर सकती है; वह अपनी प्रतिरक्षा स्वयम् कर सकती है; वह साहित्य, कला, व्यापार तथा उद्योग धन्धों का प्रतिरक्षण और पोषण कर सकती है, वह अपनी नौ-सेना और व्यापारी बेड़ा बना सकती है और विदेशियों से समानता के आधार पर सामुद्रिक युद्ध लड़ सकती है। उसने आधुनिक हिन्दुओं को अपने जीवन के उच्चतम सीढ़ी पर चढ़ने का उपदेश दिया। (Short History of Aurangzeb पृष्ठ २१०।)

हम देख चुके हैं इसी कारण औरंगजेब ने सारी शक्ति उसके विरुद्ध लगा दी, और अन्त में अकबर भाग कर ईरान चला गया।

३—पाठकों को स्मरण होगा कि जब औरंगजेब ने गोलकुंडा पर अन्तिम चढाई की (१६८१-८२) तो उस समय अबुल हसन पर जो शाही आरोप लगाये गए उनमें एक यह भी था: 'इसके अतिरिक्त हाल में यह भी ज्ञात हुआ है कि एक लाख पगोडा दुष्ट शम्भा को भेजा गया था।'

४—औरंगजेब की समझ में शम्भाजी को कुचलने के हेतु सेनाएँ एकत्र करने के लिये ये बहाने पर्याप्त थे। इसलिए 'काफिरों को दंड देने के लिये शासन के चौंतीसवें वर्ष ११०१ हिज्री में राजकुमार मुहम्मद आजमशाह तथा कुछ अनुभवी अमीरों को भेजा गया।संक्षेप में, निर्भीक मुकर्रब खाँ को उच्चकोटि की सफलता मिली।'

शम्भाजी, उसके परिवार के सब सदस्य तथा उसके सब मित्र बन्दी बनाकर सम्राट के पास भेज दिये गए। औरंगजेब को शिवाजी तथा उसके पुत्र शम्भाजी के विरुद्ध दीर्घकाल तक संघर्ष करना पड़ा था; उसके सफलतापूर्वक समाप्त हो हो जाने से उसको जितना सन्तोष हुआ उसका अनुमान उस आनन्दोत्सव से लगाया जा सकता है, ज स ़ अवसर पर मनाया गया।

'कहा जाता है कि उन चार-पाँच दिनों में जब मुकर्रबखाँ बन्दियों को लेकर आ रहा था, पवित्र गृहणियों से लेकर दीन-दुःखियों तक सभी वर्ग के लोगों को इतना आनन्द हुआ कि वे रात को सो न सके, बन्दियों को देखने के लिए बाहर निकल कर दो कोस तक चले गये और अपना सन्तोष प्रकट किया। सड़क के किनारे और उसके निकट हर नगर और गाँव में जहाँ भी यह समाचार पहुँचा, वहाँ बड़ा आनन्द मनाया गया; और जहाँ होकर वे निकले वहाँ द्वार और छतें प्रसन्नमुख स्त्री-पुरुषों से खचाखच भर गईं। ... ...

'जब उन्हें कारागार में भेज दिया गया, तो राज्य के कुछ सलाहकारों ने सलाह दी कि उन्हें जीवित रहने दिया जाय और आजीवन बन्दी बना कर रख दिया जाय, शर्त यह हो कि शम्भा अपने किलों की कुञ्जियाँ समर्पित करदे। ... ——सम्राट इस पक्ष में था कि इन लोगों से जो झगड़े की जड़ है, पिण्ड छुड़ाने का यह अच्छा अवसर है और इसे हाथ से न जाने दिया जाय। उसे आशा थी कि इसके बाद थोड़े से परिश्रम से उनके किलों पर अधिकार हो जायगा। इसलिये उसने यह सलाह नहीं मानी और इस बात की स्वीकृति नहीं दी कि किलों की कुञ्जियाँ लेकर उन्हें छोड़ दिया जाय। उसने आज्ञा दी कि दोनों की जीभें काट ली जायँ। इसके बाद दस-ग्यारह अन्य आदमियों के साथ उन्हें नाना प्रकार की यातनाएँ देकर मार डाला गया और अन्त में आज्ञा दी गई कि शम्भा और कवि कलश की खालों को भूसा भरवा कर दक्खिन के प्रमुख नगरों और कस्बों में ढोल और तुरई बजा-बजा कर घुमाया जाय। विद्रोही, हिंसात्मक तथा अत्याचारी कुकर्मियों को ऐसा दण्ड मिलता है। शम्भाजी के पुत्र शाहू को जिसकी अवस्था

ग्यारह वर्ष की थी जीवित रहने दिया गया, और आदेश दिया गया कि उसे महलों की सीमाओं के भीतर रक्खा जाय और उसे .... का मंसब प्रदान किया गया।" " कुछ स्त्रियाँ जिनमें शम्भा की माता और पुत्रियाँ थीं, दौलताबाद के किले में भेज दी गईं।' (खाफी खाँ)

राजाराम—शम्भाजी के दुखद अन्त का मुख्य कारण उसकी गलत नीति और अयोग्यता थी। जैसा कि सरकार ने लिखा है, "जब औरङ्गजेब अपने साम्राज्य की समग्र शक्ति बीजापुर और गोलकुण्डा को जीतने में लगा रहा था, उस समय शम्भाजी ने उस संकट का जो दक्खिन की सभी शक्तियों को समान रूप से ग्रस्त कर रहा था, सामना करने का समुचित प्रयत्न नहीं किया। उसके सैनिकों ने मुगलों की भूमि को लूटा किन्तु यह तो उनका दैनिक कृत्य था; इन धावों से सैनिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। औरंगजेब ने इन साधारण बाधाओं की चिन्ता नहीं की। मराठा शासक इतना बुद्धिमान न था कि मुगलों का बीजापुर और गोलकुण्डा के घेरों से ध्यान हटाने और इन राज्यों के पतन को रोकने के लिये किसी विशाल और सुनिश्चित योजना के अनुसार कार्य करता; उसकी प्रशासन-व्यवस्था भी सामन्तों के विद्रोहों और दरबारियों के कुचक्रों के कारण बुरी तरह दुर्बल हो गई थी।"

एक अव्यवस्थित देश में जहाँ उत्तराधिकार के सुनिश्चित नियम नहीं होते, विप्लवगत राजतन्त्र सदैव दुर्बल सिद्ध होता है यह बात शिवाजी की मृत्यु के बाद महाराष्ट्र में भी तुरन्त ही चरितार्थ हुई। कुछ सामन्तों ने शिवाजी के बड़े भाई शम्भाजी के स्थान पर दस वर्षीय बालक राजाराम को (शम्भा जी का सौतेला भाई) सिंहासन पर बिठलाने का विचार किया था। किन्तु शम्भाजी ने शीघ्र ही स्थिति पर अधिकार कर लिया और राजा बन बैठा, इसके जो दुखद परिणाम हुये, उन्हें हम देख चुके हैं। औरंगजेब को शम्भा जी के वध के बाद भी चिन्ताओं और कठिनाइयों से छुटकारा न मिला। राजाराम ने तुरन्त ही अपने स्वर्गीय सौतेले भाई का स्थान ले लिया। खाफी खाँ लिखता है 'सन्देश वाहकों ने अब सम्राट को सूचना दी कि रामराजा (खाफी खाँ राजाराम को इसी नाम से पुकारता है) के सैनिक दल शाही प्रदेशों को लूटने और उनके किलों पर अधिकार करने के उद्देश्य से विभिन्न दिशाओं में फैल गये हैं।"

इसके बाद की दस वर्ष की लड़ाइयों का यहाँ संक्षेप में उल्लेख करना पर्याप्त होगा। '१६८८ तथा १६८९ में सम्राट को निरन्तर विजय प्राप्त होती रही। उसकी सेनाओं ने बीजापुर और गोलकुण्डा के विजित राज्यों के किलों और प्रान्तों पर अधिकार कर लिया, उदाहरण के तौर पर सागर, रायचूर और अदोनी (पूर्व में), सैरा और बंगलौर (मैसूर में), वाँडेवाश और कांजीवरम् (मद्रास में), कर्नाटक बीजापुर और बेलगाँव (दक्षिण पश्चिम के कोने में।) इनके अतिरिक्त मराठों की राजधानी रायगढ़ तथा अन्य किले भी हस्तगत कर लिये

गये। उत्तर भारत में भी मुगलों को विशेष सफलता प्राप्त हुई : राजाराम के के नेतृत्व में जाटों का विद्रोह कुचल दिया गया और उस नेता का वध कर दिया गया (४ जुलाई १६८८)।"

मराठे रण-नीति के अनुभवी पण्डित थे। अपने अमात्य रामचन्द्र नीलकंठ बावडेकर की सलाह से राजाराम जिंजी चला गया जिससे शाही सेनाओं को अपना ध्यान पूर्वी कर्नाटक की ओर देना पड़े और महाराष्ट्र पर उनका दबाव कम हो जाय। मराठा राज्य में स्वयं अमात्य को अधिनायक नियुक्त कर दिया गया और उसने विशालगढ़ को अपना केन्द्र बना कर युद्ध का संचालन किया। इन दो मोर्चों के बीच मुगल सेनाओं की शक्ति तितर-बितर हो गई। सरकार लिखते हैं, "मराठों का न कोई सर्वमान्य नेता था और न केन्द्रीय सरकार थी। प्रत्येक मराठा सरदार अपनी सैनिक टुकडियों को लेकर लड़ता और अपनी इच्छा से विभिन्न दिशाओं में धावे मारता। इससे औरंगजेब की कठिनाइयाँ और भी कई गुनी बढ़ गई। इस लडाई ने लोक-युद्ध का रूप धारण कर लिया, और औरंगजेब उसका अन्त न कर सका, क्योंकि न कोई मराठा सरकार थी और न राजा की सेना जिसको वह आक्रमण करके नष्ट कर देता"। "अब यह एक साधारण सैनिक समस्या न रह गई थी, बल्कि मुगल साम्राज्य और दक्खिन की देशी जनता के बीच इस बात की होड थी कि किसके साधन अधिक हैं और किसमें कष्ट सहते हुये डटे रहने की अधिक शक्ति है।"

साम्राज्यवादियों की पहली पराजय मई १६६० में हुई, जब कि मराठों ने उनके सेनानायक रुस्तम खाँ को पकड लिया और उसकी शिविर को लूट लिया। इस सफलता का श्रेय मराठा सेनानायक सन्ताजी घोरपडे को था।

खाफीखाँ लिखता है, 'जिस किसी ने भी उसका सामना किया वह या तो मारा गया या घायल होकर बन्दी बना लिया गया, और यदि कोई भागने मे भी सफल हुआ तो केवल अपने प्राण बचा कर और अपनी सेना और सामान को शत्रु के लिये छोड कर। कोई कुछ न कर सका, क्योंकि जहाँ कहीं वह दुष्ट कुत्ता जाता और आक्रमण की धमकी देता, वहाँ कोई ऐसा शाही अमीर न होता जो बहादुरी से उसका सामना कर सकता, और उनकी सेनाओं को वह जितनी हानि पहुँचाता उतना ही वीर से वीर योद्धा उसके डर से काँप उठने। इस्माइलखाँ दक्खिन के योद्धाओं में सबसे अधिक वीर और कुशल माना जाता था, किन्तु वह पहले ही युद्ध में पराजित हुआ, उसकी सेना लूट ली गई और वह स्वयम् घायल होकर बन्दी बना लिया गया। कुछ महीने बाद उसने भारी रकम चुका कर छुटकारा पाया। इसी प्रकार रुस्तम खाँ को भी जो शरजा खाँ कहलाता था और जो अपने समय का रुस्तम तथा सिंह की भाँति वीर था, उसने सतारा जिले में परास्त किया, उसका सामान और जो कुछ उसके पास था लूट लिया और उसे बन्दी बना लिया, छुटकारा पाने के लिये रुस्तम को भारी रकम चुकानी पडी। अलीमर्दान खाँ जो हुसैनीबेग हैदराबादी के नाम से विख्यात था, परास्त हुआ और अन्य अनेक लोगों के

साथ बन्दी बना लिया गया। कुछ दिन नजरबन्द रहने के उपरान्त उन्होंने दो लाख रुपये चुका कर छुटकारा पाया।

१६९१ जिंजी में मुगलों की स्थिति बहुत बिगड़ गई। दूसरे वर्ष राजकुमार कामबख्श ने शत्रु से सन्धि-वार्ता आरम्भ कर दी जिससे दशा और भी अधिक शोचनीय होगई उसके साथियों ने उसे बन्दी बना लिया (दिसम्बर १६९२ से जनवरी १६९३ तक)। १६९१-९२ के बीच बरार के सामन्त रिड़िया नायक ने बीदर तथा बीजापुर और रायचूर से मालखेद तक के सामरिक महत्व के प्रदेश में शाही सेनाओं को बहुत कष्ट पहुँचाया।

"अन्त में १६९५ के अप्रैल महीने तक औरंगजेब की समझ में आ गया कि मैंने आदिलशाही और कुतुबशाही राजधानियों को जीत कर और उनके राजवंशों का अन्त करके कुछ भी लाभ नहीं प्राप्त किया है। अब उसने देखा कि मराठा समस्या वैसी नहीं है जैसी कि शिवाजी और शम्भूजी के समय में थी। मराठे अब डाकुओं अथवा स्थानीय विद्रोहियों का एक झुण्डमात्र नहीं थे, बल्कि अब वे दक्खिन की राजनीति का सबसे शक्तिमान तत्व बन गये थे। अब साम्राज्य के वही अकेले शत्रु रह गये थे, किन्तु वे ऐसे शत्रु थे जो भारतीय प्रायद्वीप के आर-पार बम्बई से मद्रास तक फैले हुये थे वेदवा की तरह पकड़ में नहीं आते थे, न उनका कोई ऐसा था और न गढ़ जिसको पकड़ लेने अथवा अधिकृत कर लेने से उनकी शक्ति का अपने आप नाश हो जाता।" अब औरंगजेबको उत्तर लौटने की कोई आशा न रही, इस लिये मई १६९५ में उसने अपने जीवित पुत्रों में से सबसे बड़े शाहआलम को पश्चिमोत्तरी प्रदेशों (पंजाब, सिन्ध और अफगानिस्तान) की रक्षा के लिये भेजा। अगले साढ़े चार वर्षों के लिये उसने इस्लाम पुरी (बहादुरगढ़) को अपना निवास स्थान बनाया और वहीं से युद्ध का संचालन किया। इस काल की मुख्य घटनाएँ थी: कासिमखाँ तथा हिम्मतखाँ नाम के दो मुगल सेनानायकों का नाश, एक घरेलू झगड़े में सन्ताजी घोरपड़े की हत्या और जनवरी १६९८ में जिंजी के पतन के परिणामस्वरूप राजाराम का छूट जाना।

राजाराम के जिंजी से भागने के साथ-साथ दक्खिन में औरंगजेब की लड़ाइयों की अन्तिम मंजिल आरम्भ हुई। 'उसके शेष जीवन काल (१६९९-१७०७) में वही पुरानी उकतानेवाली कहानियाँ दुहराई गई। उसके आदमियों ने धन जन की भारी हानि उठा कर किसी पहाड़ी किले पर अधिकार कर लिया, कुछ महीने बाद मराठों ने उसे मुगल रक्षकों के हाथों से फिर छीन लिया, और एक दो साल बाद मुगलों ने फिर उस पर घेरा डाल दिया। उसके सैनिकों तथा पिछलगुओं को बाढ़ से लबालब नदियों को पार करने, कीचड़ से भरी हुई सड़कों पर चलने और ऊबड़ खाबड़ पहाड़ी मार्गों में मारे मारे फिरने से जो कष्ट भोगने पड़े उनका बखान करना असम्भव है। कुलियों का रुपया खत्म हो गया; सामान ढोने वाले पशु भूख तथा अधिक कार्य से मर गये और हर शिविर में अन्न का हर्दम कमी रहने लगी।

उसके अधिकारी इस कठिन परिश्रम से थक गये, किन्तु यदि कोई सलाहकार उत्तर भारत को लौट चलने का सुझाव रखता तो औरंगजेब क्रोध में आकर उस पर टूट पड़ता और उस अभागे सलाहकार को कायर तथा विलासी कह कर ताना मारता। उसके सेनानायकों की पारस्परिक ईर्ष्या ने भी उसी भाँति उसका काम बिगाड़ा जिस प्रकार प्रायद्वीपी युद्ध में नेपोलियन के मार्शलों की ईर्ष्या ने। इसलिये यह आवश्यक हो गया कि प्रत्येक सैनिक कार्यवाही का संचालन सम्राट स्वयम् करे, अन्यथा कुछ भी होने को न था। आठ किलों—सतारा, परली, पन्हाला, खेलना (विशालगढ़), कोंडन (सिंहगढ़), रायगढ़, तोर्णा और वगिंगरा—की घिराई में उसके साढ़े पाँच वर्ष (१६९९-१७०५) व्यतीत होगये।"

एक बात और भी स्मरणीय है। तोर्णा को छोड़कर अन्य सभी किलों पर मुगलों ने घूस देकर अधिकार किया, इससे स्पष्ट है कि बाजीप्रभु और तानाजी के उत्तराधिकारियों का कितना नैतिक पतन हो चुका था। यहाँ पर हम केवल सतारा के घेरे का वर्णन करेंगे, क्योंकि उससे अकबर द्वारा चित्तौड़ के घेरे का स्मरण हो आता है।

'जुमदस्सनी के अन्त (दिसम्बर १६९९) में शाही सेना सतारा के सामने आ धमकी और डेढ़ कोस की दूरी पर खेमे गाड़ दिये गये। राजकुमार मुहम्मद आजमशाह ने दूसरी ओर अपने डेरे डाले और अमीर तथा अधिकारियों को तर्बियात खाँ के निर्णय के अनुसार विभिन्न स्थानों पर नियुक्त कर दिया गया। उन्होंने पाँतों को आगे बढ़ाने, खाइयाँ खोदने तथा घेरे सम्बन्धी कार्यवाहियाँ करने में एक-दूसरे से होड़ की।" ... दोनों ओर से धुआँधार अग्नि-वर्षा होती रही," और दुर्ग-रक्षकों ने भारी-भारी पत्थर लुढ़का दिये जो उछल कर नीचे आ गिरे और अनेक आदमी तथा पशु कुचल कर मर गये। वर्षा के कारण अन्न का आना बन्द हो गया, शत्रु ने बंजारों के काफिलों पर बड़े साहस के साथ आक्रमण किये, और किले के आसपास बीस कोस तक देश जला कर ऊजड़ कर दिया गया, जिससे घास और अन्न बहुत दुर्लभ और तेज हो गये। एक चौबीस गज ऊँचा तोपखाना पहाड़ी के सामने खड़ा कर दिया गया और राजकुमार की ओर भी पहाड़ी के चरण तक तोपें पहुँचा दी गईं। उस देश के सैनिकों और मावलियों को जो घेरे के काम में बहुत ही योग्य थे एक लाख साठ हजार रुपया दिया गया। ... दुर्ग-रक्षकों की कठिनाइयाँ बढ़ती ही गईं और अब उनको इतना भी अवसर न था कि एक भी बन्दूक अथवा तमंचा दाग सकतें, दीवालों पर से पत्थर लुढ़काने के अतिरिक्त उनके पास अन्य कोई चारा न था।....'

'घेरा डालने वालों ने पत्थर काटने वाले लगाये जिन्होंने चट्टान की बगल में चार गज चौड़े और दस गज लम्बे दो खन्दक खोद लिये, वे सन्तरियों के खड़े होने के लिये थे। किन्तु बाद में उनसे उद्देश्य पूरा होता न दिखाई दिया, इसलिये उन्हें बारूद से भर दिया गया।..... घेरे के चौथे महीने में ५ जिलकदा की सुबह को इनमें से एक गड्ढे में आग लगा दी गई। चट्टान तथा उसकी ऊपर की दीवार हवा में उड़ गईं और किले के

भीतर आ गिरी। दुर्गरक्षकों में से अनेक उड़ गये और जल गये। यह देखकर घेरा डालने वालों ने साहस के साथ आगे को बढ़ना आरम्भ किया। उसी समय भण्डार के दूसरे खम्भक में भी आग लगा दी गई। उसके ऊपर की चट्टान का एक भाग उड़ गया, किन्तु आशा के विपरीत वह किले में न गिर कर सत्यानाश के पहाड़ की भाँति घेरा डालने वालों के सिरों पर आ गिरी और कई हजार लोग उसके नीचे दब गये। तब दुर्गरक्षकों ने दीवालों की मरम्मत आरम्भ की, और पुनः अग्नि वर्षा की और विनाशकारी पत्थर नीचे लुढ़का दिये।

जब औरंगजेब को इस विनाश का और अपने लोगों की निराशा की सूचना मिली तो वह घोड़े पर चढ़कर स्वयम् उस स्थल पर पहुँचा, जैसे कि कोई मृत्यु की खोज में जाता है। उसने आज्ञा दी कि मृतकों के शरीर एक दूसरे के ऊपर रखकर ढेर बना दिये जायें और विपत्ति के वारों से बचने के लिये उनसे ढालों का काम लिया जाय और फिर संकट को छोड़ो और साहस की रस्सियों पर चढ़ कर लोग धावा बोल दें। किन्तु जब उसने देखा कि लोगों पर मेरे शब्दों का कोई प्रभाव नहीं हो रहा है तो उसने मुहम्मद आजमशाह के साथ स्वयम् आगे बढ़ने की इच्छा प्रकट की, किन्तु अमीरों ने इस अविवेकपूर्ण प्रस्ताव का विरोध किया।

'इसी समय एक असाधारण घटना घटी। विस्फोट में सहसा अनेक हिन्दू पैदल सैनिक मारे गये थे, और उनके मित्र आदमियों को भेज कर उनके शव बाहर न निकलवा सके। विस्फोट के जोर से उनके शरीर छिन्न भिन्न होगये थे इसलिये हिन्दू और मुसलमान मित्र और अपरिचित में भेद करना असम्भव था। तोपखाने के दरोगा के विरुद्ध तोपचियों की शत्रुता की लपटें भड़कने लगीं, इसलिये रात को उन्होंने गुप्त रूप से मरहलों (रक्षा के लिये खड़ी की गई चोबें) में आग लगा दी जिन्हें ऊपर की अग्नि वर्षा से बचने के लिये बड़ा कष्ट सह कर और बहुत सा धन व्यय करके खड़ा किया गया था। यह आशा थी और यही उनकी योजना थी कि आग की लपटें मरे हुये हिन्दुओं के शवों तक पहुँच जायेंगी। चारों ओर भयंकर ज्वाला धधकने लगी और एक सप्ताह तक घेरा डालने वालों और दुर्ग रक्षकों दोनों के ही लिये चमकते हुये दीपक का कार्य करती रही। वहाँ झोपड़ियों में अनेक हिन्दू तथा मुसलमान पड़े हुये थे। वे भागकर निकल न सके और इस प्रकार जीवित लोग भी मरों के साथ जल गये।

जिंजी से लौटने के बाद राजाराम ने अपने कोंकण के किलों का निरीक्षण किया और खानदेश तथा बरार पर धावा मारने की विस्तृत योजनाएँ बनाईं, किन्तु इसी बीच में २ मार्च १७०० को सिंहगढ़ में उसका देहान्त हो गया। २६ अक्टूबर १६९९ को वह शत्रु के हाथों में पड़ जाने के भय से सतारा से भाग निकला था। उसकी मृत्यु का समाचार सुन कर सतारा के दुर्ग रक्षकों का साहस टूट गया। और इसलिए १७०० में किले का पतन हो गया।

युद्ध की अन्तिम मंजिल—राजाराम की मृत्यु के बाद मुगल मराठा संघर्ष ने जो रूप धारण किया उसका खाफी खाँ ने इस प्रकार विवरण किया है—

'जब राजाराम अपनी विधवाओं और छोटे बच्चों को छोड कर मर गया तो उस समय लोगों ने सोचा कि दक्खिन में मराठा शक्ति का अन्त आ गया है। किन्तु उसकी (राजाराम की) बडी पत्नी ताराबाई ने अपने तीन वर्ष के बालक को सिंहासन पर बिठलाया और सरकार की बागडोर अपने हाथों में ले ली। उसने शाही प्रदेशों को उजाडने के लिये कठोर कार्यवाहियाँ कीं, और सिरोंज तक दक्खिन के छः सूबों, और मन्दसौर तथा मालवा के सूबों की लूटमार करने के लिये अपनी सेनाएँ भेजदीं। उसने अपने अधिकारियों का हृदय जीत लिया, और यद्यपि औरंगजेब अपने जीवन के अन्त तक संघर्ष करता रहा, योजनाएँ बनाता रहा, चढाइयाँ और घेरे चलाता रहा, फिर भी दिन प्रति दिन मराठों की शक्ति बढती गई। उसने कठिन संग्राम करके, शाहजहाँ द्वारा जमा की हुई विशाल धन राशि को लुटा कर और हजारों आदमियों के प्राणों को निछावर करके उनके अभागे देश में प्रवेश किया था, उनके विशालकाय किलों को अधिकृत किया था, और उन्हें द्वार-द्वार खदेडा था; फिर भी मराठों का साहस बढता गया और वे सम्राट के पुराने प्रदेशों में घुस आये और जहाँ गये वहाँ लूट तथा नाश का ताण्डव रचा। सम्राट ने अपनी सेनाओं तथा साहसी अमीरों के साथ दूरस्थ पहाडों में डेरे डाले थे, ताराबाई के सेनानायक ने भी उसका अनुकरण किया और जहाँ पहुँच गये, वहाँ स्थायी रूप से अपने डेरे डाले, राजस्व वसूल करने वाले नियुक्त किये और अपनी स्त्रियों, बच्चों, तँबुओं और हाथियों के साथ सन्तोषपूर्वक वर्षों और महीनों वहाँ निवास किया। उनके साहस की सीमा न रही। उन्होंने सब परगने आपस में बाँट लिये, और शाही शासन की परिपाटी का अनुकरण करते हुए अपने सूबेदार तथा राजस्व वसूल करने वाले और रहदार (चुंगी वसूल करने वाले) नियुक्त कर दिये।...... उन्होंने अहमदाबाद की सीमाओं और मालवा के जिलों तक धावे मारे और देश को उजाड दिया, और उज्जैन के निकट तक दक्खिन के सूबों का सर्वनाश कर दिया। वे शाही शिविर के बारह कोस तक बडे-बडे काफिलों पर टूट पडते और उन्हें लूट लेते, और उनका इतना साहस बढ गया कि वे शाही कोष तक पर आक्रमण करने लगे।' अन्त में खाफी खाँ लिखता है, 'उनके सब कुकर्मों को लेखबद्ध करना कष्टप्रद और निरर्थक होगा, किन्तु उन घेरों के दिनों की कुछ घटनाओं का उल्लेख पर्याप्त होगा जिनका अन्त में मराठों के दुस्साहस का दमन करने में कोई प्रभाव नहीं हुआ।'

दोनों शिविरों में भ्रष्टाचार फैला हुआ था और दोनों ही पक्षों के अधिकारी आपस में झगडते और शत्रु से जा मिलते थे। किन्तु मुगलों के पक्ष में औरङ्गजेब के दृढ़ संकल्प ने इस दुर्बलता की पूर्ति की, और मराठों की ओर ताराबाई के निर्भीक नेतृत्व ने। कुछ समय तक सम्राट ने शाहू को जो अपने पिता शम्भाजी के वध के समय से शाही शिविर में रह रहा था, एक राजनैतिक तुरुप के रूप में प्रयोग करना चाहा, किन्तु इससे कोई लाभ नहीं हुआ। जैसा कि भीमसेन ने लिखा है, 'चूंकि मराठों की पराजय नहीं हुई थी और समग्र दक्खिन स्वादिष्ट पके पकाये हलुए की भाँति उनके अधिकार में आगया था, इसलिये अब वे सन्धि क्यों करने

लगे ? राजकुमार के दूत निराश होकर लौट आये, और राजा शाहू को पुनः गुलाल बार में नज़रबन्द कर दिया गया।

इसलिये अलग अलग किलों को जीतने का कठिन तथा कभी समाप्त न होने वाला कार्य जारी रहा। सतारा (१७००) के बाद परली (१७०१), पन्हाला (१७०१), खेलना (१७०१), कोंडन (१७०३), राजगढ़ (१७०३) और तोर्णा (१७०४) पर एक एक करके अधिकार कर लिया गया। जैसा कि खाफी खाँ ने लिखा है, इनमें से तोर्णा को छोड़कर सभी किले 'किलेदारों से बातचीत करके और उन्हें धन, पद आदि का प्रलोभन देकर' जीते गये। औरंगजेब की अन्तिम चढ़ाई जिसका उसने स्वयं नेतृत्व किया, बराड़ के सामन्त विंकिम नायक पर थी। अप्रैल १७०५ में बगिंगरा पर अधिकार होगया; किन्तु औरंगजेब को इससे कोई लाभ नहीं हुआ। 'बगिंगरा पर अधिकार हो गया, किन्तु उसका सरदार भाग निकला और विजेताओं को कष्ट देने के लिये दीर्घकाल तक जीवित रहा। इस प्रकार औरंगजेब का इन तीन महीनों का परिश्रम व्यर्थ ही गया।''

विनाश और मृत्यु

औरंगजेब दक्खिन में लगभग चौथाई शताब्दी तक निरन्तर युद्धों में लगा रहा; उसका जो अन्तिम परिणाम हुआ, उसका तत्कालीन यूरोपीय दृष्टा मनूची ने इस प्रकार वर्णन किया है :—

'औरंगजेब अहमदनगर को लौट गया और अपने पीछे इन प्रान्तों के मैदान छोड़ गया जिनमें पेड़ और फसलें दिखने को नहीं रह गई हैं, और इनके स्थान पर मनुष्यों और पशुओं की हड्डियाँ बिखरी पड़ी हैं। हरियाली के अभाव में भूमि चारों ओर नंगी और बंजर दिखाई देती है। उसकी सेना में लगभग एक लाख व्यक्ति प्रति वर्ष मरते हैं और तीन लाख से अधिक पशु, सामान ढोने वाले बैल, ऊँट और हाथी। दक्खिन के प्रान्तों में १७०२ से १७०४ तक ताऊन (और दुर्भिक्ष) का प्रकोप रहा। इन दो वर्षों में लगभग बीस लाख लोगों के प्राण गये।'

औरंगजेब के अहमदनगर पहुँच जाने पर भी उसकी सेना को विश्राम अथवा साम्राज्य को शान्ति नहीं मिली। अप्रैल अथवा मई १७०५ में एक विशाल मराठा सेना अपने सभी नेताओं के साथ सम्राट की शिविर के चार कोस के भीतर आ धमकी, और घमासान युद्ध के बाद ही उन्हें पीछे हटाया जा सका।

एक क्षण भर में, पलक मारते ही, साँस लेते ही संसार की दशा बदल जाती है।

शासन के इक्यावनवें वर्ष में, शुक्रवार तारीख २८ ज़िलक़ैद १११८ हि० को (२१ फरवरी १७०७) प्रातःकाल की नमाज़ पढ़ने और कलीमा-ए-तौहीद के बाद लगभग एक पहर दिन चढ़े सम्राट ने इस संसार से विदा ली। उस समय उसकी

औरंगजेब का साम्राज्य ।

अवस्था नव्वे वर्ष और कुछ माह थी और वह पचास वर्ष और ढाई महीने शासन कर चुका था। दौलताबाद के निकट (खुल्दाबाद में) शेख बुरहानुद्दीन तथा अन्य फकीरों और शाह ज़री ज़रबख्श की समाधियों के निकट उसे दफना दिया गया, और उसकी कब्र की देख-रेख के लिए बुरहानपुर के कुछ जिले लगा दिये गये।' अन्त में खाफी खाँ ने सम्राट का मूल्यांकन इस प्रकार किया है :—

'तिमूर के वंश के सम्राटों में—बल्कि दिल्ली के सभी शासकों में—सिकन्दर लोदी के समय से अब तक ऐसा कोई नहीं हुआ है जिसने भक्ति, तपस्या और न्यायप्रियता के लिये इतनी ख्याति पाई हो। साहस में और सहन शक्ति तथा ठोस निर्णय बुद्धि में कोई उसकी समानता न कर सकता था। किन्तु उसे शा॰ा में अत्यधिक श्रद्धा थी, इसलिये वह दण्ड का प्रयोग नहीं करता था, और बिना दण्ड के किसी देश की प्रशासन-व्यवस्था कायम नहीं रक्खी जा सकती। उसके अमीरों में ईर्ष्या के कारण झगडे उठ खडे हुये थे। इसलिये जो भी योजना वह बनाता, निरर्थक सिद्ध होती, और जो भी साहसिक कार्य वह अपने हाथों में लेता उसके कार्यान्वित होने में बड़ी देर लगती और अन्त में उसका उद्देश्य पूरा न होता। यद्यपि वह नव्वे वर्ष जीवित रहा, फिर भी उसकी पाँच इन्द्रियों में से कोई भी शिथिल नहीं हुई, हाँ, उसकी श्रवण शक्ति अवश्य कुछ क्षीण हो गई थी, किन्तु इतनी कम कि दूसरों को इसका अनुभव न हो पाता था। वह अपनी रातें बहुधा भक्ति और जागरण में बिताया करता, और उसने अपने को अनेक ऐसे आमोद-प्रमोद से वंचित रक्खा जो मनुष्यों के लिये बहुत स्वाभाविक होते हैं।'

इस प्रकार औरंगजेब जिसे सरकार ने "महान मुगलों में एक को छोडकर सबसे महान्" कहा है, चल बसा। अपने अन्तिम दिनों में सम्राट को एक के ऊपर एक अनेक वियोग सहने पडे। अपने पुत्रों को उसने जो अन्तिम पत्र लिखे उनमें इस राजनैतिक तथा घरेलू, दुहरी वेदना की स्पष्ट छाप मिलती है। उदाहरण के लिए एक पत्र को यहाँ उद्धृत करना पर्याप्त होगा।

आज़म को अन्तिम पत्र

'ईश्वर तुम्हें शान्ति दे।

'बुढापा आ गया है और दुर्बलता बढ गई है, मेरे अंगों में अब शक्ति नहीं रही। मैं अकेला आया और अकेला ही जा रहा हूँ। मै नहीं जानता कि मैं क्या हूँ और क्या करता आया हूँ। उन दिनों को छोड कर जो तपस्या में बीते हैं, शेष सभी के लिये पश्चाताप होता है। मैंने सच्चे अर्थ में शासन नहीं किया है और न किसानों का ही पोषण किया है।

'इतना बहुमूल्य जीवन व्यर्थ ही गँवा दिया। प्रभु मेरे हृदय में विराजमान रहा है, किन्तु अन्धकार के आवरण से ढकी हुई मेरी आँखें उसके तेज को देख नहीं सकतीं। जीवन टिकता नहीं, बीते हुए दिनों का चिह्न भी शेष नहीं रहता और भविष्य की कोई आशा नहीं।

मेरा ज्वर उतर गया है और केवल चमड़ी शेष रह गई है। मेरा पुत्र कामबख्श जो बीजापुर गया है, मेरे निकट है। और तुम उससे भी अधिक निकट हो।'' '' प्रिय शाह आलम सबसे अधिक दूर है। नाती मुहम्मद अज़ीम महान् ईश्वर की आज्ञा से हिन्दुस्तान के निकट आ गया है (बंगाल से)।

मैंने प्रभु को भुला रक्खा था, इसलिए अब मैं पारे की भाँति काँप रहा हूँ, और मेरे सभी सैनिक मेरी ही भाँति असहाय घबड़ाये हुए और उद्विग्न हैं। वे यह नहीं सोचते कि हमारा परमपिता परमात्मा सदैव हमारे साथ है। मैं (इस संसार में) अपने साथ कुछ भी नहीं लाया और अब अपने पापों के फलों के अतिरिक्त और कुछ भी साथ नहीं ले जा रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि मुझे क्या दण्ड मिलेगा। यद्यपि मुझे उसकी क्षमाशीलता और अनुकम्पा में बड़ा विश्वास है फिर भी अपने कुकर्मों के कारण चिन्ता मुझे नहीं छोड़ती। जब मैं स्वयं अपने को छोड़े जा रहा हूँ तो और कौन मेरा साथ देगा?

'हवा कैसी ही हो, अब मैं अपनी नाव पानी में छोड़े देता हूँ।

'यद्यपि परम रक्षक ईश्वर अपने बन्दों की रक्षा करेगा, फिर भी बाहरी दुनियाँ को देखते हुए मेरे पुत्रों का कर्तव्य है कि ईश्वर के प्राणियों का और विशेषकर मुसलमानों का अन्यायपूर्वक वध न किया जाय। मेरे नाती बहादुर। (बीदर बख्त) को मेरी ओर से अन्तिम आशीर्वाद दिया। जाते समय मैं उसे न देख सका; मिलने की इच्छा अपूर्ण ही रह गई। यद्यपि बेगम जैसा कि दिखाई देता है, दुःख से सन्तप्त है फिर भी ईश्वर हमारे हृदयों का स्वामी है। अदूरदर्शिता का निराशा के अतिरिक्त और कुछ फल नहीं होता।

ईश्वर तुम्हारा भला करे।'

औरंगजेब तथा योरुपीय जातियाँ

यूरोपीय जातियों के साथ औरंगजेब के सम्बन्ध सामान्यतया मित्रतापूर्ण थे; *जब उन्होंने लूटमार की अथवा अन्य किसी प्रकार से विद्रोह किया, तब अवश्य* उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाहियाँ की गई। यद्यपि औरंगजेब के शासन काल में ईसाइयों को राज्य की ओर से सक्रिय संरक्षण नहीं मिला, फिर भी उन्हें किसी प्रकार के कष्ट नहीं भोगने पड़े, जैसा कि उसके समय में हो सकता था।

सामुद्रिक क्षेत्र में *जहाँ साम्राज्य दुर्बल था, वहाँ वे शक्तिशाली थे, इसलिये* कूटनीतिक दृष्टि से उनकी स्थिति अच्छी थी। इसके अतिरिक्त पश्चिमी समुद्र तट पर उन्होंने दुहरा खेल खेला और मराठों *तथा मुगलों* दोनों से ही सौदा करने का प्रयत्न किया। वे अच्छे तोपची थे, इसलिये *उस सैनिक युग में* उनकी सेवाओं का बड़ा महत्व था। *प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उनसे साम्राज्य को* आय भी कम न होती थी। यदि उनसे मित्रता न रक्खी जाती तो वे बन्दरगाहों में और समुद्र पर तीर्थ यात्रियों तथा अन्य यातायात को तंग कर सकते और कष्ट पहुँचा सकते थे। इस

सम्बन्ध में दो जातियों का विशेष महत्व था—पुर्तगालियों और अँग्रेज़ों का। डचों और फ्रांसीसियों का स्थान गौण रहा, साम्राज्य से उनका सीधा सम्बन्ध बहुत कम था।

पुर्तगाली—खाफी खाँ औरंगजेब के समय में पुर्तगालियों का निम्न वृत्तान्त देता है:—

'पुर्तगाल के राजा के पदाधिकारियों के हाथों में अनेक निकटवती बन्दरगाह थे, और उन्होंने सुदृढ स्थानों में और पहाड़ियों की आड में अनेक किले बना लिये थे। उन्होंने गाँव भी बसा लिये, जनता के साथ उनका सभी मामलों में अच्छा बर्ताव था, और उसे वे असह्य करों से पीड़ित न करते थे। जो मुसलमान उनके साथ रहते थे उनके लिये उन्होंने अलग निवास स्थान दे रक्खा था और उनके करों तथा विवाह-सम्बन्धी मामलों के निपटाने के लिये एक काज़ी नियुक्त कर दिया था। किन्तु उनकी बस्तियों में अजाँ लगाना और सार्वजनिक रूप से नमाज पढ़ना मना था। यदि कोई गरीब यात्री उनके राज्य में होकर निकलता तो उसे और कोई कष्ट न होता, किन्तु वह निश्चिन्त होकर नमाज न पढ सकता था। समुद्र पर उनका व्यवहार अँग्रेजों कैसा नहीं है, वे दूसरे जहाजों पर आक्रमण नहीं करते चाहे उनके पास नियमित पारपत्र न भी हो, अरब और मस्कट के देशों से उनकी बहुत पुरानी शत्रुता चली आ रही है, किन्तु उनके जहाजों को भी वे नहीं सताते, लेकिन एक दूसरे पर वे अवसर पाते ही आक्रमण कर देते हैं। यदि किसी दूरस्थ बन्दरगाह से आने वाला जहाज टूट जाय और उनके हाथों में पड जाय, तो उसे लूट लेना वे अपना अधिकार समझते हैं। किन्तु इन काफिरों का सबसे अधिक अत्याचारपूर्ण कार्य यह है कि जब उनका कोई प्रजाजन छोटे बच्चों को छोड कर मर जाता है और यदि उसके कोई सयाना पुत्र नहीं होता तो उन बच्चों को वे राज्य की सम्पत्ति समझते हैं। उन्होंने अनेक स्थानों में अपने पूजागृह जिन्हें गिरजाघर कहते है, बना लिये हैं, उन (अनाथ)-बच्चों को वे उन्हीं में लेकर रख देते हैं और उनके पुरोहित जो पादरी कहलाते हैं, उन्हें ईसाई धर्म की दीक्षा देते हैं और अपने धर्म में ही उनका पालन-पोषण करते हैं चाहे वे (बालक) मुसलमान सैयद हों और चाहे हिन्दू ब्राह्मण। वे उनसे दासों की भाँति सेवा भी करवाते हैं।

'आदिलशाही कोंकण में समुद्र के निकट गोआ के सुन्दर तथा प्रसिद्ध बन्दरगाह मे उनका सूबेदार रहता है, और वहाँ उनका एक कप्तान भी है जिसका पुर्तगाल के भाग पर पूर्ण अधिकार है। उन्होंने कुछ अन्य बन्दरगाह तथा समृद्धिशाली गाँव भी बसा लिये हैं। इसके अतिरिक्त पुर्तगालियों का उस भूमि पर भी अधिकार है जो सूरत के दक्षिण में चौदह-पन्द्रह मील से लेकर बम्बई तक (जो अंग्रेजों के अधिकार में है) और हबशियों की भूमि तक जिसे निजामशाही कोंकण कहते हैं, फैली हुई है। बगलाना की पहाड़ियों के पीछे और गुलशनाबाद के दुर्ग के निकट दुर्गम तथा सुदृढ स्थानों में उन्होंने छोटे-बड़े सात-आठ किले बना लिये हैं। उनमें से दो के नाम दमन और बसई हैं, इनको इन्होंने गुजरात के सुल्तान बहादुर से धोखा देकर छीन लिया था, इन किलों को उन्होंने विशेषकर

बहुत मजबूत बना लिया है और इनके आस पास के गाँव भी फल फूल रहे हैं। उनके अधीन प्रदेश की लम्बाई चालीस पचास कोस है किन्तु चौड़ाई में वह एक डेढ़ कोस से अधिक नहीं है। पहाड़ियों के ढालों पर वे खेती करते और गन्ना, अनन्नास, चावल, लाख तथा सुपारी आदि की सर्वोत्तम फसलें उगाते हैं और इन चीजों से इन्हें भारी आय होती है।

उन्होंने इन जिलों में चलाने के लिये अशर्फी नाम का एक चाँदी का सिक्का बना लिया है जिसका मूल्य नौ आने है। वे ताँबे के टुकड़ों का भी प्रयोग करते हैं जो गुजुग कहलाते हैं और चार गुजुग का मूल्य एक फुलुस के बराबर होता है। (भारत के) राजा के आदर्शों का वहाँ पालन नहीं होता। वहाँ के लोग जब विवाह करते हैं तो लड़की दहेज के रूप में दे दी जाती है और वे अपने घरेलू तथा बाहरी सभी मामलों का प्रबन्ध अपनी स्त्रियों के हाथ में छोड़ देते हैं। उन लोगों में एक ही स्त्री रखने का चलन है उनका धर्म रखैलों की आज्ञा नहीं देता।'

चटगाँव के समुद्री डाकू—साम्राज्य को सबसे अधिक कष्ट चटगाँव के समुद्री डाकुओं ने पहुँचाया; शाहजहाँ के शासन-काल का वर्णन करते समय हम उनका उल्लेख कर आये हैं। इन डाकुओं में मार्गों तथा अराकानियों के अतिरिक्त बहुत से पुर्तगाली और दोगले साहसिक सम्मिलित थे। उनको मार्ग पर लाने के लिए शाहजहाँ ने कठोर कार्यवाहियाँ कीं, किन्तु अधिक सफलता न मिली। जब मुगल सूबेदार शायस्ताखाँ ने उनके कप्तान से पूछा कि 'मांघ के राजा ने तुम्हारा क्या वेतन निश्चय किया था?', तो उस सरदार ने चंचलता पूर्वक उत्तर दिया, "शाही भूमि ही हमारा वेतन थी। हम समस्त बंगाल को अपनी जागीर समझते थे। साल में बारहों महीने हम बिना किसी कष्ट के अपना राजस्व (लूट) वसूल करते रहते थे। हमें कभी अमलों और आमिलों का खटका न रहता था, और न हमें किसी के सामने हिसाब ही चुकाना पड़ता था। नदियों में होकर हम ऐसे जाते मानों भूमि की पड़ताल कर रहे हों। अपने लगान (लूट) को बढ़ाने में हमने कभी शिथिलता से काम नहीं लिया। वर्षों से हमने इस राजस्व का कोई बकाया नहीं छोड़ा है। हमारे पास इस लूट के बटवारे से सम्बन्धित पिछले ४० वर्ष के कागज हैं जिनमें प्रत्येक गाँव का ब्यौरा दिया हुआ है।'

मीर जुमला आसाम की चढ़ाइयों में उलझा रहा और फिर सहसा उसकी मृत्यु हो गई इसलिये इन फिरंगी डाकुओं का दमन न हो सका। ८ मार्च १६६४ को शायस्ताखाँ बंगाल का सूबेदार नियुक्त हुआ; उसने सदैव के लिये उनका दमन करने का संकल्प किया। उनके अत्याचार असह्य हो गये थे। मनूची लिखता है कि उनके हृदय कठोर हैं और छोटे बच्चों तक को मार डालने में उन्हें तनिक भी खेद नहीं होता। शायस्ताखाँ की चढ़ाई के ब्यौरे का वर्णन पाठकों को सरकार की पुस्तक में मिल जायगा। २६ जनवरी, १६६६ के दिन

प्रातःकाल चटगाँव के किले पर जो माघ और फिरंगी डाकुओं का गढ़ था, मुगलों का अधिकार हो गया। 'माघ लोग बंगाल के बहुत से किसानों को उठा ले गए थे और इस किले में उन्हें बन्दी बना कर रक्खा था, उन सब को डाकुओं के उत्पीडन से मुक्त कर दिया गया और वे अपने घरों को लौट गये।' ('आलमगीर नामा') '२७ जनवरी १६६६ को बुजुर्ग उम्मेद खाँ ने चटगाँव के किले में प्रवेश किया, जनता को विश्वास दिलाया कि तुम्हारा जीवन सुरक्षित है, और सैनिकों को कठोर आज्ञा दी कि लोगों को सताया न जाय जिससे यह स्थान फिर भली भाँति आबाद हो जाय और फलने-फूलने लगे' (शिहाबुद्दीन)। स्थान का नाम बदल कर इस्लामाबाद रख दिया गया।

कूटनीतिक सम्बन्ध—मुगल मराठा युद्ध में पुर्तगाली दोनों दलों के बीच में फँस गये, किन्तु उन्होंने दोनों से लाभ उठाने तथा हानि से बचने का प्रयत्न किया। जयसिंह के आक्रमण के समय पुर्तगाली सूबेदार का व्यवहार इस बात का उदाहरण है। १६६५ में जयसिंह ने उसको जो पत्र लिखे उनके उत्तर में उसने लिख भेजा कि आपकी प्रार्थना के अनुसार हमने अपने सब सेनानायकों को आदेश भेज दिया है कि वे शिवाजी की सहायता न करें। जनवरी १६६७ में पुर्तगालियों तथा मुगलों के बीच एक सन्धि हो गई जिसके अनुसार अन्य शर्तों के साथ साथ यह भी निश्चय हुआ कि 'फिरंगी अपने राज्य में उस आदमी की जो मुगल सम्राट के विरुद्ध विद्रोह करता है, रक्षा न करें, और उसको पुर्तगाली राजा के खिलाफ विद्रोही की भाँति समझें।' फिर भी इस सन्धि के एक वर्ष बाद ही दिसम्बर १६६७ में पुर्तगालियों ने शिवाजी से समझौता कर लिया, जबकि औरंगजेब और मराठों के बीच शान्ति मार्च १६६८ में स्थापित हो सकी। किन्तु जब १६८३-८४ में शम्भाजी ने राजकुमार अकबर को साथ लेकर गोआ पर आक्रमण किया तो पुर्तगालियों ने शाही लोगों से मिल कर कार्य किया, और बाद में फिर मराठों से सन्धि कर ली। मराठों से अपनी मित्रता के कारण पुर्तगालियों को १६९३ में एक बार फिर शाही सेना का सामना करना पड़ा, कल्याण के मुगल सूबेदार मतबरखाँ ने उनके राज्य के उत्तरी भाग बसई और दमन पर आक्रमण किया और उनके बहुत से आदमियों को बन्दी बना कर ले गया। "अन्त में गोआ के सूबेदार ने सम्राट के सामने नम्रतापूर्वक समर्पण कर दिया और उपहार भेज कर मित्रता कायम कर ली।"

अँग्रेज—मुगल साम्राज्य में अँग्रेजों की पहली व्यापारिक कोठी १६१२ में सूरत में स्थापित की गई। वहाँ से स्थल मार्ग द्वारा दिल्ली तथा आगरा के साथ वस्तुओं का विनिमय हुआ करता था। गोलकुंडा राज्य में स्थित मछलीपट्टम में उनकी एक शाखा थी। उत्तर में उन्होंने एक कोठी हरिहरपुर में (कटक से २१ मील दक्षिण-पूर्व में) और दूसरी बालासोर में स्थापित की (१६३३)। साम्राज्य के बाहर उन्होंने १६४० में सन्त जार्ज (मद्रास) के किले की भूमि खरीद ली, 'भारत में यह उनका पहला स्वतंत्र अड्डा था।' १६५१ में हुगली में कोठी स्थापित हुई और दूसरे वर्ष (१६५२) उन्होंने राजकुमार शुजा से एक निशान (आज्ञा) प्राप्त कर

लिया जिसके अनुसार अँग्रेजों को बंगाल में व्यापार करने की आज्ञा मिल गई और उन्होंने सब प्रकार के बहिःशुल्क आदि के बदले में ३००० रुपये वार्षिक चुकाना स्वीकार कर लिया। "बंगाल का व्यापार तेजी से बढ़ता गया। १६६८ में कम्पनी ने ३४,००० पौं० का माल प्रान्त से बाहर भेजा, और १६७५ में ८५००० पौं० का, १६७७ में १००,००० पौं० का तथा १६८० में १५०,००० पौं० का —बंगाल की खाड़ी से गंगा में पहला अंग्रेजी जहाज १६७१ में चला।"

बगाल में युद्ध—पूर्वोक्त 'निशान' के आधार पर अंग्रेजों ने दावा किया कि हमें सभी प्रकार की चुंगियों से छूट पाने का अधिकार है, इस कारण मुगलों से उनकी अनबन हो गई और अन्त में युद्ध हुआ। मार्च १६८० में औरंगजेब ने भी अंग्रेजों को एक फर्मान दे दिया था जिसके अनुसार उन्हें साम्राज्य भर में स्वतन्त्रता पूर्वक व्यापार करने की आज्ञा मिल गई; केवल सूरत पर उन्हें ३½ प्रतिशत चुंगी देनी पड़ती थी। इस फर्मान का दोनों दलों ने अलग अलग अर्थ लगाया। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों ने रहदारी पेशकश, फ़रमाइश आदि कर भी देने से इन्कार किया। शाही तथा स्थानीय अधिकारी मार्ग में माल की पोटलियाँ खोल लिया करते और बाजार भाव से कम मूल्य पर वस्तुएँ ले लेते थे, अंग्रेजों ने इस प्रथा (सौदाए खास) का भी विरोध किया।

इस विषय की समीक्षा करते हुए सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं, "१ अप्रैल, १६६५ को औरंगजेब ने फर्मान जारी किया कि सभी प्रान्तों में आयात पर मुसल मानों से २½ और हिन्दुओं से ५ प्रतिशत की दर से शुल्क वसूल किया जायगा। ऐसा लगता है कि मुगल सरकार को यूरोपीयों से हिन्दुओं की भाँति प्रति व्यक्ति जिज़्या निर्धारित और वसूल करना कठिन मालूम हुआ इसलिये उसने उनसे समझौता कर लिया और जिज़्या के बदलने में आयात शुल्क बढ़ाकर ३½ प्रतिशत कर दिया।

"अंग्रेजों के दो दावे थे (१) बंगाल में वे प्रतिवर्ष ३००० रु० की नियत रकम चुकाकर अपने माल के वास्तविक मूल्य पर आयात-कर देने से बचना चाहते थे (शुजा के १६५२ के फर्मान के अनुसार) और (२) सूरत में बहिःशुल्क अदा करके वे भारत के अन्य सभी भागों में पूर्ण रूप से निःशुल्क व्यापार करना चाहते थे (औरंगजेब के १६८० के फर्मान के आधार पर), किन्तु उनके ये दोनों दावे झूठे थे और किसी भी तर्क से उचित नहीं ठहराये जा सकते थे।"

अंग्रेज लोग अपनी इन माँगों को मनवाने के लिये बल का भी प्रयोग करने को तैयार थे। जॉब चारनौक का व्यवहार इस बात का प्रमाण है। कासिम बाजार में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के यहाँ कुछ भारतीय व्यापारी और दलाल नौकर थे। १६८४-८५ में उन्होंने कम्पनी पर ४३००० रु० का दावा किया और भारतीय न्यायाधीश ने उनके पक्ष में निर्णय किया, किन्तु चारनौक ने उक्त रकम चुकाने से इन्कार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि अगस्त १६८४ में शाही सैनिकों ने

अँग्रेजों की कोठी का घेरा डाल दिया। अगले वर्ष अप्रैल में कोठी के अंग्रेज वहाँ से भाग निकले और हुगली जा पहुँचे। २८ अक्टूबर १६८६ को उन्होंने मुगलों के हुगली नगर पर आक्रमण कर दिया और इस प्रकार झगड़ा मोल ले लिया। इसका समाचार सुनकर शायस्ता खाँ ने "इन शान्ति भङ्ग करने वालों को कुचलने का सकल्प किया।" दिसम्बर के महीने में अँग्रेजों ने सुतनती (आधुनिक कलकत्ता) में शरण ली। फरवरी १६८७ में उन्होंने हिजली के द्वीप पर अधिकार कर लिया, वहाँ पर उन्होंने अपनी बंगाल की खाड़ी की स्थल तथा जल सेना एकत्र कर ली और बालासोर को दो दिन तक लूटा तथा जला दिया। अन्त में मुगल सेना ने उन्हें दबोच दिया, और ११ जून को उन्होंने हिजली का किला खाली कर दिया और "अपना तोपखाना तथा गोला बारूद लेकर और नगाड़े बजाते हुए तथा झण्डे फहराते हुए चले गये।" १६८८ में जॉब कारनौक के स्थान पर कप्तान हीथ बंगाल में एजेण्ट नियुक्त होकर आया, उसने ईसाइयों तथा गैर-ईसाइयों और पुरुषों तथा स्त्रियों पर जघन्य अत्याचार करके इङ्गलैण्ड के नाम पर कलंक लगाया। उसने मुगलों से चटगाँव भी छीनने का प्रयत्न किया किन्तु सफल न हो सका और कुढ़कर १७ फरवरी १६८९ को मद्रास के लिये कूच कर गया।

जब सम्राट ने अँग्रेजों की इन शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियों का समाचार सुना तो उसने आज्ञा दी कि सब अँग्रेज गिरफ्तार कर लिये जायँ, उनकी कोठियों पर अधिकार कर लिया जाय और उनके साथ सब प्रकार के व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ दिये जायँ। एक वर्ष के भीतर (फरवरी १६९० में) 'अँग्रेजों ने (सूरत में) अत्यधिक नम्रतापूर्वक समर्पण कर दिया और क्षमा याचना की...... और वचन दिया कि हम सम्राट को १५०,००० रु० जुर्माने के रूप में भेंट करेंगे...... और भविष्य में कभी इस प्रकार का निर्लज्जतापूर्ण व्यवहार नहीं करेंगे।...... इस पर श्रीमान सम्राट ने उनके अपराध क्षमा कर दिये...... और राजी होगया..... कि वे पूर्ववत अपना व्यापार चलाते रहे।' इसके बाद अँग्रेजों को बगाल को लौटने तथा बिना किसी कठिनाई के स्वतंत्रतापूर्वक व्यापार करने की आज्ञा मिल गई। २४ अगस्त को जॉब कारनौक फिर मद्रास से सुतनती पहुँच गया। "इस प्रकार कलकत्ते की नींव पड़ी और उत्तर भारत में अंग्रेजों की शक्ति की स्थापना हुई। १० फरवरी १६९१ को वज़ीरे आज़म ने बंगाल के दीवान के नाम शाही आदेश (हस्ब-उल-हुक्म) भेजा जिसके अनुसार अँग्रेजों को वहि शुल्क तथा अन्य सब करों के बदले में ३००० रु० वार्षिक चुकाकर उस प्रान्त में बिना किसी छेड़-छाड़ के व्यापार करने की आज्ञा मिल गई।" ऊपर से देखने में यह अँग्रेजों की जीत थी, किन्तु वास्तव में यह बंगाल के नये सूबेदार इब्राहीम खाँ के अनुरोध से हुआ था; इब्राहीम अँग्रेजों का मित्र था और मई १६८९ में उसने प्रान्त का कार्य भार सँभाला था।

पश्चिमी तट पर युद्ध—बंगाल के इस कलंकपूर्ण युद्ध का उत्तरदायित्व सर जोशिआ चाइल्ड पर था जो लन्दन में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अध्यक्ष के रूप

में कार्य कर रहा था। उसकी महत्वाकांक्षा थी कि 'भारत में अंग्रेजों के चिरस्थायी साम्राज्य की विशाल तथा सुदृढ़ नींव' डाली जाय। किन्तु "वह युद्ध जिसकी योजना जल्दी में और बिना समझे-बूझे बनाई गई थी और जिसका संचालन दुर्भाग्यपूर्ण ढंग से हुआ, पूर्णतया विफल रहा।" सर जॉन चाइल्ड भारत में अंग्रेजी कोठियों का प्रमुख संचालक था, उसने भी इङ्गलैंड से आये आदेशों के अनुसार इसी प्रकार का एक युद्ध छेड़ा, किन्तु उसके परिणाम भी अंग्रेजों के लिये अधिक सम्मानपूर्ण सिद्ध नहीं हुए। २१ अप्रैल १६८७ को उसने सूरत ("मूर्खों का स्वर्ग") को छोड़ दिया और बम्बई ('भारत की कुञ्जी") जा पहुँचा। उसने सूरत के मुगल सूबेदार से माँग की कि "पहले हमें जो क्षति पहुँचाई गई है उसकी पूर्ति की जाय और एक नये फर्मान द्वारा हमारे अधिकारों की पुष्टि तथा विस्तार कर दिया जाय।" मुगलों ने इस प्रकार के आचरण का वही उत्तर दिया जो दिया जाना चाहिये था। सूरत में स्थित अंग्रेजी की कोठी को शाही सैनिकों ने घेर लिया। कोठी के सभी अंग्रेज जिनमें सूरत की परिषद् का प्रमुख बैंजमिन हैरिस भी सम्मिलित था, बन्दी बना लिये गये और १६ महीने तक (दिसम्बर १६८८ से अप्रैल १६९०) बेड़ियों में रक्खे गये। उसी समय जंजीरा के सिद्दियों ने जो मुगलों के मित्र थे, मई १६८९ में बम्बई पर आक्रमण किया और अंग्रेजों को उनके किले में बन्द कर दिया। 'तब गवर्नर चाइल्ड ने विनम्रतापूर्वक क्षमा याचना की और जी० वैल्डन तथा अब्राहम नवारो के नेतृत्व में एक शिष्टमंडल औरंगजेब के पास भेजा (१० दिसम्बर १६८९)। सम्राट ने २४ दिसम्बर १६८९ को एक फर्मान जारी करके उन्हें क्षमा कर दिया। अंग्रेजों को भारत में पहले की सभी व्यापारिक सुविधाएँ इस शर्त पर मिल गईं कि वे डेढ़ लाख रुपये जुर्माने के रूप में चुकायेंगे और भारतीय जहाजों से लूटा हुआ सब सामान वापिस कर देंगे।"

अंग्रेजों की सामुद्रिक डकैती—भारतीय महासागर में यूरोपीय लोगों ने वास्को डो गामा के समय से ही (१५वीं शताब्दी का अन्त) डाके डालना आरम्भ कर दिया था। 'ईसाई जगत में यह कार्य नैतिक दृष्टि से निन्दनीय नहीं समझा जाता था।" "१६१५ में एक अंग्रेजी जहाज के कप्तान फॉब ने लाल समुद्र के मुहानों पर दो मुगल जहाजों को लूट लिया; १६१८ में सर विलियम कोर्टिन ने इंगलैण्ड के राजा से आज्ञा प्राप्त करके चार जहाज भेज दिये जिन्होंने भारतीय जहाजों को लूटा और उनके मल्लाहों को यातनाएँ दीं।" इन कुकृत्यों के लिये सूरत की ईस्ट इंडिया कम्पनी को १०० ००० रु० क्षतिपूर्ति के रूप में देने पड़े। सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं "१७ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पुराने जहाजी लुटेरों से भी अधिक उद्दण्ड डाकुओं के एक गिरोह ने भारतीय महासागर तक अपनी कार्यवाहियाँ फैला दीं, वे बहुधा अलग अलग जहाजों में चलते और हर राष्ट्र के जहाजों को लूट लेते। 'इन लोगों में अंग्रेज मुख्य थे और उनमें सबसे अधिक बदनाम थे टीच, एवरी, किड, रोबर्ट्स इंगलैंड, और टयू; इनके अतिरिक्त और

भी अनेक थे जो अधिक प्रसिद्ध नहीं हो सके।"..."कहा जाता है कि अकेले राबर्टसन ने तीन वर्ष में ४८० व्यापारी जहाजों को नष्ट कर दिया था। उनकी निर्भीकता का मुख्य कारण यह था कि उनके विरुद्ध कार्यवाही करने का उत्तर-दायित्व किसी पर भी न था" "समुद्र तट पर उनके मित्र रहते थे जो उन्हें समय पर सामान से लादे हुए तथा सशस्त्र जहाज़ों की गति विधि के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना देते रहते थे जिससे वे पहलों को लूट सकें और दूसरों से बच सकें। उच्च अधिकारी उनकी कार्यवाहियों की ओर ध्यान नहीं देते थे, यद्यपि इससे उन्हें कोई लाभ न होता था। यही नहीं कि इन जहाजी लुटेरों में अधिकतर अंग्रेज थे बल्कि बहुधा अन्य जातियों के कप्तान भी अपने जहाज़ों पर अंग्रेज़ी झंडा लगा कर चलते थे। इस देश के अधिकारियों के लिये गुंडों तथा ईमानदार व्यापारियों में भेद करना कठिन था, इसलिये वे उनके (लुटेरों) के कुकृत्यों के लिये ईस्ट इंडिया कम्पनी के नौकरों को उत्तरदायी ठहराते थे।" १६८१ में दो जहाजों ने जिन पर अंग्रेज़ी झंडे फहरा रहे थे, लालसागर में छः लाख रुपये की सम्पत्ति लूट ली। इन लुटेरों में हेनरी ब्रिजमैन (उपनाम एवरी) सबसे बढ़ कर था। गंजेसवाई नामक जहाज़ को लूटना उसका सबसे बड़ा काम था। खाफ़ीखाँ ने उसके इन कार्य का वर्णन इस प्रकार किया है—

'सूरत के बन्दरगाह में गंज-सवाई नामक शाही जहाज से बड़ा और कोई जहाज न था, वह प्रति वर्ष मक्का को जाया करता था। वह ५२ लाख चाँदी तथा सोने के रुपये जो मक्का और जैदा में भारतीय सामान की बिक्री से प्राप्त हुए थे, लेकर लौट रहा था।—" (अंग्रेजों ने उस पर आक्रमण किया और डुबा दिया)।

'इस घटना की सूचना औरंगजेब के पास भेजी गई और सूरत के बन्दरगाह के सम्वादाताओं ने कुछ रुपये जिन्हें बम्बई में अंग्रेजों ने ढाला था और जिन पर उनके अपवित्र राजा का नाम खुदा हुआ था, सम्राट के पास भेज दिये। इस पर औरंगजेब ने आज्ञा दी कि सूरत में व्यापार के उद्देश्य से जितने अंग्रेज रह रहे हैं उन्हें पकड़ लिया जाय। सूरत के बन्दरगाह के अध्यक्ष इतिमाद खाँ को और सिद्दी याकूत खाँ को आदेश दिया गया कि बम्बई के किले को घेरने की तैयारियाँ की जायँ। अंग्रेजों के बम्बई पर अधिकार करने से जो बुराइयाँ उत्पन्न हुई उनकी शिकायत बहुत पहले से चली आ रही थी। जो धमकियाँ दी गई उनसे अंग्रेजों को तनिक भी घबड़ाहट नहीं हुई। सिद्दी याकूत का कुछ अपमान किया गया था, इसलिये वह अप्रसन्न था, इस बात को अँग्रेज भली-भाँति जानते थे। किन्तु उन्होंने रक्षा-बुर्ज तथा दीवालें बनाने और सड़कों को रोकने के लिये पहले से भी अधिक तत्परता से काम किया, जिससे अन्त में उनका किला पूर्णतया दुर्भेद्य होगया। इतिमाद खाँ ने ये सब तैयारियाँ देखीं और इस परिणाम पर पहुँचा कि इसका कोई उपाय नहीं है और यदि अंग्रेजों से संघर्ष हुआ तो इससे बहिःशुल्क से होने वाली आय में घाटा पड़ जायगा। उसने शाही आदेश को कार्यान्वित करने के लिये गम्भीरता पूर्वक तैयारियाँ नहीं कीं, क्योंकि वह यह नहीं चाहता था कि राजस्व में एक रुपये का भी घाटा आये। ऊपरी तौर से दिखाने के लिये उसने अँग्रेजों को कारागार में बन्द रक्खा, किन्तु गुप्त रूप से वह उनसे समझौता करने का प्रयत्न

करने लगा। उधर जब अंग्रेज कोठियों के लोग बन्दी बना लिये गये तो उन्होंने बदला लेने की दृष्टि से शाही अधिकारियों को तट तथा समुद्र पर जहाँ वे मिले पकड़ना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार दीर्घ काल तक मामला चलता रहा।'

खाफीखाँ ने निम्नांकित टिप्पणी द्वारा इस वृत्तान्त को समाप्त किया है —

'बम्बई का राजस्व मुख्यतया सुपाड़ी और नारियल पर निर्भर है, किन्तु यह सब मिला कर दो-तीन लाख से अधिक नहीं हो पाता। जो समाचार मिला है उससे पता चलता है कि व्यापार से इन काफिरों को बीस लाख से अधिक की आमदनी नहीं होती। अंग्रेज बस्तियों के निर्वाह के लिये इसके अतिरिक्त जो धन चाहिये उसे वे मक्का जाने वाले जहाजों को लूट कर पूरा करते हैं प्रतिवर्ष वे एक दो जहाज अवश्य पकड़ लेते हैं। जब हिन्दुस्तान के सामान से लदे हुए जहाज मक्का और जेद्दा को जाते हैं तो वे उन्हें नहीं छेड़ते किन्तु जब वे सोना, चाँदी, 'इमामीमी' और रियाल' लेकर लौटते हैं तो उनके भेदिये पता लगा लेते हैं कि सबसे अधिक धन किस जहाज में है और उसी पर वे आक्रमण कर देते हैं।'

अपराधी जब पकड़ लिये जाते तो उन्हें कारागार में डाल दिया जाता ईस्ट इंडिया कम्पनी के नौकरों और अधिकारियों को धन देकर मुक्त कर दिया जाता, बन्दी बना लिया जाता अथवा उन्हें निर्वासित करने की धमकी दी जाती। फिर भी भारतीय समुद्रों में योरपीय डाकुओं की लूट मार जारी रही; कारण यह था कि भारतीय सरकार के पास शक्तिशाली जहाजी बेड़ा न था। गंजे-सवाई की घटना के बाद १६९५ में डचों ने प्रस्ताव रक्खा कि यदि हमें साम्राज्य में निःशुल्क व्यापार करने का एकाधिकार दे दिया जाय, तो हम समुद्रों को डाकुओं से मुक्त कर देंगे किन्तु सम्राट ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। उधर अंग्रेजों से एक सन्धि हो गई जिसके अनुसार उन्होंने समुद्रों की सुरक्षा का भार अपने ऊपर लिया और सम्राट ने वचन दिया कि भारतीय जहाजों की रक्षा के लिये जो अंग्रेजी जहाज जायेंगे उनकी दोनों ओर की यात्रा का आधा खर्च मुगल सरकार देगी। इस सन्धि के फलस्वरूप २७ जून १६९६ को सब अंग्रेज बन्दी मुक्त कर दिये गये। किन्तु उसी वर्ष कप्तान विलियम किड ने पुनः भयंकर लूट मार आरम्भ कर दी, 'किड उन अत्यधिक पराक्रमी डाकुओं में से था जिन्होंने इंगलैंड की कीर्ति को सदैव कलंकित किया।''

'उसको इंगलैण्ड के अमीरों के एक संघ ने भारतीय महासागर में जहाजी लूट का अन्त करने के लिये भेजा था और वह एडवेंचर नामक ३० तोपों वाले एक जहाज में सवार होकर आया था। १६९७ के आरम्भ में वह आकर कालीकट में उतरा और सामुद्रिक डकैती को अपना पेशा बना लिया। अपनी डकैती को उसने निर्लज्जतापूर्वक वैध ठहराया और कहा कि इंगलैण्ड के राजा ने हमें इस प्रकार की लूटमार का अधिकार दे रक्खा है। किड की सफलता को देखकर बहुत से लालची अंग्रेज मल्लाह उसके दल में सम्मिलित हो गये। उसने यह रख विसारद को चतुराई के साथ अपने दलों को चारों

ओर फैला दिया' और इस प्रकार भारतीय महासागर पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, मैडागास्कर से उसे गोला बारूद तथा अन्य सामग्री मिलती रहती थी। "डाकुओं के इस बेडे में सब मिलाकर १२० तोपें थी और कम से कम ३०० यूरोपीय उसमें काम करते थे, उनमें सबसे अधिक संख्या अँग्रेजों की थी।"

अन्त में दिसम्बर १६९८ में सूरत के मुगल सूबेदार अमानत खाँ ने यूरोपीयों की कोठियों को घेर लिया और अल्टीमेटम दिया गया कि या तो समुद्रों की सुरक्षा का भार अपने ऊपर लो, नहीं तो दस दिन के भीतर देश को छोड़ कर चले जाओ। अतः बाध्य होकर "अँग्रेज, फ्रांसीसी और डच सामुद्रिक डकैती का दमन करने के लिये मिलकर कार्य करने को राजी हो गये और करार लिख दिया कि भविष्य में होने वाली क्षति को हम सब संयुक्त रूप से पूरा कर देंगे। जब औरंगजेब को इस करार की सूचना मिल गई तो उसने अपने साम्राज्य में यूरोपीय लोगों के व्यापार पर से प्रतिबन्ध उठा लिया और सूरत के सूबेदार को लिख भेजा कि अपनी इच्छानुसार मामले को निपटा लो। इस करार के अनुसार डच सूरत के सूबेदार को ७०,००० रु० अदा करते और इसके अतिरिक्त मक्का के तीर्थयात्रियों को पहुँचाते और लाल सागर के मुहाने की चौकीदारी करते; अँग्रेज ३०,००० रु० देते और भारतीय समुद्रों के दक्षिणी भागों की रक्षा करते; और फ्रांसीसी उतनी ही रकम चुकाते तथा ईरान की खाड़ी का पहरा देते।"

औरंगजेब के जीवन की पहेली

अपने समसामयिक लोगों के लिये भी औरंगजेब एक पहेली था; और हमारे पास भी उसके चरित्र को समझने के लिये उनसे अच्छे साधन नहीं हैं। उसका शासन काल एक रहस्यमय समस्या था। लेनपूल ने लिखा है कि वह "विरोधी तत्वों का मिश्रण था, और भ्रम में डालने वाला" बर्नियर की समझ में वह 'गम्भीर, कुटिल और कपटपूर्ण व्यवहार की कला में दक्ष था।' 'उसके चरित्र के सम्बन्ध में उसके भाई दारा को छोड़कर दरबार के अन्य सभी लोगों की धारणाएँ गलत थीं।'

उसका आदर्श—औरंगजेब के लगभग २००० पत्र अभी तक विद्यमान हैं; उनसे उसके बहुमुखी चरित्र पर बहुत प्रकाश पड़ता है। एक पत्र में उसने अपने पिता शाहजहाँ को लिखा था, "श्रीमान जी भली भाँति जानते हैं कि सर्वशक्तिमान ईश्वर उसी व्यक्ति को अपनी थाती सौंपता है जो प्रजा पालन तथा जन-रक्षा के अपने कर्तव्य का भली भाँति निर्वहन करता है। बुद्धिमान व्यक्तियों को यह विदित और स्पष्ट है कि एक भेड़िया गड़रिया बनने के योग्य नहीं होता, और तुच्छ आत्मा वाला व्यक्ति शासन के महान कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता। प्रभुत्व का अर्थ है प्रजा की रक्षा करना, न कि भोग विलास और लम्पटता।" एक अधिकारी ने औरंगजेब को सलाह दी कि आपका स्वास्थ्य खराब

है, इसलिये आप अधिक परिश्रम न करें; इस पर उसने उत्तर दिया, 'मैं राजा के यहाँ उत्पन्न हुआ था और सिंहासन पर बिठलाया गया हूँ, इसका अर्थ है कि ईश्वर ने मुझे संसार में इसलिये भेजा है कि मैं दूसरों के लिये जीवित रहूँ और परिश्रम करूँ न कि अपने लिये; मेरा कर्तव्य है कि मैं अपने सुख की वहीं तक चिन्ता करूँ जहाँ तक कि उसका जनता के सुख से अभिन्न सम्बन्ध है, उससे अधिक नहीं। वास्तव में मुझे प्रजा की शान्ति और समृद्धि का ही निरन्तर ध्यान रखना चाहिये; न्याय की माँग, राजपद का कायम रखना तथा राज्य की सुरक्षा को छोड़कर अन्य कोई ऐसी चीज़ नहीं जिसके लिये प्रजा की शान्ति और समृद्धि का बलिदान किया जा सके।'

अपने एक अन्य पत्र में उसने अपने पिता को लिखा। 'महानतम विजेता सदैव महानतम शासक नहीं होते। बहुधा देखा गया है कि संसार के राष्ट्र असभ्य बर्बरों द्वारा जीत लिये गये हैं, और अत्यधिक विस्तृत साम्राज्य कुछ ही वर्षों में छिन्न भिन्न होकर धूल में मिल गये हैं। वास्तव में महान राजा वही है जो न्यायपूर्वक प्रजा पर शासन करना ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य समझता है।' यह कहना गलत होगा कि ये कोरी भावनाएँ थीं और केवल संसार को धोखा देने के लिये कूटनीतिक भाषा में इनकी अभिव्यक्ति की गई थी। अपने राजस्व अधिकारियों के लिये उसने जो नियम बनाये उनसे यह बात स्पष्ट है। दक्खिन के सूबेदार के रूप में उसने व्यावहारिक प्रशासन में जो सफलताएँ प्राप्त कीं उनसे यह भी भली भाँति प्रकट होता है कि उसने स्वयं भी उन्हीं नियमों के अनुसार कार्य करने का प्रयत्न किया था। उदाहरण के लिये यहाँ कुछ नियमों को उद्धृत करना पर्याप्त होगा।

राजस्व सम्बन्धी नियम—'हिन्दुस्तान के साम्राज्य में एक छोर से दूसरे छोर तक जितने वर्तमान अधिकारी हैं और जो भविष्य में शामिल नियुक्त किये जायें उन्हें चाहिये कि प्रत्येक महाल से उसी अनुपात में और उसी तरीके से राजस्व वसूल करें जैसा कि कान्तिमान कुरान में और दैदीप्यमान धर्म में दिया हुआ है और जैसा कि इस शुद्ध तथा विश्वसनीय परम्पराओं पर आधारित फतवा में कहा गया है, और जैसा कि उसका अर्थ है—

'न हैं चाहिये कि किसानों के साथ उदारता का व्यवहार करें, उनकी दशा के सम्बन्ध में खोज करें और बुद्धिमानी तथा चतुराई से यत्न करें जिससे (किसान) प्रसन्नतापूर्वक और हृदय से कृषि का विस्तार करने की चेष्टा करते रहें और खेती के योग्य प्रत्येक भूखण्ड पर जुताई होने लगे। और इसका अर्थ है कि तुम किसी भी बहाने से और किसी भी परिपाटी के अनुसार जो दर निश्चित है उससे एक दाम अथवा दिरहाम भी अधिक मत वसूल करो। कोई भी व्यक्ति रैयत का किसी भी प्रकार से उत्पीड़न न करे और न उसे सताये। यदि तुम्हें यह मालूम हो कि किसान खेती के औज़ार खरीदने योग्य नहीं है तो राज्य की ओर से उन्हें तकावी के रूप में धन दे दो, और उनसे ज़मानत ले लो। चूँकि

सम्राट को दयालुता तथा न्याय पसन्द है, इसलिये उसकी आज्ञा है कि पदाधिकारी लोग भागे हुये किसान की एक वर्ष तक प्रतीक्षा करें, और यदि उसका खेत सीधा जोता-बोया जाय अथवा पट्टे पर उठा दिया जाय तो उसकी उपज में से सरकारी राजस्व काट कर जो कुछ शेष बचे उसी को दे दें।' राजस्व इतना मत निर्धारित करो कि उसके चुकाने से रैयत बर्बाद होजाय, और किसी भी दशा में उपज के आधे से अधिक न लिया जाय, चाहे भूमि उससे अधिक वसूल करने के योग्य ही क्यों न हो। तुम मुज्जफ (नियत राजस्व) को मुक़ासीमा (उपज का अंश) में और मुक़ासीमा को मुज्जफ में बदल सकते हो, शर्त यह है कि रैयत इसके लिये राजी हो, अन्यथा नहीं। 'जिस भूमि से निश्चित राजस्व वसूल किया जाता है, उसके किसी बोये हुए खेत में यदि किन्हीं अनिवार्य कारणों से फसल मारी जाय, तो उन्हें सावधानी से उसकी जाँच करनी चाहिये और सच्चाई के साथ जितनी हानि हुई हो उसके हिसाब से उचित छूट दे देनी चाहिये। और शेष भूमि से राजस्व वसूल करते समय ध्यान रक्खो कि रैयत के पास उपज का पूरा आधा भाग बच रहे। जिन खेतों में बाढ़ आ जाय, अथवा जो अनावृष्टि के कारण सूख जायें, अथवा जिनकी फसल किसी अनिवार्य संकट से कटने से पहले ही नष्ट हो जाय और रैयत के पल्ले कुछ न पड़े और न अगले वर्ष के आरम्भ होने से पहिले दूसरी फसल बोने का अवसर ही मिले,—उनका पूरा लगान माफ समझो।'

'जागीरदारों के जिन आमिलों और क्रोरियों ने ईमानदारी तथा लगन के साथ काम किया हो, और हर विषय में स्थापित नियमों का पालन करके अपने को अच्छा अधिकारी सिद्ध कर दिया हो, उनके नाम लिखकर भेज दो जिससे उनकी ईमानदारी तथा राज्य के लाभ के प्रति दिये ध्यान के अनुसार उन्हें पुरस्कृत किया जा सके। किन्तु यदि किन्हीं ने इसके विरुद्ध कार्य किया हो तो उनकी सूचना सम्राट को दे दो जिससे वे नौकरी से निकाल दिये जायँ, अपने बचाव में उन्हें जो कुछ कहना हो वह कहें, अपने आचरण का उत्तर दें और अनियमित कार्यों के लिये समुचित दण्ड भोगें। अभिलेख सम्बन्धी कागजों को उचित समय पर एकत्र करने में बड़ी तत्परता से काम लो। जिस गाँव में तुम ठहरो उसके अधिकारियों से दैनिक वसूलयाबी, अबाब अथा प्रचलित बाजार भाव का प्रतिदिन हिसाब लो, और दूसरे परगनों से राजस्व की दैनिक वसूलयाबी और नकदी का दैनिक हिसाब हर पन्द्रह दिन बाद, और फोतहदारों के खजानों की रोकड तथा 'जमा वासिल बाकी' का हिसाब हर महीने, और पूरे राजस्व का 'तुमार' तथा 'जमा बन्दी' और फोतहदारों के खजानों की आय-व्यय का हिसाब हर फसल में लेते रहो। इन कागजों की जांच करो और यदि किसी ऐसी रकम का पता लगे जो हिसाब में दिखाये बिना खर्च कर दी गई है, तो उसे वापिस माँगो, और फिर उन सब कागजों को शाही अभिलेख कार्यालय में भेज दो। रबी की फसल के कागज खरीफ की फसल के आने तक बिना एकत्र हुए न रहें।'

उपर्युक्त साक्ष्य से पाठकों को विदित होगया होगा कि औरंगजेब का दृष्टिकोण ठीक वैसा ही था जैसा कि भारत जैसे खेतिहार देश के शासक का होना चाहिये। सभी जानते हैं कि सिंहासन पर बैठने के बाद तुरन्त ही औरंगजेब ने ८० विभिन्न कर तथा शुल्क माफ कर दिये थे, यद्यपि उससे राजस्व की भारी हानि हुई।

खाफी खाँ लिखता है, पिछले दो वर्षों में देश में विशाल सेनाओं की हलचल रही विशेषकर पूर्वी तथा उत्तरी भागों में, और कुछ अन्य प्रदेशों में वर्षा कम हुई, इन सब कारणों से अन्न मँहगा होगया। जनता को आराम पहुँचाने तथा उनके कष्टों को दूर करने के लिये सम्राट ने फर्मान जारी किया और रहदारी नामक कर माफ कर दिया यह कर प्रत्येक राजमार्ग (गुजर) पर सीमाओं और घाटों पर वसूल किया जाता था और राज्य को इससे भारी आय होती थी। उसने पानदारी—मकान अथवा भूमि कर—नामक कर जो समस्त शाही प्रदेशों में कसाइयों कुम्हारों और पशुनियों से लेकर बजाजों, जौहरियों और साहूकारों तक प्रत्येक व्यापारी और दूकानदार को देना पड़ता था, माफ कर दिया। नियम के अनुसार बाजारों में प्रत्येक दूकान तथा स्टाल को छोटी से छोटी भूमि के लिये इस नाम से कुछ न कुछ देना पड़ता था, और इससे सब मिलाकर लाखों (रुपये) से भी अधिक की आय होती थी। अन्य वैध और अवैध कर जैसे 'घुर शुमरी', 'गुल शुमरी', 'बर-गदी', बजारों को चराई (चराई कर), 'मुमाबना मुसलमान फकीरों के उरसों पर लगने वाले मेलों से वसूल होने वाले कर, तथा काफिरों की यात्राओं अथवा मेलों से जो सारे देश में हिन्दू मन्दिरों के निकट लगते हैं जहाँ वर्ष में एक बार लाखों लोग एकत्र होते और यहाँ हर प्रकार का क्रय विक्रय होता है वसूल होने वाले कर। शराबों, जुआगृहों, वेश्यालयों पर लगने वाले कर, जुर्माने, चढ़ावे और दण्डाधीशों की सहायता से कर्जदारों से वसूल हुए ऋण का चतुर्थांश। ये तथा अन्य कर जिनकी संख्या लगभग अस्सी थी और जिनसे सरकारी कोष को करोड़ों रुपये की आय होती थी, हिन्दुस्तान भर में हटा दिये गये। इनके अतिरिक्त अन्न-कर जिससे पच्चीस लाख रुपये की वैध आय होती थी, हटा दिया गया जिससे अन्न का भारी मूल्य कुछ कम हो जाय।'

यद्यपि इन करों को न वसूल करने के लिये कठोर आज्ञाएँ जारी की गई, फिर भी स्वार्थी स्थानीय अधिकारी अथवा जागीरदार उन्हें वसूल करते रहे।

किन्तु, जैसा कि खाफीखाँ ने लिखा है, 'जब इन आज्ञाओं के उल्लंघन की रिपोर्ट सरकार के पास पहुँचती तो दण्डस्वरूप अपराधियों का मंसब घटा दिया जाता और गदाधारी उनके जिला में भेज दिये जाते। ये गदाधारी कुछ दिनों के लिये करों की वसूलयाबी रोक देते और फिर वापिस लौट जाते। कुछ समय बाद अपराधी लोग अपने संरक्षकों द्वारा अथवा अपने वकीलों की तिकड़म से अपने मंसब की संख्या पुनः ज्यों की त्यों करवा लेते। इसलिये बहुत से करों के हटाये जाने के लिये जो नियम बनाये गये उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ।'

इस विषय में लेनपूल का मत ध्यान देने योग्य है 'अविश्वासी आलोचकों का कथन है कि औरंगजेब की यह प्रभावहीन उदारता एक कुटिल चाल थी जिससे वह अपने कोष को क्षति पहुँचाये बिना ही जनता का भक्त बनना चाहता था। डा० बर्नेरी का मत प्रतीत होता है कि सम्राट अपने अमीरों का समर्थन प्राप्त करने के लिये उनके कुकर्मों की ओर जान बूझ कर ध्यान नहीं देता था। अब सामग्री

प्रशासन में यह अनिवार्य हो जाता है कि शक्तिशाली अमीरों को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाय और यहाँ तक कि कभी-कभी उनके अनियमित कार्यों से निगाह बचाई जाय, इसलिये हो सकता है कि औरंगजेब को भी अपने अमीरों के कुकृत्यों की ओर से आँखें बन्द करनी पड़ती हों, इस डर से कि कहीं इनसे भी बुरे काम न होने लगें। किन्तु करों की छूट के सम्बन्ध में हमें यह मानना पड़ेगा कि यह एक उदारतापूर्ण कार्य था और कुरान की इस आज्ञा के अनुकूल था कि जरूरतमन्दों और सन्मार्ग पर चलने वालों के साथ, दयालुता का व्यवहार किया जाय, सम्राट के स्वभाव के विषय में हमें जो कुछ विदित है, उसको ध्यान में रखते हुए भी यही व्याख्या अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। वह ऐसा व्यक्ति नहीं था कि अनुचित लूट-खसोट और गरीबों के उत्पीड़न की ओर ध्यान न देता।' लेनपूल की इस व्याख्या से हम सहमत हैं। औरंगजेब ने अपने पुत्र शाहआलम को जो बुद्धिमत्तापूर्ण सीख दी उसको हम ऐसे विषयों में उसके विचारों का सच्चा प्रतीक मान सकते हैं: 'सम्राट का आचरण न तो अधिक कोमल ही होना चाहिये और न अत्यधिक कठोर, मध्यम मार्ग ही सबसे अच्छा है। यदि इन दो गुणों में से एक दूसरे से बहुत अधिक बढ़ जाता है तो वह उसकी सत्ता के नाश का कारण बन जाता है, क्योंकि अत्यधिक कोमलता से प्रजा उद्दण्डता दिखाने लगती है और कठोरता का आधिक्य होने से लोगों के दिल फिर जाते हैं।'

न्याय—केवल भारतीय लेखकों ने ही नहीं, बल्कि विदेशियों ने भी औरंगजेब के न्याय-प्रशासन की सराहना की है। ओविंगटन ने "औरंगजेब के सम्बन्ध में अपना मत तथा जानकारी बम्बई और सूरत के अंग्रेज व्यापारियों से प्राप्त की थी जो किसी भी प्रकार से सम्राट के पक्षपाती आलोचक नहीं थे।" वह भी लिखता है कि महान मुगल 'न्याय का प्रमुख महासागर है।...... साधारणतया उसके निर्णय न्यायपूर्ण तथा सबके लिये एकसे होते हैं, क्योंकि न्याय के सम्बन्ध में सम्राट अमीरों अथवा विशेषाधिकारों का उपभोग करने वाले व्यक्तियों के साथ भी कोई रियायत नहीं करता, बल्कि तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति भी औरंगजेब के पास इसी प्रकार फर्याद लेकर पहुँच सकता है जैसे कि मुख्य उमराह, यही कारण है कि उमराह लोग अपने कामों में सावधान रहते हैं और ठीक समय पर सहायता करते रहते हैं।' 'मिराते आलम' का रचयिता बख्तावरखाँ औरंगजेब के न्याय के सम्बन्ध में लिखता है :

उनकी बात सुनता है वे निर्भय होकर तथा बिना हिचकिचाहट के साथ अपनी बात करते हैं, और निष्पक्ष भाव से उनकी शिकायतें दूर की जाती हैं। यदि कोई व्यक्ति अधिक बात करता अथवा अनुचित तरीके से व्यवहार करता है तो भी वह (सम्राट) कभी अप्रसन्न नहीं होता और न अपनी भौंहें तानता है। उसके दरबारियों ने अनेक बार इच्छा प्रकट की कि लोगों को इतनी निर्भीकता का प्रदर्शन न करने दिया जाय, किन्तु उसका कहना है कि उनके शब्दों को सुनने और उनके हाव भाव देखने से मुझमें सहनशीलता और सहिष्णुता की आदत पड़ती है। सभी दुश्चरित्र लोगों को दिल्ली के नगर से निकाल दिया जाता है, और साम्राज्य के अन्य सभी नगरों में भी ऐसा करने का आदेश दे दिया गया है। यद्यपि साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया है, फिर भी सर्वत्र लोगों में व्यवस्था तथा नियमितता कायम रखने के लिये सावधानी से कर्तव्यों का पालन किया जाता है और कोई ऐसा अपराध नहीं किया जा सकता जिसके लिये इस्लामी विधि द्वारा निर्धारित दण्ड न मिल सके। क्रोध अथवा आवेश में आकर वह कभी मृत्यु दण्ड की आज्ञा जारी नहीं करता।'

औरंगजेब की क्रियाशीलता—अधिक तथा निरन्तर कार्य करने से ही महान सफलताएँ प्राप्त होती हैं। औरंगजेब को अपने पूर्वजों से यह गुण विरासत में मिला था। अकबर और शाहजहाँ ने राज काज के सम्बन्ध में अपने साथ कभी रू रियायत नहीं की; हुमायूँ और जहाँगीर आराम पसन्द थे और इसीलिये उन्हें अपेक्षाकृत विफलता का सामना करना पड़ा। शेरशाह ने निरन्तर तथा जागरूकता के साथ काम करके ही अपनी धाक जमाई। औरंगजेब ने यदि कभी कोई सबक सीखा तो उसी से और उसके इतिहास से वह भली भाँति परिचित था। अपने पुत्र मुअज्जम से उसने एक बार कहा, "सम्राट को आराम पसन्द नहीं होना चाहिये और न अवकाश की ही इच्छा करनी चाहिये, क्योंकि राज्यों के पतन और राजसत्ता के नाश का सबसे प्रबल कारण यही है। जितना सम्भव हो सके निरन्तर गतिशील रहो।

'सम्राटों तथा पानी दोनों के लिये एक स्थान पर टिका रहना बुरा है, पानी सड़ जाता है, और राजा की शक्ति उसके हाथ से निकल जाती है।

उसका भी सिद्धान्त वही था जो उसके समसामयिक फ्रांस के महान लुई चौदहवें का : "जो शासन करना चाहता है, उसे कठिन परिश्रम करना चाहिये; कठिन परिश्रम के बिना शासन करने की इच्छा ईश्वर के प्रति कृतघ्नता और प्रजा के प्रति अन्याय है।' औरंगजेब ने स्वयं लिखा था, 'जब तक इस नश्वर जीवन की साँस भी शेष है तब तक कठोर परिश्रम से मुक्ति नहीं मिल सकती।' उसका आचरण उसके इन आदर्शों के अनुकूल था, इनकी पुष्टि उसकी दिनचर्या से होती है।

यदि 'मआसिरआलमगीरनामा' का विश्वास किया जाय तो मालूम होगा कि औरंगजेब चौबीस में से केवल तीन घंटे सोता था। आधी शताब्दी के शाही शासन में, युद्ध तथा शान्ति में, बीमारी तथा स्वस्थ अवस्था में गर्मी और वर्षा में उसने

औरंगज़ेब और फ़र्मान पर मुहर ।

सदैव अपने कर्तव्य का पालन किया। बर्नियर ने एक आश्चर्यजनक उदाहरण दिया है:—

'औरंगजेब की बीमारी बड़ी गम्भीर थी, फिर भी वह सरकारी काम-काज की ओर ध्यान देता रहा और अपने पिता को सुरक्षा से हिरासत में रखने की समस्या पर विचार करता रहा। सुल्तान मुअज्जम को उसने गम्भीर सलाह दी कि यदि मेरी मृत्यु हो जाय तो राजा को कारागार से मुक्त कर देना, किन्तु इतवारखाँ को वह निरन्तर पत्र लिखवाता रहा और उसे स्वामिभक्त बने रहने तथा कठोरता से अपना कर्तव्य पालन करने के लिये प्रेरित करता रहा, अपनी बीमारी के पाँचवे दिन, अव्यवस्था के संकट के दौरान में वह अपने को दीवाने-खास में लिववा गया जिससे उन लोगों का जिन्होंने उसे मरा हुआ समझ लिया हो, भ्रम दूर हो जाय, और कोई ऐसा सार्वजनिक उपद्रव अथवा दुर्घटना न उठ खड़ी हो जिससे शाहजहाँ को भाग निकलने का अवसर मिल जाय। इन्हीं कारणों से वह ७वें, ९वें और १०वें दिन फिर उस सभा में उपस्थित हुआ; और सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि १३ वें दिन उसे ऐसी गम्भीर मूर्छा आ गई कि उसके मर जाने की आम अफवाह फैलने लगी, फिर भी जैसे ही मूर्छा जागी उसने राजा जयसिंह तथा दो तीन और उमराह को बुला भेजा ताकि वे उसके जीवित होने का प्रमाण दे सकें। इसके बाद उसने चाकरों से कहा कि मुझे पलंग पर बिठला दो, फिर कलम और स्याही मंगवाई और इतवार खाँ को पत्र लिखा और शाही मुहर को लेने के लिये एक हरकारा भेजा—मुहर एक छोटी सी थैली में बन्द रोशनारा बेगम के यहाँ रक्खी हुई थी और थैली पर उस अँगूठी ठप्पा लगा था जिसे वह सदैव अपनी बांह में बाँधे रहता था, वास्तव में वह यह देखना चाहता कि राजकुमारों ने किन्हीं कुत्सित योजनाओं को पूरा करने के लिये कहीं उस मुहर का प्रयोग तो नहीं कर लिया है।' बड़ी प्रशंसा करते हुए बर्नियर आगे लिखता है कि 'जिस समय मेरे आगा को ये सब बातें मालूम हुईं उस समय मैं वहीं उपस्थित था मैंने उसे कहते सुना, 'कैसी मस्तिष्क की शक्ति है! कैसा दुर्दमनीय साहस है! औरंगजेब! ईश्वर तुझे इनसे भी महान् कार्यों के लिये जीवित रक्खे! अभी तेरे भाग्य में मरना नहीं है।'

एल्फिंस्टन ने लिखा है, "जब हम औरंगजेब के कठिन परिश्रम के इन कार्यों की समीक्षा करते हैं तो हमारे लिये उसके उस अध्यवसायपूर्ण साहस की सराहना न करना असम्भव हो जाता है जिससे उसने अपने अन्तिम दिनों में आने वाली कठिनाइयों और विपत्तियों का सामना किया। जब उसने इस लम्बे युद्ध को आरम्भ करने के उद्देश्य से नर्बदा को पार किया, उस समय उसकी अवस्था पैंसठ वर्ष की थी, और जब उसने बिरमपुरी में स्थित अपने शिविर को छोड़ा उस समय वह इक्यासी वर्ष का हो चुका था। इस अवस्था में कोई भी व्यक्ति लम्बी लम्बी मंजिलों और घेरों की थकान को नहीं सहन कर सकता; यद्यपि ऊपर से उसके शिविर में विलासिता का प्रदर्शन रहता था, किन्तु वास्तव में उसे ऐसे कष्ट झेलने पड़े जिनसे कम आयु के व्यक्ति का भी स्वास्थ्य जर्जरित हो जाता। दुर्गम नदियों,

बाढ़ पूरित घाटियों और कीचड़ से भरे तथा संकीर्ण मार्गों के कारण कठिनाइयाँ और भी अधिक बढ़ गई। अन्य ऋतुओं में तंबुओं में तथा कूच के दौरान में तीव्र गर्मी अत्यधिक कष्ट पहुँचाती और जल का अभाव होने पर असह्य हो जाती; उसकी शिविर भी बहुधा अभाव तथा रोगग्रस्त रहती और इसके अतिरिक्त अनेक बार भयंकर दुर्भिक्षों और महामारियों का भी प्रकोप हुआ; जो प्रदेश इन विपत्तियों से मुक्त रहे उनमें शत्रु ने प्रलय मचा दी और तहस-नहस कर दिया, जिससे कष्ट द्विगुणित होगये। किन्तु साहस भंग करने वाली इन परिस्थितियों में भी औरंगजेब की शक्ति और क्रियाशीलता अक्षुण्ण रही। वह अकेला ही सरकार के सभी विभागों का कार्य चलाता और छोटी से छोटी चीजों की ओर भी ध्यान देता रहा। वह स्वयं चढ़ाइयों की योजनाएँ बनाता और उनकी प्रगति के दौरान में हिदायतें भेजता रहता, आक्रमण किस दिशा से और किन स्थलों से किया जाय, यह निश्चय करने के लिये वह किलों के मानचित्र मँगवाता उसके पत्रों में अफगान देश में मार्गों को खुला रखने, आगरा और मुल्तान में उपद्रवों को दबाने और कान्धार को पुनः जीतने के उपायों का जिक्र है; और साथ ही साथ दक्षिण में ऐसी कोई सैनिक टुकड़ी अथवा रक्षा दल नहीं था जो औरंगजेब के हाथ की लिखित आज्ञाओं के बिना हिलता-डुलता हो। किसी जिले के निम्नतम राजस्व अधिकारी अथवा किसी दफ्तर के लिपिकार की नियुक्ति भी ऐसी चीज़ न थी जिसे वह अपना ध्यान देने के योग्य न समझता हो; और गुप्तचरों द्वारा तथा आने-जाने वालों से पूछ-ताछ करके राज्य के सभी कर्मचारियों के आचरण पर कठोर निगाह रक्खी जाती, और इस प्रकार जो सूचना मिलती उसके आधार पर उन्हें बुरा भला कहा जाता और सचेत रहने की प्रेरणा दी जाती। इस प्रकार ब्यौरे की छोटी मोटी चीजों की ओर ध्यान देने से कार्य की प्रगति में बाधा पड़ती है, और न यह चीज़ विस्तीर्ण प्रतिभा का ही द्योतक है किन्तु औरंगजेब की केवल यही विशेषता नहीं थी, बल्कि राज्य की महान समस्याओं के सम्बन्ध में भी वह निरन्तर कार्यशील और जागरूक रहता, इससे एक ऐसे मस्तिष्क की सक्रियता का आभास मिलता है जो किसी भी अवस्था में आश्चर्यजनक रहा होगा।"

अपनी अन्तिम वसीयत में औरंगजेब ने लिखा : राज्य विषयक मामलों की समुचित जानकारी रखना सरकार का मुख्य आधार-स्तम्भ है। एक क्षण की भी असावधानी दीर्घकाल तक के लिये लज्जा तथा अपमान का कारण बन जाती है। दुष्ट शिवा मेरी ही असावधानी के कारण भाग निकलने में सफल हुआ (जिसके परिणामस्वरूप) मुझे अपने जीवन के अन्त तक (मराठों का दमन करने के लिये) कठिन परिश्रम करना पड़ रहा है।*

औरंगजेब के चरित्र के विरोधी तत्त्व—ऊपर हम जो कुछ लिख आये हैं उससे औरंगजेब के सम्बन्ध में लेनपूल के इस मत की पुष्टि होती है : "अपने पिता की तुलना में वह हर दृष्टि से श्रेष्ठ था—उससे अधिक बुद्धिमान व्यक्ति,

* सरकार : Anecdotes, पृष्ठ ५५।

अधिक न्यायप्रिय राजा और कहीं अधिक दयालु तथा उदार शासक' "उसके सबसे बड़े निन्दक मनूची ने भी स्वीकार किया है कि उसका हृदय वास्तव में दयालु था।" लेनपूल आगे लिखते हैं कि "उसकी शासन-प्रणाली के विषय में हमें जो कुछ भी ज्ञात है उससे सिद्ध होता है कि उसकी सुन्दर भावनाएँ वास्तव में उसके जीवन की प्रेरक शक्तियाँ थीं। इस्लामी सिद्धान्तों के अनुसार उसने अन्याय का कोई कार्य किया हो, ऐसा अभी तक प्रमाणित नहीं हुआ है।" बर्नियर को भी लिखना पड़ा कि 'जिन लोगों का कहना है कि औरंगजेब ने (अपने पिता तथा भाइयों) के साथ जैसा आचरण किया उसको देश की परिस्थितियों, उसके जन्म तथा शिक्षा-दीक्षा के आधार पर भी उचित नहीं ठहराया जा सकता, उन्हें भी मानना पड़ेगा कि इस राजकुमार की प्रतिभा बहुमुखी तथा असाधारण है, वह अनुभवी राजनीतिज्ञ और महान शासक है।' सरकार का कथन है कि शाहजहाँ को भी इस बात का आभास हो गया था कि 'औरंगजेब की बुद्धि तथा संकल्प को देखते हुये यही अवश्यम्भावी प्रतीत होता है कि केवल वही (भारत पर शासन करने के) दुस्तर कार्य को पूरा कर सकेगा।'

फिर भी जैसा कि वी० ए० स्मिथ ने कहा है, "जब हम शासक के रूप में उसकी समीक्षा करते हैं तो हमें कहना पड़ता है कि वह विफल रहा।" खाफी खाँ ने भी 'उसके फकीरी गुणों की प्रशंसा, तथा साम्राज्य के व्यावहारिक प्रशासन में उसके अवगुणों की निन्दा की है।' इसीलिये, 'यद्यपि उसमें लगन, तपस्या, न्यायप्रियता, साहस, सहनशीलता तथा ठोस निर्णय बुद्धि थी', फिर भी 'प्रत्येक योजना जो उसने बनाई निरर्थक सिद्ध हुई, और प्रत्येक काम जो उसने हाथ में लिया देर में कार्यान्वित हुआ और अन्त में असफल रहा।' औरंगजेब सन्देही और अविश्वासी था और यह उसकी बड़ी दुर्बलता थी। इसी का परिणाम था कि सैनिक और असैनिक दोनों ही प्रकार के प्रशासन में आवश्यकता से अधिक केन्द्रीयकरण होगया। किन्तु उसमें इतनी शक्ति और मानसिक दृढ़ता थी कि यह अवगुण भी घातक न सिद्ध होता; यह तो उसके जाति वालों की जो शक्तिशाली तथा महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे, सामान्य दुर्बलता थी। उसके चरित्र की कमी यह थी कि उसका हृदय कुछ संकीर्ण था। उसके सभी पूर्वजों में दयालुता और विचारों की उदारता पाई जाती थी, किन्तु दुर्भाग्य से उसको ये गुण विरासत में नहीं मिले थे। लेनपूल ने लिखा है कि "वह किसी का विश्वास न करता था और उसमें मिलनसारी की कमी थी, इसीलिये लोगों के दिलों में उसके आत्मसंयम, उसकी कर्तव्य परायणता, न्यायप्रियता, परिश्रमी स्वभाव और प्रजाहित-चिन्तन का कोई मूल्य न था। जो राष्ट्र शाहजहाँ के दरबार का वैभव और शान-शौकत देख चुका था, उसको औरंगजेब के फकीरी जीवन, मितव्ययता और रहन-सहन की सरलता आदि गुणों से ही घृणा थी। बहुसंख्यक प्रजा सोचती थी कि यदि हमारे भाग्य में यही है कि एक विधर्मी और विजातीय राजा हमारे ऊपर शासन करे तो कम से कम उसका बाहरी जीवन तो राजाओं

फैला हो और वह अपने राजकीय तेज से प्रजा को आलोकित करे, चाहे उसके आमोद प्रमोद में हमारी ही थैलियाँ क्यों न खाली हों। किन्तु ठीक यही चीजें थीं जिन्हें औरंगजेब पूरा न कर सकता था। वास्तव में उसके चरित्र की उच्चता ने ही उसकी प्रजा को उससे दूर रक्खा, और उसकी ईमानदारी तथा कठोर गुणों ने उनके दिलों को निरुत्साह कर दिया।"

अन्तिम रूप से विश्लेषण करने पर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि औरंगजेब का धार्मिक चरित्र ही उसकी विफलताओं का मुख्य कारण था। जैसा कि लेनपूल ने लिखा है "उसका चरित्र एक प्यूरीटन जैसा था; उत्कटधर्मोत्साह, साधुओं जैसा आत्मसंयम आत्मत्याग धार्मिक कर्तव्यों में अटूट लगन, आचरण तथा कर्तव्य के उच्च आदर्श उसके मुख्य गुण थे; किन्तु साथ ही साथ उसमें प्यूरिटन जैसी कठोरता कुचले हुए मनोवेग धर्मान्धता, मनस्वभाव में अविश्वास और स्वाभाविक भावकपन आदि दुर्गुण भी विद्यमान थे। औरंगजेब में अनेक गुण थे और वह सदाचार के सभी नियमों का पालन करता था, किन्तु उसमें एक ऐसी चीज का अभाव था जो एक नेता के लिये अपरिहार्य है; वह किसी के प्रेम का भाजन न बन सकता था। ऐसा व्यक्ति एक साम्राज्य के प्रशासन की बागडोर भले ही सँभाल ले, किन्तु वह मनुष्यों के हृदयों पर शासन नहीं कर सकता। मीराते आलम में लिखा है —

औरंगजेब की एक विशेषता यह भी कि धर्म में उसका अटूट अनुराग था। वह इमाम अबू हनीफा (ईश्वर उन पर दया करे।) के सिद्धान्तों का अनुयायी है, और पाँच मूल सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करता है। स्नानादि से निवृत्त होकर वह सदैव अपना अधिकांश समय ईश्वर की आराधना में बिताता है और नियमपूर्वक हार्दिक भक्तिभाव से नमाज पढ़ता है—पहले मस्जिद में सामूहिक रूप से और फिर घर में अकेले। वह शुक्रवार को तथा अन्य पवित्र दिनों को रोजा रखता है और शुक्र की नमाज जामीमस्जिद में इस्लाम के साधारण अनुयायियों के साथ मिलकर पढ़ता है। पवित्र रातों में वह निरन्तर जागरण करता है और ईश्वर के अनुग्रह रूपी ज्योति से धर्म तथा समृद्धि के दीपकों को आलोकित करता है। अकेले में वह कभी सिंहासन पर नहीं बैठता।

'जब से उसने होश सँभाला है तब से कभी उसने निषिद्ध माँस नहीं खाया और न वर्जित काम ही किये हैं और अपनी महान पवित्रता के कारण उसने शुद्ध तथा धर्मविहित चीजों को छोड़कर अन्य किसी वस्तु को ग्रहण नहीं किया। यद्यपि अपने सिंहासन के चरणों पर उसने ऐसे अनेक गायक एकत्र कर लिये हैं जिनके स्वर मधुर हैं और जो बाजे बजाने में अत्यन्त कुशल हैं तथा जिनके संगीत से आमोद गोष्ठियों में प्रसन्न लोगों को हर्षोन्माद होने लगता है और अपने शासन के प्रारम्भ में कभी कभी वह उनका गाना बजाना सुना करता था और यद्यपि वह स्वयं संगीत का अच्छा मर्मज्ञ है, किन्तु अब पिछले अनेक वर्षों से अपने आत्मसंयम आत्मत्याग और महान इमाम (शफी) (ईश्वर उस पर दया करे।) के सिद्धान्तों पर चलने के कारण उसने इस प्रकार के

आमोद-प्रमोद से पूर्णतया मुख मोड लिया है। यदि कोई गायक और सगीतज्ञ अपने काम से लज्जित होने लगते हैं तो वह (सम्राट) उनके निर्वाह के लिये भत्ते निश्चित कर देता अथवा भूमि दे देता है। 'वह धर्म-वर्जित वस्त्रों को अभी धारण नहीं करता और न कभी सोने-चाँदी के वस्त्रों का ही प्रयोग करता है।'"' ''वह सैयदों, सन्तों और विद्वानों का उनके पदों और गुणों के अनुसार सम्मान तथा आदर करता है, और उसके भक्तिपूर्ण तथा उदार प्रयत्नों के फलस्वरूप हनीफा के उच्च सिद्धान्तों और पवित्र धर्म का समस्त हिन्दुस्तान में इतना प्रचार हो गया है, जितना पहले कभी किसी भी शासक के राज्यकाल में नहीं हुआ था।'

'हिन्दू लेखकों को सरकारी नौकरियों से पूर्णतया वंचित कर दिया गया है, और काफिरों के पूजा-स्थान तथा इन कुत्सित लोगों के बडे-बडे मन्दिर गिरा दिये गये अथवा ध्वस्त कर दिये हैं, और यह कठिन काम इतनी सरलता से सम्पादित हो गया, कि इसे देख कर विस्मय होने लगता है। सम्राट स्वयं अनेक काफिरों को सफलतापूर्वक पवित्र कलीमा पढाता और उन्हें खिलत आदि से अनुगृहीत करता है। दानशीलता का यह स्रोत (नींव) भिक्षा और दान देने में इतना धन व्यय करता है कि पिछली पीढ़ियों के सम्राट उसका शतांश भी नहीं देते थे। रमजान के पवित्र महीने में साठ हजार रुपये तथा अन्य महीनों में कुछ कम धन दरिद्र लोगों में वितरित कर दिया जाता है। राजधानी में तथा अन्य नगरों में भोजनालय स्थापित करवा दिये हैं जहाँ गरीबों तथा असहायों को भोजन मिलता है, और जिन स्थानों में यात्रियों के ठहरने के लिये सराएँ न थीं वहाँ पर सम्राट ने उनका निर्माण करा दिया है। साम्राज्य भर की सभी मस्जिदों का जीर्णोद्धार सरकारी धन से कराया जाता है। इमाम लोग प्रति दिन नमाज के लिये अजाँ लगाते हैं, और प्रत्येक मस्जिद मे खुतबा पढने वाले नियुक्त कर दिये गये हैं, और इन सब खर्चों के लिये बहुत-सा धन निश्चित कर दिया गया है और अब भी किया जाता है। इस विस्तृत देश के सभी नगरों और कस्बों में विद्वानों तथा उलेमा के लिये पेंशनें और भत्ते तथा विद्यार्थियों के लिये उनकी योग्यताओं तथा अर्हताओं के अनुसार छात्रवृत्तियाँ बाँध दी गई हैं।

'चूँकि सम्राट को यह अभीष्ट है कि सभी मुसलमान धर्म के नियमों का उसी रूप मे पालन करें जिसमें योग्यतम विधिविज्ञों तथा हनीफी सम्प्रदाय के अनुयायियों ने उसका प्रतिपादन किया है, और चूँकि इन सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप से समझना कठिन है, क्योंकि काजियों और मुफ्तियों ने अनधिकृत रूप से विभिन्न मत दिये हैं, और चूँकि ऐसा कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसमें सब सिद्धान्त सकलित हों, और चूँकि कोई व्यक्ति विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का तब तक समाधान नहीं कर सकता जब तक कि सब ग्रन्थ एकत्र न कर लिये जायँ और उसके पास धार्मिक विषयों को समझने के लिये पर्याप्त अवकाश, साधन और ज्ञान न हो, इसलिये धर्मरक्षक सम्राट ने सकल्प किया कि हिन्दुस्तान के प्रमुख विद्वानों तथा योग्य व्यक्तियों की एक मडली शाही पुस्तकालय में एकत्र विशाल तथा विश्वसनीय ग्रन्थों को इकट्ठा करे, उन सब का सारांश निकाले और एक ऐसा ग्रन्थ तैयार करे जो धार्मिक विधि के सम्बन्ध में प्रामाणिक माना जाय और

जिससे सभी लोगों को धर्मविधि व्याख्या सफलता से उपलब्ध हो सके। इस कठिन योजना को सम्पादित करने का मुख्य भार अपने युग के सब से बड़े विद्वान शेख निजाम को सौंपा गया और मंडली के सभी सदस्यों को समुचित वेतनादि दिया गया, जिससे अब तक इस मूल्यवान संकलन पर जिसमें १०० ००० पंक्तियाँ हैं, २००,००० रुपये व्यय हो चुके हैं। ईश्वर की दया से पूरे हो जाने पर यह ग्रन्थ ('फतवाये आलमगीरी') सारे संसार के लिये विधि की प्रामाणिक व्याख्या के रूप में प्रतिष्ठित होगा और उससे प्रत्येक व्यक्ति मुसलमान उलेमा से स्वतंत्र हो जायगा। इस योजना की एक श्रेष्ठता यह है कि सियालकोट के प्रसिद्ध मौलाना अब्दुल हकीम के सर्वगुणसम्पन्न पुत्र मुल्ला अब्दुल्ला तथा उनके अनेक शिष्यों को इस ग्रन्थ का फारसी रूपान्तर करने की आज्ञा दी गई है, जिससे वह सभी के लिये सुलभ हो सके।

सम्राट स्वयं विधि, उसकी टीकाओं और परम्पराओं से भली भाँति परिचित है। वह सदैव महान ईमाम मुहम्मद गिजाली (ईश्वर उस पर दया करे!) के ग्रन्थों, शेख शराफ यहिया मुनीरी (उसकी समाधि पवित्र हो!) के लेखों के उद्धरणों और मुही शीराजी की रचनाओं तथा इसी प्रकार की अन्य पुस्तकों का अध्ययन करता रहता है। इस पुण्यात्मा सम्राट की एक महान विशेषता यह है कि उसे कुरान कंठस्थ है। यद्यपि अपने यौवन में उसने इस पवित्र ग्रन्थ के कुछ अध्याय कंठाग्र कर लिये थे किन्तु सम्पूर्ण पुस्तक उसने सिंहासनारोहण के उपरान्त ही कंठस्थ की। उसको (कुरान को) अपने मस्तिष्क पटल पर अंकित करने में उसने घोर परिश्रम किया और अध्यवसाय का परिचय दिया। वह नस्ख शैली की लिखावट बड़ी सुन्दर लिखता है, और इस कला में उसने पूर्ण दक्षता प्राप्त कर ली है। उसने स्वयं अपने हाथ से पवित्र कुरान की दो प्रतियाँ लिख डालीं और उन्हें ७००० रुपये खर्च करके आभूषणों तथा हाशिये की लकीरों से सजाकर मक्का तथा मदीना के पवित्र नगरों को भिजवा दिया। उसकी शिकस्त तथा नस्तालीक लिखावट भी बहुत सुन्दर है। वह लालित्यपूर्ण गद्य लिखता है और कविता में भी उसने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली है। किन्तु ईश्वर के इन शब्दों का ध्यान रखते हुए कि 'कवि झूठ बोला करते हैं", वह इस कला का अभ्यास नहीं करता। वह उपदेशात्मक छन्दों को छोड़ कर अन्य किसी प्रकार की कविता सुनना पसन्द नहीं करता। "ईश्वर को प्रसन्न करना उसका ध्येय रहता है" इसलिये उसने कभी किसी चाटुकार की ओर आँख उठा कर नहीं देखा, और न कभी किसी कवि की बात सुनी।

सम्राट ने अपने भाग्यशाली पुत्रों को बहुत ही उदार शिक्षा दी है; उसके ध्यान तथा सावधानी के कारण वे पूर्णत्व की पराकाष्ठा पर पहुँच गये हैं, और सदाचार, भक्ति तथा पुण्य में उन्होंने विशेष उन्नति की है तथा राजकुमारों और महापुरुषों की परिपाटियाँ और शिष्टाचार सीख लिया है। उसकी शिक्षा से उन्होंने ईश्वरीय ग्रन्थ को कंठस्थ कर लिया है, विज्ञानों तथा शिष्ट साहित्य में विभिन्न प्रकार की लिखावट लिखने और तुर्की तथा फारसी भाषाओं में उन्होंने विशेष योग्यता प्राप्त कर ली है।

'इसी प्रकार उसकी आज्ञानुसार परिवार की स्त्रियों ने भी धर्म के मूल तथा आवश्यक सिद्धान्त सीख लिये हैं और वे सब अपना समय ईश्वर को आराधना करने, पवित्र कुरान का पाठ करने तथा अन्य धार्मिक तथा पुण्य कार्यों में बिताती हैं। इस पूजनीय सम्राट के चरित्र की श्रेष्ठता तथा नैतिक जीवन की शुद्धता वर्णनातीत है। (हमारी यही कामना है) कि जब तक प्रकृति जीवन रूपी वृक्ष का पोषण करे और इस संसार के उद्यान को हरा-भरा रक्खे, तब तक प्रतिष्ठा और सम्मान रूपी उद्यान के इस स चक का समृद्धि-तरु फलता-फूलता रहे!'

यह प्रशस्ति चाटुकारितापूर्ण है और कट्टर मुसलमानी दृष्टिकोण से लिखी गई है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि औरंगजेब इसका पूर्णतया अनधिकारी न था। जैसा कि लेनपूल ने लिखा है, "यह (प्रशस्ति) बर्नियर के उस पत्र से अधिक चाटुकारितापूर्ण नहीं है जो उसने उसी युग में कोलबेयर को लिखा था। इस शब्द-चित्र में ऐसी कोई चीज़ नहीं है जो औरंगजेब की सम्पूर्ण जीवनचर्या के अनुरूप न हो, अथवा जिसका यूरोपीय निरीक्षकों के साक्ष्य से मेल न खाता हो। भारतीय इतिहासकार ने इस श्रद्धेय सम्राट का जो चित्र खींचा है वह पश्चिमी पाठकों को अतिरञ्जित भले ही प्रतीत हो, किन्तु इसमें एक भी ऐसा पुट नहीं है जिसकी झलक हमें तत्कालीन अंग्रेज़ तथा फ्रांसीसी पर्यटकों के लेखों और उन भारतीय इतिहासकारों के कथनों में न मिल सके, जिन पर औरंगजेब का प्रभाव इनसे कम था।"

यदि औरंगजेब का दृष्टिकोण अपने पूर्वजों के समान ही समन्वयवादी और उदार होता, तो वह साम्राज्य की नींव को खोखला करने की अपेक्षा उसे और भी अधिक सुदृढ़ कर जाता। उसकी नसों में उन सबसे कहीं अधिक हिन्दू-रक्त था; किन्तु उसके इस्लामी अन्तःकरण ने उन सब परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह किया जिन्हें वे इस देश में स्थापित कर गये थे। मुगलों ने अपने इतिहास में प्रथम बार एक ऐसा सम्राट उत्पन्न किया जो कट्टर मुसलमान था और जिसने अपना भी वैसा ही कठोरता से दमन किया जैसा कि अपनी प्रजा का, और जो अपने धर्म के हेतु अपने सिंहासन को भी दाव पर लगाने के लिये तैयार था।........ दिल्ली के सिंहासन पर बैठने के समय वह एक उत्साही युवक नहीं था; उसकी आयु चालीस वर्ष की हो चुकी थी और बुद्धि परिपक्व थी। अपनी प्रजा के प्रत्येक वर्ग की नीति और भावनाओं से वह भली-भाँति परिचित था। वह पूरी तरह समझता होगा कि मैं खतरनाक मार्ग पर चल रहा हूँ, और यह भी उसे अच्छी तरह विदित रहा होगा कि हिन्दुओं की प्रत्येक भावना का विरोध करने का, अपने ईरानी अनुयायियों के प्रिय आदर्शों का जानबूझ कर विरोध करके उन्हें अप्रसन्न करने का तथा दरबार के आमोद-प्रमोद और विलासिता को कुचल कर अपने अमीरों के जीवन को नीरस बनाने का अर्थ होगा, क्रान्ति की शक्तियों का आवाहन करना। फिर भी उसने इसी मार्ग को अपनाया, और अपने पचास वर्ष के निष्कण्टक शासन-काल में दृढ़ संकल्प के साथ इसी पर डटा रहा। जब वह ९० वर्ष की आयु में बुढ़ापे से जर्जरित होकर दक्खिन की

महान सेना के सर्वनाश के बीच मृत्यु शैया पर पड़ा हुआ था उस समय भी उसके अन्तःकरण में धार्मिक उत्साह की वैसी ही तीव्र ज्वाला धधक रही थी, जैसी कि उस समय जब अपने यौवन के बसन्त में उसने उसी प्रान्त में सूबेदार की महान प्रतिष्ठा त्याग कर दरिद्र फ़क़ीर के वस्त्र धारण किये थे।"

औरंगज़ेब का सर्वनाश—अन्तिम दिनों में औरंगज़ेब को विफलता, पराजय तथा निराशा की भावनाओं ने घेर लिया। उसने अपने पुत्रों को जो पत्र लिखे उनसे खेद तथा निराशा टपकती है साथ ही साथ उनमें अनिश्चितता का पुट है और ऐसा प्रतीत होता है कि अब उसका मूर्खतापूर्ण भ्रम भी दूर होने लगा था। किन्तु अपने जीवन-काल में उसे अपने उद्देश्य के सम्बन्ध में किसी प्रकार की दुविधा नहीं रही थी; वह समझता था कि ईश्वर ने मुझे इस कार्य के लिये नियुक्त किया है, इसलिए उसने बड़ी क्रूरता और उत्साह के साथ उसे पूरा करने का प्रयत्न किया। उसका उद्देश्य था दार उल हर्ब (काफ़िरों का देश) को दार उल इस्लाम (इस्लामिस्तान) में परिवर्तित करना। ऊपर से देखने में कम-से-कम इसीलिये उसने अपने पिता को कारागार में डाला, भाइयों की हत्या की, अपने पुत्र अकबर को निर्वासित किया, राजपूतों, जाटों, सिक्खों और मराठों से शत्रुता मोल ली, बीजापुर तथा गोलकुण्डा के दो शिया राज्यों का अन्त किया, जिज़्या लगाया, दरबारी-इतिहासों के लिखने पर रोक लगाई, संगीत को निवासित किया, सौर संवत् के स्थान पर चन्द्र संवत् को अपनाया, नौरोज़ का उत्सव बन्द किया अपने जन्म दिन के उपलक्ष में सोना चाँदी आदि का तुलादान बन्द किया, और जहाँ तक सम्भव हो सका वहाँ हिन्दुओं, शियाओं तथा धर्मद्रोहियों के स्थान पर हनीफ़ी मुसलमानों को नियुक्त किया। उसके कुछ सुधार तो वास्तव में अच्छे थे, जैसे भंग पीने पर रोक, मद्यपान, जुआ, सती तथा होली के अवसर पर अश्लीलता का निषेध और वेश्याओं को विवाह अथवा निर्वासन में से किसी एक को चुनने पर बाध्य करना। किन्तु उसकी बहुसंख्यक प्रजा के असन्तुष्ट होने के कारण थे—मन्दिरों का व्यापक विध्वंस, हिन्दुओं से जिज़्या आदि भेद मूलक करों का वसूल करना, उन्हें नौकरियों से हटाना तथा घुड़सवारी और अच्छे वस्त्रों के पहिनने पर रोक लगा कर उन्हें अपमानित करना इत्यादि। ये कार्य ऐसे नहीं थे जो एक धार्मिक शासक तथा रचनात्मक राजनीतिज्ञ को शोभा देते, ये तो उसकी कट्टर धर्मान्धता के द्योतक थे और उसकी जन्मजात प्रतिभा को कलंकित करते थे। कोई धर्म यह नहीं सिखाता कि उसका पुजारी अपने पिता तथा भाइयों के साथ ऐसा व्यवहार करे जैसा औरंगज़ेब ने किया। सत्य यह है कि उसके हृदय में इस्लाम के लिये श्रद्धा तथा उत्साह था, किन्तु साथ ही साथ उसके चरित्र में कुटिलता का पुट भी था जिसके कारण वह विश्वास करता था कि :—

'पुण्य कितना निस्सार है! उसका अनुसरण करने वाले का भाग निश्चय ही संकटापन्न होता है, किन्तु उससे मिलने वाली प्रशंसा निश्चित नहीं होती। यश सार्वभौम

तथा वायु की भाँति चंचल होता है, ...संसार उस निर्भीक पापी के लिये बना है जो कुछ भी करने में नहीं हिचकिचाता, और जो हर चीज़ को जिसे वह हड़प सकता है, हड़प लेता है। न्याय पुण्य की बहुत ही दुर्बल सहायता करता है। वह (न्याय) अपने तराजू का भरोसा करता है और तलवार की उपेक्षा। पुण्यात्मा उस चीज को लेने का प्रयत्न नहीं करता जो उसकी नहीं है, और जब तक वह सोच-विचार करता है, तब तक चीज़ उसके हाथ से निकल जाती है।'

औरंगज़ेब के चरित्र की पहेली की यही वास्तविक कुंजी है, और इसीलिये समकालीन यूरोपीय दर्शकों ने उसको एक घुटा-पिसा धूर्त समझा।

जैसा कि हम पहले उल्लेख कर आये हैं, बर्नियर ने उसे "दुराव रखने वाला, कुटिल और कपटपूर्ण आचरण की कला में दक्ष" कहा है। वह (बर्नियर) इसी बात को आगे और स्पष्ट करता है, "जब वह अपने पिता के दरबार में होता तो भक्ति का ढोंग रचता, किन्तु वास्तव में भक्ति-भावना उसे छू तक न गई थी, वह सांसारिक वैभव के प्रति घृणा प्रदर्शित करता और गुप्त रूप से अपनी भावी उन्नति के लिये मार्ग तैयार करने का प्रयत्न करता रहता। जब उसे दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया गया तो उसने लोगों को विश्वास दिलाया कि यदि मुझे फकीर—भिखारी, दर्वेश अथवा सन्यासी—होने की आज्ञा मिल जाय तो मेरे हृदय को इससे भी अधिक सन्तोष होगा, मेरी हार्दिक इच्छा यह है कि मैं अपना शेष जीवन पूजा-पाठ अथवा पुण्य कार्यों में बिताऊँ; प्रशासनीय चिन्ताओं तथा उत्तरदायित्व से मैं बचना चाहता हूँ। फिर भी उसका सम्पूर्ण जीवन अविचलित कुचक्रों और कुचालों से भरा पड़ा है, किन्तु अपने हथकंडे उसने इस चतुराई के साथ दिखलाये कि दरबार के सभी लोगों ने उसके चरित्र के सम्बन्ध में गलत धारणाएँ बना ली थीं, केवल उसका भाई दारा उसे भली भाँति समझता था।" इसी प्रकार टैवर्नियर लिखता है, "औरंगजेब सुन्नी सम्प्रदाय का कट्टर अनुयायी है और उसके प्रति विशेष प्रकार से महान उत्साह दिखलाया करता है। धर्म (शरा) का बाहरी रूप से पालन करने में उसने अपने सभी पूर्वजों को मात कर दिया है, और यह एक आवरण है जिससे वह अपने द्वारा किये गये राज्य के अपहरण को छिपाना चाहता है।...धर्म के प्रति अपना और भी अधिक उत्साह प्रदर्शित करने के लिये वह फकीर हो गया।...और धार्मिकता के इस झूठे पर्दे की आड़ में उसने बड़ी चतुराई से मार्ग तैयार करके साम्राज्य हस्तगत कर लिया।"

औरंगज़ेब के समसामयिक व्यक्तियों में कम से कम दो ऐसे थे जिन्होंने उसकी अन्धी नीति की खुले शब्दों में निन्दा की और उसे चेतावनी दी कि इसके परिणाम अच्छे नहीं होंगे—उनके क्या उद्देश्य थे इससे हमें यहाँ प्रयोजन नहीं, किन्तु औरंगजेब जैसे व्यक्ति से और उन परिस्थितियों में, वे इस बात की आशा नहीं कर सकते थे कि उनकी चेतावनी का कोई प्रभाव पड़ेगा। औरंगज़ेब के पुत्र अकबर ने उसकी नीति की कठोरतम शब्दों में निन्दा की, जैसी कि कभी किसी आलोचक ने की हो।

"श्रीमान् जी के शासन में मन्त्रियों के हाथों में कोई शक्ति नहीं है, अमीर विश्वास के

पात्र नहीं है सैनिक दरिद्र है और उनकी दशा दयनीय है, लेखकों को काम नहीं मिलता, व्यापारियों के पास साधन नहीं और किसान पददलित हैं। इसी प्रकार दक्खिन का राज्य भी जो एक विस्तृत देश है और जो पृथ्वी पर स्वर्ग के समान है, एक पहाड़ी अथवा मरुस्थल की भाँति उजाड़ हो गया है; बुरहानपुर का नगर जो पृथ्वी के कपोल पर सौन्दर्य का मस्सा है, नष्ट-भ्रष्ट हो गया और लुट गया है औरंगाबाद का नगर जो श्रीमान के नाम से सम्बन्धित होने से प्रतिष्ठित और सम्मानित है, शत्रु सेनाओं के प्रहारों से तथा उनके द्वारा पहुँचायी गई हानि से पारे की भाँति काँपने लगा है। हिन्दू जातियों पर जो विपत्तियाँ टूट पड़ी हैं, (पहली) नगरों में जिज़या के नाम पर लूट खसोट और देहात में शत्रु द्वारा उत्पीड़न। जब लोगों के सिरों पर चारों ओर से ऐसी विपत्तियाँ टूट पड़ी हैं, तो यदि वे प्रार्थना नहीं करते और अपने शासक को धन्यवाद नहीं देते तो क्या बुरा करते हैं? प्राचीन परिवारों से सम्बन्धित उच्च वर्गों और शुद्ध नस्लों के लोग ह्रास हो चुके हैं, और अब श्रीमान के राज्य में सरकारी पद और विभाग तथा राजकीय मामलों में मंत्रणा देने का काम मिस्त्रियों, नीच व्यक्तियों तथा धूर्तों—जैसे जुलाहों, शोरबा बेचने वालों और दर्जियों—के हाथों में है। ये लोग अपनी बगलों में छल का जामा दबाए और हाथों में कपट और ठगी का जाल (माला आदि) लिये हुए अपने मुँह से कुछ पुरानी कथाओं और धार्मिक सूक्तियों को दुहराते फिरते हैं। श्रीमान् भी अपने इन विश्वासपात्रों, सलाहकारों और साथियों का ऐसे विश्वास करते हैं, मानो वे जिब्राइल और माइकेल हों, और आपने अपने को भ्रमराम की भाँति इन धूर्तों के नियंत्रण में रख छोड़ा है। ये लोग गेहूँ दिखला-कर (बानगा के रूप में) जौ बेचते हैं, और इस प्रकार के बहानों न आपके समक्ष पहाड़ी को घास और घास के ढेर को पहाड़ी सिद्ध करते हैं।'

शिवाजी ने आगरा से निकल भागने के उपरान्त औरंगज़ेब को एक पत्र लिखा, उसका भी यही आशय है किन्तु उसकी भाषा अधिक गम्भीर और संयत है, और उसकी भावुकता के पीछे अधिक गहरी सचाई छिपी है—

सम्राट आलमगीर की सेवा में—

श्रीमान् की प्रसन्न हो! साम्राज्य रूपी भवन के कुशल शिल्पी (जलालुद्दीन) अकबर बादशाह ने पूरी शक्ति के साथ ५२ (चन्द्र) वर्ष शासन किया। उसने सभी विभिन्न सम्प्रदायों—ईसाइयों, यहूदियों मुसलमानों दाऊद पंथियों आकाश-पूजकों (फलकियों) मलकियों भौतिकवादियों (अंसारियों), नास्तिकों (दहरियों), ब्राह्मणों और जैन पुरोहितों के साथ सुलह-कुल की सार्वभौम नीति अपनाई। उसके उदार हृदय का उद्देश्य था अपनी सम्पूर्ण जनता का पोषण और रक्षा करना। इसीलिये वह 'जगद्गुरु' के नाम से विख्यात हुआ। उसके उपरान्त सम्राट नूरुद्दीन जहाँगीर ने २२ वर्ष तक संसार तथा उसके निवासियों को अपनी कृपामयी छाया प्रदान की अपने मित्रों को अपना हृदय दिया, और अपने काम में संलग्न रहा और इस प्रकार अपनी इच्छाएँ पूरी की। सम्राट शाहजहाँ ने ३२ वर्ष तक संसार के मस्तक पर अपनी वरद छाया डाली और अपने जीवन-काल में पृथ्वी को सुखी बनाया, जिसके परिणाम स्वरूप उसे अमर जीवन का फल प्राप्त हुआ, सज्जनता और सुयश ही अमरत्व के दूसरे नाम हैं।

"किन्तु श्रीमान के शासन-काल में अनेक किले तथा प्रान्त आपके हाथ से निकल गये हैं, और शेष भी शीघ्र ही निकल जायँगे, क्योंकि मैं अपनी ओर से उन्हें नष्ट करने तथा उजाड़ने में कसर कहीं छोड़ूँगा। आपके किसान पददलित हैं, प्रत्येक गाँव की उपज कम हो गई है, एक लाख (रुपये) के स्थान पर केवल एक हजार और हजार के स्थान पर केवल दस वसूल होते हैं, और वह भी कठिनाई से। जब सम्राट तथा राजकुमारों के महलों में ही दरिद्रता और भिखमंगापन घर कर गया है, तो फिर अमीरों और अधिकारियों की क्या दशा होगी, इसका सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है। आपका शासन ऐसा है कि इसमें सेना उथल-पुथल की दशा में है, व्यापारी शिकायत करते हैं, मुसलमान चिल्लाते हैं, हिन्दुओं का उत्पीड़न हो रहा है, अधिकतर लोगों को रात को भोजन नहीं मिलता और दिन में-वे (वेदना के कारण) अपने ही गालों को थप्पड़ मार कर सुजा लेते हैं। ऐसी दुःखद अवस्था में आपकी शाही आत्मा कैसे आज्ञा देती है कि आप जिजया लगाकर रैयत के कष्टों को और भी अधिक बढ़ा दें। अपकीर्ति शीघ्र ही पश्चिम से पूर्व तक फैल जायगी और इतिहास में लिखा जायगा कि हिन्दुस्तान का सम्राट भिखारियों के कमंडलों को भी छीन लेना चाहता है, और वह ब्राह्मणों, जैन भिक्षुओं, योगियों, सन्यासियों, वैरागियों, अकिंचनों, साधुओं, बर्बाद हुए अभागे लोगों और दुर्भिक्ष पीड़ितों से भी जिजया वसूल करता है,—कि वह भिखारियों के कमंडलों पर आक्रमण करके अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है, और उसने तिमूर के वंशजों का नाम और सम्मान धूल में मिला दिया है।

श्रीमान जी प्रसन्न हों! यदि आपको सच्ची ईश्वरीय पुस्तक में और ईश्वर के वचन (कुरान) में विश्वास हो, तो उसमें आप देखेंगे कि ईश्वर को 'रब्बी-उल-आलमीन' (सबका प्रभु) कहा गया है, न कि 'रब्बी-उल मुसलमीन' (केवल मुसलमानों का प्रभु)। वास्तव में हिन्दुत्व तथा इस्लाम में केवल शब्दों का भेद है। वे विभिन्न प्रकार के रंग हैं जिनका प्रयोग दैवी चित्रकार अपने चित्र (सम्पूर्ण मानव जाति का चित्र) को रंगने तथा उसकी रूपरेखा भरने के लिये करता है। मस्जिद में अजाँ उसी का स्मरण करने के लिए लगाई जाती है, मन्दिर में घंटा उसी को स्तुति में बजता है। किसी के धर्म के प्रति असहिष्णुता दिखलाने का अर्थ है कुरान के वचन को बदलने का प्रयत्न करना। चित्र पर नई रेखा खींचने का मतलब है चित्रकार के काम में दोष निकालना।...... ...यदि आप जनता का उत्पीड़न करने और हिन्दुओं को आतंकित करने को ही धर्म समझते हैं, तो पहले राजा राजसिंह से जिजया वसूल कीजिये, जो हिन्दुओं के नेता हैं। तब मुझसे वसूल करना कठिन नहीं होगा, क्योंकि मैं तो आपकी सेवा के लिये तैयार हूँ। किन्तु चींटियों और मक्खियों को कुचलने से वीरता और साहस का प्रदर्शन नहीं होता। मुझे आपके अधिकारियों की विचित्र स्वामिभक्ति पर आश्चर्य होता है कि आपको वास्तविक स्थिति की सूचना नहीं देते, बल्कि तिनकों से धधकती हुई अग्नि को ढकने का प्रयत्न करते हैं। ईश्वर करे आपके प्रताप का सूर्य महानता की क्षितिज पर सदैव चमकता रहे।"

आलमगीर ने बुद्धि तथा राजनीतिज्ञता से भरी इन शब्दों का वैसे ही रूखे

होकर तथा धृष्टता के साथ उत्तर दिया, जैसे धृतराष्ट्र के हठी पुत्रों ने दिया था। वह स्वयं भी विद्वान था और अपने दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए सादी के वचन को उद्धृत कर सकता था —

"तू संकल्प कर ले कि अपने राज्य पर मैं स्वयं शासन करूँगा, नहीं तो राजपद त्याग दे।"

इस प्रकार औरंगज़ेब विष बीज बो रहा था, किन्तु उसने कभी भविष्य का विचार नहीं किया। फ्रांस के छुई पन्द्रहवें की भाँति उसने भी कहा, "प्रलय आयेगी, परन्तु मेरे बाद।" —"बअम-बरस हमा फसद बाक़ी"। मिरास केनेडी का यह कथन उचित ही है कि "अकबर ने अपनी हिन्दू प्रजा का प्रेम प्राप्त किया था, शाहजहाँ और जहाँगीर ने अपने अवगुणों के बावजूद उसे कायम रक्खा किन्तु औरंगज़ेब ने उसे खो दिया। भारत के इतिहास में यह बात अनेक बार सिद्ध हो चुकी है कि एक मुसलमान शासक अपने सहधर्मियों के साथ अन्याय किये बिना भी अपनी हिन्दू प्रजा का प्रेमभाजन बन सकता है। और साथ ही साथ यह भी स्पष्ट है कि भारत में कोई शक्ति तब तक नहीं टिक सकती जब तक कि हिन्दू जनता का उसमें विश्वास न हो। औरंगज़ेब के समय में असहिष्णुता का अर्थ था धार्मिक विषयों में असहिष्णुता, किन्तु आधुनिक युग में इसका धर्मेतर विषयों में भी प्रसार होता दिखाई देता है। विरोध को न सह सकना, यह विश्वास कि मेरे अतिरिक्त और कोई सही हो ही नहीं सकता, जो चीज़ अपने विचारों से मेल न खाये उसके प्रति घृणा का भाव—ये सब प्रवृत्तियाँ असहिष्णुता की द्योतक हैं, और आजकल के राजनीतिज्ञों में ये बहुधा देखने को मिलती हैं। किन्तु इतिहास की चेतावनी हमारे सामने सदैव विद्यमान है जिसमें बुद्धि हो वह उसे समझ ले। अंग्रेजों ने अकबर की भाँति का अनुकरण करके भारत को विजय किया, औरंगज़ेब के तरीक़ों का अनुकरण करके वे उसे खो न दें।"

इस बात का अनुमान लगाना व्यर्थ है कि यदि औरंगज़ेब कट्टर नमाज़ी (जैसा कि उसका समन्वयवादी भाई दारा उसे पुकारा करता था) न रहा होता यदि उसने राजपूतों को शत्रु बनाने की अपेक्षा मित्र बनाया होता, यदि उसने सिक्खों, सतनामियों जाटों तथा गैर मुस्लिम जनता के अन्य वर्गों की शत्रुता मोल न ली होती और यदि उसने मराठों को घातक संघर्ष करने पर बाध्य न किया होता और बीजापुर तथा गोलकुण्डा के शिया राज्यों का समर्थन और सहानुभूति प्राप्त कर ली होती, तो इस सब के क्या परिणाम हुए होते। किन्तु जब हम औरंगज़ेब के निर्विवाद गुणों का स्मरण करते हैं, जैसे उसकी प्रशासनीय योग्यता, किसानों तथा मुस्लिम प्रजा की भलाई के लिये उदार संकल्प उसकी अथक क्रियाशीलता, और उत्तरदायित्व की भावना, तो हमें भी दुःखी होकर उसके वे शब्द दुहराने पड़ते हैं जो उसने पश्चात्ताप करते हुए मृत्यु शैया पर कहे थे, "मैंने सच्चे अर्थ में राज्य पर शासन नहीं किया है, और न किसानों का ही

पोषण किया है। इतना बहुमूल्य जीवन व्यर्थ में ही चला गया, और भविष्य की भी कोई आशा नहीं है।"

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्	
१६५६	शुजा की कजवा के युद्ध में पराजय। दाराशिकोह का वध। शिवाजी द्वारा अफ़जल खाँ की हत्या, और पन्हाला पर अधिकार।
१६६०	पूना तथा चकन पर शिवाजी का अधिकार। गुरु हर राय की गद्दी पर हर किशन का बैठना।
१६६१	चार्ल्स द्वितीय का कैथराइन ब्रगांज़ा के साथ विवाह, बम्बई इंगलैंड को दे दिया गया। मुराद को मृत्यु दण्ड।
१६६२	मीर जुमला आसाम में। औरंगज़ेब की ख़तरनाक बीमारी। औक्सिडन सूरत की कोठी का अध्यक्ष।
१६६३	कूच बिहार में मीर जुमला की मृत्यु; शायस्तखाँ बंगाल का सूबेदार।
१६६४	शिवाजी द्वारा सूरत की लूट। औरंगज़ेब की सूरत के व्यापारियों को रियायतें। गुरु हर किशन की गद्दी पर गुरु तेग बहादुर। कोलबेयर द्वारा फ्रेंच ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना।
१६६५	कारबार की अंग्रेजी कोठी पर शिवाजी का आक्रमण; राइगढ़ तथा कोंकण का घेरा। शिवाजी का अस्थायी समर्पण; पुरन्धर की सन्धि।
१६६६	बीजापुर का घेरा। ७५ वर्ष की आयु में शाहजहाँ का देहावसान। शिवाजी का आगरा से निकल भागना।
१६६७	बुरहानपुर में जयसिंह की मृत्यु।
१६६८	शिवाजी का सतारा, पन्हाला और राइगढ़ पर अधिकार। बम्बई ईस्ट इंडिया कम्पनी को बेच दी गई।
१६६९	औरंगज़ेब द्वारा बनारस के हिन्दुओं पर अत्याचार।
१६७०	औरंगजेब की आज्ञा से मथुरा के केशवराय के मन्दिर का विध्वंस। शिवाजी का पुरन्धर पर अधिकार, और सूरत की पुनः लूट।
१६७१	शिवाजी के पिता शाहजी की मृत्यु।
१६७२	अबुल हसन गोलकुंडा में कुतुबशाह बनता है। बीजापुर में अली आदिलशाह के बाद शिशु सिकन्दर का सिंहासन पर बैठना।

१६७२	मेवात में सतनामियों का विद्रोह।
१६७४	रायगढ़ में शिवाजी का राज्याभिषेक; बम्बई से हैनरी औक्सिंडन उसमें उपस्थित होता है।
१६७५	जसवन्तसिंह का काबुल को भेजा जाना। गुरु तेगबहादुर का वध। गुरु गोविन्दसिंह का उत्तराधिकारी होना।
१६७७	शिवाजी जिंजी को हस्तगत कर लेता है।
१६७८	जमरूद में जसवन्तसिंह की मृत्यु; अजीतसिंह तथा दुर्गादास का भागकर जोधपुर पहुँचना।
१६७९	औरंगज़ेब अजमेर में; मारवाड़ का दमन।
१६८०	उदयपुर में मन्दिरों का विध्वंस। रायगढ़ में शिवाजी का देहान्त।
१६८१	राजकुमार अकबर का भाग कर शम्भाजी के दरबार में पहुँचना। उदयपुर के जयसिंह से सन्धि।
१६८२	औरंगज़ेब का दक्खिन में आगमन; गोलकुण्डा पर आक्रमण।
१६८६	बीजापुर का साम्राज्य में मिलाया जाना।
१६८७	गोलकुण्डा पतन, अबुल हसन दौलताबाद के किले में बन्दी बनाकर रख दिया जाता है।
१६८८	इंगलैंड में गौरवपूर्ण क्रान्ति; स्टुअर्ट शासन का अन्त।
१६८९	शम्भाजी का पकड़ा जाना और वध।
१६९०	राजाराम का जिंजी को पलायन।
१६९८	आठ वर्ष के घेरे के उपरान्त मुग़ल सेनानायक, ज़ुल्फ़िकार खाँ द्वारा जिंजी पर अधिकार राजाराम का विशालगढ़ को पलायन।
१६९९–१७००	मुग़लों द्वारा सतारा का घेरा; सिंहगढ़ में राजाराम की मृत्यु।
१७०१–४	मिराज पर अधिकार तथा पुनः हाथ से निकल जाना। विशालगढ़, सिंहगढ़ पुरन्धर राजगढ़, तोर्णा आदि पर भी अधिकार।
१७०६	मराठों द्वारा गुजरात, खानदेश और मालवा का पदाक्रान्त होना। अजीतसिंह तथा दुर्गादास का औरंगज़ेब को समर्पण।
१७०७	अजीतसिंह तथा दुर्गादास द्वारा पुनः विद्रोह। अहमदनगर में औरंगज़ेब की मृत्यु; गृह-युद्ध तथा बहादुरशाह का राज्यारोहण। रानी एन की अधीनता में इंगलैंड तथा स्काटलैंड की एकता।

१७

साम्राज्य का सूर्यास्त

औरंगज़ेब के प्रताप का मध्याह्नकालीन तेज उसके जीवन के अन्तिम वर्षों में फीका पड़ गया। दक्खिन के लम्बे युद्धों में उसकी सेनाएँ मर-मिटीं और प्रतिष्ठा भी नष्ट होगई, और जैसे ही उसने मृत्यु की गोद में विश्राम लिया वैसे ही वे शक्तियाँ जिन्हें उसने अपने अद्भुत मानसिक वज्र से नियंत्रित कर रक्खा था और वे तत्व जो उसके प्रभुत्व के जुए से मुक्ति पाने के लिये संघर्ष कर रहे थे, दुर्दमनीय वेग के साथ उमड़ पड़े। हिन्दुस्तान में उसके शासन के समाप्त होने से पहले ही अराजकता छा गई थी और भावी विनाश के लक्षण प्रकट होने लगे थे। लेनपूल का कथन है कि "यदि औरंगज़ेब के उत्तराधिकारी में भी उसके जैसा ही मानसिक तथा नैतिक बल रहा होता, तब भी इसमें सन्देह है कि वह छिन्न-भिन्न होने की प्रक्रिया को रोक सकता। रोग इतना बढ़ चुका था कि अत्यधिक साहसपूर्ण शल्यक्रिया भी उसको अच्छा नहीं कर सकती थी।" किन्तु बहादुरशाह के शासन के पाँचः वर्षों में (१७०७—१७१२) स्थिति इतनी निराशाजनक न थी। जैसा कि कीनी ने लिखा है, "जिस प्रकार प्रथम आक्रमण (बाबर का) तथा पूर्ण वैभव (शाहजहाँ का) के बीच का युग संमेकन तथा संचय का था, उसी प्रकार वैभव तथा पतन के बीच का काल दुर्बलता और ह्रास का समय सिद्ध हुआ।.....यह स्वाभाविक ही था कि पहले तथा दूसरे युग के बीच के परिवर्तन की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई देती थी, और आज भी जब हम मुड़कर उस समय की घटनाओं पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें दोनों युगों के बीच उतार-चढ़ाव दिखाई देता है जैसा कि इन्द्रधनुष के रंगों में। यदि औरंगजेब के शासन-काल में पतन की प्रक्रिया न आरम्भ हुई होती तो देखने में वह पुनरुत्थान का युग प्रतीत होता; और उसकी मृत्यु के जो वृत्तान्त मिलते हैं उनसे स्पष्ट है कि अन्तिम समय उस स्वेच्छाचारी सम्राट के हृदय में साम्राज्य के भविष्य के विषय में किसी प्रकार की निराशा नहीं थी। और न औरंगज़ेब के उत्तराधिकारी का चरित्र अथवा स्थिति ही किसी प्रकार से ऐसी थी कि राज्य के उन हितैषियों के हृदयों में जो उसके बाद जीवित बच रहे थे, तुरन्त घबड़ाहट उत्पन्न हो जाती। सम्राट अब भी दरबार करता, फरियादें सुनता और तख्तताऊस पर बैठता था; और प्रायद्वीप के सभी प्रान्तों के शासक उसके करद थे, अथवा पदाधिकारी।"

फिर भी "सर्वत्र परिवर्तन के लक्षण दिखाई दे रहे थे।" इस शासन काल को साम्राज्य का सूर्यास्त कहना अनुचित न होगा; शाही वैभव का सूर्य अभी क्षितिज के नीचे नहीं उतरा था, और यद्यपि उसकी किरणें उतनी तीखी न थीं जितनी कि औरंगज़ेब के दिनों में, किन्तु उनमें एक अपना अनोखा आकर्षण था। यद्यपि इस वैभव का क्षणिक तेज वास्तविक सूर्यास्त के तेज की भाँति ही अस्थायी सिद्ध हुआ, किन्तु जिन लोगों ने उसके कोमल प्रकाश का आनन्द उठाया उनमें से बहुत कम ऐसे थे जिन्हें आने वाले अन्धकार का आभास मिल सका।

नये सम्राट का प्रारम्भिक जीवन—औरंगज़ेब के दूसरे पुत्र मुहम्मद मुअज़्ज़म को अपने पिता के जीवन-काल में शाह आलम की उपाधि मिल चुकी थी। उसका जन्म बुरहानपुर में ३० रजब १०५३ हि० (१४ अक्टूबर १६४३) को हुआ था। उसकी माँ काश्मीर के राजा राजौरी की पुत्री नवाब बाई थी। उसके बड़े सहोदर राजकुमार मुहम्मद सुल्तान की १४ दिसम्बर १६७६ को उन्तालीस वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो चुकी थी, इसलिये उसी को (शाहआलम को) युवराज नामनिर्देशित कर दिया गया था। बारह वर्ष तक (१६६७–७८) शाहआलम ने दक्खिन के सूबेदार के पद पर कार्य किया। १६७७ के अन्त में उसे उसके विद्रोही भाई अकबर (औरंगज़ेब का चौथा पुत्र; उसकी पटरानी दिलरस बानू से ११ सितम्बर १६५७ को औरंगाबाद में उत्पन्न) से लड़ने को भेजा गया। १६८३-८४ में उसने कोंकण युद्ध का संचालन किया, किन्तु निश्चित सफलता न मिली। उसके बाद उसे पहले बीजापुर और फिर गोलकुण्डा के विरुद्ध भेजा गया। ४ मार्च १६८७ को उसे गोलकुण्डा के शासक अबुल हसन से मिलकर षड्यन्त्र करने के सन्देह में बन्दी बनाकर कारागार में डाल दिया गया। २१ मई १६९५ को उसे मुक्त करके अकबराबाद का सूबेदार बनाकर भेजा गया। वहाँ से उसका काबुल के लिये स्थानान्तरण हुआ, और ४ जून १६९९ को वहाँ पहुँचा। आठ वर्ष तक उसने गरमी की ऋतु काबुल में और जाड़े की जलालाबाद अथवा पेशावर में अथवा देश का भ्रमण करने में बिताई।" जब वह जमरूद में डेरे डाले पड़ा था, उस समय २१ मार्च १७०७ को उसे १० दिन के बाद औरंगज़ेब की मृत्यु का समाचार मिला। उसके बाद सिंहासन के लिये दौड़ आरम्भ हुई जिसका यहाँ सविस्तार वर्णन करना आवश्यक नहीं है। मृत्यु शैया पर पड़े हुए औरंगज़ेब को भावी संघर्ष का आभास मिल गया था; उसे रोकने का उसने विफल प्रयत्न किया। पहले तो उसने अपनी वसीयत में निश्चित रूप से लिख दिया कि मेरी मृत्यु के बाद मेरे तीनों जीवित पुत्र साम्राज्य को आपस में बाँट लें, दूसरे, मृत्यु के समय उसने अपने पुत्रों को एक दूसरे से तथा अपने से दूर रखने का यत्न किया। सबसे बड़ा मुअज़्ज़म सुदूर काबुल में था। कामबख़्श तथा आज़म दोनों उसके निकट थे; उन्हें उसने क्रमशः बीजापुर तथा मालवा को जाने की आज्ञा दी और यहाँ तक कि समय और मार्ग के सम्बन्ध में निश्चित और कठोर आदेश जारी किये। किन्तु ये सब पूर्वोपाय विफल सिद्ध हुए। गृह-युद्ध अनिवार्य हो गया और अन्त में शाहआलम की विजय

हुई। १६ जून १७०७ को जाजू के युद्ध में राजकुमार आज़म परास्त हुआ और मारा गया। कामबख़्श ने दक्षिण में विद्रोह किये, और दो वर्ष उपरान्त (१७०९) उसकी भी वही गति हुई।

शाहआलम ने सिंहासन पर बैठने के समय बहादुरशाह की उपाधि धारण की। उसके शासन-काल में मुगलों के राजपूतों, मराठों और सिक्खों से जो सम्बन्ध रहे उन्हीं का अधिक महत्व है। यहाँ पर हम क्रमानुसार उनका पुनर्विलोकन किये देते हैं।

राजपूतों से सम्बन्ध—जब औरंगज़ेब अपने विद्रोही पुत्र अकबर का पीछा करता हुआ दक्खिन को गया, उस समय तक वह राजपूताना में स्थायी शान्ति स्थापित न कर पाया था। जब वह दक्खिन के युद्धों में संलग्न था, तब भी राठौरों के धावे और लूट-मार चलती रही। इर्वायन लिखते हैं, "जसवन्तसिंह की मृत्यु के उपरान्त जब आलमगीर ने विश्वासघात करके उसके पुत्र (अजीतसिंह) को पकड़ने का प्रयत्न किया उसी समय से राजपूत वंश जिनकी राजभक्ति का अकबर तथा उसके उत्तराधिकारी जहांगीर और शाहजहाँ ने सहिष्णुतापूर्ण नीति द्वारा बुद्धिमत्ता और चतुराई के साथ पोषण किया था, मुगलों के शत्रु बन गये। उनके उत्पीड़क आलमगीर की जैसे ही आँखें मुँदीं, वैसे ही अजीतसिंह ने अपने आदमियों को एकत्र किया और अपने छिपने के स्थान से निकल कर मुसलमानों पर टूट पड़ा तथा उन्हें जोधपुर से निकाल बाहर किया। नये सम्राट के पास उसने दूत भेजना भी आवश्यक नहीं समझा। यह स्थित थी जिसका बहादुरशाह को सामना करना पड़ा।"

राजपूत लोग 'अपने पितरों की भस्म तथा देवालयों के सम्मान की रक्षा के लिये भीषण से भीषण कठिनाइयों का सामना करने के लिये तैयार थे।' दूसरे शब्दों में उन्होंने जिज़या को हटवाने, पूजा-पाठ की स्वतन्त्रता और राजपूत जाति की स्वाधीनता के लिये संघर्ष किया। ख़ाफ़ीख़ाँ ने शाही दृष्टिकोण से स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है:—

११११९ के अन्त में सम्राट ने उदयपुर तथा जोधपुर के निकट राजपूतों को दण्ड देने के उद्देश्य से आगरा से प्रस्थान किया। अजमेर के प्रान्त तथा जोधपुर के निकटवर्ती परगनों के समाचारदाताओं से सम्राट को निम्नलिखित सूचना प्राप्त हुई।...... अजीतसिंह ने अपने को स्वर्गीय सम्राट के प्रभुत्व से मुक्त कर लिया था और अनेक अनुचित कार्य किये थे। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसने फिर अवज्ञा और विद्रोह का परिचय दिया और मुसलमानों का उत्पीड़न किया, गोवध को रोका, अज़ाँ बन्द करवाई, उन मस्जिदों को जो पूर्व शासन-काल में मन्दिरों को ध्वस्त करके बनवाई गई थीं, भूमिसात कर दिया और पुराने मन्दिरों की मरम्मत तथा नयों का निर्माण कराया। उसने उदयपुर के राणा की सेना को उत्साहपूर्वक सहायता दी, और अपने ससुर राजा जयसिंह से घनिष्ठ सम्बन्ध रक्खा। उसके विद्रोह की सीमा यहाँ तक पहुँच गई थी कि नये सम्राट के राज्यारोहण के

समय से वह दरबार में उपस्थित नहीं हुआ था। इस विद्रोही को तथा उसकी जाति वालों को दण्ड देने के लिये ८ शबन (नवम्बर १७०७) को सम्राट ने प्रस्थान किया और जयसिंह की जन्म भूमि अम्बेर के मार्ग से जो चित्तोड़ तथा अजमेर के बीच स्थित है आगे बढ़ा।'

उदयपुर के राणा अमरसिंह ने आने वाले संकट को टालने के लिये अपने भाई भक्तसिंह का सम्राट के लिए बधाई का पत्र, १०० स्वर्ण मुद्राएँ १००० रुपये दो सुनहरी वस्त्रों से विभूषित घोड़े, एक हाथी, नौ तलवारें, तथा अपने देश की अन्य वस्तुएँ देकर आगरा भेजा। जोधपुर को जो उपद्रवों का केन्द्र था, घेर लेने की आज्ञा दी गई; और कछवाहों की राजधानी अम्बेर को साम्राज्य में मिला लिया गया (जनवरी १७०८), किन्तु बाद में (अप्रैल १७०८) उसे राजा जयसिंह के छोटे भाई बिजयसिंह के सुपुर्द कर दिया गया। नये राजा को मिर्ज़ा राजा की उपाधि से विभूषित किया गया। इसी बीच में शाही सेना जोधपुर की ओर बढ़ती गई। किन्तु इसके बाद शीघ्र ही उदयपुर के राणा अमरसिंह के पलायन और कामबख्श के विद्रोह का समाचार मिला। दूसरी घटना का हम पहले उल्लेख कर आये हैं। मैर्टा के पतन के उपरान्त अजीतसिंह ने हथियार डाल दिये। १० मार्च तथा २१ अप्रैल १७०८ के बीच उसे 'महाराजा' की उपाधि और ३५०० ज़ात तथा ३००० सवार का पद, एक ध्वज, नगाड़ा आदि प्रदान किये गये और इसी प्रकार उसके चार पुत्रों को भी सम्मानित किया गया। 'जोधपुर की समस्या को इस प्रकार सन्तोषजनक रूप से हल करके सम्राट मैर्टा से पीछे की ओर मुड़ा और अजमेर को लौट गया।" राणा अमरसिंह के पास (जो भाग गया था) उसके भाई भक्तसिंह के द्वारा समुचित उपहार भेजे गये और पत्र लिखकर उन्हें आश्वासन दिया गया कि डरने की आवश्यकता नहीं, और अपने स्थान पर शान्तिपूर्वक बने रहो।

३० अप्रैल को जब कि सम्राट कामबख्श के विरुद्ध कूच कर रहा था, समाचार मिला कि महाराजा अजीतसिंह, राजा जयसिंह कछवाहा और दुर्गादास राठौर—जिन्हें शाही सेना का अनुगमन करने के लिये बाध्य किया गया था—भाग गये हैं। किन्तु परिस्थिति की गम्भीरता का ध्यान रखते हुए बहादुरशाह ने दक्खिन की समस्या से पहले निपटना ही अधिक अच्छा समझा। उत्तर में शाही पदाधिकारियों ने राजपूतों की सम्मिलित शक्ति का सामना करने के लिये जो भी उपाय किये वे विफल रहे। इसलिये कुछ समय के लिये बहादुरशाह ने शान्तिमय तथा प्रसन्न करने के तरीकों से काम लिया। एलफिन्स्टन ने उनका वर्णन इस प्रकार किया है:

अब वह कामबख्श के विरुद्ध कूच कर रहा था उस समय उसने राजपूतों से अपने झगड़े निपटाने का यत्न किया था उदयपुर के राणा से उसने एक समझौता कर लिया था, जिसके अनुसार उसके जीते हुए प्रदेश लौटा दिये गये धार्मिक मामले उसी रूप में ठीक ठाक कर दिये गये जैसे कि अकबर के समय में थे, राणा को दक्खिन के युद्ध के लिये सेनिक टुकड़ियाँ भेजने के भार से मुक्त कर दिया गया, और वास्तव में

'उसकी स्वधीनता पूर्णरूप से स्वीकार कर ली गई—केवल नाम के लिये वह दिल्ली के अधीन रह गया।' (टाड कृत 'राजस्थान' भाग १, पृष्ठ ३९५)।" जब बहादुरशाह कामबख्श को परास्त करके उत्तर को लौटा तो उसे एक नये सकट का—सिक्खों का विद्रोह—सामना करना पड़ा: एल्फिंस्टन के कथनानुसार "उनकी (राजपूतों की) सभी माँगें स्वीकार कर ली गईं और उन सब को उसी स्थिति में छोड़ दिया गया जिसमें उदयपुर का राणा था।"

मराठों से सम्बन्ध—बहादुरशाह के समय में मुगल-मराठा सम्बन्धों का महत्व मुख्यतया दो घटनाओं में था: (१) मुगलों की हिरासत से शाहू का मुक्त किया जाना; और (२) दक्खिन में मराठों के चौथ तथा सरदेशमुखी वसूल करने के दावे को शाही मान्यता मिलना। पहली घटना के सम्बन्ध में स्मिथ ने जो भूल की है उसे सुधार देना आवश्यक है। उनका कथन है कि "जुल्फिकार खाँ की सलाह मानकर बहादुरशाह ने शिवाजी के नाती शाहू (शिवाजी द्वितीय) को जिसकी शिक्षा-दीक्षा मुग़ल दरबार में हुई थी, मुक्त कर दिया और उसे उसके देश को जो उस समय ताराबाई के शासन में था, भेज दिया।"

शाहू बहादुरशाह की शिविर में नहीं था, बल्कि जिस समय औरंगजेब की मृत्यु हुई उस समय वह उसी के खेमे में था। आज़मशाह ने जब उत्तर की ओर राजधानी को कूच किया तो शाहू को वह अपने साथ लेता गया। उसको आज़म ने मई १७०७ में दोरहा नामक स्थान पर (नर्मदा के उत्तर में निमवर के निकट) जाजू के युद्ध से पहले मुक्त किया—निस्सन्देह जुल्फिकार खाँ की सलाह से। खाफीखाँ ने इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है:—

'जुल्फिकारखाँ नुसरत जग की शिवाजी के नाती शाहू से गहरी घनिष्ठता थी और उसके मामलों में उसको बहुत रुचि थी। अब उसने आजमशाह को इस बात के लिये फुसलाया कि शाहू को तथा उन अनेक व्यक्तियों को जो उसके मित्र और साथी हैं छोड़ दिया जाय। .... अनेक मराठा सरदार जिन्होंने आवश्यकता-वश कपटपूर्वक राजाराम की विधवा ताराबाई का साथ दिया था, अब आकर शाहू से मिल गये।'

राजाराम ने औरंगजेब से कहा था कि यदि शान्ति चाहते हो तो शाहू को छोड़ दो, किन्तु औरंगजेब ने उसे छोड़ने से इन्कार कर दिया था। अब परिस्थितियाँ बदल गई थीं और चतुराई तथा बुद्धिमानी इसी में थी कि उसे मुक्त कर दिया जाय। मराठा स्वतन्त्रता संग्राम की आत्मा ताराबई आखिरकार अपने ही पुत्र के उत्कर्ष के लिये संघर्ष कर रही थी। इसलिये साहू को छोड़ने का वास्तविक उद्देश्य था महाराष्ट्र को ग्रह-युद्ध की आग में झोंक देना। इस बात की बहुत आवश्यकता थी, क्योंकि मुगल राजकुमार तथा शाही सेनाएँ उस समय सिंहासन के लिये युद्ध में फँसी हुई थीं। इसलिये जुल्फिकारखाँ ने कहा, "बन्दी रहने की अपेक्षा मुक्त हो जाने पर शाहू मराठों के विरुद्ध अधिक शक्तिशाली हथियार सिद्ध होगा।" छोड़े जाने की शर्त यह रक्खी गई कि शाहू आजमशाह के सामन्त के

रूप में शासन करेगा। इसके अतिरिक्त उसने अपनी माता येसूबाई, अपनी पत्नी, अपनी रखैल विरूबाई और अपने सौतेले भाई मदनसिंह को बन्धक के रूप में अपने पीछे छोड़ जाना भी स्वीकार कर लिया। उधर आजमशाह ने शाहू को दक्खिन के छः सूबों से (खानदेश, बरार, औरङ्गाबाद, बीदर हैदराबाद अथवा गोलकुण्डा तथा बीजापुर) चौथ तथा सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्रदान किया। शाहू को सद्व्यवहार पर्यन्त गोंडवाना, गुजरात और तंजोर का सूबेदार भी नियुक्त किया गया।" जब बहादुरशाह सिंहासन पर बैठा तो शाहू ने अपना वकील रायभानजी भोंसला शाही दरबार में सम्मान प्रकट करने के लिये भेजा; और नये सम्राट ने उसे अपने पद पर स्थायी कर दिया और दस हजार सवार का मनसबदार नियुक्त किया। किन्तु ताराबाई ने शाहू की वैधता और दावों का शाही दरबार के समक्ष प्रतिवाद किया और मुनीमखाँ के द्वारा 'अपने पुत्र के नाम में फर्मान की माँग की तथा सरदेशमुखी के नौ रुपये (प्रतिशत) माँगे और उसके बदले में अन्य विद्रोहियों का दमन करने तथा देश में व्यवस्था कायम रखने का वचन दिया किन्तु चौथ का कोई उल्लेख नहीं किया गया। जुल्फिकारखाँ ने राजा शाहू का पक्ष लिया, और इस प्रश्न को लेकर दोनों मन्त्रियों में भारी वादविवाद उठ खड़ा हुआ। सम्राट का स्वभाव बहुत ही अच्छा था, इसलिये उसने संकल्प कर लिया था कि मैं किसी की भी प्रार्थना को अस्वीकार नहीं करूँगा चाहे वह नीचा हो और चाहे उच्चकोटि का। वादियों और प्रतिवादियों ने सम्राट के समक्ष अपना अपना दृष्टिकोण रक्खा, और यद्यपि उनमें प्रात काल और सन्ध्या का अन्तर था फिर भी दोनों स्वीकार कर लिये गये और स्वीकृति का फर्मान भी जारी कर दिया गया। सरदेशमुखी के मामले में मुनीमखाँ और जुल्फिकारखाँ दोनों की ही प्रार्थना के अनुसार फर्मान दे दिये गये, किन्तु उन दोनों मन्त्रियों के झगड़े के फलस्वरूप इस आज्ञा को कार्यान्वित न किया जा सका।

सिक्खों से सम्बन्ध—पिछले अध्याय में हम दसवें गुरु गोविन्दसिंह तक सिक्खों के इतिहास का वर्णन कर आये हैं गोविन्दसिंह ने सामरिक अथवा अन्य किसी कारण से बहादुरशाह की जिस समय वह अपने विद्रोही भाइयों से संघर्ष कर रहा था, अधीनता स्वीकार कर ली। गुरु का वध किन्हीं भी परिस्थितियों में हुआ हो, इतना निश्चित है कि उन्होंने 'गौरैया को बाज पर प्रहार करना' भली भाँति सिखा दिया था; 'उन्होंने विजित लोगों की सुषुप्त शक्तियों को प्रभावोत्पादक रूप में जागृत कर दिया था और उनमें सामाजिक स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीय उत्कर्ष की उच्च भावना भर दी थी; ये आदर्श गुरु नानक द्वारा प्रतिपादित धर्म की शुद्धता के आवश्यक अङ्ग थे' मुगलों के विरुद्ध संघर्ष में उनके सभी बेटे मारे गए थे, और १७०८ में अपनी मृत्यु के समय उन्होंने खालसा को अमर ईश्वर की शरण में छोड़ दिया। अपने अनुयायियों को उन्होंने उपदेश दिया: "जो कोई गुरु के दर्शन करना चाहता है उस नानक के ग्रन्थ का अनुशीलन करना चाहिये। गुरु का निवास खालसा में होगा दृढ़संकल्प

तथा कर्तव्यपरायण बनो : जहाँ कहीं भी पाँच सिक्ख एकत्र होंगे, वहाँ मैं भी उपस्थित रहूँगा।"

इसके उपरान्त सिक्खों का नेतृत्व एक साहसिक ने किया जिसकी उत्पत्ति और व्यक्तित्व का विषय विवादग्रस्त है। इर्विन लिखते हैं, "गोविन्द की मृत्यु के बाद उनके परिवार तथा साथियों ने एक ऐसा व्यक्ति लाकर उपस्थित किया जिसकी आकृति स्वर्गीय गुरु से पूर्णतया मिलती थी। यह व्यक्ति कौन था? यह स्पष्ट नहीं है; सामान्यतया उसे बन्दा (गुलाम) अथवा 'झूठा गुरु' कह कर पुकारा जाता है।••• कुछ लोगों का कहना है कि वह वैरागी फकीर था •••••••"जो कई वर्ष से गुरु गोविन्द का घनिष्ठ मित्र था।" इस व्यक्ति की उत्पत्ति तथा वंश के विषय में कुछ भी सत्य रहा हो, अब 'उसे गुप्त रूप से दक्खिन से हिन्दुस्तान को भेज दिया गया। उसी समय पंजाब को पत्र लिख कर सिक्खों को सूचना दी गई कि गुरु को सम्राट के खेमे में एक अफगान ने कटार भोंक कर मार डाला है। किन्तु मृत्यु से पहले गुरु ने घोषणा की थी कि मेरा पुनर्जन्म होगा और मैं प्रभुत्व धारण करके शीघ्र ही प्रगट होऊँगा; और जहाँ कहीं मैं स्वतन्त्रता का झंडा उठाऊँ वे मेरे साथ आ मिलें और इस जन्म में समृद्धि तथा दूसरे में मुक्ति प्राप्त करें।"

बन्दा ने साम्राज्य की उपद्रवग्रस्त स्थिति से लाभ उठाया और शीघ्र ही पंजाब में और विशेषकर सरहिन्द में मुसलमानों के लिये आतङ्क का कारण बन गया। इस विद्रोह से साम्राज्य के मर्मस्थल के लिये ही संकट उपस्थित हो गया; इसी को कुचलने के लिये ही बहादुरशाह ने राजपूतों के विरुद्ध लड़ाई बन्द कर दी और शीघ्रता से उत्तर की ओर चल पड़ा। शाही अधिकारियों ने इस रोबिनहुड को पकड़ने के लिये अनेक यत्न किये, किन्तु उन्हें सफलता न मिली। बहादुरशाह के जीवन-काल में बन्दा को न पकड़ा जा सका। अशक्त सम्राट ने खानखाना पर अपना क्रोध उतारा। सिक्ख नेता की खोज में पागल होकर सम्राट ने आज्ञा जारी की कि सेना में, दरबार तथा सरकारी कार्यालयों में जितने खत्री और जाट हैं, वे सब अपनी-अपनी दाढ़ियाँ मुड़ा डालें। 'उनमें से अनेक को बाध्य होकर यह अपमान सहना पड़ा, और कुछ दिनों तक नाइयों को बहुत व्यस्त रहना पड़ा। कुछ सम्माननीय तथा उच्च स्थिति के लोगों ने अपनी दाढ़ियों के सम्मान की रक्षा के लिये आत्महत्या कर ली।'

बहादुरशाह की मृत्यु के बाद अराजकता के युग में सिक्खों की शक्ति बढ़ती गई। बन्दा फर्रुखसियर के राज्यारोहण के उपरान्त १७१६ में जाकर वहीं पकड़ा जा सका।

परिणाम—बहादुरशाह अन्तिम सम्राट था जिसके समय में महान मुगलों का वैभव देखने को मिलता था। उसके बाद साम्राज्य का रात्रिकाल आरम्भ

हो गया और परिणामस्वरूप सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता फैल गई। बहादुरशाह ने पाँच वर्ष से भी कम शासन किया; किन्तु इस अल्पकाल में भी उसने कम से कम वैदेशिक सम्बन्धों में अपने पिता से कहीं अधिक राजनीतिज्ञता का परिचय दिया। राजपूतों और मराठों के साथ उसका व्यवहार औरङ्गजेब के से निश्चय ही अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण था। उसने गुरु गोविन्द को अपना मित्र बना लिया था, औरङ्गजेब भी यदि चतुर रहा होता तो शिवाजी को अपना मित्र और समर्थक बना लेता। यह कल्पना करना व्यर्थ है कि यदि वह बन्दा को पकड़ पाता तो उसके साथ कैसा बर्ताव करता। किन्तु वह बूढ़ा हो चुका था और वार्धक्य जनित दुर्बलता के लक्षण दिखाई देने लगे थे; अन्यथा शाह आलम का शासन बुद्धिमत्तापूर्ण और उदार था जैसा कि अकबर महान के वंशज का होना चाहिये था। किन्तु जैसे ही उसकी अवस्था बढ़ती गई वैसे ही ये गुण दुर्बलता में परिणत होते गये। १८ फरवरी १७११ को उसके ७० वर्ष पूरे हो गये, उसी समय उसमें महान परिवर्तन दिखाई देने लगा और कुछ ही समय बाद उसका देहान्त हो गया। दिल्ली से चार पाँच कोस की दूरी पर कुतुबुद्दीन की कब्र के निकट उसे दफना दिया गया। मृत्यु के समय वह चार वर्ष और दो माह शासन कर पाया था। उसे उत्तराधिकार में १३ लाख रुपये का कोष मिला था, किन्तु चार वर्ष बीतते ही वह सब समाप्त हो गया। उसके शासन काल में साम्राज्य की आय इतनी नहीं थी कि पूरा खर्च चल सकता, इसलिये सरकारी व्यय में बहुत मितव्ययता से काम लिया गया और विशेष कर शाही परिवार के खर्च में। यहाँ तक कि प्रतिदिन राजकुमार अजीमुश्शान के कोष से रुपया आता तब कहीं काम चल पाता।

बहादुरशाह के अधीन कुछ ऐसे योग्य पदाधिकारी थे जो किसी भी युग में ख्याति प्राप्त कर सकते थे। उनमें प्रधान मंत्री मुनीमखाँ अग्रगण्य था; उसी की सहायता से बहादुरशाह विजयी होकर सिंहासन पर बैठा था। गाजीउद्दीन फीरोज जङ्ग भी उतना ही पुराना और विश्वस्त था। दक्खिन में उसका बहुत प्रभाव था और वह तूरानी मुगलों का नेता था। '' वह बहुत ही अनुभवी और योग्य राजनीतिज्ञ था और अन्धा होने पर भी लोगों के विचारों को स्पष्ट रूप से समझ सकता था।' जब दक्खिन का भार जुल्फिकार खाँ ने संभाला, तो उसे अहमदाबाद को स्थानान्तरित कर दिया गया और वहीं उसकी मृत्यु हो गई। वह विशेष रूप से स्मरणीय अपने अधिक प्रसिद्ध पुत्र चिनकिलिचखाँ के कारण है जो आगे चलकर निजामुल्मुल्क के नाम से विख्यात हुआ और जिसने वर्तमान हैदराबाद राज्य की नींव डाली। 'सियर-उल मुताखरीन' में अन्य महत्वपूर्ण अमीरों का वृत्तान्त दिया हुआ है और यह भी बताया गया है कि किस प्रकार कभी कभी सम्राट का भला स्वभाव मूढ़ता की सीमाओं तक पहुँच जाया करता था।

'महासेनापति जुल्फिकारखाँ को अमीर उल उमरा की उपाधि से सम्मानित किया गया और दक्खिन की सूबेदारी उसे सौंप दी गई। दक्खिन में वे सभी प्रान्त सम्मिलित थे जो

उस समय तक जीते जा चुके थे और जो आगे जीते जाने को थे। यह भार बहुत ही महत्व-पूर्ण था और उसे वहन करने के लिये वह सर्वथा योग्य था, क्योंकि उस समय अन्य कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो इतने नये जीते हुए और इतने उद्दण्ड प्रदेशों पर शासन कर सकता। नये सूबेदार ने अपनी सरकार के सैनिक तथा आर्थिक मामलों की समुचित व्यवस्था की और फिर दरबार को लौट गया, अपने सहायक के रूप में उसने दाऊदखाँ पैनी नामक एक अफगान को नियुक्त किया, उन प्रदेशों में दाऊद अपने धन, शारीरिक बल तथा व्यक्तिगत पराक्रम के लिये बहुत प्रसिद्ध था, और उसने इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था कि दक्खिन में कोई भी अमीर उसकी तुलना नहीं कर सकता था। राजनैतिक मामलों का तथा वित्त-विभाग का वह अधिनायक बना दिया गया था, और उसे अपनी बुद्धि के अनुसार सैनिक कार्यवाहियाँ करने की भी पूर्ण स्वतन्त्रता थी। जब जुल्फिकार खाँ का मस्तिष्क इतने भारी बोझ से निश्चिन्त हो गया तो वह जाकर दरबार में उपस्थित हुआ, और फिर साम्राज्य के सभी भागों में व्यवस्था स्थापित करने के कार्य में सहायता देने में संलग्न हो गया।

'बंगाल, उडीसा, अजीमाबाद (पटना) और इलाहाबाद के प्रान्तों पर अब तक सम्राट का दूसरा पुत्र अजीमुश-शान शासन करता आया था और यह उचित समझा गया कि उन प्रदेशों को उसी के अधिकार मे रहने दिया जाय, राजकुमार को यह भी शक्ति दे दी गई कि वह उन दो अमीरों को जिन्होंने बहुत सेवा की थी और जिन्होने अचेराबाद (जाजू) के युद्ध में विशेष ख्याति प्राप्ति की थी, भली-भाँति पुरस्कृत करे। वे सय्यद अब्दुल्लाखाँ और सय्यद हुसैन अली खाँ थे। उनका पिता सैय्यद अब्दुल्ला खाँ अजमेर में मियाँ खाँ के नाम से बहुत प्रतिष्ठित था। बडे अब्दुल्ला खाँ को उसने इलाहाबाद की सरकार सौंप दी और छोटे हुसैन अली खाँ को अज़ीमाबाद (पटना) की।* उसी समय जफरखाँ को बंगाल और उड़ीसा की सूबेदारी दे दी गई जहाँ उस समय तक वह दीवान के पद पर कार्य करता आया था। यह व्यवस्था करने के उपरान्त राजकुमार अपने पिता के दरबार में रहने लगा, और वहाँ उसका बहुत प्रभाव था।'

दुर्भाग्यवश बहादुरशाह के अतिशय भले स्वभाव के कारण इन योग्य व्यक्तियों की सेवाओं का अधिक फल नही हुआ। 'सियर उल मुताखरीन' का रचियता आगे लिखता है कि 'सम्राट का स्वभाव अत्यधिक भला था और उसकी कोमलता एक दोष बन गई थी; एक बार उसने सृष्टि के रचयिता ईश्वर के समक्ष व्रत लिया था कि यदि मै कभी सिंहासन पर बैठा तो कभी किसी की प्रार्थना नही ठुकराऊँगा; उसे यह प्रतिज्ञा याद थी और अब वह अक्षरशः उसका पालन करना चाहता था; तदनुसार उसने प्रतिष्ठा, उपाधियाँ और नौकरियाँ अन्धाधुन्ध बाँटना आरम्भ कर दिया, परिणामस्वरूप उनका महत्व जाता रहा और लोगों ने उन्हें सम्मान अथवा विशिष्टता का चिन्ह मानना बन्द कर दिया।' गुलाम हुसैन लिखता है कि

* ये ही दोनों सय्यद भाइयों के नाम से विख्यात हुए।

'उदाहरण के लिये, एक व्यक्ति ने जो कुत्तों की देखभाल किया करता था, एक उपाधि के लिये प्रार्थना की; सम्राट ने अपनी निजी आज्ञा से उसे उपाधि देकर सम्मानित किया। —और इसलिये वह सामन्त श्वानपालक के नाम से विख्यात हो गया और जब वह सड़कों से गुजरता तो लोग उसकी ओर इशारा करके कहते 'यह श्रीमान सामन्त श्वानपालक आ रहे हैं।" अन्त में उस बेचारे ने लोगों को रुपया दिया जिससे मार्ग में वे उसे तंग न करें, किन्तु इसका कोई फल नहीं हुआ।' ईसाइयों तथा यूरोपीय लोगों के साथ बहादुरशाह का व्यवहार उसके उदार दृष्टिकोण के अनुरूप ही था। धर्मान्ध औरंगजेब ने भी यूरोपीय लोगों का धर्म के नाम पर उत्पीड़न नहीं किया था। १६७९ में जब गैर मुसलमानों पर जिजया लगाया गया तो पादरियों ने सम्राट से निवेदन किया। "जैसुइट पादरियों ने नगर के प्रभावशाली व्यक्तियों से भेंट की और अपने आवेदन को सफल बनाने के लिये यूरोप की विचित्र वस्तुएँ उन्हें भेंट स्वरूप समर्पित कीं। अपने प्रयत्नों में उन्हें इतनी सफलता तो मिल गई कि आगरा के स्थानीय अधिकारियों ने बकाया सहित सब कर माफ कर दिया, किन्तु उचित रूप में रियायत प्राप्त करने के लिये गोआ के सूबेदार को स्वयं औरंगजेब के समक्ष निवेदन करने की सलाह दी गई।" इस उद्देश्य से १६८६ में फादर मैगेलहीन को भेजा गया और सम्राट ने "यह प्रार्थना स्वीकार कर कि वी साम्राज्य भर में ईसाइयों को जिजया से मुक्त कर दिया जाय।" किन्तु ईसाइयों से सहानुभूति न रखने वाले अधिकारियों ने इस आज्ञा पर पूर्णरूप से व्यवहार नहीं किया, लेकिन जब बहादुर शाह १७०७ में सिंहासन पर बैठा तो उसने विशेष व्यक्तियों जो छूट मिलती आई थी उसे जारी रक्खा। "इसी प्रकार १७१८ में फर्रुखसियर ने और १७२६ में मुहम्मदशाह ने पादरियों को इस आधार पर छूट दे दी कि वे ईसाई सन्त थे। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि समस्त ईसाई समुदाय को सामान्य रूप में जिजया से मुक्त कर दिया गया था।" १७११ ई० में डच ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बहादुरशाह के दरबार में एक शिष्ट मंडल भेजा। किन्तु इससे पहले कि उसे कोई सफलता मिल सकती, सम्राट का देहावसान हो गया। पुनः गृह युद्ध छिड़ गया और अपनी सुरक्षा के लिये डच लोग वापिस चले गये।

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्

१७०७ शाहु का लौट कर महाराष्ट्र पहुँचना, फोर्ट विलियम मद्रास से स्वतन्त्र कर दिया गया।

१७०८–९ कामबख्श का विद्रोह, तथा उसकी मृत्यु। नान्देर में गुरु गोविन्दसिंह

की हत्या। बन्दा के नेतृत्व में सिक्खों का विद्रोह (१७०८ १६)। राजपूताना के साथ शान्ति स्थापना।

१७०९ खुलवा विद्रोह। शाहू का बहादुरशाह से समझौता। जैसुइटों द्वारा पांडुचरी के हिन्दू मन्दिर का विध्वंस।

१७११–१२ बहादुरशाह के दरबार में डच दूत मण्डल।

१७१२ बहादुरशाह की मृत्यु; उत्तराधिकार युद्ध; जहाँदारशाह का राज्यारोहण।

१८

साम्राज्य का रात्रिकाल

मुग़ल सम्राटों के व्यक्तिगत चरित्र में भिन्नता होते हुए भी साम्राज्य के इतिहास में जिसका हम पिछले पृष्ठों में वर्णन कर आये हैं, अपना एक निजी एकता थी। बाबर तथा हुमायूँ को छोड़ दीजिये, उनका काम तो मार्ग तैयार करना था। जैसा कि स्मिथ ने लिखा है "साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक अकबर सच्चे अर्थ में एक महापुरुष था, और यद्यपि उसमें दोष थे, फिर भी उसने अपने पैंतालीस वर्ष के निजी शासन में एक ऐसी सुदृढ़ व्यवस्था स्थापित कर दी जो जहाँगीर के बाईस वर्ष के दुर्बल शासन के बावजूद कायम रही। शाहजहाँ कठोर तथा निर्मम व्यक्ति था; उसने भी तीस वर्ष तक दृढ़ता के साथ शासन की बागडोर अपने हाथों में रक्खी। उसके बाद औरंगज़ेब आया, उसने भी लगभग आधी शताब्दी तक शासन व्यवस्था को काम चलाऊ स्थिति में बनाये रक्खा। इस प्रकार एक के बाद एक चार सम्राटों ने डेढ़ शताब्दी तक (१५६०–१७०७) साम्राज्य की रक्षा की; उनके शासन काल का औसत चौतीस (सैंतीस ?) वर्ष था जो एक असाधारण बात थी। उनमें सबसे दुर्बल जहाँगीर भी मूर्ख नहीं था। शेष तीन असाधारण योग्यता के व्यक्ति थे।" अपने पूर्वजों की तुलना में बहादुरशाह भी बहुत बुरा नहीं था सिवाय इसके कि उसका शासन-काल बहुत छोटा था। किन्तु इसके लिये उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उसके उत्तराधिकारी निश्चय ही घटिया साँचे में ढले और घटिया धातु के बने थे। इसलिये आश्चर्य की बात नहीं कि "जब उसके शरीर से श्वास निकल गई", तो भारत में तिमूर के वंशजों में कोई ऐसा न बचा "जो राज्य के पोत को जो चट्टानों के बीच लुढ़क रहा था, पतवार सँभाल सकता।" जिन पतित अभागों ने "अकबर के सिंहासन को अपवित्र किया", उनका यहाँ उल्लेख मात्र कर देना पर्याप्त होगा। शेष इतिहास महान् मुग़लों द्वारा निर्मित तथा पोषित उस वैभव सम्पन्न साम्राज्य के छिन्न भिन्न होने की कहानी मात्र है। भविष्य में इतिहास का निर्माण बाबर के वंशजों ने नहीं, बल्कि उनके प्रतिद्वन्द्वियों और शत्रुओं ने किया। परवर्ती मुग़लों का विवरण इस प्रकार है :—

निकम्मे मुगल सम्राट

(१) जहाँदार शाह (१७१२–१३) ; (२) फर्रुखसियर (१७१३–१६) ; (३) रफीउद्दाराजात, नैकू-सियर, और रफीउद्दौला (१७१६) ; (४) मुहम्मदशाह [और सुलतान इब्राहीम—शाहजहाँ सानी द्वितीय—१७२०] (१७१६–४८) ; (५) अहमदशाह (१७४८–५४) ; (६) आलमगीर द्वितीय (१७५४–६) ; शाहआलम द्वितीय (१७५६–१८०६), अकबर द्वितीय (१८०६–३७), बहादुरशाह द्वितीय (१८३७–५७) ।

'तारीखे-हिन्दी' का रचयिता रुस्तम अली लिखता है, "इस विश्व-उद्यान का वैभव तथा प्रसन्नता और इस पृथ्वी की हरियाली तथा फलना-फूलना राजाओं के न्याय तथा समभाव रूपी सरिता के बहाव पर निर्भर रहता है, उसी प्रकार इस संसार के वृक्षों के मुरझाने का मुख्य कारण है शासकों की उपेक्षा तथा असावधानी और भले अमीरों की पारस्परिक कलह रूपी गर्म हवाएँ।' वह आगे कहता है कि इसी के परिणामस्वरूप 'थोड़े ही समय में इस राज्य के अनेक अधिकारियों ने सम्राट की आज्ञा पालन करने का मार्ग त्याग दिया और अनेक काफिरों, विद्रोहियों, अत्याचारियों और शत्रुओं ने दुर्बल जागीरदारों और गरीब रैयत को लूट-खसोट और शोषण आरम्भ कर दिया। देश में भयंकर उपद्रव उठ खड़े हुए।'

इन उपद्रवों का रूप क्या था ? इसकी समीक्षा करने से पहले सम्राटों के चरित्र और आचरण पर दृष्टिपात करना अधिक लाभदायक होगा। उत्तराधिकार युद्ध दोनों ही युगों की विशेषता थे ; किन्तु महान तथा परवर्ती मुगलों में अन्तर यह था कि औरंगजेब की मृत्यु से पहले के सम्राटों की संख्या कम और शासन-अवधि अधिक थी, और बाद में संख्या अधिक तथा अवधि बहुत कम। १५२६ से १७०७ तक लगभग दो शताब्दियों में तिमूर के वंश में केवल छः शासक हुए। इसके विपरीत औरंगजेब के देहावसान से पानीपत के तृतीय युद्ध तक आधी शताब्दी से तनिक अधिक काल (१७०७–६१) में उस वंश के कम-से कम दस सदस्यों ने मुकुट धारण किया। लगभग सभी की आयु कम हुई। जहाँदारशाह तथा फर्रुखसियर को गला घोंट कर मार डाला गया, रफीउद्दाराजात तथा नैकूसियर कुछ सप्ताह के "शासन" के बाद कारागार में मर गये। रफीउद्दौला की राज्याभिषेक के तीन महीने के भीतर ही मानसिक तथा शारीरिक रोगों से मृत्यु होगई। मुहम्मदशाह ने इन सब से अधिक राज्य किया और 'स्वाभाविक' मृत्यु से मरा, किन्तु उसका शरीर अतिशय अफीम खाने तथा दुराचरण से जर्जरित हो गया था। सुलतान इब्राहीम (शाहजहाँ द्वितीय) केवल कुछ दिनों के लिये ही सम्राट घोषित किया गया। अहमदशाह को अपदस्थ करके कारागार में डाल दिया गया और फिर अन्धा कर दिया गया, आलमगीर द्वितीय की हत्या की गई और शाहआलम द्वितीय को अपमानित करके राजधानी से भगा दिया गया। 'सम्राटों' पर टूटने वाली इन विपत्तियों का उत्तरदायित्व उन्हीं के चरित्र पर था।

बहादुरशाह अपने पीछे सिंहासन के लिये संघर्ष करने को चार पुत्र छोड़ गया। इरादतखाँ ने उनका निम्नांकित वृत्तान्त छोड़ा है —

(१) 'सबसे बड़ा मुईजुद्दीन जहाँदारशाह दुर्बल व्यक्ति था। आमोद प्रमोद में उसकी विशेष रुचि थी। राजकाज के सम्बन्ध में उसने अपने को किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया और न अमीरों को स्वामिभक्त बनाये रखने का ही प्रयत्न किया। (२) दूसरा पुत्र अजीमुश्शान आकर्षक व्यक्तित्व का राजनीतिज्ञ था।' (वह बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा का सूबेदार था, गत युद्ध (जाजू के) में उसने महान सेवा की थी। फिर भी उसका पिता उस पर सन्देह करता था और अपना प्रतिद्वन्द्वी समझ कर उससे डरता था किन्तु यहाँ पर इसके कारणों का वर्णन करना निरर्थक होगा। (३) रफीउश्शान अपने पिता का नित्य साथी तथा विशेष कृपापात्र था। उसकी बुद्धि तीव्र थी। धार्मिक शिक्षा में वह पारंगत और अच्छा लेखक था। उसका कानून सम्बन्धी ज्ञान भी अच्छा था; किन्तु साथ ही साथ वह विषयानुरागी था। विशेषकर संगीत तथा दरबारी तड़क भड़क का उसे विशेष शौक था। राजकाज में वह तनिक भी ध्यान न देता था यहाँ तक कि अपने घरेलू मामलों की भी उसे चिन्ता न थी। (४) खुजिस्ता अख्तर जहाँ शाह चौथा पुत्र था। पिता के सिंहासन पर बैठने से पहले राजकुमारों में उसीने सबसे अधिक राज्य प्रबन्ध में भाग लिया था, और बाद में भी साम्राज्य के सम्पूर्ण प्रशासन पर उसका प्रभाव था। मुनीमखाँ से उसका अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध तथा मित्रता थी और उसी की सिफारिश से वह वजीर नियुक्त हुआ।

पूर्वोक्त चार राजकुमारों में जो उत्तराधिकार युद्ध चला, उसका यहाँ सविस्तार वर्णन करना व्यर्थ होगा। जहाँदारशाह की उसमें विजय हुई।

जहाँदारशाह— अपने तीनों भाइयों से छुटकारा पाकर जहाँदारशाह हिन्दुस्तान का सम्राट बन गया। उसने जहाँशाह के दो पुत्रों, मुहम्मद करीम और हुमायूँ बख्त को तथा रफी उश्शान के पुत्रों को दिल्ली के किले में भिजवा दिया। 'मनसबदारों तथा अन्य अमीरों को जिनकी संख्या बीस थी हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ पहना दी गईं, और कुछ को शिकंजों में कसा गया तथा अन्य यातनाएँ दी गईं। उनके मकानों पर भी अधिकार कर लिया गया। (मुहम्मद करीम ने भागने का प्रयत्न किया इसलिये उसका वध कर दिया गया)।

जहाँदारशाह के अल्प शासन काल में हिंसा तथा व्यभिचार का बोलबाला रहा। इस काल में भाटों, गवैयों, नाचने वालों और नटों की बन बनी। ऐसा लगने लगा कि काजी और मुफ्ती भी पियक्कड़ बन जायगी। लाल कुँवर के सब भाइयों और दूर तथा निकट के संबंधियों को चार चार पाँच पाँच हजार के मनसब, और हाथियों, नगाड़ों तथा रत्नों के उपहार प्रदान किये गये और अपनी जातिवालों में उन्हें उच्च प्रतिष्ठा मिल गई। योग्य प्रतिभा शाली तथा विद्वान लोगों को भगा दिया गया, और निर्भीक तथा उद्दंड लोग और कपोल कथाएँ गढ़ने वाले चारों ओर दृष्टगत हो गये। जैसा कि खफीखाँ ने कहा, 'बाज के घोंसले में उल्लू रहने लगा और बुलबुल का स्थान कौए ने ले लिया।' दरबारी खेल-तमाशों क

चारों ओर बदनामी फैल गई और लोगों के दिलों में सम्राट का सम्मान तथा भय जाता रहा।

जब दिल्ली में केन्द्रीय सरकार इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो रही और अव्यवस्था का शिकार बन रही थी, उसी समय सिंहासन के लिये एक नया दावेदार उठ खड़ा हुआ। उसका नाम फर्रुखसियर था और वह स्वर्गीय अज़ीमुश्शान का दूसरा (किन्तु जीवित पुत्रों में सबसे बड़ा) पुत्र था।

फर्रुखसियर—जब बहादुरशाह ने अज़ीमुश्शान को अपनी सहायता के लिये बुलाया था तो वह बंगाल का भार फर्रुखसियर पर छोड़ कर चला आया था (१७०७)। जब बहादुरशाह मर गया तो फर्रुखसियर ने तुरन्त ही अपने पिता अज़ीम को सम्राट घोषित कर दिया (मार्च १७१२)। किन्तु जब अप्रैल १७१२ में उसने अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुना तो बहुत हतोत्साह हुआ और आत्महत्या तक का विचार किया। किन्तु उसकी माता ने उसे रोक लिया और और कहा कि 'यदि तुमने तूफानी समुद्र में अपनी नौका छोड़ दी तो ईश्वर की कृपा होने पर वह सुरक्षापूर्वक तट पर पहुँच जायगी। आखिर जीवन चार दिन के खेल के अतिरिक्त और क्या है? इसलिये संकट का सामना करने से क्यों डरते हो?' तब फर्रुखसियर को कुछ साहस बँधा, और उसने अपने को सम्राट घोषित कर दिया, सामान्य रस्म-रिवाज पूरे किये, खुतबा पढ़वाया, और अपने नाम के सिक्के ढलवाये। गृह युद्ध आरम्भ हो गया जिसने जहाँदारशाह का दु:खद अन्त कर दिया। फर्रुखसियर की विजय का मुख्य कारण अब्दुल्लाखाँ तथा हुसैन अली खाँ नामक सैयद भाइयों की सहायता थी। जहाँदार परास्त हुआ, कारागार में डाल दिया गया और अन्त में फरवरी १७१३ में उसकी हत्या कर दी गई।

'चूँकि उसके प्राण एक दम नहीं निकले, इसलिये एक मुगल ने उसके मर्मस्थलों में भारी एँड़ियों के जूतों से कई बार ठोकरें मारीं और काम तमाम कर दिया। ...इसके बाद उसका शरीर एक खुली पालकी (मियाने) में और सिर एक थाल (ख्वान) में डाल दिया गया। आधा घंटा रात बीते वे उस निर्जीव सिर तथा धड़ को लेकर शिविर में पहुँचे और उन्हें सम्राट फर्रुखसियर के तम्बू के द्वार पर जुल्फिकार खाँ के शव के पास (उसको भी उसी दिन मृत्यु दण्ड दिया गया था) रख दिया।

जहाँदार शाह का (यही नाम—विश्व का सम्राट—उसके सिक्कों पर खुदा हुआ मिलता है) इस प्रकार अन्त हुआ। इर्विन ने लिखा है कि "तिमूर के वंश में वह पहला सम्राट था जो शासन-कार्य के लिये पूर्णतया अयोग्य निकला।"

ऊपर वर्णित घटनाओं से नये सम्राट तथा उसके शासन का अच्छा परिचय मिलता है। खाफी खाँ लिखता है:—

'फर्रुखसियर में अपनी इच्छा शक्ति नहीं थी। वह जवान था, राजकाज का उसे कोई अनुभव न था, और न उसने उसकी ओर ध्यान दिया। वह बंगाल में अपने दादा तथा पिता से बहुत दूर रह कर सयाना हुआ था। वह पूर्णतया दूसरों की राय पर निर्भर रहता

था क्योंकि न तो उसमें संकल्प ही था और न विवेक। भाग्य की सहायता से मुकुट उसके हाथ लग गया था। उसके चरित्र की मौलिकता तिमूर के वंशजों की शक्ति के सर्वथा विपरीत थी। चालाक लोगों की बात सुनने में वह सावधानी से काम न लेता था। अपने शासन के प्रारम्भ से ही उसने अपने ऊपर विपत्तियाँ बुला ली। सिंहासन पर बैठते ही उसने बड़ा के एक सयद सैयद अब्दुल्ला को अपना वजीर नियुक्त किया यह उसकी सारी भूल थी।

अपनी दुर्बलता तथा मूर्खता के फलस्वरूप फर्रुखसियर को सिंहासन से हटा कर और अन्धा करके कारागार में डाल दिया गया और अन्त में २८ अप्रैल १७१९ को बड़े लज्जाजनक तरीके से उसकी हत्या कर दी गई। उसके शत्रु अमीरों ने उसे इस आधार पर अपदस्थ घोषित किया कि 'उसमें विवेक का अभाव है और उसने नीच लोगों को उच्च पदों पर नियुक्त किया है, इसलिये सिंहासन पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा।'

उसका उत्तराधिकारी औरंगजेब के नाती और अजीमुश्शान के पुत्र राजकुमार रफीउद्दरजात को बनाना निश्चय किया गया 'जो सभी राजकुमारों में सबसे अधिक समझदार माना जाता था।' महल के बाहर पहिले से ही दंगा आरम्भ हो गया था। अमीर बड़े उतावले और जल्दी में थे। शाही वंशों की स्त्रियों को डर था कि कहीं सभी राजकुमारों का एक साथ वध न कर दिया जाय इसलिये उन्होंने दरवाजे बन्द कर लिये और उन्हें छिपा लिया, किन्तु लोग बलपूर्वक घुस गये और मनोनीत राजकुमार को बुलाया किन्तु उसकी माता रोने और विलाप करने लगी। इस खोज टटोल में बहादुरशाह के पुत्र रफीउश्शान का पुत्र रफीउद्दराजात हाथ लगा। युवक साधारण वस्त्र पहिने हुये मिला था उसी दशा उसे पकड़ लाया गया। उस उन्होंने जगमगाते हुए तख्तताऊस पर बिठा दिया और राज्याभिषेक की रस्म पूरी करदी।

फर्रुखसियर के हटाये जाने (२८ फरवरी १७१९) तथा मुहम्मदशाह के राज्यारोहण (१० सितम्बर १७१९) के बीच एक के बाद के तीन राजकुमार सिंहासन पर बिठाये गये, किन्तु पानी के बबूलों की भाँति वे क्षणिक जीवन के उपरान्त चल बसे। उनके 'शासन-काल' का नाम ले देना भर पर्याप्त है।

इस काल की एक उल्लेखनीय घटना यह थी कि अजीतसिंह की पुत्री (फर्रुखसियर की विधवा) शाही महलों से वापिस बुला ली गई और उसे पुनः हिन्दू बना लिया गया। खाफी खाँ ने निम्न शब्दों में इस घटना का जिक्र किया है —

इस समय महाराजा अजीतसिंह महारानी—अपनी पुत्री—को जिसका विवाह फर्रुखसियर के साथ हुआ था, वापिस ले गया और साथ ही साथ उसके जवाहिरात, कोष तथा बहुमूल्य वस्तुएँ भी जिनका मूल्य एक करोड़ रुपये था, उठा ले गया। जो समाचार मिला उसके अनुसार उसने उसके मुसलमानी वस्त्र उतरवा दिये उसके मुसलमान नौकर निकाल दिये और उसे अपने घर जोधपुर भेज दिया। इससे पहले किसी भी सम्राट के काल में किसी राजा का इतना साहस न हुआ था कि अपनी पुत्री को जिसका एक बार

बादशाह से विवाह हो गया हो और जिसे इस्लाम का सम्मान मिल चुका हो, वापिस ले जाता।'

मुहम्मदशाह—उन तीन कठपुतली राजकुमारों में से जब अन्तिम के भी जीवन की आशा न रही, तो सैयद अब्दुल्ला ने फतेहपुर से एक और राजकुमार को बुला भेजा। वह औरंगजेब का नाती और जहाँशाह का पुत्र मुहम्मदशाह रोशन अख्तर था। उस समय उसकी अवस्था केवल १८ वर्ष की थी। जहाँदारशाह की मृत्यु के बाद से वह अपनी माता के साथ दिल्ली के किले में रहता आया था; उसकी माता के सम्बन्ध में खाफी खाँ ने लिखा है कि वह भली महिला थी, 'राज-काज से वह भली भाँति परिचित थी' और 'समझदार तथा चतुर स्त्री' थी। 'वह सुन्दर युवक था; उसमें अनेक श्रेष्ठ गुण थे, और उसकी बुद्धि बहुत अच्छी थी।'

'११ जिलकैद ११३१ हिजरी (सितम्बर १७१९) को वह फतेहपुर पहुँचा और उस महीने को १५ तारीख को सिंहासन पर बैठा।......अबुल मुजफ्फर नासिरुद्दीन मुहम्मद-शाह बादशाह गाजी के नाम के सिक्के ढाले गये और हिन्दुस्तान की मस्जिदों में खुतबा में उसका नाम पढ़ा गया।......निश्चय किया गया कि उसका शासन-काल फर्रुखसियर के अपदस्थ किये जाने के दिन से माना जाय और यही सरकारी अभिलेखों में लिखा जाय। नाजिर तथा... सम्राट की सेवा में रहने वाले अन्य सभी अधिकारी और नौकर पहले की भाँति सैयद अब्दुल्ला के ही सेवक थे। जब सम्राट घुड़सवारी के लिये जाता तो सैयद के अनेक विश्वसनीय चाकर उसे चारों ओर से प्रकाशमंडल की भाँति घेर कर चलते; जब कभी दो-तीन महीने में एक बार वह शिकार अथवा भ्रमण के लिये देहात में जाता, तो वे उसके साथ जाते और अपने साथ ही उसे वापिस ले आते।'

सैयद भाइयों ने सम्राट पर जो प्रतिबन्ध लगाये उनका उल्लेख करते हुए गुलाम हुसैन लिखता है, "अल्प वयस्क सम्राट इस सबको धीरज से सहन करता रहा, वह स्थिति की गम्भीरता को समझता था, इसलिये उसने वजीर की इच्छा का विरोध नहीं किया, और बड़ी समझदारी के साथ उसके प्रति सम्मान तथा आदर प्रदर्शित करता रहा। किन्तु लेखक यह भी लिखता है कि 'जिस ईर्ष्या और सन्देह के साथ उस पर दृष्टि रक्खी जाती थी उसमें इन सबसे कोई कमी नहीं हुई; सम्राट जब कभी महीने में एक-दो बार वायु-सेवन के लिये जाता तो सैयदों का एक दल उसे घेर कर चलता; वे कभी उसे आँख से ओझल न होने देते, और न वे उसे कभी नगर के बाहर स्थित उद्यानों और विश्राम गृहों से जो महल से अधिक से अधिक एक-दो कोस थे, आगे ले जाते, और वे सदैव दिन छिपे से पहले ही लौट आते।' जदुनाथ सरकार का कथन है कि "राजकीय विषयों में मुहम्मदशाह का हाथ शून्य के बराबर था, किन्तु उसके चरित्र में कुछ गुण भी थे। स्वभाव से वह भीरु तथा ढिलमिल था, किन्तु साथ ही साथ उसमें धृष्टतापूर्ण अहंकार, सनक और अत्याचार की प्रवृत्ति का अभाव था।...... उसने कभी रक्त बहाने तथा ईश्वर के जीवों को हानि पहुँचाने की अनुमति नहीं दी। उसके शासन-काल में लोगों ने

आराम से अपने दिन काटे और साम्राज्य की बाहरी धाक तथा प्रतिष्ठा कायम रही। वास्तव में दिल्ली के राजतन्त्र की नींव सड़ चुकी थी किन्तु मुहम्मदशाह ने उसे अपनी चतुराई से खड़ा रक्खा। उसे हम बाबर के वंश का अन्तिम शासक कह सकते हैं, क्योंकि उसके बाद राजत्व का केवल नाम शेष रह गया था।"

मुहम्मदशाह स्मरणीय है, क्योंकि सचमुच शाहजहाँ के तख्त ताऊस पर बैठने वाला वह अन्तिम मुगल सम्राट था। कीनी का कथन है, "इतिहास के विद्यार्थियों को स्मरण रखना चाहिये कि उसका शासन काल ही वह युग था जिसमें भारतीय प्रायद्वीप की सभी आधुनिक शक्तियों की संस्थापना हुई ऐसा प्रतीत होता था कि साम्राज्य भी कुछ निम्न कोटि के प्राणियों की भाँति विकेन्द्रीय प्रजनन की प्रक्रिया द्वारा अपने को पुनः उत्पन्न करने को था।' उसी के शासन-काल में नादिरशाह का प्रसिद्ध आक्रमण हुआ, और अपने वजीर कमरुद्दीनखाँ की मृत्यु से मुहम्मदशाह के दिल को इतनी चोट पहुँची कि १२ अप्रैल १७४८ को वह स्वयं भी इस संसार से चल बसा।

इब्राहीमशाह—मुहम्मदशाह का उत्तराधिकारी उसका पुत्र अहमदशाह हुआ; किन्तु उससे पहले सैयद अब्दुल्ला खाँ ने एक अन्य प्रतिद्वन्द्वी को सिंहासन पर बिठाने का प्रयत्न किया। वह था बहादुरशाह के सबसे बड़े पुत्र रफीउश्शान का तीसरा पुत्र मुहम्मद इब्राहीम। १७२० में उसे सिंहासन के लिये मुहम्मदशाह के विरुद्ध संघर्ष करने को बुलाया गया, उस समय उसकी अवस्था तेईस वर्ष की थी। मुहम्मदशाह को सिंहासन पर बैठे एक वर्ष भी न हुआ था कि उसमें तथा सैयद भाइयों में मतभेद उठ खड़े हुए। इसके परिणामस्वरूप ८ अक्टूबर १७२० को सैयद हुसेन अलीखाँ बड़ा का वध कर दिया गया; और अठारह घंटे बाद इसका समाचार उसके बड़े भाई के पास पहुँचा। अब्दुल्ला खाँ ने बड़ी सावधानी से काम लिया और मुहम्मदशाह के स्थान पर एक अन्य राजकुमार को सिंहासन पर बिठलाने का संकल्प किया। तदनुसार शाही महलों में खोज की गई। किन्तु जैसा कि पहले एक अवसर पर हो चुका था इस बार भी,

'युवकों ने जब दूतों को आते देखा तो दरवाजे बन्द कर लिये , किन्तु जब बहुत जोर डाला गया तो उन्हें भीतर बुला लिया और आने का कारण पूछा; किन्तु जब उन्हें कारण बताया गया तो उन्होंने कोरा उत्तर दिया और आने से स्पष्ट इन्कार किया कहा जाता है दूतों को जब असफल होकर लौटना पड़ा, तो वे नेकू सियर के पास गये, और वहाँ भी यही उत्तर मिला। उसके बाद वे रफीउश्शान के पुत्र सुलतान इब्राहीम के पास गये और उस पर प्रस्ताव स्वीकार करने के लिये दबाव डाला और कहा कि आपकी स्वीकृति से सैयदों के साथियों के जीवन की रक्षा हो जायगी। थोड़ी सी बातचीत के उपरान्त वह राजी हो गया। १५ अक्टूबर १७२० को सुलतान मुहम्मद इब्राहीम को अबुल फतेह जहीरुद्दीन मुहम्मद इब्राहीम के नाम से सिंहासन पर बिठला दिया गया। दो दिन बाद सैयद अब्दुल्ला आया और (नये सम्राट का) अभिवादन

किया। उसे गाजीउद्दीन गालिब जंग की उपाधि, अमीर-उल-उमरा का पद, मीरबख्शी का कार्यभार और ८००० का मसब दिया गया।

किन्तु यह विजय क्षणिक सिद्ध हुई; मुहम्मदशाह ने अपने प्रतिद्वन्दी को युद्ध में परास्त किया और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्वयं १७४८ तक शासन करता रहा।

अहमदशाह—अहमदशाह अपने पिता मुहम्मदशाह का इकलौता बेटा था। 'तारीखे आलमगीर सानी' में लिखा है कि 'उसने अपने को व्यर्थ के कामों, आमोद-प्रमोद और भोग-विलास में लिप्त रक्खा;' "उसने अपने वजीर खानखाना तथा माता ऊधमबाई के भड़काने से निज़ामुलमुल्क आसफजाह (गाज़ीउद्दीन) के प्रति शत्रुता दिखलाई जिसके फलस्वरूप उसके शासन का अन्त हो गया (६ साल, ३ महीने और ६ दिन के बाद)।" 'तारीखे अहमदशाह' में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है :—

'अपने पिता के बाद जब राजकुमार दिल्ली के सिंहासन पर बैठा तो उसने मुजाहिदुद्दीन अहमदशाह गाजी की उपाधि धारण की, खुतबा में तथा सिक्कों पर इसी विरुद का प्रयोग किया और अपने स्वर्गीय पिता को हजरत फिरदौस आरामशाह की उपाधि प्रदान की। अहमदशाह की बुद्धि अधिक तीव्र नहीं थी, प्रौढ होने तक उसका सारा यौवन अन्तःपुर में ही बीता था, और राज्य की समस्याओं तथा प्रशासनीय चिन्ताओं का उसे तनिक भी अनुभव न था। इसके अतिरिक्त वह सदैव यौवन-सुलभ आमोद-प्रमोद में लिप्त रहता था, और उसकी रुचि को देख कर प्रत्येक व्यक्ति उसे प्रसन्न करने के लिये उसके सामने उसका प्रदर्शन किया करता था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि उसने अपने को पूर्णतया खेल-तमाशों और मन बहलाव के कामों में भुला दिया और राज्य की महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। देश का प्रशासन करना और राजदण्ड धारण करना अत्यन्त कठिन काम है, और कोई सम्राट तब तक शासन करने के योग्य नहीं हो सकता जब तक कि वह स्वयं प्रत्येक काम के अच्छे और बुरे परिणाम को नहीं समझता। यही कारण था कि अहमदशाह उस साम्राज्य पर जिसका भार उस पर पड़ा था, शासन न कर सका।

'परिणाम यह हुआ कि प्रशासन शिथिल तथा भ्रष्ट हो गया; साम्राज्य के स्तम्भ प्रति-दिन हिलने लगे, सम्राट ने साम्राज्य की तीन नीवों—क्षेत्राधिकार, सेना तथा कोष—की कभी जाँच-पड़ताल नहीं की। ....सम्राट आनन्द में इतना रम गया कि एक कोस (४ वर्ग मील) के क्षेत्र को स्त्रियों के लिये सुरक्षित कर दिया गया, सभी पुरुष वहाँ से निकाल दिये गये, और वहाँ उद्यानों और कुंजों में स्त्रियों की संगति में वह हफ्तों और महीनों केलि किया करता।'

उसके शासन-काल की घटनाओं का वर्णन आगे चल कर किया जायगा। उसका अन्त उसके चरित्र के अनुरूप ही हुआ। जब गाज़ीउद्दीन वज़ीर बन गया (५ जून, १७५४ को) तो उसने मुगल दरबार की बैठक बुलाई, और "उसके

सामने सदैव की भाँति व्याख्यान दिया, अपनी सिद्धान्तहीन महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिये एक सुझाव रक्खा और उसके पक्ष में मन्त्रिमंडल का मत प्राप्त कर लिया। एकत्र हुए अमीरों ने कहा कि 'इस सम्राट ने शासन के लिये अपनी अयोग्यता सिद्ध कर दी है। वह मराठों का सामना करने में असमर्थ है; अपने मित्रों के प्रति उसका व्यवहार झूठा तथा अनिश्चित रहता है। उसे सिंहासन उतार दिया जाय और उसके स्थान पर तिमूर के किसी योग्य वंशज को बिठलाया जाय।' इस प्रस्ताव को शीघ्र ही कार्यान्वित किया गया; अभागे सम्राट को अन्धा करके महल के निकट स्थित सलिमगढ़ के राजकीय कारागार में डाल दिया गया; और फर्रुखसियर के प्रतिद्वन्द्वी जहाँदारशाह के एक पुत्र को आलमगीर द्वितीय के नाम से ११ जुलाई १७५४ को सम्राट घोषित कर दिया गया।''

आलमगीर द्वितीय—मुहम्मद अली खाँ लिखता है कि 'किस प्रकार उन्होंने सिंहासन के लिये एक व्यक्ति को चुनने के लिये कारागार में पड़े राजकुमारों से भेंट की। राजकुमार भयभीत थे, इसलिये उनमें से कोई भी तैयार नहीं हुआ। अन्त में बड़ी कठिनाई से बहादुरशाह के पुत्र जहाँदारशाह के बेटे सुल्तान अज़ीज़ुद्दीन को जिसने एकान्तवास में अपना समय, धर्मशास्त्रों के अध्ययन में बिताया था, समझा बुझाकर मुकुट धारण करने के लिए राजी कर लिया गया। अज़ीज़ुद्दीन मुहम्मद आलमगीर (द्वितीय) के नाम से वह सिंहासन पर बैठा। १० शाबान ११६७ हिजरी को गाज़ीउद्दीन खाँ इमादुलमुल्क को वज़ीर नियुक्त किया गया।' इस राजकुमार को अपने पूर्वजों से भी अधिक जल्दी मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा। उसका चरित्र कुछ धार्मिक सा था। इसी कारण वह अधिक सरलता से जाल में फँस गया और अपना नाश करा बैठा'।

उससे कहा गया कि नगर में कन्धार का एक अत्यधिक साधु स्वभाव का दरवेश आया हुआ है और फीरोजशाह के कोटिला में टिका हुआ है वह दर्शन करने योग्य है। सम्राट को फकीरों के दर्शन का चाव था, विशेषकर उनका जो अहमदशाह (अब्दाली) के देश से आते थे, इसलिये उस फकीर को देखने के लिये वह बहुत ही उत्सुक हो उठा और नौकर चाकरों को साथ लिये बिना ही चल पड़ा। जब वह निश्चित स्थान पर पहुँचा तो उस भवन के द्वार पर रुक गया जिसमें उसके हत्यारे छिपे हुए थे; उसके हाथ में जो तलवार थी उसको महदी अली खाँ ने लेकर एक ओर रख दिया। जैसे ही उसने मकान के भीतर प्रवेश किया वैसे ही पर्दे गिर गये और जमीन से बाँध दिये गये। तुरन्त ही इमादुलमुल्क के किराये के टट्टुओं ने उसे घेर कर बन्दी बना लिया, और उसकी तलवार छीनकर उसे पालकी में बिठला दिया और शाही कारागार में वापस भेज दिया। उस भवन में कुछ दुष्ट मुगल सम्राट की प्रतीक्षा कर रहे थे, जैसे ही उन्होंने उसे अकेला और बिना नौकरों के पाया वैसे ही वे उस पर टूट पड़े और कटारों से बार बार प्रहार करके उसे घायल कर दिया और पृथ्वी पर पटक दिया, और फिर उसके सब कपड़े उतार लिये और पूर्णतया नंगे शरीर को खिड़की के बाहर फेंक दिया। अठारह घंटे तक उसका

शव जमीन पर पड़ा रहा। फिर महदी अली खाँ की आज्ञा से उसे उठाकर हुमायूँ के मकबरे में दफना दिया गया। यह दुखद घटना १७७३ हि० में रबी उस्सन की २० तारीख (३० नवम्बर १७५९) को घटी। उसी दिन कामबख्श के बेटे मुहीउस्सुनत के पुत्र मुहीउलमिल्लत को शाहजहाँ द्वितीय के नाम से सिंहासन पर बिठला दिया गया। इसी बीच में अहमदशाह दुर्रानी के आक्रमण का समाचार लोगों में फैल गया'।

शाहआलम द्वितीय—यह राजकुमार पटना में था, जब कि उसे अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला। यह सुनकर उसका मस्तिष्क तीव्र वेदना से अभिभूत हो गया, किन्तु अन्त में यह सोचकर कि यह ईश्वर की इच्छा का फल है, ४ जुमैद उल अव्वल को वह सिंहासन पर बैठ गया। कुछ दिनों बाद नवाब शुजाउद्दौला अपने राज्य की सीमा पर पहुँचा और सम्राट को आजीमाबाद (पटना) से निमन्त्रण भेजकर बुलाया और उससे मिलने का सम्मान प्राप्त किया। उसे साम्राज्य के वज़ीर के पित्रागत पद पर नियुक्त कर दिया गया। तदुपरान्त वह सम्राट के साथ इलाहाबाद गया। यह उसी महापुरुष के कारण सम्भव हो सका कि साहिब किरान गुरगान (तिमूर) का नाम अब भी शेष है, नहीं तो अब्दाली उसके वंशजों में से किसी को जीवित नहीं रहने देता।' (मुहम्मद असलम, "फ़र्हतुन नाज़िरीन" में)।

यहाँ शाहआलम द्वितीय के उत्तराधिकारियों के इतिहास का वर्णन करना व्यर्थ है। ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है उससे पाठकों को स्पष्ट हो गया होगा कि इस समय तक मुगल साम्राज्य का अवसान हो चुका था।

कुद्रतुल्ला खाँ 'जामे जहाँनुमा' में लिखता है, 'जब शाह आलम के शासन के बीस वर्ष समाप्त हो गये तो साम्राज्य के हर कोने में लोग स्वाधीन होने की आकांक्षा करने लगे। इलाहाबाद, अवध, इटावा, शिकोहाबाद और अफगानों (रुहेलों) का सम्पूर्ण देश नवाब वजीर आसफुद्दौला के अधिकार में है, और बंगाल के पूरे देश को शक्तिशाली फिरंगियों ने अधिकृत कर लिया है। जाटों का देश नजफ खाँ के अधीन है। दक्खिन का कुछ भाग निजामअली खाँ के, कुछ मराठों, कुछ हैदर नाइक और कुछ गोपामऊ के मुहम्मद अली खाँ सिराजुद्दौला के शासन में है। सिक्खों ने पंजाब, मुलतान तथा लाहौर के समस्त सूबे पर अधिकार कर लिया है; और जैनगर तथा अन्य स्थान जबिता खाँ के हाथ में है। इसी प्रकार अन्य जमींदारों ने विभिन्न स्थानों में अपनी-अपनी सत्ता स्थापित कर ली है। सारा संसार इमाम मेहदी की जो भविष्य में प्रकट होने को है, प्रतीक्षा कर रहा है। शाहआलम दिल्ली के सिंहासन पर विराजमान है, और उसे अपने आनन्द के अतिरिक्त और किसी बात की चिन्ता नहीं है, इधर उसकी प्रजा बहुत ही दुःखी है और उत्पीड़न से मरी जाती है।'

राज निर्माता

फर्रुखसियर (१७१२) से लेकर इब्राहीमशाह (१७२०) तक का नौ वर्ष का

इतिहास बहुत अर्थों में अब्दुल्ला खाँ तथा हुसैनअली खाँ नामक सैयद बन्धुओं की कहानी है। इतिहास में वे 'राज निर्माताओं' के नाम से विख्यात हैं। जब फर्रुखसियर ने सिंहासन के लिये संघर्ष किया उस समय पहली बार उनका महत्व बढ़ा। सैयद भाइयों का पिता सैयद मियाँ पहले बीजापुर और फिर अजमेर का सूबे दार रह चुका था। "आलमगीर के मीर बख्शी रुहुल्ला खाँ की सेवा में कार्य करते हुये उसने उन्नति की और अन्त में उसे शाही संवध मिल गया। तब उसने सबसे बड़े राजकुमार मुहम्मद मुअज्जमशाह आलम के यहाँ नौकरी कर ली। जब सैयद भाइयों ने अपेक्षाकृत नीची स्थिति से उठकर उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त की उस समय बड़े भाई हसन अली खाँ की अवस्था ५६ वर्ष और छोटे हुसैन अली खाँ की ४४ वर्ष थी। १६९७-९८ में हसन अली खानदेश का फौजदार था और बाद में औरंगाबाद भेज दिया गया। हुसैन ने अजमेर और आगरा के सूबों में उसी पद पर काम किया। जाजऊ के युद्ध के समय वे ३०० तथा २००० के पदों पर थे और शाहआलम की सेना के अग्रगामी दल में लड़े थे। इन सेवाओं के बदले में उनका पद बढ़ा कर ४००० कर दिया गया और बड़े भाई को अब्दुल्ला खाँ की उपाधि से विभूषित किया गया। किन्तु उन्हें सन्तोष न हुआ। जब जाजऊ के दूसरे दिन सुबह राजकुमार जहाँदार उनसे मिला तो हुसैनअली खाँ ने उससे कहा कि हमने जो कुछ किया है, उसका विशेष महत्व नहीं। और भी अनेक लोगों ने इतना ही किया है, 'किन्तु हमारे पराक्रम का तब पता चलेगा जब हमारे स्वामी को सब लोग छोड़ जायेंगे और वह अकेला रह जायगा और फिर हमारी भुजाओं के बल पर उसे फिर सिंहासन पर बिठलाया जायगा।' यह अहंकारपूर्ण भविष्य वाणी पाँच वर्ष बाद पूरी हो गई जब फर्रुखसियर को सिंहासन पर बिठलाया गया और स्वयं जहाँदारशाह का ही नाश हो गया।

राजकुमार अजीमुश्शान की कृपा से १७११ में सैयद अब्दुल्ला को इलाहाबाद के सूबे में उसका नाइब नियुक्त किया गया। तीन वर्ष उपरान्त उसी राजकुमार ने हुसैन अली को बिहार का सूबेदार बना दिया। इस प्रकार फर्रुखसियर (अजीमुश्शान का पुत्र) सैयदों की कृतज्ञता और समर्थन का पूरा पूरा अधिकारी था, और जब १७१२ में सिंहासन के लिये फिर संघर्ष हुआ तो उन्होंने उसकी सहायता करने में कसर नहीं छोड़ी। वास्तव में फर्रुखसियर की सफलता का श्रेय पूर्णतया उन्हीं को था।

जहाँदारशाह अपदस्थ करके मार डाला गया, और उसके स्थान पर १७१३ में फर्रुखसियर सिंहासन पर बैठा; किन्तु १७१९ में उसकी भी वही दुर्गति हुई। यह वर्ष (१७१९) कठपुतली सम्राटों के लिए बहुत ही भयंकर सिद्ध हुआ। पहले रफीउद्दरजात को और फिर रफीउद्दौला को सिंहासन पर बिठलाया गया; किन्तु उन्हें शीघ्र ही मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा—उनके लिये सैयद भाइयों के प्रभुत्व का इससे कम घातक परिणाम नहीं हो सकता था। एक तीसरे राजकुमार मुहम्मद नैकूसियर ने अन्य लोगों की सहायता से सिंहासन प्राप्त करने का प्रयत्न

किया, किन्तु उसकी विफलता अवश्यम्भावी थी। उसे सालिमगढ़ में भेज दिया गया और वहीं कारागार में मार्च १७१३ में उसकी मृत्यु हो गई। सैयद बन्धुओं ने स्थिति को फिर सँभाल लिया और गद्दी के लिये एक अन्य राजकुमार को ढूँढ़ निकालने में सफल हुए। वह था १८ वर्ष का सुन्दर छोकरा मुहम्मदशाह 'जिसमें अनेक श्रेष्ठ गुण थे और जिसकी बुद्धि कुशाग्र थी। उसकी माता भी राजकाज से भली-भाँति परिचित थी, और समझदार तथा चतुर महिला थी।'...फिर भी 'वज़ीर तथा सम्राट की सेवा में रहने वाले सभी अधिकारी और नौकर पहले की भाँति सैयद अब्दुल्ला के ही नौकर थे। जब युवक सम्राट घुड़सवारी के लिए जाता तो सैयदों के अनेक विश्वसनीय साथी प्रकाशमंडल की भाँति उसे घेर कर चलते, और जब कभी दो-तीन महीने में एक बार एक शिकार खेलने तथा वायु-सेवन के लिये जाता, तो वे उसके साथ जाते और अपने साथ वापिस ले आते।' उनके कृपापात्र 'रतनचन्द की स्थित बहुत ही सुदृढ़ थी। व्यावहारिक, राजस्व सम्बन्धी तथा कानूनी सभी विषयों पर उसका अधिकार था, और यहाँ तक कि नगरों में और न्याय-सम्बन्धी पदों पर काज़ियों की नियुक्ति भी वही करता था। अन्य सभी सरकारी अधिकारी अपना महत्व और प्रभुत्व खो बैठे, उसकी मुहर से अंकित फर्मान के बिना कोई व्यक्ति किसी काम को अपने हाथ में नहीं ले सकता था।'

किन्तु "हँसी का अन्त रोने में और आनन्द का दुःख में होता है।" सैयद बन्धु स्वयं उस कूटनीतिक जाल में फँस गये जिसके बिछाने के लिये कुछ हद तक वे स्वयं ज़िम्मेदार थे—उस जाल का ताना-बाना कुचक्रों का बना था और उसका अन्त हुआ मृत्यु में। 'सम्राट के मित्रों' के षड्यन्त्र से १७२० में हुसैन अली का बध कर दिया गया; अबुल्ला खाँ ने एक दूसरे 'सम्राट' को सिंहासन पर बिठला कर अपने भाई के बध का बदला लेने का प्रयत्न किया। उसकी इस योजना की विफलता का हम पहले उल्लेख कर आये हैं। १३-१४ नवम्बर १७२० को हसनपुर (हुसैनपुर) के युद्ध-क्षेत्र में राजकुमार सुलतान इब्राहीम तथा अब्दुल्ला खाँ के भाग्य का निपटारा हो गया। अब्दुल्ला बन्दी बना लिया गया, और इब्राहीम मैदान से भाग गया, किन्तु बाद में बन्दी बना लिया गया।

सैयद अब्दुल्ला खाँ ने अगले दो वर्ष दिल्ली के किले में हैदरकुली खाँ की देख-रेख में बिताये। उसके साथ आदर का व्यवहार किया गया; खाने को उत्तम भोजन मिला और पहिनने को बढ़िया कपड़े। किंतु जब तक वह जीवित था तब तक मुगल निश्चिन्त नहीं हो सकते थे, न मालूम भाग्य कब किधर पलटा ले जाय। 'इस प्रकार वे निरन्तर मुहम्मदशाह को भयभीत करते रहे।.........दो वर्ष बीत गये, किन्तु मुगलों ने अपने षड्यंत्र बन्द नहीं किये; अन्त में उन्होंने सम्राट से उसको विष देने की अनुमति ले ली।' ११ अक्टूबर १७२२ को ५७ वर्ष (चंद्रमास) की आयु में अब्दुल्ला का देहान्त हो गया।

सैयदों का शासन—ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि फर्रुखसियर के उत्थान से अब्दुल्ला के पतन तक लगभग एक दशक भर साम्राज्य के मंच पर सैयदों की प्रमुखता रही। इस काल के सम्राट कठपुतली मात्र थे, उनका अधिकांश जीवन 'ज़नाना' के भीतर व्यतीत होता था, न कि बाहर। ऐसी स्थिति में आश्चर्य नहीं कि 'इस संसार के उच्च शासकों की उपेक्षा और प्रभाव-धारी की गर्म हवाओं तथा भले अमीरों की पारस्परिक कलह के कारण मुरझा गये,' और 'देश में महान उपद्रव उठ खड़े हुए।

पहले तो फर्रुखसियर ने, यद्यपि वह दुर्बल तथा डिलमिल चरित्र का था, एक बार सिंहासन हथिया लेने पर उसी सीढ़ी को लात मार कर नीचे गिराने का प्रयत्न किया जिसकी सहायता से वह ऊपर चढ़ा था। किन्तु इस प्रयत्न ने ही उसका सत्यानाश कर दिया। दूसरे, सैयदों के अभूतपूर्व उत्कर्ष से उनके साथी अमीरों में ईर्ष्या, विरोध तथा कुचक्र फैलने लगे जो सैयदों के लिये ही नहीं बल्कि साम्राज्य के लिये भी घातक सिद्ध हुए।

फर्रुखसियर के राज्यारोहण के समय सैयद अब्दुल्ला को मुख्य मंत्री नियुक्त किया गया। छोटा भाई हुसैन अली खाँ मीरबख्शी बना। सम्राट के निजी कृपापात्रों में मीर जुमला मुख्य था। सरकारी तौर पर वह केवल चाकरों और सम्वादवाहकों का अध्यक्ष था; किन्तु वास्तव में वह इतना प्रभावशाली था कि मुख्य मंत्री भी उसकी इच्छा के विरुद्ध काम न कर सकता था। प्रांतीय सूबेदारों में स्वर्गीय गाज़ीउद्दीन खाँ का पुत्र चिन किलिच खाँ सबसे अधिक शक्तिशाली था। नाम के लिए वह दक्खिन के छः सूबों का शासक था; साथ ही साथ उसे कुछ भूमि जागीर के रूप में दे दी गई थी जिससे वह अपना तथा अपने साथियों का खर्च चला सके, उधर मीर जुमला का कृपापात्र हैदरकुली खाँ सम्पूर्ण दक्खिन का दीवान बनाकर भेज दिया गया। नाज़िम को छोड़कर अन्य सभी विभागों पर उसका अधिकार था और विशेषकर संवाददाताओं पर। दाऊद खाँ को जिसने दक्खिन में ज़ुल्फिकार खाँ के नाइब के रूप में ख्याति प्राप्त कर ली थी, अहमदाबाद को स्थानान्तरित कर दिया।

फर्रुखसियर के जीवन का दुःखद अन्त उसी के आचरण का परिणाम था। यदि उसमें बुद्धि होती तो उसने सैयद भाइयों का सहारा लिया होता; उस दशा में उसका शासन सफल हुआ होता और उसे विफलता के कटु फल न चखने पड़ते। किन्तु उसने गलत पथ का दामन पकड़ा। उसने विदेशी लोगों से प्रेरणा ली, और जो फिर उसने निगल लिया उसी ने उसका अन्त कर दिया। मीरजुमला, जयसिंह, इतिकाद खाँ, मुहम्मद अमीन खाँ, खानदौराम आदि चाटुकारों ने जिनका फर्रुखसियर ने भरोसा किया, उसका सत्यानाश कर दिया। कुछ लेखकों ने बिना समझे बूझे इसका दोष सैयद भाइयों के सिर मढ़ा है। अब्दुल्ला खाँ और हुसैन अली खाँ में दोष थे और अगले सम्राटों के शासन काल में उन्होंने

अधिनायकों कैसा व्यवहार किया, इसके सन्देह नहीं, किन्तु जहाँ तक फर्रुखसियर का सम्बन्ध था, उन्होंने उसके साथ अन्याय नहीं किया, बल्कि उलटे उन्हीं के साथ पाप किया गया।

फर्रुखसियर को सिंहासन सैयदों की कृपा से ही मिला था, इससे उनके लिये यह आशा करना स्वाभाविक था कि "राज्य की वास्तविक शक्ति का प्रयोग हम करेंगे और सम्राट ठाट-बाट से सन्तोष कर लेगा, और उसके अधिकार में इतना धन और सम्मान रहेगा कि वह अपने प्रियजनों को प्रसन्न रख सके।" किन्तु फर्रुखसियर ने जो नियुक्तियाँ कीं उनकी जाँच करने से पता चलता है कि उनको बहुत कम मिला, "दो पद जो उन्हें दिये गये वे तो उनकी सेवा की कीमत थे।" "इनके विपरीत सम्राट के मित्रों तथा तूरानी सरदारों ने सभी बड़े-बड़े पद हड़प लिये।" और जैसा कि खाफी खाँ ने लिखा है, "दोनों भाई अपने मामलों में मीर जुमला का अनुचित हस्तक्षेप धीरज से सहन करने को तैयार नहीं थे।" परिणाम यह हुआ कि सैयदों के शत्रु निरन्तर कुचक्र चलाते रहे, फर्रुखसियर षड्यंत्रों का केन्द्र बन गया और अनुचित तरीके से उसने उनके कामों से आँख छिपाई, उन्हें प्रोत्साहन दिया, और अन्त में अपना ही सर्वनाश कर लिया। सैयदों ने सदैव संयम और चतुराई से काम लिया। किन्तु मनुष्य के धीरज और सहनशीलता की भी सीमा होती है; और जब उनका क्रोध उमड़ पड़ा तो फिर नियति ने दया नहीं दिखाई और फर्रुखसियर जल कर भस्म हो गया।

सैयदों के विरुद्ध षडयंत्र—षड्यंत्रों को गिना देने मात्र से स्थिति का ठीक पता चल जायगा। (१) दोनों भाइयों में सैयद हुसैन अली अधिक कट्टर था, इसलिये उसे राजपूतों से लड़ने भेज दिया गया; उधर राजा जयसिंह को गुप्त पत्र लिखे गये और शाही सेनापति को मार डालने के लिये अनेक प्रलोभन दिये गये। जब पहला षड्यंत्र सफल न हुआ तो हुसैन अली खाँ को दक्खिन का सूबेदार बनाकर भेज दिया गया, किन्तु साथ ही साथ दाऊद खाँ पन्नी को गुप्त रूप से पीछे भेजा गया जिससे वह मार्ग में उससे भिड़ जाय और सम्भव हो सके तो उसका काम तमाम कर दे; इसके बदले में उसे सैयद के स्थान पर दक्खिन का सूबेदार बनाने का वचन दिया गया। (२) बड़े भाई सैयद अब्दुल्ला खाँ के प्राण लेने का इससे भी सीधा प्रयत्न किया गया और वह भी ठीक सम्राट की नाक के नीचे। निश्चय किया गया कि नौरोज़ उत्सव के अवसर पर वज़ीर को घेर कर मार डाला जाय अथवा बन्दी बना लिया जाय। किन्तु फर्रुखसियर के दुर्भाग्य से अन्य षड्यंत्रों की भाँति यह भी विफल रहा। वज़ीर को इस जाल का पता लग गया, इसलिये उस अवसर पर उसने पहले से ही एक विशाल सेना एकत्र कर ली और शाही सैनिकों को आतंकित कर दिया।

जब सैयद भाइयों के जीवन के लिये इस प्रकार सदैव संकट बना रहता था, तो ऐसी स्थिति में भी यदि वे अपने शत्रुओं को शक्ति क्षीण करने, उन्हें फाँसा देने

और आतंकित करने का प्रयत्न न करते तो वे मूर्ख कहलाते। इसलिये जब शाही अधिकारी विद्रोही जाटों के विरुद्ध लड़ रहे थे, उस समय अब्दुल्ला खाँ ने उनके सरदार चूड़ामन को गुप्त रूप से सहायता दी; राजा अजितसिंह को जो गुप्त सन्देश भेजा गया था उसका हुसैन अली को पता लग गया, इसलिये उसने राजा को अनेक प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया; दाऊद खाँ का भी प्रयत्न विफल रहा, उसमें हुसैनअली की जीत हुई, दाऊद मारा गया और कई फर्मान पकड़े गये जिनसे नये षड्यंत्रों का पता लग गया और अब्दुल्ला का वध करने के लिये जो कुचक्र रचा गया उसका परिणाम यह हुआ कि वज़ीर ने दक्खिन में अपने भाई को सन्देश भेजा, और हुसैन अली ने तुरन्त ही जितनी सेना हो सकी एकत्र की और शीघ्रता से राजधानी से चल पड़ा और वहाँ पहुँच कर क्रान्ति खड़ी कर दी।

सैयदों के सैनिकों ने महल घेर लिया, फर्रुखसियर को अपदस्थ कर दिया गया, रफीउद्दाराजात को सिंहासन पर बिठलाया गया, और अन्त में भूतपूर्व सम्राट को रनिवास से घसीट कर अपमानित किया गया और फिर गला घोंट कर मार डाला गया।

इस दुःखद घटना का जो अन्त हुआ, उसका हम पहले वर्णन कर आये हैं। एक ही वर्ष (१७१९) के भीतर दो अन्य राजकुमार (रफीउद्दाराजात और रफीउद्दौला) सिंहासन से लुढ़ककर धूल में मिल गये और चौथे मुहम्मदशाह का राज्याभिषेक

---

* उत्तर भारत को आने की जल्दी में हुसैन अली खाँ ने राजा शाहू से सन्धि करली जो मराठों के लिये बहुत लाभदायक थी, किन्तु फर्रुखसियर ने उस पर अपनी अनुमति नहीं दी। किन्तु हुसैन अली को आशा थी कि सम्राट इसे स्वीकार कर लेगा इसलिये उसने मराठों से दस हजार सेना प्राप्त कर ली और यह भी वचन ले लिया कि उसकी अनुपस्थिति में वे दक्खिन में शान्ति स्थापित रक्खेंगे। इस सन्धि की शर्तें ये थीं जो राज्य पहले शिवाजी के अधिकार में थे तथा जो प्रदेश बाद में जीत लिये गये थे, उन सब पर शाहू का दावा स्वीकार कर लिया जायेगा उस प्रदेश में जो किले मुगलों के अधिकार में थे वे सब मराठों को लौटा दिये जायेंगे सम्पूर्ण दक्खिन से मराठों को चौथ वसूल करने का अधिकार होगा और इसके अतिरिक्त उन्हें सरदेशमुखी के रूप में दशांश और मिलेगा। इस के बदले में शाहू ने वचन दिया कि मैं दस लाख रुपया प्रतिवर्ष कर के रूप में दूँगा, १५ हजार घुड़सवार सम्राट की सेवा में भेजूँगा, देश में शान्ति स्थापित रक्खूँगा और यदि किसी ने भी लूट मार की तो उस से हुई हानि के लिये मैं जवाबदेह होऊँगा। दस हजार मराठा सेना हुसैन अली खाँ के साथ दिल्ली गई।—एलफिन्स्टन पृष्ठ ६८८।

इर्विन लिखते हैं 'यद्यपि फर्रुखसियर ने इस संधि को स्वीकार नहीं किया, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसे तुरन्त ही सभी स्थान पर कार्यान्वित किया गया और फर्रुखसियर के अपदस्थ किये जाने के बाद १७१९ में औपचारिक रूप से उसकी पुष्टि कर दी गई'।—इर्विन : दूसरा भाग, पृष्ठ १६४ ; वही, पहला भाग, ४०७।

हुआ। यहाँ पर हमें देखना है कि इस अधिक भाग्यशाली सम्राट के समय में "राजनिर्माताओं" का पतन कैसे हुआ।

सैयदों का पतन—सैयद हुसैन अली खाँ का दक्खिन में वध कर दिया गया। शोक-सन्तप्त अब्दुल्ला खाँ ने मुहम्मदशाह के स्थान पर इब्राहीम को सम्राट बनाने का प्रयत्न किया। किन्तु उसका प्रयत्न विफल रहा जिसके परिणाम-स्वरूप स्वयं उसका भी नाश हो गया। ये दोनों घटनाएँ १७२० ई० की हैं। दरबारी क्रान्ति के बाद जिससे सैयदों के हाथ में वास्तविक शक्ति आई थी, अभी पूरे दो वर्ष भी न बीते थे। फर्रुखसियर को फरवरी १७१६ में अपदस्थ किया गया था; हुसैन अली खाँ का अक्टूबर १७२० में वध हुआ; और अब्दुल्ला खाँ नवम्बर १७२० में परास्त हुआ और कारागार में डाल दिया गया। इस प्रकार सैयदों का अधिनायकत्व लगभग २० माह तक चला, और उस काल में भी निरन्तर अव्यवस्था छाई रही। सैयद भाइयों ने एक ही वर्ष के भीतर जहाँदारशाह को अपदस्थ किया, फर्रुखसियर तथा उसके तीन उत्तराधिकारियों को सिंहासन पर बिठलाया, और जब तक उनके हाथ में शक्ति रही तब तक सेना का उन्हें समर्थन मिलता रहा—इन्हीं सब कारणों से उनका इतना नाम-भला अथवा बुरा-हो गया। किन्तु वास्तव में अब्दुल्ला खाँ ने जो वजीर था, अपना अधिक समय भोग-विलास और आमोद-प्रमोद में बिताया, यहाँ तक कि वह स्वयं महीनों राज-काज की ओर ध्यान नहीं देता था, और कर्तव्यविमुख होने के लिये उसे बार-बार चेतावनी दी गई थी। इसमें सन्देह नहीं कि उस के अभिकर्ता रतनचन्द का प्रशासन पर काफी अधिकार था; किन्तु सम्राट के प्रियजन इसका भी विरोध करते और बहुधा वे सफल रहते। मीर जुमला तथा अन्य व्यक्तियों ने व्यवहार में उसकी शक्ति को व्यर्थ कर दिया था। केवल हुसैन अली खाँ जो अमीर उल-उमरा था और जिसका स्वभाव बहुत ही उग्र तथा कठोर था, कभी-कभी कुचक्रों के बादलों के पीछे से बिजली की भाँति चमक जाया करता था। दोनों भाइयों ने गम्भीरतापूर्वक अपनी प्रतिष्ठा को कायम रखा जिससे उनकी शक्ति और आत्मविश्वास का पता चलता था, अन्य सब लोगों के प्रति जिनसे इनके लाभ तथा स्थिति को किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुँचती थी, उन्होंने उदासीनता का व्यवहार किया। जिस तेजी से उनका पतन हुआ उससे स्पष्ट हो गया कि तत्वतः उनकी स्थिति दुर्बल थी, और जिस समय वे यह समझ रहे थे कि हम अजेय हैं उसी समय उनकी शक्ति की जड़ें खोखली हो रही थीं।

जिन परिस्थितियों में सैयद भाइयों की सत्ता छिन्न भिन्न हुई, उन्हीं में निजामुलमुल्क नामक एक नये नक्षत्र का उदय हुआ। उसके सम्बन्ध में हम अगले पृष्ठों में लिखेंगे। यहाँ पर सैयद भाइयों के सम्बन्ध में खाफ़ी खाँ के लेख से एक उद्धरण देना उचित होगा, उन के प्रति उसकी सहानुभूति नहीं थी, फिर भी उस ने उनकी प्रशंसा की है—

वह स्पष्ट रूप से लिखता है, "इस वृत्तान्त को लिखते समय कुछ स्थलों पर सैयद भाइयों की निन्दा करने के लिये कलम का प्रयोग किया गया है—उन्हें वास्तव में दुर्भाग्य का शिकार होना पड़ा। किन्तु जो कुछ लिखा जा चुका है उसे मिटाया नहीं जा सकता फिर भी प्रायश्चित के रूप में हम उन दोनों भाइयों के चरित्र की श्रेष्ठता तथा सौन्दर्य, उनकी न्याय प्रियता तथा उदारता के सम्बन्ध में कुछ शब्द लिखेंगे। दोनों भाई अपने समय में सब मनुष्यों के प्रति अपनी उदारता तथा कोमल व्यवहार के लिये विख्यात थे। जिन प्रान्तों में विद्रोही प्रवृत्तियों और स्वाव का जोर न था, वहाँ के निवासियों ने सैयदों के शासन के विरुद्ध कभी शिकायत नहीं की। विद्वानों तथा अभावग्रस्त लोगों के प्रति उदारता तथा दयालुता दिखलाने में और गुणवान तथा धार्मिक लोगों की रक्षा करने में हुसैन अली खाँ अपने बड़े भाई से भी बढ़ कर था, और अपने समय के लिये उपयुक्त हातिम था। वह पका हुआ भोजन तथा कच्चा नाज बँटवाया करता जिससे अनेक लोगों को आराम मिलता। जब औरंगाबाद में अन्न का अभाव हुआ तो उसने गरीबों तथा विधवाओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये बहुत सा नकद धन तथा अनाज की विशाल राशि बँटवा दी। औरंगाबाद के जलाशय का आरम्भ उसी ने करवाया। गर्मियों में जब जल का अभाव होता है उस समय उससे लोगों के कष्ट बहुत कुछ दूर होते हैं। अपनी जन्मभूमि बारा में उन्होंने जनता के लाभ के लिये सराएँ पुल तथा इमारतें बनवाईं। सैयद अब्दुल्ला का धीरज, सहनशीलता और व्यापक सहानुभूति उच्चकोटि की थी।'

यहाँ पर हम कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख करेंगे जिनसे सैयदों की नीति तथा चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है—(१) उनके प्रभाव से फर्रुख सियर के राज्यारोहण के समय जिज़या हटा दिया गया। कुछ वर्ष उपरान्त उनके दरबारी प्रतिद्वन्द्वियों ने इसे फिर से लगाने का प्रयत्न किया और कुछ समय के लिये लगा भी दिया किन्तु जब तक सैयदों के हाथ में शक्ति रही तब तब उसको स्थायी न किया जा सका। (२) राजा अजीतसिंह जो मुगलों के विरुद्ध विद्रोह करता आया था, अब साम्राज्य का शक्तिशाली मित्र बन गया और उसने अपनी पुत्री का विवाह फर्रुखसियर के साथ कर दिया। बाद में फर्रुखसियर की मूर्खता के कारण वह फिर शत्रु बन गया। (३) इसी प्रकार हुसैन अली खाँ ने मराठों की चौथ तथा सरदेशमुखी की माँगें स्वीकार करके उन्हें मित्र बना लिया। यदि फर्रुखसियर में बुद्धि तथा चतुराई होती तो वे (मराठे) साम्राज्य के अच्छे सहायक सिद्ध होते किन्तु फर्रुखसियर की अयोग्यता के कारण वे सैयदों के हाथ में रहकर उसके सत्यानाश के साधन बन गये।

दरबार में गुटबन्दी—दरबार में एक दल था जो भीतर तथा बाहर निरन्तर सैयदों के विरुद्ध षड्यन्त्र रचता रहा और उसी के कारण उनका पतन हुआ। उस विरोधी दल में विदेशियों की संख्या अधिक थी, विशेषकर ईरानी तथा तूरानी अमीरों और साहसिकों की। वे समझते थे कि सैयद बहुत अधिक भारतीय

हो गये हैं, और हिन्दुओं के समर्थक तथा धर्मद्रोही हैं। औविन लिखते हैं, "यद्यपि बड़ा के सैयदों को विदेशी माना जाता था, किन्तु वास्तव में वे भारत के पुराने निवासी थे और अपने को हिन्दुस्तानी कहने में गौरव का अनुभव करते थे। यही कारण था कि उनकी सहानुभूति स्वभावतः देशी लोगों के साथ थी, न कि मुग़ल विजेताओं के साथ जो विदेशी थे। और यद्यपि वे मुसलमान थे, किन्तु शिया होने के कारण कट्टर सुन्नी मुगलों से उनकी शत्रुता थी। औरंगजेब की हिन्दुओं पर अत्याचार करने की प्रतिगामी नीति से भी उन्हें घृणा थी, और इसलिये उन्होंने अकबर द्वारा स्थापित सहिष्णुता तथा राजनैतिक समानता की नीति का अनुसरण करके देश की राष्ट्रीय भावना को अपने पक्ष में कर लिया था।" इर्विन ने दरबार के अनेक दलों का उल्लेख किया है:—(१) पहला दल मुगलों, तूरानियों और ईरानियों का था। "शाही सेना में उनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था। १६८० तथा १७०७ के बीच के पच्चीस वर्षों में उनकी संख्या बहुत बढ़ गई थी, क्योंकि औरंगजेब ने दक्खिन में पहले स्थानीय मुसलमान राज्यों से और फिर मराठों से निरन्तर संघर्ष चलाया था।" (२) अफगानों अथवा पठानों में "भारत में स्थायी बस्तियाँ बसाने की प्रतिभा थी जिसका परिचय न तो मुग़लों ने दिया था और न ईरानियों ने,...और वीर योद्धाओं के रूप में अफगानों की सर्वत्र बड़ी माँग थी। (किन्तु) उनकी दुर्बलता यह थी कि वे धन के बहुत लोभी थे और अधिक वेतन मिलने पर वे एक स्वामी को छोड़कर दूसरे के यहाँ भर्ती होने के लिये सदैव तैयार रहते थे। वे इतने उजड्ड तथा निरक्षर होते कि असैनिक जीवन में किसी प्रकार की योग्यता दिखलाना उनके लिये असंभव था।" शाहजहाँ के शासन-काल में निश्चय रूप से उनका महत्व घट गया था; किन्तु औरंगजेब ने उन्हें पुनः प्रोत्साहन दिया और आगे बढ़ाया, "जिन अमीरों के अधीन अफगान सैनिक होते उन्हें सबसे अधिक रियायतें मिलती।" (३) इनके अतिरिक्त थोड़े से अन्य विदेशी भी थे जैसे अरब, हबशी, रूमी और फिरंगी (यूरोपीय)। "खोजे बहुधा हबशी नस्ल के हुआ करते थे और दिल्ली का मुख्य पुलिस अधिकारी भी प्रायः हबशी ही होता था।" (४) "मुगलों अथवा विदेशियों का विरोध करने-वाला दल हिन्दुस्तानियों का था। इसमें अधिक संख्या उन लोगों की थी जो भारत में ही उत्पन्न हुये थे और विदेशी आगन्तुकों की दूसरी अथवा तीसरी पीढ़ी में थे। उदाहरण के लिये बड़ा के सैयदों जैसे लोगों का उल्लेख किया जा सकता है। उनके पूर्वज कई पीढ़ी पहले आकर भारत में बस गये थे, और हिन्दुस्तानी अथवा हिन्दुस्तान-ज़ा कहलाने के अधिकारी थे। राजपूत तथा जाट सरदार और अन्य हिन्दू जमींदार भी इसी दल में सम्मिलित थे। इसी प्रकार नीचे दर्जे के असैनिक पदों पर काम करने वाले परिश्रमी हिन्दू जिनकी संख्या काफी थीं, इसी दल की ओर झुके हुए थे। इस कर्मचारी वर्ग में पंजाब के खत्रियों की संख्या बहुत थी; शेष में अग्रवाल बनियों और कायस्थों का प्रमुख स्थान था। काश्मीर के अनेक

मुसलमान भी इसी दल से सम्बन्धित थे सचिवों तथा व्यवसायियों के रूप में वे हिन्दुओं से टक्कर लेते थे।"

विभिन्न दलों में और कुछ भी अन्तर रहे हों, एक दृष्टि से वे सब दो स्पष्ट वर्गों में विभक्त थे—"सम्राट के मित्र तथा वज़ीर के मित्र।" जैसाकि हम पहले देख चुके हैं, फ़र्रुख़सियर के समय में इन्हीं दो गुटों का प्राधान्य रहा। दूसरे दल के अधिकार में *शक्तिशाली सेनाएँ थीं*, इसलिए वह बार-बार दरबारी क्रान्तियाँ करवाने और सम्राटों को बदलने में सफल हुआ। पहला दल प्रारम्भ में अधिक प्रभावशाली नहीं जान पड़ता था किन्तु बाद में उसने अधिक प्रभावपूर्ण तथा वास्तविक क्रांति करके सैयदों का तख़्ता उलट दिया। राजा के "मित्रों" की "राज निर्माताओं' पर यह विजय इतिहास की एक अत्यधिक आकर्षक कहानी है। विजय का श्रेय मीर जुमला, इतिक़ाद ख़ाँ, ख़ानदौरान, मुहम्मद अमीन ख़ाँ (एतिमादुद्दौला), मुहम्मदशाह की माता और स्वयं सम्राट मुहम्मदशाह को था। किन्तु उन सबके संयुक्त प्रयत्नों से सबसे अधिक लाभ एक व्यक्ति ने उठाया, *जिसका उनके साथ नाम नहीं लिया जाता है। परवर्ती मुग़लों का अराजकतापूर्ण* इतिहास वास्तव में इसी व्यक्ति का इतिहास है। उसका नाम था चिन क़िलिच ख़ाँ आसफ़जाह निज़ामुलमुल्क और वह अच्छे मुग़ल अमीर ग़ाज़ीउद्दीन ख़ाँ फ़ीरोज़ जंग का पुत्र था, जो पहले दक्खिन का और फिर गुजरात का सूबेदार रह चुका था।

निज़ामुलमुल्क का उत्कर्ष

इर्विन लिखते हैं "फ़र्रुख़सियर के सिंहासनारोहण के समय जो लोग उन्नति करके सबसे अगली श्रेणी में पहुँच गये थे उनमें निज़ामुलमुल्क कदाचित सर्वाधिक महत्वशाली था।" उस समय (१७१२ में) उसकी आयु बियालीस वर्ष की थी। आलमगीर के समय में वह सैनिक तथा प्रान्तीय सूबेदार दोनों के ही रूप में विशेष योग्यता का परिचय दे चुका था। १७१२ में उसे दक्खिन के ६ सूबों का भार सौंपा गया; तब से लेकर अपनी मृत्यु तक (१७४८ में) साम्राज्य की राजनीति में उसका उच्च स्थान रहा, और उससे वह कभी गिरा नहीं।

उसके पूर्वज समरकन्द से आये थे। उसके दादा ख़्वाजा आबिद ने उस समय औरंगज़ेब के यहाँ नौकरी कर ली। जब कि वह तख़्त ताऊस पर अधिकार करने के लिये प्रस्थान करने वाला था। तीस वर्ष उपरान्त वह ज़फ़राबाद बीदर का सूबेदार नियुक्त हुआ। गोलकुण्डा के घेरे में उसके घाव लगा और उसी से २० जनवरी १६८७ को उसकी मृत्यु हो गई। छः वर्ष पूर्व उसे चिन क़िलिच ख़ाँ की उपाधि से सम्मानित किया गया था। उसकी भाँति उसका सबसे बड़ा पुत्र और शिहाबुद्दीन भी औरंगज़ेब के शासन काल में उच्च पद पर पहुँच गया था। राजपूताना में राजकुमार अकबर के विद्रोह के संकटमय दिनों में उसने स्वामिभक्ति तथा वीरता का प्रदर्शन करके प्रथमबार अपनी योग्यता का परिचय दिया। इसके बाद जब औरंगज़ेब ने दक्खिन में चौथाई शताब्दी तक बड़े परिश्रम

तथा जी तोडकर संघर्ष चलाया, उस समय वह लगातार उसके साथ रहा। हैदराबाद तथा देवगढ़ की विजय में उसने विशेष ख्याति पाई, और १६८७-८८ में उसे शम्भाजी से लडने भेजा गया। १७०३-४ में उसने मालवा में मराठों का पीछा किया। किन्तु औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसने उत्तराधिकार-युद्ध में भाग नहीं लिया, सामान्यतया तूरानी लोगों से बहादुरशाह बहुत प्रसन्न नहीं था। इसलिये उस सम्राट ने गाजीउद्दीन फीरोज जंग को (उस समय वह इसी नाम से जाना जाता था) गुजरात भेज दिया, क्योंकि दक्खिन में उसे रखना खतरनाक समझा गया। १७१० में अहमदाबाद में उसका देहान्त हो गया। अपने जीवन के अन्तिम बीस वर्षों में गाजीउद्दीन पूर्णतया अन्धा था, फिर भी सक्रिय सेवा करता रहा जो एक असाधारण बात थी। उसका पद ७००० जात था, और अपने पीछे विरासत में वह "१¾ लाख रुपये साहूकारों की हुण्डियों के रूप में, १३३००० सोने की मुहरें, २५००० हूण (सोने के) और निम-पाउलों (सोने को), १७००० सोने की पाउली, ४०० अर्धेलर्या और ८००० चाँदी की पूरी पाउली, १४० घोड़े, ३०० ऊँट, ४०० बैल और ३२ हाथी छोड गया।"

मीर कमरुद्दीन ग़ाज़ीउद्दीन के पुत्र का जन्म ११ अगस्त १६७१ को हुआ था। तेरह वर्ष की अवस्था में उसने नौकरी आरम्भ की, और १६९०-१ में चिन किलचखाँ की उपाधि पाई। औरंगजेब की मृत्यु के समय वह बीजापुर का सूबेदार था। दिसम्बर १७०७ में बहादुरशाह ने उसे अवध का सूबेदार और गोरखपुर का फौजदार नियुक्त किया। अब उसे खान दौरान बहादुर की उपाधि मिल गई और उसका पद ६००० ज़ात तथा ६००० सवार कर दिया गया। अपने पिता की मृत्यु पर उसे भी ७००० ज़ात तथा सवार का मंसबदार बना दिया गया। बहादुरशाह तथा उसके उत्तराधिकारी जहाँदारशाह के प्रति उसका भाव शत्रुतापूर्ण था, इसलिये उसे कुछ समय अपेक्षाकृत हीन दशा में बिताना पड़ा। फर्रुखसियर के समय में उसका पुनः उत्कर्ष हुआ। पहले उसे खानखाना नियुक्त किया गया और फिर निज़ामुलमुल्क बहादुर फतेहजंग की उपाधि प्रदान की गई। जहाँदार को अपदस्थ करने के समय उसने जो सहायता दी थी उसके बदले में उसे दक्खिन की सूबेदारी दे दी गई। किन्तु उसकी महत्वाकांक्षाओं से शंकित होकर दो वर्ष बाद ही हुसैन अली ने स्वयं उसे हटाकर दक्खिन का भार संभाला। निजामुलमुल्क को मुरादाबाद में नियुक्त किया गया, जहाँ से संकट के दिनों में फर्रुखसियर ने उसे दरबार में बुला लिया। उस सम्राट की ओर से वह पहले से ही निराश था, उधर हुसैन अली खाँ ने दरबार में सहसा क्रान्ति करके फर्रुखसियर का तख्ता लौट दिया। ऐसी स्थिति में उसने कुछ समय के लिये सैयदों का साथ देना ही अपने लिये हितकर समझा। सैयद भाई उसे राजधानी से दूर रखना चाहते थे, इसलिये उन्होंने पहले उसे बिहार भेजने का संकल्प किया, किन्तु बाद में उसे मालवा में रखना अधिक अच्छा समझा। उनका विचार था कि वहाँ रहने पर वह चक्की के दो पाटों के बीच फँस जायगा, क्योंकि दक्खिन में और अकबराबाद में, दोनों ओर सैयदों के सम्बन्धी शासन कर रहे थे। "दक्खिन की सूबेदारी से

निज़ामुलमुल्क को थोड़े समय बाद ही हटा दिया गया था, इस बात को वह न भूला था। इसलिये मालवा की नियुक्ति स्वीकार करने से पहले उसने शर्त रक्खी कि मुझे शपथपूर्वक इस बात का वचन दिया जाय कि वहाँ से मैं फिर नहीं हटाया जाऊँगा। उसकी शर्त मान ली गई, और रफीउद्दाराजात के सिंहासनारोहण के कुछ दिनों बाद ही २४ रबी द्वितीय ११३१ हि० (१५ मार्च १७१९) को नवाब ने उज्जैन के लिए प्रस्थान किया। सावधानी के विचार से उसने अपना सम्पूर्ण परिवार और सम्पत्ति भी हटा ली जिससे कोई चीज़ ऐसी न छूट जाय जिसे सैयद लोग बन्धक के रूप में रख सके।"

खाफी खाँ लिखता है, 'और उसके साथ लगभग एक हजार वे साथी मंसबदार और जागीरदार भी चले गये जिनके दिल सैयदों के कठोर व्यवहार और वेतन के बकाया चले आने से खट्टे हो गये थे। (मालवा पहुँचने पर) निज़ामुलमुल्क ने सैनिक तथा तोपखाना इकट्ठा करना आरम्भ कर दिया क्योंकि ये चीज़ें संसार पर शासन करने और व्यवस्था कायम रखने के लिये आवश्यक होती हैं। उसने मुहम्मद गियास खाँ को अपने मुग़ल साथियों में बाँटने के लिये ५० घोड़े दे दिये और उन्हें अश्वारोहियों में भर्ती कर लिया। दूसरों को उसने धन की बड़ी बड़ी रकमें भेज दीं और इस प्रकार उन्हें ऋण तथा दयालुता के बन्धनों द्वारा अपने से सम्बद्ध कर लिया।'

निज़ाम की इन लड़ाकू कार्यवाहियों से सदैव सचेत रहने वाले सैयदों को सन्देह होने लगा, अतः हुसैन अली खाँ ने उससे जवाब माँगा। कुटिल नवाब ने उत्तर दिया कि राज्यों पर गुलाब जल के द्वारा शासन नहीं किया जा सकता। उसने कहा कि जो लोग मालवा में नहीं रहे हैं उनसे आशा नहीं की जा सकती कि वे यहाँ की दशा समझ सकेंगे, किन्तु आप तो (हुसैन अली खाँ) अभी हाल ही में इस प्रान्त में होकर गये हैं इसलिये आप वस्तु स्थिति से भली-भाँति परिचित होंगे। "पचास हज़ार मराठे घुड़सवार इसको उजाड़ने में लगे हैं; यदि बड़ी संख्या में सैनिक न रक्खे गये तो देश को उनकी लूट मार से बचाने की क्या आशा हो सकती है," उसने कहा कि इसीलिये मैंने अपने सैनिकों तथा साधनों में वृद्धि कर ली है।

किन्तु इस उत्तर से हुसैन अली को सन्तोष नहीं हुआ और पहले के सभी आश्वासनों के विपरीत निज़ाम के नाम एक फर्मान जारी किया गया और उसे मालवा से वापिस बुलाया गया। फर्मान में कहा गया कि दक्खिन की सुरक्षा के लिये आवश्यक है कि हुसैनअली खाँ स्वयं इस प्रान्त (मालवा का) का भार सँभाले, और निज़ाम अपने लिये अकबराबाद, मुलतान, इलाहाबाद और बुरहानपुर में से जिसको चाहे चुन ले। "यह सरासर विश्वासघात था, और इससे निज़ामुलमुल्क का यह सन्देह पुष्ट हो गया कि मेरा सत्यानाश होने को है।" एक अन्य सूत्र से भी उसके इस डर की पुष्टि हो गई :—

खाफी खाँ ने लिखा है, सिंहासनारोहण के बाद मुहम्मदशाह ने और उसकी माता

मरियम मकानी ने इतिमादुद्दौला मुहम्मद अमीर खाँ के द्वारा निज़ामुलमुल्क के पास पत्र भेजे और उसे सूचना दी कि सैयदों का प्रतिबन्ध इतना कठोर है कि मुझे केवल शुक्र के दिन नमाज पढ़ने के लिए जाने दिया जाता है, और मुझे किसी प्रकार की आज्ञा जारी करने का अधिकार नहीं है, कि सैयदों ने अपनी व्यर्थ की योजनाओं के अनुसार नेकूसियर और गिरधर का मामला निपटाने के बाद प्रस्ताव किया कि निज़ामुलमुल्क से भी पिंड छुड़ा लिया जाय, जिससे वे मनमानी कर सकें, और हमको (मुहम्मदशाह तथा उसकी माता को) पूरा विश्वास है कि तुम्हारे पूर्वजों ने जो स्वामिभक्ति दिखलाई थी उसमें तुम (निज़ामुलमुल्क) किसी प्रकार की कमी न आने दोगे।'

खाफी खाँ आगे 'लिखता है, 'निज़ामुलमुल्क ने बीच के आठ नौ महीने सात आठ हज़ार घुड़सवार तथा युद्ध सामग्री एकत्र करने में बिताये थे। वह सावधान तथा सतर्क था, और उसने दक्खिन को जीतने—धन तथा सैनिकों से भरे पूरे उस प्रदेश को मुक्त करने—की योजना बनाई। उसी समय उसके वकीलों ने उसे सूचना दी कि सैयदों ने आपको सम्राट के सामने बुलाने के लिये अधिकारी भेज दिये हैं। किन्तु उनके पहुँचने से पहले उसे सम्राट के तथा अपने निजी मित्रों के पत्र मिल गये जिनमें कहा गया कि अब विलम्ब करने का समय नहीं है और जो तुम्हें करना हो जल्दी करो।'

इसी बीच में हुसैन अली खाँ ने दिलावर खाँ को एक विशाल सेना के साथ निज़ामुलमुल्क को खदेड़ने के लिये दक्षिण की ओर भेज दिया, और बहाना यह किया कि वह (दिलावर) औरङ्गाबाद से मेरे परिवार को लेने जा रहा है। साथ ही साथ उसने अपने भतीजे सैयद आलम खाँ को जो औरङ्गाबाद में था, आज्ञा भेजी कि उस ओर से आक्रमण करने के लिये तैयार हो जाओ।

'निज़ामुलमुल्क ने देखा कि ये दोनों भाई (सैयद) शाही राजवंश का उन्मूलन करने और संसार के खलीफा को हटाने पर तुले हुये हैं। जब उसने समझा कि अब बचने का कोई उपाय नहीं है तो अपने मित्रों से सलाह की, और उज्जैन से चलकर पहले तीन मंजिल आगरा की ओर बढ़ा और फिर दक्खिन को मुड़ गया।' उसने कहा, कि "मेरे जैसे उच्च पद को धारण करने वाला ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो अपने सम्मान की रक्षा न कर सके? विजय हमसे छिपी रहती है, वह सर्वशक्तिमान ईश्वर की देन होती है, और केवल विशाल झुंडों के बल पर नहीं प्राप्त होती। जिस ईश्वर ने मुझे जन्म दिया है उसकी शपथ खाकर मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि वे सारे हिन्दुस्तान को लेकर मुझ पर चढ़ाई कर दें, तब भी मैं निर्भय होकर उनका मुकाबिला करूँगा। यदि मेरे भाग्य में अधिक दिनों तक जीना बदा है तो मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ सकता; और यदि यहाँ से कूच करने का समय आगया है तो मुझे कोई बचा नहीं सकता।" इस दृढ़ संकल्प से इस भाग्यशाली पुरुष ने स्थिति का सामना किया।

२३ मई १७२० तक असीरगढ़ और बुरहानपुर पर उसका अधिकार हो गया।

'बुरहानपुर को जब उसने प्रस्थान किया उससे ठीक पहले हुसैन अली खाँ के मार्ग सैफुद्दीन अली खाँ के बच्चे तथा आश्रित लोग दिल्ली को जाते समय मार्ग में आकर उस स्थान पर टिके थे। नगर के निज़ामुलमुल्क के अधिकार में आ जाने से वे बड़े भयभीत हुए। उसके कुछ मित्रों ने सलाह दी कि उनकी बहुमूल्य वस्तुओं को छीन लो (किन्तु सज्जनता के साथ उसने ऐसा करने से इन्कार किया) और उसने एक रक्षक दल उन्हें नर्मदा तक पहुँचाने के लिये भेज दिया (जिससे उन्हें बड़ा सन्तोष तथा विस्मय हुआ)।' किन्तु उसे सबसे अधिक निर्णायक विजय उन दो सेनाओं के विरुद्ध प्राप्त हुई जिन्हें हुसैन अली खाँ ने उससे लड़ने भेजा था।

इन लड़ाइयों का ब्यौरा सुनने में अच्छा लगेगा, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु स्थानाभाव के कारण हम उसे यहाँ सविस्तार नहीं दे सकते। युद्ध के परिणामों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। निज़ामुलमुल्क ने "बुरहानपुर तथा नर्मदा के बीच" पंढरपुर में दिलावर को परास्त किया। सैयदों की सेना के राजपूतों ने अपने चरित्र के अनुरूप वीरता से युद्ध किया, फिर भी उन्हें भारी पराजय भुगतनी पड़ी। उसके अधिकारियों ने शत्रु का पीछा करने की आज्ञा माँगी, किन्तु उसने मना कर दिया।

उसने घायल सैनिकों को एकत्र किया और उनके लिये हकीम, घावों को अच्छा करने वाली औषधियाँ और वस्त्र भेज दिये। कुछ को उसमें थोड़े कुछ को पालकियाँ और कुछ को रोगियों की गाड़ियाँ दिलवा दीं। जब वे अच्छे हो गये तो उनसे अपने यहाँ भर्ती होने को कहा। चूँकि उनका स्वामी हुसैन अली खाँ अभी जीवित था इसलिये उन्होंने भर्ती होने से इन्कार कर दिया तब उन्हें मार्ग का खर्च दे दिया गया और वे चले गये। दिलावरखाँ का (जो युद्ध में मारा गया था) शव शिष्टाचार के साथ दफ़ना दिया गया हिन्दुओं के शव राजा इन्द्रजीतसिंह की देख रेख में जलवा दिये गये। निज़ामुलमुल्क और उसके सैनिक बुरहानपुर को लौट गये।

९ जुलाई १७२० को जब सैयद भाइयों को आलम देश की भयंकर पराजय का समाचार मिला तो वे घबरा कर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। किन्तु सँभल कर उन्होंने निकृष्टतापूर्ण कूटनीति का सहारा लिया।—

निज़ामुलमुल्क के नाम एक फर्मान भेजा गया और उसके साथ हुसैन अली का एक पत्र। उसमें कहा गया कि दिलावरखाँ को इसलिये भेजा गया था कि औरंगाबाद से मेरे (हुसैन अली खाँ के) परिवार को हिन्दुस्तान ले आये। किन्तु उसने निराधार आशंकाओं का बहाना करके आपके (निज़ामुलमुल्क के) मामलों में हस्तक्षेप किया, और ईश्वर को धन्यवाद है कि उसे उसका उचित दण्ड मिल गया। अनेक लोगों ने जिनको दुष्टता देने और बेनामी के कामों से मज़ा है, अनेक विषयों के सम्बन्ध में इस प्रकार नमक मिर्च मिला कर लिखा जिससे हमारे और आपके बीच फूट पड़ जाय। बड़े खेद की बात है कि पुराने मित्रों के बीच इस प्रकार का सन्देह उत्पन्न हो। ईर्ष्यालु लोग फूट का बीज बो कर अपना काम बनाना चाहते हैं।' किन्तु मैं (हुसैन अली खाँ) आपकी

राजभक्ति से परिचित हूँ, इसलिये मैंने हस्तक्षेप किया। "मुझे कृतज्ञता से कहना पड़ता है कि इससे आपके शत्रुओं का पराभव हुआ और आपके मित्र प्रसन्न हुए। श्रीमान् सम्राट ने कृपा करके आपको दक्खिन की सूबेदारी देने के लिये एक फर्मान जारी करने का संकल्प कर लिया है। मेरी बधाई स्वीकार कीजिये। मेरा दत्तक पुत्र आलम अली खाँ, और मेरा परिवार इस देश को लौटना चाहते हैं, कृपा करके एक रक्षक दल उनके साथ भेज दीजिये जिससे मार्ग में उन्हें कोई सताये न।'

किन्तु वास्तविकता यह थी कि आलम अली खाँ से कहा गया था कि जहाँ तक हो सके उस "बूढ़े भेड़िये" से पिंड छुड़ाने का प्रयत्न करना। निज़ामुलमुल्क ने भी अली को इसी तरह झाँसा दिया।

उसने बहाना किया कि मैं अपनी सेना का विघटन करके मक्का को प्रस्थान करने वाला हूँ। किन्तु २० जुलाई १७२० को उसने बरार के सूबे में सिउगाँव के निकट कँटीली झाड़ियों से भरे एक ढालू स्थान पर अपने तँबुए गाड़ दिये। भारी वर्षा तथा मराठों की लूट-मार के कारण चीजों के भाव इतने बढ़ गये थे कि एक रुपये में केवल सेर-दो सेर आटा मिलता था। 'पशुओं तक घास अथवा नाज की गन्ध भी न पहुँचती थी।' ९ अगस्त को निज़ामुलमुल्क ने अपनी सेना बालापुर से दो-तीन कोस दूर एक स्थान पर ले जा कर खड़ी कर दी। दूसरे दिन युद्ध आरम्भ हो गया। आलम अली खाँ घायल हो गया, और लोगों ने घेर कर उसका सर काट लिया। घोर संकट के समय जब उसका हाथी पीछे को मुड़ गया, तो सैयद की सन्तान यह वीर बालक (उस समय वह केवल २२ वर्ष का था) जिसके घावों से रक्त टपक रहा था, निज़ामुलमुल्क की सेना की ओर मुड़कर चिल्लाया कि मेरा हाथी पीठ दिखा गया है, न कि मैं। उसके सब बाण समाप्त हो चुके थे, किन्तु शत्रु के जो बाण उसके चेहरे पर, शरीर में अथवा हौदे में लगे उनको उसने शीघ्रता से खींच कर फिर चला दिया। लगातार उसके इतने घाव लगे कि वह मर कर वहीं गिर गया, और इस प्रकार उसने अपने चाचाओं के लिये अपना जीवन निछावर कर दिया।

हुसैन अली का अन्त—अब एक ही मार्ग रह गया था। हुसैन अली ने अब्दुल्ला खाँ को राजधानी का तथा उत्तर का भार सँभालने के लिये छोड़ा और स्वयं सम्राट के साथ दक्षिण को प्रस्थान किया। किन्तु उसकी बगल में अब भी एक काँटा खटक रहा था। मुहम्मद अमीनखाँ इतिमादुद्दौला से निपटना बहुत कठिन था। वह निज़ामुलमुल्क का चचेरा भाई और दरबार तथा सेना में मुग़लों का नेता था। वह इतना खतरनाक था कि न तो उसे पीछे छोड़ना ही हितकर था और न शिविर में साथ रखना। लोगों के सन्देह को दूर करके के लिये वह दरबार में निज़ाम के आचरण की नीचता और उसकी सामान्य दुष्टता के बारे में ज़ोर-ज़ोर से बात किया करता था, किन्तु वस्तव में एक भी क्षण ऐसा न जाता जब वह अपने राजनैतिक शत्रु सैयदों के विरुद्ध षड्यंत्र रचने में संलग्न न रहता हो। हुसैन अली उसका सम्मान करने के लिये सदैव उसे "पूज्य चाचाजी" कह कर

पुकारता,। दोनों ओर की इस कुटिलता के बावजूद भ गरा से निकलते ही मार्ग में हुसैन अली खाँ के नाश का षड्यन्त्र रचा जाने लगा।

षड्यंत्रकारियों में मुहम्मद अमीनखाँ, हैदर कुली खाँ (मीरे आतिश) अब्दुल गफ्फारखाँ और मीर जुमला प्रमुख थे। बयाना के नये फौजदार सैयद मुहम्मद अमीन सादत खाँ को भी इस रहस्य में सम्मिलित कर लिया गया था। मीर हैदर बेग दुगलत नामक एक व्यक्ति ऐसा मिल गया जो इस काम को करने के लिये तैयार था। जो वह सैयद किन्तु किसी प्रकार से राजी कर लिया गया था। सम्राट मुहम्मदशाह तथा उसकी माता ने इस गिरोह को इस आशा से संरक्षण दिया कि राजनिर्माताओं के असत्य जुए से हमें मुक्ति मिल जायगी। हुसैन अलीखाँ के कुछ मित्रों ने जिनकी बुद्धि अधिक पैनी थी, उसे इस खतरे की चेतावनी भी दे दी थी। किन्तु नुलिवस रीमर की सी उदासीनता से उसने उत्तर दिया कि "ऐसा कौन है जो मुझ पर अंगुली उठा सके? क्या षड्यंत्र है? मेरी हत्या का क्या कारण हो सकता है?"

निश्चित दिन को मुहम्मद अमीनखाँ ने बीमार होने का बहाना किया। दोपहर के समय हुसैन अली खाँ अपनी पालकी में बैठकर दरबार से लौट रहा था। मार्ग में उसके भावी हत्यारे ने चिल्लाकर कहा 'फरियाद! फरियाद!', और अपनी आस्तीन में से एक कागज का पोंग निकाला जिसे लोगों ने आवेदन पत्र समझा। ऐसा लगा कि बख्शी (हुसैन अली खाँ) उसे जानता था। उसने उसे अपने निकट बुलाया। फरियादी मुहम्मद अमीनखाँ को जोर-जोर से शाप दे रहा था और कह रहा था कि उसने मेरे साथ दुर्व्यवहार किया है। सैयद हुसैन अली एक तरफ अपने हुक्का की ओर मुड़ा और साथ ही साथ प्रार्थना-पत्र पढ़ने लगा। बनावटी फरियादी हैदर बेग ने एक हथियार उसके भोंक दिया, देखने में वह कसाई का चाकू-सा मालूम पड़ता था। स्वयं हत्यारे को उसी स्थान पर काट डाला गया किन्तु हुसैन अलीखाँ भी न बच सका। भारतीय कर्बला में एक दूसरा हुसैन शहीद हुआ, और एक दूसरे यजीद के हाथों से।' (८ अक्टूबर १०२ ।)

इस अपराध के दूसरे दिन मुहम्मदशाह ने विधिवत दरबार लगाया। "उसी बीच में मुहम्मद अमीन खाँ ने बागियों को गिरफ्तार करने के लिये मुगल पहरेदार नियुक्त कर दिये और गाँवों के सशस्त्र लोगों को आज्ञा दी कि यदि कोई आदमी शिविर से भागने का प्रयत्न करे तो उसे रोक दो। इस प्रकार, अनेक लोग जो सैयदों के पक्ष के थे और भाग निकलना चाहते थे, वहीं ठहरने पर बाध्य हुए। मुहम्मद अमीन खाँ स्वयं उनसे मिलने गया और उन्हें अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया।' अनेक अमीरों ने सम्राट के चरणों पर उपहार चढ़ाये। अमीन खाँ को ८०० जात का पद दिया गया। और वह उप हारों से लद गया। इस दौरान दोनों पक्षों में से किसी का भी बुरा नहीं बनना चाहता था इसलिये वह तटस्थ रहा था, फिर भी उसे ८०० का पद प्रदान किया गया। कमरुद्दीन खाँ (मुहम्मद अमीन खाँ का पुत्र) हैदरकुली खाँ और सादत खाँ को क्रमशः ७००० ६००० और ५००० के मनसब मिले।

इन घटनाओं के उपरान्त अब्दुल्ला खाँ ने जो कुछ किया उसका उल्लेख हम

पहले कर आये हैं। उसने पुराना खेल खेलना चाहा और एक नये राजकुमार को सिंहासन पर बिठलाने का प्रयत्न किया। किन्तु इसका परिणाम उसके तथा उसके कठपुतली सम्राट दोनों ही के लिये दुःखद हुआ। दोनों ने ही कारागार के मार्ग से इस संसार से विदा ली। अब्दुल्ला खाँ ने १७२२ में शरीर छोड़ा और इब्राहीम ने १७४६ में, सम्राट मुहम्मदशाह की मृत्यु से दो वर्ष पहले। यहाँ पर हमें निज़ामुलमुल्क की कहानी जारी रखना है। सैयद भाइयों की मृत्यु से उसका अपने सबसे शक्तिशाली प्रतिद्वन्दियों से पिंड छूट गया था, यद्यपि उनकी हत्या के लिए वह स्वयं उत्तरदायी नहीं था। जो षड़यन्त्र उनके लिये घातक सिद्ध हुये उनमें वह सम्मिलित नहीं था। हो सकता है कि उनको उसने अच्छा समझा हो और निष्क्रिय रूप से देखता रहा हो। इर्वाइन लिखते है कि "सैयदों के उठ जाने से कहानी एक प्रकार की नाटकीय पूर्णता को प्राप्त हो गई।"

'सियर-उल मुताखरीन' का रचियता लिखता है, 'इन दो प्रसिद्ध व्यक्तियों के गुणों में कुछ असमानता थी। छोटा भाई हुसैन अली खाँ अनेक गुणों में जो दयालु ईश्वर ने उसे प्रदान किये थे, अपने बड़े भाई से बढ़ कर था। वास्तविक शक्ति में तो उस काल का कोई शासक उससे तुलना न कर सकता था, बल्कि इतिहास में जो ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने दूसरों को राज्य और मुकुट प्रदान करके और साम्राज्यों को विजय करके ख्याति [illegible]ई है, उनमें से भी वह अनेकों से बढ़ कर था। किन्तु उसके भाग्य में न तो अधिक काल [illegible]क शक्ति धारण करना लिखा था और न जीवित रहना ही। यदि कहीं लिखा होता तो [illegible]म्भव है कि ऐसा अपमानजनक समय न आता जैसा कि हम आज देख रहे हैं और देख [illegible]र लज्जित हो रहे हैं, न हिन्दुस्तान का सम्मान ही मिट्टी में मिलता और न अमीरों तथा [illegible]द्र लोगों की ऐसी दुर्दशा होती जैसी कि आज हो रही है।'

लेखक के इस कथन में कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है, किन्तु वह क्षम्य है।

सैयदों की मुग़ल अथवा दरबारी दल से अनबन होगई थी, और इस दल के [illegible]मुख नेता थे मुहम्मद अमीन खाँ, हैदर कुली खाँ, सादत अली खाँ और [illegible]निज़ामुलमुल्क। इसलिये सैयदों के पराभव का अर्थ था इन सब की विजय। हुसैन अली खाँ की हत्या के बाद इनमें से कुछ अमीरों की जो पद वृद्धि हुई उसका पहले उल्लेख हो चुका है। अब्दुल्ला की हार के बाद पदों का अन्तिम रूप से वितरण हुआ।

२५ नवम्बर १७२० को दीवाने खास में शानदार दरबार लगा। जिन लोगों को पुरस्कृत किया गया उन्होंने सैयदों के विरुद्ध षड़यन्त्र में प्रमुख भाग लिया था। हुसैन अली खाँ के हत्यारे के भाई को उठा कर ४००० का मंसबदार बना दिया गया; बयाना के फौजदार सादत अली खाँ को आगरा का शासन सौंपा गया; और मुहम्मद खाँ बंगश को जिसने अब्दुल्ला का साथ छोड़ दिया था, इलाहाबाद की सूबेदारी मिली। षड़यन्त्र के कर्णधार मुहम्मद अमीन खाँ को वज़ीर नियुक्त किया गया। किन्तु दुर्भाग्य से वह इस क्रान्ति के बाद अधिक दिनों तक जीवित

न रहा। २० जनवरी १७२१ को चार पाँच दिन की बीमारी के उपरान्त उसका देहान्त हो गया। खान दौरान तथा स्वर्गीय वज़ीर के पुत्र कमरुद्दीन खाँ की पारस्परिक ईर्षा का परिणाम यह हुआ कि रिक्त पद को धारण करने के लिये एक तीसरे और दूरस्थ व्यक्ति—निज़ामुलमुल्क—को आमन्त्रित किया गया।

निज़ाम वज़ीर के पद पर—जब मुहम्मद अमीन खाँ वज़ीर के पद पर नियुक्त हो गया, तो निज़ामुलमुल्क ने बुद्धिमत्तापूर्वक अपने को राजधानी से दूर रक्खा। अपने सूबे में वह लगभग स्वतन्त्र था, जबकि वज़ीर के पद से होने वाले लाभों में सन्देह था, इसलिये उसने वहीं रहना पसन्द किया। दक्षिण की ओर बढ़ कर उसने मैसूर तथा कर्नाटक को जीतने का यत्न किया और मराठों के विरुद्ध अपनी स्थिति दृढ़ कर ली। किन्तु जब राजधानी से निमन्त्रण पहुँचा तो उसे स्वीकार करना उसने अपना कर्तव्य समझा। २० फरवरी १७२२ को उसे वज़ीर का पद प्रदान किया गया और प्रचलित रीति के अनुसार वस्त्र, रत्न, एक अंगूठी और रत्नजटित कलमदान आदि भेंट किये गये।

यह नया पद निज़ाम के लिये फूलों की सेज न था, बल्कि काँटों का ताज सिद्ध हुआ। सम्राट अपने नीच मित्रजनों के हाथ की कठपुतली था; उनमें कोकी नाम की एक नीची स्थिति की किन्तु चतुर स्त्री और महल का खोजा हाफ़िज़ ख़िदमतगार खाँ मुख्य थे, एक ओर ये और दूसरी ओर सम्मुद्दौला खान दौरान जैसे अमीर। निज़ाम इनके बीच में फँस गया और उसकी अनेक योजनाओं में रोड़ा अटकने लगा। उसने सब बातों में औरंगज़ेब को अपना आदर्श मान रक्खा था, और उसकी महत्वाकांक्षा थी कि प्रशासन को उसी स्थिति में पहुँचा दिया जाय जिसमें वह उस सम्राट के समय में था। उसने पेशकश की प्रथा को हटाने का प्रयत्न किया, क्योंकि अब उसने घूस का रूप धारण कर लिया था। राजकुमारों, राजकुमारियों और अमीरों को जागीर के रूप में आवश्यकता से अधिक भूमि दी जाने लगी थी, इससे शाही कोष को भारी हानि होती थी उसने इसको भी कम करने की चेष्टा की। 'उसने इस बात की भी आलोचना कि ऊँचे-ऊँचे पदों पर अयोग्य व्यक्ति नियुक्त कर दिए गये थे, और योग्य अधिकारियों को जीवन निर्वाह की वस्तुएँ मिलना भी कठिन हो गया था" यद्यपि उसके इन सभी सुधारों का उद्देश्य अच्छा था, फिर भी वे विफल रहे, बल्कि उनके कारण सम्राट तथा अमीर उससे अप्रसन्न हो गये।

गुलाम हुसैन लिखता है, 'निज़ामुलमुल्क गम्भीर प्रकृति का व्यक्ति था, व्यवहार में भी वह अधिक स्पष्ट नहीं था और उसे शक्ति से प्रेम था, यही कारण था कि उसने प्रशासन के अनेक महत्वपूर्ण विभागों में सुधार करने का प्रयत्न किया।... —उसने सम्राट से भी अनुरोध किया कि प्रजा के सामने आप अधिक गम्भीरता का व्यवहार करें, सभी प्रकार की उच्छृंखलता त्याग दें, अपने व्यवहार को अवसर के अनुकूल बनायें, अपने नौकर चाकरों को मर्यादा के भीतर नियंत्रित करके रक्खें, प्रत्येक विभाग से सम्बन्धित काम

काल के समय को निश्चित घंटों में बाँट लें, और न्याय कार्य स्वयं करें (राजाओं का यह सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य है और इसके बिना वे प्रजा को सन्तुष्ट नहीं रख सकते) और उसके लिये समय निश्चित कर लें। संक्षेप में, वह यह चाहता था कि सम्राट अपने कर्तव्यों का योग्यता के साथ पालन करे। इन सब उपदेशों को सम्राट धीरज के साथ सुनता, किन्तु वे उसे अच्छे न लगते थे। सम्राट के दिन अभी भरी जवानी के थे, प्रभुत्व का उसे घमंड था और आनन्द के जीवन में ही उसका मन पूरी तरह लगता था। अधिकतर अमीरों को भी निजाम के ये विचार पसन्द नहीं आये, विशेषकर खान दौरान को, क्योंकि वह नहीं चाहता था कि दरबार में निजामुलमुल्क जैसे व्यक्ति का नेतृत्व रहे। इस लिये ये लोग वजीर को बुरी दृष्टि से देखते और उसे देखकर नाक-भौं सिकोड़ने लगते थे। उसकी आयु पचास वर्ष से अधिक थी, इसलिये सम्राट तथा उसके साथी उसकी चालढाल को पुराने ढंग का बतला कर मखौल उड़ाते थे। "इसी समय की एक घटना है कि "एक बार मुहम्मदशाह निजामुलमुल्क की चाल तथा वेशभूषा को देखकर खुले दरबार में हँस पड़ा और समसुद्दौला बोला कि देखो दक्खिनी बन्दर कैसे नाचता है? इस कहानी में कितना सत्य है यह नहीं कहा जा सकता।"

नये वजीर को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा वे दरबार तथा राजधानी तक ही न सीमित थीं। प्रान्तीय सूबेदारों में भी ऐसे लोगों की कमी न थी जो उससे ईर्ष्या करते और उसको गिराने के लिये षड्यन्त्र रचते रहते। इनमें गुजरात का सूबेदार हैदर कुली खाँ प्रमुख था। पाठकों को स्मरण होगा कि हुसैन अली की हत्या के समय वह मीरे आतिश के पद पर कार्य कर रहा था। हत्या में उसका हाथ था, इसीलिये वह सूबेदार बना दिया गया था। निज़ामुलमुल्क के उत्कर्ष को यह अमीर कभी सहन न कर सकता था, इसलिये जहाँ तक उससे बन पड़ा उसने वज़ीर की योजनाओं को विफल बनाने का प्रयत्न किया। उसने स्वतन्त्र बनने तथा शाही चिन्ह धारण करने के भी लक्षण दिखलाये। निज़ामुलमुल्क जब उसको अन्य तरीकों से ठीक राह पर न ला सका तो उसने अहमदाबाद का भार स्वयं सँभालने के लिये सम्राट से आज्ञा ले ली। और इस उद्देश्य से वह ११ नवम्बर १७२२ को दिल्ली से चल पड़ा।

इस कठोर कार्यवाही से हैदर कुली घबड़ा गया, और उससे बचने के लिये उसने अनेक चालें चलीं। सम्राट के मस्तिष्क पर प्रभाव डालने, अमीरों को घूस देकर अपने पक्ष में करने और बचाव तथा अपने पद को पुनः प्राप्त करने के लिये हर आवश्यक उपाय ढूँढ निकालने के उद्देश्य से उसने अपने पुत्र कासिम खाँ को राजधानी को भेजा। किन्तु कोई भी उपाय सफल नहीं हुआ। निजामुलमुल्क १६ फरवरी १७२३ को अहमदाबाद पहुँच गया। किंकर्तव्यविमूढ़ होकर विद्रोही सूबेदार ने पागल होने का बहाना किया और भाग खड़ा हुआ। इस प्रकार बिना प्रहार किये निज़ामुलमुल्क ने नये प्रान्त पर अधिकार प्राप्त कर लिया। इसलिये उसी महीने की २८ तारीख को उसने अहमदाबाद से राजधानी को प्रस्थान

किया; प्रान्त का भार सँभालने के लिये वह अपने चाचा हामिद खाँ को अपने नाइब के रूप में छोड़ आया।

मार्ग में वज़ीर ने भूपाल के दोस्त मुहम्मद खाँ को भी समर्पण करने पर बाध्य किया—उसने १७२० में दिलावर खाँ के यहाँ नौकरी कर ली थी, जब कि वह सेनानायक दक्षिण में निज़ामुलमुल्क को गिरफ्तार करने गया था। इसके बाद सिरोंज में १२ मई १७२१ को वज़ीर ने अपने चचेरे भाई अज़ीमुल्ला खाँ को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। ३ जुलाई को वह राजधानी में वापिस पहुँच गया, और सम्राट के सम्मुख दरबार में उपस्थित हुआ।

किन्तु दरबार की जो स्थिति थी उसको देखते हुए निज़ाम के लिये अपने पद पर अधिक दिनों तक कार्य करते रहना सम्भव न था। सुधारों के लिये उसका उत्साह कम नहीं हुआ था, यद्यपि इससे पहले वह अपने प्रयत्नों में विफल हो चुका था। उधर सम्राट के कृपापात्रों का कुप्रभाव पूर्ववत् बना हुआ था।

एक लेखक अत्यधिक व्यथित हृदय से पूछता है, 'इससे क्या लाभ कि सम्राट महलों की दीवारों के पीछे एकान्त में स्त्रियों की भाँति बैठा रहे? यदि सम्राट स्त्रियों की आदतें अपना ले और उन्हीं के केशपाश में उलझा रहे, तो एक अच्छे मुसलमान के पास इसके अतिरिक्त क्या चारा हो सकता है कि वह तीर्थ स्थानों को चला जाय, और यदि वहाँ की यात्रा के लिये भी व्यय न हो तो विष की एक पुड़िया खाले और इस संसार को छोड़कर दूसरे लोक को कूच कर जाय!' निज़ामुलमुल्क के सुधारों के दो मुख्य उद्देश्य थे—राजस्व को ठेके पर उठाने की प्रथा से उत्पन्न भ्रष्टाचार को रोकना और जिज़या को पुन: लगाना। यह घृणित कर शासन के प्रारम्भ में राजा जयसिंह तथा अन्य राजभक्त हिन्दुओं के अनुरोध से हटा दिया गया था। उसको पुनर्जीवित करने का निज़ाम का यह प्रयत्न उसके अन्य सुधारों की भाँति ही विफल रहा।* १७२५ (मार्च अप्रैल) में नाम के लिये जिज़या पुनः लगाया गया, किन्तु यह अन्तिम बार था इसके बाद वह सदैव के लिये उठ गया। लेकिन इन प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू लोग विरोधियों के झंडे के नीचे एकत्र हो गये। सम्राट अपने भ्रष्ट कृपापात्रों के हाथ की कठपुतली मात्र था। जैसा कि एक समकालीन लेखक ने लिखा है, 'हर आदमी मुख्यमन्त्री अथवा राजस्व प्रशासक बन गया था।' चुगलखोर निज़ामुलमुल्क से कहते कि मुहम्मदशाह निकम्मा तथा दुराचारी है, सिंहासन के अयोग्य है, और इसी योग्य है कि अपदस्थ कर दिया जाय और उसके स्थान पर राजकुमार इब्राहीम अथवा अन्य किसी योग्यतर राजकुमार को बिठला दिया जाय। उधर वे सम्राट के पास जाकर वज़ीर के विरुद्ध उसके कान भरते और कहते कि वह सैयद भाइयों की ही भाँति महत्त्वाकांक्षी है और इसलिये आपके जीवन तथा सिंहासन दोनों ही के लिये खतरनाक

---

* 'एक दिन निज़ामुलमुल्क ने सम्राट से कहा कि खालसा भूमि को ठेके पर देने की प्रथा घातक है, इसे बन्द कर दिया जाय दूसरे, पेशकश के नाम से जो रिश्वतें ली जाती हैं वे सम्राट के लिये लज्जाजनक और अपनी नीति के विरुद्ध हैं; तीसरे, काफिरों से जिज़या फिर वसूल किया जाय, जैसा कि औरंगज़ेब के समय में होता था।'

। इस प्रकार की बातों ने दोनों ओर सन्देह उत्पन्न कर दिया और अन्त में सम्राट तथा
ज़ीर के बीच कडुआहट तथा मनमुटाव बढ़ता गया।

इन परिस्थितियों में निज़ामुलमुल्क ने बुद्धिमानी से सोचा कि मेरे लिये सबसे अच्छा मार्ग यही है कि यहाँ से दक्खिन चला जाऊँ। किन्तु इस प्रकार की कार्यवाही से उसके विरोधियों के मन में उसके इरादों के सम्बन्ध में सन्देह उठ सकता था, इसलिये उसने अस्वस्थ होने का बहाना किया और परिवर्तन की इच्छा प्रकट की। कहा कि दिल्ली का जलवायु मेरे लिये असह्य है। १७ दिसम्बर को उसने सम्राट से विदा ली और अपनी साँभल तथा मुरादाबाद की जागीरों को जाने का बहाना करके चल पड़ा। वह अपने सम्पूर्ण परिवार को अपने साथ लेता गया, जिससे लोगों को सन्देह हुआ। १८ फरवरी को उसने दिल्ली को लिख भेजा कि मैं राजधानी को लौटना चाहता हूँ, किन्तु गया दक्षिण की ओर, और कह दिया कि मालवा और गुजरात पर जिनका भार मुझ पर है, मराठों का सकट आ गया है। जब वह काफी आगे बढ गया तो सब बहाने त्याग दिये और तेज़ी से दक्खिन में बढ़ता गया। अगस्त १७२४ में वह सुरक्षापूर्वक औरंगाबाद में जा पहुँचा।

उधर दरबारीगण तथा निजामुलमुल्क के शत्रु उसे सरकारी तौर से अपदस्थ करने तथा सम्भव हो सके तो उससे पूर्णतया पिंड छुटाने के लिये षडयन्त्र रच रहे थे। पुरानी चालें जिनका सैयद हुसैनअलीखाँ के विरुद्ध प्रयोग किया गया था, फिर दुहराई गईं। निज़ाम के औरंगाबाद पहुँचने से पहले ही हैदराबाद के सूबेदार के पिता मुबारिजखाँ के पास शाही राजधानी से एक फर्मान पहुँच गया, जिसके अनुसार उसको दक्खिन का सूबेदार नियुक्त किया गया और आशा प्रकट की गई कि वह निज़ामुलमुल्क पर चढाई कर देगा। किन्तु मुबारिजखाँ के दुर्भाग्य से वज़ीर को पहले से ही इस पूरी योजना की गंध मिल गई, इसलिये उसने अपनी दक्खिन की राजधानी को पहुँचने की शीघ्रता की। जब सम्राट ने यह सुना तो वह समझ गया कि अब मेरी योजनाओं के पूरे होने का समय नहीं रहा, इसलिये उसने वज़ीर की शत्रुता से बचने के लिये नया फर्मान जारी करके दक्खिन में निज़ाम को स्थायी कर दिया और उसके बदले में मुबारिज़ को आजिमाबाद पटना का भार सँभालने को कहा। किन्तु नियति ने खेल बिगाड दिया। संशोधित आज्ञाएँ पहुँचने से पहले ही मुबारिज़ निज़ाम से भिड गया और युद्ध में मारा गया। यह घटना ११ अक्टूबर १७२४ को शकरखेर में घटी। निज़ामुलमुल्क ने इस अवसर पर सराहनीय उदारता का परिचय दिया। उसने दोनों ही पक्ष के घायलों को भोजन, औषधि आदि की सहायता दी और लूट की बहुत-सी सम्पत्ति (जिसमें मुबारिज़ के पुत्रों के बहुमूल्य वस्त्र तथा रत्न सम्मिलित थे) उचित अधिकारियों को लौटा दी।

इसी समय से निज़ाम की वास्तविक स्वाधीनता तथा वर्तमान हैदराबाद राज्य की संस्थापना माननी चाहिये। सम्राट का निज़ाम से फिर मेल हो गया और उस पर वह पूर्ववत अनुग्रह रखने लगा। २० जून १७२५ को एक नया फर्मान

जारी किया और दक्खिन की सूबेदारी उसे स्थायी रूप से दे दी, ... को अपने और मालवा उससे छीन लिये। दोनों ही ओर से सद्भावनाओं ... गया ; किन्तु बारह वर्ष से (अक्टूबर १७३७) पहले निज़ाम को राजदरबार में नहीं बुलाया गया। इस बीच की घटनाओं का संक्षेप में उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा।

"इस समय से वह (निज़ामुलमुल्क) अपनी इच्छानुसार दक्खिन में नियुक्तियाँ करने, पदवृद्धि करने, उपाधियाँ बाँटने और जागीरें देने लगा। प्रभुत्व के रूप कुछ ही ऐसे कार्य रह गये थे जो उसने नहीं किये। उसने शाही छत्र नहीं धारण किया अपने नाम से खुतबा नहीं पढ़वाया और अपने नाम के सिक्के नहीं जारी किये। अनेक ज्योतिषियों ने कहा कि यदि आप चाहें तो सिंहासन पर बैठ सकते हैं। किन्तु उसने इस सुझाव को नहीं माना और कहा, "सिंहासन तथा ... से उसी को भाग्यशाली होने दो जो उसे धारण किये हुए है। मेरा काम तो ... सम्मान की रक्षा करना है, और यदि वह सुरक्षित रहे तो मुझे शाही सिंहास... क्या प्रयोजन।"

हिन्दुस्तान में अराजकता—जब निज़ामुलमुल्क जैसा योग्य व्यक्ति राज्य का कर्णधार न रहा, तो सर्वत्र अराजकता छा गई। राजधानी में तथा प्रान्तों में 'शासन ऐसे चलाया जाता था मानो बच्चों का खेल हो ; सेनानायक राजस्व सम्बन्धी मामले तै करते और काज़ियों के स्थान पर रात के पहरेदार मुकदमों का फैसला करते। सम्राट आमोद प्रमोद में डूबा रहता अमीर लोग ईर्ष्या के मद में रहते और राज्य के नौकर चाकर भूखों मरते। इस स्थिति में निज़ामुलमुल्क उदासीन रहा ; जो सम्राट इतना शक्तिहीन तथा कृतघ्न था उसके लिये उसे क्यों चिन्ता होने लगी ? दक्खिन में मराठों के उपद्रव बढ़ रहे थे। इसलिये उसने उन्हें नर्मदा के उत्तर में अपनी कार्यवाहियाँ फैलाने के लिये उकसाया जिससे दक्खिन में वे उसे कष्ट न पहुँचायें।

मालवा—मालवा में मराठे उदाजी पवार मल्हार राव होल्कर, और रानूजी सिन्धिया के नेतृत्व में उपद्रव मचा रहे थे। किन्तु वहाँ के तत्कालीन सूबेदार गिरधर बहादुर ने वीरतापूर्वक उनके विरुद्ध संघर्ष चलाया। "युद्ध में भाग्य लक्ष्मी निरन्तर पक्ष बदलती रही, किन्तु मैदान में जीत किसी की रही हो, देश की समृद्धि को हर दशा में भारी क्षति पहुँची।" ८ दिसम्बर १७२८ को गिरधर बहादुर उज्जैन के निकट युद्ध करता हुआ मारा गया, और बाजीराव के भाई चिमाजी आप्पा के नेतृत्व में मराठों ने मालवा में स्थायी रूप से अपने पैर जमा लिये। राजपूतों ने, विशेषकर सवाई जयसिंह के नेतृत्व में, साम्राज्य को धक्का पहुँचाने के उद्देश्य से मराठों का स्वागत किया। स्थानीय ज़मींदारों ने भी जो राजस्व के मामलों में सम्राट को ठगना चाहते थे, उनके आक्रमण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, यद्यपि उन्हें एक राजा के चंगुल में से निकल कर दूसरे के में फँसना पड़ा।

। इस प्रकार की के कारण यहाँ हम मराठों की सम्पूर्ण कार्यवाहियों का वर्णन नहीं कर
और के बीच में, संघर्ष हुए, उनके बाद समझौते और फिर संघर्ष; उदाहरण के लिये,
१७३६ को राजा जयसिंह ने बाजीराव को मालवा का नाइब सूबेदार नियुक्त
इन पर शर्त यह थी कि मराठे शाही प्रदेशों को नहीं लूटेंगे। किन्तु यह तो केवल वास्तविकता को छिपाने का एक ढंग था, मराठों के धावे पूर्वत जारी रहे। मार्च १७३७ में अवध से आने वाली सादतअली की सेना ने उन्हें परास्त किया। सादतखाँ ने सम्राट के सामने शेखी बघारी कि मैंने मराठों को खदेड़ दिया है, और हिन्दुस्तान से सदैव के लिये मार भगाया है। उसकी इस शेखी को झूठ सिद्ध करने के लिये बाजीराव ने दिल्ली के फाटकों तक धावा मारा। अपने भाई चिमाजी आप्पा को उसने लिखा, "मैंने सकल्प कर लिया था कि मैं सम्राट को सचाई का पता दूँगा, यह सिद्ध करूँगा कि मैं हिन्दुस्तान में मौजूद हूँ और उसकी राजधानी के फाटक पर ही मराठों को ले जाकर खड़ा कर दूँगा जिससे कि वह उन्हें स्वयं देख ले।..........इसलिये २६ जिलकैद को मैंने प्रस्थान किया, सम्राट के राजमार्ग को छोड़ दिया और लम्बी लम्बी मंजिलें तै कीं।........एक-एक दिन में चालीस-चालीस मील चलकर दो दिन में दिल्ली के फाटक पर आ पहुँचा।" (अप्रैल १७३७)

गुजरात—साम्राज्य के अन्य भागों की दशा भी इससे अच्छी न थी। गुजरात के सम्बन्ध में खाफी खाँ लिखता है:—

'सम्राट मुहम्मदशाह को जब इन घटनाओं (मराठों की लूट-मार) की सूचना मिली तो उसने सरबुलन्दखाँ को अहमदाबाद का सूबेदार बनाकर भेजा। निजामुलमुल्क ने हामिद खाँ को वापिस बुला लिया। सरबुलन्द खा के अधिकार में सात-आठ हजार घुड़सवारों का सेना थी जिसमें से बहुत-से अनुभवी थे, और एक शक्तिशाली तोपखाना भी था, फिर भी मराठों के दल प्रान्त में इस प्रकार छा गये कि वह न तो वहाँ की व्यवस्था ही कर सका और न शत्रुओं को दण्ड ही दे सका। उन्होंने अहमदाबाद के आस-पास के प्रदेश को उसके फाटकों तक रौंद डाला। देश के लोग लुटेरों को न भगा सके, और सर्वत्र इतना ऊजड़ हो गया कि सैनिकों के निर्वाह के लिये भी धन न वसूल हो सका, उधर सेना की संख्या दिन पर दिन बढ़ती गई। अधिकारी तथा सिपाहियों के दल अपना-अपना वेतन मागने लगे और उसे वसूल करने के लिये हिंसा तथा धृष्टता से काम लेने लगे। अन्त में शान्ति स्थापित करने और उपद्रवों को रोकने के लिये यह निश्चय किया गया कि अधिकारियों को वेतन के बदले में साहूकारों और व्यापारियों के नाम आज्ञा पत्र लिखकर दे दिये जायँ। इन हुंडियों को लेकर वे साहूकारों के पास गये, उन्हें पकड़कर कारागार में डाल दिया और जब तक उनसे धन न उगलवा लिया तब तक उन्हें यातनाएँ देते रहे।'

सम्राट द्वारा निज़ाम का वापिस बुलाया जाना—ऐसी परिस्थितियों में यह आश्चर्य की बात न थी कि "सब की यही राय हुई कि निजामुलमुल्क ही ऐसा व्यक्ति है जो राजतंत्र की रक्षा कर सकता तथा मराठों के आक्रमण की बढ़ती

हुई बाढ़ को रोक सकता है।" तदनुसार उससे एक बार फिर प्रार्थना की गई और राजधानी को बुलाया गया। १० अप्रैल १७२७ को वह बुरहानपुर से चला। उसका जैसा स्वागत हुआ उसका पता इसी से लगता है कि अमीरों को सम्राट के निवास स्थान से तीन मील तक नगाड़े न बजाने की जो शाही आज्ञा थी वह रद्द कर दी गई।

"निज़ामुलमुल्क ने अपने हाथी को बिठवाया और उतर कर अपने प्रति इस प्रकार प्रकट किये गये सम्मान के लिये अभिवादन किया। सड़कों में भीड़ जमा हो गई और आगे बढ़ना रुक गया। नगर के भीतर मकानों तथा दुकानों की छतें दर्शकों से ढक गई और नवाब के हाथी के आस पास भिखारियों की भीड़ जमा हो गई जो हलवाई की दुकान पर जमा मक्खियों के झुण्डों से भी अधिक घनी थी। नौकर चाकरों ने छड़ें बाँस के डंडों से भगाने का प्रयत्न किया, किन्तु उसकी भी उन्होंने कोई चिन्ता न की। उसका हाथी बड़ी कठिनाई से आगे रेंग सका, और दोपहर के बाद आकर कहीं वे किले के दिल्ली दरवाजे पर पहुँच सके। "सम्राट के सामने पहुँचकर उसने उपहार भेंट किये, और बदले में सम्राट ने उसे अपने निजी वस्त्रालय से निकाल कर चरकब नामक एक जाकिट दी जिसे तिमूर से उत्पन्न आगाई वंश के सदस्य ही पहिनते थे। उसे आसफ़जाह की उपाधि प्रदान की गई किसी प्रजाजन को दी जा सकने वाली यह सबसे ऊँची उपाधि थी और प्रतिष्ठा में राजा सोलोमन के मंत्री आसफ़ के समान थी। सादुल्लाख़ाँ द्वारा बनवाया हुआ भवन दिल्ली में सर्वोत्तम था उसको उसके रहने के लिये सजा दिया गया था, और सन्ध्या समय शाही रसोई घर से भोजन के थाल खोजों द्वारा उसके पास भेजे गये, और प्रतिदिन यह नियम जारी रहा।"

निज़ामुलमुल्क के शेष जीवन की तीन घटनाएँ उल्लेखनीय हैं।—(१) भूपाल के युद्ध में बाजीराव द्वारा उसकी पराजय; (२) भारत पर नादिरशाह का आक्रमण, और (३) उसका अन्तिम रूप से दक्खिन में आकर शरण लेना और वहाँ १७४८ में उसकी मृत्यु। अन्तिम दो का वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ केवल पहली का उल्लेख करना पर्याप्त होगा।

निज़ामुलमुल्क के कार्य भार सँभालने के एक महीने बाद (अगस्त १७२७) ही उसके पुत्र ग़ाज़ीउद्दीन ख़ाँ फ़ीरोज़ जंग को राजा जयसिंह तथा बाजीराव के स्थान पर आगरा और मालवा का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया। किन्तु शर्त यह थी निज़ाम मालवा में मराठों पर चढ़ाई करेगा। तदनुसार जैसे ही वर्षा धीमी हुई आसफ़जाह ने ३०,००० सेना लेकर कूच कर दिया। सम्राट उसके पीछे कुमुक लेकर आने वाला था, और निज़ाम का दूसरा पुत्र दक्खिन से सेना लेकर आने को था। किन्तु इससे पहले कि ये सेनाएँ मिल सकतीं, बाजीराव तेजी से मध्यभारत में बढ़ आया। एक तीव्र युद्ध के बाद निज़ाम को मराठों की शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं।

सिरोंज से ६२ मील दूर पर स्थित दुराई में सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर हुए (१७३८)। अपने हाथ से लिखकर निज़ामुलमुल्क ने बाजीराव को मालवा का

सम्पूर्ण प्रान्त देने का वचन दिया, चम्बल तथा नर्मदा के बीच स्थित प्रदेश पर उसका पूर्ण प्रभुत्व स्वीकार कर लिया और इन शर्तों की सम्राट से पुष्टि करवाने तथा बाजीराव के व्यय के लिये पचास लाख रुपया दिलवाने का वायदा किया।" इस अपमान के बाद निजाम ने दिल्ली में पुनः प्रवेश किया, किन्तु तब तक नादिरशाह के आक्रमण के रूप में एक नया संकट उठ खड़ा हुआ। किन्तु उसका वर्णन करने से पहले साम्राज्य की आन्तरिक दशा को चित्रित करना अधिक आवश्यक है।

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्

१७१३ जहाँदारशाह का अपदस्थ किया जाना; फर्रुखसियर (१७१३-१६) का सिंहासनारोहण; सैयद भाइयों का उत्कर्ष (१७१२-२०)।

१७१४ होली के त्यौहार पर अहमदाबाद में हिन्दू मुस्लिम दंगा। बालाजी विश्वनाथ का पेशवा नियुक्त होना।

१७१५ सैयद हुसैन अली खाँ का दक्खिन को भेजा जाना; दाऊद खाँ पन्नी की मृत्यु। अजीतसिंह गुजरात का सूबेदार नियुक्त हुआ। अंग्रेज डाक्टर विलियम हैमिल्टन द्वारा फर्रुखसियर का ऑपरेशन।

१७१६ बंदा का वध।

१७१७ हुसैन अली खाँ से शाहू की सन्धि, फर्रुखसियर द्वारा उसकी पुष्टि; चौथ तथा सरदेशमुखी का अनुदान।

१७१८ गुजरात में भयंकर दुर्भिक्ष।

१७१६ फर्रुखसियर का और उसके बाद रफीउद्दाराजात का अपदस्थ किया जाना। नैकूसियर तथा रफीउद्दौला; मुहम्मदशाह (१७१६-४८) का राज्यारोहण।

१७२० निजामुल्मुल्क का दक्खिन को चला जाना। सैयद हुसैन अली खाँ का वध। दिल्ली में भूकम्प। सैयद अब्दुल्ला खाँ द्वारा इब्राहीमशाह का सम्राट घोषित किया जाना; मुहम्मदशाह के हाथों दोनों की पराजय। पेशवा बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु।

१७२२ निज़ामुलमुल्क का वज़ीर नियुक्त होना।

१७२४ निज़ामुलमुल्क का पुनः दक्खिन में शरण लेना। अजीतसिंह की हत्या; अभयसिंह का राज्यारोहण; बाजीराव का मालवा पर धावा।

१७२५ मराठे गुजरात में चौथ वसूल करते हैं। निज़ामुलमुल्क दक्खिन में स्वतंत्र बन बैठता है।

१७२६ बाजीराव का कर्नाटक पर आक्रमण।

१७२८ बाजीराव तथा निजामुलमुल्क के बीच सन्धि। जयसिंह जैयपुर में

स्थिति अपने निरीक्षणालय से सात वर्ष के निरीक्षण के उपरान्त ज्योतिष की कर्मन पत्रिका तैयार करता है।

१७२६	सरबुलन्दखाँ द्वारा बाजीराव को गुजरात की चौथ का अनुदान
"	बाजीराव का राजा छत्रसाल से मेल।
१७३०	नादिरशाह के हाथों ईरान के शाह की पराजय।
१७३१	नादिरशाह का हिरात पर अधिकार।
१७३४	मालवा का सूबेदार जयसिंह अपना प्रान्त पेशवा को सौंप देता है।
१७३५	छत्रसाल बुन्देला की मृत्यु; वह कालपी, सिरोंज, कोटा आदि को बाजीराव के लिये छोड़ जाता है।
१७३६	नादिरशाह ईरान का सम्राट बन बैठता है। सम्राट ने फर्मान जारी करके मालवा और गुजरात बाजीराव को दे दिये।
१७३७ ३८	निजामुलमुल्क पुनः दरबार में बुलाया गया; बाजीराव के हाथों उसकी पराजय; सिरोंज की सन्धि। कन्धार पर नादिरशाह का अधिकार।
१७३९	नादिरशाह का भारत पर आक्रमण; करनाल का युद्ध तथा दिल्ली की लूट। चिमाजी आप्पा ने बसई पुर्तगालियों से छीन लिया।

भारतवर्ष का विभाजन । (साम्राज्य का विघटन)

१६

साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना

इस काल तक आते-आते साम्राज्य का इतिहास बहुत पेचीदा हो जाता है; ेक घटना-सूत्र एक दूसरे में गुथे तथा उलझे हुए दिखाई देते हैं। यदि विस्तार इन्हें सुलझाने लग तो उन अनेक राज्यों के इतिहास का अलग-अलग वर्णन ना पड़ेगा जो मुगल साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर उठ खड़े हुए थे। यहाँ पर हम ान में उतरने वाली नई शक्तियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का वर्णन नहीं करेंगे, र न सादत अली खाँ, सफदर जंग, अलीवर्दी खाँ आदि राज्यों के संस्थापकों व्यक्तिगत इतिहास की समीक्षा करेंगे, और न बुन्देले, राजपूत, रुहेले, मराठे र यूरोपीय आदि जातियों के आन्तरिक मामलों में ही पड़ेंगे, यद्यपि इनमें से ्रेक ने साम्राज्य के पतन में योग दिया था, यहाँ हम केवल साम्राज्य के ्रटन की रूप-रेखा प्रस्तुत करके सन्तोष कर लेंगे। पहले तो हमें यह देखना कि अवध, बंगाल, बिहार और उड़ीसा के प्रान्तों ने किस प्रकार साम्राज्य से ना सम्बन्ध तोड़ा, और दूसरे यह कि बढ़ते हुए मराठा साम्राज्य ने गुजरात, लवा और बुन्देलखंड के प्रान्तों को कैसे आत्मसात कर लिया। मराठा-प्रसार आगे के इतिहास का, जहाँ तक कि उसका हमारे विषय से सीधा सम्बन्ध है, विदेशी आक्रमणों का वर्णन करते समय उल्लेख किया जायगा। इसके अति- क हिन्दुस्तान के प्रभुत्व के लिये नई शक्तियों में जो संघर्ष हुआ—नवाबों, मराठों र अँग्रेजों का त्रिभुजीय संघर्ष—वह हमारी परिधि से परे है। यदि अवध, र बंगाल के नवाबों ने और दक्खिन के निज़ाम ने अब भी शाही अधिकारी ने का बहाना किया, तो यह केवल उनकी चाल थी; ऐसा करके वे अपनी ही क्ति को सुदृढ़ करना चाहते थे, क्योंकि साम्राज्य की प्रतिष्ठा अब भी बनी हुई और '१८५७ के ग़दर' तक बनी रही।

अवध—अवध के स्वतन्त्र राज्य का संस्थापक मीर मुहम्मद अमीन सादत बुरहानुलमुल्क था। वह मुग़ल दरबार में ईरानी दल का नेता था, और इस- ये ईरानी वजीर निजामुलमुल्क से उसकी प्रतिस्पर्धा चला करती थी। १७१९-२० ासने हिन्डौन और बयाना (आगरा से ५० मील दक्षिण-पश्चिम की ओर) के फौज- र के पद पर कार्य किया। सैयद तथा शिया होते हुए भी उसने सैयद हुसैन अली

खाँ के शत्रुओं का साथ देने में ही अपना हित समझा। मीर बख्शी की हत्या में उसका भी हाथ था, इस सेवा के बदले में ही उसे ५०० ज़ात तथा १००० सवार का मंसब और सादत खाँ बहादुर की उपाधि प्रदान की गई थी। इसके बाद दो वर्ष (१७१० २०) तक वह आगरा का सूबेदार रहा और उसका पद फिर बढ़ाकर ६००० ज़ात तथा ५००० सवार कर दिया गया।

इस समय भरतपुर के उद्दण्ड जाटों ने आगरा तथा मथुरा के ज़िलों में रहने वाले अपने भाइयों से मिल कर विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। आगरा के नये सूबेदार ने उन पर चढ़ाई की और उनके गढ़ों में से चार पर अधिकार करने में सफल हुआ। किन्तु वह इस सफलता से लाभ न उठा सका क्योंकि उसे दरबार में वापिस बुला लिया गया और मारवाड़ के राजा अजीतसिंह के विरुद्ध कूच करने को कहा गया। राजा सैयद भाइयों का समर्थक था, इसलिये उनके नाश का बदला लेने के लिये उसने मुसलमान विरोधी नीति का अनुसरण किया और शाही सरकार के विरुद्ध खुले रूप से शत्रुता दिखलाई। दरबार के अन्य अमीरों ने उसको दण्ड देने के लिये चढ़ाई पर जाने से इन्कार किया किन्तु सादतखाँ ने अपनी योग्यता की धाक जमाने के उद्देश्य से इस अवसर का स्वागत किया। लेकिन भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया और ईर्ष्यालु दरबारियों के विरोध के कारण योजना विफल रही। उधर जाटों ने उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठाया और स्थिति पहिले से भी अधिक बिगड़ गई। उसके नायब नीलकंठ नागर ने उनको दमन करने का प्रयत्न किया किन्तु युद्ध में स्वयं मारा गया। इन परिस्थितियों में सादतखाँ को स्वयं जाटों से भिड़ना पड़ा किन्तु उस पर ग्रहों का प्रकोप मालूम होता था। वह असफल रहा और आगरा की सूबेदारी १ सितम्बर १७२२ को राजा जयसिंह कछवाहा को सौंप दी गई, क्योंकि राजा इसी शर्त पर जाटों पर आक्रमण करने के लिए तैयार हुआ। सम्राट ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट करने के लिये सादतखाँ से मिलना भी स्वीकार नहीं किया और उसे सीधे तथा तत्काल ही अवध को जाने की आज्ञा दी।

९ सितम्बर १७२२ को उसने अपने नये सूबे का भार सँभाला और उसका पहला सूबेदार गिरधर बहादुर मालवा को स्थानान्तरित कर दिया गया। इसी तारीख से वास्तव में अवध का एक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य के रूप में उदय हुआ, यद्यपि नाम के लिये वह बहुत दिनों तक मुग़ल सम्राट की अधीनता स्वीकार करता रहा। १८१९ में लार्ड हेस्टिंग्ज के बहकाने से सादत खाँ के वंश के सातवें शासक ग़ाज़ी उद्दीन हैदर ने 'राजा' की उपाधि धारण की। सूबे के आन्तरिक इतिहास से हमें यहाँ प्रयोजन नहीं। सादत ने विद्रोही सामन्तों तथा ज़मींदारों को दबाने और अपनी शक्ति को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। १७२४ में उसने अपनी पुत्री का विवाह अपने भतीजे सफ़दर जंग से कर दिया और उसे अवध में अपना नाइब नियुक्त किया। इस प्रकार जब इस सूबे में उसके पैर दृढ़ता से जम गये, तो उसने फिर दिल्ली की ऊँची राजनीति में भाग लेना आरम्भ किया। १७३१ में वह उत्तर भारत में मराठों की प्रगति को रोकने का भार अपने ऊपर लेने को तैयार हो गया और प्रस्ताव रक्खा कि अवध के अतिरिक्त मुझे आगरा और मालवा की

सूबेदारी भी दे दी जाय जिससे मैं मराठों का सामना कर सकूँ। किन्तु पहले की भाँति ये योजनाएँ भी दरबार के ईर्ष्यालु अमीरों के विरोध के कारण विफल रहीं। फिर भी जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, मार्च १७३७ में उसने आगरा के निकट मराठों को परास्त किया। अपनी सन्दिग्ध विजय की जो अतिरंजित सूचना उसने दरबार में भेजी उसका परिणाम बुरा हुआ। एक ओर तो बाजीराव ने मराठों की पराजय की इस झूठी रिपोर्ट का स्पष्ट रूप से खंडन करने के लिये दिल्ली पर आक्रमण किया और अपनी सेना लेकर शाही राजधानी के फाटकों तक जा धमका, दूसरे सादत के प्रतिद्वन्द्वियों ने सम्राट की दृष्टि में उसे गिराने के लिये इन घटनाओं का प्रयोग किया। इस सब के परिणाम और भी अधिक घातक सिद्ध हुये। जनवरी १७३९ में नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया और साम्राज्य को ऐसा धक्का दिया कि वह क्षत-विक्षत होकर धराशाही होगया। यह आश्चर्य की बात नहीं थी कि अन्त में सादत कृतघ्न सम्राट को नीचा दिखाने के लिये आक्रमणकारी से जा मिला, और क्षणिक उत्कर्ष के उपरान्त १९ मार्च १७३९ को आत्म हत्या कर ली। अवध में सफदरजंग उसका उत्तराधिकारी हुआ, उसके सम्बन्ध में अधिक हम आगे लिखेंगे।

बंगाल, बिहार और उड़ीसा—साम्राज्य के इन पूर्वी प्रान्तों का इतिहास भी अवध तथा दक्खिन के इतिहास से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। ये प्रान्त नाम के लिये मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार करते रहे, कर देते रहे और आवश्यकता पड़ने पर उससे सहायता भी लेते रहे, किन्तु अन्य सब बातों में उन्होंने साम्राज्य की पूर्णतया उपेक्षा की। इसलिये वास्तव में वे ही साम्राज्य के विघटन की पहली मंजिल थे। अपना स्वार्थ ही उनके विचारों तथा कार्यों का मुख्य केन्द्र रहा। यहाँ पर बंगाल, बिहार तथा उडीसा की सूबेदारी का संक्षिप्त वृत्तान्त देना पर्याप्त होगा।

औरंगजेब की मृत्यु के समय (१७०७) मुर्शिदकुली खाँ बंगाल और उडीसा का नाइब नाजिम तथा दीवान था। किन्तु सूबेदार राजकुमार अजीमुश्शान ने अपना अधिकांश समय शाही दरबार में ही बिताया, इसलिये मुर्शिदकुली प्रान्तों का वास्तविक शासक बन बैठा। १७१३ में सम्राट फर्रुखसियर ने उसे कानूनी दृष्टि से भी सूबेदार मान लिया, १७१९ में उडीसा भी उसके प्रान्त में सम्मिलित कर दिया गया। सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं कि, "मुर्शिदकुली खाँ के सबल, और सुयोग्य तथा ईमानदारी पर आधारित प्रशासन ने और उसकी न्यायप्रियता और शान्ति तथा व्यवस्था सम्बन्धी कठोर कार्यवाहियों ने जनता के धन तथा सुख में वृद्धि की और व्यापार को प्रोत्साहन दिया। १७२७ में उसका दामाद शुजाउद्दौला असद जंग उसका उत्तराधिकारी हुआ। १७३३ में बिहार भी इन दोनों सूबों में जोड़ दिया गया। १७३९ में जब उसने इन तीनों प्रान्तों का भार अपने उत्तराधिकारी सरफराज को सौंपा, तो उस समय वे समृद्ध और सम्पन्न थे। किन्तु नये नवाब ने अतिशय विलासिता तथा उच्छृङ्खलता का जीवन बिताया, जिसके परिणामस्वरूप

उसके योग्यतम् अधिकारी अलीवर्दी खाँ को मसनद हड़पने का अवसर मिल गया। उस समय तक अलीवर्दी पटना का नायब दीवान था। १० अप्रैल १७४० को उसने घेरिया के युद्ध में निकम्मे सरफराज़ को परास्त किया और मार डाला। उसके बाद उसने घूस के बल पर सम्राट से अपने को सूबेदार के पद पर स्थायी करवा लिया और अपने शत्रुओं के विरुद्ध उससे सहायता माँगी।

अलीवर्दी खाँ के सबसे शक्तिशाली शत्रु मराठे थे जो रघूजी भोंसले के नेतृत्व में उन प्रान्तों पर धावे मारा करते थे। किन्तु यहाँ पर हम इस संघर्ष की कहानी को छोड़कर मराठों के साम्राज्य के अन्य भागों पर होने वाले आक्रमणों का वर्णन करेंगे, जिनके फलस्वरूप मालवा, गुजरात तथा बुन्देलखंड के प्रदेशों पर उनका पूर्ण स्वामित्व स्थापित हो गया।

गुजरात—पाठकों को याद होगा कि जब मुगलों के गुजरात प्रान्त पर मराठों के धावे आरम्भ हुए उस समय जोधपुर का राजा अभयसिंह वहाँ का सूबेदार था। गुजरात से चौथ तथा सरदेशमुखी वसूल करने का भार सेनापति यशवन्तराव पर था। किन्तु उसने यह काम पिलाजी गाइकवाड़ के हाथों में सौंप रक्खा था, जो धीरे धीरे बड़ौदा का वास्तविक स्वामी बन बैठा। इन्हीं परिस्थितियों ने बड़ौदा के वर्तमान प्रगतिशील राज्य को जन्म दिया।

कायर अभयसिंह ने पिलाजी से अपना पिंड छुड़ाने के लिये उसकी हत्या करवा दी, किन्तु पिलाजी के पुत्र दामाजी गाइकवाड़ के नेतृत्व में मराठों ने अपनी स्थित पुनः सँभाल ली। डभाई और बड़ौदा पर अभयसिंह ने अधिकार कर लिया था, उनको दामाजी ने उनके हाथों से छीन लिया, बल्कि अहमदाबाद पर भी आक्रमण किया और जोधपुर की सीमाओं तक लूट मार करके हाहाकार मचा दिया। फल यह हुआ कि अभयसिंह को हार माननी पड़ी, दामाजी ने जो नगर जीत लिये थे उन्हें उसी के हाथों में छोड़ दिया और पूर्ववत चौथ तथा सरदेशमुखी देने और अहमदाबाद के राजस्व में से ८०,००० रुपये चुकाने का वचन दिया। इसके बाद अभयसिंह गुजरात को नाम के लिये रतनसिंह भण्डारी के अधिकार में छोड़ कर जोधपुर को चला गया। स्थिति दिन प्रति दिन बिगड़ती गई और १७३५ के बाद मराठे गुजरात के वास्तविक स्वामी बन बैठे।

मालवा—१७१० में अम्बेर का राजा जयसिंह मालवा का सूबेदार था। १७२२ में उसे आगरा के जाटों का दमन करने के लिये बुला लिया गया और मालवा में गिरधर बहादुर को नियुक्त कर दिया गया। बीच में थोड़े-से काल के बाद १७२९ में उसे फिर मालवा की सूबेदारी मिल गई और उसके बाद वह सदैव उस प्रान्त में अपने वंश की स्थापना करने का स्वप्न देखता रहा। उसके उत्तराधिकारी को सम्राट ने इस शर्त पर वहाँ का सूबेदार बना रहने दिया कि वह मराठों को अपने सूबे से दूर रक्खेगा। किन्तु राजपूत लोग, विशेषकर सवाई जयसिंह मुगलों के विरुद्ध हिन्दुओं का संघ बनाने का स्वप्न देख रहे थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने मराठों को प्रोत्साहन दिया, बल्कि उन्हें मालवा पर आक्रमण करने को बुलाया।

उधर निज़ाम दक्खिन से मराठों के ध्यान को हटाना चाहता था, इसलिये उसने भी बाजीराव की उत्तरी प्रगति में बाधा नहीं डाली। १७२३-२४ की चढ़ाई के अन्त में पेशवा अपने तीन सेनानायकों को मालवा में छोड़ गया जिन्होंने क्रमशः इन्दौर (होल्कर), ग्वालियर (सिन्धिया) और धार (पवार) के राज्यों की स्थापना की। दिसम्बर १७२८ के आक्रमण में राजा गिरधर सारंगपुर (देवास से ५० मील उत्तर-पूर्व) में मराठों से वीरतापूर्वक युद्ध करता हुआ मारा गया। इस विजय से प्रोत्साहित होकर वे बुन्देलखंड पर भी चढ़ गये, वहाँ के राजा छत्रसाल ने जो मुगल सेनानायक मुहम्मद खाँ बंगश से लड़ रहा था, उन्हें निमंत्रण देकर बुलाया था।

बुन्देलखंड—बाजीराव ने छत्रसाल को आड़े समय में सहायता दी, उसके बदले में बुन्देल राजा ने उसको अपने राज्य का एक तिहाई भाग दे दिया, जिसकी वार्षिक आय १३ लाख रुपया होती थी। इसके दो वर्ष बाद (१७३१) वीर बुन्देले की ८२ वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो गई। अपने पुत्र हिरदेशाह और जगतराय के नाम वह निम्नलिखित वसीयत छोड़ गया :—

"१ यमुना अथवा चम्बल के उस पार के आक्रमणों को छोड़कर अन्य सभी चढ़ाइयों में दोनों भाई बाजीराव का साथ दें और लूट की सम्पत्ति तथा विजित प्रदेश को अपनी-अपनी सेनाओं के अनुपात में बाँट लें।

"२. यदि बाजीराव दक्खिन के युद्धों में फँस जाय तो दोनों भाई कम से कम दो महीने तक बुन्देलखण्ड के किले की रक्षा करें।

"३. राजा छत्रसाल ने बाजीराव साहब को अपना पुत्र माना है, इसलिये बाजीराव को चाहिये कि मेरे पुत्रों की अपने सगे भाइयों की भाँति रक्षा करे।"

तदनुसार बाजीराव को कालपी, झाँसी, सागर, सिरोंज और हृदयनगर मिल गये। प्रो० सिनहा लिखते हैं कि "इस लाभ का इतना महत्व था कि उसका अनुमान लगाना कठिन है। इन प्रदेशों के अधिकार में आ जाने से बाजीराव का दोआब से सीधा सम्पर्क होगया, और शाही नगर आगरा से भी जो कालपी के इतना निकट है। यहाँ से वह मध्य भारत पर तो अपना प्रभुत्व स्थापित रख ही सकता था, इसके अतिरिक्त दिल्ली और अवध में भी आतंक मचा सकता था।" १७३७ में बाजीराव ने दिल्ली पर धावा मारा, इसका हम पहले उल्लेख कर आये हैं। छत्रसाल की मृत्यु (१७३१) तथा इस घटना के बीच मराठों ने जो कार्यवाहियाँ कीं उनका यहाँ सविस्तार वर्णन करना अनावश्यक है। उन सबका फल यह हुआ कि एक एक करके सभी शाही सेनानायकों को मुँह की खानी पड़ी, और अन्त में सम्राट ने बाध्य होकर बाजीराव का मालवा से चौथ वसूल करने का दावा मान लिया और चम्बल के दक्षिण के प्रदेशों की आय में से तेरह लाख रुपया देने का वचन दिया। किन्तु मराठों ने पहले से ही अधिकांश राजपूताना तथा दोआब में लूट-मार मचा रक्खी थी, और बाजीराव ने सम्राट

को अपनी विवशता का अनुभव कराने के लिये दिल्ली पर आक्रमण किया था। अन्त में वही हुआ जिसकी आशा थी। उपर्युक्त तेरह लाख रुपये के अतिरिक्त मालवा की सरकार पेशवा को सौंप दी गई। जब साम्राज्य को बचाने का और कोई उपाय न दिखाई दिया तो दक्खिन से निज़ाम को बुलाया गया। १७३७ के अन्त में उसने मराठों को उत्तर भारत से मार भगाने का अन्तिम प्रयत्न किया। फलस्वरूप उसे सिरौंज के युद्ध में हार कर १६ जनवरी १७३८ को दुराई की सन्धि करनी पड़ी जिसका पहले उल्लेख हो चुका है। जब सम्राट इस अपमान के दुःख में पड़ा कुढ़ रहा था, उसी समय उत्तर पश्चिम की ओर से एक इससे भी भयकर विपत्ति टूट पड़ी। साम्राज्य पहले से ही जर्जरित हो चुका था, बाहर के दो आक्रमणकारियों ने उसका सत्यानाश कर दिया। पहले नादिरशाह ने और फिर अहमदशाह अब्दाली ने उस लड़खड़ाते हुए ढाँचे में ऐसे भयंकर धक्के दिये कि वह उन्हें सहन न कर सका। यहाँ हमें राजपूताना और पंजाब के सम्बन्ध में दो शब्द और कहने हैं, इससे यह स्थिति स्पष्ट हो जायगी जिसने विदेशी आक्रमणकारियों को भारत की ओर आकृष्ट किया।

राजपूताना—एक समय था जबकि राजपूत लोग साम्राज्य के मुख्य आधार-स्तम्भ थे किन्तु औरंगजेब की विनाशकारी नीति ने और परवर्ती मुगलों की बढ़ती हुई दुर्बलता ने उन्हें यह सोचने पर बाध्य किया कि अब साम्राज्य के भीतर रह कर हमारे हितों की रक्षा नहीं हो सकती। उधर राजपूताना में भी आन्तरिक कलह की आग धधक रही थी; सीसौदिया, राठौर कुछवाहा आदि प्रमुख राजपूत राजवंश पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के शिकार बने हुए थे। सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं, 'प्रमुखता के लिये जो संघर्ष चला उसके फलस्वरूप सर्वत्र विनाश तथा अराजकता फैल गई; अठारहवीं शताब्दी के मध्य में राजपूताने की राजनीति में एक नया तत्व सम्मिलित होगया जिसने स्थिति और भी अधिक भयकर कर दी। इस सबका परिणाम यह हुआ कि राजपूतों की यह श्रेष्ठ जाति सत्यानाश तथा घोर अपमान के खड्ड में जा गिरी।" 'मराठों और पिंडारियों ने देश को जी भर कर लूटा। मुहम्मदशाह की अवनति के वर्षों से लेकर आगे राजस्थान में सर्वत्र अव्यवस्था, सार्वजनिक लूट, आर्थिक विनाश और नैतिक पतन का बोलबाला रहा। ' बाजीराव ने राजपूताना से खूब धन खसोटा, इससे मराठों की शक्ति तथा राजपूतों की दुर्बलता का परिचय मिलता है-"लम्बी बातचीत और सौदे के बाद महाराणा को सन्धि पर हस्ताक्षर करने और १६०,००० रुपया वार्षिक कर के रूप में देने का वायदा करना पड़ा; और उसको पूरा करने के लिये बनेड़ा का परगना मराठों से सुपुर्द कर दिया गया।"

पंजाब—यद्यपि इस काल में सूबेदार ज़करिया खाँ प्रथम (१७२६-४१) के सबल और उदार शासन के कारण पंजाब में शान्ति रही, किन्तु इससे पहले ईसा खाँ और हुसैन खाँ खेशगी आदि लुटेरों ने प्रान्त को भारी क्षति पहुँचाई

थीं। पश्चिमोत्तर सीमाओं पर अनेक दुर्दमनीय जातियाँ बसतीं थीं, उन पर तभी नियन्त्रण रक्खा जा सकता था जबकि काबुल तथा दिल्ली दोनों में मुगल सम्राटों की शक्ति सुदृढ़ होती। किन्तु इस समय वे एक बारूदखाने की भाँति थी जिसमें कभी भी विस्फोट हो सकता था। सीमाओं के उस पार लूट मार करके उन्होंने नादिरशाह का आक्रमण करने का बहाना दिया।

ईरानी आक्रमण

नादिरशाह एक तुर्की साहसिक था; १७३६ में वह ईरान का शासक बन बैठा। ईरान के दुर्दिन आगये थे और १७२२ में अफगान आक्रमणकारियों ने सफवी राजवंश को हटाकर देश पर अधिकार कर लिया था। नादिरशाह भी विदेशी था, किन्तु नैपोलियन की भाँति वह अपने नये देश का मुक्तिदाता और संरक्षक सिद्ध हुआ। उस महत्वाकांक्षी तथा सफल साहसिक ने अफगान अपहरणकर्ताओं की भूमि पर जाकर युद्ध किया, और इसलिये काबुल के मुगल सूबेदार से उसकी टक्कर हो गई। १७२७ के प्रारम्भ में उसने ८०,००० सेना लेकर कान्धार पर चढ़ाई कर दी। "जब तक अफगानों की शक्ति के उस केन्द्र को नष्ट नहीं किया जाता तब तक ईरान की सुरक्षा के लिये उससे खतरा बना रहता और खुरासान की शान्ति तथा समृद्धि में विघ्न पड़ता रहता इसके अतिरिक्त नादिरशाह कान्धार की विजय के बिना सफवियों की सम्पूर्ण विरासत का स्वामी नहीं माना जा सकता था।" एक वर्ष के घेरे (मार्च १७२७ से मार्च १७२८ तक) के उपरान्त कान्धार का पतन हो गया। किन्तु नादिरशाह ने हारे हुए अफगानों के साथ दया का व्यवहार किया। उसने "सभी युद्ध बन्दी छोड़ दिये, कबीलों के सरदारों की पेंशने निश्चित कर दीं, कवाइलियों को अपनी सेना में भर्ती कर लिया, गिलजाइयों को खुरासान (अब्दालियों का पूर्व निवास स्थान) में स्थित निशापुर आदि स्थानों को भेज दिया, अब्दाली सरदारों को दक्षिणी अफगानिस्तान में स्थित कान्धार, गिरिश्क, बिस्त, जमींदवार आदि स्थानों का सूबेदार नियुक्त कर दिया और इस प्रकार अपने पुराने शत्रुओं को उपयोगी ढंग से अपनी सेवा में लगा लिया। वह अपने लिये दयालु शत्रु तथा उदार स्वामी के रूप में ख्याति प्राप्त करना चाहता था जिससे अन्य अफगान किले प्रलोभन में फँस कर उसके सामने समर्पण कर दें और अफगान सैनिक उसके झंडे के नीचे एकत्र होकर मध्य एशिया तथा भारत की नियोजित विजय में भक्तिपूर्वक उसका साथ दें।"

भारत पर नादिरशाह के आक्रमण के कारणों की यहाँ सविस्तार विवेचना नहीं की जा सकती। दो कारण मुख्य थे—नादिरशाह की महत्वाकांक्षा और मुगल साम्राज्य की दुर्बलता, जो ऊपर से स्पष्ट दिखाई देती थी। जैसा कि इर्वाइन ने लिखा है, "नादिरशाह कोरा सैनिक न था, और न केवल बर्बरों के झुंड का बर्बर नेता। वह जितना तलवार चलाने में दक्ष था, उतना ही कूटनीति और राज काज में। युद्ध में उसका सेनानायकत्व जितना महान् था और विजय के उपरान्त विजितों

के प्रति उसकी नीति जितनी बुद्धिमत्तापूर्ण थी, उतनी ही गम्भीर उसकी कूटनीति थी।"

मुगल सम्राट का बहुत पहले से ईरानी दरबार के साथ दौत्य सम्बन्ध चला आ रहा था। किन्तु नादिरशाह के सिंहासन पर बैठते ही वह सहसा बन्द कर दिया गया। नादिरशाह को यह व्यवहार इसलिये और भी अधिक बुरा लगा कि मुहम्मदशाह ने कान्धार के अपहरणकर्ता मीर वाइस और उसके पुत्र हुसैन से मैत्री सम्बन्ध कायम रक्खा, यद्यपि हुसैन ने मुल्तान पर आक्रमण किया था। नादिरशाह ने मुगल दरबार को विधिवत सूचित कर दिया गया था कि मैं कान्धार पर चढ़ाई करने वाला हूँ, और आप कृपा करके अफगान भगोड़ों को काबुल में शरण न दें। इसमें सन्देह नहीं कि सम्राट ने इस सम्बन्ध में आश्वासन दे दिया था, किन्तु अपने वायदे को पूरा करने में असफल रहा। एक दूसरा राजदूत फिर दिल्ली भेजा गया और पहले की प्रार्थना दुहराई गई, किन्तु कोई परिणाम न निकला। १७३७ में जब कान्धार में लड़ाई आरम्भ हो गई तो नादिरशाह ने तीसरा दूत भेजा, और शीघ्र ही स्पष्ट उत्तर देने की प्रार्थना की। किन्तु मुगल सम्राट पूर्ववत मौन रहा। एक वर्ष बीत गया, और अब मामला कूटनीति की सीमाओं के बाहर पहुँच गया इसलिये अन्त में नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण करने का संकल्प कर लिया।

उस समय काबुल का सूबेदार नासिरखाँ था; दिल्ली में जो दल शासन कर रहा था, उससे उसके सम्बन्ध अच्छे न थे। इसलिये आने वाले संकट की उसने जो सूचना दी उस पर विश्वास नहीं किया गया। उसको इतनी भी आर्थिक सहायता न मिली कि वह अपनी सेना को प्रतिरक्षा के लिये ठीक दशा में रख सकता। उसके सैनिकों को भोजन भी ठीक न मिल रहा था, और न उनके पास अस्त्र-शस्त्र ही समुचित थे; पाँच वर्ष से उनका वेतन भी बकाया चला आता था। गुलाम हुसैन लिखता है कि 'नासिर खाँ के लिये नादिरशाह को भारत में प्रवेश करने से रोकना असम्भव था। सरकार सड़ चुकी थी और सम्राट शक्तिहीन था। अफगानिस्तान में प्रशासन व्यवस्था को ठीक दशा में बनाये रखने के लिये तनिक भी धन न भेजा गया था। इसलिये सूबेदार ने अपने सुख की चिन्ता की और पेशावर में रहने लगा। काबुल के किले को उसने एक किलेदार की देख-रेख में छोड़ रक्खा था; भारत में आने वाले मार्गों पर नियन्त्रण और निगाह रखना भी उसी का काम था।' पंजाब, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, सूबेदार जाकरिया खाँ के अधीन था। वह निस्सन्देह "एक वीर तथा क्रियाशील सैनिक" और "अच्छा प्रशासक" था; किन्तु तूरानी होने के कारण दरबार के हिन्दुस्तानी जिन पर सम्राट का विशेष अनुग्रह था उससे घृणा करते थे। इसीलिये कुमुक और धन के लिये जो प्रार्थनाएँ उसने कीं उन्हें अनसुना करके टाल दिया गया। जब नादिरशाह ने भारत के प्रवेश द्वारों को इस प्रकार अरक्षित पाया तो उसे आक्रमण करने का और भी अधिक प्रलोभन हुआ, और उसका काम बहुत सरल हो गया।

१० मई १७३८ को ईरानी ने उत्तरी अफगानिस्तान में प्रवेश किया। २१ तारीख को गजनी का पतन हो गया। मुगल सूबेदार भाग गया, किन्तु जनता के साथ विजेता ने अच्छा व्यवहार किया। गजनी के दक्षिण-पश्चिम में स्थित पहाड़ियों में बसनेवाले हजारों ने प्रतिरोध किया, किन्तु वे निर्दयतापूर्वक कुचल दिये गये। उसके बाद नादिरशाह ने काबुल पर चढ़ाई की, और कुछ दिनों के प्रतिरोध के उपरान्त नगर-रक्षकों ने हथियार डाल दिये। यहाँ पर उसे दिल्ली दरबार मे स्थित अपने राजदूत से सन्देश मिला कि मुगल सम्राट न तो उत्तर ही देता है और न मुझे वहाँ से आने देता है। इस पर नादिरशाह ने एक द्रुतगामी हरकारे द्वारा विरोध-पत्र भेजा और अपनी कार्यवाहियों का उत्तर देने के लिये काबुल के प्रमुख व्यक्ति साथ कर दिये। उत्तर में उसने बतलाया कि आपने (मुगल सम्राट ने) मेरे साथ विश्वासघात किया है, और मैंने विद्रोही अफगानों को दण्ड देकर वास्तव में मुगल साम्राज्य के ही हितों की रक्षा की है। किन्तु दुर्भाग्य से सन्देशवाहकों का मुगल भूमि पर वध कर दिया गया, इसलिये नादिरशाह को इस अपराध के लिये उत्तरदायी जातियों को दण्ड देने के लिये कूच करना पड़ा। १९ जुलाई को उसने काबुल से प्रस्थान किया और ७ सितम्बर १७३८ को जलालाबाद पर अधिकार कर लिया। सब पुरुषों को तलवार के घाट उतार दिया गया, और स्त्रियों को राजदूतों की हत्या के लिए दण्ड के रूप में बन्दी बना लिया गया। कुछ समय नादिरशाह ने विजित प्रदेश की प्रशासन-व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने में व्यतीत किया, और फिर पंजाब पर चढ़ाई कर दी। १८ नवम्बर को उसका पेशावर पर अधिकार हो गया। ८ जनवरी १७३९ को चिनाब पर स्थित वजीराबाद (लाहौर से ६० मील उत्तर-पश्चिम में) को पार किया गया। पंजाब के सूबेदार जाकरिया खाँ ने जब देखा कि आक्रमणकारी का प्रतिरोध करना असम्भव है तो १२ जनवरी को समर्पण कर दिया और इस प्रकार लाहौर के नगर को उसकी क्रोधाग्नि से बचा लिया। उसे २० लाख रुपये कर के रूप में देने पड़े, और फिर अपने पद पर स्थित रहा। उसका पुत्र ५०० सैनिकों को लेकर आक्रमणकारी के साथ हो लिया, "स्पष्ट है कि उसे अपने पिता की भक्ति के लिये बन्धक के रूप में रख लिया गया था।" इसी प्रकार नाजिर खाँ को भी काबुल तथा पेशावर की सूबेदारी लौटा दी गई। "ईरानियों का एक दल घाटों की रक्षा करने तथा पंजाब की नदियों में पड़ी हुई नावों पर अधिकार करने के लिये भेज दिया गया, और उसको यह भी देखने की आज्ञा दी गई कि जब तक ईरानी सेना भारत में ठहरे तब तक व्यापारी उसके पास सरलता से आते जाते रहें। इस प्रकार आक्रमणकारी के पार्श्व और पिछावा पूर्णरूप से सुरक्षित हो गये।"

आनन्दराम मुखलिस ने अपने 'तज़किरा' में उस समय की स्थिति का भली-भाँति वर्णन किया है:—'अब अटक तक का सम्पूर्ण देश नादिरशाह के अधिकार में आगया था, इसीलिये मुहम्मदशाह तथा उसके सलाहकार उस संकट की ओर आँखें बन्द करके नहीं बैठ सकते थे। अब उनकी समझ में आया कि जिस व्यक्ति से हमें लड़ना है, वह साधारण शत्रु नहीं है, केवल लुटेरा नहीं है जो एक प्रान्त की लूट से तृप्त होकर अपने देश को लौट जाय, बल्कि ऐसा नेता है जिसका संकल्प अडिग है और जो तलवार का धनी है।' किन्तु सम्राट तथा उसके अमीर आवश्यक कार्य-

बाही न कर सके और देश को आक्रमणकारी ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। वज़ीराबाद, इमानाबाद और गुजरात के कस्बे जो धन-सम्पत्ति की दृष्टि से नगर कहे जा सकते थे, धूल में मिला दिये गये। लुटेरे आक्रमणकारियों ने किसी भी चीज़ का सम्मान नहीं किया, हर प्रकार की हिंसा की, सब तरह की सम्पत्ति लूटी और स्त्रियों का सतीत्व नष्ट किया। महीने की १२ वीं तारीख को शाह ने शाहजहाँबाद की ओर बढ़ना जारी रक्खा। वह तेज़ी से आगे बढ़ा। अपने सामान को शाहाबाद (अम्बाला से १० मील पूर्व की ओर) में छोड़कर १२ जिलक़दा को वह कर्नाल के निकट (पानीपत से २२ मील) जा धमका, जहाँ पर मुहम्मदशाह की सेना उसके आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी।

करनाल का युद्ध—१३ फरवरी १७३९ को भाग्य का निपटारा करने वाला युद्ध लड़ा गया। 'अमीर-उल उमरा ने सभी सम्भव प्रयत्न किये और उसके सैनिकों ने पराक्रम का परिचय दिया, किन्तु ईरानियों का वे कुछ न बिगाड़ सके; एक तो शत्रु-सेना की संख्या कहीं अधिक थी, दूसरे स्वयं शाह ने उसको ठीक स्थिति में खड़ा किया था। अन्त में मुग़लों की पाँतें टूट गईं और वे भाग खड़े हुये; किन्तु अमीर उल-उमरा ने युद्ध जारी रक्खा और अन्त में सिर में घाव खाकर गिर पड़ा और वीर-गति को प्राप्त हुआ। — — —बुरहानउलमुल्क तथा निसार मुहम्मदखाँ बहादुर बन्दी बना लिये गये।' 'बयाने वाक़ी' में लिखा है कि 'यह सम्भव था कि यदि हिन्दुस्तानी सेना के पास अच्छा तोपखाना होता तो ईरानी उसका मुक़ाबिला न कर पाते।

आनन्दराम लिखता है, 'ईरानी सम्राट ने सन्धि की बातचीत करने के लिये सन्देश भेजा; क्योंकि यद्यपि वह शक्तिशाली था फिर भी सन्धि वार्ता के लाभों की उपेक्षा नहीं करना चाहता। वज़ीरे मुमालिक आसफजाह इस प्रस्ताव के विरुद्ध था; किन्तु सम्राट पर उसके तर्क का प्रभाव न पड़ा। महीने की १६ तारीख को आसफजाह बहादुर और अज़ीमुल्ला खाँ बहादुर सन्धि की शर्तें तै करने के लिये शाह के पास भेजे गये; उसी दिन सन्ध्या को वे लौटकर शिविर में आगये।'

वज़ीर खान दौरान समसमुद्दौला ने मरते समय कहा था, "न तो सम्राट को कभी नादिर के पास जाने देना और न नादिर को दिल्ली ले जाना, बल्कि इस बला को जैसे भी हो सके यहाँ से टालने का प्रयत्न करना" किन्तु होनहार होकर ही रही। दूसरी बार जब आसफजाह और सम्राट मुहम्मदशाह नादिरशाह की शिविर में गये तो उन्हें घेर कर लगभग बन्दी बना लिया गया; * कहा जाता है

---

*इस संक्षिप्त वृत्तान्त में ब्यौरे की अनेक बातें छोड़ दी गई हैं। जब निज़ामुलमुल्क पहली बार ईरानी शिविर में गया तो उसने नादिरशाह से ५० लाख रुपया लेकर लौट जाने पर राज़ी कर लिया था। जब वह लौट आया तो नादिरशाह के प्रार्थना करने पर स्वयं सम्राट ईरानी शिविर में गया और वहाँ उसका अच्छा स्वागत हुआ। उधर

कि यह सब कुछ सादतखाँ बुरहानुलमुल्क के उकसाने पर किया गया था। नादिर-शाह ने उन्हें दिल्ली चलने पर बाध्य किया। उसे आशा थी कि वहाँ पहुँच कर मुझे वायदे की रक़म से भी कहीं अधिक धन मिल सकेगा। मुग़ल दरबार में स्थित मराठा राजदूत इस विषम स्थिति से किसी प्रकार भाग निकला। वह लिखता है, "ईश्वर ने मुझे इस महान संकट से बचा लिया है, और ससम्मान भाग निकालने में सहायता दी है! चगताई साम्राज्य का अन्त आगया है, और ईरानी साम्राज्य आरम्भ हो गया है।" आनन्दराम ने भी यही लिखा है, 'सबको यही लगा कि अब मुगल राजतंत्र का अवसान हो चुका है।'

विजेता ने अपने कार्य को उचित ठहराते हुए सम्राट से कहा :—

'बड़े आश्चर्य की बात है कि आप अपने मामलों में इतने उदासीन और असावधान हैं, मैंने आपको अनेक पत्र लिखे, एक दूत भेजा और अपनी मित्रता प्रदर्शित की, किन्तु आपके मन्त्रियों ने सन्तोषजनक उत्तर देना भी उचित नहीं समझा। आपका अपने लोगों पर अधिकार और अनुशासन नहीं है, इसी कारण मेरा एक दूत आपके राज्य में मारा गया, यह चीज सभी नियमों के विरुद्ध है। जब मैं आपके साम्राज्य में घुस आया उस समय भी आप अपने विषय में इतने उदासीन रहे कि आपने यह भी नहीं पुछवाया कि मैं कौन हूँ और मेरा क्या इरादा है। ... इसके अतिरिक्त आपके पूर्वज काफ़िरों से जिजया वसूल किया करते थे, और अपने आपने शासन में उसे बन्द कर दिया है, और इन २० वर्षों में उन्होंने आपके साम्राज्य को पदाक्रान्त किया और आपने सब कुछ सहन कर लिया। किन्तु तैमूर के वंशजों ने सैफी (सफवी) परिवार को और ईरान की जनता को न तो कोई हानि पहुँचाई है और न उनके साथ दुर्व्यवहार ही किया है, इसलिये मैं आपका साम्राज्य को नहीं छीनूँगा। केवल आपके अहंकार और धृष्टता के कारण मुझे इतनी दूर चलकर आना पड़ा है, और मुझे असाधारण धन राशि व्यय करनी पड़ी है, और मेरे आदमी लम्बी यात्राओं के कारण बहुत थक गये हैं और आवश्यक वस्तुओं का उनके पास अभाव है, इसलिये मुझे दिल्ली चलना पड़ेगा, कुछ दिन हम लोग वहाँ ठहरेंगे, और जब मेरी सेना पुनः ताजा हो जायगी, और निज मुलमुल्क ने जो पेशकुश (कर) देने का वचन दिया वह मुझे मिल जायगी, तब मैं आपको अपने मामलों की देख-भाल करने के लिये छोड़ कर चला जाऊँगा।'

सादत-खाँ निजामुलमुल्क से ईर्ष्या करता था, इसलिये जब मुहम्मदशाह लौट आया तो उसने नादिरशाह को सुझाया कि युद्ध-क्षति-पूर्ति के रूप में जो रकम देने का वचन दिया गया है, उसकी जमानत के तौर पर आप निज़ाम को हिरासत में ले लें तो अच्छा होगा और यदि आप दिल्ली चलें तो इससे भी कहीं अधिक धन मिल जायगा। निजाम को किसी प्रकार की शंका नहीं थी, इसलिये वह दुबारा गया और बलपूर्वक रोक लिया गया। इस कारण सम्राट को भी दुबारा जाना पड़ा। उसे भी पकड़ लिया गया और ईरानी सेना के साथ दिल्ली जाने को बाध्य किया गया। इसी का आगे चल कर विनाशकारी परिणाम हुआ।

दिल्ली का हत्याकांड—उपर्युक्त घटनाओं से दिल्ली में घबराहट तथा आतंक छा गया। आनन्दराम के अनुसार करनाल की पराजय से पहले ही — अनेक झूठी अफवाहें फैल गईं, जिनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक नहीं। और नगर की दशा ऐसी थी कि यदि कोतवाल हाजी फौलाद खाँ सचेत न रहा होता तो लूट-मार हो जाती और ईरानी सेना को आने पर काम किया हुआ मिलता। कोतवाल असाधारण व्यक्ति था। वह दिन-रात अपने स्थान पर डटा रहा; उसने निरन्तर परिश्रम किया और जहाँ कहीं विद्रोह के लक्षण दिखाई दिये, तुरन्त ही अपरा- धियों को दण्ड दिया। सड़कों पर दुष्ट लोग फैल गये और किसी का भी जीवन सुरक्षित न रहा।'

सभी वृत्तान्तों से इस बात की पुष्टि होती है कि नादिरशाह ने प्रतिष्ठा और संयम से काम लिया। किन्तु स्थिति ऐसी थी कि सब कुछ सकुशल समाप्त हो जाता तो बड़े आश्चर्य की बात होती। नगर में एक स्थान पर नागरिकों तथा आक्रमणकारी सेना में किसी प्रकार झगड़ा हो गया। इसके बाद लूट, दाह और नरसंहार का ऐसा वीभत्स कांड रचा गया जैसा कि तिमूर के आक्रमण के समय हुआ था। जीवन तथा सम्पत्ति की भयंकर हानि हुई। उस क्रोधोन्माद में न तो किसी की आयु का ही ध्यान रक्खा गया और न लिंग का। कहीं-कहीं पर धूर्त लोग जिन्होंने झगड़ा करवाया था, निकल भागे और निर्दोष प्राणियों को उनके पापों का फल भोगना पड़ा। घबड़ा कर अनेक स्त्री पुरुष पागल हो गये और बहुत-सों ने आत्महत्या कर ली। सड़कें तथा मकान लाशों से पट गये और शीघ्र ही उनकी दुर्गन्ध से जीवितों का दम घुटने लगा। आग लगा कर लोगों ने मलबा साफ किया। यह कांड ९ बजे से २ बजे तक, केवल पाँच घंटे रहा (रविवार, ११ मार्च, १७३९)।

आनन्दराम लिखता है, 'धीरे-धीरे लपटों की भीषणता शान्त हुई, किन्तु रक्तपात, विध्वंस तथा परिवारों के नाश से जो क्षति हुई उसे पूरा करना असम्भव था। बहुत समय तक सड़कों और गलियों में लाशें सड़ती रहीं, जैसे कि किसी उद्यान की पगडंडियों पर सूखे हुए फूल और पत्तियाँ बिखरी रहती हैं। नगर जलकर खाक हो गया था और अग्नि से भस्म हुए मैदान के सदृश दिखाई देता था। सम्राट के सम्पूर्ण रत्नों और सम्पत्ति तथा कोष में जो कुछ मिला उस सब पर ईरानी विजेता ने अधिकार कर लिया। साठ लाख रुपये और कई हजार अशर्फियाँ, एक करोड़ के मूल्य के सोने के बरतन और अनेक रत्न जो सौन्दर्य में संसार भर में बेजोड़ थे और जिनका मूल्य पचास करोड़ था, आक्रमणकारी के हाथ लगे। अकेला तख्तताऊस जिसका निर्माण शाहजहाँ के समय में बड़े परिश्रम से किया गया था, एक करोड़ रुपये का था। हाथी, घोड़े तथा बहुमूल्य वस्तुएँ और जिन चीजों पर विजेता की दृष्टि पड़ी, सब लूट ली गईं। संक्षेप में ३४८ वर्ष का संचित धन क्षण भर में दूसरे का हो गया।'

फ्रेजर के अनुमान से ईरानी आक्रमण में मुगल साम्राज्य के लगभग १००,०००

निवासियों ने अपने प्राण गँवाये ; और ७० करोड़ रुपये के अतिरिक्त नादिरशाह अपने साथ "१०० हाथी, ७००० घोड़े, १०,००० ऊँट, १०० खोजे, १३० लेखक, २०० लुहार, ३०० राज, १०० तक्षक (संगतराश) और २०० बढ़ई ले गया।" "औरंगजेब के नाती और कामबख्श के पुत्र ईसदनबख्श" की एक पुत्री का विवाह 'नादिरशाह के पुत्र नसर अल्ला' के साथ कर दिया गया । अन्त में नादिरशाह ने सम्राट को उपदेश दिया :—

'सबसे पहले आप अपने अमीरों की जागीरें छीन लीजिये और उनमें से प्रत्येक को उसके मंसब और पद के अनुसार कोष में से नकद वेतन दीजिये। आप किसी भी अमीर को अपनी निजी सेना न रखने दीजिये, किन्तु आप स्वयं ६०,००० घुड़सवार सदैव सेवा में रखिये और प्रत्येक सैनिक को ६० रुपये मासिक वेतन दीजिये। दस आदमियों पर एक देहबशी (दस का नायक) दस देहबशियों पर एक सुदिवल (सौ का अधिकारी) और दस सुदिवलों पर एक हजारी नियुक्त कीजिये। आपको प्रत्येक आदमी के गुणों से, उसके नाम, परिवार और नस्ल से भली-भाँति परिचित होना चाहिये; उनमें से किसी को चाहे वह अधिकारी हो, चाहे सैनिक अथवा और कोई, निठल्ला और निष्क्रिय न बैठने दीजिये, और जब कोई काम पड़े तो पर्याप्त संख्या में सैनिकों को एक ऐसे अधिकारी की आधीनता में भेज दीजिये जिसके आचरण, साहस और स्वामिभक्त में आपको विश्वास हो, और जब काम पूरा हो जाय तो उन्हें तुरन्त ही बुला लीजिये, किसी एक व्यक्ति के हाथ में नेतृत्व बहुत समय तक न रहने दीजिये, नहीं तो इसके परिणाम बुरे होंगे। आपको निजामुलमुल्क से विशेष रूप में सावधान रहना चाहिये, क्योंकि उसके आचरण से मैंने समझ लिया है कि वह बहुत ही कुटिल और स्वार्थी है और इतना महत्वाकांक्षी है जितना कि एक प्रजाजन को शोभा नहीं देता।'

मुगल प्रान्तों पर ईरानियों का अधिकार—नादिरशाह ५७ दिन ठहरा और उसके बाद ५ मई १७३९ को कूच कर गया। जाने से पहले उसने हिन्दुस्तान का मुकुट मुहम्मदशाह के सिर पर रक्खा और एक रत्नजटित तलवार उसकी कमर में बाँध दी ; और सम्राट ने कृतज्ञतापूर्व घोषणा की :—

"शाहंशाह की कृपा से मुझे अब दूसरी बार सिंहासन तथा मुकुट प्राप्त हुआ है, और संसार के मुकुटधारी शासकों में मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गई है, इसलिये मैं काश्मीर से लेकर सिन्ध तक सिन्ध नदी के उस पार के अपने साम्राज्य के प्रान्त तथा थट्टा के सूबे और उनके अधीन बन्दरगाह कर के रूप में समर्पित करता हूँ।"

इस प्रकार सिन्ध नदी के उस पार स्थित साम्राज्य का महत्वपूर्ण भाग जिसमें अफगानिस्तान भी सम्मिलित था, अन्तिम रूप से बाबर के वंशजों के हाथ से निकल गया। "कर्नाल के युद्ध से पहले नादिरशाह ने स्थानीय सूबेदारों को हरा कर सिन्ध नदी के पूर्व के काफी बड़े प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। उस भूमि से भी उसने राजस्व वसूल करना जारी रक्खा और मुगल सरकार ने उसका विरोध नहीं किया, किन्तु उन प्रदेशों का प्रशासन मुहम्मदशाह के

अधिकारियों के हाथों में ही बना रहा। लाहौर के सूबेदार ने इस हिसाब में बीस लाख रुपये प्रति वर्ष नादिरशाह को अदा करते रहने का वचन दिया, जिससे ईरानियों को सिन्ध के पूर्व में अपनी सेना छोड़ने की आवश्यकता नहीं रही।

अफगानों के आक्रमण

नादिरशाह अपनी विजयों का फल भोगने के लिये अधिक दिनों तक जीवित न रहा। भारतीय आक्रमण के आठ वर्ष बाद ही वह एक हत्यारे के हाथों से मारा गया। अब हमें यहाँ दूसरे आक्रमणकारी का उल्लेख करना है। वह था अहमदशाह अब्दाली अथवा दुर्रानी। वह नादिरशाह के मुख्य सहायक के रूप में विशेष ख्याति पा चुका था। उसके सम्बन्ध में विजेता ने कहा था, "मुझे ईरान तूरान अथवा हिन्द में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो योग्यता और चरित्र में अहमदशाह अब्दाली की समानता कर सके।" अब्दाली ने अपनी सफलताओं से इस मूल्यांकन के औचित्य को भली-भाँति सिद्ध कर दिया। नादिरशाह की मृत्यु के बाद वह कंधार और काबुल का स्वतन्त्र शासक बन बैठा और फिर ईरानी सम्राट के वैध उत्तराधिकारी होने के नाते पश्चिमी पंजाब पर भी अपना अधिकार कायम रखना चाहा। इसी आधार पर उसने हिन्दुस्तान पर लगातार आक्रमण किये, जिनका अन्त १७६१ में पानीपत के विनाशकारी (भारतीयों के लिये) युद्ध में हुआ।

हिन्दुस्तान में जिन परिस्थितियों के फलस्वरूप पानीपत का विनाशकारी युद्ध हुआ वे इतनी पेचीदा थीं कि स्थानाभाव के कारण उन्हें यहाँ सन्तोषजनक ढंग से सुलझाना असम्भव है। इसलिये यहाँ हम केवल मुख्य-मुख्य घटनाओं का उल्लेख करेंगे, जिससे पाठकगण उस स्थिति को भली भाँति समझ सकें जिसमें मुगल साम्राज्य का उन्मूलन हुआ। यद्यपि बाबर का अन्तिम वंशज जिसने मुगल सम्राट का नाम और मुकुट धारण किया, बहादुरशाह द्वितीय था जिसकी मृत्यु पानीपत के तृतीय युद्ध (१७६१) के ठीक एक शताब्दी बाद (१८६२) रंगून में हुई, किन्तु वास्तव में मुगल साम्राज्य का अन्त २८ नवम्बर १७५९ को हो गया जिस दिन आलमगीर द्वितीय का वध हुआ। उस समय उसका पुत्र अली गौहर राजधानी से दूर था और यद्यपि उसने अपने को इलाहाबाद में शाह आलम के नाम से सम्राट घोषित कर लिया किन्तु दिल्ली में एक स्वतन्त्र सम्राट के रूप में प्रवेश करना उसके भाग्य में न लिखा था। जब वह राजधानी को लौटकर गया तो वह उन नई शक्तियों (मराठे और अंग्रेज) के हाथों की कठपुतली था जो साम्राज्य के अधिकार के लिये संघर्ष कर रही थीं। इसी बीच में विद्रोही वजीर गाजीउद्दीन फीरोजजंग ने शाहजहाँ तृतीय को सिंहासन पर बिठला दिया किन्तु उसको कभी भी वैध उत्तराधिकारी नहीं स्वीकार किया गया। इस विद्रोह के मुख्य कारण अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण थे, जो १७४८ में आरम्भ और १७६१ में समाप्त हुये।

दुर्रानी की पाँच चढ़ाइयाँ—बाबर की भाँति अहमदशाह दुर्रानी ने हिन्दुस्तान पर पाँच आक्रमण किये और पाँचवें में पानीपत के मैदान में विजय प्राप्त की। किन्तु उन दोनों आक्रमणकारियों में एक भारी अन्तर था। बाबर ने अपनी विजय के बाद आगे बढ़ना जारी रक्खा और हिन्दुस्तान में एक साम्राज्य की स्थापना की, किन्तु अब्दाली ने अपनी विजय से कोई लाभ नहीं उठाया। दोनों अवसरों (१५२६ और १७६१) पर भारत की स्थिति लगभग एक-सी थी। १५२६ में दिल्ली का साम्राज्य सिकुड कर एक छोटा सा राज्य रह गया था, और यही दशा १७६१ में थी; इसके अतिरिक्त वह आन्तरिक झगडों और अधीन सामन्तों के विद्रोहों के कारण बहुत दुर्बल और जर्जरित हो गया था; और दोनों ही अवसरों पर हिन्दुओं की शक्ति दिल्ली सम्राट को आच्छादित करने के लिये ऊपर मडरा रही थी (लोदियों के समय में राणा साँगा के नेतृत्व में राजपूतों का का सघ, और मुगलों के समय में पेशवा के नेतृत्व में मराठा संघ), दोनों ही परिस्थितियों में आन्तरिक झगडों को निपटने के लिये एक विदेशी मित्र को आमन्त्रित किया गया; किन्तु दुर्भाग्य से विदेशी ने आकर सर्वत्र अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। दोनों आक्रमणकारियों में मुख्य अन्तर ये थे:—बाबर यहाँ पर स्थायीरूप से अपनी शक्ति की स्थापना करने आया था, किन्तु अब्दाली ने सैनिक विजय से और लूट के धन से ही सन्तोष कर लिया; बाबर ने दिल्ली के शासक से युद्ध किया था, किन्तु अब्दाली को सम्राट के सन्देहजनक मित्रों मराठों से लडना पड़ा; बाबर को हिन्दू संघ के नेता राणा साँगा ने आमन्त्रित किया था, किन्तु अब्दाली के मुख्य शत्रु मराठे ही थे, जिन्होंने उसको आमन्त्रित करने वाले दल का साथ नहीं दिया, बल्कि देश के शत्रुओं से लडने का सारा भार अपने ही ऊपर ले लिया।

पाठकों को स्मरण होगा कि सिन्ध नदी के पश्चिम में स्थित पजाब के प्रदेश को नादिरशाह ने अपने साम्राज्य में मिला लिया था, और इसके अतिरिक्त वह पूर्वी पजाब के कुछ भाग से भी राजस्व वसूल करता था। अब्दाली ने इन अधिकारों को फिर से जमाना चाहा और सब अफगानों को अपने झडे के नीचे एकत्र करके पेशावर को जीत लिया और लाहौर पर चढाई कर दी। महान् जकारियाखाँ के एक पुत्र हयातुल्ला ने अपने बडे भाई याहिया को हटाकर सूबे पर अधिकार कर लिया, और अब अपनी सहायता के लिये अब्दाली को भारत पर आक्रमण करने के लिये आमन्त्रित किया। किन्तु जब आक्रमणकारी मार्ग में लूटमार करता और आग लगाता हुआ आया तब हयातुल्ला ने अनुभव किया कि मैंने भयकर भूल की है, और प्रतिरोध करने का भी प्रयत्न किया, किन्तु अब बहुत देर हो चुकी थी। इसलिये इन परिस्थितियों में उसे तूफान के सामने झुकना पडा।

यह समय मुगल साम्राज्य के लिये भयंकर संकट का काल था, किन्तु ऐसा लगता है कि सम्राट और उसके दरबारी नादिरशाह के आक्रमण के धक्के से अभी तक सँभल नहीं पाये थे।

'मुहम्मदशाह ने राज्य के मामलों की ओर ध्यान देने के महत्त्व को बिल्कुल नहीं समझा और न राजाओं की भाँति देश के प्रबन्ध में मन लगाया। अपने शासन के प्रारम्भ से ही उसने राजकीय विषयों में अत्यधिक असावधानी का परिचय दिया और अपना सारा समय खेल-तमाशों में बिताया। अमीरों और सरदारों ने शीघ्र ही सम्राट की इस उपेक्षा से लाभ उठाया और सूबों तथा परगनों पर अपना अपना अधिकार जमा लिया, और उन प्रान्तों का राजस्व जो पहले शाही कोष में जमा होता था और जो सब मिलाकर कई करोड़ रुपये होता था, उन्होंने स्वयम् हड़प लिया। इन सूबों से एक भी कौड़ी शाही-कोष में नहीं पहुँचती थी किन्तु उन खालसा परगनों से जो अभी तक वफादार बने हुये थे, थोड़ी सी आय हो जाती थी। चूँकि शाही कोष धीरे धीरे खाली हो गया था, इसलिये सम्राट की सेना भी कठिनाइयों में फँस गई और अन्त में पूर्णतया छिन्न भिन्न हो गई; इसके विपरीत देश के अमीरों ने जो पूर्व सम्राटों के समय में कभी भी इतना धन और इतनी बड़ी बड़ी सेनाएं नहीं जमाकर पाते थे, अब अपनी अपनी जागीरों से तथा उन सरकारी प्रदेशों से जिन पर उन्होंने अधिकार कर लिया था, और दूसरों की जागीरों से भारी भारी रकमें जमा कर लीं और उचित स्वामियों को वे बीसवाँ भाग भी नहीं चुकाते थे। इस धन के बल पर वे विशाल सेनाएं रख सकते थे जिनका सामना करना सम्राट के लिये असम्भव था। इस प्रकार अब सम्राट की दशा अपने अमीरों से भी गई बीती हो गई। अब वास्तव में उसे उन पर निर्भर रहना पड़ता और न वह किसी को हटा सकता और न अवनत कर सकता।'

यद्यपि अहमदशाह के आक्रमण को रोकने के लिये सम्राट बहुत देर से चेता, फिर भी भाग्यवश किसी प्रकार ११ मार्च १७४८ को मानपुर के युद्ध में शत्रु की पराजय हुई। शाही सेना नाम लिये राजकुमार अहमद की अध्यक्षता में लड़ी और वजीर कमरुद्दीन खाँ और अवध के नवाब सादुल्ला खाँ का उत्तराधिकारी सफदरजंग उसके सहायक थे। इस पराजय से अब्दाली को भ्रम हो गया कि शत्रु सेना की शक्ति बहुत अधिक है, इसलिये वह तुरन्त ही अपने देश को वापिस लौट गया। कैसे ही सही, इस समय भाग्य ने मुगलों का साथ दिया और साम्राज्य कुछ समय के लिये बच गया। उन्होंने विवेक से काम लिया और विजय के उपरान्त शत्रु का पीछा नहीं किया। किन्तु यदि उनमें ऐसा करने का साहस रहा होता तो अब्दाली दुबारा भारत पर आक्रमण करने से पहले बहुत सोच विचार करता। लेकिन दोनों ही पक्षों ने एक-दूसरे की शक्ति का गलत अनुमान लगाया।

जब राजकुमार अहमद लौटकर आया, उस समय उसके पिता की मृत्यु हो चुकी थी इसलिये वह शीघ्र ही अहमदशाह के नाम से सिंहासन पर बैठ गया।

राज्यारोहण के समय अहमदशाह की आयु २२ वर्ष की थी, किन्तु सम्राट का मन बेकाम अभद्र लोगों की संगत में लगता था, और उसने अनेक हुक्म दिये जिससे वह देश के लिये लज्जा का कारण बन गया।' उसकी पतित माता ऊधमबाई और उसके हिजड़ा प्रेमी जावेद खाँ के प्रभाव के कारण देश का प्रशासन दुर्बल तथा भ्रष्ट हो गया

हुआ कि दुर्रानी ने १७५०-५१ में दूसरी बार उस पर आक्रमण किया। 'अहमद तेज़ी से मंज़िलें तय करता हुआ लाहौर पहुँचा और देश को नष्ट-भ्रष्ट करने लगा।' ''मीर मन्नू घबड़ाकर नगर को वापिस लौट गया। सड़कों को रोकने का प्रबन्ध किया और नीसरी प्रतिरक्षा के साधनों को सुदृढ़ बनाया। किन्तु सम्राट अपने ईरानी वज़ीर सफ़दर जंग के प्रभाव में था, इसलिये उसने इस विषय में कुछ भी नहीं किया।' 'दिल्ली के अमीरों और मिर्ज़ाओं को आशा थी कि मीर मन्नू (जो तूरानी था) नष्ट हो जायगा और फिर इसके बाद हम अब्दाली से लड़ने का प्रयत्न करेंगे। इस आत्मघाती नीति का अनुसरण करते हुये उन्होंने मुलतान में मीर मन्नू के एक प्रतिद्विन्दी को सूबेदार नियुक्त कर दिया और उसे वचन दिया कि यदि तुम मुईनुल मुल्क से विपद छुड़ाने में सफल हुये तो तुम्हें लाहौर की सूबेदारी भी दे दी जायगी। इन परिस्थितियों में सिंह हृदय मन्नू भी कुछ न कर सका। उसकी पराजय हुई और 'दुर्रानी की देहरी चूमने' पर बाध्य हुआ। लाहौर और मुलतान अब्दाली को दे दिये गये और सम्राट ने पचास लाख रुपया वार्षिक कर के रूप में देने का वचन दिया।

पंजाब में मराठे—वज़ीर सफ़दर जंग और मराठों के बीच एक समझौता हुआ था, जिसके कारण शीघ्र ही कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुईं। बाजीराव प्रथम के समय से मराठे उत्तर भारत में अत्यधिक शक्तिशाली हो गए थे। चाहे बंगाल, बिहार और उड़ीसा में नागपुर के भोंसले के आक्रमण का डर होता चाहे रुहेलों और अवध के नवाब के बीच झगड़ा खड़ा हो उठता चाहे राजपूताना में उत्तराधिकार के सम्बन्ध में गृह-युद्ध छिड़ जाता और चाहे पंजाब पर दुर्रानी के आक्रमण का डर होता हर स्थिति में लोग सुरक्षा और बचाव के लिए पेशवा और उसके सेनानायकों का ही मुँह ताका करते थे और उन्हीं को अपना मुक्तिदाता समझते थे। यही कारण था कि १७४२ में जब नागपुरी मराठों ने बंगाल पर आक्रमण किया तो वहाँ के नवाब अलीवर्दी खाँ ने पेशवाई मराठों को अपनी सहायता के लिए बुलाया। इसका परिणाम यह हुआ कि सम्राट मुहम्मदशाह ने राजा शाहू को पचीस लाख रुपये का बंगाल की और दस लाख रुपये का बिहार की चौथ के रूप में वार्षिक अनुदान देना स्वीकार कर लिया (अगस्त १७४३)। इसी प्रकार १७५१ में जब वज़ीर सफ़दर जंग बंगशों तथा रुहेला अफ़ग़ानों को जो साम्राज्य तथा बिहार के सूबे के लिये संकट का कारण बन गये थे दमन न कर सका तो उसने मराठों को अपनी सहायता के लिए आमन्त्रित किया। प्रारम्भ में यह समझौता एक स्थानीय समस्या को हल करने के लिये किया गया था, किन्तु बाद में जैसा कि वज़ीर ने कहा वह मराठों तथा साम्राज्य के बीच एक शक्तिशाली गठ बन्धन बन गया। इस समझौते के आधार पर अब्दाली के तीसरे आक्रमण के दौरान में (१७५१-५२) एक सन्धि हो गई, उसकी शर्तें इस प्रकार थीं:—

(१) पेशवा ने पतनशील साम्राज्य को उसके सभी शत्रुओं से बचाने का वायदा

किया, चाहे वे अब्दाली की भाँति विदेशी आक्रमणकारी हों और चाहे जाटों, रुहेलों और मित्रों की भाँति घरेलू विद्रोही।

(२) इसके बदले में तय हुआ कि पेशवा को पचास लाख रुपये दिये जाँयगे—तीस लाख अब्दाली को मार भगाने के लिये और शेष अन्य सेवाओं के लिये।

(३) इसके अतिरिक्त पेशवा को पंजाब और सिंध की तथा स्यालकोट, परसरूर गुजरात और औरंगाबाद के महालों की तथा हिसार, साँभल, मुरादाबाद और बदायूँ के जिलों की चौथ दे दी गई।

(४) पेशवा को अजमेर (जिसमें नारनौल की फौजदारी भी सम्मिलित थी) तथा आगरा (मथुरा की फौजदारी समेत) का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया।

(५) यह निश्चय हुआ कि उक्त सूबों का प्रशासन मुगल साम्राज्य के कानूनों के अनुसार और नाममात्र के लिये सम्राट की अनुमति से चलाया जायगा।

(६) और अन्तिम शर्त यह थी कि मराठा सरदारों को शाही मनसबदारों की श्रेणी में भर्ती किया जायगा।

जैसा कि सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं इस सन्धि से मराठों का "पश्चिमोत्तरी सीमान्त प्रदेश पर अधिकार हो गया, यद्यपि नाम के लिये वह सम्राट के प्रभुत्व में बना रहा, इसलिये अब अब्दाली का प्रतिरोध करने में उन्हीं का हित था और सम्राट को उसकी प्रतिरक्षा के भार से मुक्ति मिल गई। ... सफदर जंग अब मराठों की सहायता से काबुल की पुनर्विजय का भी स्वप्न देखने लगा।" यद्यपि यह योजना तुरन्त ही कार्यान्वित नहीं हुई फिर भी इससे मराठों के महत्व का पता लगता है।

इन शर्तों के पूरे होने में सबसे बड़ी बाधा यह थी कि दरबार में ईरानी वजीर सफदर जंग के विरुद्ध एक दल उठ खड़ा हुआ था जिसने उसकी अनुपस्थिति में अब्दाली से पूर्वोक्त समझौता कर लिया था। इस समय (१७५१–५२) तक पंजाब दुर्रानी के सुपुर्द किया जा चुका था। इसलिये सफदर जंग मराठों से हुई अपनी संधि की शर्तों को पूरा न कर सका, जिसकी वजह से दिल्ली में कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुईं। वजीर ने खोजा जाविदखाँ को जो दरबार में अधिनायक बन बैठा था, इस सब के लिये उत्तरदायी ठहराया। जब उससे और कोई उपाय बन न पड़ा तो उसने उसकी हत्या करवाने का संकल्प कर लिया और २७ अगस्त १७५२ को उसे मरवा डाला। इस राजनैतिक हत्या तथा सम्राट और दरबार पर वजीर के प्रभुत्व ने उसकी स्थिति और भी अधिक बिगाड़ दी; अब सफदर जंग के शत्रुओं की संख्या पहले से भी अधिक बढ़ गई। अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिये सफदर जंग ने अपने मराठा मित्रों को दिल्ली के आसपास टिका लिया, और दोनों ने मिलकर ऐसा अत्याचार आरम्भ किया कि धीरे-धीरे वह सभी लोगों को असह्य होने लगा। सम्राट (अहमदशाह) की स्थिति एक वन्दी की सी हो गई थी, और सफदर जंग के समर्थकों के हस्तक्षेप के कारण उसका समाज से स्वतन्त्रतापूर्वक मिलना-जुलना बन्द

हो गया था। इस प्रकार का व्यवहार सम्राट को बहुत खलने लगा। यदि वजीर का प्रशासन सफल हुआ होता, राजस्व ठीक तरह से वसूल होता रहता और शत्रु को दूर रखा गया होता, तो सम्भवतः उसका यह अन्यायपूर्ण व्यवहार सहन भी कर लिया जाता, किन्तु उसके कारण मराठे स्थायी रूप से दिल्ली के फाटकों पर डेरे डाले हुए थे जिससे राजधानी का अपमान होता था, प्रान्त केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से निकल चुके थे और शाही परिवार के अधिकारी तथा सैनिक भूखों मर रहे थे। इस सब कारणों से उस अभिनायक के अहितकर प्रभुत्व के विरुद्ध चारों ओर विद्रोह की आग फैलने लगी।''

१७५१ के अन्तिम दिनों से लगातार सूचनाएँ मिल रहीं थीं कि दुर्रानी का नया आक्रमण होने वाला है। ९ फरवरी १७५२ को अहमदशाह अब्दाली का एक दूत सचमुच मुगल सम्राट के दरबार में आ धमका और पचास लाख रुपये जिनका १७५१–५२ में वायदा किया गया था माँगे। घबड़ाये हुये सम्राट ने अपने दरबारियों से सलाह ली, किन्तु उन्होंने साफ़ा दिया कि, "मराठों ने अब्दाली से लड़ने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है। आपने उन्हें आगरा और अजमेर के सूबे तथा पूरे चौबीस प्रान्तों की चौथ दे दी है। आपने उन्हें धन भी दिया है और सारा अधिकार उनके हाथों में सौंप रखा है। उन्हीं से पूछिये कि अब क्या किया जाय।''

इससे दरबार में एक नया संकट उठ खड़ा हुआ। सफदर जंग के विरोधी दल ने चिल्लाना आरम्भ किया कि वजीर को हटा दिया जाय। फलतः गृह-युद्ध आरम्भ हो गया जिसके दौरान में वजीर के मित्र जाटों ने पुरानी दिल्ली को लूटा; 'लाखों की सम्पत्ति लूट ली गई, मकान गिरा दिये गये और नगर की बाहरी बस्तियाँ, जुर्नियाँ और वकीलपुरा पूर्णरूप से 'बेचिराग' हो गये। जबकि अफगान फाटकों पर प्रहार कर रहा था उस समय राजधानी तथा उसकी बाहरी बस्तियाँ 'मार्स का मैदान बनी हुई थीं—शत्रु से लड़ने के लिये नहीं, बल्कि सम्राट तथा उसके विद्रोही अधिकारियों के बीच आन्तरिक झगड़ों के कारण। अन्त में दुःखी होकर सम्राट ने जयपुर के राजा माधोसिंह से सहायता की प्रार्थना की और आखिरकार उसके बीच में पड़ने से राजधानी में शान्ति स्थापित हो गई। इसके बदले में मध्यस्थ को रणथम्भोर का किला वापिस लौटा दिया गया, जिसको उस राजपूत ने मुहम्मदशाह से कई बार माँगा था किन्तु विफल रहा था। सफदर जंग वजीर के पद से हटा दिया गया और वह अपने सूबा अवध को चला गया। वहीं ५ अक्टूबर १७५४ को उसकी मृत्यु हो गई।'

सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं 'दिल्ली में जितने योग्यतम और सबसे अधिक अनुभवी और पुराने अमीर थे और जो सम्राट का उचित समर्थन मिलने पर प्रशासन में उचित सुधार कर सकते थे, वे सब निराश होकर एक-एक करके दूरस्थ प्रान्तों में चले गये जहाँ वे सचमुच कुछ महान् और अच्छे कार्य कर सकते थे—कार्य का क्षेत्र भले ही सीमित था। सफदरजंग भी उन्हीं अमीरों में से एक था। जब वह भी राजधानी छोड़कर चला गया तो दरबार में कोई ऐसा पुराना

अनुभवी प्रशासक नहीं रहा जिससे कुछ आशा की जा सकती। बंगाल, अवध और दक्खिन में जाकर ये प्रान्तीय सूबेदार पूर्णतया स्वतन्त्र बन बैठे और दिल्ली के मामलों में उदासीन हो गये, बल्कि उस ओर घृणा की दृष्टि से देखने लगे; उधर मराठों ने गुजरात तथा मालवा पर और अफगानों ने पंजाब पर अधिकार कर लिया; परिणाम यह हुआ कि भारत का साम्राज्य सिकुड़ कर दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेश तथा आधुनिक उत्तर-प्रदेश के कुछ ज़िलों तक सीमित रह गया, जहाँ तुच्छ लोग तुच्छ निजी स्वार्थों के लिये झगड़ते और कुचक्र चलाते रहे।"

इमादुल-मुल्क का प्रभुत्व—सफदर जंग के चले जाने से न सम्राट को ही चैन मिला और न राजधानी में ही शान्ति स्थापित हुई। दलों में परिवर्तन हो गया, किन्तु गृह-कलह पूर्ववत चलती रही। सफदर जंग के विरुद्ध जिस दल की विजय हुई थी उसका नेता निज़ामुल मुल्क का एक नाती इमादुल-मुल्क था। उस समय वह शाही सेना का बख़्शी था। सफदरजंग के हटाये जाने पर इन्तिज़ामुद्दौला जो इमाद का चाचा और तूरानी-दल का नेता था, वज़ीर बन गया। अब चाचा और भतीजा—वज़ीर और बख्शी—सम्राट पर अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये झगड़ने लगे। भतीजा अधिक योग्य निकला, इसलिये अन्त में उसने अपने विलासी प्रतिद्वन्दी को परास्त कर दिया। सम्राट ने वज़ीर का साथ दिया था, किंतु जब उसकी योजनाएँ विफल रहीं तो सारा झगड़ा उसी के सिर जा पड़ा। इमाद ने सम्राट तथा वज़ीर दोनों को ही अपदस्थ कर दिया और जहाँदारशाह के एक पुत्र अज़ीज़ुद्दीन को आलमगीर द्वितीय के नाम सिंहासन पर बिठला दिया और स्वयम् वज़ीर तथा अधिनायक बन बैठा।

शाही अखाडे के इन झगडों के प्रति मराठे उदासीन तथा तटस्थ नहीं रहे। जैसा के हम पहले लिख आये हैं, सभी जगह उनकी सैनिक सहायता की माँग थी, किन्तु वे किसी दल विशेष से नहीं बँधे हुए थे। उन्होंने सफदर जंग और सम्राट को सहायता दी, क्योंकि उत्तर में उनकी महत्वाकांक्षी नीति के लिये यही हितकर था। जब सफदरजंग और सम्राट के बीच में गृह-युद्ध छिड़ा तो उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के सम्राट का साथ दिया। इसके बाद के झगडे में उन्होंने इमादुल-मुल्क का पक्ष लिया। वास्तव में वे इतने चतुर निकले कि सदैव विजयी पक्ष का ही साथ देते रहे। राजधानी में जितनी भी क्रान्तियाँ हुईं वे उनके कुचक्रों का तो परिणाम नहीं थीं, किन्तु पूरी उन्हीं की सहायता से हुई थी। उत्तर में उनके महान् सेनानायक पेशवा का अनुज रघुनाथ राव, मल्हारराव होल्कर और जयप्पा तथा दत्ताजी सिंधिया थे। उन्होंने राजपूतों, जाटों, मुगलों आदि सभी से कर वसूल किया और सर्वत्र अपना प्रभुत्व जमाये रक्खा। सम्राट अहमदशाह के अपदस्थ हो जाने से ही उनका काम पूरा नहीं हो गया। वे दिल्ली के "नये राज निर्माता" शक्तिशाली वजीर इमादुल-मुल्क का साथ देते रहे।

आलमगीर द्वितीय का शासन काल—नया सम्राट आलमगीर द्वितीय केवल नाम के लिये सम्राट था। उसके चरित्र के सम्बन्ध में हम पहले लिख आये

है। १७५९ में उसे सिंहासन से हटाकर मार डाला गया, इसके लिये उसकी दुर्बलता ही उत्तरदायी थी। उसने भी अपने दुर्बल पूर्वाधिकारियों की नीति का अनुसरण किया था और अपने शक्तिशाली वज़ीर का जिसकी सहायता से वह सिंहासन पर बैठा था, पूरा-पूरा समर्थन नहीं किया था। वज़ीर ने शक्तिशाली नीति अपनाई इसलिये नये रुहेला नेता नजीबुद्दौला और अवध के नये नवाब शुजाउद्दौला (सफदर जंग का पुत्र और उत्तराधिकारी) से उसकी शत्रुता हो गई। उधर मुईनुल-मुल्क की मृत्यु हो गई थी, इसलिये पंजाब में भी ग़ाज़ीउद्दीन (इमाद ने भी अपने पिता की यह उपाधि धारण करली थी) ने सिक्खों का दमन करने तथा अफ़ग़ानों को मार भगाने के उद्देश्य से अदीनावेग नामक एक योग्य अधिकारी को नियुक्त किया। इस प्रकार ग़ाज़ीउद्दीन ने अराजकता का अन्त करने और स्थिति को अधिकार में लाने के लिये प्रारम्भ में ठोस कदम उठाये। यदि सम्राट ने हृदय से उसका साथ दिया होता तो सभी काम सफलता से चलते रहते, किन्तु सबके दुर्भाग्य से वह वज़ीर के शत्रुओं के हाथ की कठपुतली बन गया। निराश तथा तंग होकर वज़ीर ने पुरानी तथा सुपरिचित चाल चली और निकम्मे सम्राट को मार कर उसके स्थान पर एक नया कठपुतली सम्राट बिठला दिया। 'इमादुस्सदात' के अनुसार नया सम्राट कामबख़्श के पुत्र मुहीउस्सुन्नत का पुत्र मुहीउल् मिल्लत था। उसे शाहजहाँ द्वितीय के नाम से सिंहासन पर बिठलाया गया। किन्तु उसको किसी ने माना नहीं। उधर दुर्रानी फिर आ धमका और राजनिर्माता को स्वयम् अपनी जीवनरक्षा के लिये भागना पड़ा। जिस सम्राट की हत्या करदी गई थी उसका पुत्र अली गौहर उस समय बिहार में शरणार्थी के रूप में रह रहा था। नजीबुद्दौला, शुजाउद्दौला और अब्दाली ने उसी को सम्राट माना; किन्तु १७७२ से पहले उसे राजधानी में प्रवेश करने का अवसर न मिला और उस समय भी वह मराठों के 'संरक्षण' में वहाँ गया।* इसी लिये हमारा यह कथन ठीक है कि यद्यपि 'सम्राट' एक शताब्दी तक और बने रहे किन्तु मुग़ल साम्राज्य वास्तव में १७५९ में ही समाप्त हो गया, जब कि दिल्ली में सिंहासन खाली हो गया और जब कि राजधानी को मराठों तथा दुर्रानियों की सेनाओं ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। आगे चलकर १७६१ में पानीपत के मैदान में मराठों का जो संहार हुआ उससे साम्राज्य को कोई प्रयोजन न था, कारण यह था कि साम्राज्य का अस्तित्व भी न रह गया था।

पानीपत तथा उसके बाद की घटनाएँ

इस शाही नाटक के अन्तिम दृश्य को समाप्त करने से पहले हमें यह भी

---

* सरकार लिखते हैं, '१० अक्टूबर १७६० को सदा शिवराव भाऊ ने वज़ीर की कठपुतली शाहजहाँ द्वितीय को अपदस्थ कर दिया और शाह आलम द्वितीय को का सम्राट घोषित किया, उस समय से लेकर ६ जनवरी १७७२ तक जिस दिन शाह ने अपने पूर्वजों की राजधानी में पहली बार प्रवेश किया, शाही नगर में कोई न था।'

लेना चाहिये कि रंग-मंच पर कार्य करने वाले अभिनेता यवनिका के पतन से पहले कैसी भयकर तथा दुःखद परिस्थितियों में फँस गये। उस स्थिति की विशेषता यह थी साम्राज्य के मित्र उसके शत्रु बन गये थे और शत्रु मित्र। जहाँ तक सम्राट से संबंध था अब्दाली और मराठों ने एक दूसरे का स्थान ले लिया था, और उसी प्रकार वज़ीर और रुहेलों ने। 'राजनैतिक सम्बन्धों की यह उलट-फेर' (१७५७–५९) योरोपीय इतिहास की उसी काल (१७४८–५६) की 'कूटनीतिक क्रान्ति' से कम मनोरञ्जक नहीं है। आस्ट्रिया के सम्बन्ध में जिस प्रकार फ्रांस और इगलैंड एक पक्ष को छोड़कर दूसरे में सम्मिलित हो गये, उसी प्रकार मुगल सम्राट के सम्बन्ध में अब्दाली और मराठों ने किया। किन्तु स्मरण रखने की बात यह है कि इस दूसरे प्रसंग में जो उलट फेर हुआ वह कूटनीतिक चालों के कारण नहीं बल्कि घटना-चक्र के बल पर हुआ। पानीपत के तृतीय युद्ध को उचित दृष्टिकोण से देखने के लिये इस घटना-चक्र को स्पष्टरूप से समझना आवश्यक है।

अहमदशाह अब्दाली के पहले तीन आक्रमणों के इतिहास से स्पष्ट है कि उस आक्रमणकारी को साम्राज्य का शत्रु समझा जाता था। सम्राट और वज़ीर ने मराठों का समर्थन प्राप्त करने के लिये जो प्रयत्न किये उनसे स्पष्ट है कि वे उन्हे साम्राज्य का मित्र तथा संरक्षक समझते थे। सम्राट आलमगीर को वज़ीर इमादुल-मुल्क ग़ाज़ीउद्दीन फीरोज जंग तथा उसके मराठा मित्रों की कृपा से सिंहासन प्राप्त हुआ था। १७५४ में जब आलमगीर सिंहासन पर बैठा, तब से लेकर दुर्रानी के चौथे आक्रमण के समय तक (१७५७) यही सम्बन्ध कायम रहा। उसके बाद के वर्ष (१७५७–६१) भारतीय इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण थे। जैसा कि डा० वी० ए० स्मिथ ने लिखा है, "जून १७५६ तथा पानीपत के युद्ध (जनवरी १७६१) के बीच के अल्पकाल में बंगाल तथा प्रायद्वीप दोनों ही क्षेत्रों में अँग्रेजों की स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया। दक्षिण में अँग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के बीच संघर्ष जिसमें दोनों ही पक्षों को भारतीय मित्रों से सहायता मिली, १७४६ में आरम्भ हुआ जबकि मद्रास अँग्रेजों के हाथ से निकल गया, और वह पानीपत के युद्ध से एक सप्ताह पहले ६ जनवरी १७६१ को समाप्त हुआ जबकि फ्रांसीसियों ने अपने मुख्य उपनिवेश पांडुचेरी को कुछ शर्तों के आधार पर अँग्रेजों को समर्पित कर दिया। बंगाल की घटनाएँ इससे भी अधिक आश्चर्यजनक और निर्णायक सिद्ध हुई। जो व्यापारी जून १७५६ में भय-ग्रस्त होकर फूल्टा को भाग गये थे वे ही ठीक बारह महीने बाद एक धनी राज्य के स्वामी बन बैठे।"

इस बात का अनुमान लगाना कठिन है कि यदि पानीपत के युद्ध का परिणाम उलटा हुआ होता तो भारतीय भाग्य का ऊँट किस करवट बैठता। किन्तु यह बात भली-भाँति ध्यान रखने योग्य है कि दुर्रानी के विरुद्ध भारतीय शक्तियाँ संयुक्त मोर्चा न बना सकीं। यद्यपि अब्दाली को अपने प्रारम्भिक आक्रमणों में विद्रोही भारतीय अमीरों के निमंत्रण से ही प्रोत्साहन मिला था, किन्तु उस समय

भारत की फूट उतनी स्पष्ट नहीं सिद्ध हुई थी जितनी कि अब्दाली के चौथे तथा पाँचवे आक्रमणों के बीच सिद्ध हुई। अहमदशाह ने ये दो आक्रमण १७५७ तथा १७६१ के बीच किये; उस समय की परिस्थितियाँ इस प्रकार थीं—

गाजीउद्दीन ने स्थिति को नियंत्रण में लाने के जो उत्साहपूर्ण प्रयत्न किये उनका पहले उल्लेख हो चुका है। 'इमादनामा' में लिखा है कि इमादुल् मुल्क ने पहले राजस्व तथा अन्य मामलों का ठीक-ठाक प्रबन्ध किया और फिर घुड़सवार सेना तथा दाग प्रथा के जो छिन्न भिन्न तथा नष्ट-भ्रष्ट हो गई थी, सुधार की ओर ध्यान दिया। उसने सम्राट को शाहजहाँबाद से हटाकर पानीपत को भेज दिया, और फिर उसने घुड़सवार सेना के अधिकारियों से वह भूमि छीन ली जो राजधानी के निकट उन्हें जागीर के रूप में मिली हुई थी, और उसके प्रबन्ध के लिये अपने अधिकारी नियुक्त कर दिये। सम्राट तथा उसके सलाहकारों के भड़काने से घुड़सवार सेना के अधिकारी वजीर के विरुद्ध शोर गुल मचाने लगे और उसके पास अपने वकील अपना वेतन माँगने के लिये भेज दिये।' इसके बाद सैनिकों की बारी आई, वे 'एक भारी भीड़ बनाकर वजीर के निवास-स्थान पर पहुँचे और कोलाहल करने लगे। वजीर को अपने पद और शक्ति का गर्व था जब उसने यह सुना तो निडर होकर इस उपद्रव को दबाने के लिये बाहर निकल आया। चारों ओर से लोग एकत्र होने लगे और भीड़ बढ़ती गई। उन्होंने उसके (वजीर के) कपड़े फाड़ डाले और उस दंगे में उसकी पगड़ी भी सिर से गिर पड़ी। उसके बाद उन्होंने उसे पानीपत की सड़कों में होकर अपनी शिविर तक घसीटा।'' — 'उसी समय अधिकारियों को सम्राट (आलमगीर द्वितीय) का संदेश मिला कि यदि तुम वजीर को बन्दी बनाकर मेरे सुपुर्द कर दोगे तो तुम्हारा वेतन चुकाने का उत्तरदायित्व मैं अपने ऊपर ले लूँगा किन्तु यदि वह तुम्हारे हाथ से निकल गया तो तुम्हें उससे अपना वेतन वसूल करने में बड़ी कठिनाई होगी। '' सम्राट ने इस दुर्घटना में जो भाग लिया उससे इमादुल-मुल्क को बहुत चोट पहुँची और कष्ट हुआ। थोड़े दिनों में वे दिल्ली को लौट गये और वह सम्राट को अपने विश्वसनीय लोगों के पहरे में छोड़कर लाहौर को चला गया।' लाहौर में उसने अदीनाबेग नामक एक साहसिक की सहायता से स्वर्गीय सूबेदार मुईनुल्-मुल्क के परिवार और सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया और 'तीस लाख रुपये के बदले में लाहौर का प्रान्त अदीनाबेग को दे दिया।' — '' मुईनुल मुल्क की विधवा के हृदय को इस व्यवहार से बहुत चोट पहुँची इसलिये वह अपनी जीभ पर नियंत्रण न रख सकी और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर वज़ीर को शाप और गालियाँ दीं। उसने कहा कि "तुम्हारे इस आचरण से राज्य पर विपत्ति टूट पड़ेगी, शाहजहाँबाद का सर्वनाश हो जायगा और राज्य के अमीर अपमानित होंगे। 'अहमदशाह अब्दाली शीघ्र ही इस निर्लज्जतापूर्ण कार्य का बदला लेगा और इसके लिये तुम्हें दण्ड देगा।'

जब अहमदशाह को इमादुलमुल्क के इस दुस्साहसपूर्ण काम का समाचार मिला तो उसने तुरन्त ही लाहौर को प्रयाण कर दिया। अदीनाबेग उसका सामना न कर सका और हाँसी हिसार की ओर भाग गया। 'इमादुलमुल्क

भयभीत हो उठा।.........जब अहमदशाह दिल्ली के निकट पहुँचा तो इमादुल-मुल्क को समर्पण करने की अपेक्षा और कोई मार्ग न दिखलाई दिया।.........पश्चाताप के सभी चिन्हों के साथ वह शाह से मिलने गया, और भारी कर के बदले में उसे अपने पद पर स्थायी कर दिया गया। २८ जनवरी १७५७ को उसने शाहजहाँबाद में प्रवेश किया और सम्राट आलमगीर से मिला। नगर में वह लगभग एक महीने तक ठहरा, निवासियों को लूटा, और बहुत कम लोग लुटने से बच सके।'

'तारीखे-इब्राहीमखाँ' में अब्दाली के चौथे आक्रमण से सम्बन्धित ब्यौरे की अन्य अनेक चीजें दी हुई हैं। उसमें लिखा है कि शाह ने सम्राट के भाई की एक पुत्री का विवाह अपने पुत्र तिमूरशाह के साथ कर दिया। उसने सूरजमल जाट पर भी चढ़ाई की। 'उसने सम्पूर्ण रक्षा-सेना का संहार करवा दिया, और फिर द्रुतगति से मथुरा की ओर बढ़ा और हिन्दुओं के उस पवित्र नगर को धूल में मिलाकर सब मूर्ति-पूजकों को तलवार के घाट उतरवा दिया। ......इसी समय शाह की सेना में भयङ्कर महामारी फैल गई, जिससे उसे सूरजमल को दण्ड देने का विचार त्याग कर अपनी इच्छा के विरुद्ध अपने राज्य को लौटने का संकल्प करना पड़ा।,

आन्तरिक संघर्ष—वज़ीर ने अवध से अब्दाली का कर वसूल करने का प्रयत्न किया, जिससे उसका शुजाउद्दौला से झगड़ा हो गया। साथ ही साथ 'इमादुलमुल्क ने जो नजीबुद्दौला (रुहेला सरदार) से बहुत डरता था, दत्ता जी सिन्धिया और जानकू जी मराठा को उसके विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियाँ करने के लिये भड़काया, और वचन दिया कि यदि आपने उसे उस प्रदेश से जिस पर उसका अधिकार है, निकाल दिया, तो मैं आपको कई लाख रुपया दूँगा। तदनुसार मराठा सरदारों ने अपनी दक्षिणी सेनाएँ लेकर नजीबुद्दौला पर भयंकर आक्रमण कर दिया। उनकी सेना चीटियों तथा टिड्डियों की भाँति असंख्य है, जब तक बन पड़ा, उसने उनका सामना किया किन्तु जब टिक सकना असम्भव हो गया, तो भाग खड़ा हुआ और सकरताल के किले में शरण ली। मराठों ने किला घेर लिया, रसद के मार्ग बन्द कर दिये और उसे बहुत कष्ट पहुँचाया। जब सिन्धिया ने देखा कि नजीबुद्दौला विषम स्थिति में फँस गया है, तो उसने शाहजहाँबाद से इमादुलमुल्क को बुलाया जिससे उसको (रुहेला सरदार को) दण्ड देने की कार्यवाहियाँ पूरी की जा सकें।' इसी बीच में 'इमादुलमुल्क सम्राट पर सन्देह करने लगा था, और वह जानता था कि इंतिज़ामुद्दौला खानखाना उसका मुख्य सलाहकार है, इसलिये उस अमीर को उसने नमाज़ पढ़ते समय मार डाला।' उसी प्रकार सम्राट का भी बध कर दिया गया, और उसके शरीर को 'सब कपड़े उतार कर' खिड़की के बाहर फेंक दिया, और शव एक दम नंगा पड़ा सड़ता रहा। 'अठारह घंटे पड़े रहने के बाद महदी अली खाँ की आज्ञा से शव उठाया गया, और हुमायूँ के मकबरे में दफना दिया गया।' तुरन्त ही एक नया खिलौना

(शाहजहाँ द्वितीय ?) सिंहासन पर बिठला दिया गया, और इमाद ने सकरताल के लिये कूच किया। 'इमादनामा' में लिखा है कि 'उसी समय अहमदशाह दुर्रानी के आक्रमण का समाचार लोगों में फैल गया। इमादुलमुल्क को जीवन के लाले पड़ गये और सूरज मल जाट के यहाँ शरण लेने के अतिरिक्त बचने का और कोई मार्ग न दिखलाई दिया, इसलिए वह अविलम्ब उस राजा के राज्य को चला गया।' उसके भाग जाने के बाद 'सम्राट' का और कोई समर्थक न रहा। और दूसरे वर्ष (१७६०) जब सदाशिव राव भाऊ ने १ अक्टूबर को दिल्ली पर अधिकार किया तो उसने 'शाहजहाँ को हटा दिया' और आलमगीर द्वितीय के पुत्र यशस्वी राजकुमार मिर्जा जवाँ बख्त को दिल्ली के सिंहासन पर बिठला दिया। किन्तु कुछ महीने उपरान्त जब सदाशिवराव भाऊ पानीपत के युद्धक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त हुआ, तो इस राजकुमार का कोई समर्थक न रहा। इस प्रकार नाटक के अन्तिम अंक का अन्तिम दृश्य आ गया।

भाऊ द्वारा दिल्ली को अधिकृत करने का उल्लेख करके हम कुछ आगे की घटनाओं पर पहुँच गये। दिल्ली पर भाऊ का अधिकार तो वास्तव में उस मराठा-अब्दाली संघर्ष का परिणाम था जो दोनों के पंजाब में प्रवेश करने से अनिवार्य हो गया था। उसे समझने के लिए हमें अब्दाली के चौथे आक्रमण के बाद की घटनाओं पर ध्यान देना पड़ेगा।

'तारीखे आलमगीरसानी' में लिखा है—'शाह ने स्वर्गीय सम्राट मुहम्मदशाह की पुत्री से विवाह-सम्बन्ध कायम किया, और नजीबुद्दौला को अमीर उल-उमरा की उपाधि तथा बख्शी का उच्च पद प्रदान किया, और फिर लाहौर के लिये कूच कर दिया। जैसे ही उसने उस स्थान पर अपना यशस्वी झंडा गाड़ा, वैसे ही उसने लाहौर तथा मुल्तान दोनों की सरकार अपने पुत्र तिमूरशाह के सुपुर्द कर दी, और जहान खाँ को अपने पीछे छोड़ कर स्वयं कान्धार के लिये चल दिया।' यद्यपि अदीना बेग को नये शासन में दोआब का भार सौंपा गया था, किन्तु उसने शीघ्र ही अपने नये स्वामियों से झगड़ा मोल ले लिया। यही कारण था कि उसने सिक्खों तथा मराठों से मित्रता कर ली; मराठे पहले से ही नजीबुद्दौला के विरुद्ध इमादुलमुल्क का साथ देने के लिए पहुँच गये थे। तदनुसार रघुनाथराव तथा अन्य मराठा सरदार अदीना बेग खाँ के प्रार्थना करने पर जिसका हम संक्षेप में पहिले उल्लेख कर आये हैं दिल्ली से लाहौर को चल पड़े। दिल्ली को बाहरी बस्तियों को छोड़कर पहिले वे सरहिन्द पहुँचे और वहाँ अब्दुस्समद खाँ से जिसे अब्दालीशाह ने उस स्थान पर नियुक्त किया था, लड़ाई लड़ी और उसे बन्दी बना लिया। वहाँ से मुड़कर वे लाहौर की ओर बढ़ते गये और जहानखाँ से जो वहाँ नियुक्त था युद्ध करने के लिये तैयार हो गये। शत्रु की विशाल सेना की तुलना में जहानखाँ के सैनिकों की संख्या बहुत कम थी। इसलिए उसने भागकर अपनी रक्षा करने का प्रयत्न किया। तदनुसार उसने शबान ११७१ हि० (अप्रैल १७५८) में काबुल की सड़क पकड़ी और तिमूरशाह के साथ पूरी रफ्तार से आगे बढ़ा, और अपने शासन-काल में उसने जो भारी सामान और सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी वह सब शत्रु को भेंट कर दी।

मराठा सरदारों ने अटक नदी तक तिमूरशाह का पीछा किया, और फिर मुड़कर लाहौर चले गये। इस बार मराठों ने मुलतान तक अपना प्रभुत्व जमा लिया। चूँकि वर्षा ऋतु आरम्भ हो गई थी, इसलिये उन्होंने लाहौर का प्रान्त अदीनाबेगखाँ के सुपुर्द कर दिया और उसने उन्हें ७५ लाख रुपया कर के रूप में देने का वचन दिया; इसके बाद उन्होंने घर पर अपने प्रिय परिवारों से मिलने की उत्कण्ठा से दक्षिण को लौटने का संकल्प किया। 'लौटते समय जब वे दिल्ली पहुँचे तो उन्होंने अपने युद्ध-प्रिय सरदार जानकू को एक विशाल सेना के साथ राजधानी के निकट छोड़ दिया और स्वय सीधे अपने घरों को चल पड़े। दैवयोग से ११७२ हि० (१७५८-५९) में अदीना बेग खाँ चल बसा, तब जानकू जी ने सामा नामक एक मराठे को लाहौर का सूबेदार नियुक्त किया और वहाँ भेज दिया। अदीना बेग खाँ के एक अनुयायी सादिकबेग खाँ को उसने सरहिन्द का प्रशासन सौंपा, और दोआब का प्रबन्ध अदीना बेग खाँ की विधवा के सुपुर्द कर दिया। सामा लाहौर पहुँच कर सरकारी काम-काज में जुट गया और अपने सैनिक दल अटक नदी तक पहुँचा दिये। इसी बीच में वजीर इमादुलमुल्क ने शाह आलमगीर द्वितीय को मरवा डाला।''' '''उधर दत्ता जी सिन्धिया ने रुहेलों के राज्य पर आक्रमण किया जिससे घबड़ाकर नजीबुद्दौला ने अब्दाली को कई पत्र लिखे और उसे अपनी सहायता के लिये हिन्दुस्तान आने को फुसलाया। चूँकि मराठों ने तिमूरशाह और जहानखाँ को मार भगाया था, इसलिये शाह अपने हृदय में बड़ा दुःखी था और बदला लेने की योजनाएँ बनाया करता था, इसलिये रुहेला सरदार के इस मैत्रीपूर्ण सन्देश को उसने बड़ा हितकर समझा और तुरन्त ही कूच कर दिया।'

इन परिस्थितियों ने जिस संघर्ष को जन्म दिया उसकी कहानी मुगल साम्राज्य के इतिहास का अङ्ग नहीं है। जैसा कि सर देसाई ने कहा है, यह संघर्ष "दोनों शक्तियों (मराठा तथा अब्दाली) के लिए अपने अपने सम्मान का प्रश्न था, एक जीते हुए पर अधिकार रखना चाहता था, और दूसरा खोए हुये को पुनः जीतने की चिन्ता में था।" इस संघर्ष से सम्बन्धित कुछ थोड़े से तथ्य ऐसे हैं जिनका हमारी मुख्य कथावस्तु से सम्बन्ध है :—

(१) अहमदशाह अब्दाली ने दत्ता जी सिन्धिया को मार डाला, मल्हारराव होल्कर को भगा दिया और दिल्ली पहुँचकर वहीं डेरे डाल दिये।

(२) जब रघुनाथ राव १७५९ में उत्तर से लौटकर पूना पहुँचा तो पेशवा ने तुरन्त ही एक पहले से भी अधिक शक्तिशाली सेना अपने पुत्र विश्वासराव तथा चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊ की अधीनता में दुर्रानी को मार भगाने के लिये भेज दी। "तुम शत्रु को अन्तिम रूप से नष्ट कर दो, और सिन्ध तक की समस्त भूमि पर अधिकार स्थापित रक्खो", इस उद्देश्य से उन्हें भेजा गया था।

(३) २३ सितम्बर १७६० को वे दिल्ली पहुँचे और किले को जो अहमदशाह दुर्रानी के वजीर शाह वली खाँ के एक भाई याकूबअली खाँ के अधिकार में था, घेर लिया। घेरा डालने वालों तथा रक्षकों के दोनों ही ने विकट संघर्ष किया, किन्तु अन्त में मराठों ने उसे

हस्तगत कर लिया। भाऊ ने विश्वासराव के साथ किले में प्रवेश किया और शाही परिवार के पुराने भंडारों में जो सामान और धन मिला, उस पर अधिकार कर लिया। उसने दीवाने खास की चाँदी की छत भी तोड़ डाली जिससे उसे इतनी बहुमूल्य धातु मिल गई कि १७ लाख रुपये ढाल लिये गये। फिर भाऊ ने नारद शंकर ब्राह्मण को किलेदार नियुक्त किया।

(४) नजीबुद्दौला पहले से ही अहमदशाह अब्दाली का मित्र बन चुका था, अब उसने शुजाउद्दौला को भी अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न किया। 'वह स्वयं समझौते का प्रस्ताव लेकर गया, जिसका रूप एक मित्रतापूर्ण सन्धि का था।' अन्त में शुजाउद्दौला जाल में फँस गया।

(५) सदाशिवराव ने ११७४ हि० में सफर महीने की १९ तारीख को (९ अक्टूबर १७६०) औरंगजेब आलमगीर के पुत्र कामबख्श, के पुत्र मुहीउस्सुन्नत, के पुत्र शाहजहाँ को हटा दिया और आलमगीर द्वितीय के भावी तेजस्वी राजकुमार मिर्ज़ा जवाँ बख़्त को दिल्ली के सिंहासन पर बिठलाया और शुजाउद्दौला को सार्वजनिक रूप से वज़ीर का पद प्रदान किया।

इस अवसर पर अन्तिम बार हमें दिल्ली सम्राट का नाम सुनने को मिला है। पानीपत के युद्ध में देवताओं ने क्रुद्ध होकर मराठों के विरुद्ध निर्णय दिया, जिसके परिणामस्वरूप 'सम्राट' जिसे भाऊ ने १७६० में दिल्ली के सिंहासन पर बिठलाया था, उसी के साथ-साथ विलुप्त हो गया। विजेता के भाग्य में भी दिल्ली में बैठ कर शासन करना नहीं बदा था। उसने कहा कि मैं हिन्दुस्तान में 'अपने देशवासी रुहेलों तथा अन्य मुसलमानों के प्रार्थना करने पर उन्हें मराठों के जुए से मुक्त करने आया था।'

अन्तिम मुग़ल सम्राट

अब इसके बाद मुग़ल साम्राज्य के सम्बन्ध में कुछ भी कहना शेष नहीं रह जाता; केवल यह बतलाना है कि बाबर के अन्तिम वंशजों और उनकी नाम-मात्र की 'शक्ति' का क्या हुआ। बाद के 'मुग़ल सम्राटों' ने वास्तव में बन्दियों के रूप में जीवन काटा—पहले मराठों के हाथों में और फिर अंग्रेज़ों के। उनमें से अन्तिम बहादुरशाह द्वितीय को १८५८ में अपदस्थ करके निर्वासित कर दिया गया :—

आलमगीर द्वितीय
(१७५४–५९, उसकी हत्या की गई)
|
शाह आलम द्वितीय
(१७५९ में केवल नाम के लिये राज्यारोहण; १७७१ में मराठों द्वारा दिल्ली के सिंहासन पर बिठलाया गया; १८०६ में मृत्यु)
|
अकबर द्वितीय

(१८०६-३७)
|
बहादुरशाह द्वितीय
(१८३७-५८, अपदस्थ करके निर्वासित किया गया; १८६२ में मृत्यु)

ऊपर के वंश-वृक्ष में दो राजकुमारों के नाम छूट गये हैं; एक को विद्रोही वज़ीर इमादुलमुल्क ने और दूसरे को सदाशिवराव भाऊ ने सिंहासन पर बिठलाया था (१७५६-६०)। इनमें से पहले शाहजहाँ तृतीय को आलमगीर द्वितीय के पौत्र मिर्ज़ा जवाँबख़्श ने अपदस्थ कर दिया था; और मिर्ज़ा जवाँ बख़्श स्वयं शाहआलम के बारह वर्ष के निर्वासनकाल में अपने पिता के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता रहा। किन्तु पानीपत के युद्ध (१७६१) के बाद अब्दाली ने शाहआलम-द्वितीय को सम्राट माना इसलिये उक्त दोनों राजकुमारों का महत्त्व जाता रहा।

इसके बाद की घटनाओं का संक्षेप में उल्लेख करना पर्याप्त होगा। १७६४ ई० में अँग्रेजों ने नवाब वज़ीर को बक्सर की लड़ाई में हराया, दूसरे वर्ष (१७६५) शाहआलम ने अँग्रेज़ों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी दे दी, उसके बदले में अँग्रेजों ने उसे कड़ा और इलाहाबाद के जिले दे दिये और बगाल के राजस्व में से छब्बीस लाख रुपया वार्षिक देने का वचन दिया। इसके बाद १७७२ तक 'सम्राट' अँग्रेजों के संरक्षण में रहा। उस वर्ष वह मराठों के पक्ष में जा मिला और माधोजी सिंधिया ने उसे ले जाकर दिल्ली के सिंहासन पर बिठला दिया। इस पर अँग्रेजों ने कड़ा और इलाहाबाद के जिले सम्राट से वापस ले लिये और नवाब वज़ीर को दे दिये और छब्बीस लाख रुपया देना भी बन्द कर दिया।

१७८८ में बाबर के इस वंशज को गुलाम कादिर नामक एक अफगान गुंडे ने उसी के महल में निर्दयतापूर्वक अन्धा कर दिया; शाही परिवार पर उस गुंडे ने जो अत्याचार किये उनका बखान करना लेखनी की शक्ति से परे है। 'इब्रातनामा' में इस शैतानी गुंडे के कुकृत्यों का सविस्तार वर्णन है, जिनसे स्पष्ट है कि 'सम्राट' का अपने शरीर तथा महल पर भी स्वामित्व न रह गया था। गुलाम कादिर ने उसे सिंहासन से उतार दिया, पीटा, कारागार में डाल दिया, अन्धा कर दिया और लूटा; उसके पुत्रों की भी इसी प्रकार मार-पीट की गई और उन्हें अत्याचारी के सामने नाचने और गाने को बाध्य किया गया, परिवार की स्त्रियों के साथ ऐसे पाशविक ढंग से बलात्कार किया गया जिसकी कल्पना भी करना भी कठिन है; और अन्त में उस राक्षस ने एक चितेरे को बुलाया और कहा, "तुरन्त ही मेरा एक चित्र खींच दो और उसमें मुझे हाथ में चाकू लिये हुये, शाहआलम के सीने पर बैठा हुआ और उसकी आँखें निकालता हुआ दिखलाओ!"

जब बाबर और अकबर का वंशज इतना अशक्त सिद्ध हुआ और उसकी यह दुर्दशा हुई तो उसके दो अन्तिम उत्तराधिकारियों का तो कहना ही क्या? जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने शाहआलम को दीवानी के

देना बन्द कर दिया, फिर भी दिखावे के लिये अँग्रेज लोग सम्राट के रूप में उसकी सत्ता का सम्मान करते रहे। "महाराज्यपाल (गवर्नर जनरल) की मुहर मुगल सम्राट के नौकर की मुहर मानी जाती थी। सिक्के अब भी शाहआलम के ही नाम से ढाले जाते थे। अन्तर्राष्ट्रीय वार्तालाप में अँग्रेज लोग कलकत्ता तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों को छोड़ भारत के अन्य भागों में अपने प्रभुत्व का दावा नहीं करते थे; उनका कहना था हम मुर्शिदाबाद के नवाब के, जो राज्य करता है शासन नहीं, प्रभावशाली सलाहकार हैं।" किन्तु परिस्थितियाँ तेजी से बदल रहीं थीं।

कार्नवालिस पहला महाराज्यपाल (गवर्नर जनरल) था जिसने उस निरर्थक शब्दावली का विरोध किया जिसका प्रयोग कम्पनी की सरकार अपने पत्रों में सम्राट के प्रति राजभक्ति दिखाने के लिये किया करती थी। वैलेजली भारत में अँग्रेजों की प्रभुसत्ता स्थापित करने की योजना लेकर आया था, इसलिये वह कार्नवालिस से भी एक कदम आगे बढ़ गया। दिल्ली में लार्ड लेक की विजय (१८०१ दौलतराव सिंधिया पर) से सम्राट ईस्ट इंडिया कम्पनी की विरासत में आ गया। वैलेजली ने जो व्यवस्था की उसके अनुसार दिल्ली का प्रशासन सम्राट के नाम से चलता था, किन्तु वास्तव में केवल महल तथा उसकी सीमाओं के भीतर ही शाही आज्ञाओं का पालन होता था।" " १८११ में लार्ड मोरिया महाराज्यपाल होकर आया वह 'मुगल सरकार के ढकोसला' का अन्त करने का निश्चित इरादा लेकर आया था। उसकी मुहर में से शाही प्रभुत्व' के सूचक शब्द निकाल दिये गये। कम्पनी ने शाह आलम के पुत्र सम्राट अकबर द्वितीय को सम्मान सूचक नजराना भेंट करना बन्द कर दिया, जब तक कि वह कम्पनी के राज्य पर से अपना प्रभुत्व त्यागने के लिये तैयार न हो गया, १८२७ में सम्राट मोरिया के उत्तराधिकारी एम० हरट से समानता के आधार पर व्यवहार करने के लिये राजी हो गया। " कम्पनी के रुपयों पर शाह आलम की उपाधियाँ अंकित रहतीं थीं, किन्तु १८३५ में बंगाल के सिक्कों पर मृत सम्राट का नाम खुदना बन्द हो गया। उसके बाद यह विचार किया गया कि शाही परिवार को दिल्ली के पुराने महल से हट कर कुतुब मीनार के निकट नये बने भवन में जाने के के लिये राजी किया जाय, और अन्त में कैनिंग ने निश्चय कर लिया कि वर्तमान सम्राट बहादुरशाह की मृत्यु के बाद शाही उपाधि का नहीं माना जायगा। इसके बाद तुरन्त ही सिपाही 'विद्रोह' आरम्भ हो गया। दिल्ली के पतन के बाद सम्राट पर मुकदमा चलाया गया, उस पर आरोप यह लगाया गया था कि दिल्ली में हुई हत्याओं में उसका हाथ था और उसने ईस्ट इंडिया कम्पनी के विरुद्ध विद्रोह किया था। उसे अपराधी घोषित कर दिया गया; उसने अपने जीवन के शेष दिन रंगून में राजबन्दी के रूप में काटे और अँग्रेज सरकार नाम तथा वास्तविकता दोनों की ही दृष्टि से भारत की प्रभु बन गई।"*

कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्

१७०७ बाजीराव की मृत्यु। अलीवर्दीखाँ द्वारा बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा

* The Cambridge Shorter History of India

	का अपहरण। प्रुशिया में फ्रैडरिख महान का और ऑस्ट्रिया में मैरिया-थैरेसा का सिंहासनारोहण।
१७४४	इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस में युद्ध; भारत में उसका प्रभाव।
१७४७	अफगानिस्तान में नादिरशाह की हत्या।
१७४८	मुहम्मदशाह और निजामुलमुल्क की मृत्यु। अहमदशाह (१७४८-५४) का सिंहासनारोहण। अब्दाली के आक्रमण (१७४८-६१)। राजा शाहू का देहावसान।
१७५१	अलीवर्दीखाँ कटक मराठों को दे देता है और बंगाल के लिये चौथ देने का वचन देता है। अवध में सफदरजंग रुहेलों के विरुद्ध मराठों से सहायता माँगता है। क्लाइव द्वारा अर्काट का घेरा।
१७५३	सिराजुद्दौला अलीवर्दीखाँ का उत्तराधिकारी बनता है। राघूजी भोंसला की मृत्यु।
१७५४	गाजीउद्दीन तथा मल्हारराव होलकर द्वारा अहमदशाह का अपदस्थ किया जाना। आलमगीर द्वितीय का सिंहासन पर बैठना (१७५४-५९)।
१७५६	मराठा शक्ति का चर्मोत्कर्ष; राघोवा का पंजाब में प्रवेश। योरुप में सप्तवर्षीय युद्ध का आरम्भ। काल-कोठरी की दुर्घटना।
१७५७	प्लासी का युद्ध।
१७५९	आलमगीर द्वितीय की मृत्यु और मुग़ल साम्राज्य का वास्तविक अन्त। अहमदशाह अब्दाली दिल्ली में। बुल्फ का क्वेबक पर अधिकार।
१७६०	इङ्गलैण्ड में जार्ज तृतीय।
१७६१	पानीपत का तीसरा युद्ध। भारत में फ्रांसीसी शक्तिका अवसान।
१७६४	बक्सार का युद्ध।
१७७१	मराठों द्वारा शाहआलम द्वितीय का दिल्ली के शासन पर बिठलाया जाना (१८०६ में मृत्यु)।
१८०६-३७	अकबर द्वितीय।
१८३७-५८	बहादुरशाह द्वितीय, १८५८ में अपदस्थ तथा निर्वासित (१८६२ में मृत्यु)।

२०

साम्राज्य का सिंहावलोकन

मुग़ल इतिहास से भी हमें सीख, प्रेरणा तथा चेतावनी मिलती है। इस अन्तिम अध्याय में हम साम्राज्य के सम्पूर्ण इतिहास का सिंहावलोकन करेंगे जिससे हम उसकी सफलताओं और विफलताओं को भली भाँति आँक सकें। वर्तमान की जड़ें अतीत में रहती हैं; फिर मुग़ल युग तो हमारे बहुत निकट है, इसलिये उसके वैभव का और उसके ह्रासात्मक पहलू का हमारे राष्ट्रीय जीवन पर अच्छा और बुरा प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। गेटे ने लिखा है कि 'इतिहास प्रत्येक युग में नये ढंग से लिखा जाना चाहिये, इसलिये नहीं कि नये तथ्यों का अनुसंधान हो जाता है, बल्कि इसलिये कि अतीत के नये पहलू दृष्टि-गोचर होने लगते हैं और इसलिये कि नये युग की प्रगति में भाग लेने वाले अपने को ऐसे स्थानों पर पाते हैं जहाँ से अतीत को नये दृष्टिकोण से देखा तथा आँका जा सकता है।'

भारतीय मुग़लों के चरित्र और जीवन में हमें उनके पूर्वजों की श्रेष्ठतम तथा निम्नतम प्रवृत्तियों का पूर्णरूप देखने को मिलता है। तिमूर तथा बाबर के अनुयायियों को भास गया था कि भारत में बस जाने पर योद्धाओं तथा विजेताओं के रूप में हमारे चरित्र का अधःपतन हो जायगा। उनकी यह शंका ठीक निकली। जिसका उन्हें सबसे अधिक डर था वही होकर रहा, यद्यपि वह धीरे धीरे और अदृश्य रूप से कहीं दो शताब्दियों में जाकर हुआ। किन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा कि उनका अधःपतन अशक्त करने वाले भारतीय जलवायु के कारण हुआ, क्योंकि आधुनिक भारतीय सेना सभी परीक्षाओं में खरी उतरी है और उसने अपनी सुयोग्यता निर्विवाद सिद्ध कर दी है। इसलिये हमें मानना पड़ेगा कि मुग़लों के पतन के कारण और ही थे। किन्तु उनका विश्लेषण करने से पहले एक अन्य तत्व का उल्लेख कर देना आवश्यक है—मुग़लों में हिन्दुस्तानी तथा ईरानी रक्त का सम्मिश्रण। पाठकों को स्मरण होगा कि जहाँगीर तथा उसके बाद के अधिकतर मुग़ल राजकुमारों की माताएँ उक्त नस्लों में से ही किसी न किसी की थीं। किन्तु ईरानियों, राजपूतों अथवा अन्य हिन्दुस्तानियों में जिनका रक्त भारतीय मुग़लों में मिल गया था, सैनिक गुणों और परम्पराओं का अभाव न था। इसलिये यह बात समझ में नहीं आती कि उनके सम्मिश्रण से मुग़लों के इन गुणों का कैसे नाश

हो गया। बल्कि इसके विपरीत हमें इस बात का पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध है कि बाबर के वंशजों में अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी शारीरिक बल और साहस विद्यमान रहा। परवर्ती मुग़लों में एक दो इसके अपवाद थे। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ मुगल राजकुमारों की मृत्यु राजयक्ष्मा आदि रोगों से हुई थी; किन्तु इसका कारण तो उनका निजी विलासी तथा असंयमी जीवन था, न कि उनकी नस्ल का पतन।

किन्तु जो बात हम शाही परिवार के सम्बन्ध में कह आये है वह साधारण कोटि के मुगलों पर लागू नहीं होती। शासक-जाति के नीचे के वर्गों में अपेक्षाकृत अधिक अधःपतन हुआ होगा, किन्तु इस बात का भी अधिक महत्व नहीं है, क्योंकि बाबर तथा हुमायूँ के बाद शाही सेनामें मुगलों की अपेक्षा भारतीय मुसलमानों तथा हिन्दुस्तानियों की संख्या अधिक होने लगी थी। पूरी सेना में कुछ ही दल मुगलों के थे। हाँ, अमीरों में अवश्य मुगलों अथवा तूरानियों का आधिक्य रहा और दीर्घ काल तक साम्राज्य की शक्ति उनके हाथों में बनी रही। इन अमीरों का नैतिक बल अवश्य क्षीण हो गया था और इसके लिये अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं, किन्तु उनका अध पतन साम्राज्य के लिये घातक सिद्ध हुआ हो, ऐसी बात नहीं थी।

साम्राज्य के पतन के कारण

अन्तिम दिनों में साम्राज्य रूपी शरीर में जो जटिल रोग उत्पन्न हो गये थे उनके दो मुख्य लक्षण थे—विलासिता और आन्तरिक कलह।

'जहाँ धन का संचय होता है वहाँ लोगों का चरित्र गिर जाता है',

और इसलिये साम्राज्य राजद्रोह का शिकार बन गया।

इन दो घातक विषों के प्रभाव से सम्राटों और अमीरों का जो पतन हुआ उसको समझने के लिये एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। बाबर तथा अकबर जैसे वीर तथा साहसी योद्धाओं के वंशजों में जहाँदारशाह तथा अहमदशाह सबसे अधिक गये-बीते थे। अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ का राज्यकाल विलास, वैभव तथा समृद्धि का युग था, फिर भी उन सम्राटों ने सैनिक चढ़ाइयों तथा आखेट द्वारा अपने शारीरिक बल और पौरुष को बनाये रक्खा। औरंगजेब के पुत्र तथा उत्तराधिकारी बहादुरशाह प्रथम को खुले मैदानी जीवन से बड़ा प्रेम था। छत के नीचे उसे कभी अच्छा न लगता था। यहाँ तक कि फ़र्रुखसियर का शरीर भी मुगलों जैसा हृष्ट-पुष्ट था। बन्दी के रूप में मृत्यु-शैया पर पड़े हुये कामबख्श ने इस बात का खेद प्रकट किया कि तैमूर का वंशज होकर मैं जीवित पकड़ लिया गया। किन्तु जहाँदार शाह और अहमदशाह अपनी रखैल स्त्रियों की लटकों में उलझे रहे और सम्राटों के रूप में उन्होंने अपने कर्तव्य को भुला दिया। वे पकड़े भी उन्हीं के बीच में गये, किन्तु इस पर भी उन्हें लज्जा नहीं आई।

उन्होंने सौन्दर्य को निहारा,
और कर्तव्य पथ से विमुख हो गये।

जहाँदारशाह जनता के सामने खुले रूप से लाल कुँवर के साथ विलास किया करता था और अहमदशाह अपने रनिवास में खोया रहता और हफ्तों किसी पुरुष की सूरत तक न देखता। कहा जाता है कि उसका अन्तःपुर चार वर्ग मील में फैला हुआ था। जब सोने में ही जंग लगने लगे तो फिर लोहे का क्या कहना? अमीरों की स्थिति इससे भी बुरी थी। जिनमें व्यक्तिगत साहस का अभाव न भी था वे भी विलासिता, वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं, पारस्परिक ईर्ष्या और इन सबसे बढ़ कर सम्राट तथा साम्राज्य के प्रति भक्ति की कमी के कारण बिगड़ गये थे; निजामुलमुल्क आदि एक-दो इसके अपवाद थे। हम देख आये हैं कि किस प्रकार साम्राज्य की शक्ति और समृद्धि का उतार चढ़ाव सम्राटों के बल तथा निजी चरित्र पर निर्भर रहता था। सम्राट वास्तव में साम्राज्य रूपी महराब का मुख्य पत्थर था; और सभा तथा कोष पूरे ढाँचे को खड़ा हुआ रखने में सीमेंट का काम करते थे। अमीर उसके बाहरी पत्थर थे। इन तत्वों के भ्रष्ट होते ही साम्राज्य के दुर्दिन आ गये। एक ओर नादिरशाह और अहमदशाह जैसे बाह्य आक्रमणकारियों ने और दूसरी ओर उन आन्तरिक परोपजीवियों ने जिनका हम ऊपर बयान कर आये हैं, शाही कोष को लूट-खसोट कर खाली कर दिया; सेना में दिन पर दिन किराये के टट्टुओं की भरमार होने लगी जिससे उसकी एकता अनुशासन और स्वामि-भक्ति लुप्त हो गई। इर्विन ने ठीक ही लिखा है कि 'सच्च में, व्यक्तिगत साहस के अभाव को छोड़कर अन्य जितने भी सैनिक दुर्गुण उत्पन्न हो गये थे जैसे अनुशासनहीनता एकता की कमी, विलास प्रियता, निष्क्रियता, रसद का कुप्रबन्ध और भारी भरकम साज सामान, उन सबके लिये पतित मुगल ही उत्तरदायी थे।" एक अन्य लेखक का कथन है कि 'साम्राज्य के प्रारम्भिक युगों के वीर सैनिकों और उनकी स्त्रियों का जो उनसे कम वीर नहीं थीं स्थान अब दुर्बलमनी तथा कोमल अमीरों ने ले लिया था। औरंगजेब के वीर पूर्वज जो उत्तर से आकर भारत पर टूट पड़े थे, सैनिक वेश धारी हृष्ट-पुष्ट लोग थे; इसके विपरीत जिन दरबारियों के बीच औरंगजेब का पालन-पोषण हुआ उनके चेहरे पीले थे और सुन्दर अंगरखे उनकी पोशाक थे। साम्राज्य के संस्थापक बाबर को अपने तीस वर्ष के अभियानों के बीच जितनी भी नदियाँ मिलीं उन सबको उसने तैर कर पार किया था; इसके विपरीत जिन विलासी अमीरों के बीच औरंगजेब ने अपना यौवन बिताया वे अगणित सिलवटों वाले बढ़िया सफेद मलमल के वस्त्र पहिनते और पालकियों में चढ़कर लड़ने जाते थे।" बहुमूल्य काठियों तथा कीमती रत्नों और धातुओं की घंटियों, जंजीरों तथा आभूषणों से सजे हुए घोड़ों पर सवार होकर वे शान्तिमय जुलूसों के लिये अधिक उपयुक्त लगते थे न कि लम्बी लड़ाइयों में परिश्रम सहने के लिये। प्रत्येक अमीर ठाट बाट में अपने स्वामी से प्रतिस्पर्धा करता, और यहाँ तक कि साधारण सैनिक भी अपने तंबुओं में आराम के

साधन जुटाने का प्रयत्न करते थे। 'और कूच के दौरान में हाथियों, ऊँटों, गाड़ियों तथा बैलों की लम्बी-लम्बी पाँत चलती, और बीच-बीच में पिछलगुओं, हर वर्ग की स्त्रियों, व्यापारियों, दूकानदारों, नौकरों, रसोइयों तथा हर प्रकार की विलास वस्तुएँ जुटाने वालों की भीड़ लगी रहती, उन सबकी संख्या लड़ने वालों से दस गुनी तक पहुँच जाती थी।'

अमीरों की इस स्त्रैणता ने मुग़ल शासक-वंश की आन्तरिक कलह ईर्ष्या के कारण और भी अधिक भयंकर तथा घातक रूप धारण कर लिया। शाही परिवार के राजकुमार ही [तख्त या तख्ता'] के आदर्श को लेकर मानवता और शिष्टाचार के सभी सिद्धान्तों को ताक में रख कर आपस में ल तो अमीरों को बाध्य होकर किसी न किसी का पक्ष लेना पड़ता, और अ निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिये वे बहुधा छल-कपट का सहारा लेते। विद्रोह त राजभक्ति के अभाव की यह प्रवृत्ति हमें प्रारम्भ से ही देखने को मिलती हुमायूँ के समय में कामरान, हिन्दाल तथा अस्करी, अकबर के समय में मि हाकिम और सलीम, जहाँगीर के समय में राजकुमार खुसरू, शाहजहाँ के स में औरंगज़ेब, दारा, शुजा और मुराद, औरंगज़ेब के समय में राजकुमार मुअज़् और अकबर, बहादुरशाह के समय में आज़म और कामबख्श—इस प्रकार रा द्रोह और भ्रातृघाती संघर्ष की यह कहानी तब तक जारी रही जब तक बाबर और अकबर के प्रतापी वंश का सत्यानाश न हो गया। इन परिस्थिति में यह आश्चर्य की बात न थी कि प्रत्येक शासन-काल में राज-निर्माताओं प्रादुर्भाव होता रहा—वे सफल हुए अथवा विफल, इसका विशेष महत्व नह बाबर और हुमायूँ के काल में आली खलीफा; हुमायूँ और अकबर के काल बैरामखाँ, अकबर तथा जहाँगीर के समय में मानसिंह, जहाँगीर तथा शाहज के समय में महाबत खाँ, शाहजहाँ और औरंगज़ेब के शासन में मीर जुम और बहादुरशाह के शासन में मुनीम खाँ। परवर्ती मुग़लों के समय में इन राज-निर्माताओं की खूब लग बनी। सैयद भाइयों, सफदर जंग इमादुलमुल्क से पाठक भली भाँति परिचित हैं। अन्त में हमें मराठों त अँग्रेजों को भी न भूलना चाहिये, उन्होंने राजा बनाये नहीं तो बिग अवश्य। और जब नादिरशाह का आक्रमण हुआ तो उसने राजधानी की सम्प ही नहीं लूटी बल्कि मुग़ल राजमुकुट की प्रतिष्ठा ही हर ली। वास्तव में नादिर आया उस समय साम्राज्य पतन की अन्तिम सीमा पर पहुँच चुका थ अब्दाली और मराठों ने तो मरे को ही मारा।

साम्राज्य तथा अफगान

बाबर ने १५२६ में लोदियों को परास्त करके मुग़ल साम्राज्य की स्थाप की थी। लोदी अफग़ान थे। अगले वर्षों में उसे राजपूतों के अतिरिक्त जौनपु तथा बिहार के अफग़ान सरदारों से संघर्ष करना पड़ा, तब कहीं उसे विश्वा

हो सका कि भारत में मेरा साम्राज्य टिक सकेगा। फिर भी जब १५३० में उसकी मृत्यु हुई, उस समय तक हिन्दुस्तान के समस्त अफगान राजवंशों का दमन न हो सका था गुजरात और बंगाल अभी उन्हीं के अधिकार में थे। उसके पुत्र हुमायूँ को अफगानों ने इतने कष्ट पहुँचाए कि उनकी सीमा न रही। विशेषकर वे अपने दो नेताओं—बहादुरशाह और शेरशाह—की अधीनता में एकत्र और संगठित हो गये। और जैसा कि हम देख चुके हैं, शेरशाह ने दस वर्ष से कम में ही बाबर के पुत्र को हिन्दुस्तान से मार भगाया। इसने अफगानों के हृदयों में यह विश्वास जमा दिया था कि हम किसी भी तरह मुगलों से घटिया नहीं हैं, और हिन्दुस्तान में अपना राज्य हमने आपसी फूट के कारण खोया है। अपनी जाति के उस खोये हुए प्रभुत्व को पुनः स्थापित करने के उद्देश्य से ही उसने उनका नये ढंग से संगठन किया। और यद्यपि शेरशाह की मृत्यु के कारण उनकी वह विजय और वैभव क्षणिक सिद्ध हुआ, फिर भी इस अफगान साहसिक का कार्य पूर्णतया लुप्त न हो सका। अकबर ने अपने सम्पूर्ण प्रशासन का ढाँचा उसी नींव पर खड़ा किया जिसको वह प्रतिभाशाली अफगान डाल गया था। राजपूत तो अकबर की राजनीतिज्ञता से कारण मुगल-साम्राज्य में घुल-मिल गये, किन्तु अफगानों का उसमें विलयन न हो सका। गुजरात में मुगल सम्राट के अनेक विद्रोहियों को शरण मिलती रही और १५७३ से पहले उस पर मुगलों का पूर्ण अधिकार न हो सका। बंगाल में दाऊद खाँ १५७६ तक अफगानों के झंडे को फहराता रहा।

अगले पाँच वर्ष बहुत महत्वपूर्ण थे, क्योंकि उसी काल में अकबर ने महान् सामाजिक और धार्मिक सुधार करने का प्रयत्न किया। १५८१ में, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं सुधारवादी सम्राट के शासन को उखाड़ने के लिये सभी प्रतिगामी तत्व एक हो गये और स्थिति ने भयंकर रूप धारण कर लिया। इस संकट के समय में अफगानों ने अकबर के शत्रुओं का साथ दिया, किन्तु विपत्तियों का तूफान शीघ्र ही शान्त हो गया और वे कुछ बिगाड़ न सके। अकबर के शेष राज्य-काल में अफगानों ने साम्राज्य को कोई कष्ट नहीं पहुँचाया। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद सूबेदारों का जल्दी जल्दी स्थानान्तरण हुआ, जिससे उन्हें बंगाल के पूर्वी प्रान्त में उपद्रव खड़ा करने का फिर अवसर मिल गया। इसी काल में उस्मान का विद्रोह हुआ जिसका पहले यथास्थान उल्लेख हो चुका है। ११ मार्च १६१२ को विद्रोहियों की अन्तिम रूप से पराजय हुई, और अफगानों का 'हियरवर्ड दी वेक' उस्मान एक प्राणान्तक घाव लगने से मृत्यु को प्राप्त हुआ। "जो अफगान मुगल शासन के इतने दिनों से शत्रु बने हुए थे, उनकी शक्ति अब पूर्णतया छिन्न भिन्न हो गई और जहाँगीर ने सराहना की नीति अपनाकर उन्हें साम्राज्य का मित्र बना लिया।" 'मुकद्दमे अफगाना' का रचयिता लिखता है, नूरुद्दीन गाज़ी ने उनके पिछले अपराध क्षमा कर दिये, उदारता के बन्धनों द्वारा उन्हें अपने से बाँध लिया और उनका इतना ध्यान रक्खा कि

उन्होंने अपने मस्तिष्क से राजद्रोह के सब विचार निकाल दिये और समझने लगे कि उसके आधीन रहना और सेवा करना हमारा कर्तव्य है, चाहे प्राणों की आहुति क्यों न देनी पड़े'। इसके बाद अफगानों ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व साम्राज्य के कलेवर में खपा दिया और अन्य अभिमानी जातियों की भाँति अपनी स्थिति से सन्तोष कर लिया। वे भी शीघ्र ही सरकारी पदों द्वारा अनुगृहीत किये जाने लगे और राजपूतों की भाँति वे भी घुलमिल गये।

काबुल को बाबर ने प्रथम बार १५०४ में जीता था, तब से लेकर १७३८ तक जब कि नादिरशाह ने उसे हस्तगत कर लिया, उस पर मुगलों का अधिकार रहा। इससे उनको बड़ा लाभ हुआ। काबुल वास्तव में पश्चिमोत्तरी भारत के सिंहद्वार की कुंजी था; इसके अतिरिक्त वहाँ से शाही सेना को बड़ी संख्या में योग्य सैनिक मिलते रहे। जब मुहम्मदशाह और उसके उत्तराधिकारियों की मूर्खतापूर्ण नीति और निकम्मेपन के कारण वह मुगलों के हाथ से निकल गया तो साम्राज्य का जीवन रक्त ही बह गया। मानो काबुल के स्वामी के भाग्य में बदा था पञ्जाब और हिन्दुस्तान के मैदानों पर अधिकार करना! अहमदशाह अब्दाली ने भी काबुल को भारत में प्रवेश करने के लिये देहरी की भाँति प्रयुक्त किया, जैसा कि ढाई सौ वर्ष पहले बाबर ने किया था। किन्तु दिल्ली में उसने एक अफगान राजवंश की स्थापना करने का प्रयत्न नहीं किया, यह तो संयोग की बात थी। हिन्दुस्तान के रुहेलों तथा बंगश अफगानों ने हृदय से उसका साथ दिया, फिर भी उसने अपनी जाति के राज्य को हड़पने वाले वंश का मूलोच्छेद न करके मुगल सम्राट को ही पुनः सिंहासन पर बिठला दिया। अफगान सेनानायकों (बंगश, रुहेला और पठान) का परवर्ती मुगलों के समय में बड़ा प्रभाव रहा; और उन्होंने कुछ तूरानी अमीरों की सहायता से दरबार में कट्टर सुन्नी दल का नेतृत्व किया और शियायों का जिनमें हिन्दुस्तानी मुसलमान और ईरानी सम्मिलित थे, विरोध किया। वास्तव में अफगानों ने मित्र बनाकर ढाई सौ वर्ष बाद मुगलों से पूरा-पूरा बदला ले लिया। उन्हीं ने दुर्रानी को भारत पर एक बार फिर आक्रमण करने के लिये बुलावा दिया और पानीपत के तीसरे युद्ध के बाद लगभग एक दशक तक (१७६१-६९) नजीबुद्दौला के नेतृत्व में दिल्ली में अपना अधिनायकत्व स्थापित रक्खा। किन्तु उनके दुर्भाग्य से यह बदला दूसरे का अपशकुन करने के लिये अपनी नाक कटाने के सदृश सिद्ध हुआ। मुगलों का नाश करके वे स्वयं सुख से न सो सके। मराठों और अँग्रेजों ने उन्हें अधिक दिनों तक शक्ति का उपभोग न करने दिया।

साम्राज्य तथा राजपूत

इब्राहीम लोदी पर विजय पाकर बाबर दिल्ली के सिंहासन पर बैठ गया था, किन्तु हिन्दुस्तान पर स्वामित्व प्राप्त करने के लिये उसे उत्तरी भारत में बिखरे

हुए भगोड़े अफगान सरदारों के अतिरिक्त राणा साँगा तथा मेदिनी राय का दमन करना पड़ा। राजपूतों ने मुगल साम्राज्य के संस्थापक का डटकर और पूरी शक्ति के साथ प्रतिरोध किया, वे विफल रहे, इसलिये हमें उनके संघर्ष के महत्त्व को कम नहीं समझना चाहिये। यदि बाबर न आया होता तो राजपूत लोग पश्चिमी हिन्दुस्तान पर और कम से कम मालवा तथा गुजरात तक अपना खोया हुआ प्रभुत्व लगभग पुन स्थापित कर चुके थे। बाबर ने स्वयं राणा साँगा की शक्ति तथा पराक्रम को स्वीकार किया, और उसको परास्त करने के लिये उसे अपनी सारी प्रतिभा और कौशल जुटाना पड़ा।

राणा साँगा ने कोई योग्य उत्तराधिकारी नहीं छोड़ा, और इसलिये जब गुजरात के बहादुरशाह ने चित्तौड़ का घेरा डाला तो वहाँ की रानी कर्णवती को हुमायूँ से सहायता की प्रार्थना करनी पड़ी। फिर भी शेरशाह को जो मुगलों को मार भगाने में और अफगानों के प्रभुत्व को पुन स्थापित करने में सफल हो चुका था, राजपूताना की कठिन लड़ाई के अन्त में स्वीकार करना पड़ा कि मैंने मुट्ठी भर बाजरे के लिये हिन्दुस्तान का साम्राज्य खो दिया होता। वह जाली पत्रों की सहायता से राजपूतों को परास्त कर सका। इसमें आश्चर्य की बात न थी कि उसने नए रोहतास का निर्माण राजा टोडरमल * के सुपुर्द किया और इस प्रकार राजा ने प्रथम बार इतिहास के रंगमञ्च पर पदार्पण किया।

हुमायूँ ने अपने पलायन के समय जोधपुर के राजा मालदेव से शरण माँगी, किन्तु राजा ने शेरशाह से शत्रुता मोल लेना उचित न समझा। फिर भी उस शरणार्थी को अमरकोट के राजा ने कुछ समय के लिये शरण दी और ऐसा लगता है कि थके-माँदे हुमायूँ के हृदय में उस समय कृतज्ञता का जो भाव उदय हुआ होगा वह उसके पुत्र अकबर के रक्त में समा गया। इसीलिये हम देखते हैं कि यद्यपि चित्तौड़ की विजय के बाद अकबर ने घोर क्रूरता का परिचय दिया फिर भी राजपूतों के प्रति सामान्यतया उसने उदार नीति का अनुसरण किया जिससे उसके शत्रु उसके साम्राज्य के संरक्षक बन गये। जयमल और फत्ता की सराहना के प्रतीक स्वरूप अकबर ने उन वीरों के जो स्मारक बनवाये उनका प्रभाव और राजपूतों के हृदयों पर भी पड़े बिना न रह सका। राजा भारमल भगवानदास, बीरबल, टोडरमल और मानसिंह अकबर के सबसे अधिक स्वामिभक्त समर्थक और उसके राज्य के स्तम्भ थे। इन लोगों को जो ऊँचे-ऊँचे पद दिये गये और बूँदी के हाडा राजपूतों के साथ सन्धि की जो शर्तें तय हुईं उनसे स्पष्ट है कि अकबर राजपूतों का और राजपूत अकबर का आदर करते थे। साम्राज्य के सैनिक तथा असैनिक विभागों

---

* राजा टोडरमल सम्भवत जाति के खत्री थे और बीरबल ब्राह्मण। किन्तु इन दोनों को राजपूतों में ही सम्मिलित कर लिया गया है, क्योंकि गुण, कर्म और दृष्टिकोण को देखते हुए ये राजपूतों से भिन्न न थे। और इसी प्रकार राजपूतों की विभिन्न जातियों और वर्गों में भेद नहीं किया गया, और इस शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है।

के संगठन और संचालन में राजपूतों से जो बल मिला उसके बिना अकबर तथा उसके उत्तराधिकारियों का वैभव तथा सफलताएँ बहुत कुछ फीकी रह जातीं।

अकबर की वैवाहिक नीति का परिणाम यह हुआ कि उसके पुत्र जहाँगीर में आधा हिन्दू और और आधा मुस्लिम रक्त विद्यमान था। जहाँगीर ने भी अपने पिता की नीति का अनुसरण किया और इसलिए उसका पुत्र शाहजहाँ रक्त की दृष्टि से हिन्दू अधिक था, मुसलमान कम। इस वंश वृक्ष को ध्यान में रखते हुए यह आश्चर्य की बात लगती है कि शाहजहाँ ने अपने दादा और पिता की उदार नीति से विचलित होकर दूसरी दिशा में चलने का प्रयत्न किया। अकबर ने अन्तः साम्प्रदायिक विवाहों द्वारा तथा शाही नौकरियों में नस्लगत तथा धार्मिक भेद-भाव को दूर करके अपने साम्राज्य के राजनैतिक तथा सामाजिक ढाँचे को सुदृढ़ किया। जहाँगीर के शासन काल में इस एकता में कोई कमी नहीं आई बल्कि वह और अधिक पक्की हो गई। किन्तु अगली पीढ़ी में स्थिति बदल गई और ऐसा लगता है कि शाहजहाँ की धमनियों में जो मुस्लिम रक्त था वह उसके हिन्दू रक्त के विरुद्ध विद्रोह करने लगा। इसीलिए उसने आंशिक रूप से अपने दादा तथा पिता की नीति को उलट दिया। उदाहरण के लिये उसने सिजदा तथा सूर्य-पूजा को त्याग दिया और बनारस में कुछ हिन्दू मन्दिरों का विध्वंस कराया। अगला शासक औरंगजेब धर्मान्ध निकला और उसके समय में यह प्रतिगामी नीति पराकाष्ठा को पहुँच गई। यद्यपि उसे इस बात का सन्तोष था कि मेरी माता और पिता में से कोई भी हिन्दू नहीं है; किन्तु स्वयम् उसने एक ऐसी राजकुमारी से विवाह किया जो कम से कम जन्म से राजपूत थी। उसके उत्तराधिकारी बहादुरशाह प्रथम का केवल पिता मुगल था। किन्तु स्मरण रखने की बात यह है कि धर्मान्ध आलमगीर भी जिसने धर्म के नाम पर हिन्दुओं पर अत्याचार किये, उनके मन्दिर तोड़े और जिज़या-आदि कर वसूल किये, मिर्ज़ा राजा जयसिंह और राजा जसवन्तसिंह जैसे राजपूत सेनानायकों की सेवाओं के बिना काम न चला सका। वे लोग औरंगजेब की सैनिक शक्ति और कूटनीतिक प्रतिभा के मुख्य स्रोत थे, किन्तु अन्त में वह उनके प्रति भी कृतघ्नता दिखलाये बिना न रहा। यदि साम्राज्य के पक्ष में जयसिंह जैसा सेनानायक और कूटनीतिक न होता तो शिवाजी ने मुगलों का और भी अधिक खुलकर सामना किया होता। औरंगजेब की सबसे अधिक मूर्खता यह थी कि उसने अपने ऐसे समर्थकों को शत्रु बना लिया। उसने व्यर्थ ही पशु बल से उनका दमन करने का प्रयत्न किया और उसकी विफलता ने सिद्ध कर दिया कि राजपूत मुगल साम्राज्य का समर्थन-भी कर सकते थे और उसका नाश भी। उन्होंने राजकुमार अकबर को अपने पक्ष में मिला लिया और यदि भाग्य ने उनका साथ दिया होता तो वे औरंगजेब को वह सबक सिखा देते जिसकी उसे सबसे अधिक आवश्यकता थी। औरंगजेब के पुत्र बहादुरशाह ने राजपूतों को प्रसन्न रखने का प्रयत्न किया और इस प्रकार उनका प्रेम बहुत कुछ पुनः प्राप्त कर लिया। उसने उन्हें अपनी रेगिस्तानी जन्म-भूमि में स्वतन्त्रतापूर्वक

रहने दिया और किसी प्रकार से उन्हें सताया नहीं। इसका प्रभाव यह हुआ कि अजीतसिंह जैसा व्यक्ति भी फर्रुखसियर के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने के लिये तैयार हो गया। बाद के सम्राटों के शासन काल में राजपूताना तथा साम्राज्य दोनों में अराजकता बढ़ती गई। साम्राज्य के भ्रष्ट सेनानायकों को राजपूताना में तनिक भी सफलता न मिली, और उधर राजपूतों ने भी मराठों का सहारा लिया जो उनके लिए अधिक नहीं तो कम से कम उतने ही खतरनाक सिद्ध हुये और उनके नाश का कारण बने। इन परिस्थितियों में भी सम्राट अहमदशाह को अपने विद्रोही वजीर सफदर जंग से पिंड छुड़ाने के लिये जयपुर के राजपूत राजा माधौसिंह से सहायता माँगनी पड़ी। कृतज्ञता प्रकट करने के लिए सम्राट ने अपनी निजी रत्न जटित पगड़ी राजा के सिर पर रख दी उसके अनुयायियों को उपहारों से लाद दिया और रणथम्भौर का किला राजपूतों को लौटा दिया जिससे राजा को सबसे अधिक प्रसन्नता हुई। यदि औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता ने मुगलों और राजपूतों के वे अच्छे सम्बन्ध जिन्हें अकबर ने स्थापित किया था तोड़ न दिये होते तो सम्भवतः दोनों को ही दुर्दिन न देखने पड़ते। किन्तु दुःख की बात है कि टोडरमल और जयसिंह की केवल कीर्ति ही शेष रह गई।

कहा जाता है कि राजपूतों में पराक्रम अधिक था और बुद्धि कम किन्तु उन्होंने मुगल साम्राज्य को जो योग दिया उसको देखते हुये हमें मानना पड़ेगा कि उनमें दोनों ही गुण समान रूप से विद्यमान थे। राणा साँगा द्वारा बाबर का प्रतिरोध अकबर के आक्रमण से चित्तौड़ को बचाने का वीरतापूर्ण प्रयत्न, राणा प्रताप का दुर्दमनीय साहस, दुर्गादास के निर्भीक तथा साहसपूर्ण कार्य—इन सब से सिद्ध होता है कि राजपूत झुकने की अपेक्षा नष्ट होना अधिक अच्छा समझते थे। इसके विपरीत कानुआ के बाद राणा साँगा का चुप होकर बैठ रहना उदयसिंह का भागकर अरावली की पहाड़ियों में शरण लेना अमरसिंह का जहाँगीर के सामने समर्पण करना और अजीतसिंह तथा दुर्गादास द्वारा भी अन्त में मुगलों की मंसबदारी स्वीकार कर लेना—इन सबसे स्पष्ट है कि राजपूत यह भली-भाँति जानते थे कि कब युद्ध करना चाहिये और कब हार स्वीकार कर लेना उचित है। बीरबल, मानसिंह, टोडरमल, जसवन्तसिंह और जयसिंह ने पराक्रम तथा बुद्धिमत्ता दोनों से ही साम्राज्य की सेवा की। एक ओर तो राजपूतों ने मुसलमानों का पूरे काल में प्रतिरोध करके अद्वितीय पराक्रम का परिचय दिया, और दूसरी ओर अपनी लड़कियों का मुस्लिम राजकुमारों से विवाह करके दिखा दिया कि उनमें समझौता करने की भी आश्चर्यजनक योग्यता थी। यह समझौता अपमानजनक समर्पण नहीं था, बल्कि सम्मानपूर्ण सहयोग था जिससे लेने तथा देने वाले दोनों को ही प्रतिष्ठा तथा सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन परिस्थितियों में भी राजपूतों ने अपने स्वातन्त्र्य प्रेम को अक्षुण्ण रखा। इसके दो अत्यन्त सुन्दर उदाहरण उपलब्ध हैं—एक तो बूँदी के हाड़ा राजपूतों की सन्धि और दूसरा मानसिंह का अकबर को उत्तर जबकि उससे दीनइलाही स्वीकार करने को कहा गया था —

ने ही विद्रोह किया तो एक राजपूत माधोसिंह ही उसकी सहायता के लिये आया। किन्तु मराठों के साथ साम्राज्य के सम्बन्ध इससे पूर्णतया भिन्न थे।

मराठों ने उत्तर तथा दक्षिण दोनों ही क्षेत्रों में मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दू प्रतिक्रिया का नेतृत्व किया; और उनका प्रतिरोध हिन्दुस्तान की राजपूत अथवा अन्य गैर मुस्लिम जातियों के संघर्ष से कहीं अधिक कट्टर था। सिक्खों, जाटों तथा सतनामियों ने भी मुगलों से लड़ाई लड़ी। किन्तु उनके विरोध का उससे अधिक महत्व न था जितना कि उन अल्प-संख्यक जातियों के संघर्ष का होता है जो अपने राजनैतिक तथा धार्मिक अधिकारों की रक्षा के लिये लड़ती हैं। उनमें से किसी ने मुगलों के शाही दावों को चुनौती नहीं दी। इस काम का भार मराठों के सिर पर पड़ा और उन्होंने उसे अन्त तक निभाया; और यद्यपि वे भारत में स्थायी मराठा साम्राज्य की स्थापना न कर सके, फिर भी इस देश में मुगलों की सत्ता को समाप्त करने में वे ही सबसे अधिक शक्तिशाली बाहरी कारण सिद्ध हुये। उन्होंने यह काम कैसे पूरा किया इसका वर्णन हम इसी ग्रन्थ में अन्यत्र कर आये हैं और उस कहानी को यहाँ दुहराने से कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा। किन्तु उनके संघर्ष के मुख्य पहलुओं पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक है।

शिवाजी महाराष्ट्र के पुनरुत्थान की आत्मा थे। इस शक्तिशाली आन्दोलन और तज्जनित राजनैतिक संघर्षों के सम्बन्ध में अनेक विवाद चले आ रहे हैं। उनकी समीक्षा करना हमारे क्षेत्र से बाहर है। इसी प्रकार यह स्मरण रखने की बात है कि महाराष्ट्र में हिन्दुओं का पुनर्जागरण जिसने मराठों को अपनी जन्म भूमि की सीमाओं के पार पहुँचा दिया, एक जटिल आन्दोलन था और उसके भावात्मक पक्ष का यहाँ वर्णन करना हमारा उद्देश्य नहीं है। मावला, किसान तथा गड़रिये स्वभाव से ही वन्य और अनभिज्ञ थे; इसलिये कोरा राजनैतिक आन्दोलन उन्हें अनुप्राणित करने में सफल न हो सकता था; यह कहना अनुचित होगा कि केवल लूट-मार की भावनाओं के कारण उन्होंने भारत के अधिकांश पर एक शताब्दी से अधिक अपना प्रभुत्व कायम रक्खा। हम रानाडे के इस कथन से सहमत हैं कि, "योरुप के सोलहवीं शताब्दी के धर्म-सुधार आन्दोलन की भाँति भारत में और विशेषकर दक्षिण में पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में एक धार्मिक सामाजिक और साहित्यिक पुनरुत्थान का आन्दोलन हुआ। " यह धार्मिक नव जागरण कुछ ऊँचे वर्गों तक ही सीमित न रहा, बल्कि उसने समस्त जनता को प्रभावित तथा अनुप्राणित किया। उसके नेता सन्त, महात्मा, कवि और दार्शनिक थे जिनमें ब्राह्मणों की अपेक्षा दर्जी बढ़ई, कुम्हार, माली, दूकानदार, नाई और यहाँ तक कि भंगी आदि निम्न जातियों के लोगों की संख्या अधिक थी।" यही लोक प्रिय तथा व्यापक जागृति मराठा आन्दोलन की जड़ थी, उसका राजनैतिक रूप कभी कभी तथा किन्हीं स्थानों पर भद्दा भी था भले ही रहा हो। यदि इस तथ्य को हमने आँख से ओझल कर दिया तो हम उस महान् शक्ति की वास्तविकता को समझने में

असफल रहेंगे जिसका मुगल साम्राज्य के मूलोच्छेदन में सबसे बडा हाथ था। यदि मराठे आगे आने वाले पिंडारियों की भाँति केवल लुटेरे ही रहे होते तो मुगलों ने उनका अस्तित्व उसी प्रकार मिटा दिया होता जैसे अंग्रेजों ने पिंडारियों का। औरंगजेब जैसा अनुभवी सेनानायक भी अपने जन-धन के सब साधन जुटा कर उनका उन्मूलन न कर सका, केवल यही एक बात यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि मराठों के विद्रोह की जडें बहुत गहरी और उसका रूप बहुत क्रान्तिकारी था। जैसा कि सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है, "इससे पहले कि शिवाजी ने महाराष्ट्र को राजनैतिक एकता प्रदान की, उस देश में सत्रहवीं शताब्दी में भाषा, धर्म तथा जीवन का आश्चर्यजनक समन्वय स्थापित हो चुका था। जाति के सुसंगठित होने में जो कुछ थोडी बहुत कमी रह गई थी उसको शिवाजी ने राष्ट्रीय राज्य का निर्माण करके और उन्होंने तथा उनके पुत्रों ने दिल्ली के आक्रमणकारी के विरुद्ध दीर्घकाल तक संघर्ष चलाकर और पेशवाओं ने एक साम्राज्य की स्थापना करके पूरा कर दिया। इस प्रकार अन्त में एक जन-जाति अथवा जन-जातियों और जातियों एक समूह ने मिलकर एक राष्ट्र का रूप धारण कर लिया, और अठारहवी शताब्दी के अन्त तक राजनैतिक तथा सांस्कृतिक अर्थों में मराठा राष्ट्र बन चुका था, यद्यपि जाति-पाँति के भेद-भाव अब भी बने रहे।"

शम्भाजी की मृत्यु के बाद जब महाराष्ट्र पर घोर संकट आया उस समय मराठा आन्दोलन के बल और स्वतः संचालित क्रियाशीलता का आश्चर्यजनक प्रदर्शन हुआ। महाराष्ट्र का यह संकट वैसा ही भयंकर था जैसा कि फ्रांस को गणतन्त्र की घोषणा (१७९२) के बाद के वर्षों में झेलना पड़ा। दोनों ही देशों में राजा सहसा उठ गया (यद्यपि दोनों देशों में उसके कारण भिन्न थे) और जनता को आन्तरिक प्रशासन तथा बाह्य-आक्रमणों से बचाव का उत्तरदायित्व सँभालना पडा। ऐसे संकट में भी आन्दोलन छिन्न-भिन्न नहीं हुआ, बल्कि पहले से अधिक बलशाली होगया और उसने शत्रु का तख्ता लौट दिया, इसी एक बात से स्पष्ट है कि उसका वास्तविक रूप राष्ट्रीय था। यह आश्चर्य की बात है कि इन तथ्यों के सामने होते हुये भी सर जदुनाथ सरकार ने कह दिया कि, "माराठा जाति की एकता वैसी न थी जैसी कि शरीर के विभिन्न अगों की होती है, बल्कि बनावटी और आकस्मिक थी, इसीलिये अनिश्चित और ढिल-मिल सिद्ध हुई। वह पूर्णतया शासक के असाधारण व्यक्तित्व पर अवलम्बित थी, और जैसे ही देश से अतिमानव उठ गये वैसे ही वह भी विलुप्त होगई।" यहाँ पर हमें पतन के युग में मराठाओं की विफलता के कारणों का विश्लेषण नहीं करना है, बल्कि यह देखना है कि शक्ति और उत्कर्ष के काल में उनके बल के क्या मुख्य स्रोत थे, क्योंकि उनके इसी बल ने ही मुगल साम्राज्य को चकनाचूर किया।

राज्य की आन्तरिक एकता के अभाव की जो बात ऊपर कही गई है वह मुगल साम्राज्य के सम्बन्ध में अधिक सही थी। उसकी एकता अवश्य आंगिक न होकर

बनावटी थी, क्योंकि ऊपर से थोपी गई थी। वह पूर्णतया शासक के असाधारण व्यक्तित्व पर अवलम्बित थी और जब शासक वंश में अतिमानवों का उत्पन्न होना बन्द होगया तो वह भी विलुप्त होगई। जहाँ तक मराठों का सम्बन्ध था, उन्होंने दो शताब्दियों तक असाधारण कोटि के पुरुषों और स्त्रियों को जन्म दिया जिन्होंने, दृढ़ संकल्प के साथ उस साम्राज्य को लौट दिया जिसने, उनके क्रोध को भड़काया था। इसलिये मराठा तथा मुगल साम्राज्यों में तात्विक अन्तर थे। मराठे असाधारण कोटि के पुरुषों और स्त्रियों को इसलिये जन्म दे सके कि उनमें एक वास्तविक राष्ट्रीय चेतना कार्य कर रही थी जिसकी सृजनात्मक शक्ति क्रान्तिकारी थी; इसके विपरीत मुगल साम्राज्य का जिन अतिमानवों ने निर्माण किया वे विदेशी थे और उनको उत्पन्न करने का भार एक ही निरन्तर पतनशील राजवंश पर था।

एक दृष्टि से राजपूतों की तुलना में मराठे अधिक भाग्यशाली निकले। उन्हें मुगल साम्राज्य का मुख्यतया उस युग में सामना करना पड़ा जबकि उसका पतन होने लगा था; इसके विपरीत राजपूतों को उससे उस समय टक्कर लेनी पड़ी जबकि वह उदीयमान था और उत्कर्ष की सीढ़ी पर चढ़ रहा था। किन्तु वास्तव में मराठों के उत्साह को उभाड़ने वाले दो मुख्य कारण थे—दक्खिन के मुसलमानों का राजनैतिक आधिपत्य और औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता। इसलिये महाराष्ट्र का आन्दोलन राजनैतिक भी था और धार्मिक भी। इसलिये बाहरी तौर पर उसने इस्लामी राज्य के विरुद्ध हिन्दू विद्रोह का रूप धारण किया। स्वामी रामदास ने वास्तव में आन्दोलन का सन्देश दिया और शिवाजी ने उसे कार्यान्वित किया। स्वामी जी ने शिवाजी को जो सलाह दी उसका सारांश निम्न पंक्तियों में मिलता है।—

> तीर्थं क्षेत्रे मोडिली। ब्राह्मण स्थाने भ्रष्ट झालीं।
> सकल पृथ्वी आन्दोलली। धर्म गेला॥

(तीर्थ स्थान नष्ट कर दिये गये हैं; ब्राह्मणों के स्थान भ्रष्ट कर डाले गये हैं; सारी पृथ्वी आन्दोलित है; धर्म लुप्त होगया है।)

> मराठा तितुका मेळवावा।
> आपुला महाराष्ट्रधर्म वाढवावा॥

(मराठों का संगठन करना चाहिये; हमारे महाराष्ट्र धर्म का प्रचार होना चाहिये।)

> बहुत लोक मेळवावे
> एक विचारें भरावे।
> यत्नें करून घसरावें। म्लेच्छांवरी॥

(सब लोगों को एकत्र करो; उनमें अनन्य उद्देश्य की भावना भर दो; कोई उपाय छोड़ मत रक्खो, म्लेच्छों पर टूट पड़ो।)

युद्ध में शत्रु के साथ उदारता का व्यवहार करना राजपूतों का मुख्य गुण था, किन्तु मराठे इस विषय में सिद्धान्तहीन थे और शत्रु की कठिनाइयों से लाभ उठाने में न चूकते थे। लेकिन राजपूतों ने (अजीतसिंह के विषय में कहा जाता है) मुसलमानों की धर्मान्धता का बदला मस्जिदों को तोड़ कर और मुसलमानों का उत्पीडन करके दिया, किन्तु इस विषय में शिवाजी का आचरण अनुकरणीय था, और ऐसा लगता है कि सामान्यतया मराठों ने उसका आदर्श कायम रक्खा। इस सम्बन्ध में खाफी खाँ का (जो शिवाजी को "नरक का कुत्ता" और "शैतान का चालाक बच्चा" कह कर पुकारता है।) साक्ष्य पर्याप्त होगा:—'उसने यह नियम बना दिया था कि जब कभी मेरे अनुयायी लूट-मार के लिये जायें तो वे मस्जिदों को, कुरान को और किसी की स्त्री को हानि न पहुँचायें। जब कभी कुरान की कोई प्रति उसके हाथ में पड़ जाती तो वह उसका आदर करता और अपने किसी मुसलमान अनुयायी को दे देता। जब कभी उसके आदमी किसी हिन्दू अथवा मुसलमान की स्त्रियों को बन्दी बना लेते तो वह स्वयम् तब तक उनकी देख-रेख करता जब तक कि उनके सम्बन्धी समुचित धन देकर उन्हें छुड़ा न ले जाते।' खाफी खाँ आगे लिखता है कि 'शिवाजी ने अपने राज्य में प्रजा के सम्मान की रक्षा करने का सदैव प्रयत्न किया। उसने विद्रोह करने, काफिरों को लूटने और मानव जाति को कष्ट देने में कसर नहीं छोड़ी, किन्तु उसने अन्य लज्जा-जनक कामों में कभी हाथ नहीं डाला, और जब कभी मुसलमान स्त्रियाँ और बच्चे उसके हाथ में पड जाते तो वह बडी सावधानी से उनके सम्मान की रक्षा करता। इस विषय में उसकी आज्ञायें बड़ी कठोर थीं, और जो भी उनका उल्लंघन करता उसे दण्ड मिलता।' हमारे कहने का यह अर्थ नहीं है कि मराठों ने हर समय बडी सावधानी से आचरण की यह शुद्धता और श्रेष्ठता कायम रक्खी। किन्तु जितनी उन्होंने कायम रक्खी उतनी उन्हें सफलता भी मिली, और यही उनकी विजयों का औचित्य था।

औरंगजेब को मराठों से गहरी घृणा थी और उनसे उसके सम्बन्धों की यही विशेषता थी, किन्तु उसकी मृत्यु के साथ वह भी समाप्त हो गई। इस बात की कल्पना करना व्यर्थ है कि यदि औरंगजेब ने भी शिवाजी के साथ वैसा ही व्यवहार किया होता जैसा कि अकबर ने बहुत से राजपूतों के साथ किया था तो मराठा-मुगल सम्बन्धों का क्या रूप हुआ होता। इस बात का अनुमान लगाते समय हमें मराठों और राजपूतों के चरित्र के तात्विक अन्तर को भी ध्यान में रखना चाहिये। कुछ भी सही, दिल्ली में बहादुरशाह प्रथम और महाराष्ट्र में राजा साहू के सिंहासन पर बैठते ही उन दोनों के सम्बन्धों का नया युग प्रारम्भ हुआ। घृणा और सन्देह के स्थान पर यदि पूरी मित्रता कायम न हुई तो कम से कम दोनों ने एक दूसरे को पहले से अधिक समझने का प्रयत्न किया। इस मेल का बहुत कुछ श्रेय दोनों सम्राटों के निजी चरित्र को था; दोनों ही मिलनसार थे, और उनके हृदयों में उस घृणा और शत्रुता को स्थान न था जो उनके पूर्वजों में

देखने को मिलती थी। साहू के समय में मुगल साम्राज्य के प्रति मराठा नीति का निर्धारण बहुत कुछ पेशवाओं ने किया और अपनी कूटनीतिक योग्यता द्वारा उन्होंने इन दोनों शासकों की सद् भावनाओं को अच्छे कामों में लगाया।

बहादुरशाह ने साहू को जो रियायतें दीं वे इस परिवर्तन के मुख्य फल थीं। बहादुरशाह प्रथम की मृत्यु के बाद अराजकता का जो युग आरम्भ हुआ उसमें मराठों ने अपनी इन सफलताओं को और भी पक्का कर लिया। अब वे अपने घरेलू प्रान्तों के ही नहीं बल्कि उन जिलों के भी वास्तविक स्वामी बन गये जिनको उन्होंने मुगलों से छीन लिया था। इन प्रदेशों में दृढ़ता से अपने पैर जमा कर उन्होंने पेशवा बाजीराव प्रथम के नेतृत्व में मुगल साम्राज्य के भीतर चारों दिशाओं में बढ़ना प्रारम्भ कर दिया। सब से बढ़कर बात यह थी कि उन्होंने मुगल साम्राज्य की दुर्बलता को भली भाँति समझ लिया और बाजीराव के शब्दों में वृक्ष के तने पर प्रहार करने का संकल्प किया, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि कुम्हलाई हुई शाखायें समय आने पर अपने आप गिर जायगी। पहले हम देख चुके हैं कि आन्तरिक फूट से क्षत-विक्षत मुगल साम्राज्य किस प्रकार मराठों की सैनिक और कूटनीतिक प्रगति को रोकने में विफल रहा। अब साम्राज्य में उनको शत्रु न समझा जाता था, बल्कि मित्रों के रूप में उनका स्वागत होने लगा। किन्तु इस बात का किसी को ज्ञान न था कि वे मित्र अपना ही काम बनाने में लगे हुये थे। निर्बल सम्राटों तथा उनके भ्रष्ट और स्वार्थी मन्त्रियों तथा अमीरों ने अपने अपने ढंग से और कदाचित अनजाने उन योजनाओं का समर्थन किया जो मराठों को बहुत प्रिय थीं। मराठों ने जान-बूझ कर राजाओं को बनाने बिगाड़ने के खेल में योग देना आरम्भ कर दिया मुगलों के लिये यह चीज़ घातक सिद्ध हुई, किन्तु साथ ही साथ मराठों के भाग्य पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इसके दो परिणाम हुये—एक ओर तो मराठों को अहमदशाह अब्दाली जैसे बाहरी आक्रमणकारियों से भारत की प्रतिरक्षा करने का भार सँभालना पड़ा और दूसरी ओर उन्हें अपने मुस्लिम प्रतिद्वन्द्वियों की ईर्ष्या का शिकार बनना पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने इन दोनों ही चीज़ों का वीरतापूर्वक सामना किया, और उसके जो परिणाम हुए उनकी समीक्षा करना यहाँ आवश्यक नहीं है। जहाँ तक मुगल साम्राज्य का सम्बन्ध है वह पूर्णतया उनकी कृपा पर अवलम्बित रहने लगा। उदाहरण के लिये, सम्राट आलमगीर का वध उनके दुर्ग से हुआ, उसके रिक्त स्थान को भरने के लिए सदाशिवराव भाऊ ने अपने दिल्ली के अधिनायकत्व के दौरान में एक अन्य राजकुमार को सिंहासन पर बिठलाया, और अन्त में *शाहआलम द्वितीय* अपने पूर्वजों की राजधानी में माधोजी सिन्धिया के बल पर ही प्रवेश कर सका। और यहाँ तक कि अन्तिम मुगल सम्राट' बहादुर द्वितीय को भी पेशवाओं के अन्तिम प्रतिनिधि नाना साहब ने सहायता दी, और दोनों का साथ साथ पतन हुआ।

साम्राज्य तथा योरुपीय जातियाँ

१८५८ में अंग्रेजों ने अन्तिम मुगल सम्राट को कम्पनी की सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने के अपराध में दण्ड दिया और निर्वासित कर दिया ; और उसी समय पेशवाई का अन्तिम दावेदार नाना साहब उसी अंग्रेज सरकार के क्रोध से बचने के लिये फरार होगया। इस प्रकार दोनों ही महान शक्तियों को—मुगलों और मराठों को—अन्त में एक योरुपीय सरकार ने अपदस्थ किया, और एक ही समय। किन्तु भारत में प्रवेश करने वाली योरुपीय जातीयों में अंग्रेज पहले थे। पुर्तगाली वास्को डी गामा मालाबार के तट पर कालीकट में १४९८ में आकर उतरा था— उपर्युक्त महत्वपूर्ण घटनाओं से ३६० वर्ष पहले। भारत में अंग्रेजी प्रभुत्व की स्थापना की दृष्टि से भी इन ३६० वर्षों का इतिहास बहुत महत्वपूर्ण था। इन्हीं वर्षों में मुगल साम्राज्य का और मराठों की शक्ति का उदय और उत्कर्ष तथा पतन और पराभव हुआ , और इन्हीं वर्षों में पुर्तगाली, डच, डेन, फ्रांसीसी, जर्मन, फ्लैमिश और अंग्रेज आदि जातियों के साहसिक लोग व्यापार, धर्म-प्रचार तथा राजनैतिक उद्देश्यों से इस देश में आये। यहाँ पर हमें न तो इन जातियों की परस्पर प्रतिस्पर्धा का और न अन्त में अंग्रेजों की विजय के कारणों का ही अध्ययन करना है, यद्यपि इन सबका अध्ययन बहुत आकर्षक है। इन सब जातियों के तथा और भी अनेक राष्ट्रों के जिनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है (जैसे इटली, स्पेन, यूनान, आर्मीनिया और टर्की) प्रतिनिधियों का मुगल साम्राज्य से अनेक रूपों में महत्वपूर्ण सम्पर्क था, उसी पर हम यहाँ दृष्टि-पात करेंगे।

जहाँ तक मुगल साम्राज्य का सम्बन्ध था, विभिन्न योरुपीय जातियों के राष्ट्रीय भेद-भाव कोई महत्व नहीं रखते थे। रूमी के तुर्कों को छोड़कर वे सब ईसाई थे। ऐतिहासिक दृष्टि से यही अधिक सही होगा कि सभी योरुपीय जातियों का एक साथ उल्लेख किया जाय, न कि पुर्तगालियों, डचों और अंग्रेजों आदि का अलग अलग। फिर भी हमें प्रत्येक योरुपीय दल की राष्ट्रीयता अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये, यद्यपि उसका महत्व गौण है। मुगल साम्राज्य के साथ योरोपीय जातियों के सम्बन्धों का अध्ययन हम इस प्रकार करेंगे :—(१) व्यापारिक, (२) धर्म-प्रचार सम्बन्धी, (३) राजनैतिक, और (४) विविध।

व्यापारिक—योरुप की जातियों को 'वैभव-शाली पूर्व' की विलास वस्तुओं से बड़ा प्रेम था। इसलिये जब एशिया तथा योरुप के बीच का पुराना व्यापारिक मार्ग तुर्कों ने बन्द कर दिया तो इन जातियों ने ही पूर्व के लिये नये मार्ग खोज निकालने का प्रयत्न किया। इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप दो महान अनुसंधान हुये जिनका आगे चलकर पूर्व तथा पश्चिम दोनों के भाग्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। १४९२ में कोलम्बस द्वारा अमेरिका की और १४९८ में वास्को डी गामा द्वारा भारत की खोज, ये दोनों ही घटनायें विश्व के इतिहास में अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। अमेरिका एक पिछड़ा हुआ महाद्वीप था, इसलिये वहाँ पर उपनिवेश बसाने

के लिये योरोपीय जातियों में खूब संघर्ष हुए; भारत पुराना व्यापारी देश था और यहाँ पर सुदृढ़ सरकारें थीं इसलिये यहाँ उनमें व्यापारिक प्रभुत्व के लिये प्रतिस्पर्धायें चलीं। पुर्तगाली सबसे पहले मैदान में उतरे, इसलिये पहला लाभ उन्हीं को हुआ जैसा कि होना चाहिये था। किन्तु उनको केवल व्यापार से ही सन्तोष नहीं हुआ। उनके धार्मिक उत्साह तथा राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं के कारण मुस्लिम राज्यों के साथ उनके सम्बन्ध बड़े कटिल होगये। १५१० में गोआ की विजय से पश्चिमी तट पर उनके पैर दृढ़ता से जम गये और पहले पहल उनका गुजरात बीजापुर, विजयनगर आदि के पड़ौसी राज्यों से ही सम्पर्क हुआ। मुगल सम्राटों में अकबर पहला था जो उनके सम्पर्क में आया। उनके साथ उनके सम्बन्धों का हम इसी पुस्तक में अन्यत्र सविस्तार वर्णन कर आये हैं। व्यापारिक दृष्टि से ये सम्बन्ध सामान्यतया मित्रतापूर्ण रहे और उनसे दोनों ही पक्षों को लाभ हुआ। मुगल मुख्यतया एक स्थलीय शक्ति थे और उनके पास नाम के लिये भी सामुद्रिक बेड़ा न था; इसलिये उन्हें बाध्य होकर पुर्तगालियों तथा अन्य योरोपीय जातियों के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करना पड़ता था, क्योंकि वे पश्चिमी तट के हज यात्रियों तथा अन्य प्रकार के यातायात को हानि पहुँचा सकते थे। इस स्थिति के बावजूद भी शाहजहाँ तथा औरंगजेब के समय में साम्राज्य तथा पुर्तगालियों के सम्बन्ध कटु होगये। कारण यह था कि पुर्तगालियों ने अरब सागर और बंगाल की खाड़ी दोनों ही समुद्रों में बड़ाकी लूट मार मचा रक्खी थी। पूर्व में योरुपीय जातियों की कार्यवाहियों पर यह एक कलंक का टीका था और इसमें डच तथा अंग्रेज भी सम्मिलित थे। उन्हें व्यापार के उचित लाभों से सन्तोष नहीं हुआ इसलिये उन्होंने डाके डालने आरम्भ कर दिये और शाही वहि शुल्क तथा अन्य करों से बचने का प्रयत्न किया; परिणाम यह हुआ कि स्थानीय और केन्द्रीय सरकारों को उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही करनी पड़ी, अन्यथा योरुप के सभी राष्ट्रों के लोग साम्राज्य के समृद्धिशाली व्यापार में भाग लेते रहे, और सम्पूर्ण मुगल प्रान्तों में समुद्र तट तथा स्थल पर उनकी व्यापारिक कोठियाँ फैली हुई थीं।

इस सम्बन्ध में हम बर्नियर के वृत्तान्त से कुछ उद्धरण पहले दे चुके हैं जिनसे योरोपीय जातियों की व्यापारिक कार्यवाहियों की अच्छी झाँकी मिलती है। इसी काल में टैवर्नियर मनूची आदि अन्य योरुपीय पर्यटक भी भारत में आये, उन्होंने भी उस समय के योरुपीय व्यापार और पुर्तगालियों, डचों और अंग्रेजों की आपसी प्रतिस्पर्धा, झगड़ों और ईर्ष्याओं का और मुगल सम्राट का संरक्षण पाने के लिये किये गये उनके दाव-पेचों का अच्छा वर्णन किया है। डचों के अभिलेखों से हमने एक उद्धरण पहले दिया है जिससे पता लगता है कि शिवाजी द्वारा सूरत की लूट के उपरान्त धर्मान्ध औरंगजेब ने भी योरोपीय कोठियों की रक्षा का समुचित प्रबन्ध किया। सर टामस रो तथा अन्य कई अंग्रेज राजदूत भी व्यापारिक संरक्षण पाने के हेतु मुगल सम्राटों से मिलने आये। संक्षेप में भारत में

अंग्रेज़ों की कहानी व्यापारियों की एक कम्पनी की कहानी है जो धीरे-धीरे इस देश के शासक बन बैठे; किस प्रकार उन्होंने अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये अपने योरुपीय प्रतिद्वन्द्वियों और भारतीय शासकों जिनमें मुगल सम्राट भी सम्मिलित थे, परास्त किया, यह भी उस कहानी का ही एक अंग है।

धर्म-प्रचार—अंग्रेजों की सफलता का एक रहस्य यह था कि उन्होंने धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने देश की परम्पराओं का अनुसरण किया और साथ ही साथ पुर्तगालियों के उदाहरण से भी चेतावनी ली। अकबर के दरबार में जो जैसुइट शिष्ट-मण्डल आये उनका इतिहास हम पहले लिख आए हैं। उस सम्बन्ध में हमने देखा था कि पुर्तगालियों और उनके जैसुइट धर्म-प्रचारकों ने लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही हितों का साधन करना चाहा; दूसरे शब्दों में वे भारत में सुदृढ़ तथा स्थायी ईसाई साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। अपना काम बनाने के लिये उन्होंने मुगल सम्राट को ही ईसाई बनाने का प्रयत्न किया, किन्तु अकबर तथा जहाँगीर दोनों के ही सम्बन्ध में उनके ये प्रयत्न विफल रहे। शाहजहाँ तथा औरङ्गजेब के समय में मुस्लिम प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। किन्तु धार्मिक दृष्टि से धर्मान्ध आलमगीर के समय में भी ईसाइयों को विशेष कष्ट नहीं उठाने पड़े। बाबर के वंश के अन्य सम्राटों के समय में ईसाई धर्म-प्रचारकों को असाधारण कोटि का संरक्षण प्राप्त हुआ; उस काल को ध्यान रखते हुये तो ऐसा लगता है कि इस सम्बन्ध में मुगल सम्राटों ने अति कर दी थी। ईसाई धर्म-प्रचारक सम्राटों के मेहमान बन कर रहे; जो विशेषाधिकार उन्हें प्राप्त थे उन्हें देख कर मुगल अमीरों को भी ईर्ष्या होती थी; ईसाई प्रतिमाएँ तथा प्रतीक शाही महलों तक में पहुँचते थे, शाही वंश के राजकुमारों को बपतिस्मा लेने की आज्ञा दे दी गई थी, आगरा, लाहौर तथा अन्य शाही नगरों में गिरजाघर बनाने, धर्म-प्रचार करने तथा लोगों को ईसाई बनाने की भी खुली छूट थी, और सबसे बढ़कर बात यह थी कि शाही प्रेरणा से बाइबिल का फारसी में अनुवाद हुआ। मानिक तथा ज़ेवियर आदि जैसुइट पादरियों को राजकुमारों को शिक्षा देने तक के लिये नियुक्त कर दिया गया था; और मिर्ज़ा जुल्कार्नें तथा डोना जुलियाना के जीवन के अध्ययन से पता चलता है कि परवर्ती मुगलों के समय में ईसाइयों का कितना प्रभाव था। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जिनसे पता चलता है कि ईसाई भगोड़े जिन्होंने इस्लाम अंगीकार कर लिया था फिर ईसाई बन गये। शाहजहाँ तथा औरंगजेब के समय में पुर्तगालियों का जो दमन हुआ उसका कारण धार्मिक नहीं वरन् राजनैतिक था।

राजनैतिक—पुर्तगालियों की राजनैतिक कार्यवाहियों का हम पहले उल्लेख कर आये हैं। अन्य योरुपीय जातियों में भी राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं का अभाव न था। डूप्ले ने भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य स्थापित करने के लिये जो उद्यम किये उन्हें हम सब जानते हैं। सर टामस रो ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को

चेतावनी दी थी कि अपनी शक्ति को राजनैतिक प्रयत्नों में लगाने से कोई लाभ न होगा। किन्तु दूसरी ओर जैसा कि हम देख चुके हैं सर जोसिया चाइल्ड जैसे अंग्रेज भी थे जिनका विश्वास था कि भारत में स्थायी अंग्रेजी साम्राज्य स्थापित करना सम्भव है। यद्यपि उस पीढ़ी के अंग्रेजों के प्रयत्न कुछ समय के लिये विफल रहे, किन्तु अंग्रेजों की अन्तिम सफलता ने सिद्ध कर दिया है कि सत्यतः उन लोगों के विचार ठोस थे। यहाँ पर हमारे पास इतना स्थान नहीं है कि इस दिशा में अंग्रेजों तथा उनसे पहले अन्य योरुपीयों ने जो छोटे मोटे प्रयत्न किये उनका सविस्तार वर्णन कर सकें; किन्तु मुग़ल साम्राज्य के पतन के दिनों में भारत में योरुपीय लोगों की जो महत्त्वाकांक्षाएँ थी उनका पता हमें नीचे के उद्धरण से लग जायगा —

"मुग़ल साम्राज्य में सोने और चाँदी की भरमार है। यह सदैव दुर्बल और अरक्षित रहा है। यह एक आश्चर्य की बात है कि अब तक सामुद्रिक शक्ति रखने वाले किसी योरुपीय शासक ने बंगाल को जीतने का प्रयत्न नहीं किया। एक ही प्रहार से अपार धन मिल सकता है जिसके सामने ब्राज़ील और पेरू की खानें भी फीकी पड़ जायेंगी। मुग़लों की नीति बुरी है; उनकी सेना उससे भी बुरी है उनके पास जहाज़ी बेड़ा नहीं है। साम्राज्य में निरन्तर विद्रोह होते रहते हैं। उनके बन्दरगाह तथा नदियाँ विदेशियों के लिये खुली हुई हैं। देश को उसी प्रकार सरलता से जीता अथवा करद बनाया जा सकता है जैसे कि स्पेनवासियों ने अमेरिका के नंगे इण्डियनों को किया।

अलीवर्दी खाँ नाम के एक विद्रोही ने बंगाल बिहार तथा उड़ीसा के प्रान्त साम्राज्य से छीन लिये हैं। उसके पास तीन करोड़ पौंड के मूल्य का कोष है। उसका वार्षिक राजस्व कम से कम दो करोड़ होगा। प्रान्त समुद्र की ओर से खुले हैं। तीन जहाज जिनमें डेढ़ अथवा दो, हजार सैनिक हों इस काम के लिये पर्याप्त होंगे। अंग्रेज जाति लूट के लिये तथा अपने व्यापार को बढ़ाने के हेतु इस काम में सहयोग देगी।'

सिंहावलोकन—अकबर सम्भवतः पहली बार योरुपीयों के सम्पर्क में आया; उसके बाद से लेकर मुग़ल साम्राज्य के संपूर्ण इतिहास में हमें योरुपीय लोगों का वृत्तान्त मिलता रहता है। वे व्यापारियों धर्म प्रचारकों और राजनैतिक अभिकर्त्ताओं के रूप में तो आये ही, उनके अतिरिक्त हमें अनेक योरुपीय भाड़े के सैनिकों, चिकित्सकों, सर्जनों, शराब बनाने वालों, इञ्जीनियरों, तोपचियों, समुद्री डाकुओं तथा ठगों का भी उल्लेख मिलता है। इनमें योरोप की सभी जातियों के लोग सम्मिलित थे। ये लोग मुख्यतया अकेले अथवा छोटे छोटे दलों में मिलकर कार्य करते थे किन्तु सदैव अपने ही उत्तरदायित्व पर किसी राष्ट्र अथवा जिम्मेदार संगठन की ओर से नहीं। किन्तु फिर भी समय ऐसा था कि भारत में रहने वाले उनके अधिक सम्माननीय देशवासी उनके कामों में सहायता दिया करते थे, क्योंकि अपने ढंग से वे भी इस देश में अपने राष्ट्रों के हितों का पोषण करते थे। व्यापारिक, सैनिक और राजनैतिक पक्षों में योरुपीय शक्ति की स्थापना करने में

इन लोगों का भी काफी हाथ था, इसे हमें नहीं भूलना चाहिये। यही कारण था कि इस देश के निवासी योरोपीयों से डरते भी थे और उनका सम्मान भी करते थे। सम्राटों के सम्पर्क में जो योरुपीय आये उनमें मार्निक, ऐकुआबिवा और ज़ेवियर जैसे धर्म प्रचारक, मिल्डन हॉल, रो और हॉकिंस, ला बोले ली गोज़ और वैबर जैसे उच्च राजनैतिक तथा व्यापारिक प्रतिनिधि, मनूची जैसे व्यक्तिगत साहसिक, बर्नियर और टैवर्नियर जैसे निष्पक्ष पर्यटक, जुल्कारेन जैसे मुगल अधिकारी और डोना जुलियाना जैसी स्त्रियाँ मुख्य थीं। इन लोगों में से कुछ के लेखों में हमें उन योरुपीय मार्ग तैयार करने वालों के शब्द-चित्र मिलते हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मुगल साम्राज्य के नाश में और उसके स्थान पर नया ढाँचा खड़ा करने में योग दिया।

मुग़ल साम्राज्य की विरासत

कहावत है कि किसी वृक्ष को हम उसके फलों से पहचानते हैं। पिछले पृष्ठों में हम भारत में मुग़ल साम्राज्य के इतिहास का कुछ विस्तार से वर्णन कर आए हैं, अब यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि साम्राज्य ने क्या फल दिया। हम देख चुके हैं कि बाबर ने साम्राज्य रूपी वृक्ष का बीज बोया, हुमायूँ के समय में उस नन्हे पौदे को उखाड़ फेंका गया, फिर शेरशाह ने अपने परिश्रम से जिस भूमि को निराया और उर्वरा किया उसमें उसे पुनः रोपा गया, अकबर ने उसका पालन पोषण किया, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में उस पर फल लगे—वे सुनहरी फल औरंगज़ेब के शासन काल में जाकर पके और पीले हुये, फिर 'परवर्ती मुगलों' के शासन काल में वह (साम्राज्य रूपी वृक्ष) तेजी से सूख गया, उसकी शाखाएँ या तो स्वयम् गिर पड़ीं या काट डालीं गईं जिससे कि जड़ों में लगी हुई सड़ाँद उसके हरे-भरे अंगों तक न पहुँच जायँ। मराठों ने उसके सड़े हुये तने पर जोर का प्रहार किया, और फिर नजीब खाँ और अहमद शाह अब्दाली जैसे अफगान भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसको पुनः न खड़ा कर सके। उसकी नई हरी-भरी कोपलों को मराठों अथवा अंग्रेज़ों ने कुचल दिया, और अन्त में भारतीय बरगद के स्थान पर अंग्रेज़ी ओक खड़ा हो गया। केवल निजाम का राज्य शेष रहा और उसके अनेक सूबों की याद दिलाता रहा।* लेकिन यह सब हमारे प्रसंग के बाहर है। हमें तो यहाँ यह देखना है कि मुगल साम्राज्य ने विरासत में ऐसी क्या चीज़ें छोड़ीं जो हमारे बीच में अब भी विद्यमान हैं।

राजनैतिक—वर्तमान सीधा अतीत के गर्भ से उत्पन्न नहीं होता। उसकी उत्पत्ति के अनेक और पेचीदा कारण होते हैं जिनमें सम-सामयिक तत्व निःसन्देह

* किन्तु अब भारत के भाग्य से अंग्रेजी ओक भी उखड़ गया है और उसके स्थान पर भारतीय गणतन्त्र का वट-वृक्ष फिर लहलहाने लगा है। —अनुवादक

सबसे अधिक सक्रिय होते हैं। फिर भी हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि अतीत की—विशेषकर निकट अतीत की—विरासत का हमारे भविष्य के निर्माण पर सबसे गहरा प्रभाव रहता है, वह चाहे अच्छा हो या बुरा। इसलिए भावी उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि हम अतीत के सत्य को समझें और स्पष्ट रूप से स्वीकार करें। उदाहरण के लिये १९११ ई० में भारतीय संविधानिक सुधारों की जाँच के लिये ब्रिटिश पार्लियामेंट की जो समिति नियुक्त की गई, उसने अपनी रिपोर्ट में कहा कि "प्रारम्भिक हिन्दू राजा सरकार तथा प्रशासन की कला से अपरिचित न थे और शक्तिशाली मुगल सम्राटों का जिन्होंने १५२६ से १७०७ तक शासन किया राज्य अन्त में जाकर इतना विस्तृत हो गया कि भारत का अधिकांश उसके अन्तर्गत आगया और उस राज्य का वैभव योरप के सम-सामयिक राज्यों से यदि अधिक न था तो किसी प्रकार कम भी न था।"

मुगल साम्राज्य का यह "वैभव" केवल दिखावटी चमक दमक न था, जैसा कि बहुधा कहा जाता है; हमारा यह दावा नहीं कि मुगल सरकार ने कोई भूल नहीं की अथवा वह पूर्ण थी अन्य सब सरकारों की भाँति वह भी समय-समय पर गलतियों में फँस गई किन्तु हमें उसकी महान सफलताओं को भी याद रखना चाहिये।' यहाँ पर पाठकों को इस बात से सावधान कर देना आवश्यक है कि वे मुगलों को अपने समय के माप दण्डों (प्रतिमानों) से न आँकें जैसा कि बहुधा किया जाता है, बल्कि उनके समय को ही ध्यान में रख कर उनकी आलोचना करें, और दूसरे, यह भी स्मरण रखना चाहिये कि हर देश में और हर काल में (मध्य युगीन अथवा आधुनिक) सरकारों से जितनी आशा की जाती है उतना वे कभी पूरा नहीं कर पातीं। फिर भी यद्यपि मुगल अँग्रेज़ों की भाँति विदेशी थे किन्तु धीरे धीरे (बल्कि अँग्रेज़ों की तुलना में अधिक तेज़ी से) उनका शासन लोक प्रिय बन गया। इसलिए वर्तमान पीढ़ियों को भी उनकी सफलताओं और विफलताओं से महत्वपूर्ण सीख मिल सकती है।

मुगल शासकों के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता थी उनकी राजनैतिक प्रवृत्ति, जिसका अर्थ है विजय की उत्कट अभिलाषा और शासन करने की प्रबल इच्छा। शासकों के रूप में उनके जो भी गुण दोष थे उन सब का स्रोत यही मूल प्रवृत्ति थी। साहसिक बाबर छिन्न भिन्न हुमायूँ दृढ़ संकल्प अकबर इन्द्रिय-लोलुप जहाँगीर, अहंकारी शाहजहाँ और कट्टर औरंगज़ेब ने अपने अपने ढंग से इस प्रवृत्ति का परिचय दिया। परवर्ती मुगलों में भी यह विशेषता देखने को मिलती है यद्यपि उनमें से कई एक सिंहासन पर बैठने के समय तक काफ़ी आयु के हो चुके थे। बहादुरशाह प्रथम को पहाड़ियों पर जाने का शौक था; कामबख़्श ने जीवित पकड़े जाने पर दुःख प्रकट किया और इस प्रकार अपने वंश की दुर्दमनीय आत्म-सम्मान की भावना का परिचय दिया; अहमदशाह जैसे अयोग्य व्यक्ति में भी शासन करने की प्रबल इच्छा थी जिसके फलस्वरूप वह छोटे-छोटे बच्चों को उच्च पदों पर नियुक्त

किया करता था; और अन्तिम मुगल सम्राट बहादुरशाह ने अपने वंश के प्राचीन राजकीय ठाठ-बाट को बनाये रखने का प्रयत्न किया यद्यपि अब सम्राट को स्वयं अपने ऊपर भी अधिकार न रह गया था। मुगल राजकुमारों को साम्राज्य के उत्तरदायित्वों को निर्वहन करने की शिक्षा दी जाती थी, और उनमें से प्रत्येक में सिंहासन पर बैठने की उत्कट अभिलाषा रहती थी जिसके कारण उनकी अन्य सब प्रवृत्तियाँ दब जातीं थीं, ये सब बातें भी मुगलों के चरित्र की नक्क विशेषता की द्योतक हैं। राजकुमारों ने लगातार विद्रोह किये और उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा ही नहीं की बल्कि शाही उपाधियाँ तथा चिन्ह भी धारण किये, इससे भी उसी मूल प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। अकबर ने धर्म-निरपेक्ष तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के प्रभुत्व को अपने हाथों में केन्द्रित करना चाहा और धर्मान्ध औरङ्गजेब ने देश में शुद्ध इस्लामी राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखा—मुगलों की शासन करने की मूल प्रवृत्ति के प्रकाश में यदि हम इन दोनों चीज़ों की समीक्षा करें तो हमें विदित होगा कि ये दोनों एक ही चीज़ के दो विभिन्न पहलू थीं। एक ने सफलता का मार्ग दिखलाया और दूसरी ने विफलता का। इसीलिए प्रिंगल कैनेडी ने अपने देशवासियों को चेतावनी दी—जिसको हम पहले भी उद्धृत कर चुके हैं—"अँग्रेजों ने अकबर के तरीकों का अनुसरण करके भारत को विजय किया, औरंगजेब की नीति पर चल कर वे उसे खो न दें।"

राजनैतिक प्रतिभा का सार है समझौते की भावना, हितों की विभिन्नता को समझने की शक्ति और आत्मसात करने तथा संश्लेषण की योग्यता। अपने शासन के दो सौ वर्षों में मुगलों ने हर पीढ़ी में इन गुणों को बड़ी सफलता के साथ प्रदर्शित किया। बाबर और हुमायूँ तत्वतः धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे, फिर भी उन्होंने अपनी धार्मिक भावनाओं को राजनैतिक आवश्यकताओं के अधीन रक्खा और इसीलिये ईरान की सहायता प्राप्त करने के लिये अपना सुन्नी धर्म छोड़कर शिया बन गये। अकबर की धार्मिक प्रवृत्ति औरङ्गजेब से कम गम्भीर न थी, किंतु उसकी राजनैतिक दृष्टि अचूक थी, इसलिये उसने सब धर्मों के सच्चे सार तथा अपने समय की राजनैतिक आवश्यकताओं, दोनों को ही भली-भाँति समझ लिया। वह ऐसा शासक था जिसने "हिंदुस्तान की संघर्षमयी दुनिया" में रहने वाले भिन्न तथा विरोधी तत्वों को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में पिरोने का रहस्य जान लिया था, और उसने ईमानदारी से 'पुरानी घृणा को प्रेम के सोने में बदल कर उसका प्रचार करने का प्रयत्न किया।"

औरङ्गजेब ने भी जो धार्मिक मामलों में बहुत ही कट्टर था और किसी प्रकार का समझौता करना न जानता था, राजा जयसिंह और जसवन्तसिंह जैसे राजपूत सेनानायकों और कूटनीतिज्ञों को अपनी सेवा में बनाये रक्खा, और शम्भाजी के पुत्र शाहू को भी नहीं मारा, यद्यपि वह पूर्णतया उसकी मुट्ठी में आ गया था। जहाँगीर, शाहजहाँ तथा अन्य मुगलों की निजी भावनाएँ कुछ भी रही हों, किंतु

अकबर की व्यावहारिक नीति को उन्होंने भी कायम रक्खा, यदि कभी कोई अपवाद हुए तो वे नगण्य थे।

इस सब के परिणामस्वरूप ही एक राष्ट्रीय राज्य की धारणा उत्पन्न हो सकी—ऐसा राज्य जिसमें सभी सम्प्रदायों के मुसलमानों, और सभी जातियों के हिंदुओं, देशियों और विदेशियों को समान रूप से अपनी प्रतिभा का उपयोग करने का अवसर मिल सकता, चाहे उनका शासक वर्ग से सम्बन्ध हो अथवा न हो। मुगल लोग इस देश में बस गये और इसको अपना बना लिया। इसलिए शासकों और शासितों के हितों में पूर्ण एकता स्थापित होगई, जैसा कि एक राज तन्त्र और विशेषकर मध्ययुगीन राजतन्त्र के अन्तर्गत सम्भव हो सकता थी। उनकी सुरक्षा इसी में थी कि प्रजा सन्तुष्ट रहे। एक-दो पीढ़ी में ही मुगल भारतीय बन गये। वे इसी देश को अपना घर मानने लगे—उनका घर कहीं दूरस्थ देश में न था जहाँ बैठ कर वे पेंशनों और धनों का उपभोग करने की अभिलाषा कर सकते। इसलिए उन्होंने भारतीयों को राज्य के सभी सैनिक और असैनिक विभागों में नौकरियाँ दीं और नस्ल अथवा धर्म का भेद-भाव नहीं रक्खा। उन्हें किसी प्रकार के रक्षा के उपायों की आवश्यकता न थी, क्यो कि सिंहासन को छोड़ कर और कोई ऐसी चीज़ न थी जिसे वे अपनी प्रजा से बचाकर रखना चाहते हों; बल्कि सिंहासन के प्रति भी लोगों के हृदयों में सच्ची श्रद्धा (केवल औरङ्गजेब के समय में छोड़कर) थी, क्यो कि उस पर बैठने वाला बहुधा मुसलमान पिता और हिंदू माता का पुत्र होता; स्वयम् सिंहासन तथा जिस महल में वह रक्खा जाता वह भी हिंदू तथा मुसलमान शिल्पियों के हाथों की कृति थे; उसके कारण जो धन सम्पत्ति सम्भव हो सकी वह हिन्दू तथा मुसलमान दोनों की ही जेबों से आती और हिन्दू तथा मुसलमान अधिकारियों द्वारा वसूल की जाती; और उस सबकी रक्षा करने वाली सेना में भी अधिकारी और सैनिक हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही थे, और नस्ल के आधार पर नहीं बल्कि गुणों के आधार पर चुने जाते थे। संक्षेप में जैसा कि लॉर्ड विलियम बैंटिक ने कहा —

"अनेक बातों में मुसलमानों का शासन हमारे (अंग्रेजों) से अच्छा और बढ़कर था वे उन देशों में बस गये जिनको उन्होंने विजय किया वे देशी लोगों में घुल मिल गये और उनके साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लिये उन्होंने उनके लिये सभी विशेषाधिकारों के द्वार खुले रक्खे; विजेताओं और विजितों के हित और सहानुभूति एक हो गये। इसके विपरीत हमारी (अंग्रेजों की) नीति इसकी उलटी रही है—स्वार्थपूर्ण और भावना तथा सहानुभूति से रहित।'

*भारत में मुगलों की यह विरासत हमें तथा अंग्रेजों दोनों को ही मिली है। जब अंग्रेज ईस्ट इंडिया कम्पनी को मुगल सम्राट ने बंगाल के सूबे की दीवानी तथा अन्य अधिकार दे दिये तो उनके साथ-साथ मुगल साम्राज्य की प्रशासनीय संस्थाएँ भी अंग्रेजों को हस्तांतरित कर दी गई। किन्तु समय तथा परिस्थितियों

* अगले पृष्ठ १९४७ से पहले की स्थिति को ध्यान में रख कर पढ़े जाने चाहिए।
—अनुवादक

के घात-प्रतिघात ने उनका ऐसा रूपान्तर कर दिया है कि अब उनको पहचानना भी असम्भव है। फिर भी कुछ भागों में पुरानी नींव के चिन्ह अब भी दिखाई देते हैं; हमारी प्रान्तीय तथा जिलों की शासन प्रणालियों का मुगल प्रणाली के अनुकरण पर ही निर्माण हुआ है, हमारे गवर्नरों और वायसरायों की जिनकी नियुक्ति बाहर से होती है और जो राष्ट्रीय जीवन की तनिक भी चिन्ता नहीं करते, शक्तियाँ अतीत की ही अवशेष प्रतीत होती हैं; हमारी असैनिक सेवा के सदस्य जिन्हे साम्राजीय तथा स्थानीय मामलों के प्रबन्ध के लिये नियुक्त किया जाता है, हमें मुगल मंसबदारों की याद दिलाते हैं, यद्यपि उनका वह सामन्ती और सैनिक रूप और कार्य नही रह गये है जो मुगलों के समय में थे, और उनकी नियुक्ति अधिक वैज्ञानिक ढंग से होती है, हमारी कानून व्यवस्था आधुनिक है, किन्तु कुछ नियम मुगल-काल में प्रचलित विधि-संग्रह से लिए गये है; हमारी राजस्व व्यवस्था सीधी मुगल-प्रणाली की ही उपज है, हमारी सेना के अधिकतर सैनिक भारतीय है, इसमें सन्देह नही, किन्तु उसके पदाधिकारी अधिकतर विदेशी हैं और उसका नियंत्रण भी ऐसी सत्ता के हाथ में हैं जो उस जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं है जिसकी रक्षा करना वास्तव में उसका कर्तव्य है, ये सब चीज़ें मुगल सेना से मिलती-जुलती हैं; और अन्त में हमारे गवर्नरों, वायसरायों और गुप्त विभाग के लोगों के वेतन भी वैसे ही भारी-भरकम हैं जैसे कि मुगल काल में हुआ करते थे और उनका नियंत्रण भी विदेशी सत्ता के हाथ में है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि हम वर्तमान प्रशासन की निन्दा करना चाहते हैं; हमें तो केवल यह बतलाना है कि यद्यपि प्रबुद्ध अंग्रेज जाति भारतीय वृक्ष पर पश्चिमी लोकतंत्र की कलम लगाने का भरसक प्रयत्न कर रही है, फिर भी उसके प्रशासनीय ढाँचे में मुगल व्यवस्था के अवशेष बने हुये हैं। परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि ऐसा होना अनिवार्य था, क्योंकि वर्तमान सरकार के जन्मदाताओं ने जान-बूझ कर और यत्नपूर्वक मुग़लों का अनुकरण करने की चेष्टा की। वारेन हेस्टिंग्स ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के संचालक-मण्डल (कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स) को एक पत्र लिखा जिसमें ग्लैडविन के 'आईने-अकबरी' के अनुवाद को प्रकाशित करने का अनुरोध किया; उस पत्र से कुछ पंक्तियाँ हम नीचे उद्धृत करते हैं जिनसे उक्त कथन की पुष्टि होती है:—

इस ग्रंथ से "संचालक-मण्डल को कंपनी के मुख्य हितों से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण मामलों पर निर्णय करने में सहायता मिलेगी। इससे पता लगेगा कि उनके (मुगलों के) प्रशासनीय कार्य मूल सिद्धान्तों के कितने निकट थे और यह भी मालूम होगा कि वे उस व्यवस्था से कहीं अधिक बढ़कर थे जो उनके ध्वंसावशेषों पर कायम की गई है, और वे सब से अधिक सरल हैं, क्योंकि जनता उनसे भली-भाँति परिचित है, और यह भी ज्ञान हो जायगा कि ऐसे कौन से मामले हैं जिनमें उन सिद्धान्तों से विचलित होने पर विरोध उठ खड़ा होगा और जनता उन्हें आत्मसात न कर सकेगी।"

किन्तु देशी राज्यों में मुगल-व्यवस्था के अवशेष अधिक शुद्ध रूप में देखने को मिलेंगे। जैसा कि सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है —

"दो सौ वर्षों के मुगल शासन ने समस्त उत्तरी भारत को और दक्खिन के भी बहुत से भाग को एक सरकारी भाषा, एक ही प्रशासनीय व्यवस्था और मुद्रा प्रणाली और एक लोक प्रिय सार्वदेशिक भाषा प्रदान की; हिन्दू पुरोहितों तथा गाँव की निरक्षर जनता को छोड़कर अन्य सभी वर्गों ने इनसे लाभ उठाया। उन प्रदेशों में भी जो सीधे मुगल सम्राटों के प्रशासन के अन्तर्गत न थे पड़ोसी हिन्दू राजाओं ने उनकी प्रशासन व्यवस्था, सरकारी उपाधियाँ दरबारी शिष्टाचार और मुद्रा प्रणाली न्यूनाधिक अंशों में अपना ली। "प्रोफेसर सरकार आगे लिखते हैं "मुगल साम्राज्य के सभी बीस सूबों में एक ही प्रशासनीय ढाँचा, एक ही कार्य प्रणाली और ठीक एक ही प्रकार की सरकारी उपाधियाँ प्रचलित थीं। फारसी ही एक भाषा थी जिसका सभी सरकारी अभिलेखों में प्रयोग होता था। अधिकारियों और सैनिकों का बहुधा एक प्रान्त से दूसरे को स्थानांतरण होता रहता था। इसलिए एक सूबे के निवासी दूसरे में जाकर भी यह अनुभव करते थे कि हम अपने ही देश में हैं; व्यापारी और यात्री अत्यधिक सरलता से एक शहर से दूसरे शहर में और एक सूबे से दूसरे सूबे में आते जाते रहते थे और सभी इस विशाल देश की साम्राज्यीय एकता का अनुभव करते थे।"

आर्थिक—वर्तमान युग में भारत का संसार के वाणिज्य में ऊँचा तथा सम्मानपूर्ण स्थान है। यद्यपि हमारे देश का व्यापारिक इतिहास अत्यन्त प्राचीन काल से आरम्भ होता है, किन्तु उसकी आधुनिक प्रतिष्ठा मुख्यतया मुगल-युग की ही देन है। इसमें सन्देह नहीं कि पिछले थोड़े समय में हमारा व्यापार बहुत बढ़ गया है और उसके रूप में भी बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है, किन्तु जो तत्व इस रूपान्तर के लिये उत्तरदायी हैं, वे भी मुगल काल में उत्पन्न हो चुके थे।

सबसे पहली बात यह है कि हमारे देश में व्यापार और वाणिज्य की बहुमूल्य परम्पराएँ विद्यमान हैं इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। इससे यह स्पष्ट है कि देश में आर्थिक समृद्धि रही होगी क्योंकि उसके बिना ऐसी परम्पराओं का स्थापित होना सम्भव नहीं हो सकता था; दूसरे यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह समृद्धि तब तक कायम न रह सकती थी जब तक कि देश के अधिकांश भागों में और दीर्घकाल तक शान्ति स्थापित न रहती। हम इस बात को भली भाँति जानते हैं कि मुगल काल में भारत को समय समय पर युद्धों, विद्रोहों, लड़ाई लूट-मार और डकैतियों, दुर्भिक्षों और महामारियों का भी शिकार होना पड़ा, इसलिए हम उस काल की शान्ति और समृद्धि को बढ़ा चढ़ा कर नहीं दिखा सकते; किन्तु इन दुर्घटनाओं से जो हानि हुई उसके बावजूद उन दो सौ वर्षों के इतिहास में देश की आर्थिक समृद्धि का ही पलड़ा भारी रहा। यदि इसका उलटा हुआ होता तो वे असंख्य योरपीय जो दौड़ दौड़ कर इस देश में आये बहुत पहले हमारी भूमि को छोड़ कर चले गये होते जैसे कि फिरंगियों

मरे हुए बैल को छोड़ जाती हैं। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इस व्यापार के बल पर ही भारत में अँग्रेजी साम्राज्य का निर्माण किया ; और उसके "नवाबों" ने अपनी नौकरी के दौरान में और अवकाश ग्रहण करने के बाद औद्योगिक क्रान्ति के विभिन्न अंगों को प्रोत्साहन दिया। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि इंगलैंड का राजनैतिक और आर्थिक उत्कर्ष मुग़ल साम्राज्य की ही देन है।

मुगल समुद्र से अपेक्षाकृत कम परिचित थे, कदाचित इसीलिए उन्होंने नाविक बेड़े के निर्माण की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना कि समय के अनुसार दिन-प्रतिदिन आवश्यक होता गया। किन्तु 'आईने-अकबरी' में जहाजों के निर्माण, जहाजी व्यापार और वहि-शुल्क के नियन्त्रण के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु इनमें से अधिकांश का सम्बन्ध नदियों के यातायात से रहा होगा। तमिलनाड के निवासियों और मालाबार के मापलों को सामुद्रिक जीवन का अभ्यास था, किन्तु मुगलों ने उनके साहस और उत्साह से लाभ नहीं उठाया, कदाचित इसलिए कि उन प्रदेशों तक मुगल साम्राज्य का विस्तार न हो पाया था। एक समसामयिक लेखक का कथन है कि, 'मुगलों के जहाज योरुपीय जहाजों से भी अधिक माल लादकर ले जाते हैं। "..."वे न तो कुतुबनुमा का ही प्रयोग करते हैं और न सूर्य की ऊँचाई नापने के लिये किसी यंत्र का, बल्कि केवल ध्रुवतारा और सूर्योदय और सूर्यास्त के सहारे भारत से ईरान, बसरा, मोच्चा, मुजम्बिक, मुम्बासा, सुमात्रा और मक्कासा तक चले जाते हैं।' किन्तु योरुप से व्यापार के लिए विदेशी जहाजों का प्रयोग दिन प्रति दिन बढ़ता गया, और विशेषकर परवर्ती मुगलों के समय में, और मुगल सम्राट समुद्री डाकुओं से अपने तटों के बचाव और अरब को जाने वाले हज यात्रियों की रक्षा के लिये योरुपीयों पर निर्भर रहने लगे। मुग़ल काल में सामुद्रिक और जहाजी शक्ति की इस प्रकार जो उपेक्षा की गई उसका प्रभाव हमारे वर्तमान नाविक इतिहास पर भी पड़ा है। निम्नलिखित उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी :—

"भारत में जितनी सेनाएँ हैं उनमें शाही भारतीय बेड़ा (रॉयल इंडियन नेवी) सबसे अधिक पुराना है। भारतीय समुद्रों में ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रारम्भिक दिनों से ही छोटा-मोटा जहाजी बेडा विद्यमान रहा है, वास्तव में वर्तमान भारतीय नाविक बेड़े का जन्म १६१२ में हुआ जबकि नई स्थापित हुई कम्पनी ने १२ जहाजों की एक टुकडी कप्तान टॉमस बेस्ट की अधीनता में भारत से व्यापार करने के लिए भेजी। यद्यपि वे केवल व्यापारी जहाज़ थे, किन्तु अपनी प्रतिरक्षा के वे पूर्णतया योग्य थे—चूँकि पुर्तगाली लगभग सौ वर्ष पहले से यहाँ डटे हुए थे, इसलिए इस प्रकार का प्रतिरक्षा का प्रबन्ध आवश्यक भी था। बेस्ट की जहाजी टुकडी ने आकर शीघ्र ही अपनी शक्ति का परिचय दे दिया। उसने सूरत में जाकर लगड डाला और उसके बाद तुरन्त ही तीन दिन की लडाई में पुर्तगालियों को हरा दिया। इससे सम्राट जहाँगीर पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने उन अँग्रेज़ जहाजों को व्यापार करने के लिए एक फर्मान दे दिया। सूरत की

घटना के बाद भी मुगल सम्राट उसमें दिलचस्पी लेता रहा, और १७५९ तथा १८११ के बीच 'इंडियन मैरीन' का एक कप्तान सम्राट के नाविक सलाहकार के पद पर प्रतिवर्ष नियुक्त होता रहा, उसका मुख्य स्थान सूरत था और उसका काम था मुगलों के व्यापारी जहाजों की रक्षा करना। जो भाग्यशाली अधिकारी इस पद पर नियुक्त होता उसे वर्ष भर की सेवा के लिये लगभग पच्चासी हजार रुपया मिलता।'

इस प्रकार ईस्ट इंडिया कम्पनी के जहाजों को 'भारतीय नाविक बेड़े' के रूप में काम करना पड़ता था और मुगल सम्राट अपने "भारतीय बेड़े के कप्तान" को पच्चासी हजार रुपया देकर ही सन्तोष कर लेता था। भारत में अंग्रेजी सरकार का भी यही रवैया रहा है। "१८११ में खर्च बचाने के विचार से उस समय का जो भारतीय बेड़ा था उसे हटा दिया गया और भारतीय समुद्रों की प्रतिरक्षा का भार इंगलैंड के शाही बेड़े को सौंप दिया गया। ...... साम्राज्य की प्रतिरक्षा के लिए भारत को अन्य उपनिवेशों और अधीन देशों के साथ-साथ दस हजार पौंड अपने हिस्से का देना पड़ता।" यहाँ पर ध्यान में रखने की बात यह है कि भारत के सामुद्रिक हित आज भी विदेशियों के हाथ में हैं जैसे कि मुगलों के समय में थे।

जहाँ तक आर्थिक क्षेत्र में मुगल काल के अवशेषों का सम्बन्ध है, हम देखते हैं कि हमारा आन्तरिक व्यापार अभी उसी पुराने ढर्रे पर चल रहा है—वे ही सड़कें, वे ही नदियों के मार्ग और वे ही देहाती गाड़ियाँ देखने को मिलती हैं, जहाँ-जहाँ रेलगाड़ियों तथा अन्य आधुनिक परिवहन साधनों ने उनका स्थान ले लिया है। खेती आज भी देश की अधिकांश जनता की जीविका का साधन है, और उसका सब ढंग भी वही है जोकि मुगल काल में था, बल्कि उससे भी पहले। मुगलों की कुछ नहरें अब भी विस्तृत कृषि प्रदेशों को सींचती हैं, विशेषकर पंजाब में; देश के अधिकतर भागों में साहूकारी तथा विनिमय के देशी साधन और ढंग उसी रूप में प्रचलित हैं जैसे कि मुगल काल में थे; और भारतीय सिक्कों,* बाँटों तथा मापों पर भी हमें मुगल काल का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई पड़ता है, बल्कि ये उसी काल के सिक्कों बाँटों तथा मापों की सीधी उपज हैं। मुगल कालीन विर्जी वोहरों और जगत-सेठों के वंशज आज भी हमारे आर्थिक जीवन पर अधिकार किए हुए हैं। देश की औद्योगिक क्रान्ति को इस समय भी पग पग पर उन बाधाओं का सामना करना पड़ता है जिन्हें मुगलों की अर्थ-व्यवस्था विरासत के रूप में छोड़ गई है।

सामाजिक—सामाजिक प्रयोगों में भी मुगल सम्राट उतने ही साहसी थे—जितने कि राजनैतिक क्षेत्र में। इस दिशा में उन्होंने जो प्रयत्न किये उनके महत्व को समझने के लिए हमें तीन चीजों का ध्यान रखना चाहिए—उनके आगमन से पहले भारत में मुस्लिम शासन का रूप, हिन्दू तथा मुस्लिम समाज की अनुदार परम्पराएँ जिनके बीच उन्हें कार्य करना पड़ा और उनके समय की विशेषताएँ। यह ठीक है कि उनका युग नानक और कबीर का तथा उन सामाजिक और धार्मिक

* हमारा रुपया जो हमारी मुद्राप्रणाली का आधार है और जिससे सरकार को इतना मोह है, ठीक वैसा ही है जैसा कि चार सौ वर्ष पहले शेरशाह ने चलाया था।
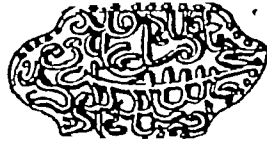
साम्राज्य के सिक्के ।

घृणा को प्रेम के सोने में परिवर्तित करना
और फिर सर्वत्र उसका प्रचार करना।

अकबर का यह स्वप्न आज भी समस्त भारत का स्वप्न बना हुआ है और यही कारण है कि हमें जितना स्वप्न प्रिय है उतना ही उसको देखने वाले की स्मृति। कुछ समय के लिये महत्वाकांक्षी ब्राह्मणों, गर्वीले राजपूतों, शियाओं और यहाँ तक कि कट्टर सुन्नियों ने भी अकबर के इस महान प्रयत्न को शिरोधार्य किया यही नहीं बल्कि दोनों सम्प्रदायों के आदर्शवादी महदी अथवा राम राज्य के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। इसमें सन्देह नहीं कि बदायूनी जैसे दर्शन वाले भी थे जिन्हों ने अकबर को धर्म-द्रोही ठहराया और उसकी खुलकर निन्दा की, किन्तु अहंकारी राजपूतों ने समन्वय के इस कार्य में स्वेच्छापूर्वक सहयोग दिया। इसी से सुधारक की सफलता का पता लगता है। यह चीज मुगलों के पूरे शासन-काल में कायम न रह सकी इसके अनेक कारण थे (मुख्यतया औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता), उनकी यहाँ समीक्षा करना आवश्यक नहीं। किन्तु जहाँ तक कि स्वप्न का सम्बन्ध था, एक के बाद एक आगे की पीढ़ियाँ भी उसको देखती रहीं, राजकुमारी जहाँआरा और राजकुमार दारा तथा अकबर इसके उदाहरण हैं। १७१६ ई० में अजीतसिंह ने अपनी पुत्री को जो फर्रुखसियर की रानी रह चुकी थी, वापिस बुला लिया और हिन्दू समाज में प्रविष्ट कर लिया। यह घटना अकबर द्वारा सोलहवीं शताब्दी में आरम्भ किये गये सुधार आन्दोलन की अन्तिम ऐतिहासिक प्रतीक थी। मुगल साम्राज्य तथा देश के पतन के काल में इन उदार विचारों का भी ह्रास हो गया। अब इस युग में राजा राममोहन राय लॉर्ड विलियम बैंटिक, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि ने उन्हें पुनः जीवित करने का प्रयत्न किया है। इसलिए इस महान मुगल का यह अधूरा स्वप्न भी हमारी इस संघर्षरत पीढ़ी के लिये एक महान विरासत है। आज भारतीय राष्ट्रीय महासभा उन्हीं समस्याओं को हल करने का प्रयत्न कर रही है जिन्हें अकबर की समन्वय वादी प्रतिभा के बावजूद भी दुर्भाग्यवश न सुलझा सका था।

सांस्कृतिक—मुगल संस्कृति एक विस्तृत विषय है, और जितनी अथाह है उतनी ही रोचक। यहाँ हम इसके प्रत्येक पहलू की समीक्षा नहीं करना चाहते। उसकी कुछ सर्वाधिक आकर्षक और स्थायी विशेषताओं का सिंहावलोकन करना पर्याप्त होगा। मुगलों का साम्राज्य सदैव के लिए विलुप्त हो चुका है, किन्तु उनका व्यक्तित्व हजारों दृश्य अथवा अदृश्य रूपों में आज भी विद्यमान है। हमारी वेश भूषा, भाषा, शिष्टाचार, विचार साहित्य, संगीत, चित्रकला और स्थापत्य सभी में मुगलों की छाप देखने को मिलती है। यह छाप न शुद्ध हिन्दू है और न शुद्ध मुस्लिम, अपितु उन दोनों का सुन्दर समन्वय है। कला किसी जाति की आत्मा का सच्चा दर्शन कराती है, और आज की वास्तविक भारतीय कला मुगल-काल की विरासत है। पहले के मुसलमानों ने हिन्दू

क़िले का भीतरी दृश्य आगरा।
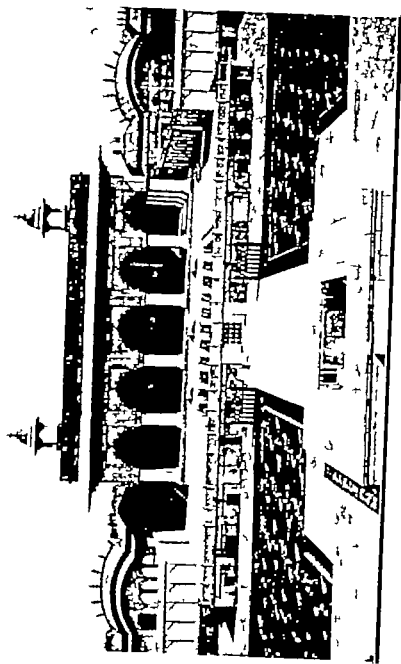
संस्कृति की हर चीज को नष्ट-भ्रष्ट किया था, मुगलों ने उसको आत्मसात कर लिया, उसका संश्लेषण किया और उसे एक नया अमर रूप प्रदान किया।

हमारी हिन्दुस्तानी पोशाक—स्त्रियों और और पुरुषों दोनों की—जो इतनी सुन्दर, लालित्यपूर्ण, आकर्षक और शानदार है, बिलकुल वैसी ही है जैसी, कि हमें मुगल चित्रों में देखने को मिलती है। हमारी हिन्दुस्तानी चाल-ढाल, शिष्टाचार और बातचीत का ढँग जो इतना ओजपूर्ण और आडम्बरहीन है, हमें मुगल दरबारियों और नागरिकों से विरासत के रूप में मिला है। हमारा हिन्दुस्तानी संगीत और वाद्य यन्त्र वे ही हैं जो मुगल सम्राटों, सरदारों और प्रजा को समान रूप से हर्ष और आनन्द प्रदान किया करते थे, और उनकी सुमधुर स्वरलहरी में संगीतप्रिय जनता की आत्मा मुखरित होती है। हमारी हिन्दुस्तानी चित्रकला जिसकी रेखाएँ इतनी कोमल और रँग इतने आनन्ददायक हैं, उसी रंगीन युग का विशद प्रतिबिम्ब है। हमारे हिन्दुस्तानी साहित्य—फारसी, हिन्दी, संस्कृत अथवा उर्दू—पर उन लेखकों के व्यक्तित्व की छाप है जिन्हें प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मुगल सम्राटों का अनुग्रह और प्रश्रय प्राप्त था। और अन्त में हमारा हिन्दुस्तानी स्थापत्य—मुस्लिम हो अथवा हिन्दू—अपनी अलग-अलग दिशाओं में न जाकर, हिन्दू और मुस्लिम आदर्शों के समन्वय को उपस्थित करता है, उसमें लालित्य और ओज दोनों का सुन्दर तादात्म्य देखने को मिलता है।

जैसा कि सर जान मार्शल ने लिखा है, "हिन्दू और मुस्लिम सभ्यताएँ दोनों ही बहुत विशद और पूर्णतया विकसित थीं, और साथ ही साथ एक दूसरे से बिलकुल भिन्न थीं, फिर भी उन दोनों का समागम और सम्मिलन हुआ, संसार के इतिहास में इस प्रकार की दो असमान सभ्यताओं के समन्वय का उदाहरण अन्यत्र शायद ही मिल सके। उन दोनों जातियों मे गहरी असमानताएँ थीं और उनकी संस्कृतियों और धर्मों में भारी अन्तर थे, इसीलिए उनके पारस्परिक आदान-प्रदान का इतिहास और भी अधिक शिक्षाप्रद है, और उन दोनों की संयुक्त प्रतिभा ने जिस कला और विशेषकर स्थापत्य को जन्म दिया, उसका अध्ययन और भी अधिक रोचक हो जाता है।"

इन दो बडी जातियों ने जो ऊपर देखने में एक दूसरे की शत्रु थीं, सामाजिक समन्वय के जो प्रयत्न किये, उनका यदि अलग और स्वतन्त्र रूप से अध्ययन और अनुसंधान किया जाय तो बहुत लाभ होगा होगा। किन्तु यहाँ हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि उस युग की भावना इस प्रकार के प्रयत्नों के लिए विशेषकर अनुकूल थी। दिल्ली सल्तनत के छिन्न-भिन्न होने के बाद जो अनेक मुस्लिम राज्य बन गये थे उनके शासकों में कई ऐसे थे जिन्हें हम इस विषय में मुगलों का अग्रगन्ता कह सकते हैं। फरिश्ता लिखता है कि गौड के एक पुरबिया सुलतान ने पाँच हजार हिन्दू पैदल सैनिकों को अपना अंग-रक्षक नियुक्त किया था, और हैविल के मतानुसार "भारत के अन्य भागों की भाँति गौड़ की भी मुस्लिम संस्कृति पुराने हिन्दू वृक्ष पर ही एक नई कलम थी, न कि एक

विदेशी पौधा हो कि अरब से लाकर भारत की भूमि में रोप दिया गया हो।" इसी प्रकार शर्की सुल्तानों के संरक्षण में जौनपुर में हिन्दू तथा मुसलमान शिल्पियों ने मिलकर मस्जिदों का निर्माण किया। बंगाल में हुसैनशाह (१४९२ से १५१९) ने हिन्दू तथा मुसलमान जातियों में एकता स्थापित करने के प्रयत्न किये और स्थानीय साहित्य तथा कला को प्रश्रय दिया, इसके लिए आज भी उस प्रान्त के लोग उसका श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। कहा जाता है कि भागवत का प्रथम बंगला अनुवाद मालाधर वसु ने उसी की आज्ञा से किया; और उसी के आदेश से महाभारत का अनुवाद हुआ। उस सुल्तान को सत्यपीर नामक एक पंथ का संस्थापक भी बतलाया जाता है, जो दीन इलाही का अग्रगामी सिद्ध हुआ। हिन्दू चैतन्य के अनेक मुसलमान अनुयायी थे और इसी प्रकार अनेक हिन्दू मुसलमान कबीर को अपना गुरु मानते थे। दक्षिण में बहमनी राज्य में वित्त विभाग ब्राह्मण मंत्रियों के हाथ में था, और विजयनगर शासकों ने मुसलमानों को अपनी सेना में भर्ती किया और उनके धर्म को प्रश्रय दिया, यद्यपि वे निरन्तर अपने पड़ोसी मुस्लिम राज्यों से निरन्तर संघर्ष करते रहे। इसी प्रकार गोलकुंडा के सुल्तान इब्राहीम (१५५०–८०) ने तेलेगु साहित्य का का पोषण किया। गुजरात, मालवा और राजपूताना में हमें हिन्दू मुस्लिम स्थापत्य के सम्मिश्रण के अनेक उदाहरण मिलते हैं। किन्तु अकबर के अग्रगामियों में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान काश्मीर के सुल्तान जैनुल आबीदीन (१४२०–७०) का है। उसने जिज़िया हटा दिया, हिन्दुओं के साथ सहिष्णुता का बर्ताव किया और इसके अतिरिक्त साहित्य, चित्र कला तथा संगीत को प्रोत्साहन दिया और बिना धार्मिक भेद भाव के संस्कृत, अरबी तथा अन्य भाषाओं से अनुवाद करवाये।

इसलिए हम देखते हैं कि मुगलों के समय में यही सर्वव्यापक आन्दोलन पहले से अधिक उत्कृष्ट रूप में फलान्वित हुआ। स्मिथ ने मुगल चित्रकला के इतिहास का सविस्तार परिशीलन करके लिखा है कि "इस अनुशीलन से हमें सबसे आश्चर्यजनक चीज़ यह देखने को मिलती है कि मुगल चित्रकला के इतिहास में हिंदू नामों का प्राधान्य है। उदाहरण के लिए 'वाकियाते बाबरी' में बाईस नाम मिलते हैं उनमें से उन्नीस हिंदू हैं और केवल तीन मुसलमान। इसी प्रकार अबुल फज़ल की नामावली के सत्रह कलाकारों में केवल चार मुसलमान हैं और तेरह हिन्दू।" स्थापत्य, अन्य कलाओं तथा साहित्य के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती थी। इन क्षेत्रों में कार्य करने वाले हिन्दुओं की संख्या का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि इस बात का कि मुगल सम्राट उदारता से उनकी कृतियों की सराहना करते थे और बड़े पैमाने पर उन्हें संरक्षण देते थे, हिन्दू कलाकार केवल अपवाद न थे। मुगल काल में अगणित इमारतों, महलों और मस्जिदों को बनाने के लिए हजारों कलाकार, कारीगर और उस्ताद भर्ती किए गए उनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों थे और उन्होंने मिलकर काम किया और वे कृतियाँ खड़ी कर दीं जिन्हें देखने के लिए आज भी संसार भर के पर्यटक

आते हैं। कुछ इमारतों में हिन्दू शैली का प्राधान्य है, जैसे जहाँगीरी महल, और कहीं-कहीं पर मुस्लिम प्रभाव का आधिक्य है जैसे वृन्दावन के मन्दिरों की बाहरी सजावट में। किन्तु इन्हें हम प्रयोगात्मक कह सकते हैं। कला का पूर्णत्व तभी प्राप्त हुआ जब हिन्दू और मुसलमान दोनों ने अपने व्यक्तित्व को खोकर एक उत्कृष्ट रूप का सृजन किया, जैसे ताजमहल, जो भारतीय है, न कि हिन्दू अथवा मुस्लिम।

अपनी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक विरासत के सम्बन्ध में भी हम दो शब्द कह दें। हिन्दू गणित ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद हुआ, जैसे लीलावती। आम्बेर के सवाई जयसिंह ने जयपुर, मथुरा, बनारस और दिल्ली में ज्योतिष के निरीक्षणालय बनवाये। शाहजहाँ जैसे अपेक्षाकृत कट्टर मुस्लिम सम्राट ने संस्कृत के विद्वान पंडितराज जगन्नाथ को प्रश्रय दिया। रामायण, महाभारत, वेद, उपनिषद, योगवाशिष्ट, भगवद्गीता आदि धर्म तथा दर्शन ग्रन्थों के फारसी में अनुवाद ही नहीं हुए, बल्कि मुगल राजकुमारों और राजकुमारियों ने बड़े चाव के साथ उनका अध्ययन किया। इस सम्बन्ध में दाराशिकोह और जहाँनारा के नाम अधिक उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार हिन्दुओं ने फारसी साहित्य का परिशीलन किया। मदर्सों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही साथ-साथ पढ़ते थे। राजा मानसिंह और टोडरमल ने अपने सहधर्मियों में फारसी का बड़े उत्साह से प्रचार किया। और इस प्रकार ईश्वरदास, भीमसेन, सुजानराय आदि हिन्दुओं ने फारसी में इतिहास ग्रन्थ लिखे। बीरबल को अपनी कविता के कारण कविराय की उपाधि मिली। और आगरा के अन्धे चारण सूरदास की बड़ी सराहना होती थी। जैसा कि अकबर के दरबार के एक अन्य कवि ने कहा—"सवैयों [illegible]ग, और कवित्तों में बीरबल सर्वश्रेष्ठ थे; केशव का अर्थ गूढ़ होता [illegible]न्तु सूरदास में ये तीनों गुण विद्यमान थे।" फिर भी इस बा[illegible] भी स्वीकार करते हैं कि मुग़ल-युग में हिंदू साहित्य के सम्राट तुल[illegible]। विंसेंट स्मिथ ने उन्हें "मध्यकालीन हिंदू काव्य के 'चमत्कारिक [illegible] से बड़ा वृक्ष" कहा है। वे (स्मिथ) तुलसी की प्रशंसा में लि[illegible] भारत में अपने समय के महानतम व्यक्ति थे—सम्राट अकबर [illegible] क्योंकि कवि ने करोड़ों नर-नारियों के हृदयों पर जो विजय [illegible] सम्राट की युद्ध में प्राप्त बड़ी से बड़ी विजय से, बल्कि उसकी [illegible] अधिक स्थायी और महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।"

[illegible] ने हिन्दुस्तान को जीता और उस पर अपना स[illegible] संस्कृति का अनुशीलन करके हम इस परिण[illegible] लोकवाद की उस भावना ने घर कर लिया [illegible] खता रही है। यही कारण था कि औरङ्[illegible] अन्तिम दिनों में आह भर कर कहा :—

[illegible] महान्, वे [illegible] वह [illegible] से [illegible] किया, [illegible] कि उनके [illegible] से हिन्दू [illegible] य व्यक्ति

—बुढ़ापा आगया है और दुर्बलता बढ़ गई है; मेरे अंगों में अब शक्ति नहीं रही। मैं अकेला आया और अकेला ही जा रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि मैं क्या हूँ और क्या करता आया हूँ। उन दिनों को छोड़कर जो तपस्या में बीते हैं, शेष सभी के लिये पश्चाताप होता है। मैंने सच्चे अर्थ में शासन नहीं किया है और न किसानों का ही पोषण किया है। इतना बहुमूल्य जीवन व्यर्थ में ही गँवा दिया। प्रभु मेरे हृदय में विराजमान रहा, किन्तु अन्धकार के आवरण से ढकी हुई मेरी आँखें उसके तेज को नहीं देख सकतीं।..." जीवन टिकता नहीं, बीते हुए दिनों के चिन्ह भी शेष नहीं रहते और भविष्य की कोई आशा नहीं।

'हवा कैसी ही हो
अब मैं अपनी नाव को पानी में छोड़े देता हूँ।'

महानतम मुगल सम्राट ने अपनी गौरवपूर्ण सफलताओं के अन्त में बुलन्द दरवाजा पर (फतेहपुर सीकरी में) निम्न पंक्तियाँ उत्कीर्ण करवाई :—

"संसार एक पुल है इस पर होकर निकल जा; इस पर घर मत बना। दुनिया घड़ी भर की है; प्रार्थना में जीवन बिता; शेष किसने देखा है। तेरा सबसे बड़ा धन तेरा किया हुआ दान है। तू जान कि संसार एक दर्पण है जिसमें भाग्य लक्ष्मी प्रतिबिम्बित होती है और फिर विलुप्त हो जाती है किसी भी चीज़ को जिसे तेरी आँखें न देख सकें तू अपना मत कह।"

विशेष अध्ययन के लिए ग्रन्थ*

बेनीप्रसाद *History of Jahangir*

बेवरिज *The Emperor Akbar*

बिनियन *Akbar*

ब्राउन *The Coins of India*

कनिंघम *Sikh History*

एडवर्ड्स *Babur—Diarist & Despot*

ईलियट और डाउसन *The History of India as told by its own Historians* (आठ जिल्दें)।

एलफिन्स्टन *History of India*

एर्स्काइन *A History of India under the First Two Soverigns of the House of Taimur Baber & Humayun* (दो जिल्दें)

फारूकी *Aurangzeb & His Times*

फ्रैंकलिन *History of the Reign of Shah Alam.*

गैरेट *The Legacy of India*

ग्लैडविन *History of Jahangir*

हेग और बर्न *The Cambridge History of India* (तीसरी और चौथी जिल्द)।

हैवेल *History of Aryan Rule in India*

हुसैन *Administration of Justice during Muslin Rule in India*

इब्न हसन *The Central Structure of the Mughal Empire*

इर्विन *Later Mughals* (दो जिल्द) *The Army of the Indian Mughals Its organisation & Administration*

ईश्वरी प्रसाद *History of Qaraunah Turks Mediaeval India*

कीन *The Fall of the Moghul Empire of Hindustan, The Turks in India*

---

* इससे अधिक विस्तृत ग्रन्थ सूची लेखक के 'मुगल एम्पायर इन इंडिया' नामक ग्रंथ में दी हुई है।

INSTRUCTIONS TO BORROWERS

1. Books are not strickly Non-transferable

2. Books are ordinarily issued for a fortnight only, and may be recalled at any time at the discretion of the Librarian.

3. A Borrower who disfigures or in any way damages a book may be called upon to pay such penalty, not exceeding the value of the book, as the librarian may fix.

4. A fine of one anna per day is imposed for the retention of a book beyond the specified time of return or recall.

Librarian.